धर्मदर्शन की मूल समस्याएं

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

वेद प्रकाश वर्मा



हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

धर्मदर्शन की मूल समस्याएं

धर्मदर्शन की मूल समस्याएं

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

डॉ. वेद प्रकाश वर्मा
सेवानिवृत प्रोफ़ेसर तथा
पूर्व विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्रविभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण 1991, प्रतियां 5300

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण 1995, प्रतियां 2200

पुनर्मुद्रण, 1996, प्रतियां 3300

पुनर्मुद्रण, 1997, प्रतियां 2200

पुनर्मुद्रण, 1999, प्रतियां 1100

पुनर्मुद्रण, 2000, प्रतियां 1100

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, 2001, प्रतियां 3300

संयोजक मंडल

प्रो० (डा०) श्रीप्रकाश तिवारी

अध्यक्ष, सलाहकार समिति

डा० (श्रीमती) सुजाता राय

संयोजक

डा० सुनील कुमार श्रीवास्तव

सह-संयोजक

मूल्य : 150/- रुपए

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, बैरक नं० 2 एवं 4, केवेलरी लाइन, दिल्ली–110007 द्वारा प्रकाशित तथा ख्वाज़ा प्रैस, दिल्ली–6, फोन : 3263450, 3261676 द्वारा मुद्रित।

वक्तव्य

यह विदित ही है कि हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय के एक विभाग के रूप में लंबे समय से कार्य कर रहा है। इस लंबे कार्यकाल के दौरान हमने समाज विज्ञान के विभिन्न विषयों इतिहास, राजनीति विज्ञान, भूगोल, आदि से संबंधित उच्च कोटि की पुस्तकें हिंदी माध्यम के विद्यार्थियों को उपलब्ध करवाई हैं। इस क्रम में इस बात का ध्यान भी रखा गया है कि पुस्तकों की सामग्री तो उच्च कोटि की हो लेकिन उनके दाम निजी प्रकाशकों (प्राइवेट पब्लिशर्स) की अपेक्षा काफी कम हों। अपने इस उद्देश्य में हम इसलिए कामयाब रहे क्योंकि विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों का सहयोग भी हमें प्राप्त होता रहा है।

विद्यार्थियों को उच्च कोटि की पुस्तकें मिल सकें, इसके लिए हमने विभिन्न विषयों में अंग्रेजी में उपलब्ध सामग्री का हिंदी अनुवाद तो करवाया ही है, कुछ पुस्तकें ऐसी भी प्रकाशित की हैं जो मूल रूप से हिंदी में लिखी गई हैं। सेवानिवृत्त प्रो. वेद प्रकाश वर्मा की निदेशालय से प्रकाशित 'धर्मदर्शन की मूल समस्याएं' नामक पुस्तक इसी कोटि की पुस्तक है। इस पुस्तक का तृतीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

प्रो. वेद प्रकाश वर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग से लंबे समय से संबद्ध रहे हैं। अपने लंबे अध्यापकीय जीवन में उन्होंने यह अनुभव किया कि हिंदी माध्यम के विद्यार्थी प्रतिभासंपन्न होते हुए भी हिंदी में उच्च कोटि की पुस्तकों के अभाव में अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों से प्रायः पिछड़ जाते हैं। यही एकमात्र प्रेरणा थी कि प्रो. वर्मा ने अपनी पुस्तक 'धर्मदर्शन की मूल समस्याएं' मूल रूप से हिंदी में ही लिखी।

इस पुस्तक का पहला संस्करण निदेशालय के निदेशक डॉ. जगदीश चन्द्र मूना के कार्यकाल में सन् 1991 में प्रकाशित हुआ था। इसका संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण निदेशालय से सन् 1995 में श्री लज्जाराम सिंघल जी के कार्यकाल में प्रकाशित हुआ। सन् 1995, से लेकर अब तक निदेशालय से इसके कई पुनर्मुद्रण प्रकाशित हो चुके हैं। और, अब सन् 2001 में निदेशालय से एक और संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण हम प्रस्तुत कर रहे हैं। इस संस्करण में प्रो. वर्मा ने तीन नए परिशिष्ट शामिल किए हैं - परिशिष्ट 4, परिशिष्ट 5 और 6। इनके शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं (1) धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण (2) तर्क बुद्धि और धर्म (3) निरीश्वरवादी धर्म। इस प्रकार अब पुस्तक में कुल छः परिशिष्ट हो गए हैं। इन नए परिशिष्टों के साथ इस पुस्तक में धर्मदर्शन से संबंधित लगभग सभी प्रमुख विषयों का विवेचन पाठकों को उपलब्ध हो सकेगा। यह पुस्तक दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के साथ-साथ प्रशासकीय सेवाओं के नए पाठ्यक्रम के लिए भी उपयोगी है। आशा है यह पुस्तक छात्रों के साथ-साथ सामान्य पाठकों के बीच भी समान रूप से लोकप्रिय होगी।

पुनश्च, यहाँ मैं प्रो. वर्मा को धन्यवाद देना चाहती हूँ कि उन्होंने इस पुस्तक को संशोधित करने के मेरे आग्रह को स्वीकार किया और विषम परिस्थितियों के बावजूद नई सामग्री इतने कम समय में उपलब्ध करवाई।

डा॰ सुजाता राय

कार्यवाहक निदेशक

अपनी पत्नी कृष्णा को सप्रेम समर्पित

जिन्होंने मेरे संपूर्ण अध्ययन तथा

लेखन कार्य में मुझे सदैव अपना

स्नेहपूर्ण और सक्रिय

सहयोग प्रदान किया।

पुस्तक के विषय में

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य धर्म-दर्शन की मूल समस्याओं का यथासंभव निष्पक्ष एवं तर्कपूर्ण विवेचन करना है। इसमें धर्म-दर्शन के स्वरूप और क्षेत्र, उसकी विधियों तथा आवश्यकता, धर्म के स्वरूप और मानव-जीवन पर उसके प्रभाव, धर्म के उद्‌गम तथा विकास, ईश्वर के स्वरूप, उसके अस्तित्व के लिए प्रस्तुत किए गए प्रमुख प्रमाणों जगत् तथा मनुष्य के साथ ईश्वर के संबंध, विश्व-रचना की अवधारणा तथा उसे स्वीकार करने में उपस्थित होने वाली दार्शनिक कठिनाइयों, ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना या उपासना के स्वरूप, उद्देश्य और उससे संबंधित दार्शनिक समस्याओं, अशुभ की समस्या के अर्थ और उसके लिए प्रस्तुत किए गए प्रमुख समाधानों, धार्मिक अनुभव, रहस्यवाद, धार्मिक ज्ञान, श्रुति, आस्था एवं तर्कबुद्धि के स्वरूप और इनके पारस्परिक संबंध, धार्मिक भाषा के स्वरूप, धर्म और नैतिकता, आत्मा की अमरता, कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत, इन सिद्धांतों की प्रमुख दार्शनिक कठिनाइयों, मोक्ष के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधनों, धर्म और विज्ञान, धर्म और मार्क्सवाद, धर्म और मनोविश्लेषणवाद, धर्म और मानवतावाद, सर्व-धर्म-समन्वय, सार्वभौम धर्म की संभावना, सर्व-धर्म-समभाव तथा धार्मिक सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षवाद के स्वरूप, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की प्रमुख विशेषताओं, धर्म-परिवर्तन के अर्थ, उसके मुख्य कारणों तथा मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिए उसकी वांछनीयता—इन सभी समस्यांओं की तर्कपूर्ण विस्तृत विवेचना की गई है। अंतिम तीन परिशिष्टों में धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में आधारभूत अंतर, मनुष्य के धार्मिक जीवन में तर्कबुद्धि के स्थान की संभावना, धर्म एवं निरीश्वरवाद में विरोध के अभाव और बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के निरीश्वरवाद की सविस्तार विवेचना की गई है। पुस्तक के अंत में अध्यायों के क्रमानुसार प्रमुख पाश्चात्य विचारकों तथा विज्ञानियों के नामों के हिंदी रूपांतरों के साथ-साथ अंग्रेज़ी रूपांतर भी दे दिए गए हैं जिससे उन द्विभाषीय विद्यार्थियों को विशेष रूप से सुविधा होगी जो हिंदी में धर्म-दर्शन को पढ़कर अंग्रेजी के माध्यम से इस विषय की परीक्षा देना चाहते हैं।

हमें आशा है कि यह व्यापक पुस्तक हिंदी के माध्यम से धर्म-दर्शन का अध्ययन करने वाले स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्र-छात्राओं, भारत की प्रशासकीय सेवाओं के विद्यार्थियों, शिक्षकों और सामान्य पाठकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

इस पुस्तक का संशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। सर्वप्रथम 1991 में प्रकाशित होने के पश्चात् पिछले चार वर्षों में इसकी सहस्त्रों प्रतियाँ शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के हाथों में पहुँच चुकी हैं। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हिंदी के माध्यम से धर्मदर्शन का अध्ययन करने वाले पाठकों ने इस पुस्तक को पसंद किया है और यह उनके लिए ज्ञानवर्धक तथा उपयोगी सिद्ध हुई है। किसी लेखक के लिए पाठकों द्वारा किया गया उसकी कृति का यह स्वागत उसके लिए बहुत हर्ष का विषय है। वस्तुतः यही उसके लिए सब से बड़ा पुरस्कार है जिसकी वह आशा और कामना करता है।

प्रस्तुत पुस्तक के इस द्वितीय संस्करण के अंत में एक अन्य परिशिष्ट जोड़ दिया गया है जिसके अंतर्गत धार्मिक सहिष्णुता से संबंधित समस्या की विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। लोक-सेवा-आयोग की परीक्षाओं के लिए तैयारी करने वाले विद्यार्थियों को इस विषय के अध्ययन की बहुत आवश्यकता होती है, किंतु हिंदी में इस विषय पर अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। आशा है यह नया परिशिष्ट इन विद्यार्थियों की इस आवश्यकता की पर्याप्त सीमा तक पूर्ति कर सकेगा। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग में निरंतर बढ़ती हुई धार्मिक कट्टरता तथा विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों में होने वाले पारस्परिक दुखद संघर्ष को ध्यान में रखते हुए भी आज धार्मिक सहिष्णुता पर गंभीरतापूर्वक विचार करने और इसके अनुसार आचरण करने की विशेष आवश्यकता है। इस दृष्टि से भी यह नया परिशिष्ट प्रबुद्ध पाठकों के लिए विचारोत्तेजक तथा लाभदायक सिद्ध हो सकेगा।

अंत में मैं आशा करता हूँ कि अपने इस संशोधित एवं परिवर्धित रूप में यह पुस्तक शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के लिए पहले की अपेक्षा अधिक उपादेय और ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगी।

वेद प्रकाश वर्मा

दर्शनशास्त्र विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

अत्यंत प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करने के लिए वाध्य होने के कारण मनुष्य आदिकाल से ही कुछ विशेष अलौकिक सत्ताओं अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास करता रहा है जिसके फलस्वरूप उस प्रचलित अर्थ में धर्म का जन्म हुआ है जिस अर्थ में आज हम सामान्यतः इस शब्द को ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि मानव-जाति के विकास के प्रारंभिक काल से ही धर्म ने मनुष्य के जीवन में बहुत व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संसार की विभिन्न मानवीय सभ्यताओं का इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म का मानव-जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल से ही मनुष्य के अधिकतर कर्म और विचार कुछ विशेष धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों द्वारा निर्धारित एवं शासित होते रहे हैं। उसके जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि सभी महत्त्वपूर्ण पक्ष किसी न किसी रूप में धर्म द्वारा अवश्य प्रभावित हुए हैं। इस संवंध में विवाद हो सकता है कि धर्म का यह प्रभाव मानव-जीवन के लिए वांछनीय तथा कल्याणकारी रहा है या नहीं, किंतु एक तथ्य के रूप में मनुष्य के जीवन पर धर्म के इस व्यापक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मानव-जीवन पर धर्म के उपर्युक्त व्यापक प्रभाव ने अनेक विशेष समस्याओं को जन्म दिया है जिन्हें 'धर्म संवंधी दार्शनिक समस्याएँ' कहा जा सकता है और जिन पर धर्मदर्शन के अंतर्गत तार्किक दृष्टि से विचार किया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य इन्हीं समस्याओं की यथासंभव निष्पक्ष तथा वस्तुपरक विवेचना करना है। इसमें धर्म विषयक जिन मूल समस्याओं अथवा प्रश्नों पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है वे निम्नलिखित हैं।

धर्म तथा धर्मदर्शन का अर्थ क्या है और दर्शन एवं धर्मशास्त्र के साथ इन दोनों का क्या संबंध है? धर्म का उद्‌गम तथा विकास क्यों, कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ है? क्या ईश्वर का अस्तित्व है और उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं क्या वे वास्तव में विश्वसनीय हैं? यदि ईश्वर की सत्ता है तो उसका स्वरूप क्या है और जगत् तथा मनुष्य के साथ उसका क्या संबंध है? क्या ईश्वरवादियों के इस मत को तर्कतः प्रमाणित किया जा सकता है कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है ? उनके इस मत को स्वीकार करने में कौन-सी दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं ? प्रार्थना या उपासना का अर्थ तथा उद्देश्य क्या है और ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना के संबंध में कौन-सी दार्शनिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं? अशुभ या बुराई क्या है और ईश्वरवाद के संदर्भ में 'अशुभ की समस्या' का क्या अर्थ है? क्या दार्शनिक दृष्टि से इस समस्या का संतोषप्रद समाधान संभव है? धार्मिक अनुभव का अर्थ क्या है और यह अनुभव दूसरे प्रकार के अनुभवों से किस प्रकार भिन्न होता है? रहस्यवाद का स्वरूप क्या है? क्या इसके आधार पर हमें किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है? क्या हम ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसे 'धार्मिक ज्ञान' कहा जाता है? यदि हाँ, तो इस ज्ञान का स्वरूप क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? श्रुति, आस्था एवं तर्कबुद्धि का स्वरूप क्या है और इनमें परस्पर क्या संबंध है? धार्मिक भाषा किस प्रकार की भाषा होती है? क्या

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

इस पुस्तक का संशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। सर्वप्रथम 1991 में प्रकाशित होने के पश्चात् पिछले चार वर्षों में इसकी सहस्त्रों प्रतियाँ शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के हाथों में पहुँच चुकी हैं। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हिंदी के माध्यम से धर्मदर्शन का अध्ययन करने वाले पाठकों ने इस पुस्तक को पसंद किया है और यह उनके लिए ज्ञानवर्धक तथा उपयोगी सिद्ध हुई है। किसी लेखक के लिए पाठकों द्वारा किया गया उसकी कृति का यह स्वागत उसके लिए बहुत हर्ष का विषय है। वस्तुतः यही उसके लिए सब से बड़ा पुरस्कार है जिसकी वह आशा और कामना करता है।

प्रस्तुत पुस्तक के इस द्वितीय संस्करण के अंत में एक अन्य परिशिष्ट जोड़ दिया गया है जिसके अंतर्गत धार्मिक सहिष्णुता से संबंधित समस्या की विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। लोक-सेवा-आयोग की परीक्षाओं के लिए तैयारी करने वाले विद्यार्थियों को इस विषय के अध्ययन की बहुत आवश्यकता होती है, किंतु हिंदी में इस विषय पर अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। आशा है यह नया परिशिष्ट इन विद्यार्थियों की इस आवश्यकता की पर्याप्त सीमा तक पूर्ति कर सकेगा। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग में निरंतर बढ़ती हुई धार्मिक कट्टरता तथा विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों में होने वाले पारस्परिक दुखद संघर्ष को ध्यान में रखते हुए भी आज धार्मिक सहिष्णुता पर गंभीरतापूर्वक विचार करने और इसके अनुसार आचरण करने की विशेष आवश्यकता है। इस दृष्टि से भी यह नया परिशिष्ट प्रबुद्ध पाठकों के लिए विचारोत्तेजक तथा लाभदायक सिद्ध हो सकेगा।

अंत में मैं आशा करता हूँ कि अपने इस संशोधित एवं परिवर्धित रूप में यह पुस्तक शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के लिए पहले की अपेक्षा अधिक उपादेय और ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगी।

वेद प्रकाश वर्मा

दर्शनशास्त्र विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

अत्यंत प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करने के लिए वाध्य होने के कारण मनुष्य आदिकाल से ही कुछ विशेष अलौकिक सत्ताओं अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास करता रहा है जिसके फलस्वरूप उस प्रचलित अर्थ में धर्म का जन्म हुआ है जिस अर्थ में आज हम सामान्यतः इस शब्द को ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि मानव-जाति के विकास के प्रारंभिक काल से ही धर्म ने मनुष्य के जीवन में बहुत व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संसार की विभिन्न मानवीय सभ्यताओं का इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म का मानव-जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल से ही मनुष्य के अधिकतर कर्म और विचार कुछ विशेष धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों द्वारा निर्धारित एवं शासित होते रहे हैं। उसके जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि सभी महत्त्वपूर्ण पक्ष किसी न किसी रूप में धर्म द्वारा अवश्य प्रभावित हुए हैं। इस संबंध में विवाद हो सकता है कि धर्म का यह प्रभाव मानव-जीवन के लिए वांछनीय तथा कल्याणकारी रहा है या नहीं, किंतु एक तथ्य के रूप में मनुष्य के जीवन पर धर्म के इस व्यापक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मानव-जीवन पर धर्म के उपर्युक्त व्यापक प्रभाव ने अनेक विशेष समस्याओं को जन्म दिया है जिन्हें 'धर्म संबंधी दार्शनिक समस्याएँ' कहा जा सकता है और जिन पर धर्मदर्शन के अंतर्गत तार्किक दृष्टि से विचार किया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य इन्हीं समस्याओं की यथासंभव निष्पक्ष तथा वस्तुपरक विवेचना करना है। इसमें धर्म विषयक जिन मूल समस्याओं अथवा प्रश्नों पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है वे निम्नलिखित हैं।

धर्म तथा धर्मदर्शन का अर्थ क्या है और दर्शन एवं धर्मशास्त्र के साथ इन दोनों का क्या संबंध है? धर्म का उद्‌गम तथा विकास क्यों, कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ है? क्या ईश्वर का अस्तित्व है और उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं क्या वे वास्तव में विश्वसनीय हैं? यदि ईश्वर की सत्ता है तो उसका स्वरूप क्या है और जगत् तथा मनुष्य के साथ उसका क्या संबंध है? क्या ईश्वरवादियों के इस मत को तर्कतः प्रमाणित किया जा सकता है कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है ? उनके इस मत को स्वीकार करने में कौन-सी दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं ? प्रार्थना या उपासना का अर्थ तथा उद्देश्य क्या है और ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना के संबंध में कौन-सी दार्शनिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं? अशुभ या बुराई क्या है और ईश्वरवाद के संदर्भ में 'अशुभ की समस्या' का क्या अर्थ है? क्या दार्शनिक दृष्टि से इस समस्या का संतोषप्रद समाधान संभव है? धार्मिक अनुभव का अर्थ क्या है और यह अनुभव दूसरे प्रकार के अनुभवों से किस प्रकार भिन्न होता है? रहस्यवाद का स्वरूप क्या है? क्या इसके आधार पर हमें किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है? क्या हम ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसे 'धार्मिक ज्ञान' कहा जाता है? यदि हाँ, तो इस ज्ञान का स्वरूप क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? श्रुति, आस्था एवं तर्कबुद्धि का स्वरूप क्या है और इनमें परस्पर क्या संबंध है? धार्मिक भाषा किस प्रकार की भाषा होती है? क्या

हम धार्मिक वाक्यों का ठीक-ठीक अर्थ समझ सकते हैं? धर्म तथा नैतिकता में परस्पर क्या संबंध है? क्या वास्तव में धर्म नैतिकता का अनिवार्य आधार है? आत्मा की अमरता का अर्थ क्या है और क्या इसे तर्कों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है? कर्मवाद तथा पुनर्जन्म का अर्थ क्या है और इन सिद्धांतों को स्वीकार करने में कौन-सी दार्शनिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं? भारतीय दर्शन के अनुसार मोक्ष का स्वरूप क्या है और इसे किन साधनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है? क्या वर्तमान युग में मोक्ष की कोई प्रासंगिकता एवं उपादेयता है? गत कुछ शताब्दियों में विज्ञान, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा मानवतावाद ने धर्म के विरुद्ध किस प्रकार की गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं? क्या इन चुनौतियों का कोई तर्कसंगत उत्तर देना संभव है? सर्व-धर्म-समन्वय, सार्वभौम धर्म तथा सर्व-धर्म-समभाव का अर्थ क्या है? व्यावहारिक दृष्टि से सभी धर्मों का समन्वय अथवा किसी सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव है? धर्मनिरपेक्षवाद का वास्तविक अर्थ तथा उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है और वे कौन-सी विशेषताएँ हैं जो किसी देश को 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' बनाती हैं? क्या भारत को वास्तव में 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' कहा जा सकता है? धर्म-परिवर्तन का ठीक-ठीक अर्थ क्या है और मनुष्य किन कारणों से प्रेरित या बाध्य होकर अपना धर्म-परिवर्तन करता है? क्या यह धर्म-परिवर्तन मानव के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के लिए नैतिक दृष्टि से वांछनीय है?

प्रस्तुत पुस्तक में धर्म तथा धर्मदर्शन संबंधी उपर्युक्त सभी प्रश्नों अथवा समस्याओं पर तर्कपूर्ण दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इन समस्याओं की यथासंभव निष्पक्ष विवेचना करते हुए इनके संबंध में मैंने अपना दृष्टिकोण भी स्पष्टतः प्रस्तुत किया है जिसे 'प्रकृतिवादी तथा मानवतावादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि यह इसी संसार में मनुष्य के व्यापक कल्याण को ही मानव-जीवन का उच्चतम ध्येय मानता है और इसमें किसी प्रकार की अलौकिक सत्ता या अतिप्राकृतिक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। इस दृष्टि से यह पुस्तक धर्मदर्शन पर अभी तक हिंदी में उपलब्ध अन्य पुस्तकों से भिन्न है। मैं यह आशा नहीं करता कि सभी प्रबुद्ध पाठक मेरे उपर्युक्त दृष्टिकोण से सहमत होंगे किंतु धर्म और धर्मदर्शन विषयक गंभीर समस्याओं के संबंध में अपने विचारों को स्पष्ट रूप से उनके समक्ष प्रस्तुत करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। यदि मेरे ये विचार इन समस्याओं के विषय में उन्हें अधिक निष्पक्ष तथा स्वतंत्र चिंतन के लिए प्रेरित कर सकें तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा।

मुझे आशा है कि हिंदी के माध्यम से धर्म-दर्शन का अध्ययन करने वाले स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्र-छात्राओं, भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के परीक्षार्थियों तथा सामान्य पाठकों के लिए यह पुस्तक उपादेय और ज्ञानवर्धक सिद्ध हो सकेगी। पाठकों की सुविधा के लिए इस पुस्तक के अंत में पारिभाषिक हिंदी शब्दों के अँग्रेज़ी पर्याय भी दे दिए गए हैं।

वेद प्रकाश वर्मा

लेखक परिचय

अमृतसर के अंधविद्यालय में प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात प्रो. वेदप्रकाश वर्मा ने उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा दिल्ली में माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त की। आगरा कॉलेज के छात्र के रूप में उन्होंने 1960 में आगरा विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की जिसमें उन्होंने केवल प्रथम श्रेणी ही नहीं, अपितु संपूर्ण विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान भी प्राप्त किया। सेंट जॉन्स कॉलेज आगरा तथा आगरा कॉलेज में, लगभग दो वर्ष तक अस्थाई रूप से अध्यापन कार्य करने के उपरांत प्रो. वर्मा को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से शोध-छात्रवृत्ति प्राप्त हुई और अक्तूबर 1963 में उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग में शोध-कार्य प्रारंभ किया। 'समकालीन नैतिक दर्शन में व्यक्तिनिष्ठवाद तथा संवेगवाद' पर शोध प्रबंध लिखकर उन्होंने 1967 में इसी विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। सितंबर 1967 से अक्तूबर 1999 तक उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग में अध्यापन कार्य किया। धर्म-दर्शन तथा नैतिक दर्शन उनके अध्ययन और अध्यापन के प्रमुख क्षेत्र हैं जिनमें उन्होंने विशेष रूप से कार्य किया है। अब तक उनकी निम्नलिखित नौ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं-

1. नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत प्रथम संस्करण-1977. संशोधित एवं परिवर्धित चतुर्थ संस्करण-1994.
2. 'सम कन्टेम्प्रेरी मैटा-ऐथिकल थ्योरीज़', दिल्ली विश्वविद्यालय, 1978.
3. डेविड ह्यूम का दर्शन; राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1978.
4. 'महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन; इंदु प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण 1979, द्वितीय संस्करण 1989.
5. 'लुई ब्रेल-व्यक्तित्व और कृतित्व', रोटरी क्लब, दिल्ली नॉर्थ, 1981.
6. 'समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन', हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1982, द्वितीय संस्करण 1986.
7. 'अधि-नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धांत', अलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1987, द्वितीय संस्करण 1995.
8. 'दर्शन-विवेचना', हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 1989.
9. भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद, अलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999.

प्रोफेसर वर्मा की इन पुस्तकों में से प्रस्तुत पुस्तक के अतिरिक्त पहली, तीसरी, चौथी तथा सातवीं पुस्तक उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ और छठी पुस्तक अखिल भारतीय दर्शन परिषद द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं।

उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त प्रोफेसर वर्मा ने विभिन्न दार्शनिक समस्याओं पर बहुत-से शोधपत्र भी लिखे हैं जो दर्शन सबंधी अनेक पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

विषय सूची

1

धर्म-दर्शन का स्वरूप और क्षेत्र

1. धर्म का अर्थ

धर्म-दर्शन के स्वरूप और क्षेत्र को भलीभाँति समझने के लिए सर्वप्रथम 'धर्म' तथा 'दर्शन' का अर्थ समझना आवश्यक है। 'धर्म' शब्द हम सब के लिए एक ऐसा परिचित शब्द है जिसका हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि सामान्य व्यक्ति इस शब्द के अर्थ के विषय में कोई विशेष कठिनाई अनुभव नहीं करता। यदि उससे पूछा जाए कि धर्म क्या है तो संभवतः वह हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म आदि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करेगा और हमें बताएगा कि मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि उपासना-स्थलों में जाकर विशेष प्रकार से प्रार्थना या पूजा करना ही धर्म है। साधारण व्यक्ति जब 'धर्म' शब्द सुनता या पढ़ता है अथवा स्वयं इस शब्द का प्रयोग करता है तो प्रायः उसके मन में किसी विशेष उपासना-स्थल, उसमें विशेष प्रकार से पूजा करने वाले व्यक्तियों, जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि महत्त्वपूर्ण अवसरों पर संपन्न किए जाने वाले विशेष कृत्यों या अनुष्ठानों तथा विशेष प्रकार के वस्त्र पहने हुए ऐसे व्यक्तियों का चित्र उभरता है जिन्हें 'साधु' या 'संत' कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारण व्यक्ति 'धर्म' शब्द को कुछ विशेष बाह्य वस्तुओं, भवनों, वस्त्रों, पुस्तकों, व्यक्तियों तथा प्रार्थना या पूजा-पाठ संबंधी कर्मकांड से ही जोड़ता है।

यद्यपि धर्म का उपर्युक्त प्रचलित सामान्य अर्थ दार्शनिक दृष्टि से बहुत संतोषप्रद नहीं है, फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। यह सर्वविदित तथ्य है कि विशेष उपासना-स्थल, पवित्र ग्रंथ, प्रार्थना अथवा पूजा-पाठ संबंधी कर्मकांड तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग माने जाते हैं जिन्हें हम धर्म का 'बाह्य पक्ष' कह सकते हैं। जनसाधारण धर्म के इस बाह्य पक्ष को अत्यधिक महत्त्व देता है और इसी के आधार पर धर्म को अन्य सभी विषयों, विचारों तथा सिद्धांतों से पृथक करता है। ऐसी स्थिति में धर्म का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसके इस बाह्य पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रायः सभी धर्मों में धर्म का यह बाह्य पक्ष अनिवार्यतः विद्यमान रहता है जिसके द्वारा उन्हें एक-दूसरे से पृथक किया जाता है और जिसके कारण प्रत्येक धर्म के अनुयाई अपने आपको अन्य सभी धर्मों के अनुयाइयों से भिन्न मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न धर्मों के कर्मकांड संबंधी बाह्य पक्ष में पर्याप्त भिन्नता होती है जो उन्हें एक-दूसरे से अलग करती है और जो उनके अनुयाइयों में पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष का प्रमुख कारण बनती है। परंतु इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्मों में उक्त भिन्नता के होते हुए भी हम सभी धर्मों के लिए एक ही शब्द 'धर्म' का प्रयोग करते हैं

जिसमे यही प्रमाणित होता है कि उनमें कोई एक अथवा एक मे अधिक सामान्य विशेषताएँ अवश्य हैं जो उन्हें एक-दूसरे से जोड़ती हैं। वस्तुतः समस्त धर्मों की इन सामान्य विशेषताओं को ही 'धर्म के मूल तत्त्व' माना जा सकता है जिनके आधार पर दार्शनिक दृष्टि से धर्म की अधिक संतोषप्रद परिभाषा दी जा सकती है।

परंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्म की कोई पूर्णतः निश्चित तथा सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यंत कठिन है, क्योंकि विभिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इसके स्वरूप की व्याख्या करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, कुछ दार्शनिक धर्म के उस पक्ष को सर्वप्रमुख मान कर इसके अर्थ एवं स्वरूप की व्याख्या करते हैं जिसे **सैद्धांतिक या बौद्धिक पक्ष** कहा जाता है, जबकि कुछ अन्य दार्शनिकों के मतानुसार धर्म का **भावनात्मक पक्ष** ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कुछ दार्शनिक इन दोनों दृष्टिकोणों को अस्वीकार करते हुए धर्म के **व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष** को ही प्रमुख मानते हैं जिसमें आचरण तथा कर्मकांड या धार्मिक अनुष्ठानों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। हम आगे देखेंगे कि धर्म के स्वरूप के विषय में ये सभी दृष्टिकोण केवल अंशतः ही सत्य हैं। इनमें से कोई भी दृष्टिकोण उसके स्वरूप की ठीक-ठीक और पूर्णतः संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता है। वस्तुतः धर्म के स्वरूप के संबंध में दार्शनिकों के उपर्युक्त मतभेद के कारण ही इसकी बहुत-सी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं जिनके फलस्वरूप धर्म का ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यंत कठिन हो जाता है। अपनी पुस्तक, **'ए साइकॉलॉजिकल स्टडी ऑफ़ रिलिजन'** में जेम्स एच० ल्यूबा ने विभिन्न दार्शनिकों द्वारा दी गई धर्म की पचास भिन्न-भिन्न परिभाषाओं का उल्लेख किया है। इनमें से प्रत्येक परिभाषा धर्म के किसी एक विशेष अंश या पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व देकर उसके स्वरूप की व्याख्या करती है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए धर्म का कोई स्पष्ट और निश्चित अर्थ समझना बहुत कठिन हो जाता है।

उपर्युक्त कठिनाई का एक समाधान यह है कि हमें धर्म की कोई एक निश्चित एवं सर्वमान्य परिभाषा खोजने के स्थान पर कुछ ऐसे सामान्य तत्त्वों को खोजने का प्रयास करना चाहिए जिन्हें **'धर्म के मूल तत्त्व'** कहा जा सकता है और जो किसी न किसी रूप में सभी धर्मों में पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, **किसी अलौकिक या अतिमानवीय शक्ति अथवा सत्ता में विश्वास धर्म का आधारभूत अनिवार्य तत्त्व है** जिसके बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है। यह तत्त्व सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है, चाहे वे प्राचीन युग के आदिम धर्म हों अथवा आधुनिक युग के विकसित धर्म। **इस अलौकिक शक्ति या सत्ता की पूजा अथवा उपासना धर्म का दूसरा मूल तत्त्व है** जो प्रत्येक धर्म में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। इस तत्त्व के बिना भी हम वास्तविक अर्थ में किसी धर्म की कल्पना नहीं कर सकते। **धर्म का तीसरा आधारभूत तत्त्व है उन समस्त व्यक्तियों, स्थानों, पुस्तकों तथा वस्तुओं को अति पावन या पवित्र मानना जिनका संबंध इस अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता से है।** धर्मपरायण व्यक्ति इस अतिमानवीय शक्ति से संबंधित सभी वस्तुओं को अत्यंत पवित्र मानकर उनके प्रति विशेष श्रद्धा एवं आदर की भावना रखता है। यह तत्त्व भी सभी धर्मों में अनिवार्यतः पाया जाता है। **मनुष्य के लिए दुःख से मुक्ति का आश्वासन**

धर्म का चौथा मूल तत्त्व है जो प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है। इस मुक्ति का अर्थ और इसकी प्राप्ति के उपाय भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किंतु सभी धर्म किसी न किसी रूप में मनुष्य को दुःख से मुक्ति का आश्वासन अवश्य देते हैं। यही कारण है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करके एक विशेष प्रकार की सांत्वना का अनुभव करता है। वस्तुतः यदि हम धर्म के उपर्युक्त सभी मूल तत्त्वों को ध्यान में रखें तो हम उसके अर्थ और स्वरूप को भलीभाँति समझ सकते हैं। इसी कारण धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसके इन मूल तत्त्वों पर आगे यथास्थान कुछ विस्तार से विचार किया जाएगा।

मेरे विचार में धर्म की वही परिभाषा दार्शनिक दृष्टि से संतोषजनक तथा युक्तिसंगत मानी जा सकती है जिसमें विश्व के सभी धर्मों की सामान्य विशेषताएँ या उनके मूल तत्त्व सम्मिलित हों और जिसके आधार पर धर्म को साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, दर्शन, नैतिकता आदि से पृथक किया जा सके। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम धर्म की निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं:

> **धर्म मानव-जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करने वाली वह व्यापक अभिवृत्ति है जो सर्वाधिक मूल्यवान, पवित्र, सर्वज्ञ तथा शक्तिशाली समझे जाने वाले आदर्श और अलौकिक उपास्य विषय के प्रति अखंड आस्था एवं पूर्ण प्रतिबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और जो मनुष्य के दैनिक आचरण तथा प्रार्थना, पूजा-पाठ, जप-तप आदि बाह्य कर्मकांड में अभिव्यक्त होती है।**

इस परिभाषा में धर्म के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों तथा अनिवार्य मूल तत्त्वों को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है। इस परिभाषा में पाए जाने वाले धर्म के इन सभी महत्त्वपूर्ण-पक्षों और मूल तत्त्वों का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण आगे किया जा रहा है।

(1) धर्म की उपर्युक्त परिभाषा से सर्वप्रथम यह स्पष्ट है कि **धर्म मनुष्य की एक विशेष मनोदशा या अभिवृत्ति है,** परंतु यह अभिवृत्ति अन्य अभिवृत्तियों से भिन्न प्रकार की होती है। इस अभिवृत्ति की मूल विशेषता यह है कि यह मनुष्य के जीवन के किसी एक पक्ष को प्रभावित करने तक सीमित न होकर उसके जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करती है। इस दृष्टि से इसे मानव-जीवन की सर्व-व्यापक अभिवृत्ति कहा जा स कता है। जो व्यक्ति धर्म में सचमुच पूर्ण निष्ठा रखता है उसके जीवन के सभी पक्षों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। वह अपने दैनिक जीवन में ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो उसके विरुद्ध हो। यदि वह ऐसा करता है तो यही कहा जा सकता है कि अपने धर्म में उसकी पूर्ण निष्ठा नहीं है। धर्म के नाम पर विश्व के विभिन्न संप्रदायों में निरंतर होने वाले रक्त-रंजित संघर्षों तथा क्रूरतम अत्याचारों का दीर्घकालीन दुःखद इतिहास इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि धर्मपरायण होने का दावा करने वाले अधिकतर व्यक्ति वस्तुतः धर्म के अनुरूप आचरण नहीं करते। इतना ही नहीं, वे प्रायः धर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं। मेरे विचार में ऐसे व्यक्तियों को 'धर्म-परायण' न कह कर 'धर्मद्रोही' अथवा 'पाखंडी' कहना ही अधिक उचित होगा। सच्चा धर्मपरायण व्यक्ति कभी भी अपने धर्म के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता।

(2) **धर्म मनुष्य की वह व्यापक मनोदशा या अभिवृत्ति है जो किसी सामान्य वस्तु, विचार अथवा व्यक्ति के प्रति उन्मुख नहीं होती।** इस अभिवृत्ति का विषय ऐसी आदर्श अलौकिक सत्ता है जिसे धर्मपरायण व्यक्ति सर्वाधिक मूल्यवान तथा शक्तिशाली समझता है और इसी कारण जिसकी वह उपासना या पूजा करता है। उसके लिए संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसके इस आराध्य विषय की अपेक्षा अधिक पवित्र, महत्त्वपूर्ण या मूल्यवान हो। यही कारण है कि वह अपने उपास्य विषय के लिए सदैव बड़े से बड़े त्याग करने को सहर्ष उद्यत रहता है। अपने आराध्य विषय को सर्वाधिक पवित्र तथा मूल्यवान समझने के अतिरिक्त वह उसे अत्यंत शक्तिशाली भी समझता है। आराध्य विषय की असीम शक्ति का यह विश्वास उसे अपने जीवन में ऐसा संबल प्रदान करता है जिस पर वह सदा निर्भर रह सकता है। इस निर्भरता के कारण वह उसके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होता है और उसकी उपासना या पूजा करता है। वस्तुतः उपास्य विषय पर पूर्ण निर्भरता, उसके प्रति संपूर्ण समर्पण तथा पूजा की भावना धर्म के अनिवार्य तत्त्व हैं जो उसे साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, नैतिकता, राजनीति आदि से पृथक करते हैं। धर्मपरायण व्यक्ति अपने आराध्य विषय में असीम शक्ति के साथ-साथ समस्त सद्‌गुणों को भी आरोपित करता है जिनके कारण उसके मन में इस विषय के प्रति पूर्ण समर्पण, श्रद्धा तथा पूजा की भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य की जिस अभिवृत्ति को 'धर्म' कहा जाता है उसका विषय कोई सामान्य सांसारिक वस्तु न होकर समस्त मूल्यों, सद्‌गुणों तथा असीम शक्ति से परिपूर्ण उपास्य दैवी सत्ता है।

(3) धर्म के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि **संवेग, भावना या अनुभूति धर्म का अनिवार्य तथा प्रमुख पक्ष है।** यह सर्वविदित तथ्य है कि धर्म में बुद्धि एवं तर्क की अपेक्षा भावना का कहीं अधिक महत्त्व होता है। धर्मपरायण व्यक्ति का संपूर्ण जीवन अपने आराध्य विषय के प्रति पूर्ण समर्पण, श्रद्धा तथा पूजा की भावना से सदा ओतप्रोत रहता है। वह अपने प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने उपास्य विषय के प्रति पूजा की इसी भावना से प्रेरित होकर करता है। यही कारण है कि उसका संपूर्ण जीवन इसी धार्मिक भावना से शासित होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने आराध्य विषय के संबंध में जिस विशेष संवेग का अनुभव करता है वह प्रेम, भय, क्रोध आदि सामान्य संवेगों से भिन्न प्रकार का होता है। इस विशिष्ट संवेग में उपास्य विषय के प्रति गहन श्रद्धा, सम्मान, प्रेम तथा भय सभी मिश्रित रूप में विद्यमान रहते हैं। हिंदी में इस विशेष संवेग के लिए कोई एक उपयुक्त शब्द न होने के कारण हम इसे 'धार्मिक संवेग' की संज्ञा दे सकते हैं। वस्तुतः यह विशिष्ट धार्मिक संवेग धर्म का मूल तत्त्व है जिसके अभाव में धर्म के अस्तित्व की कल्पना करना संभव नहीं है। प्रत्येक धर्मपरायण व्यक्ति अपने जीवन में इस विशेष धार्मिक संवेग का अवश्य अनुभव करता है, अतः इसे धर्म का अनिवार्य तत्त्व माना जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आराध्य विषय की पूजा से संबंधित संवेग या भावना का धर्म के लिए विशेष महत्त्व है। वास्तव में धर्म का संवेगात्मक पक्ष ही उसे विज्ञान तथा दर्शन से पृथक करता है जिनमें संवेग या भावना के स्थान पर बुद्धि एवं तर्क को ही महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से हम

विज्ञान एवं दर्शन को तर्कप्रधान और धर्म को भावनाप्रधान मान सकते हैं। इसी आधारभूत अंतर के कारण मानव-जीवन के प्रति धर्म का दृष्टिकोण विज्ञान तथा दर्शन के दृष्टिकोण से मूलतः भिन्न प्रकार का होता है। वस्तुतः मनुष्य की एक विशेष मनोदशा अथवा अभिवृत्ति होने के कारण धर्म का संवेगात्मक या भावनात्मक होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है।

(4) **धर्म का एक अन्य अनिवार्य तत्त्व है अपने उपास्य विषय में धर्मपरायण व्यक्ति की अखंड आस्था और उसके प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता।** भक्त अथवा धर्मपरायण व्यक्ति बिना किसी संदेह या शंका के यह मानता है कि उसके आराध्य विषय का वास्तव में वस्तुगत अस्तित्व है और वही समस्त मूल्यों, सद्गुणों, असीम शक्ति तथा ज्ञान का स्रोत है। इसी कारण वह अपने उपास्य विषय के प्रति सदैव पूर्ण प्रतिबद्धता का अनुभव करता है। उसके संपूर्ण व्यावहारिक जीवन में उसकी यह आस्था एवं प्रतिबद्धता अभिव्यक्त होती है। वह आस्थावान भक्त के रूप में अपने समस्त कर्मों को आराध्य विषय के प्रति पूर्णतः समर्पित कर देता है। यही कारण है कि विज्ञान तथा दर्शन के विपरीत धर्म को आस्थाप्रधान माना जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्मपरायण व्यक्ति की आस्था सामान्य बौद्धिक विश्वासों से भिन्न प्रकार की होती है। हमारे सामान्य बौद्धिक विश्वास कुछ विशेष वास्तविक कारणों अथवा तर्कों पर आधारित होते हैं, किंतु धार्मिक आस्था का ऐसा कोई बौद्धिक या तार्किक आधार नहीं होता। धर्मपरायण व्यक्ति पवित्र माने जाने वाले अपने धर्मग्रंथ के आधार पर ही आराध्य विषय के अस्तित्व तथा स्वरूप और अन्य अनेक मान्यताओं को स्वीकार कर लेता है। इनके लिए वह किसी प्रकार के तर्क या प्रमाण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। वह अपने धर्मग्रंथ को ही उन सभी मान्यताओं तथा सिद्धांतों की सत्यता का अंतिम प्रमाण मानता है जिनका उसमें वर्णन किया गया है और जिन के अनुरूप वह आचरण करता है। इतना ही नहीं, वह इन मान्यताओं तथा सिद्धांतों के विरुद्ध किसी तर्क या प्रमाण की संभावना और सत्यता को स्वीकार करने के लिए भी उद्यत नहीं होता। ऐसी स्थिति में धार्मिक आस्था को निर्बौद्धिक ही कहा जा सकता है और यह निर्बौद्धिकता ही इस आस्था को सामान्य बौद्धिक विश्वासों से पृथक करती है। इन विश्वासों के विरुद्ध समुचित प्रमाण प्राप्त होने पर हम इनका परित्याग कर देते हैं, किंतु धार्मिक आस्था के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि सामान्यतः इस आस्था को अखंड माना जाता है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो दार्शनिक धार्मिक आस्था पर आधारित विश्वासों का विवेचन और विश्लेषण करते हैं वे इन विश्वासों के पक्ष या विपक्ष में तर्क अथवा प्रमाण अवश्य देते हैं। इसे ही कुछ दार्शनिक धर्म का बौद्धिक पक्ष मानते हैं, किंतु मेरे विचार में इस बौद्धिक पक्ष का संबंध वस्तुतः धर्म-दर्शन से ही है, धर्म से नहीं। ईश्वर, आत्मा आदि से संबंधित विश्वासों के पक्ष या विपक्ष में तर्क देना दार्शनिक का कार्य है; भक्त अथवा धर्मपरायण व्यक्ति इन तर्कों की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। वह केवल अपनी आस्था के आधार पर ही इन विश्वासों को स्वीकार कर लेता है।

(5) अभी तक धर्म के जिन तत्त्वों का विवेचन किया गया है उन्हें 'धर्म के आंतरिक तत्त्व' कहा जा सकता है, क्योंकि ये सभी तत्त्व स्वयं धर्मपरायण व्यक्ति के मन में

ही विद्यमान रहते हैं। इन आंतरिक तत्त्वों के अतिरिक्त धर्म का एक बाह्य तत्त्व भी है जिसे '**कर्मकांड**' कहा जाता है। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजा आदि उपासना-स्थलों में जाना, पूजा-पाठ, प्रार्थना, जप-तप आदि करना, विशेष प्रकार के वस्त्र पहनना, धर्मग्रंथ पढ़ना, सत्संग, कीर्तन आदि करना, जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि महत्त्वपूर्ण अवसरों पर विशेष धार्मिक अनुष्ठान—ये सभी कर्मकांड के अंतर्गत आते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति वस्तुतः कर्मकांड के माध्यम से ही होती है। यही कारण है कि इस कर्मकांड को भी धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति किसी न किसी रूप में प्रायः इस कर्मकांड में अवश्य भाग लेते हैं। कोई व्यक्ति धर्मपरायण है अथवा नहीं, इसका निर्णय प्रायः इसी बात के आधार पर किया जाता है कि वह अपने धर्म से संबंधित कर्मकांड में भाग लेता है या नहीं। इसी प्रकार धर्म की बाह्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से कर्मकांड का बहुत महत्त्व है। संसार के विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों में जो दुखद संघर्ष होता रहा है और अब भी हो रहा है उसका एक प्रमुख कारण इन धर्मों के कर्मकांड की भिन्नता है। इस संघर्ष को समाप्त करने के लिए कुछ विचारकों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि किसी भी धर्म के कर्मकांड का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, अतः इसकी भिन्नता के कारण परस्पर विवाद तथा संघर्ष करना नितांत अनुचित और निरर्थक है। परंतु इन विचारकों का यह मत व्यावहारिक दृष्टि से अभी तक प्रायः प्रभावहीन ही रहा है। वस्तुतः यह कहना बहुत कठिन है कि कर्मकांड की उपेक्षा करके धर्म के स्वरूप की समुचित व्याख्या की जा सकती है। इसका कारण यह है कि मानव-जीवन में धर्म की बाह्य अभिव्यक्ति अनिवार्य है और यह अभिव्यक्ति किसी न किसी प्रकार के कर्मकांड के माध्यम से ही हो सकती है। इस दृष्टि से कर्मकांड धर्म का आवश्यक अंग प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि (1) मनुष्य के संपूर्ण जीवन को प्रभावित करने वाली सर्वव्यापक अभिवृत्ति; (2) समस्त मूल्यों, सद्‌गुणों, पवित्रता तथा असीम शक्ति एवं ज्ञान से परिपूर्ण अलौकिक उपास्य विषय; (3) इस उपास्य विषय में अखंड आस्था और इसके प्रति पूर्ण समर्पण तथा पूजा की भावना; (4) बाह्य कृत्यों अथवा अनुष्ठानों में इस आस्था, समर्पण एवं पूजा की भावना की अभिव्यक्ति—ये सभी धर्म के अनिवार्य तत्त्व हैं और इन सभी तत्त्वों को ध्यान में रख कर ही धर्म के स्वरूप को भलीभाँति समझा जा सकता है। धर्म की यह परिभाषा विश्व के सभी धर्मों पर लागू की जा सकती है जिनमें जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि निरीश्वरवादी धर्म भी सम्मिलित हैं। यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि विश्व के प्रत्येक मुख्य धर्म में उपर्युक्त सभी तत्त्व किसी न किसी रूप में अवश्य पाए जाते हैं। इसी कारण इन सभी धर्मों के लिए एक ही शब्द 'धर्म' का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त परिभाषा को धर्म की व्यापक, पर्याप्त और समुचित परिभाषा माना जा सकता है। इस परिभाषा में धर्म के जिन मूल तत्त्वों का उल्लेख किया गया है वे हिंदू धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, इस्लाम आदि ईश्वरवादी धर्मों तथा बौद्ध धर्म, जैन धर्म, कनफ्यूशियसवाद आदि निरीश्वरवादी धर्मों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाए जाते हैं। यही कारण है कि ईश्वर विषयक विश्वास के संबंध में मूल अंतर होते हुए भी हम इन दोनों प्रकार के धर्मों के लिए बिना किसी संकोच के एक ही शब्द 'धर्म' का प्रयोग करते हैं। इस

प्रकार धर्म की उपर्युक्त परिभाषा किसी एक धर्म विशेष तक सीमित न होकर सभी धर्मों पर समान रूप से लागू होती है।

यहाँ 'धर्म' के अर्थ के संबंध में भारतीय मनीषियों के मत का उल्लेख कर देना भी वांछनीय होगा। भारतीय वांङमय में 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसके प्रचलित सामान्य अर्थ से भिन्न और बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है। वेदों, उपनिषदों, भगवद्गीता, महाभारत तथा भारतीय दर्शनों में 'धर्म' शब्द की सविस्तार व्याख्या की गई है और इसके भिन्न-भिन्न अर्थ बताए गए हैं। वेदों में धर्म को विश्व की व्यवस्था अथवा उसके मूल नियम के अर्थ में ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ ऋगवेद में कहा गया है कि **धर्म ही विश्व का मूल तत्त्व या आधार है।**[1] वेदों के पश्चात उपनिषदों में धर्म को सत्य और कर्तव्य से जोड़कर उसे अनिवार्यतः नैतिकता के साथ संबद्ध कर दिया गया। 'बृहदारण्यक' उपनिषद के अनुसार सत्य तथा धर्म मूलतः एक ही हैं।[2] इसी प्रकार उपनिषदों में वर्णाश्रमधर्म का भी उल्लेख मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप समस्त कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।[3] भगवद्गीता और धर्मशास्त्रों में भी धर्म का यही अर्थ स्वीकार किया गया है। भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को इसी अर्थ में स्वधर्म-पालन की शिक्षा दी है। बौद्ध दर्शन में भी शील और अष्टांगिक मार्ग को धर्म के अंतर्गत मान कर उसके नैतिक पक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों ने 'धर्म' शब्द का वह अर्थ स्वीकार नहीं किया जो आज सामान्यतः प्रचलित है। उन्होंने धर्म को एक ऐसी जीवन-पद्धति के रूप में ग्रहण किया है जिसके अनुसार मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करता है और जिसमें स्वकर्तव्य-पालन का सर्वाधिक महत्त्व है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में और मनु ने अपनी 'मनुस्मृति' में धर्म के स्वकर्तव्य-पालन संबंधी इसी पक्ष को विशेष महत्त्व दिया है। उनके द्वारा बताया गया धर्म का अर्थ 'महाभारत' में की गई धर्म की व्याख्या के अनुरूप ही है जिसमें सदाचार तथा स्वकर्तव्य-पालन को धर्म के अनिवार्य लक्षणों के रूप में स्वीकार किया गया है। वेद व्यास द्वारा रचित इस ग्रंथ में 'राज-धर्म', 'मित्र-धर्म', 'प्रजा-धर्म' आदि का जो उल्लेख मिलता है उसमें 'धर्म' का अर्थ अपने कर्तव्य का पालन ही है। इसी प्रकार विभिन्न मानव-समुदायों के विशिष्ट आचरण को ध्यान में रखते हुए उक्त ग्रंथ में 'देश-धर्म', 'जाति-धर्म', 'वर्ण-धर्म', 'आश्रम-धर्म' आदि का भी उल्लेख किया गया है।[4] स्वकर्तव्य-पालन तथा आचार से संबंधित धर्म के इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए मनु ने उसके चार मूल स्रोत बताए हैं : (1) श्रुति-वेद, उपनिषद आदि। (2) स्मृति-धर्मशास्त्र आदि। (3) सदाचार-महापुरुषों द्वारा दिखाया गया मार्ग। (4) आत्म-तुष्टि।[5] इस प्रकार भारतीय विचारकों के मतानुसार स्वकर्तव्य-पालन तथा सदाचार संबंधी जीवन-पद्धति का नाम ही धर्म है।

---

1. 'ऋगवेद', 1. 187.
2. 'बृहदारण्यक', 1. 4. 14.
3. 'तैत्‍रीय उपनिषद', 1. 11.
4. 'महाभारत'; 'अनुशासन पर्व तथा उद्योग पर्व'।
5. 'मनुस्मृति', 2. 6. 12.

'धर्म' शब्द के निष्पत्तिमूलक अर्थ का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'धि' नामक धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'धारण' करना'। इस शब्दार्थ की दृष्टि से धर्म की व्याख्या करते हुए 'महाभारत' में यह कहा गया है कि "जो समाज को धारण करे वह धर्म है।" "ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः।" "धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः।" संभवतः धर्म की इस परिभाषा का वास्तविक निहितार्थ यह है कि धर्म मनुष्य का वह स्वभाव है जो संपूर्ण मानव-समाज को परस्पर संगठित रखता है। इस दृष्टि से धर्म को सामाजिक एकता अथवा संगठन की शक्ति के रूप में देखा जा सकता है। महर्षि कणाद द्वारा रचित **'वैशेषिक दर्शन'** में दी गई धर्म की परिभाषा भी इसी अर्थ की पुष्टि करती है। इस परिभाषा में कहा गया है कि 'धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति तथा उसके कल्याण में सहायक हो।" "यतोभ्युदयनिः श्रेयसिद्धिः स धर्मः।" स्पष्ट है कि इस परिभाषा के अनुसार धर्म संपूर्ण मानव-समाज के सर्वांगीण विकास का अनिवार्य साधन है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत में दी गई धर्म की उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में उसके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पक्षों को समुचित महत्त्व दिया गया है। इन परिभाषाओं के अनुसार धर्म वह है जो मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक अभ्युदय अथवा विकास में सहायक हो। मनु ने धर्म की जो परिभाषा दी है उसमें भी मूलतः धर्म के इसी व्यापक अर्थ को स्वीकार किया गया है। मनु की इस परिभाषा के अनुसार धर्म के निम्नलिखित अनिवार्य दस लक्षण हैं: (1) **धृति** अथवा धैर्य; (2) **क्षमा**; (3) **संयम** अथवा मनोनिग्रह; (4) **अचौर्य** अथवा चोरी न करना; (5) **शौच** या सभी प्रकार की स्वच्छता; (6) **इंद्रियनिग्रह**-अर्थात अपनी सभी इंद्रियों को वश में रखना; (7) **विवेकशीलता**; (8) **विद्या** अथवा सभी प्रकार का ज्ञान; (9) **सत्य बोलना** अथवा सदा सत्य के अनुरूप आचरण करना; (10) **अक्रोध**—अर्थात् कभी क्रोध न करना। "धृतिः क्षमा दमोअस्तेयम् शौचमिट्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मलक्षणम्"।[6] मनु द्वारा दी गई इस परिभाषा में धर्म के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है वे मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन तथा संपूर्ण मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास या कल्याण के लिए निश्चय ही अनिवार्य हैं।

परंतु मेरे विचार में मनु द्वारा दी गई धर्म की उपर्युक्त परिभाषा की एक कठिनाई यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर धर्म और नैतिकता में कोई भेद नहीं रह जाता। मनु ने इस परिभाषा में धर्म के जिन दस लक्षणों का उल्लेख किया है वे वास्तव में नैतिकता के अनिवार्य गुण अथवा नियम हैं। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनु के मतानुसार धर्म और नैतिकता एक दूसरे से पृथक न होकर मूलतः एक ही हैं। इस मत के समर्थन में यह भी कहा गया है कि धर्म एक नैतिक अवधारणा है जिसका अर्थ है अपने कर्तव्य का समुचित रूप से पालन करना। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, भगवद्गीता तथा कुछ अन्य भारतीय ग्रंथों में धर्म का यही अर्थ स्वीकार किया गया है। हिंदू धर्म के वर्णाश्रम-धर्म-सिद्धांत में भी धर्म को इसी स्वकर्तव्य-पालन के अर्थ में ही ग्रहण किया गया

6. 'मनुस्मृति', 6. 92.

है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में मानव-जीवन के जो चार पुरुषार्थ—अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष—बताए गए हैं उनमें भी धर्म का अर्थ नैतिकता से मूलतः भिन्न नहीं है। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से विचार करने पर धर्म नैतिकता का ही एक अंग बन जाता है और नैतिकता से पृथक उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह जाता। परंतु वर्तमान युग में 'धर्म' के प्रचलित अर्थ को ध्यान में रखते हुए इस मत का समर्थन करना बहुत कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि धर्म और नैतिकता में कुछ संबंध होते हुए भी सामान्यतः धर्म को नैतिकता से भिन्न ही माना जाता है। ऐसे विचारकों तथा धर्मपरायण व्यक्तियों की संख्या लगभग नगण्य ही है जो धर्म और नैतिकता को एक-दूसरे से पृथक नहीं मानते। ऊपर धर्म की जो व्यापक परिभाषा दी गई है उससे भी यही प्रमाणित होता है कि धर्म वस्तुतः नैतिकता से भिन्न है। ऐसी स्थिति में यह कहना शायद अनुचित न होगा कि मनु द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म के स्वरूप की ठीक-ठीक और संतोषप्रद व्याख्या नहीं करती।

धर्म के लिए अँग्रेज़ी भाषा में प्रचलित शब्द 'रिलिजन' के अर्थ का विश्लेषण करके भी धर्म के स्वरूप को कुछ सीमा तक समझा जा सकता है। 'रिलिजन' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'रिलिजेयर' नामक शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'बाँधना'। इस प्रकार शब्दार्थ की दृष्टि से 'रिलिजन' वह है जो मनुष्य तथा ईश्वर में संबंध स्थापित करता है और मनुष्यों को परस्पर बाँधता या संगठित रखता है। यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि 'रिलिजन' शब्द का यह अर्थ संस्कृत के 'धर्म' शब्द के उपर्युक्त अर्थ से मूलतः भिन्न नहीं है। दोनों शब्दों का मूल अर्थ मनुष्यों को परस्पर बांधना या संगठित रखना ही है। इस दृष्टि से 'धर्म' या 'रिलिजन' संपूर्ण मानव-समाज में एकता अथवा संगठन स्थापित करने का साधन होना चाहिए था; परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, धर्म का प्रभाव मानव-समाज पर इसके ठीक विपरीत ही पड़ा है। वस्तुतः मानव-जाति के लिए यह अत्यंत दुर्भाग्य की बात है कि 'धर्म' तथा 'रिलिजन' इन दोनों शब्दों को प्रायः संकुचित सांप्रदायिक अर्थ में ही ग्रहण किया गया है और इस संकुचित अर्थ में धर्म ने मानव-समाज में एकता एवं संगठन स्थापित करने के स्थान पर विभिन्न संप्रदायों में परस्पर विद्वेष तथा घृणा को ही जन्म दिया है। आज भी मावन-समाज में 'धर्म' तथा 'रिलिजन' का यही संकुचित अर्थ प्रचलित है जिसने मनुष्यों को अनेक विभिन्न संप्रदायों में विभक्त कर दिया है और इन संप्रदायों में परस्पर निरंतर संघर्ष चलता रहता है। धर्म का यह ऐसा दुखद पक्ष है जिसकी उपेक्षा करना न तो संभव है और न उचित।

धर्म के अर्थ अथवा स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि मनुष्य की व्यक्तिगत मनोदशा या अभिवृत्ति होने के साथ-साथ धर्म एक सामाजिक संस्था अथवा संगठन के रूप में भी बहुत प्राचीन काल से मानव-जीवन को प्रभावित करता रहा है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे समक्ष धर्म के प्रमुख तीन पक्ष उपस्थित होते हैं—सैद्धांतिक पक्ष, संवेगात्मक पक्ष तथा व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष। अब संक्षेप में क्रमशः धर्म के इन तीनों पक्षों का विवेचन किया जाएगा।

(1) हम देख चुके हैं कि सर्वाधिक मूल्यवान, पूर्णतः शुभ, पवित्र, असीम शक्ति और

ज्ञान से परिपूर्ण किसी अलौकिक उपास्य विषय के अस्तित्व में आस्था धर्म का अनिवार्य तत्त्व है। इस उपास्य विषय के अस्तित्व, स्वरूप तथा विश्व के साथ इस के संबंध के विषय में धर्मपरायण व्यक्ति अनिवार्यतः कुछ विशेष विश्वासों को स्वीकार करता है। इन्हें 'धार्मिक विश्वास' कहा जा सकता है और इन्हीं विश्वासों की समुचित एवं संतोषजनक व्याख्या करने के लिए सिद्धांतों का प्रतिपादन करना आवश्यक हो जाता है। यही धर्म का सैद्धांतिक पक्ष है जो उसके अस्तित्व और विस्तार के लिए अनिवार्य है। हिंदू धर्म में जगत्, आत्मा, ईश्वर तथा ब्रह्म् के विषय में विभिन्न सिद्धांत, बौद्ध धर्म में अनात्मवाद एवं निर्वाण की अवधारणा, ईसाई धर्म, इस्लाम, यहूदी धर्म आदि ईश्वरवादी धर्मों में ईश्वर के अस्तित्व, स्वरूप तथा जगत् के साथ उसके संबंध के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धांत धर्म के इसी सैद्धांतिक पक्ष के उदाहरण हैं। विश्व के सभी प्रमुख धर्मों में धार्मिक विश्वासों से संबंधित इस प्रकार के सिद्धांत पाए जाते हैं और ये सिद्धांत प्रत्येक धर्म के अनिवार्य अंग माने जाते हैं। विभिन्न धर्मों के इन सिद्धांतों में कुछ समानताएँ अवश्य पाई जाती हैं, किंतु इसके साथ ही इन सिद्धांतों में कुछ ऐसे मूल भेद भी दिखाई देते हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः धार्मिक सिद्धांतों में यही मूल भेद विभिन्न धर्मों को एक-दूसरे से पृथक करते हैं। उदाहरणार्थ हिंदू धर्म की अनेक मान्यताएँ—यथा, मूर्ति-पूजा, कर्म-सिद्धांत, पुनर्जन्म का सिद्धांत आदि—इस्लाम तथा ईसाई धर्म की मान्यताओं से बहुत भिन्न हैं। यही बात अन्य धर्मों के विषय में भी कही जा सकती है। विभिन्न धर्मों में यह सैद्धांतिक मतभेद भी उनके अनुयाइयों में संघर्ष तथा धार्मिक असहिष्णुता का प्रमुख कारण है।

(2) धर्म के उपर्युक्त सैद्धांतिक पक्ष के अतिरिक्त उस का एक **संवेगात्मक पक्ष भी** है जिसका संबंध उपास्य विषय की पूजा तथा उसके प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता और समर्पण की भावना से है। हम देख चुके हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति एक विशेष प्रकार के संवेग का अनुभव करता है जिसमें श्रद्धा, सम्मान, भय, विनम्रता, प्रेम आदि अनेक संवेग सम्मिलित रहते हैं और जिसे 'धार्मिक संवेग' कहा जा सकता है। इसे ही अनेक दार्शनिकों ने धार्मिक चेतना अथवा 'धार्मिक अनुभूति' भी कहा है जो हमारे सामान्य संवेगों से भिन्न प्रकार की होती है। इसी विशेष धार्मिक अनुभूति के कारण धर्मपरायण व्यक्ति अपने धर्म से संबंधित सभी वस्तुओं तथा विषयों को अत्यधिक पवित्र मानता है और उनके प्रति अगाध श्रद्धा का अनुभव करता है। धार्मिक विश्वासों के साथ-साथ यह विशेष धार्मिक अनुभूति भी एक धर्म के अनुयाइयों को परस्पर संबद्ध करती है और उन्हें अन्य धर्मों के अनुयाइयों से पृथक करती है। यह धार्मिक अनुभूति धर्मपरायण व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों को व्यापक रूप से प्रभावित करती है जिसके कारण वह अपने धर्म तथा उससे संबद्ध सभी वस्तुओं और विषयों के प्रति अत्यंत संवेदनशील हो जाता है। अपने धर्म के प्रति यह अत्यधिक संवेदनशीलता भी उसमें कभी-कभी धार्मिक असहिष्णुता उत्पन्न कर देती है जो अंततः प्रायः धार्मिक कलह का कारण बन जाती है। इस प्रकार उक्त धार्मिक संवेदनशीलता को धर्म की शक्ति और दुर्बलता दोनों ही माना जा सकता है। धर्म के इस संवेगात्मक पक्ष का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, अतः यहाँ इसके अधिक विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

(3) धर्म का तीसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष वह है जिसका संबंध मनुष्य के आचरण तथा विशेष प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों या कर्मकांड से है। इसे धर्म का व्यावहारिक अथवा

क्रियात्मक पक्ष कहा जा सकता है। प्रत्येक धर्म मनुष्य को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में विशेष प्रकार का आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इसे हम धर्म की 'आचार-पद्धति' कह सकते हैं जो मनुष्य के संपूर्ण व्यावहारिक जीवन में उसका मार्गदर्शन करती है। इस आचार-पद्धति के अंतर्गत वे सभी नैतिक नियम या सिद्धांत सम्मिलित होते हैं जो मनुष्य को यह बताते हैं कि उसे कौन-से कर्म करने चाहिए और कौन-से कर्म नहीं करने चाहिए। धर्म की इस आचार-पद्धति का संबंध मानव-जीवन के किसी एक पक्ष से न होकर उसके सभी पक्षों से होता है। यही कारण है कि उस व्यक्ति के संपूर्ण व्यावहारिक जीवन पर धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ता है जो धर्म में वास्तविक और सच्ची निष्ठा रखता है। स्पष्ट है कि धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष का नैतिकता से अनिवार्य संबंध है जिसके कारण कुछ विचारकों ने नैतिकता को ही धर्म मान लिया है। परंतु, जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, धर्म नैतिकता से संबद्ध होते हुए भी सामान्य अर्थ में वस्तुतः उससे भिन्न है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के संबंध में उसका मार्गदर्शन करने वाली आचार-पद्धति धर्म का अनिवार्य अंग है। वास्तव में यह आचार-पद्धति ही धर्म को हमारे समक्ष एक सामाजिक संस्था या संगठन के रूप में प्रस्तुत करती है। इस दृष्टि से आचार-पद्धति का धर्म के लिए विशेष महत्त्व है।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि विशेष प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों, कृत्यों अथवा कर्मकांड को भी धर्म की इस आचार-पद्धति का अनिवार्य अंग माना जाता है। विशेष धर्म-ग्रंथों द्वारा प्रत्येक धर्म के अनुयाइयों को यह बताया जाता है कि उन्हें किस प्रकार प्रार्थना या पूजा करनी चाहिए, किस वस्तु, सत्ता या देवता की उपासना करनी चाहिए, कौन-से कर्म पाप या धार्मिक दृष्टि से अनुचित हैं और ऐसे कर्मों का प्रायश्चित कैसे किया जा सकता है, व्यक्तिगत और सामाजिक उपासना की कौन-सी पद्धति अथवा पद्धतियाँ हैं, जीवन के महत्त्वपूर्ण अवसरों—जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि—पर कौन-कौन-से धार्मिक अनुष्ठान आवश्यक हैं और उन्हें किसके द्वारा तथा कैसे संपन्न किया जाना चाहिए, इत्यादि। ये तथा ऐसे अन्य सभी धार्मिक कृत्य या अनुष्ठान कर्मकांड के अंतर्गत आते हैं जो धर्म का बाह्य व्यावहारिक पक्ष है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, कर्मकांड संबंधी धर्म का यह बाह्य पक्ष मनुष्य की धार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण माध्यम है, अतः इसकी उपेक्षा करके धर्म के स्वरूप की संतोषप्रद व्याख्या करना संभव नहीं है। परंतु इसके साथ ही यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि धर्म को केवल कर्मकांड तक सीमित कर देना नितांत एकांगी दृष्टिकोण है जिसके कारण धर्म कुछ बाह्य अनुष्ठानों की अनुभूतिशून्य यांत्रिक पूर्ति मात्र रह जाता है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति इस अनुभूतिरहित बाह्य कर्मकांड को ही धर्म मान लेते हैं, किंतु वास्तव में यह धर्म का अपूर्ण तथा विकृत अर्थ है जिसके फलस्वरूप विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों में अनावश्यक संघर्ष होता है। इस संबंध में अधिक संतुलित दृष्टिकोण यह है कि कर्मकांड को धार्मिक चेतना या अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधन मात्र मानकर उसे धर्म के अंग के रूप में स्वीकार किया जाए। वस्तुतः कर्मकांड का मूल उद्देश्य मनुष्य की धार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति ही है और इसी रूप में धर्म के लिए इसके महत्त्व को स्वीकार किया जा सकता

धर्म के संबंध में उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन का सारांश प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि–(1) धर्म मनुष्य की विशेष मनोदशा या अभिवृत्ति है जो उसके जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करती है; (2) यह अभिवृत्ति किसी सामान्य वस्तु अथवा विषय के प्रति उन्मुख न होकर समस्त मूल्यों, सद्गुणों, असीम शक्ति, पवित्रता एवं ज्ञान से परिपूर्ण किसी अलौकिक सत्ता की ओर उन्मुख होती हैं; (3) धर्मपरायण व्यक्ति केवल आस्था के आधार पर इस अलौकिक सत्ता के अस्तित्व तथा विशेष स्वरूप को स्वीकार करता है, इसकी आराधना या पूजा करता है और इसके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है; (4) उसकी पूजा अथवा समर्पण की यह भावना कुछ बाह्य अनुष्ठानों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है जिन्हें 'कर्मकांड' कहा जाता है और जिन्हें अत्यंत पवित्र माना जाता है; (5) सामाजिक संस्था के रूप में धर्म के तीन महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं जिन्हें सैद्धांतिक पक्ष, संवेगात्मक पक्ष तथा क्रियात्मक पक्ष कहा जा सकता है और जो क्रमशः उपास्य सत्ता के अस्तित्व एवं स्वरूप के संबंध में धार्मिक विश्वासों, समर्पण की भावना तथा पूजा विषयक धार्मिक अनुभूति और आचरण संबंधी विशेष नैतिक नियमों या सिद्धांतों एवं बाह्य कर्मकांड के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

2. दर्शन का अर्थ

धर्म के स्वरूप की विवेचना करने के पश्चात अब दर्शन के अर्थ पर भी विचार करना आवश्यक है जिससे धर्म-दर्शन के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट किया जा सके। धर्म के समान ही दर्शन की भी ठीक-ठीक और सर्वमान्य परिभाषा करना बहुत कठिन हैं, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। सामान्य व्यक्ति 'धर्म' शब्द का अर्थ तो कुछ सीमा तक समझता है और हम देख चुके हैं कि इस अर्थ में आंशिक सत्य भी विद्यमान है; किंतु 'दर्शन' शब्द का अर्थ उसे बहुत ही अस्पष्ट प्रतीत होता है जिसके कारण वह इसके संबंध में अपनी कोई निश्चित अवधारणा नहीं बना पाता। जब वह 'दर्शन'–शब्द पढ़ता या सुनता है तो सामान्यतः उसके मन में कुछ ऐसी बातों का विचार आता है जिनका संबंध ईश्वर, आत्मा आदि अलौकिक आध्यात्मिक सत्ताओं से है और जो अत्यंत कठिन होने के कारण उसकी समझ से परे हैं। दर्शन के विषय में जनसाधारण की यही अवधारणा इस भ्रामक विचार को जन्म देती है कि दर्शन एक ऐसा कठिन बौद्धिक विषय है जिसका मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से कोई संबंध नहीं है। दर्शन निश्चय ही बौद्धिक विषय है और अपेक्षाकृत कुछ कठिन भी है, किंतु इसे अलौकिक आध्यात्मिक सत्ताओं तक ही सीमित तथा मानव-जीवन से पृथक या असंबद्ध मानना भ्रामक है। वास्तव में साहित्य के समान ही दर्शन भी मनुष्य के जीवन से प्रत्यक्षतः संबंधित है, क्योंकि इन दोनों की विषयवस्तु मानव-जीवन की शाश्वत मूल समस्याएँ हैं। इन दोनों में अंतर केवल इतना ही है कि साहित्य का प्रधान तत्त्व भावना है जबकि दर्शन का मुख्य तत्त्व विचार या तर्क है।

'दर्शन' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'देखना' या 'खोजना'। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से 'दर्शन' का अर्थ है 'सत्य का अनुसंधान' अथवा 'सत्य की खोज'। जो निष्पक्ष विचार एवं तर्क के आधार पर जीवन के मूल सत्यों का अनुसंधान करता है वही

दर्शन है। दर्शन के लिए अँग्रेज़ी भाषा में प्रचलित 'फ़िलॉसॉफ़ी' शब्द का भी लगभग यही अर्थ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी भाषा के 'फ़िलॉसॉफ़ॉस' तथा 'सोफ़िया' इन दो शब्दों से हुई है जिनका अर्थ क्रमशः 'प्रेम' और 'ज्ञान' अथवा 'विद्या' है। इस प्रकार शब्दार्थ की दृष्टि से 'फ़िलॉसॉफ़ी' का अर्थ है 'विद्यानुराग' या 'ज्ञान के प्रति प्रेम'। इस अर्थ से भी यही ध्वनित होता है कि 'फ़िलॉसॉफ़ी' जीवन के शाश्वत मूल सत्यों के ज्ञान के प्रति अनुराग है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'दर्शन' तथा 'फ़िलॉसॉफ़ी' दोनों शब्दों के अर्थ में ज्ञान अथवा चिंतन विषयक तत्त्व की प्रधानता है और यही दर्शन का मूल तत्त्व भी है।

दर्शन के अर्थ को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिए उसके उपर्युक्त बौद्धिक तत्त्व पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि यही तत्त्व उसे साहित्य, कला, धर्म आदि कुछ अन्य विषयों से पृथक करता है। वस्तुतः दर्शन की वही परिभाषा संतोषप्रद मानी जा सकती है जिसमें उसके इस चिंतन-प्रधान बौद्धिक तत्त्व को समुचित स्थान दिया गया हो। यद्यपि दर्शन की कोई ऐसी परिभाषा देना बहुत कठिन है जो सर्वमान्य हो और जिसे सभी दृष्टियों से संतोषप्रद माना जा सके, फिर भी दर्शन की मूल विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए हम उसकी निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं—**दर्शन मनुष्य का वह बौद्धिक प्रयास है जिसके द्वारा वह किसी भी विषय से संबंधित मूल तत्त्वों अथवा आधारभूत मान्यताओं की तर्कसंगत एवं निष्पक्ष परीक्षा करता है और उसके संबंध में केवल तर्क के आधार पर अपना मत निश्चित करता है।** इस परिभाषा से स्पष्ट है कि दर्शन मनुष्य की वह विशुद्ध बौद्धिक क्रिया है जिसमें निष्पक्ष चिंतन, तर्क और विश्लेषण का सर्वप्रमुख स्थान होता है। अब हम संक्षेप में दर्शन के उन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की व्याख्या करेंगे जिनकी ओर उपर्युक्त परिभाषा में संकेत किया गया है।

(1) दर्शन के स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है कि **दर्शन का मूल आधार मनुष्य की तर्कबुद्धि अथवा विवेक-शक्ति ही है।** मानवीय संवेगों या भावनाओं का दर्शन में कोई स्थान नहीं है। जब दार्शनिक किसी विषय की निष्पक्ष व्याख्या अथवा विवेचना करता है तो वह भावनाओं या संवेगों से पूर्णतः मुक्त होकर केवल अपनी तर्कबुद्धि पर निर्भर रहता है। यदि कोई दार्शनिक किसी विषय की विवेचना करते समय अपने संवेगों या पूर्वाग्रहों से प्रभावित होता है तो निष्पक्ष न होने के कारण उसकी इस विवेचना का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि दर्शन का यह विशुद्ध बौद्धिक पक्ष उसे उन सभी विषयों से पृथक करता है जिनमें भावनाओं, संवेगों या अभिवृत्तियों की प्रधानता होती है। इन विषयों में साहित्य, कला, धर्म आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी विषयों के विपरीत दर्शन निष्पक्ष रूप से पूर्णतः तर्क का ही अनुसरण करता है—फिर चाहे इसके परिणाम कुछ भी हों। इस प्रकार विशुद्ध बौद्धिकता अथवा तार्किकता दर्शन की अनिवार्य मूल विशेषता है।

(2) दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसका **अत्यधिक व्यापक क्षेत्र।** दर्शन किसी भी विषय अथवा समस्या के मूल तत्त्वों या उसकी आधारभूत मान्यताओं का निष्पक्ष रूप से विश्लेषण कर सकता है; उसका क्षेत्र किसी एक विषय अथवा समस्या तक सीमित

नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक विषय की कुछ आधारभूत मान्यताएँ होती हैं जिन्हें वह बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लेता है और जिन पर उसका अस्तित्व एवं संपूर्ण विकास निर्भर होता है। साहित्य, विज्ञान, कला, धर्म, राजनीति, समाज, इतिहास, क़ानून आदि सभी विषयों के संबंध में यही बात कही जा सकती है। किसी विषय की ये मूलभूत मान्यताएँ कहाँ तक सत्य एवं तर्कसंगत हैं इस प्रश्न के समुचित उत्तर पर ही वास्तव में उसका महत्त्व निर्भर है और दर्शन इसी प्रश्न का निष्पक्ष रूप से उत्तर देने का प्रयास करता है। दर्शन ही हमें यह बताता है कि किस विषय की कौन-सी आधारभूत मान्यताएँ सत्य हैं और कौन-सी मिथ्या। यही कारण है कि दर्शन का संबंध किसी एक विषय के साथ न होकर सभी विषयों के साथ है। संसार में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है जो दर्शन से असंबद्ध हो और जिसे दर्शन की सहायता की आवश्यकता न पड़ती हो। 'साहित्य-दर्शन', 'विज्ञान-दर्शन', 'कला-दर्शन', 'धर्म-दर्शन', 'राजनीति-दर्शन', 'समाज-दर्शन', 'इतिहास-दर्शन', 'क़ानून-दर्शन' आदि इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। इन सभी विषयों के लिए दर्शन अनिवार्य है, क्योंकि वही इनकी आधारभूत मान्यताओं के सत्य अथवा मिथ्या होने की निष्पक्ष परीक्षा करता है। इसी कारण बहुत प्राचीन काल से ही दर्शन को समस्त 'विज्ञानों का विज्ञान' माना जाता रहा है और आज भी किसी विषय की उच्चतम उपाधि को डॉक्टर ऑफ़ फ़िलॉसॉफ़ी या 'पी-एच० डी०' कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, क्योंकि संसार के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय के साथ वह अनिवार्यतः संबद्ध रहता है।

(3) किसी भी विषय से संबंधित विश्वासों अथवा मान्यताओं को स्वीकार या अस्वीकार करने से पूर्व उनकी **निष्पक्ष रूप से आलोचनात्मक परीक्षा करना** दर्शन की तीसरी अनिवार्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे अन्य सभी विषयों से पृथक करती है। दार्शनिक किसी विश्वास अथवा मान्यता को तब तक स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता जब तक वह सभी प्रासंगिक तथ्यों और समुचित प्रमाणों के आधार पर उसकी भलीभाँति आलोचनात्मक परीक्षा नहीं कर लेता। इस प्रकार की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा के लिए कुछ विशेष नियमों का पालन करना प्रत्येक विचारक या दार्शनिक का अनिवार्य कर्तव्य माना जाता है। संक्षेप में ये नियम निम्नलिखित हैं:

(क) स्पष्टता का नियम : किसी भी विश्वास या सिद्धांत की आलोचनात्मक परीक्षा करने के लिए सर्वप्रथम उन शब्दों तथा अवधारणाओं का ठीक-ठीक अर्थ समझना आवश्यक है जिनके माध्यम से उसे अभिव्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि हम 'ईश्वर', 'आत्मा', 'आस्था', 'श्रुति', 'ज्ञान' आदि शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते तो हमारे लिए इनसे संबंधित सिद्धांतों और मान्यताओं की आलोचनात्मक परीक्षा करना संभव नहीं है। इसी कारण समकालीन दर्शन में सभी महत्त्वपूर्ण विषयों से संबंधित भाषा के समुचित विश्लेषण को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। वस्तुतः किसी भी विषय की आलोचनात्मक परीक्षा के लिए उसे अभिव्यक्त करने वाली भाषा का भलीभाँति विश्लेषण करके उसके अर्थ को स्पष्ट करना अनिवार्य है।

(ख) संगति का नियम : जब कोई व्यक्ति किसी विशेष सिद्धांत या विश्वास को

स्वीकार करने का दावा करता है तो दार्शनिक के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि उसके विचारों में संगति है अथवा नहीं। ऐसा कोई भी विश्वास या सिद्धांत तर्कसंगत नहीं हो सकता जिसमें स्वतोव्याघात विद्यमान है—अर्थात् जिसकी मान्यताओं में परस्पर विरोध है। इसका कारण यह है कि उसकी परस्पर विरोधी मान्यताएँ हमारे लिए उसे निरर्थक बना देती हैं। उदाहरणार्थ किसी घातक रोग से ग्रस्त होने पर यदि कोई व्यक्ति एक ओर तो यह कहता है कि ईश्वर की उपासना करने से वह पूर्णतः स्वस्थ हो जाएगा और दूसरी ओर वह योग्य चिकित्सकों का परामर्श लेता है तथा उनके द्वारा दी गई औषधियों का सेवन भी करता है तो यह स्पष्ट है कि उसके विचारों में गंभीर असंगति अथवा स्वतोव्याघात विद्यमान है। यह असंगति उसके विचारों को तर्कहीन और निरर्थक बना देती है, क्योंकि रोग-मुक्त होने के लिए वह 'ईश्वरोपासना के प्रभाव तथा चिकित्सा-विज्ञान की क्षमता इन दोनों परस्पर विरोधी विश्वासों को एक साथ स्वीकार करता है। ऐसे स्वतोव्याघातपूर्ण विचार या सिद्धांत कभी भी सत्य और तर्कसंगत नहीं हो सकते। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से केवल उन्हीं विश्वासों, विचारों या सिद्धांतों को सत्य माना जा सकता है जो स्वतोव्याघात से पूर्णतः मुक्त हों—अर्थात् जिनमें संगति विद्यमान हो।

(ग) तथ्यों की खोज और स्वीकृति का नियम : किसी विश्वास अथवा सिद्धांत की आलोचनात्मक परीक्षा करने के लिए यह अनिवार्य है कि उससे संबंधित सभी तथ्यों को खोजा जाए और उन्हें ध्यान में रखते हुए उसके सत्य या मिथ्या होने का निर्णय किया जाए। इस संबंध में किसी ऐसे प्रासंगिक तथ्य की उपेक्षा करना जो हमारे सिद्धांत के विरुद्ध होने के कारण हमें अप्रिय है उसकी आलोचनात्मक परीक्षा में निश्चय ही बाधक होगा। परंतु इस प्रकार की परीक्षा के लिए सभी प्रासंगिक तथ्यों को खोजना ही पर्याप्त नहीं है; उन्हें बिना किसी संकोच के स्वीकार करना और समुचित महत्त्व देना भी आवश्यक है। मनुष्य की यह स्वाभाविक दुर्बलता है कि वह जानबूझ कर ऐसे तथ्यों को प्रायः अस्वीकार करता है जो उसके विश्वास या सिद्धांत का खंडन करते हैं। परंतु दार्शनिक के लिए इस दुर्बलता से पूर्णतः मुक्त होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा वह निष्पक्ष आलोचक होने के अपने गंभीर दायित्व की कभी पूर्ति नहीं कर सकता। वस्तुतः किसी विश्वास या सिद्धांत की आलोचनात्मक परीक्षा करते समय उससे संबंधित सभी प्रासंगिक तथ्यों को खोजना और पूर्णतः तटस्थ एवं निष्पक्ष होकर उन्हें स्वीकार करना तथा समुचित महत्त्व देना दार्शनिक का अनिवार्य कर्तव्य है। समस्त प्रासंगिक तथ्यों की निष्पक्ष खोज तथा समुचित स्वीकृति के कारण उपर्युक्त नियम को 'निष्पक्षता का नियम' भी कहा जा सकता है। इस नियम के अनुरूप कार्य करके ही दार्शनिक अपने दायित्व की पूर्ति कर सकता है।

(घ) प्रमाणों की अनिवार्यता का नियम : किसी भी विचार, विश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत को सत्य मानने से पूर्व उस के समर्थन में पर्याप्त एवं समुचित प्रमाणों की खोज करना दार्शनिक के लिए अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि केवल पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाण ही वास्तव में किसी मान्यता, सिद्धांत या विश्वास को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित कर सकते हैं। ऐसे प्रत्येक विश्वास अथवा सिद्धांत की सत्यता संदिग्ध ही मानी जा

सकती है जिसकी पुष्टि के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। किसी भी विश्वास या सिद्धांत के सत्य अथवा मिथ्या होने के संबंध में हमारे लिए अपना निश्चित निर्णय तब तक स्थगित रखना आवश्यक हो जाता है जब तक उसके पक्ष या विपक्ष में हमें स्पष्ट, पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाते। प्रमाणों की माँग करने का यह नियम दार्शनिक को सभी प्रकर के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर किसी मान्यता, विश्वास अथवा सिद्धांत की सत्यता या प्रामाणिकता के विषय में तर्कसंगत रूप से विचार करने के लिए प्रेरित करता है। इसी नियम के आधार पर हम प्रामाणिक सिद्धांतों को सभी प्रकार के अंधविश्वासों से पृथक कर सकते हैं जो प्रमाणित न हो सकने के कारण पूर्णतः मिथ्या होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह नियम तथ्यों की खोज तथा स्वीकृति से संबंधित उपर्युक्त तीसरे नियम के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है। इसका कारण यह है कि किसी सिद्धांत या विश्वास के सत्य अथवा मिथ्या होने के प्रमाण उससे संबंधित प्रासंगिक तथ्यों से ही प्राप्त हो सकते हैं। इसी प्रकार संगति संबधी दूसरे नियम का भी प्रमाण विषयक चौथे नियम के साथ अनिवार्य संबंध है, क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, किसी सिद्धांत में असंगति या स्वतोव्याघात का होना उसे अप्रामाणिक बना देता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सभी नियमों का भलीभाँति पालन करके ही दार्शनिक किसी विश्वास अथवा सिद्धांत की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा कर सकता है जो दर्शन का मुख्य कार्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी विषय के सूक्ष्म विश्लेषण तथा निष्पक्ष मूल्यांकन के रूप में दर्शन मानव-ज्ञान के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों से संबंधित है और इस दृष्टि से उसका क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। परंतु इसके साथ ही दर्शन मानव-जीवन की कुछ ऐसी मूल समस्याओं की भी गंभीर विवेचना करता है जो केवल उसी के क्षेत्र में आती हैं और जिनकी विवेचना अन्य कोई विज्ञान या शास्त्र नहीं करता। ये वे समस्याएँ हैं जिनका संबंध ब्रह्मांड की रचना और अंतिम सत्ता, उसके रचयिता तथा उसके विकास का लक्ष्य, ज्ञान का स्वरूप एवं प्रमाणीकरण , मानव-जीवन का परम ध्येय तथा मानवीय आचरण का मानदंड, निष्पक्ष चिंतन एवं तर्कना के मूल सिद्धांत, सौंदर्य का स्वरूप तथा सौंदर्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति के साधन आदि विषयों से है। इन सभी विषयों का विस्तृत विवेचन तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र आदि दर्शन की प्रमुख शाखाओं में किया जाता है। इसी कारण उक्त सभी विषयों को दर्शन के मूल विषय माना जाता है और इन विषयों के अंतर्गत जिन समस्याओं की विवेचना की जाती है उन्हें दर्शन की आधारभूत समस्याएँ कहा जा सकता है।

प्राचीन काल से वर्तमान युग तक दर्शन के दीर्घकालीन इतिहास में महान दार्शनिकों द्वारा उठाए गए निम्नलिखित प्रश्नों से दर्शन की उपर्युक्त आधारभूत समस्याओं के स्वरूप को कुछ सीमा तक समझा जा सकता है—इस ब्रह्मांड की रचना कैसे, क्यों और किसके द्वारा की गई है? इसकी अंतिम सत्ता का स्वरूप क्या है? क्या यह अंतिम सत्ता निर्जीव पुद्गल है अथवा क्या यह कोई चेतनापूर्ण आध्यात्मिक शक्ति है? यदि इस ब्रह्मांड का कोई रचयिता है तो इसका स्वरूप क्या है? क्या उसने किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए इसकी रचना

की है? क्या वास्तव में ईश्वर तथा आत्मा का अस्तित्व है और यदि इनका अस्तित्व है तो इनका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या मनुष्य की मृत्यु के पश्चात उसके शरीर के साथ ही उसका जीवन सदा के लिए समाप्त हो जाता है अथवा क्या मृत्यु के उपरांत भी किसी अन्य रूप में उसका अस्तित्व बना रहता है? क्या दिक् और काल की वस्तुगत एवं स्वतंत्र सत्ता है अथवा क्या मनुष्य ने केवल अपनी सुविधा के लिए इन प्रत्ययों की रचना की है? मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है और इसकी प्राप्ति किस प्रकार संभव है? क्या इस संसार में सचमुच 'अच्छाई' और 'बुराई' है? अथवा क्या 'अच्छाई' और 'बुराई' केवल परिस्थिति–सापेक्ष शब्द मात्र हैं? हम किस मानदंड के आधार पर मानवीय आचरण को शुभ या अशुभ कह सकते हैं और इस मानदंड के औचित्य की परीक्षा कैसे की जा सकती है? मनुष्य इस संसार में जो ज्ञान प्राप्त करता है उसका वास्तविक स्वरूप क्या है और उसे प्रमाणित करने के लिए किस प्रकार के प्रमाण दिए जा सकते हैं? सौंदर्य का वास्तविक स्वरूप क्या है और हम किस मानदंड के आधार पर किसी व्यक्ति तथा वस्तु को सुंदर या कुरूप कह सकते हैं? क्या सौंदर्य बाह्य वस्तुओं में विद्यमान रहता है अथवा क्या यह मनुष्य की अपनी दृष्टि पर ही निर्भर है? हमारे चिंतन के आधारभूत नियम क्या हैं और हम किन मानदंडों द्वारा अपने तर्कों की प्रामाणिकता का निर्णय कर सकते हैं? क्या इस विश्व में कोई निश्चित व्यवस्था और कारण-कार्य संबंधी अनिवार्य नियम है अथवा क्या इसमें घटित होने वाली समस्त घटनाएँ केवल संयोग के परिणामस्वरूप ही घटित होती हैं? ये सभी तथा इसी प्रकार के अनेक प्रश्न दर्शन के मूल प्रश्न हैं जिन पर विश्व के महान दार्शनिक प्राचीन काल से गंभीरतापूर्वक विचार करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। संसार के विभिन्न दार्शनिकों द्वारा शताब्दियों के निरंतर विचार-विमर्श के पश्चात् भी इन प्रश्नों का कोई स्पष्ट, निश्चित एवं सर्वमान्य उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। इसी कारण इन प्रश्नों को 'दर्शन के शाश्वत प्रश्न' भी कहा जाता है। इन शाश्वत प्रश्नों पर व्यवस्थित रूप से विचार करना और इन के समुचित एवं तर्कसंगत उत्तर खोजने का प्रयास करना मुख्यतः दर्शन का ही कार्य है जो उसे अन्य सभी विज्ञानों तथा शास्त्रों से पृथक करता है। दर्शन के इन मूल प्रश्नों से यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन तथा संपूर्ण ब्रह्मांड की सभी आधारभूत समस्याओं पर इसके अंतर्गत विचार किया जाता है और यह तथ्य इसके क्षेत्र को अत्यधिक व्यापक बना देता है।

दर्शन विषयक उपर्युक्त शाश्वत प्रश्नों से हमारे इस कथन की भी पुष्टि होती है कि साहित्य के समान ही दर्शन का भी मानव-जीवन के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य का संपूर्ण जीवन भावना और विचार इन दो मूल तत्त्वों द्वारा शासित होता है जो क्रमशः साहित्य तथा दर्शन के आधारभूत तत्त्व हैं। मनुष्य के हृदय की गहरी अनुभूति से साहित्य का और उसकी तर्कबुद्धि से दर्शन का जन्म होता है। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में प्रेम, करुणा, भय, क्रोध, घृणा आदि संवेगों का अनुभव किए बिना नहीं रह सकता उसी प्रकार वह नितांत विचारशून्य जीवन भी व्यतीत नहीं कर सकता। यदि मनुष्य संवेगों या भावनाओं तक ही सीमित रहता है तो उसमें तथा अन्य प्राणियों में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसी कारण भारतीय मनीषियों ने यह कहा है कि

आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की दृष्टि से मनुष्य और पशु समान ही हैं, किंतु विवेक ही वह मूल तत्त्व है जो उसे अन्य सभी प्राणियों से पृथक करता हैं। हम देख चुके हैं कि मनुष्य का यह विवेक अथवा विचार ही दर्शन का मूल आधार है जिसके बिना वह वास्तविक अर्थ में 'मनुष्य' कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। विचार करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है जो उसे अन्य सभी प्राणियों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट बनाता है। वस्तुतः उसके इसी स्वाभाविक गुण के कारण महान विचारकों ने उसे 'बौद्धिक प्राणी' की संज्ञा दी है। दर्शन और विज्ञान दोनों ही मनुष्य के इसी स्वाभाविक गुण—अर्थात् उसकी विवेक-शक्ति—के परिणाम हैं।

जब भी कोई व्यक्ति जीवन तथा जगत् के विषय में विचार करता है और पूर्वोल्लिखित प्रश्नों में से कुछ प्रश्न उठाता है तो 'दर्शन' शब्द के व्यापक अर्थ में उसे 'दार्शनिक' कहा जा सकता है—फिर चाहे वह स्वयं इस तथ्य से परिचित हो या न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कुछ असाधारण परिस्थितियों के फलस्वरूप कभी न कभी इस व्यापक अर्थ में 'दार्शनिक' बनने के लिए बाध्य हो जाता है। उदाहरणार्थ जब उसके किसी प्रिय संबंधी की मृत्यु होती है तो वह सोचने लगता है कि आखिर मृत्यु के पश्चात मनुष्य का क्या होता है—क्या वह सदा के लिए समाप्त हो जाता है अथवा क्या किसी अन्य रूप में उसका अस्तित्व बना रहता है ? इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति पर कोई भयंकर विपत्ति आती है तो वह प्रायः यह प्रश्न करता है कि आखिर उसे ही यह घोर यातना क्यों भोगनी पड़ रही है—उसने ऐसा क्या किया है जिसके कारण उसे यह कष्ट उठाना पड़ रहा है ? इतना ही नहीं, कभी-कभी सामान्य परिस्थितियों में भी मनुष्य यह सोचने लगता है कि आखिर वह क्यों जी रहा है, उसके जीवन का उद्देश्य क्या है, वह इस संसार में कहाँ से आया है और मृत्यु के पश्चात कहाँ जाएगा। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, ये तथा ऐसे ही अन्य सभी प्रश्न दर्शन के मूल प्रश्न हैं जिन पर केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु साधारण व्यक्ति भी अपने जीवन में कभी न कभी विचार करने के लिए बाध्य हो जाता है, क्योंकि सोचना मनुष्य की नियति है जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शन मनुष्य से दूर और उसके लिए कोई अनजानी वस्तु न होकर वास्तव में उसके जीवन का अभिन्न अंग है।

दर्शन के संबंध में प्रायः यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि इसका आरंभ क्यों और कैसे हुआ। ऊपर दर्शन के जिन मूल प्रश्नों का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। इन प्रश्नों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य में जगत् और जीवन को जानने की जो प्रबल स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसी के फलस्वरूप दर्शन का आरंभ हुआ है। जब से इस पृथ्वी पर विवेकशील प्राणी के रूप में मनुष्य का विकास हुआ है तभी से वह अपने चतुर्दिक परिवेश तथा उसमें विद्यमान सभी वस्तुओं एवं प्राणियों के संबंध में अधिकाधिक जानने का प्रयास करता रहा है। प्रारंभ से ही मनुष्य में यह जानने की प्रबल जिज्ञासा रही है कि वह अपने चारों ओर जिन ग्रह-नक्षत्रों, वस्तुओं तथा प्राणियों को देखता है उनकी उत्पत्ति कैसे हुई और उनका वास्तविक स्वरूप क्या है। यह जिज्ञासा मानव की जन्मजात प्रवृत्ति है जो उसे स्वयं अपने विषय में तथा अपने संपूर्ण परिवेश के संबंध में

अधिकाधिक जानने के लिए निरंतर प्रेरित करती रहती है। वस्तुतः मनुष्य की इस नैसर्गिक अदम्य जिज्ञासा ने ही दर्शन तथा विज्ञान दोनों को जन्म दिया है और इसी जिज्ञासा के कारण इन दोनों का निरंतर विकास भी हुआ है। इस स्वाभाविक जिज्ञासा के परिणामस्वरूप मनुष्य ने जगत् और जीवन का जो ज्ञान प्राप्त किया है उससे उसके दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति हुई है। सर्वप्रथम इस ज्ञान के कारण उसे वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझने का संतोष प्राप्त हुआ है और इस प्रकार जीवन तथा जगत् को जानने की उसकी प्रबल इच्छा की पूर्ति हुई है। दर्शन ने मुख्यतः मनुष्य के इसी उद्देश्य की पूर्ति में सहायता की है। स्पष्ट है कि इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाली जिज्ञासा को हम किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति का साधन न मानकर अपने आप में साध्य मान सकते हैं। दर्शन की उत्पत्ति के मूल में मनुष्य की यही स्वतःसाध्य जिज्ञासा रही है।

परंतु इसके साथ ही मनुष्य ने अपनी जिज्ञासा के फलस्वरूप ऐसा ज्ञान भी प्राप्त किया है जिस ने उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसके जीवन को अधिक सुखमय बनाया है। इस पृथ्वी पर अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए मनुष्य आदि-काल से ही उन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता रहा है जो उसके जीवन के लिए घातक अथवा कष्टप्रद रही हैं। स्वयं अपने जीवन के लिए अपने परिवेश को अधिक सुखद बनाने का उसका यह प्रयास आज भी चल रहा है और निश्चय ही तब तक चलता रहेगा जब तक वह इस संसार में जीवित है। विज्ञान ने—जिसका जन्म भी मनुष्य की जिज्ञासा के फलस्वरूप ही हुआ है—उसके इस प्रयास में विशेष रूप से सहायता दी है। इसी कारण विज्ञान दर्शन की अपेक्षा मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के लिए अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। परंतु विशुद्ध विज्ञान के रूप में वह भी दर्शन के समान ही मूलतः सैद्धांतिक ज्ञान है जिसका उद्देश्य जीवन और जगत् के संबंध में मानव की नैसर्गिक अदम्य जिज्ञासा को शांत करना ही है। इस दृष्टि से दर्शन तथा विज्ञान में आधारभूत समानता है, क्योंकि दोनों का मूल स्रोत मनुष्य की जिज्ञासा ही है और दोनों में भावना की अपेक्षा तर्क को कहीं अधिक महत्त्व दिया जाता है।

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दर्शन तथा विज्ञान का यह बौद्धिक तत्त्व इन दोनों को धर्म से पृथक करता है जिसमें तर्क की अपेक्षा भावना का ही अधिक महत्त्व होता है। धर्म तथा विज्ञान में विद्यमान मूल भेद पर यथास्थान आगे विचार किया जाएगा; यहाँ संक्षेप में धर्म और दर्शन में पाए जाने वाले अंतर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। धर्म तथा दर्शन के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि ये दोनों ही मानव-जीवन के बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। प्राचीन काल से ही मनुष्य के आचरण तथा विचारों पर इन दोनों का बहुत गहरा और व्यापक प्रभाव रहा है। दोनों ही मानव-जीवन के किसी एक पक्ष से संबंधित न होकर उसके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को व्यापक रूप से प्रभावित करते रहे हैं, अतः इस दृष्टि से दोनों में पर्याप्त समानता है। परंतु इस समानता के होते हुए भी जीवन और जगत् के प्रति धर्म तथा दर्शन के दृष्टिकोण में आधारभूत अंतर है जिसे स्पष्ट रूप से जान लेना बहुत आवश्यक है। इसका कारण यह है कि धर्म और दर्शन के मूल भेद को भलीभाँति जान लेने पर हम इन दोनों के स्वरूप को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। हम देख चुके हैं कि धर्म जीवन और जगत् के प्रति मनुष्य की एक विशेष प्रकार की अभिवृत्ति है। स्पष्टतः

इसका अर्थ यही है कि धर्म में भावना अथवा अनुभूति का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है। इसके विपरीत दर्शन जीवन तथा जगत् को समझने का मनुष्य का सुव्यवस्थित, संगतिपूर्ण और बौद्धिक प्रयास है जिसका मूल आधार भावना न होकर केवल तर्क है। भक्त या धर्मपरायण व्यक्ति केवल अपनी आस्था के फलस्वरूप अपने आराध्य विषय के प्रति अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित करता है, इस आत्म-समर्पण के लिए वह किसी प्रकार के तर्क अथवा प्रमाण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। परंतु दार्शनिक किसी भी सिद्धांत, विश्वास या मान्यता को स्वीकार करने से पूर्व उसके समर्थन में पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाणों की माँग करता है, क्योंकि ऐसे प्रमाणों के अभाव में वह अपना कोई निष्पक्ष निर्णय नहीं दे सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म के आधारभूत तत्त्व अनुभूति और आस्था हैं जबकि दर्शन के मूल तत्त्व निष्पक्ष चिंतन एवं तर्क हैं। जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण में इस मूल भेद के कारण ही भक्त तथा दार्शनिक के विचारों एवं विश्वासों में आधारभूत अंतर पाया जाता है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि कोई भी व्यक्ति अपने विचारों में संगति बनाए रखते हुए एक ही समय में तथा एक ही साथ भक्त और दार्शनिक नहीं हो सकता। यदि वह सच्चा भक्त या आस्थावान धर्मपरायण व्यक्ति है तो वह तर्कों अथवा प्रमाणों की चिंता किए बिना केवल अपनी श्रद्धा से प्रेरित होकर अपने उपास्य विषय के प्रति आत्म-समर्पण करेगा; इसके विपरीत यदि वह वास्तव में दार्शनिक है तो वह आस्था और आराध्य विषय के अस्तित्व एवं स्वरूप के समर्थन में विश्वसनीय तथा पर्याप्त प्रमाणों की अनिवार्यतः खोज करेगा। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि एक ही व्यक्ति एक ही समय में तथा एक ही साथ भक्त और दार्शनिक के कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि इन दोनों के कार्यों में आधारभूत अंतर है। इसी कारण यदि कोई व्यक्ति एक ही साथ भक्त और दार्शनिक होने का दावा करता है तो उसके इस दावे को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। वस्तुतः धर्म तथा दर्शन इन दोनों का दीर्घकालीन इतिहास इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि कोई भी व्यक्ति एक ही साथ सच्चा भक्त और सच्चा दार्शनिक नहीं हो सकता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि धर्म और दर्शन दोनों मानव-जीवन के बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष होते हुए भी एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं।

3. धर्म-दर्शन की परिभाषा

धर्म और दर्शन दोनों के स्वरूप की सविस्तार विवेचना करने के पश्चात अब हमारे लिए इस प्रश्न का उत्तर देना अपेक्षाकृत अधिक सरल होगा कि धर्म-दर्शन क्या है। हम देख चुके हैं कि किसी भी समस्या अथवा विषय के मूल तत्त्वों या उसकी आधारभूत मान्यताओं की तर्कसंगत और निष्पक्ष परीक्षा करना दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। दर्शन के इस मूल उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि जब दर्शन धर्म से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की सुव्यवस्थित एवं निष्पक्ष परीक्षा करता है तो उसे 'धर्म-दर्शन' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार धर्म-दर्शन का उद्देश्य सुव्यवस्थित रूप से धर्म को समझना ही है, अतः वह उन सभी समस्याओं, मान्यताओं, सिद्धांतों और विश्वासों का तर्कसंगत अध्ययन तथा निष्पक्ष मूल्यांकन करता है जिनका संबंध धर्म से है। धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए

हम बता चुके हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति अपनी आस्था के आधार पर जीवन, जगत और अपने आराध्य विषय के संबंध में कुछ विशेष मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धांतों को स्वीकार करता है। इसी कारण इन्हें 'धार्मिक' मान्यताएँ, विश्वास और सिद्धांत कहा जाता है। धर्म-दर्शन तर्कसंगत रूप से इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है कि ये धार्मिक मान्यताएँ, विश्वास तथा सिद्धांत कहाँ तक सत्य अथवा मिथ्या हैं।

इस प्रकार धर्म-दर्शन की परिभाषा करते हुए हम यह कह सकते हैं कि धर्म-दर्शन दर्शन की वह शाखा है जो समस्त धार्मिक विश्वासों, अनुभवों तथा सिद्धांतों के सत्य अथवा मिथ्या होने की सुव्यवस्थित, तर्कसंगत एवं निष्पक्ष परीक्षा करती है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि धर्म-दर्शन का संबंध धर्म के उन सभी पक्षों से है जिनके विषय में हम सत्य अथवा मिथ्या होने का प्रश्न उठा सकते हैं और जिनका निष्पक्ष एवं तर्कसंगत मूल्यांकन संभव है। वस्तुतः ऐसा कोई भी धार्मिक विश्वास, अनुभव अथवा सिद्धांत नहीं है जो धर्म-दर्शन की इस परिधि से बाहर हो, अतः धर्म-दर्शन का संबंध मनुष्य के संपूर्ण धार्मिक जीवन से है। परंतु यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि धर्म-दर्शन का उद्देश्य किसी व्यक्ति को भक्त या नास्तिक बनाना नहीं है; वह धर्म के पक्ष या विपक्ष में किसी प्रकार का प्रचार नहीं करता। उसका उद्देश्य तो मनुष्य के धार्मिक जीवन से संबंधित सभी पक्षों को भलीभाँति समझना और उनका तर्कसंगत एवं निष्पक्ष मूल्यांकन करना ही है। इस प्रकार धर्म-दर्शन ऐसे प्रचार के प्रति पूर्णतः तटस्थ रहता है जिसका उद्देश्य धर्म का खंडन अथवा समर्थन करना ही होता है। धर्म के पक्ष या विपक्ष में प्रचार करने वाले व्यक्ति के विपरीत धर्म-दार्शनिक केवल उन्हीं धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों अथवा सिद्धांतों को स्वीकार करता है जिन्हें निष्पक्ष तथा विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा सत्य प्रमाणित किया जा सकता है।

धर्म-दर्शन के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि धर्म-दर्शन धर्म संबंधी इतिहास तथा धर्म विषयक मनोविज्ञान दोनों से भिन्न है। दार्शनिक के अतिरिक्त इतिहासज्ञ तथा मनोवैज्ञानिक भी अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार धर्म के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं। उदाहरणार्थ इतिहासज्ञ धर्म की उत्पत्ति तथा विभिन्न युगों में उसके विकास और मनुष्यों पर उसके प्रभाव को जानने का प्रयास करता है। वह प्रायः धर्म के विषय में निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयत्न करता है :— धर्म की उत्पत्ति कब, क्यों और किस प्रकार हुई? विभिन्न कालों में किन विशेष तथ्यों और परिस्थितियों ने उसके विकास में योगदान किया? संपूर्ण संसार अथवा किसी विशेष राष्ट्र में विभिन्न युगों में कौन-से महत्त्वपूर्ण धार्मिक परिवर्तन हुए? इन धार्मिक परिवर्तनों के क्या कारण थे और मनुष्यों पर इनका क्या प्रभाव पड़ा? क्या इन धार्मिक परिवर्तनों के मूल में कोई सामान्य नियम खोजे जा सकते हैं? संसार में विभिन्न धर्मों के प्रचार तथा प्रसार के प्रमुख कारण क्या थे? किन व्यक्तियों तथा परिस्थितियों ने किसी विशेष धर्म के प्रचार एवं प्रसार में क्या और किस प्रकार सहायता दी? धर्म संबंधी इन प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों पर इतिहासज्ञ विचार करता है और उपलब्ध तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर इनके उत्तर खोजने का प्रयास करता है।

इसी प्रकार इतिहासज्ञ के समान ही मनोवैज्ञानिक भी अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार धर्म का अध्ययन करता है। हम देख चुके हैं कि धर्म मनुष्य की एक विशेष मनोदशा या अभिवृत्ति है, अतः इसके अध्ययन में मनोवैज्ञानिक की रुचि होना स्वाभाविक ही है। परन्तु उसका दृष्टिकोण इतिहासज्ञ के दृष्टिकोण से बहुत भिन्न होता है। वह धर्म को मनुष्य की एक विशेष मानसिक स्थिति मानकर उसके संबंध में प्रायः निम्नलिखित प्रश्न उठाता है और उनके उत्तर खोजने का प्रयास करता है :—जब कोई व्यक्ति या समुदाय किन्हीं विशेष धार्मिक विश्वासों तथा मान्यताओं से प्रेरित होकर आचरण करता है तो उसकी मानसिक स्थिति किस प्रकार की होती है? मनुष्य की इस धार्मिक मनोदशा तथा धर्मनिरपेक्ष अभिवृत्तियों में क्या मूल अंतर होता है? धर्मपरायण व्यक्ति तथा समुदाय के व्यवहार पर इस धार्मिक मनोदशा का क्या प्रभाव पड़ता है और यह अन्य व्यक्तियों के जीवन पर क्या प्रभाव डालती है? भिन्न-भिन्न धार्मिक परंपराओं में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों की धार्मिक मनोदशाओं में हम किस प्रकार तुलना कर सकते हैं? क्या किन्हीं सामान्य नियमों के आधार पर मनुष्य की मनोदशा के रूप में धर्म की व्याख्या की जा सकती है? यदि हाँ, तो ये सामान्य नियम कौन-से हैं और इन्हें कैसे खोजा जा सकता है? धर्म से संबंधित इन प्रश्नों और इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों पर विचार करके मनोवैज्ञानिक अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार इनके उत्तर देने का प्रयत्न करता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म के संबंध में इतिहासज्ञ तथा मनोवैज्ञानिक के उपर्युक्त दृष्टिकोणों में पर्याप्त भिन्नता के साथ-साथ एक आधारभूत समानता भी है और वह यह है कि ये दोनों ही धर्म से संबंधित कुछ विशेष तथ्यों को उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं जिस रूप में उन्हें ये तथ्य उपलब्ध होते हैं। वे उन धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धांतों के सत्य अथवा मिथ्या होने की आलोचनात्मक परीक्षा नहीं करते जिन्हें धर्मपरायण व्यक्ति स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ इतिहासज्ञ की रुचि धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धांतों की उत्पत्ति और उनके विकास-क्रम में ही होती है। वह केवल यही जानना चाहता है कि इनकी उत्पत्ति सर्वप्रथम किस प्रकार हुई और विभिन्न युगों में इनका विकास कैसे हुआ। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक विशेष प्रकार के मानसिक तथ्यों के रूप में ही धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं और सिद्धांतों का अध्ययन करता है। वह केवल यही जानना चाहता है कि इन मानसिक तथ्यों का वास्तविक स्वरूप क्या है, इनका मनुष्य के व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है और ये धर्मनिरपेक्ष अन्य मानसिक तथ्यों से किस प्रकार भिन्न होते हैं। इतिहासज्ञ तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही यह प्रश्न नहीं उठाते कि ये धार्मिक विश्वास, मान्यताएँ और सिद्धांत कहाँ तक सत्य अथवा मिथ्या हैं। वस्तुतः यह प्रश्न उनके क्षेत्र की परिधि से बाहर है, क्योंकि इतिहास और मनोविज्ञान दोनों ही मानकीय विज्ञान न होकर वर्णनात्मक विज्ञान हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस प्रश्न पर विचार करना धर्म-दर्शन का ही कार्य है। वह समस्त धार्मिक मान्यताओं, सिद्धांतों तथा विश्वासों की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा करके पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर उनके सत्य अथवा मिथ्या होने का निर्णय करता है। वह हमें बताता है कि हम किन धार्मिक विश्वासों, सिद्धांतों तथा मान्यताओं को तर्कसंगत रूप से स्वीकार या अस्वीकार कर सकते

हैं। इस प्रकार इतिहास तथा मनोविज्ञान के विपरीत धर्म-दर्शन मूलतः मानकीय विज्ञान है और यही तथ्य उसे इन दोनों से पृथक करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि धर्म-दार्शनिक किस आधार पर धार्मिक मान्यताओं, सिद्धांतों एवं विश्वासों की आलोचनात्मक परीक्षा करता है और उनके सत्य अथवा मिथ्या होने का निर्णय करता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धर्म-दार्शनिक इन धार्मिक मान्यताओं, सिद्धांत्तों तथा विश्वासों की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा के लिए उन सभी नियमों का प्रयोग करता है जिनका उल्लेख हम दर्शन का अर्थ स्पष्ट करते हुए पिछले खंड में कर चुके हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम धर्म-दार्शनिक किसी भी धार्मिक बिश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत के अर्थ का विश्लेषण करके उसे भलीभाँति स्पष्ट करने का प्रयास करता है। ऐसा करने से उस अस्पष्टता या अनिश्चितता का निराकरण होता है जो उस धार्मिक विश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत में पाई जाती है। इससे उसके अर्थ को ठीक-ठीक समझने ओर उसका निष्पक्ष मूल्यांकन करने में बहुत सहायता मिलती है। इसके पश्चात् धर्म-दार्शनिक यह देखने का प्रयास करता है कि उक्त धार्मिक मान्यता, सिद्धांत या विश्वास में कोई असंगति अथवा स्वतोव्याघात तो नहीं है। उदाहरणार्थ अनेक धर्मपरायण व्यक्ति एक ओर तो केवल धर्म-सिद्धांत के आधार पर मनुष्य के सुख-दुख की व्याख्या करते हैं और दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि केवल ईश्वर के अनुग्रह के फलस्वरूप ही मनुष्य को सुख एवं संतोष प्राप्त हो सकता है। उनके इन विचारों में असंगति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसी प्रकार यदि कोई धार्मिक विश्वास या मान्यता उन विश्वासों अथवा सिद्धांतों के विरुद्ध है जो पहले ही विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा सत्य प्रमाणित हो चुके हैं तो यह स्पष्ट है कि उसमें असंगति है और इसी कारण उसे तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। इस संबंध में हम रोग-मुक्त होने के लिए प्रार्थना संबंधी धार्मिक विश्वास का उदाहरण पिछले खंड में दे चुके हैं। यह स्पष्ट है कि जो धार्मिक मान्यता, सिद्धांत या विश्वास असंगतिपूर्ण अथवा पूर्वप्रमाणित सिद्धांतों के विरुद्ध है उसे मिथ्या मानकर अस्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि यही तर्कबुद्धि की अनिवार्य माँग है। किसी धार्मिक विश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत में संगति के अतिरिक्त उन सभी प्रासंगिक तथ्यों की भी धर्म-दार्शनिक निष्पक्ष परीक्षा करता है जो उससे संबंधित हैं। इसका कारण यह है कि इन तथ्यों की निष्पक्ष व्याख्या करके ही उन प्रमाणों को खोजा जा सकता है जो उसे सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई धर्मपरायण व्यक्ति आज भी इस धार्मिक मान्यता में विश्वास करता है कि पृथ्वी चपटी तथा स्थिर है और सूर्य ही उसकी परिक्रमा करता है तो यह स्पष्ट है कि उसकी यह मान्यता विज्ञान द्वारा प्रमाणित तथ्यों के विरुद्ध होने के कारण अयुक्तिसंगत है। इस प्रकार किसी किसी भी धार्मिक विश्वास, सिद्धांत या मान्यता की प्रामाणिकता के लिए उससे संबंधित सभी प्रासंगिक तथ्यों को भलीभाँति जानना और उनका निष्पक्ष मूल्यांकन करना बहुत आवश्यक है। अंत में धर्म-दार्शनिक उन सभी प्रमाणों या तर्कों की निष्पक्ष रूप से परीक्षा करता है जो किसी धार्मिक विश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत के समर्थन में प्रस्तुत किए जाते हैं। यदि इस परीक्षा के पश्चात ये प्रमाण या तर्क दोषपूर्ण पाए जाते हैं तो स्पष्टतः इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उन पर आधारित वह धार्मिक विश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत

मिथ्या है। इसी आधार पर अनेक धार्मिक मान्यताओं या विश्वासों को मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ वर्तमान युग में प्रबल वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा यह धार्मिक विश्वास मिथ्या प्रमाणित हो चुका है कि ईश्वर ने कुछ ही दिनों में संपूर्ण ब्रहमांड तथा इसमें विद्यमान सभी भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों और प्राणियों की रचना की है। इस धार्मिक विश्वास के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं उन्हें वैज्ञानिकों ने पूर्णतः मिथ्या सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप से संबंधित धार्मिक विश्वासों को भी अभी तक असंदिग्ध रूप से सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सका है, क्योंकि इनके समर्थन में प्रस्तुत किए गए तर्क या प्रमाण भी दोषपूर्ण पाए गए हैं। अन्य बहुत से प्रचलित धार्मिक विश्वासों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। संक्षेप में दर्शन संबंधी उपर्युक्त सभी नियमों के आधार पर ही धर्म-दार्शनिक धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं अथवा सिद्धांतों की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा करके उन्हें सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयास करता है।

धर्म-दर्शन की परिभाषा अथवा उसके स्वरूप की इस विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहाँ **धर्म-दर्शन तथा धर्मशास्त्र में अंतर** स्पष्ट कर देना आवश्यक है, क्योंकि कभी-कभी इन दोनों को एक ही मान लिया जाता है जो उचित नहीं है। वास्तव में धर्म-दर्शन इतिहास और मनोविज्ञान से ही नहीं, धर्मशास्त्र से भी भिन्न है। यह सत्य है कि धर्म-दर्शन और धर्म-शास्त्र दोनों ही धर्म के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध हैं, किंतु इन दोनों के मूल उद्देश्य में आधारभूत अंतर है। कुछ विद्वानों का मत है कि धर्मशास्त्र ईश्वर विषयक वह विज्ञान है जो ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप और जगत् तथा मनुष्य के साथ उसके संबंध की व्यवस्थित रूप से तर्कसंगत विवेचना करता है। इसी कारण ये विद्वान धर्मशास्त्र को 'ईश्वर-विद्या' की संज्ञा देते हैं। वे अपने इस मत के समर्थन में यह भी कह सकते हैं कि धर्मशास्त्र के लिए अँग्रेज़ी में जो 'थियोलॉजी' शब्द प्रचलित है उसका शाब्दिक अर्थ 'ईश्वर संबंधी विज्ञान' ही होता है। परंतु धर्मशास्त्र के विषय में इस मत को केवल अंशतः ही सत्य माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि ईश्वरवादी धर्मों की भाँति निरीश्वरवादी धर्मों का भी अपना धर्मशास्त्र होता है। दूसरे शब्दों में, धर्मशास्त्र केवल ईश्वरवादी धर्मों तक ही सीमित नहीं है। ऐसी स्थिति में धर्मशास्त्र को 'ईश्वर विषयक विज्ञान' कह कर उसकी ठीक-ठीक परिभाषा नहीं की जा सकती। इसके लिए हमें अधिक व्यापक दृष्टिकोण को स्वीकार करना होगा। मेरे विचार में धर्मशास्त्र वह विद्या है जो किसी विशेष धर्म के मूल सिद्धांतों तथा विश्वासों की व्यवस्थित और तर्कसंगत व्याख्या करने का प्रयास करती है। धर्मशास्त्र की यह परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है, क्योंकि यह ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी दोनों प्रकार के धर्मों के धर्मशास्त्र पर समान रूप से लागू होती है। इस परिभाषा के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक विकसित धर्म का अपना ही पृथक धर्मशास्त्र होता है जो उसके मूल सिद्धांतों और विश्वासों की विवेचना करता है। धर्मशास्त्र की इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि धर्म-दर्शन के विपरीत उसका स्रोत किसी विशेष धर्म तक ही सीमित होता है। वह सर्वप्रथम किसी विशेष धर्म के मूल सिद्धांतों तथा विश्वासों को केवल आस्था के आधार पर स्वीकार कर लेता है और इसके पश्चात उसकी तर्कसंगत

व्याख्या करने का प्रयास करता है।

वस्तुतः धर्म-दर्शन के विपरीत धर्मशास्त्र केवल यही प्रमाणित करने की चेष्टा करता है कि किसी विशेष धर्म के मूल सिद्धांतों और विश्वासों में कोई तार्किक असंगति या परस्पर विरोध नहीं है। वह इन सिद्धांतों और विश्वासों की सत्यता में संदेह किए बिना यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि ये वास्तव में परस्पर संबद्ध तथा तर्कसंगत हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्र मूलतः आस्था पर ही आधारित रहता है और यह तथ्य उसे धर्म-दर्शन से पृथक करता है जिसका मूल आधार केवल तर्कबुद्धि है। हम देख चुके हैं कि धर्म-दर्शन विश्वसनीय प्रमाणों के अभाव में किसी भी धार्मिक मान्यता, विश्वास अथवा सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता: वह केवल निष्पक्ष तथा पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर ही उसे सत्य या मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से धर्म-दर्शन धर्मशास्त्र से मूलतः भिन्न है जिसके लिए आस्था अनिवार्य है। इन दोनों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि धर्म-दर्शन सभी धर्मों के मूल सिद्धांतों तथा विश्वासों की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा करता है, जबकि धर्मशास्त्र किसी विशेष धर्म के विश्वासों एवं सिद्धांतों को सत्य प्रमाणित करने के लिए उनकी तर्कसंगत व्याख्या करने का प्रयास करता है। इससे स्पष्ट है कि धर्म-दर्शन का क्षेत्र धर्मशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। धर्म-दर्शन किसी भी धर्म के संपूर्ण धर्मशास्त्र की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा कर सकता है, किंतु धर्मशास्त्र अनिवार्यतः किसी विशेष धर्म तक सीमित होने के कारण धर्म-दर्शन के मूल सिद्धांतों की विवेचना करने में असमर्थ है। इन दोनों में तीसरा प्रमुख अंतर यह है कि धर्म-दर्शन का उद्देश्य किसी धार्मिक विश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत का समर्थन या खंडन करना न होकर उसकी निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा करना ही होता है: इसके विपरीत धर्मशास्त्र की उत्पत्ति अनिवार्यतः किसी विशेष धर्म के मूल सिद्धांतों और विश्वासों की रक्षा अथवा उनके तर्कसंगत समर्थन के लिए ही होती है। मूलतः आस्था पर आधारित होने के कारण प्रत्येक धर्म का धर्मशास्त्र उसके विश्वासों तथा सिद्धांतों को अनिवार्यतः युक्तिसंगत एवं सत्य प्रमाणित करने का प्रयास करता है। वह उनकी सत्यता और प्रामाणिकता के विषय में कभी कोई प्रश्न नहीं उठाता। उसका एकमात्र उद्देश्य उन सभी शंकाओं तथा आपत्तियों का उत्तर देना ही है जो उसके मूल सिद्धांतों और विश्वासों के विरुद्ध उठाई जाती हैं अथवा उठाई जा सकती हैं। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति वह उस धर्म के पवित्र धार्मिक ग्रंथों को असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक मानकर ही करता है। इस प्रकार विशुद्ध तर्कबुद्धि पर आधारित धर्म-दर्शन के विपरीत धर्मशास्त्र का मूल स्रोत श्रुतिमूलक आस्था ही है। ऐसी स्थिति में उसे वास्तविक अर्थ में 'विज्ञान' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विज्ञान के विपरीत धर्मशास्त्र तर्कों अथवा प्रमाणों का प्रयोग केवल किसी धर्म के मूल सिद्धांतों तथा विश्वासों की रक्षा के लिए ही करता है, उनकी निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा के लिए नहीं। वस्तुतः धर्मशास्त्र का यह सीमित और एकांगी उद्देश्य उसे विज्ञान तथा धर्म-दर्शन से पृथक करता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म-दर्शन धर्मशास्त्र से मूलतः भिन्न है, अतः इन दोनों को एक ही मान लेना बहुत गंभीर भूल होगी।

4. धर्म-दर्शन का क्षेत्र

पिछले खंडों में धर्म तथा दर्शन के स्वरूप और धर्म-दर्शन की परिभाषा के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि धर्म संबंधी सभी समस्याएँ किसी न किसी रूप में धर्म-दर्शन के क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं। धर्म-दर्शन उन सभी विषयों का विवेचन तथा मूल्यांकन करता है जिनका मनुष्य के धार्मिक जीवन से संबंध है और जिन पर तर्कसंगत रूप से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ धर्म का स्वरूप, मूल्य, आविर्भाव तथा विकास और उससे संबंधित सभी अनुभूतियाँ, क्रियाएँ, मान्यताएँ, विश्वास, कर्मकांड, संस्थाएँ एवं सिद्धांत धर्म-दर्शन के क्षेत्र के अंतर्गत सम्मिलित मूल विषय हैं। धर्म-दर्शन इन सभी विषयों की पूर्वाग्रहरहित विवेचना तथा आलोचनात्मक परीक्षा करता है। इस प्रकार मानव के धार्मिक जीवन से संबंधित सभी पक्ष प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धर्म-दर्शन के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं और उसके क्षेत्र की यह धर्म विषयक परिधि ही उसे दर्शन की अन्य शाखाओं से पृथक करती है। यह सत्य है कि धर्म-दर्शन का क्षेत्र मनुष्य के धार्मिक जीवन तक ही सीमित है, किंतु, जैसा कि हम प्रथम खंड में स्पष्ट कर चुके हैं, धर्म मानव-जीवन के सभी पक्षों को व्यापक रूप से प्रभावित करता है। इस दृष्टि से धर्म-दर्शन के क्षेत्र की परिधि भी बहुत विस्तृत हो जाती है। मनुष्य का ऐसा प्रत्येक कार्य उसके अध्ययन और मूल्यांकन का विषय हो सकता है जो किसी धार्मिक मान्यता, विश्वास या सिद्धांत द्वारा प्रभावित होकर किया जाता है। इसी कारण धर्म-दर्शन के क्षेत्र को धर्म-इतिहास, धर्म-मनोविज्ञान, धर्म विषयक समाजविज्ञान तथा धर्मशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक माना जाता है।

धर्म-दर्शन के क्षेत्र की उपर्युक्त व्यापक परिधि का अनुमान उन प्रश्नों से लगाया जा सकता है जिन पर धर्म-दर्शन विचार करता है और जिनके समुचित उत्तर खोजने का वह प्रयास करता है। धर्म-दर्शन के कुछ आधारभूत महत्त्वपूर्ण प्रश्न निम्नलिखित हैं :— धर्म का स्वरूप क्या है और मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में उसकी क्या भूमिका है? प्राचीन काल से वर्तमान युग तक मनुष्य जिन धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों, कर्मकांड तथा सिद्धांतों को स्वीकार करता रहा है वे कहाँ तक सत्य और तर्कसंगत हैं? क्या धार्मिक क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का कोई तर्कसंगत आधार है? धार्मिक अनुभूति या अनुभव क्या है और यह मनुष्य के अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से किस प्रकार भिन्न है? ईश्वर का स्वरूप क्या है और क्या उसके अस्तित्व को तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है? क्या ईश्वर ही ब्रह्मांड का रचयिता, संचालक तथा संहारक है? क्या सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अत्यंत दयालु ईश्वर की अवधारणा के साथ संसार में विद्यमान अशुभ या बुराई की तार्किक दृष्टि से संगति स्थापित की जा सकती है? क्या ईश्वर की पूजा या उपासना से ही मनुष्य के समस्त दुःखों का अंत हो सकता है? अथवा क्या प्रार्थना का मनुष्य के लिए केवल मनोवैज्ञानिक महत्त्व है? क्या 'आत्मा' नामक किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व है जो शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात भी शेष रहती है? यदि हाँ, तो इस आत्मा का स्वरूप क्या है और इसकी अमरता को किन तर्कों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है? धर्म और नैतिकता में क्या संबंध है? क्या धर्म ही नैतिकता का आधार है? अथवा क्या धर्म स्वयं नैतिकता पर आधारित है? मानव के जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है? क्या यह लक्ष्य मुक्ति अथवा मोक्ष

है? यदि हाँ, तो इस मोक्ष का वास्तविक स्वरूप क्या है और इसे किन उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है? क्या धर्म और विज्ञान में अनिवार्य विरोध है? अथवा क्या ये दोनों परस्पर पूरक हैं? श्रद्धा, आस्था एवं श्रुति का क्या अर्थ है और मनुष्य के धार्मिक जीवन में इनका क्या स्थान है? क्या आस्था और तर्कबुद्धि अनिवार्यतः परस्पर विरोधी हैं? अथवा क्या इन दोनों को एक-दूसरे का पूरक माना जा सकता है? क्या तथ्यात्मक ज्ञान की भाँति धार्मिक ज्ञान भी संभव है? यदि हाँ, तो इस धार्मिक ज्ञान का स्वरूप क्या है और इसकी प्रामाणिकता के लिए कौन-से प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं? धार्मिक भाषा का स्वरूप क्या है? क्या यह भाषा अन्य सभी प्रकार की भाषाओं से भिन्न होती है? क्या मानव-जीवन के लिए संसार के सभी धर्मों का मूल्य अथवा महत्त्व समान है? क्या इन सभी धर्मों में किसी प्रकार के समन्वय की कोई संभावना है? क्या मानवतावाद को वास्तविक अर्थ में 'धर्म' माना जा सकता है और क्या यही मनुष्य के लिए सर्वोच्च धर्म है? इन सभी तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों पर धर्म-दर्शन के अंतर्गत तार्किक दृष्टि से विचार किया जाता है। धर्म-दार्शनिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इन सभी प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर खोजने का प्रयास करता है। प्रस्तुत पुस्तक के अगले अध्यायों में धर्म-दर्शन संबंधी इन सभी प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि ये सभी प्रश्न धर्म-दर्शन के क्षेत्र की व्यापकता को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से विचार करने तथा उनके तर्कसंगत उत्तर खोजने के लिए धर्म-दर्शन उन सभी नियमों का प्रयोग करता है जो दर्शन के आधारभूत नियम हैं और जिनका उल्लेख हम इस अध्याय के दूसरे खंड में कर चुके हैं। इन नियमों की सहायता से धर्म-दर्शन प्रत्येक प्रश्न से संबंधित सभी तथ्यों की निष्पक्ष रूप से परीक्षा करके पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर उसका तर्कसंगत उत्तर देने का प्रयास करता है। धर्म-दर्शन धर्म संबंधी समस्याओं की विवेचना के लिए इन नियमों का प्रयोग किस प्रकार करता है, इस प्रश्न पर हम पिछले खंड में विचार कर चुके हैं, अतः यहाँ इस संबंध में अधिक विस्तार से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः दर्शन विषयक ये मूल नियम धर्म-दर्शन की विवेचना-प्रक्रिया के अनिवार्य अंग हैं। इन नियमों के अतिरिक्त धर्म संबंधी समस्याओं की विवेचना के लिए धर्म-दर्शन इतिहास, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र से भी सहायता लेता है।

हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि इतिहास और मनोविज्ञान धर्म से संबंधित कुछ विशेष तथ्यों पर विचार करते हैं। इन तथ्यों का समुचित ज्ञान धर्म-दर्शन के लिए धर्म संबंधी समस्याओं की विवेचना में सहायक हो सकता है। उदाहरणार्थ धर्म विषयक इतिहास से वह यह जान सकता है कि धर्म की उत्पत्ति तथा उसके विकास के मूल कारण क्या थे और विभिन्न युगों में धर्म ने मानव-समाज को किस प्रकार प्रभावित किया। इससे धर्म-दार्शनिक को यह ज्ञात हो सकता है कि प्राचीन काल से वर्तमान युग तक मनुष्य के धार्मिक जीवन में कौन-कौन-से परिवर्तन हुए, इन परिवर्तनों के प्रमुख कारण क्या थे और इन्होंने उसके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव डाला। ये ऐतिहासिक तथ्य धर्म-दार्शनिक के लिए धर्म के निष्पक्ष मूल्यांकन में बहुत सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार धर्म संबंधी मनोविज्ञान से धर्म-दार्शनिक यह जान सकता है कि धार्मिक अनुभूति का स्वरूप क्या है और इसका मानव के व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है। इससे वह यह भी जान सकता है कि धार्मिक अनुभूति का उदय कैसे होता है, यह अनुभूति धर्मनिरपेक्ष अनुभूतियों से किस प्रकार भिन्न होती है और यह मनुष्य के संपूर्ण जीवन को किस सीमा तक प्रभावित करती है। ये तथा ऐसे ही अन्य मनोवैज्ञानिक तथ्य उसके लिए मानव-जीवन में धर्म की भूमिका की तथ्यपरक विवेचना करने में बहुत सहायक हो सकते हैं।

धर्म विषयक इतिहास तथा मनोविज्ञान के अतिरिक्त धर्म संबंधी समाजशास्त्र से भी धर्म-दार्शनिक को मनुष्य के सामाजिक जीवन में धर्म की भूमिका को समझने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। इससे उसे यह ज्ञात होता है कि ईश्वर, आत्मा, प्रार्थना, आस्था, पाप, पुण्य आदि धार्मिक अवधारणाओं का मनुष्य के सामाजिक जीवन में क्या महत्त्व है। वस्तुतः समस्त धार्मिक अवधारणाओं की समाजशास्त्रीय व्याख्या ने धर्म-दार्शनिक के समक्ष धर्म का एक ऐसा नवीन आयाम प्रस्तुत कर दिया है जिसकी ओर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। धर्म विषयक समाजशास्त्र की सहायता से धर्म-दार्शनिक मानव के सामाजिक जीवन में धर्म की उस अच्छी या बुरी भूमिका को भलीभाँति जान सकता है जो वह एक सामाजिक संस्था के रूप में प्राचीन काल से अब तक निभाता आ रहा है और जिस के कारण उसकी प्रशंसा अथवा निंदा की जाती रही है। इस प्रका धर्म-दर्शन के लिए धर्म विषयक इतिहास तथा मनोविज्ञान की भाँति धर्म संबंधी समाजशास्त्र का भी बहुत महत्त्व है। वास्तव में धर्म-दर्शन अनेक मूल समस्याओं के विवेचन तथा मूल्यांकन के लिए इन तीनों से उन प्रासंगिक तथ्यों का संकलन करता है जिन का किसी न किसी रूप में धर्म के साथ संबंध है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म संबंधी तथ्यों के संकलन की दृष्टि से इतिहास, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र ये तीनों धर्म-दर्शन के लिए पर्याप्त सीमा तक सहायक सिद्ध होते हैं।

5. धर्म-दर्शन की विधियाँ

धर्म-दर्शन के क्षेत्र के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि धर्म-दर्शन धर्म से संबंधित सभी मूल समस्याओं का अध्ययन, विवेचन तथा मूल्यांकन करता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इसके लिए धर्म-दर्शन किन विधियों का प्रयोग करता है और इन विधियों में से कौन-सी विधि उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त तथा प्रामाणिक मानी जा सकती है। हम देख चुके हैं कि धर्म-दर्शन का मुख्य उद्देश्य धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धांतों का निष्पक्ष एवं तर्कसंगत मूल्यांकन करना ही है। वह समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर धर्म संबंधी सत्य का अन्वेषण करता है। यह स्पष्ट है कि वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति धार्मिक समस्याओं के निष्पक्ष एवं तार्किक विश्लेषण द्वारा ही कर सकता है। इस संबंध में किसी विशेष धार्मिक परंपरा या सिद्धांत से प्रभावित होना उसके उक्त उद्देश्य की पूर्ति में निश्चय ही बाधक सिद्ध होगा। इसी कारण धर्म-दर्शन के लिए वही विधि सर्वाधिक उपयुक्त हो सकती है जिसका आधार विशुद्ध तार्किक विवेचन तथा विश्लेषण हो। परंतु धर्म-दर्शन के अंतर्गत धार्मिक समस्याओं की विवेचना के लिए

सामान्यतः जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है वे सभी तर्क और अनुभव पर आधारित नहीं होतीं। कुछ विधियाँ तर्क तथा अनुभव के स्थान पर श्रुति और अंतःप्रज्ञा को ही महत्त्व देती हैं। उपर्युक्त तथ्यो को ध्यान में रखते हुए ई०ए० बर्ट ने अपनी पुस्तक, 'टाइप्स ऑफ़ रिलीजियस फ़िलॉसॉफ़ी' (पृष्ठ 448) में धर्म-दर्शन की चार प्रमुख विधियों का उल्लेख किया है। ये चार विधियाँ निम्नलिखित हैं:

(1) श्रुतिमूलक विधि : इस विधि के समर्थक धर्म के विषय में सत्य का अन्वेषण करने के लिए केवल श्रुति को ही प्रमाण मानते हैं जिसका स्रोत कोई पवित्र धामिक ग्रंथ होता है। धर्म-परायण व्यक्ति इस पवित्र धार्मिक ग्रंथ को ईश्वरीय वाणी के रूप में ग्रहण करते हैं और इसमें लिखी सभी बातों को असंदिग्ध रूप से सत्य तथा अंतिम प्रमाण मानते हैं। वेद, कुरान तथा बाइबल के विषय में क्रमशः हिंदुओं, मुसलमानों और ईसाइयों की यही मान्यता है। इन धर्मों के कट्टर और रूढ़िवादी समर्थक उक्त धर्मग्रंथों में वर्णित किसी बात को असत्य या अप्रामाणिक मानने के लिए उद्यत नहीं होते। स्पष्ट है कि इस श्रुतिमूलक विधि का एकमात्र आधार धार्मिक परंपरा है और इसमें मानवीय अनुभव एवं तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। इस विधि के समर्थक केवल श्रुति को ही स्वतः सिद्ध सत्य मानते हैं, अतः उनके मतानुसार उसके विषय में कोई प्रश्न उठाना या संदेह करना नितांत अनुचित है। इस विधि की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि किन्हीं दो धर्म-ग्रंथों में परस्पर विरोधी बातें कही गई हों तो यह निर्णय करना असंभव हो जाता है कि उनमें से किसकी बात सत्य है और किसकी मिथ्या। ऐसी स्थिति में तर्क पर आधारित धर्म-दर्शन के लिए यह विधि उपयुक्त नहीं हो सकती। धर्म के विषय में केवल सत्य का अनुसंधान करने वाला दार्शनिक ऐसी किसी बात को प्रामाणिक नहीं मान सकता जिसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध न हों। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तर्क और अनुभव की उपेक्षा करने वाली श्रुतिमूलक विधि का धर्म-दर्शन में कोई स्थान नहीं हो सकता। यही कारण है कि अनेक दार्शनिक इस विधि को धर्म-दर्शन के लिए अस्वीकार करते हैं।

(2) अंतःप्रज्ञात्मक विधि :जैसा कि इस विधि के नाम से ही स्पष्ट है, इसका मूल आधार कोई बाह्य तत्त्व न होकर मनुष्य की अपनी अंतःप्रज्ञा ही है। इस विधि से अनुसार मनुष्य अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्रत्यक्षतः आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार कर सकता है; इसके लिए उसे इंद्रिय अनुभव, तर्क आदि किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसके द्वारा वह आध्यात्मिक सत्यों का जो अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है वह स्वतः प्रमाणित और असंदिग्ध होता है। रहस्यवादी प्रायः इसी अंतःप्रज्ञात्मक विधि द्वारा विश्व की परम सत्ता का साक्षात ज्ञान प्राप्त करने का दावा करते हैं। उनका कथन है कि जब उनकी रहस्यात्मक अनुभूति अत्यंत तीव्र तथा गहन होती है तो वे अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ऐसे आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात ज्ञान प्राप्त करते हैं जिन्हें अन्य किसी साधन द्वारा नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार श्रुतिमूलक विधि की भाँति अंतःप्रज्ञात्मक विधि में भी इंद्रिय अनुभव और तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। रहस्यवादी स्वयं स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि वे अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा आध्यात्मिक सत्यों का जो अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं उसे अनुभव और तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में इस विधि के विरुद्ध भी दार्शनिक दृष्टि से वही आपत्ति

उठाई जा सकती है जो श्रुतिमूलक विधि के विरुद्ध उठाई गई है। तर्क और अनुभव पर आधारित न होने के कारण इस विधि द्वारा प्राप्त ज्ञान भी धर्म-दार्शनिक के लिए प्रामाणिक तथा असंदिग्ध रूप से सत्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त स्वार्थी व्यक्ति दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने और उनसे अपनी बात मनवाने के लिए भी इस विधि का दुरुपयोग कर सकते हैं, क्योंकि इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए एकमात्र प्रमाण अंतःप्रज्ञा ही है जिसे अन्य किसी आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती। वस्तुतः इन्हीं आपत्तियों के कारण बहुत-से दार्शनिक उक्त अंतःप्रज्ञात्मक विधि को धर्म-दर्शन के लिए उपयुक्त तथा प्रामाणिक विधि नहीं मानते।'

(3) बौद्धिक विधि : उपर्युक्त दोनों विधियों से असंतुष्ट होने के कारण अनेक दार्शनिक धर्म-दर्शन के लिए बौद्धिक विधि का प्रयोग करना आवश्यक समझते हैं। श्रुतिमूलक तथा अंतःप्रज्ञात्मक विधियों के विपरीत यह विधि केवल तर्क के आधार पर धर्म विषयक सत्य का अन्वेषण करती है। इस विधि के समर्थक उपर्युक्त दोनों विधियों के निष्कर्षों को प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि ये निष्कर्ष तर्क पर आधारित नहीं होते। इन दार्शनिकों का निश्चित मत है कि केवल तार्किक विश्लेषण पर आधारित बौद्धिक विधि के निष्कर्ष ही धर्म संबंधी समस्याओं का समुचित समाधान कर सकते हैं। वस्तुतः तर्कों अथवा प्रमाणों के बिना केवल श्रुति या अंतःप्रज्ञा द्वारा धर्म विषयक सत्य का अन्वेषण संभव नहीं है। किसी भी क्षेत्र में सत्यान्वेषण की प्रक्रिया अत्यंत जटिल तथा कठिन होती है जो केवल तर्क द्वारा भलीभाँति संपन्न की जा सकती है। इस प्रकार बौद्धिक विधि के समर्थक धर्म संबंधी निष्कर्षों को स्वीकार करने से पूर्व विश्वसनीय तथा पर्याप्त प्रमाणों द्वारा उनका प्रमाणित किया जाना अनिवार्य मानते हैं। इसी कारण यह विधि धर्म-दर्शन के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है।

(4) अनुभवात्मक विधि : इस विधि का समर्थन करने वाले दार्शनिक सभी क्षेत्रों में ज्ञान प्राप्ति के लिए मानवीय अनुभव—विशेषतः इंद्रिय अनुभव—को सर्वोच्च स्थान देते हैं। इन दार्शनिकों का मत है कि व्यापक अर्थ में अनुभव ही हमारे ज्ञान का मूल आधार है, क्योंकि अनुभव के अभाव में हम किसी प्रकार का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। जो ज्ञान हम अपने अनुभव द्वारा तथ्यों के निरीक्षण के फलस्वरूप प्राप्त करते हैं उसे ही वस्तुतः यथार्थ एवं प्रामाणिक ज्ञान माना जा सकता है। धार्मिक ज्ञान के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। अनुभववादी ऐसे ज्ञान को प्रामाणिक नहीं मानते जिसे श्रुतिमूलक तथा अंतःप्रज्ञात्मक विधियों द्वारा प्राप्त किया गया है और अनुभव द्वारा जिसकी प्रामाणिकता की पुष्टि करना संभव नहीं है। इस प्रकार वे धर्म-दर्शन के लिए इन दोनों विधियों को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। वे कुछ धर्मपरायण व्यक्तियों के इस दावे को तर्कसंगत नहीं मानते कि उन्हें इन विधियों द्वारा अनुभवनिरपेक्ष धार्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। परंतु अनुभववादी दार्शनिक धर्म-दर्शन के लिए अनुभवात्मक विधि के साथ-साथ बौद्धिक विधि के महत्त्व को अवश्य स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि धार्मिक ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अनुभव तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यों का तार्किक विश्लेषण आवश्यक है जो बौद्धिक विधि द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार अनुभववादी दार्शनिक धर्म-दर्शन के लिए अनुभवात्मक

विधि तथा बौद्धिक विधि दोनों के समुचित प्रयोग को बहुत महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनके विचार में इन दोनों विधियों की सहायता से ही किसी भी क्षेत्र में यथार्थ एवं प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत कुछ अन्य दार्शनिक धार्मिक ज्ञान को पूर्णतः अनुभवनिरपेक्ष ज्ञान मानते हैं, अतः उनके अनुसार इस ज्ञान को केवल श्रुतिमूलक विधि तथा अंतःप्रज्ञात्मक विधि के मिश्रित प्रयोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए धर्म-दर्शन के अंतर्गत या तो प्रथम दो विधियों का अथवा अंतिम दो विधियों का एक साथ प्रयोग किया जाता है और विभिन्न दार्शनिक अपनी-अपनी विचारधारा के अनुरूप इन सभी विधियों का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि इन सभी विधियों को धर्म-दर्शन की विधियों के रूप में स्वीकार किया जाता है।

6. धर्म-दर्शन की आवश्यकता

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यहाँ संक्षेप में धर्म-दर्शन की आवश्यकता और उपादेयता पर भी विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। पिछले खंडों में हम देख चुके हैं कि धर्म-दर्शन का प्रमुख उद्देश्य धर्म विषयक समस्त अवधारणाओं, प्रत्ययों, मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धांतों का तार्किक विश्लेषण करके उनकी आलोचनात्मक परीक्षा करना है। इसका अर्थ यह है कि धर्म-दर्शन मनुष्य की धार्मिक क्रियाओं तथा उसके धार्मिक अनुभवों के निष्पक्ष मूल्यांकन के लिए तार्किक आधार खोजने का प्रयास करता है। धर्म-दर्शन के इस कार्य से यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन में धर्म की व्यापक भूमिका के बौद्धिक आधार की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। धर्म-दर्शन ही तार्किक आधार पर धर्म की आलोचनात्मक परीक्षा करके हमारे इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है कि क्या धर्म वास्तव में जादू-टोने और अंधविश्वास से भिन्न है। किसी भी धार्मिक मान्यता या विश्वास को स्वीकार करने तथा उसके अनुरूप आचरण करने से पूर्व हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि क्या वह सत्य और तर्कसंगत है। हमारे इस प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर खोजने में केवल धर्म-दर्शन ही हमारी सहायता कर सकता है। यदि हम तार्किक आधार पर समुचित परीक्षा किए बिना प्रचलित धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों को स्वीकार कर लेते हैं तो उनमें और तर्करहित अंधविश्वासों में कोई अंतर नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में हम किसी भी अंधविश्वास अथवा जादू-टोने को धार्मिक मान्यता या विश्वास के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रेरित हो सकते हैं जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए अत्यंत घातक है। इस हानिकारक स्थिति से केवल धर्म-दर्शन ही हमें बचा सकता है।

वस्तुतः प्राचीन काल से अब तक धर्म के नाम पर मनुष्यों में जो दुःखद रक्तरंजित संघर्ष होते रहे हैं और जो आज भी हो रहे हैं उनका मूल कारण यही है कि धर्म के संबंध में कोई संदेह करना, प्रश्न पूछना या तर्क करना घोर अपराध माना जाता है। धर्म के विषय में धर्मपरायण व्यक्तियों की यह तर्कहीन मनोवृत्ति मानव-समाज के लिए अत्यधिक घातक सिद्ध हुई है और यदि मनुष्य इस अंधविश्वासपूर्ण हानिकारक मनोवृत्ति से मुक्त न हो सका तो इसके फलस्वरूप उसके संपूर्ण सामाजिक जीवन के विघटित होने की आशंका है। यह समझना कठिन नहीं है कि तर्कबुद्धि पर आधारित धर्म-दर्शन ही मनुष्य को धर्म के विषय में

इस हानिकारक मनोवृत्ति से मुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त धर्म के स्वरूप को भलीभाँति समझने तथा उसकें संबंध में सत्य का अन्वेषण करने में भी केवल धर्म-दर्शन ही हमारे लिए सहायक सिद्ध हो सकता है। वस्तुत: धर्म-दर्शन के अभाव में धर्म का निष्पक्ष मूल्यांकन संभव नहीं है। इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सभी तथ्य व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए धर्म-दर्शन की आवश्यकता और उपादेयता को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करते हैं; यही कारण है कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में दर्शन की अन्य शाखाओं की भाँति धर्म-दर्शन को भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

परंतु यह अत्यधिक आश्चर्य तथा खेद की बात है कि कुछ धर्मपरायण विचारक धर्म-दर्शन की इस उपादेयता को अस्वीकार करते हैं और उसे धर्म के लिए अनावश्यक मानते हैं। इन विचारकों में कार्ल बार्थ, ऐमील ब्रूनर, रीनोल्ड नीबुर आदि पाश्चात्य धर्मशास्त्रियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये धर्मशास्त्री धर्म के लिए तर्कबुद्धि के महत्त्व का पूर्णतः निषेध करते हैं। उनका मत है कि मनुष्य अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा धार्मिक सत्यों को जानने में नितांत असमर्थ है, अतः उसे इनके अन्वेषण के लिए प्रयास ही नहीं करना चाहिए। धार्मिक सत्यों के ज्ञान के लिए उसे पूर्ण रूप से ईश्वर की कृपा तथा श्रुति पर ही निर्भर रहना चाहिए। कार्ल बार्थ को धर्म संबंधी इस निषेधात्मक विचारधारा का प्रमुख प्रतिनिधि माना जा सकता है। उन्होंने 'डॉक्ट्रिन ऑफ़ दि वर्ड ऑफ़ गॉड', 'दि वर्ड ऑफ़ गॉड ऐंड दि वर्ड ऑफ़ मैन', 'दि नॉलेज ऑफ़ गॉड ऐंड दि सर्विस ऑफ़ गॉड' आदि अपनी पुस्तकों में इस परंपरागत निषेधात्मक विचारधारा की सविस्तार व्याख्या की है। वे धर्म के संबंध में दर्शन और तर्कबुद्धि की भूमिका को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। उनका निश्चित मत है कि मनुष्य स्वभावतः पापी और पतित प्राणी है, अतः वह ईश्वरीय धार्मिक सत्यों को कभी नहीं जान सकता। उसे अपने अत्यंत सीमित अनुभव तथा अपनी नितांत भ्रष्ट तर्कबुद्धि द्वारा इन पवित्र सत्यों को जानने का गर्वपूर्ण दावा कभी नहीं करना चाहिए। अपनी पतित तर्कबुद्धि द्वारा धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों की परीक्षा का प्रयास करना मनुष्य के लिए नितांत अनाधिकार चेष्टा, धृष्टता एवं पापपूर्ण अभियान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह केवल ईश्वर के अनुग्रह तथा श्रुति की सहायता से ही पवित्र धार्मिक सत्यों को जान सकता है; इस प्रकार के दैवी ज्ञान के लिए अनुभव एवं तर्कबुद्धि पूर्णतः व्यर्थ हैं। जिस व्यक्ति पर स्वयं ईश्वर की कृपा होती है केवल वही यह पवित्र धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अन्य सभी व्यक्तियों को इस ज्ञान के लिए उसी पर निर्भर रहना पड़ेगा। यह दैवी ज्ञान प्रदान करने के लिए ईश्वर किस व्यक्ति पर कृपा करेगा, इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता; यह पूर्ण रूप से ईश्वर की अपनी इच्छा पर ही निर्भर है। धार्मिक ज्ञान के विषय में अपनी इसी मान्यता को व्यक्त करते हुए बार्थ ने स्पष्ट कहा है कि :—"ईश्वर के वचनों को मानवीय तर्कबुद्धि द्वारा नहीं, अपितु स्वयं ईश्वर के अनुग्रह द्वारा ही समझा जा सकता है जिसका आधार केवल आस्था है और यह आस्था भी ईश्वर स्वयं अपनी इच्छानुसार किन्हीं विशेष व्यक्तियों को उपहार के रूप में प्रदान करता है। ईश्वर सभी मनुष्यों को दैवी ज्ञान प्रदान नहीं करता; वह किन्हीं विशेष व्यक्तियों को यह ज्ञान प्रदान करता है"[7] बार्थ यह मानते हैं कि ईश्वर ने उन्हें ही दैवी ज्ञान प्रदान किया है, अतः वे धर्म

7. कार्ल बार्थ, 'दि डॉक्ट्रिन ऑफ़ दि वर्ड ऑफ़ गॉड', पृ० १४१.

के विषय में जो कुछ कहते हैं उसे असंदिग्ध रूप से सत्य मानकर पूर्णतः स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके विरुद्ध किसी प्रकार का तर्क देना अथवा कोई प्रश्न करना केवल पापपूर्ण निंदनीय अभिमान है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बार्थ तर्कबुद्धि पर आधारित दर्शन को धर्म का विरोधी मानकर उसका पूर्ण रूप से निषेध करते हैं, अतः उनके अनुसार 'धर्म-दर्शन' नामक विधा का धर्म के लिए कोई महत्त्व नहीं है। ब्रूनर, नीबुर आदि कुछ अन्य पाश्चात्य धर्मशास्त्री भी धर्म-दर्शन के संबंध में बार्थ की इस मान्यता का पूर्णतः समर्थन करते हैं।

परंतु मेरे विचार में धर्म तथा धर्म-दर्शन के विषय में उपर्युक्त रूढ़िवादी निषेधात्मक विचारधारा कुछ अभिमानी धर्म-प्रचारकों का स्वार्थपूर्ण दुराग्रह मात्र है जिसका कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। हम देख चुके हैं कि बार्थ ईश्वरीय धार्मिक ज्ञान की विवेचना के प्रयास को मनुष्य का पापपूर्ण गर्व मानते हैं, किंतु अपनी धार्मिक विचारधारा को असंदिग्ध रूप से सत्य मानने का दावा करके स्वयं उन्होंने इसी निंदनीय अभिमान को ही अभिव्यक्त किया है। मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि की अनिवार्य सीमाओं को ध्यान में रखते हुए कोई भी विवेकशील व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि केवल उसी का मत पूर्णतः सत्य है। इस प्रकार का गर्वयुक्त दावा करना केवल अविवेकपूर्ण धृष्टता है जो बार्थ के धर्म संबंधी विचारों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उनके इन विचारों का सतर्क अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें इन के मिथ्या प्रमाणित हो जाने का अत्यधिक भय है; इसी कारण वे अपनी धार्मिक विचारधारा के विषय में किसी व्यक्ति द्वारा कोई प्रश्न उठाना नितांत अनुचित और निंदनीय मानते हैं। परंतु जो विचारधारा निष्पक्ष तार्किक परीक्षा से इतनी अधिक भयभीत है उसके सत्य होने की कोई संभावना प्रतीत नहीं होती।

वस्तुतः बार्थ और उनके समर्थक इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में किसी भी विवेकशील व्यक्ति को ऐसी कोई विचारधारा मान्य नहीं हो सकती जिसकी सत्यता एवं प्रामाणिकता के संबंध में तार्किक परीक्षा का पहले से ही निषेध कर दिया गया हो। यह स्पष्ट है कि धर्म को भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का अपवाद नहीं माना जा सकता। जो धर्म-प्रचारक धर्म को तार्किक विश्लेषण और आलोचनात्मक परीक्षा से बचाने का प्रयास करते हैं वे वास्तव में उसे भारी हानि पहुँचाते हैं। इसका कारण यह है कि यदि उनके मत को स्वीकार कर लिया जाए तो धर्म तथा अंधविश्वास में कोई भेद नहीं रह जाता और अंधविश्वास की भाँति वह भी हमारे लिए त्याज्य हो जाता है। धर्म को विवेक और तर्क से काट देना उसकी स्थिति को अत्यधिक दुर्बल बना देता है, क्योंकि तर्कबुद्धि से असंबद्ध धर्म विवेकशील व्यक्तियों के लिए ग्राहय नहीं रह जाता। आज का विचारशील मानव-समाज केवल ऐसे धर्म को स्वीकार कर सकता है जो कम से कम तर्कबुद्धि के विरुद्ध तथा असंगतिपूर्ण न हो और जिसे बौद्धिक आधार पर जादू-टोने एवं अंधविश्वास से पृथक किया जा सके। केवल धर्म-दर्शन ही ऐसे धर्म के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है, बार्थ जैसे रूढ़िवादी धर्म-प्रचारकों की निषेधात्मक विचारधारा नहीं। धर्म-दर्शन ही हमें यह बता सकता है कि कौन-सा धार्मिक विश्वास-तर्कबुद्धि के अनुरूप होने के कारण हमारे लिए ग्राहय है और कौन-सा अयुक्तिसंगत तथा नैतिकता के विरुद्ध होने के कारण वास्तव में त्याज्य है। इस दृष्टि से धर्म-दर्शन अंततः धर्म के लिए सहायक सिद्ध हो सकता है। परंतु,

जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, धर्म-दर्शन का उद्देश्य धर्म का समर्थन या खंडन करना नहीं, अपितु उसे भलीभाँति समझना और उसके संबंध में सत्य का अनुसंधान करना ही है। जो मान्यता या विचारधारा धर्म-दर्शन के इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक सिद्ध होती है वह न तो धर्म के लिए सहायक हो सकती है और न ही कोई विवेकशील व्यक्ति उसे स्वीकार कर सकता है। इस प्रकार बार्थ और उनके समर्थक धर्मशास्त्रियों की उपर्युक्त निषेधात्मक विचारधारा तर्कबुद्धि के नितांत विरुद्ध होने के कारण आज के विचारशील मानव-समाज के लिए त्याज्य तथा स्वयं धर्म के लिए भी घातक है।

2

धर्म का उद्गम और विकास

1. धर्म के मूल स्रोत

पिछले अध्याय में धर्म के स्वरूप की विवेचना करते हुए हम उसके संवेगात्मक, सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्षों का उल्लेख कर चुके हैं और यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि वह मनुष्य की एक गहरी वैयक्तिक अनुभूति के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था के रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित होता है। प्रस्तुत अध्याय में हम धर्म की उत्पत्ति के मूल कारणों तथा उसके उपर्युक्त सभी पक्षों के क्रमिक विकास की प्रक्रिया पर विचार करेंगे। परंतु इस विषय का विवेचन करने से पूर्व यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इसके संबंध में आधिकारिक तथा निश्चित रूप से कोई एक मत व्यक्त करना अत्यंत कठिन है। इसका कारण यह है कि उक्त विषय का संबंध मानव के प्रागैतिहासिक काल से है जिससे संबंधित किसी प्रकार की आधिकारिक सामग्री प्राप्त करना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में हम मनुष्य की आदिम जातियों के जीवन के संबंध में अभी तक प्राप्त कुछ तथ्यों के आधार पर धर्म की उत्पत्ति और उसके विकास के विषय में केवलअनुमान ही लगा सकते हैं। परंतु इस कठिनाई के होते हुए भी धर्म-दर्शन के लिए उपर्युक्त विषय का बहुत महत्त्व है, क्योंकि धार्मिक विश्वासों तथा मान्यताओं के विषय का समुचित ज्ञान हमारे लिए इस प्रश्न का उत्तर देने में कुछ सीमा तक सहायक हो सकता है कि वे कहाँ तक सत्य अथवा मिथ्या हैं। यहाँ मुख्यतः इसी प्रश्न को ध्यान में रखते हुए धर्म के उद्गम तथा विकास पर विचार किया जाएगा।

धर्म के मूल स्रोतों और उसके क्रमिक विकास की प्रक्रिया को जानने के लिए हमें उन परिस्थितियों पर विचार करना होगा जिनमें आदिकालीन मानव अपना जीवन व्यतीत कर रहा था। मानव-जीवन का आदिकाल—जिसे विद्वानों ने 'पाषाण-युग' की संज्ञा दी है—वह काल था जब मनुष्य को प्राकृतिक नियमों का कोई ज्ञान नहीं था और इसी कारण वह पूर्ण रूप से प्राकृतिक शक्तियों पर ही आश्रित था। अपनी सभी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे केवल प्रकृति की कृपा पर ही निर्भर रहना पड़ता था जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था। तब अन्य पशुओं की भाँति मनुष्य भी वनों में इधर-उधर भटकता फिरता था और केवल आखेट द्वारा ही वह भोजन संबंधी अपनी मूल आवश्यकता की पूर्ति कर पाता था। आखेट न मिलने अथवा उसमें असफल होने पर उसे भूखा ही रह जाना पड़ता था। इसी प्रकार प्रचंड गर्मी, घनघोर वर्षा तथा भीषण शीत से बचने के लिए तब उसके पास कुछ प्राकृतिक गुफाओं, के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। इन गुफाओं में भी वह पूर्णतः सुरक्षित नहीं था, क्योंकि कोई भी हिंसक पशु उस पर आक्रमण कर सकता था। अनिश्चय तथा असुरक्षा के इस वातावरण में जब मनुष्य को भूख, रोग, बाढ़, तूफान, भूकम्प आदि

प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करना पड़ता था तब वह स्वभावतः अत्यधिक भयभीत हो उठता था। प्राकृतिक नियमों से पूर्णतः अनभिज्ञ होने के कारण तब वह यह नहीं जानता था कि इन प्राकृतिक विपत्तियों से वह अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकता है। शारीरिक दृष्टि से भी वह अनेक वन्य पशुओं की तुलना में बहुत दुर्बल था जो उसे निरंतर भयत्रस्त किए रहते थे। इन हिंसक पशुओं के आकस्मिक आक्रमण की आशंका के कारण उसका जीवन सदा संकटपूर्ण बना रहता था। इसके अतिरिक्त आदिम युग में मानव-समाज बहुत-सी छोटी-छोटी जनजातियों में विभाजित था जिनमें सतत हिंसापूर्ण संघर्ष चलता रहता था। एक जनजाति के सदस्य दूसरी जनजाति के सदस्यों की हत्या करने और उनका मांस-भक्षण करने में भी कोई संकोच नहीं करते थे। इस दृष्टि से आदिकालीन मनुष्यों तथा पशुओं के व्यवहार में वस्तुतः कोई अंतर नहीं था। प्रत्येक जनजाति के सदस्यों के लिए अन्य सभी जनजातियों के सदस्य केवल अपरिचित ही नहीं, अपितु शत्रु भी थे, क्योंकि आदिकालीन मनुष्य के लिए 'अपरिचित' और 'शत्रु' वास्तव में पर्यायवाची शब्द थे। छोटी-छोटी जनजातियों में निरंतर होने वाले इन पारस्परिक युद्धों के कारण भी तब मनुष्य अत्यधिक भयत्रस्त तथा असुरक्षित रहता था। इस प्रकार आदिकालीन मानव का संपूर्ण जीवन अज्ञान, भय, असुरक्षा तथा संघर्ष से ग्रस्त था जिसके फलस्वरूप वह अपने आप को नितांत असहाय अनुभव करता था।

ऊपर आदिकालीन मनुष्य की जिन कठिन एवं दुखद परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है उन्हीं में धर्म की उत्पत्ति तथा उसके विकास के मूल कारणों या स्रोतों को खोजा जा सकता है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जब मनुष्य किसी ऐसे दुःख से पीड़ित होता है जिसका वह स्वयं निराकरण नहीं कर पाता तो वह अत्यधिक भयत्रस्त हो उठता है और अपने आप को बहुत दुर्बल तथा असहाय समझने लगता है। ऐसी स्थिति में अपने दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के लिए वह स्वभावतः किसी ऐसी शक्ति से सहायता की याचना करने लगता है जिसे वह अपनी अपेक्षा कहीं अधिक बलवान समझता है। मनुष्य की यही परावलम्बन संबंधी मनोवृत्ति धर्म के उद्गम और विकास का मूल कारण है। अपने विकास के आदि-काल में जब मानव प्रकृति के नियमों से पूर्णतः अनभिज्ञ था तब भूख, रोग, आंधी, तूफान, बाढ़ भूकम्प आदि प्राकृतिक विपत्तियों से ग्रस्त होने पर वह स्वभावतः अत्यधिक भयभीत हो उठता था और उनसे मुक्त होने के लिए ऐसी शक्तियों का सहारा लेता था जिन्हें वह असाधारण तथा अलौकिक शक्तियाँ समझता था। वह अपनी रक्षा के लिए इन अलौकिक शक्तियों से प्रार्थना करता था और इन्हें प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करता था जिनमें मानव-बलि भी सम्मिलित थी। उस युग में भोजन, सुरक्षा आदि अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य द्वारा की गई अलौकिक शक्तियों की यह उपासना या प्रार्थना ही धर्म का मूल स्रोत है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, यह प्रार्थना अथवा उपासना धर्म का अनिवार्य आधारभूत तत्त्व है जिसके अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अपने विकास के शैशव-काल में मनुष्य भय तथा दुःख से मुक्ति और अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अलौकिक शक्तियों से जो प्रार्थना करता था उसे ही धर्म का आदि रूप माना जा सकता है। वस्तुतः इस प्रार्थना द्वारा मनुष्य अलौकिक शक्तियों से वह सब करवाना चाहता था जो वह स्वयं करने में असमर्थ था। धर्म

के मूल में आज भी मानव की यह असमर्थता एवं परावलम्बन संबंधी मनोवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इस प्रकार यह कहना अयुक्तिसंगत न होगा कि प्राकृतिक नियमों के संबंध में आदिकालीन मनुष्य का अज्ञान तथा उसकी शरीरिक दुर्बलता एवं असमर्थता धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण हैं।

अनेक विद्धानों का मत है कि आदिकालीन मानव की नितांत असहाय अवस्था और असमर्थता से उत्पन्न भय के फलस्वरूप धर्म का आविर्भाव हुआ है। सर्वप्रथम इस भय के कारण ही आदिम मनुष्य कुछ ऐसी प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करने के लिए बाध्य हुआ जो उसे 'अलौकिक शक्तियाँ' प्रतीत होती थीं और जिनसे वह संकट-काल में सहायता की याचना तथा आशा करता था। धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण के रूप में भय के इस तत्त्व का उल्लेख करते हुए जार्ज गैलोवे कहते हैं कि "भावना—विशेषतः भय—को प्रायः एक ऐसी प्रेरक शक्ति माना जाता है जो मानव को धर्म की और उन्मुख करती है—वह धर्म जिसे आने वाली विपत्तियों के विरूद्ध रक्षा-क़वच समझा जाता है।....... भय ने ही मनुष्यों को धार्मिक अनुष्ठानों के लिए प्रेरित किया, भयत्रस्त हो कर वे स्वभावतः सहायता के लिए देवताओं की ओर उन्मुख हुए।....... निम्न-स्तरीय संस्कृति मेंअब भी आत्माओं तथा मृत व्यक्तियों के भूतों का भय व्याप्त है और वन में रहने वाला मनुष्य आज भी अंधेरे में बाहर निकलने से डरता है। दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा पश्चिमी अफ्रीका की मूल जनजातियों में हानिकारक दुष्ट शक्तियों के इस व्यापक भय को अब भी देखा जा सकता है"[1] इस प्रकार मानव की दुर्बलता और असमर्थता से उत्पन्न भय धर्म के उद्‌भव का बहुत महत्त्वपूर्ण कारण है।

परंतु भय को धर्म की उत्पत्ति का पर्याप्त और एकमात्र कारण मानना युक्तिसंगत नहीं होगा। भय के अतिरिक्त मनुष्य की कुछ अन्य भावनाओं या अभिवृत्तियों ने भी धर्म के उद्‌गम में सहायता दी है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य भयभीत तभी होता है जब उसे अपनी किसी प्रिय अथवा मूल्यवान वस्तु के छिन जाने या नष्ट हो जाने की आशंका होती है। इसका अर्थ यह है कि आदिकाल से ही मनुष्य अपने जीवन तथा कुछ अन्य वस्तुओं को मूल्यवान मान कर उनकी रक्षा का प्रयास करता रहा है। इन मूल्यवान वस्तुओं की सुरक्षा तथा वृद्धि की कामना उसके जीवन में सदा बनी रही है और इस कामना ने भी उसे अलौकिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित किया है। आज भी प्रार्थना तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में जीवन और भौतिक समृद्धि के प्रति अनुराग की यह मानवीय कामना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है। अब भी मनुष्य ईश्वर से अपने लिए सुख, समृद्धि, धन-सम्पत्ति, संतान आदि की याचना करता है। इस प्रकार आदिकाल से ही भय के साथ-साथ जीवित रहने तथा सुख प्राप्त करने की इच्छा ने भी मानव को धर्म की ओर उन्मुख किया है। वस्तुतः इस जिजीविषा अथवा जीने की बलवती इच्छा से प्रेरित होकर ही मनुष्य उन अलौकिक शक्तियों पर आश्रित रहने लगा जिनसे वह यह आशा करता था कि वे उसकी इस इच्छा की पूर्ति करेंगी इसी कारण अपने जीवन की सुरक्षा तथा सुख-समृद्धि के लिए अलौकिक

---

1. जॉर्ज गैलोवे, 'दि फिलॉसॉफ़ी' ऑफ़ रिलिजन' पृ० 75.

शक्तियों पर पूर्णतः आश्रित रहने की इस मानवीय प्रवृत्ति को भी कुछ विद्वानों ने धर्म का मूल स्रोत माना है। उनका यह मत पर्याप्त सीमा तक सत्य है, क्योंकि आज भी अनेक धार्मिक अनुष्ठानों में मनुष्य की यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। अब भी अधिकतर व्यक्ति अपने जीवन को सुरक्षित रखने तथा सुख-समृद्धि प्राप्त करने के लिए अपने आप को ईश्वर अथवा किसी अन्य अलौकिक शक्ति पर पूर्णतः आश्रित मानते हैं। जैसा कि हम इस अध्याय के पाँचवें खंड में देखेंगे, मनुष्य की यह प्रवृत्ति वैदिक धर्म का एक महत्त्वपूर्ण आधार है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त मानवीय प्रवृत्ति ने ही मनुष्य के मन में अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व से संबंधित उस आस्था या विश्वास को जन्म दिया है जो धर्म के लिए अनिवार्य है। हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि किसी अलौकिक शक्ति के अस्तित्व में विश्वास धर्म का मूल आधार है। ऊपर आदिकालीन मानव की जिन प्रतिकूल परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है उन्होंने उसके इस विश्वास को और अधिक दृढ़ किया तथा निरंतर बनाए रखा है। वस्तुतः अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व में मनुष्य का यह विश्वास ही प्रार्थना, पूजा, जप-तप आदि धार्मिक अनुष्ठानों को सार्थक और संभव बनाता है। आदिम मानव की संवेगात्मक तीव्रता और बौद्धिक अपरिपक्वता ने उसके इस विश्वास में विशेष रूप से वृद्धि की। अपने विकास के शैशव-काल में मनुष्य के जीवन में संवेगों अथवा भावनाओं का अत्यधिक महत्त्व था। वह बहुत शीघ्र ही आनंदित, निराश या उत्तेजित हो उठता था। बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व होने के कारण अपनी भावनाओं पर उसका नियंत्रण बहुत कम था। वह अपने सभी कार्य तथा निर्णय भावनाओं या संवेगों से प्रेरित होकर ही करता था। इसके अतिरिक्त तब तक मनुष्य में विचार और तर्क करने की शक्ति का विकास भी अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ था। इन सभी कारणों के फलस्वरूप वह बहुत सरलतापूर्वक और शीघ्र ही असंगत एवं तर्कहीन बातों पर भी विश्वास कर लेता था। तर्करहित तथा असंगत आदिम धार्मिक विश्वासों के मूल में मनुष्य की यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यह समझना कठिन नहीं है कि मानव की इस प्रवृत्ति ने भी धर्म के उद्गम और विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। मनुष्य में आज भी यह प्रवृत्ति पर्याप्त सीमा तक विद्यमान है और धर्म को बनाए रखने में सहायक हो रही है।

सारांश

संक्षेप में प्रस्तुत खंड के सारांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि आदिकालीन मानव की दुर्बलता एवं असमर्थता से उत्पन्न भय, प्राकृतिक नियमों के विषय में उसकी अनभिज्ञता, अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उसकी असमर्थता, जीवित रहने तथा सुख प्राप्त करने की उसकी बलवती इच्छा, संवेगात्मक तीव्रता एवं बौद्धिक अपरिपक्वता, इन सबके फलस्वरूप उत्पन्न अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व में उसका विश्वास और उन पर पूर्णतः आश्रित रहने की उस की मनोवृत्ति—ये सभी धर्म की उत्पत्ति तथा उसके विकास के मूल स्रोत अथवा कारण हैं।

2. सर्वात्मवाद

धर्म के मूल स्रोतों या कारणों की विवेचना के पश्चात अब आदिम धर्म के कुछ प्रमुख रूपों पर विचार करना आवश्यक हैं। आदिकालीन मानव-समाज में धर्म के जिन रूपों का आविर्भाव हुआ था वे उसके आधुनिक विकसित रूप से बहुत भिन्न थे। आदिम धर्म के इन रूपों में सर्वात्मवाद, मानावाद तथा टोटेमवाद का विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत खंड में सर्वात्मवाद का तथा अगले खंड में मानावाद और टोटेमवाद का विवेचन किया जाएगा।

धर्म के आदिम रूपों में सर्वात्मवाद संभवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीनतम रूप है। **'सर्वात्मवाद' का अर्थ है प्रकृत्ति की समस्त वस्तुओं तथा शक्तियों में आत्माओं के अस्तित्व से संबंधित विश्वास का सिद्धांत।** हम देख चुके हैं कि आदिकाल में मनुष्य प्रकृति के सामान्य नियमों से अनभिज्ञ तथा केवल प्राकृतिक की सभी वस्तुओं पर पूर्णतः आश्रित था। ऐसी अवस्था मे उसके लिए यह बहुत स्वभाविक था कि वह प्रकृति की सभी वस्तुओं तथा शक्तियों को स्वयं अपने समान ही संजीव एवं चेतनापूर्ण माने और उनमें भी वैसी ही आत्माओं के अस्तित्व की कल्पना करे जैसी आत्मा स्वयं उसमें हैं। वह अपने अनुभव से वह जानता था कि कोई भी कर्म करने के लिए सजीव होना तथा किसी इच्छा से प्रेरित होना आवश्यक है। अपने इसी सामान्य अनुभव के आधार पर उसने समस्त प्राकृतिक वस्तुओं एवं शक्तियों के सजीव होने और उनकी सभी क्रियाओं के ऐच्छिक होने की कल्पना की थी। उसका दृढ़ विश्वास था कि सूर्य, चंद्र, वायु, नदियों झरनों, पर्वतों, मेघों, वृक्षों आदि सभी प्राकृतिक शक्तियों तथा वस्तुओं में आत्माओं का निवास है जो स्वयं अपनी इच्छानुसार समस्य क्रियाएं करती हैं। इसीलिए आदिकालीन मानव निश्चित रूप से यह मानता था कि स्वयं अपनी इच्छानुसार तथा किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर ही सूर्य हमें उष्णता प्रदान करता हैं, चंद्रमा हम पृथ्वी पर अपनी शीतल किरणें भेजता है, मेघ वर्षा करते हैं और भारती गर्जत्ता कर के मनुष्यों को भयभीत करते हैं, बाढ़, गांधी, तूफान, भूकम्म आदि सभी वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं। और मनुष्यों की हत्या करते हैं। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु और शक्ति में अगल आत्मा निवास करती है जो उसे चेतनापूर्ण तथा क्रियाशील बनाती है। स्पष्टत इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति एवं वस्तु का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है जिसके कारण यह क्रियाशील होती है और विशेष प्रकार का व्यवहार करती है। यही बात सभी प्राणियों के संबंध में भी कही जा सकती है। आदिकालीन मानव समस्त प्राकृतिक वस्तुओं तथा शक्तियों के साथ-साथ पशु-पक्षियों को भी आत्माओं से युक्त और व्यक्तित्वपूर्ण मानता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संपूर्ण प्राकृतिक जगत् को व्यक्तित्वमय मान कर उसके प्रति व्यवहार करना आदिम मनुष्य की प्रमुख विशेषता थी जिसके फलस्वरूप आदिकाल में धर्म का जन्म हुआ।

मानव-जीवन के उस प्रारंभिक युग में धर्म में उद्गम की प्रक्रिया क्या थी—इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। हम देख चुके हैं कि आदिकालीन मनुष्य अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना जीवन व्यतीत कर रहा था और प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए पूर्ण रूप से प्राकृतिक शक्तियों पर आश्रित था जिन्हें वह व्यक्तित्वमय मानता

था। ऐसी स्थिति में जब वह अपनी किसी मूल आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाता था तो इसके लिए वह स्वभावतः उस प्राकृतिक शक्ति से प्रार्थना करता था जो उसकी इस आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ समझी जाती थी। उदाहरणार्थ जब उसे शीत से बचने के लिए धूप की आवश्यकता होती थी तब वह इसके लिए सूर्य से प्रार्थना करता था। इसी प्रकार अपनी भूख मिटाने के लिए वह वृक्षों से फल देने की प्रार्थना करता था। जब वह आकाश में बिजली चमकने तथा मेघों की भारी गर्जना से अत्यधिक भयभीत हो उठता था तब वह अपनी रक्षा के लिए मेघों से प्रार्थना करता था। वह अपने आस-पास बहने वाली नदियों से भी यह प्रार्थना करता था कि वे उसे शीतल एवं निर्मल जल दें और बाढ़ से उसे हानि न पहुँचाएँ। इसी प्रकार आँधी, तूफान, भूकम्पं आदि विनाशकारी प्राकृतिक शक्तियों से भी वह प्रार्थना करता था कि वे उसे क्षमा कर दें और उसके जीवन तथ उसकी संपत्ति को नष्ट न करें। अग्नि से भी वह अपना भोजन पकाने तथा उष्णता प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता था। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी प्राकृतिक शक्तियाँ आदिकालीन मनुष्य के लिए उपासना या पूजा की वस्तुएँ हो गई थीं, अतः उसने उन्हें देवी-देवताओं के रूप में स्वीकार कर लिया था। प्रकृति के प्रति उसकी इसी विनम्र भावना को कुछ विद्वानों ने 'प्रकृति-पूजा' की संज्ञा दी है। आदिकाल में मानव की इसी प्रकृति-पूजा के फलस्वरूप धर्म की उत्पत्ति हुई और उसका प्राचीनतम रूप सर्वात्मवाद था जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आदिम युग में प्रकृति-पूजा के साथ-साथ सर्वोत्मवाद भी संसार के सभी लोगों में पाया जाता था। इसी कारण ई०बी० टाइलर, जे०जी० फ्रेज़र आदि विद्वानों ने सर्वात्मवाद को धर्म का प्राचीनतम रूप माना है और इसे विशेष महत्त्व दिया है। टाइलर को तो सर्वात्मवाद का प्रणेता ही माना जाता है जिन्होंने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में इस सिद्धांत की सविस्तार विवेचना की है। फ्रेज़र भी टाइलर के इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं। उन्होंने सर्वात्मवाद के आधार पर ही धर्म का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसी सिद्धांत के आधार पर धर्म की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि : "मेरे विचार में धर्म का अर्थ मनुष्य की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट उन शक्तियों को मनाना अथवा संतुष्ट करना है जिनके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति की व्यावस्था और मानव-जीवन को निर्देशित तथा नियंत्रित करती हैं। किसी को संतुष्ट करने का तात्पर्य यही है कि जिसे संतुष्ट कियाजाता हे वह चैतन्यपूर्ण अथवा व्यक्तित्व संपन्न प्राणी है, उसका आचरण कुछ सीमा तक अनिश्चित है और उसकी रुचियों, इच्छाओं तथा उसके संवेगों को संतुष्ट कर के मनोवांछित दिशा में उसके आचरण को परिवर्तित करने के लिए उसे मनाया जा सकता है"।[2] फ्रेज़र द्वारा दी गई धर्म की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार सर्वात्मवाद पर आधारित प्रकृति-पूजा से ही धर्म का उद्गम हुआ है।

आदिकालीन मनुष्य की अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों तथा प्राकृतिक नियमों के संबंध में उसकी अनभिज्ञता को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि उसके लिए

---

2. जेम्स फ्रेज़र, 'गोल्डन बो', संक्षिप्त संस्करण, पृ० 50-51.

प्रकृति-पूजा केवल स्वाभाविक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी थी। परंतु कालांतर में मानव इस प्रकृति-पूजा के साथ-साथ अपने पूर्वजों तथा कुछ पशुओं की भी पूजा करने लगा। हम देख चुके हैं कि आदिकाल में मानव-समाज अनेक छोटी-छोटी जन-जातियों में विभाजित था और प्रत्येक जनजाति के अपने ही पूर्वज होते थे। इसी कारण प्रत्येक जनजाति के सदस्य अपने इन पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए उनकी पूजा करते थे। प्राचीन काल में प्रकृति-पूजा के साथ-साथ यह पूर्वज-पूजा भी धर्म का अनिवार्य अंग बन चुकी थी। भारत में प्रति वर्ष पूर्वजों के नाम पर किए जाने वाले श्राद्धों के रूप में इस पूर्वज-पूजा के विशेष आज भी देखे जा सकते हैं। उक्त पूर्वज-पूजा के अतिरिक्त कुछ विशेष पशुओं की पूजा भी बहुत प्राचीन काल से ही आरंभ हो गई थी। भारत में नाग तथा गाय की पूजा की जाती थी जो आज भी प्रचलित है। इसी प्रकार अफ्रीका के कुछ देशों में भी नाग-पूजा प्रचलित थी और मिस्र में मगरमच्छ की तथा मलाया में सिंह की पूजा की जाती थी। इन पशुओं की पूजा के अनेक कारण थे जिनमें भय और कृतज्ञता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आदिकाल से ही प्रार्थना, उपासना या पूजा का धर्म के साथ अनिवार्य संबंध रहा है जो आधुनिक विकसित धर्म में भी विद्यमान है।

सर्वात्मवाद की व्याख्या करते हुए हम यह बता चुके हैं कि आदिकालीन मानव स्वयं अपने समान ही सभी प्राकृतिक शक्तियों, वस्तुओं तथा पशु-पक्षियों में भी आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता था। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि तब उसके मन में आत्माओं के अस्तित्व का यह विचार किस प्रकार उत्पन्न हुआ होगा। अपने सिद्धांत सर्वात्मवाद की विवेचना करते हुए टाइलर ने इस प्रश्न का भी विस्तारपूर्वक उत्तर दिया है। उनका यह उत्तर आदिम युग के मनुष्य द्वारा स्वप्नों की संभावित व्याख्या पर ही आधारित है। इस तथ्य का अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि जिस प्रकार आज हम स्वप्न देखते हैं उसी प्रकार आदिकालमें भी मानव स्वप्न अवश्य देखता था, किंतु तब उसे स्वप्नों के स्वरूप और कारणों की कोई जानकारी नहीं थी। ऐसी स्थिति में जब वह अपने मृत संबंधियों को स्वप्नों में देखता था तो वह यही समझता था कि उनकी आत्माएँ ही स्वप्नों में उसके साथ बात-चीत करती हैं। यदि ये मृत व्यक्ति स्वप्नों में उससे किसी वस्तु की माँग करते थे तो उनकी उस माँग को वह तुरंत पूर करता था। भारत के अशिक्षित तथा अर्धशिक्षित समाज में आज भी मृत व्यक्तियों से संबंधित स्वप्नों के विषय में इसी व्याख्या को स्वीकार किया जाता है। आदिकालीन मानव स्वयं भी स्वप्नों में अपने मित्रों तथा संबंधियों के साथ बात-चीत करता था जिससे वह यही निष्कर्ष निकालता था कि उसका शरीर जब सो रहा था तब उसकी आत्मा ही उनसे बात-चीत करने गई थी। अपने स्वप्नों में अनुभूत इन तथ्यों के आधार पर आदिकालीन मनुष्य ने निश्चित रूप से यह धारणा बना ली थी कि शरीर से भिन्न और स्वतंत्र आत्माओं का अस्तित्व है जो शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात भी बनी रहती है। उनकी इसी धारणा के फलस्वरूप सर्वप्रथम मानव-समाज में शरीर के स्वतंत्र और अमर आत्मा का विचार उत्पन्न हुआ जो आज भी पूर्ववत विद्यमान है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शरीर से भिन्न और अमर आत्मा के विचार का मूल आधार स्वप्नों के वास्तविक स्वरूप तथा कारणों के संबंध में आदिकालीन मनुष्य की भ्रमपूर्ण व्याख्या है जिसे

आज भी अशिक्षित मानव-जीवन में स्वीकार किया जा रहा है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य के लिए आदिकालीन अवधारणाओं से मुक्त होना कितना कठिन है।

सर्वात्मवाद के विषय में उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि बहुत प्राचीन काल में ही मनुष्य ने इस संसार के साथ-साथ स्पष्ट रूप से परलोक की भी कल्पना कर ली थी। आत्माओं के अस्तित्व के विचार की भाँति उसके परलोक की इस कल्पना का आधार भी इस संसार के संबंध में स्वयं उसका अपना अनुभव ही था। वह अपने अनुभव से यह जानता था कि इस संसार में सभी व्यक्ति समान नहीं हैं। कुछ व्यक्ति बहुत दुर्बल हैं तो कुछ बहुत शक्तिशाली, कुछ दास हैं तो कुछ मुखिया अथवा राजा। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति परोपकारी तथा सज्जन हैं तो कुछ बहुत दुष्ट और धूर्त। अपने इसी सामान्य अनुभव के आधार पर उसने परलोक में निवास करने वाली आत्माओं के स्तर तथा स्वभाव की भी कल्पना की। उसने अपनी यह निश्चित धारणा बना ली कि इन आत्माओं में से भी कुछ आत्माएँ बहुत दुर्बल हैं और कुछ अत्यंत शक्तिशाली, कुछ बहुत बुरी है और कुछ बहुत अच्छी। बुरे स्वभाव की तथा हानिकारक आत्माओं को उसने 'भूत', 'पिशाच' अथवा 'शैतान' की संज्ञा दी और अच्छे स्वभाव की एवं परोपकारी आत्माओं को उसने 'देवी' या 'देवता' कहा। इस प्रकार प्राचीन काल में मनुष्य ने अपने अनुभव के आधार पर इस संसार के समान ही परलोक की भी सृष्टि की जिसमें निम्न और उच्च स्तर की तथा अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की आत्माएँ निवास करती थीं। महान आत्माओं को देवी-देवता मान कर उसनें उनकी पूजा करना आरंभ किया जिससे वे उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करें और दुष्ट आत्माओं से उसकी रक्षा करें। कालांतर में मनुष्य के अनुभव की व्यापकता के साथ-साथ परलोकवासी देवी-देवताओं तथा भूत-पिशाचों की संख्या भी बढ़ती गई। जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पक्ष के लिए पृथक देवी या देवता की कल्पना कर ली गई जिसे आज भी मानव-समाज में किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया जा रहा है। परंतु इसके साथ ही एक उच्चतम देवता की भी कल्पना की गई जो अन्य सभी देवी-देवताओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ था और उन सब पर शासन करता था। इस कल्पना का आधार भी स्वयं मनुष्य का अपना अनुभव ही था। जिस प्रकार जनजाति में व्यवस्था स्थापित करने के लिए एक मुखिया अथवा राजा का होना आवश्यक समझा जाता था उसी प्रकार परलोक की व्यवस्था के लिए भी एक उच्चतम देवता की आवश्यकता समझी गई। कालांतर में विकसित एकेश्वरवाद का यही मूल आधार प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त सभी प्रमुख धर्मों में स्वर्ग और नरक की जो प्राक्कल्पना पाई जाती है उसका मूल आधार भी इस संसार से संबंधित मनुष्य का अपना अनुभव ही है। जिस स्थान पर उसने सभी सांसारिक सुखों के प्राप्त होने की कल्पना की उसे उसने 'स्वर्ग' का नाम दिया। इसके विपरीत जिस स्थान पर उसने घोर यातनाओं तथा दुःखों को भोगने की कल्पना की उसे ही उसने 'नरक' कहा। इस तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहना शायद अनुचित न होगा कि धर्म-संबंधी सामान्य प्रचलित अवधारणाओं का अंतिम आधार किसी-न-किसी रूप में मानवीय अनुभव ही रहा है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सर्वात्मवाद केवल धर्म का रूप ही नहीं, अपितु जीवन और जगत् के विषय में आदिकालीन मनुष्य का प्राचीनतम दर्शन भी था। उस समय वह प्राकृतिक

जगत् में होने वाली समस्त घटनाओं के कारणों की व्याख्या इस सर्वात्मवाद द्वारा ही करने का प्रयास करता था। हम पहले ही यह बता चुके है कि उस युग में मनुष्य प्राकृतिक नियमों से पूर्णतः अनभिज्ञ था। ऐसी स्थिति में किसी भी प्राकृतिक घटना का कारण जानने के लिए वह उसके मूल में एक ऐसी आत्मा की कल्पना करता था जो अपने ऐच्छिक प्रयास द्वारा जान-बूझ कर उस घटना को जन्म देती थी। इसी आधार पर वह धूप, वर्षा, बाढ़, आंधी, तूफ़ान, भूकम्प आदि सभी प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की व्याख्या करता था। संभवतः उस समय वह स्वयं भी स्पष्ट रूप से यह नहीं जानता था कि इस प्रकार वह प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की व्याख्या करने का प्रयास कर रहा है, किंतु कुछ विद्वान सर्वात्मवाद को इस अर्थ में भी ग्रहण करते हैं। इसी कारण वे उक्त सिद्धांत को आदिकालीन मनुष्य के जीवन-दर्शन के रूप में देखते हैं। सर्वात्मवाद आदिम युग के मानव का जीवन-दर्शन हो या न हो, किंतु इतना निश्चित है कि वह धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण रूप है।

जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, सर्वप्रथम मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों में आत्माओं के अस्तित्व की कल्पना कर के ही अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनकी पूजा करना आरंभ किया। इन शक्तियों को सजीव तथा ऐच्छिक क्रियाओं में समर्थ मानने के कारण ही वह यह विश्वास करने लगा था कि ये संकट-काल में उसकी रक्षा कर सकती हैं और उसकी आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सकती हैं। उसका यही विश्वास प्राकृतिक शक्तियों की पूजा का आधार बना जिसने अंततः धर्म को जन्म दिया। धर्म के इसी आधार की व्याख्या करते हुए प्रिंगल-पैटिसन ने लिखा है कि : "हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि धर्म के संपूर्ण इतिहास में मानवीय आवश्यकताएँ ही पूजा की मूल अभिप्रेरणाएँ रही हैं। यह पूजा उच्च शक्तियों के साथ मनुष्य का संबंध स्थापित करने तथा उनसे सहायता प्राप्त करने की उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति है। प्रारंभिक काल में मनुष्य की दैनिक भौतिक आवश्यकताएँ ही उसके जीवन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थीं। हम अब भी प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवान, आज हमें हमारा दैनिक भोजन प्रदान करो', 'परंतु आदिम मनुष्य के मन में तो अपने दैनिक भोजन का विचार कहीं अधिक तीव्रता के साथ निरंतर विद्यमान रहता था। इसी कारण वह स्वभावतः उन महान प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करने लगा जिन पर उसका भोजन तथा हित प्रत्यक्ष रूप से निर्भर था।....... इन प्राकृतिक शक्तियों को अपने समान ही सजीव प्राणी मानते हुए आदिम मनुष्य अपनी योजनाओं में इनसे सहयोग प्राप्त करने के लिए इनसे प्रार्थना करता हैं और अनेक वस्तुएँ इन्हें भेंट के रूप में अर्पित करता हैं।...... जीवन और वृद्धि के स्रोत के रूप में वह सूर्य देवता की पूजा करता है।...... इन प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण करना और इन्हें शारीरिक रूप में प्रस्तुत करना विकास की ओर एक महत्त्वपूर्ण चरण है"।[3] इस प्रकार सर्वात्मवाद को हम धर्म के प्राचीनतम रूप में स्पष्टतः देख सकते हैं जो आज भी विश्व के अनेक भागों में रहने वाली कुछ आदिम जातियों में पाया जाता है।

---

3. ए० एस० प्रिंगल-पैटिसन, 'स्टडीज़ इन दि फ़िलॉसॉफी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 68-70, 72.

3. 'मानावाद' और 'टोटेमवाद'

सर्वात्मवाद की विवेचना करने के पश्चात अब संक्षेप में धर्म के दो अन्य आदिम रूपों पर भी विचार करना आवश्यक है। ये रूप हैं 'मानावाद' तथा 'टोटेमवाद'। कुछ आदिम जातियों ने विशेष व्यक्तियों, पशुओं तथा भौतिक वस्तुओं में एक विशेष प्रकार की शक्ति के विद्यमान होने की कल्पना की थी। मैलेने-शियाई भाषा में इसी विशेष शक्ति को 'माना' की संज्ञा दी गई है। यह 'माना' एक अवैयक्तिक, अभौतिक तथा रहस्यमयी असाधारण शक्ति है जो कुछ विशेष व्यक्तियों, वस्तुओं और प्राणियों में पाई जाती है। कुछ विद्वानों ने इसे अतींद्रिय तथा आध्यात्मिक शक्ति भी माना है। इस शक्ति के कारण उस वस्तु के वांछनीय गुणों में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है जिसमें यह विद्यमान रहती है। इस शक्ति में विश्वास करने वाले आदिम मनुष्य यह मानते थे कि अतींद्रिय होने के कारण यह दिखाई नहीं देती, किंतु इसके विशेष प्रभाव को अवश्य देखा जा सकता है। वे यह भी मानते थे कि 'माना' सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु है जो मनुष्य को जीवनी शक्ति, सफलता और सुख प्रदान करती है। राजाओं, योद्धाओं, न्यायाधीशों, पादरियों तथा चमत्कार दिखाने वाले अन्य सभी व्यक्तियों में 'माना' नामक यही शक्ति पाई जाती है। इसी शक्ति के कारण ये सभी व्यक्ति अपने-अपने कार्यों को अत्यधिक कुशलतापूर्वक संपन्न कर पाते हैं। उदाहरणार्थ 'माना' के कारण ही योद्धा में बल की वृद्धि होती है और वह शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रेरित होता है। इसी प्रकार 'माना' के फलस्वरूप ही राजा तथा न्यायाधीश भलीभाँति शासन और न्याय कर पाते हैं। योद्धा द्वारा प्रयुक्त शस्त्रों में भी यह 'माना' पाया जाता है जो उन्हें अधिक घातक बना देता है। देवताओं में भी यह 'माना' विद्यमान रहता है जिसके कारण वे मनुष्यों की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। सिंह, हाथी आदि बलवान पशुओं में भी यही 'माना' पाया जाता है जो उनमें बल का संचार करता है। इस प्रकार कुछ आदिम जातियों का यह विश्वास था कि 'माना' वह विशेष शक्ति है जो उस वस्तु तथा व्यक्ति की कार्यक्षमता में अत्यधिक वृद्धि कर देती है जिसमें यह विद्यमान रहती है। इसी कारण इन आदिम जातियों के सदस्य 'माना' से परिपूर्ण प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्ति की पूजा करते थे और उससे सहायता की प्रार्थना करते थे। वस्तुतः प्राचीन मनुष्य द्वारा की जाने वाली यह एक प्रकार की शक्ति-पूजा थी और पूजा का यह तत्त्व 'मानावाद' को धर्म का एक रूप बना देता है। इसी शक्ति-पूजा के कारण कुछ विद्वानों ने 'मानावाद' को 'शक्तिवाद' भी कहा है। परतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'माना' आत्मा और ईश्वर से भिन्न प्रकार की शक्ति थी। 'माना' शब्द को उस अर्थ में कभी भी ग्रहण नहीं किया गया जिस अर्थ में आज हम 'आत्मा' तथा 'ईश्वर' इन शब्दों को ग्रहण करते हैं। यह तथ्य 'मानावाद' को सर्वात्मवाद से पृथक करता है। इसके अतिरिक्त 'मानावाद' उस प्रकार विश्वव्यापी भी नहीं रहा जिस प्रकार सर्वात्मवाद रहा है। सर्वात्मवाद आज भी विश्व के अनेक भागों में पाया जाता है, किंतु 'मानावाद' के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सर्वात्मवाद तथा 'मानावाद' धर्म के दो भिन्न-भिन्न आदिम रूप हैं

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'मानावाद' धर्म के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर हमारा

ध्यान आकृष्ट करता है और वह तत्त्व है शक्ति की पूजा। संपूर्ण विश्व में आदिकाल से ही धर्म के इतिहास में शक्ति-पूजा की विशेष भूमिका रही है। धर्म के आधुनिकतम विकसित रूपों में भी शक्ति-पूजा का महत्त्व कम नहीं हुआ है। आदिकाल से आज तक मनुष्य ने जिस देवी या देवता की कल्पना की है उसमें शक्ति का होना अनिवार्य माना है। यह कहना अनुचित न होगा कि मुख्यतः इसी शक्ति के कारण वह विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करता रहा है। धर्म के इतिहास में शक्ति-पूजा के इस विशेष महत्त्व का कारण समझना कठिन नहीं है। आदिकाल में जब मनुष्य अत्यंत प्रतिकूल एवं कष्टदायक परिस्थितियों में अपना जीवन व्यतीत कर रहा था तब उसे अनिवार्यतः ऐसे ही देवी-देवताओं की आवश्यकता थी जो उसकी मूल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते थे और विपत्तियों तथा संकटों से उसकी रक्षा कर सकते थे। स्पष्ट है कि अपने देवी-देवताओं में अत्यधिक शक्ति की कल्पना किए बिना वह उनसे इस प्रकार की सहायता तथा सुरक्षा की आशा नहीं कर सकता था। इसी कारण उसने अपने सभी देवी-देवताओं में अन्य गुणों के साथ-साथ शक्ति के गुण की भी कल्पना की और इसे विशेष महत्त्व दिया। उन्हें अत्यंत शक्तिसंपन्न मान कर ही वह संकट-काल में उनसे अपनी सहायता और रक्षा करने की प्रार्थना करता था। शक्ति के अभाव में कोई भी देवता मनुष्य की इस अनिवार्य माँग की पूर्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता था, अतः उसका शक्तिशाली होना उसकी पूजा की आवश्यक शर्त थी। इतना ही नहीं, वर्तमान युग में पर्याप्त सीमा तक धर्म के विकसित हो जाने के पश्चात भी शक्ति-पूजा की इस स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। संपूर्ण विश्व में आज भी मनुष्य जिस ईश्वर की पूजा करते हैं उसमें असीम शक्ति के गुण का होना अनिवार्य माना जाता है। ईश्वर के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं की पूजा की जाती है उन्हें भी उनके उपासक अत्यधिक शक्तिशाली अवश्य मानते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शक्ति-पूजा की दृष्टि से धर्म के इतिहास में 'मानावाद' का विशेष महत्त्व है।

'मानावाद' की विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहाँ इससे संबंधित धर्म के एक अन्य पक्ष की भी संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक है। धर्म के इस पक्ष का संबंध वर्जनाओं अथवा निषेधों से है जिन्हें अँग्रेज़ी में 'टेबू' कहा जाता है। जो जनजातियाँ 'मानावाद' में विश्वास करती थीं वे 'माना' से परिपूर्ण व्यक्तियों तथा वस्तुओं को मूल्यवान तथा पवित्र मानने के साथ-साथ उन्हें भयमिश्रित सम्मान का विषय भी मानती थीं। इसी कारण उन्होंने इन व्यक्तियों और वस्तुओं के संबंध में अनेक प्रकार की वर्जनाओं की कल्पना की थी जिनका पालन करना वे सभी व्यक्तियों के लिए अनिवार्य मानती थीं। इन वर्जनाओं का उद्देश्य जनजाति के सदस्यों को 'माना' से परिपूर्ण वस्तुओं तथा व्यक्तियों के साथ बहुत सावधानीपूर्वक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करना ही था। कुछ विशेष वर्जनाओं तथा निषेधों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—राजा, मुखिया तथा पादरी को छूना नहीं चाहिए और उनके द्वारा छोड़ा हुआ जूठा भोजन नहीं खाना चाहिए। विचित्र तथा रहस्यमयी वस्तुओं, अपरिचित व्यक्तियों, नवजात शिशुओं, नवप्रसूता स्त्रियों और पूजा की वस्तुओं को कभी नहीं छूना चाहिए। किसी मनुष्य के शव का स्पर्श करना और धार्मिक दृष्टि से पवित्र समझे

जाने वाले पशु की हत्या करना भी वर्जित है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के काम-संबंधों के विषय में भी अनेक वर्जनाएँ प्रचलित थीं जिनका पालन करना अनिवार्य माना जाता था। इन वर्जनाओं का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को जनजाति के मुखिया द्वारा कठोर दंड दिया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति के मन् में शैशव-काल से ही सभी परिस्थितियों में इन वर्जनाओं के अनुरूप कार्य करने की अनिवार्यता का विचार उत्पन्न कर दिया जाता था, अतः उसके लिए उनका उल्लंघन करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंभव हो जाता था। यदि वह कभी भूल से भी किसी वर्जना का उल्लंघन करता था तो अपने शैशवकालीन संस्कारों के कारण उसे अत्यधिक मानसिक कष्ट होता था। कभी-कभी तो इससे उसकी मृत्यु भी हो जाती थी। उदाहरणार्थ अफ्रीका की आदिम जाति के एक हब्शी ने एक बार मुखिया द्वारा छोड़ा गया जूठा भोजन खा लिया। जब उसे इस बात का ज्ञान हुआ तो वह अत्यधिक बीमार हो गया और शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। इस उदाहरण से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि जनजातियों में प्रचलित वर्जनाओं के उल्लंघन को कितना अधिक गम्भीर समझा जाता था।

उपर्युक्त वर्जनाओं के संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इनका विधान करते समय पवित्र, अपवित्र तथा निषिद्ध वस्तुओं में कोई भेद नहीं किया गया और सभी के विषय में कुछ वर्जनाओं को समान रूप से स्वीकार कर लिया गया। उदाहरणार्थ शव, नवजात शिशु, मुखिया, पादरी तथा पूजा की वस्तु को छूना समान रूप से वर्जित माना गया। परंतु कालांतर में ज़ब धर्म का विकास हुआ तो धार्मिक दृष्टि से पवित्र वस्तुओं को सामान्य वस्तुओं से पृथक समझा जाने लगा और उनके संबंध में भिन्न प्रकार की व़र्जनाओं का जन्म हुआ जो आज भी प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए व्रत के दिन भोजन करना तथा जूते पहन कर मंदिर में जाना अब भी वर्जित माना जाता है। विभिन्न धर्मों में इसी प्रकार की भिन्न-भिन्न वर्जनाएँ आज भी पाई जाती हैं जिनका अत्यधिक कठोरतापूर्वक पालन किया और कराया जाता है। इन धार्मिक वर्जनाओं का पालन करने के विषय में कोई संदेह करना अथवा इसके लिए किसी प्रकार के तर्क या कारण की माँग करना घोर पाप समझा जाता है। इनके पालन करने का एकमात्र आधार धार्मिक आस्था ही है जो अनिवार्यतः निर्बौद्धिक होती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से वर्तमान युग तक धर्म के दीर्घकालीन इतिहास में वर्जनाओं अथवा निषेधों का विशेष महत्त्व रहा है।

सर्वात्मवाद तथा 'मानावाद' के अतिरिक्त 'टोटेमवाद' को भी आदिकालीन धर्म का एक मुख्य रूप माना जाता है। यह 'टोटेमवाद' आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा उत्तरी अमेरिका की कुछ जनजातियों में पाया जाता था। ये जनजातियाँ किसी पशु, पेड़ या पौधे को टोटेम के रूप में स्वीकार कर लेती थी जिसका उनके लिए विशेष महत्त्व होता था। इस टोटेम को पवित्र मान कर इसका बहुत सम्मान किया जाता था। प्रत्येक जनजाति का अपना टोटेम होता था जो उसके सभी सदस्यों में धार्मिक तथा सामाजिक एकता स्थापित करता था। यदि कोई पशु किसी जनजाति का टोटेम होता था तो उस पशु के साथ उस जनजाति के पूर्वजों का संबंध जोड़ा जाता था। यह माना जाता था कि उस टोटेम के कारण ही वह जनजाति जीवित और सुरक्षित है। उस जनजाति के सदस्य अपनी रक्षा के लिए उस टोटेम से सहायता की याचना करते थे। इसी कारण टोटेम के रूप में स्वीकार किए जाने वाले पशु की हत्या

करना तथा उसके मांस का भक्षण करना सामान्यत: वर्जित माना जाता था, किंतु कुछ विशेष अवसरों पर उस पशु की हत्या करके उसके मांस को प्रसाद के रूप में जनजाति के सभी सदस्यों में बाँट दिया जाता था। यह विश्वास किया जाता था कि इससे जनजाति के सदस्यों में टोटेम की शक्ति उत्पन्न हो जाएगी। कुछ जनजातियाँ किसी पेड़, पौधे अथवा चट्टान को भी टोटेम मान लेती थीं। वे भी अपने इस टोटेम को अत्यधिक पवित्र वस्तु मान कर उसका विशेष रूप से सम्मान करती थीं। कुछ अवसरों पर अपनी रक्षा के लिए इन जनजातियों के सदस्य स्वयं अपना रक्त भी सहर्ष इस टोटेम पर चढ़ा देते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि ऐसा करने से वह टोटेम उनकी रक्षा अवश्य करेगा। इस प्रकार जनजातियों में टोटेम को शक्ति का प्रतीक माना जाता था और इसी रूप में उस की पूजा की जाती थी। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने 'टोटेमवाद' को 'मानावाद' अथवा 'शक्तिवाद' का ही एक रूप माना है। उनका मत है कि जनजातियों के लिए टोटेम वास्तव में अदृश्य शक्ति का भौतिक प्रतीक था। इसी मत को स्पष्ट करते हुए ऐटकिन्सन ली कहते हैं कि– 'टोटेम उस नामरहित तथा अवैयक्तिक शक्ति का सजीव प्रतिरूप है जो कुछ पशुओं के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। पशुओं के प्रति जो सम्मान प्रदर्शित किया जाता है वह वस्तुत: उस अवैयक्तिक शक्ति के प्रति ही होता है जो उनके माध्यम से व्यक्त होती है और जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार 'टोटेमवाद' 'मानावाद' का ही एक विशेष रूप प्रतीत होता है''।[4] हम देख चुके हैं कि किसी भी जनजाति के टोटेम का संबंध उस के पूर्वजों के साथ जोड़ा जाता था, अत: टोटेम की पूजा पूर्वजों की पूजा के साथ भी जुड़ी हुई थीं। टोटेम को अपने पूर्वजों का भौतिक प्रतीक मान कर ही उस जनजाति के सदस्य उसकी पूजा करते थे।

परंतु यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि टोटेम की पूजा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि शक्ति तथा पूर्वजों के प्रतीक के रूप में टोटेम की पूजा की जाती थी। परंतु इस के विपरीत कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि टोटेम की पूजा नहीं की जाती थी; उसे केवल पवित्र और सम्माननीय माना जाता था। इसी मत का समर्थन करते हुए प्रिंगल-पैटिसन ने टोटेम की पूजा का निषेध किया है। उन का कथन है कि : ''इस आदिम धर्म में मानव रूपी उस ईश्वर का विचार नहीं है जिस की पूजा की जाती है और जिसे भेंट चढ़ाई जाती है। इस अर्थ में टोटेम कोई देवता नहीं है। इसलिए टोटेम को पूजा का विषय बताना एक गलत धारणा को प्रदर्शित करना है। जनजाति के सदस्यों के लिए टोटेम की मूर्ति उनकी सामाजिक एकता का प्रतीक है। टोटेम उन में जो संवेग उत्पन्न करता है उन्हें ध्यान में रखते हुए उसकी तुलना उस झंडे के साथ भली-भाँति की जा सकती है जो किसी देश के सैनिक के लिए उसकी एकता का प्रतीक है और जिसके लिए वह अपने जीवन का भी बलिदान कर सकता है। परंतु हम उसे प्राचीन अथवा आधुनिक अर्थ में ईश्वर नहीं मान सकते''।[5] इस प्रकार प्रिंगल-पेटिसन टोटेम को

---

4. ऐटकिन्सन ली, 'ग्राउंडवर्क ऑफ दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ. 91.
5. ए. एस. प्रिंगल-पेटिसन, 'स्टडीज़ इन दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ. 36-37.

सम्मानित वस्तु मानते हुए भी उसे पूजा का विषय नहीं मानते। परंतु इस मत के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि टोटेम पूजा का विषय नहीं है तो 'टोटेमवाद' को धर्म का एक रूप नहीं माना जा सकता। संभवतः इसी कठिनाई के कारण अधिकतर विद्वान टोटेम को पूजा का विषय मानते हैं।

'टोटेमवाद' के विषय में यह भी कहा जाता है कि यह धर्म का एक रूप होने के साथ-साथ प्राचीन सामाजिक व्यवस्था संबंधी विशेष सिद्धांत भी था। हम ऊपर बता चुके हैं कि जनजाति के सभी सदस्य टोटेम को पवित्र तथा सम्माननीय मानते थे, अतः वह उन सब को परस्पर जोड़ता था और उनकी सामाजिक एकता का प्रतीक समझा जाता था। एक ही टोटेम के कारण जनजाति के सभी सदस्य एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहते थे। इस दृष्टि से टोटेम उनकी सामाजिक एकता का सुदृढ़ आधार बन जाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'टोटेमवाद' संबंधी सामाजिक व्यवस्था के अपने ही कुछ विशेष नियम थे जिनका पालन करना जनजाति के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य था। उदाहरणार्थ विजातीय विवाह अथवा बहिर्विवाह इस सामाजिक व्यवस्था का एक अनिवार्य नियम था। इस नियम के अनुसार जनजाति के प्रत्येक सदस्य को अपने लिए पत्नी का चुनाव किसी अन्य जनजाति से ही करना पड़ता था, अपनी जनजाति की किसी भी लड़की से विवाह करना उसके लिए वर्जित था। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'टोटेमवाद' संबंधी आदिम सामाजिक व्यवस्था के इस नियम का पालन आज भी अनेक जातियों द्वारा किया जा रहा है। इस नियम के अतिरिक्त एक ही टोटेम से संबद्ध प्रत्येक जनजाति द्वारा विशेष अवसरों पर सामूहिक भोज का भी आयोजन किया जाता था जिससे उस जनजाति के सदस्यों में सामाजिक एकता बनी रहती थी। 'टोटेमवाद' में पाई जाने वाली इस सामाजिक एकता के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही फ्रांस के दार्शनिक तथा समाजशास्त्री इमाइल दुरखीम ने अपनी पुस्तक 'ऐलीमेंट्री फ़ॉर्म्स ऑफ़ दि रिलीजियस लाइफ़, में इस सिद्धांत की समाजशास्त्रीय व्याख्या की है। उनका विचार है कि 'टोटेमवाद' केवल धर्म का रूप ही नहीं, एक विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत भी था। इसके कारण जनजाति में सामाजिक मूल्यों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। दुरखीम यह मानते हैं कि व्यक्ति के लिए वास्तव में उसका समुदाय ही ईश्वर है जिसकी वह पूजा करता है। अपनी महान शक्ति के कारण समुदाय उसे दैवी गुणों से परिपूर्ण प्रतीत होता है। इस प्रकार दुरखीम के मतानुसार व्यक्ति के जीवन में उसके समुदाय का वही स्थान है जो उसके जीवन में किसी देवता या ईश्वर का है, अतः धर्म समाज का ही एक अभिन्न अंग है। परंतु उनके इस समाजशास्त्रीय सिद्धांत का प्रमुख दोष यह है कि इस में धर्म के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा की गई है जो वास्तव में उसका बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, धर्म एक सामाजिक संस्था होने के साथ-साथ मनुष्य की विशेष मनोदशा तथा गहरी वैयक्तिक अनुभूति भी है, किंतु दुरखीम का समाजशास्त्रीय सिद्धांत धर्म के इस अनिवार्य तत्त्व को पर्याप्त एवं समुचित महत्त्व नहीं देता।

4. आदिम धर्म की सामान्य विशेषताएँ

अभी तक हमने धर्म के मूल स्रोतों अथवा उसकी उत्पत्ति के कारणों और जनजातियों

में पाए जाने वाले आदिम धर्म के प्रमुख रूपों की विवेचना की है। अब संक्षेप में आदिम धर्म की कुछ सामान्य विशेषताओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इन सामान्य विशेषताओं के विवेचन से हमें आदिम धर्म के स्वरूप के साथ-साथ यह भी ज्ञात हो सकेगा कि उसमें तथा आधुनिक विकसित धर्म में क्या भेद और समानताएँ हैं। आदिम धर्म की प्रमुख सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(1) सर्वात्मवाद की विवेचना करते हुए हम यह बता चुके हैं कि आदिकालीन मनुष्य ने अपनी मूल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए उनमें अनेक प्रकार की आत्माओं की कल्पना की थी। अधिकतर विद्वानों का मत है कि भौतिक वस्तुओं तथा प्राकृतिक शक्तियों में आत्माओं के अस्तित्व की यह कल्पना विश्व की सभी जनजातियों में पाई जाती है, अतः इसे आदिम धर्म की एक महत्त्वपूर्ण सामान्य विशेषता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानव-जाति में 'आत्मा' की अवधारणा की उत्पत्ति सर्वप्रथम आदिमयुगीन मनुष्य की इस कल्पना से हुई। परंतु उस समय 'आत्मा' शब्द को उस सूक्ष्म अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाता था जिस अर्थ में आज हम इसे ग्रहण करते हैं। आदिम मानव आत्मा को अपेक्षाकृत कुछ स्थूल अर्थ में ही ग्रहण करता था। यह सत्य है कि वह आत्मा को अतींद्रिय तथा अदृश्य वस्तु मानता था, किंतु इसके साथ ही वह उसके लिए एक ऐसे सूक्ष्म शरीर की भी कल्पना करता था जिसमें वह निवास करती है। उसका यह सूक्ष्म शरीर हमें दिखाई नहीं देता, परंतु तब इसे आत्मा के निवास के लिए अनिवार्य समझा जाता था। आदिकालीन मनुष्य इस सूक्ष्म शरीर के अभाव में आत्मा के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता था, क्योंकि पूर्णतः अशरीरी सत्ता उसकी कल्पना से परे की वस्तु थी। आत्माओं को सूक्ष्म शरीरों से युक्त मानने के कारण ही उसने उनके निवास के लिए एक पृथक लोक या संसार की भी कल्पना की थी जो हमारे संसार से बहुत भिन्न नहीं था। उसका यह विश्वास था कि ये आत्माएँ उस लोक में वैसे ही निवास करती हैं जैसे हम इस संसार में रहते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि हमारे शरीर स्थूल और दृश्य हैं जबकि इन आत्माओं के शरीर सूक्ष्म तथा अदृश्य। उस युग में पूर्णतः अभौतिक तथा अशरीरी आत्मा की उस तत्त्वमीमांसीय अवधारणा का विकास नहीं हुआ था जिसे आज अधिकतर दार्शनिक और धर्मपरायण व्यक्ति स्वीकार करते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि आदिकालीन मनुष्य आधुनिक मनुष्य की अपेक्षा भौतिकवाद तथा अनुभववाद के कहीं अधिक निकट था। वह आत्माओं को सूक्ष्म शरीरों से युक्त तथा क्रियाशील व्यक्तियों के रूप में ही देखता था और आत्मा की यह अवधारणा उसकी जीवन-पद्धति के अनुरूप ही थी जिसमें भौतिकता का बहुत महत्त्व था। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि आदिमयुगीन मनुष्य की परलोक की कल्पना आज भी अधिकतर विकसित धर्मों में पाई जाती है जिससे धर्म के लिए इस कल्पना के महत्त्व का पता चलता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि दर्शन और विज्ञान का पर्याप्त विकास कर लेने के पश्चात भी आधुनिक बुद्धिवादी मनुष्य इस दृष्टि से आदिम मानव की अपेक्षा बहुत अधिक आगे नहीं बढ़ पाया है। यही नहीं, आदिकालीन मनुष्य के लिए आत्मा का अर्थ उतना अस्पष्ट तथा अबोधगम्य नहीं था जितना आधुनिक दर्शन और धर्म में

बताया जाता है। इस प्रकार आदिम धर्म की आत्मा की अवधारणा तत्कालीन मनुष्य की जीवन-पद्धति से संबद्ध होने के कारण उसके लिए कहीं अधिक सार्थक और बोधगम्य थी।

(2) हम प्रथम खंड में स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म का उद्गम मनुष्य की मूल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। इसी कारण आदिम धर्म संबंधी प्रार्थना तथा अन्य सभी कृत्यों अथवा अनुष्ठानों का मुख्य उद्देश्य मानव-जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही थी। आदिमयुगीन मनुष्य केवल अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर ही देवी-देवताओं से प्रार्थना करता था और उन्हें अनेक प्रकार की वस्तुएँ भेंटस्वरूप अर्पित करता था। वह उनकी पूजा इसलिए करता था कि वे प्रसन्न होकर उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करें और संकट-काल में उसकी रक्षा करें। जनजातियों के आदिम धर्म में जो याचनात्मक प्रार्थनाएँ पाई जाती हैं उनसे इसी तथ्य की पुष्टि होती है। इस संबंध में हम फ़्रेज़र के मत का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त टाइलर ने भी जनजातियों की अनेक प्रार्थनाओं को उद्धृत कर के इसी तथ्य को प्रमाणित किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत जनजातीय प्रार्थनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : मुझ पर दया करो; मैं बहुत ही गरीब हूँ; मैं जो चाहता हूँ मुझे वही दो। शत्रुओं के विरुद्ध मुझे सफलता दो।" "मुझे जीवित रहने दो, बीमार न करो, 'मेरे शत्रुओं को-ढूँढ़ कर उन्हें मार डालो।" "दयालु पिता, मैं तुम्हें यह भोजन दे रहा हूँ, इसे खा लो, इस भोजन को ग्रहण करने के फलस्वरूप हम पर दया करो"[6] जनजातीय प्रार्थनाओं के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मूलतः स्वार्थपूर्ण याचनात्मक प्रार्थनाएँ ही हैं। आदिम धर्म में देवी-देवताओं को वस्तुओं, पशुओं तथा मनुष्यों की जो बलि दी जाती थी उसका उद्देश्य भी अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति करना ही होता था। इस प्रकार आदिकाल से ही प्रार्थना, पूजा तथा अन्य सभी धार्मिक अनुष्ठानों की मूल अभिप्रेरणा मनुष्य की अपनी स्वार्थ-सिद्धि ही रही है। आदिम धर्म की यह विशेषता आधुनिक विकसित धर्म में भी देखी जा सकती है, क्योंकि आज भी अधिकतर प्रार्थनाएँ और अन्य धार्मिक अनुष्ठान मानव की इसी स्वार्थमूलक अभिप्रेरणा द्वारा प्रेरित होकर ही किए जाते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक विकसित धर्म आदिम धर्म से मूलतः भिन्न नहीं है।

(3) स्वार्थमूलक अभिप्रेरणा के साथ-साथ संकुचित दृष्टिकोण तथा सीमित क्षेत्र भी आदिम धर्म की एक प्रमुख विशेषता है। हम देख चुके हैं कि आदिकालीन मानव-समाज अनेक छोटी-छोटी जनजातियों में विभाजित था और प्रत्येक जनजाति का अपना ही सीमित भौगोलिक क्षेत्र होता था। संचार-साधनों के अभाव के कारण उस समय जनजातियों में पारस्परिक संपर्क संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में प्रत्येक जनजाति के दृष्टिकोण का अत्यधिक सीमित और संकुचित होना स्वाभाविक ही था। इस सीमित दृष्टिकोण के कारण प्रत्येक जनजाति ने अपने-अपने पृथक देवी-देवताओं की कल्पना कर ली थी जिनकी वह पूजा करती थी। प्रत्येक जनजाति के अपने-अपने धार्मिक विश्वास होते थे जिन्हें उसके सभी सदस्य पूर्णतः स्वीकार करते थे। किसी अन्य जनजाति के देवी-देवताओं की पूजा करना और

---

6. ई० बी० टाइलर, 'प्रिमिटिव कल्चर', खंड 2, पृ० 364.

उसके धार्मिक विश्वासों का समर्थन करना उनके लिए निरर्थक तथा असंभव था। उस समय भिन्न धार्मिक विश्वासों और विरोधी धार्मिक विश्वासों में कोई भेद नहीं किया जाता था। किसी भी अन्य जनजाति के देवी-देवताओं और धार्मिक विश्वासों को स्वीकार करना अपनी जनजाति के प्रति विद्रोह समझा जाता था। इस संकुचित दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप आदिकालीन जनजतियों में पारस्परिक धार्मिक संवाद तथा सौहार्द्र असंभव था। पूर्ण अलगाव की इस स्थिति में आदिकालीन जनजातीय समाज में धार्मिक सहिष्णुता की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। केवल अपने ही धार्मिक विश्वासों को पूर्णतः सत्य मान कर सभी परिस्थितियों में दृढ़तापूर्वक उन्हीं के अनुरूप आचरण करना इस अलगावपूर्ण स्थिति का अनिवार्य परिणाम था। इस प्रकार आदिम धर्म में ही धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता का उदय हो गया था जो आधुनिक विकसित धर्मों में भी पर्याप्त सीमा तक विद्यमान है। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से भी आज के विकसित धर्म को आदिम धर्म की तुलना में बहुत उत्कृष्ट तथा पूर्णतः भिन्न मानना कठिन है।

(4) आदिमयुगीन मनुष्य बौद्धिक विकास की दृष्टि से बहुत निम्न स्तर पर था, अतः उस युग में विभिन्न जनजातियों ने प्रार्थना अथवा पूजा के लिए जिन देवी-देवताओं की कल्पना की थी उनका स्वरूप भी बहुत अस्पष्ट था। सर्वात्मवाद की विवेचना करते हुए हम यह बता चुके हैं कि ये जनजातियाँ प्राकृतिक शक्तियों में आत्माओं के अस्तित्व की कल्पना करके उनकी पूजा करती थीं। परंतु इन आत्माओं के स्वरूप तथा गुणों के विषय में उनके विचार स्पष्ट और निश्चित नहीं थे। किस आत्मा में कौन-से विशेष गुण पाए जाते हैं, इस प्रश्न पर आदिकालीन मानव ने विचार ही नहीं किया था। वह सभी आत्माओं को केवल दो वर्गों में विभाजित करता था। एक वर्ग में वे आत्माएँ रखी जाती थीं जो मनुष्य का हित चाहती थीं और सदा उसकी सहायता करती थीं। इसके विपरीत दूसरे वर्ग के अंतर्गत वे आत्माएँ सम्मिलित की जाती थीं जो बहुत दुष्ट स्वभाव की थीं और इसी कारण जो सदा उसे हानि पहुँचाने का प्रयास करती थीं। इस प्रकार आदिम युग के मनुष्य ने समस्त आत्माओं को उपकारक तथा हानिकारक इन दो श्रेणियों में ही विभाजित कर रखा था और भिन्न-भिन्न कारणों से वह इन दोनों प्रकार की आत्माओं की पूजा करता था। वह उपकारक आत्माओं से प्रार्थना करता था कि वे उसकी सहायता करें जबकि हानिकारक आत्माओं के प्रकोप से बचने के लिए वह उनकी पूजा करता था। परंतु उसे यह जानने की चिंता नहीं थी कि किसी प्राकृतिक शक्ति में निवास करने वाली आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि आदिम युग में आत्मा की उस सूक्ष्म तत्त्वमीमांसीय अवधारणा का विकास नहीं हुआ था जो आधुनिक धर्म और दर्शन में पाई जाती है। इसी प्रकार उस समय ईश्वर की वह अवधारणा भी विकसित नहीं हो सकी थी जिसे आज अधिकतर दार्शनिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति स्वीकार करते हैं। वर्तमान रूप में आत्मा तथा ईश्वर इन दोनों अवधारणाओं का विकास परवर्ती मानवीय सभ्यता की देन है जिसका संकेत हमें आदिम धर्म में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त आदिम धर्म में नैतिक मूल्यों और अवधारणाओं को भी कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। तब तक धर्म तथा नैतिकता का वह संबंध नहीं जुड़ सका था जिसे आज अनिवार्य समझा जाता है। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं,

आदिकालीन मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही धर्म का आधार लेता था, अतः धर्म उसके लिए स्वार्थ-सिद्धि का एक साधन मात्र था। परंतु आदिम धर्म में कुछ सामाजिक मूल्यों का विकास अवश्य हुआ था जिसकी चर्चा हम 'टोटेमवाद' की विवेचना के संदर्भ में कर चुके हैं। एक ही आराध्य विषय में निष्ठा तथा एक ही पूजा-पद्धति के कारण प्रत्येक जनजाति के सभी सदस्य एक-दूसरे से जुड़े रहते थे। इस प्रकार आदिम धर्म प्रत्येक जनजाति में सामाजिक एकता का मूल आधार बन गया था। परंतु विभिन्न जनजातियों की पारस्परिक सामाजिक एकता में उसका कोई योगदान नहीं रहा।

(5) आदिम धर्म की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि उस पर जादू-टोने से संबंधित अंधविश्वासों का अत्यधिक प्रभाव था। बौद्धिक दृष्टि से विकसित न होने के कारण आदिकालीन मनुष्य जादू-टोनों की प्रभावशीलता में पूर्ण रूप से विश्वास करता था, अतः आदिम धर्म के अनुष्ठानों पर भी जादू का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। यह प्रभाव इतना गहरा और व्यापक है कि आदिम धर्म को जादू से पूर्णतः पृथक करना बहुत कठिन हो जाता है। इसी कारण कुछ विद्वानों का विचार है कि धर्म की उत्पत्ति ही जादू से हुई है, किंतु कुछ अन्य विद्वान यह मानते हैं कि जादू वास्तव में धर्म का विकृत रूप है। आदिकाल में धर्म और जादू के अत्यंत घनिष्ठ संबंध को ध्यान में रखते हुए निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं है कि इन दोनों विरोधी मतों में कौन-सा मत सत्य एवं युक्तिसंगत है परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आदिम युग का मानव धर्म तथा जादू को एक-दूसरे से पृथक नहीं समझता था। संभवतः इसका कारण यह है कि धर्म और जादू में मूल भेद के साथ-साथ कुछ समानताएँ भी हैं जो इन दोनों को परस्पर संबद्ध करती हैं। धर्म एवं जादू में प्रथम समानता यह है कि इन दोनों का उद्भव मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा विपत्तियों अथवा संकटों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही हुआ है। मानवीय सभ्यता के आदिकाल में ये दोनों ही मनुष्य के हित के साधन मात्र रहे हैं। धर्म तथा जादू में दूसरी समानता यह है कि इन दोनों का मूल सिद्धांत सर्वात्मवाद ही है, दोनों में प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण किया जाता है और उनमें आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। धर्मपरायण व्यक्ति और ज़ादूगर दोनों ही किसी प्राकृतिक शक्ति को चेतनापूर्ण प्राणी मान कर उसे अपने किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ विशेष विधियों द्वारा प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार धर्म तथा जादू इन दोनों का मूल आधार एक ही है और वह है मनुष्य का रहस्यमयी अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व में विश्वास। धर्म और जादू में इन समानताओं के कारण ही आदिकालीन मानव-समाज में इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सका।

परंतु धर्म एवं जादू के संबंध में उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं होगा कि ये दोनों एक ही हैं और इनमें कोई मूल भेद नहीं है। वस्तुतः धर्मपरायण व्यक्ति तथा जादूगर के मूल उद्देश्य और आधारभूत सिद्धांत में समानता के होते हुए भी प्राकृतिक शक्तियों के प्रति इन दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अंतर होता है। धर्मपरायण व्यक्ति जिस प्राकृतिक शक्ति की पूजा करता है उस पर वह अपने आप को पूर्णतः निर्भर मानता है और उससे अनुग्रह की आकांक्षा करता है। वह अपने आप को तुच्छ मान कर

अपने आराध्य विषय के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है और तब उससे अपनी रक्षा तथा सहायता की याचना करता है। स्पष्ट है कि उसका दृष्टिकोण अपने उपास्य विषय के प्रति पूजा तथा पूर्ण आत्मसमर्पण का दृष्टिकोण होता है। इसके विपरीत जादूगर जिस प्राकृतिक शक्ति की पूजा करता है उसे वह अपने जादू की शक्ति द्वारा नियंत्रित करना चाहता है और इस प्रकार अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे विवश करने का प्रयास करता है। उसके मन में अपने उपास्य विषय के प्रति आत्मसमर्पण की भावना नहीं होती और वह उससे अपने लिए अनुग्रह तथा सहायता की याचना नहीं करता। वह केवल अपने मंत्र-बल द्वारा उससे अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति करवाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार धर्मपरायण व्यक्ति के विपरीत जादूगर का दृष्टिकोण बल-प्रयोग का दृष्टिकोण होता है जो धर्म की मूल भावना के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त धर्मपरायण व्यक्ति अपने हित के लिए आराध्य विषय से प्रार्थना करता है जबकि जादूगर अपने शत्रुओं को नष्ट करने या उन्हें हानि पहुँचाने के लिए अपनी जादूई शक्ति का प्रयोग करता है। किसी व्यक्ति की मूर्ति बना कर उस मूर्ति को सुइयाँ चुभोना जिससे उस व्यक्ति को कष्ट पहुँचे जादू के ऐसे ही प्रयोग का उदाहरण है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के बाल या नाखून मिल जाने पर उन्हें अग्नि में डाल कर मंत्र-बल द्वारा उसे हानि पहुँचाने का प्रयत्न करना भी अनिष्टकारी जादू का ही एक उदाहरण है। अनेक जादूगर इस प्रकार के उद्देश्यों के लिए अपने जादू के प्रयोग का प्रयास करते रहे हैं।

वस्तुतः जादू का प्रयोग मनुष्य का हित करने की अपेक्षा उसे हानि पहुँचाने के लिए कहीं अधिक किया गया है और यह तथ्य भी उसे धर्म से पृथक करता है। जादू में अलौकिक शक्तियों की पूजा के इस दुरुपयोग के कारण ही कुछ विद्वानों ने उसे धर्म का विकृत एवं भ्रष्ट रूप माना है। परंतु आदिमयुगीन मनुष्य के मन में जादू और धर्म का मूल भेद स्पष्ट नहीं था। यही कारण है कि आदिम मानव-समाज में ये दोनों एक ही साथ मिले-जुले रूप में पाए जाते हैं। इसी तथ्य के आधार पर इन दोनों के संबंध की व्याख्या करते हुए जार्ज गैलोवे ने लिखा है कि :—"जादू तथा धर्म एक-दूसरे से उत्पन्न नहीं हुए हैं और ये दोनों समान रूप से प्राचीन हैं। इन दोनों का स्रोत संसार में अपना हित चाहने वाले मनुष्य के मन में ही है।......... प्रत्येक का उद्देश्य कुछ परिणाम उत्पन्न करना है, और आदिम मनुष्य जिन परिणामों की इच्छा करता है वे लगभग एक ही प्रकार के हैं—अर्थात् भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करना तथा दुःखों का निराकरण करना। वास्तविक अंतर उन विधियों में है जिनका प्रयोग इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। आदिम जादू वह तरीका है जिसके द्वारा आदिकालीन मनुष्य आत्माओं को प्रभावित करने और उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियंत्रित करने की कल्पना करता है। जादू संबंधी अनुष्ठानों के मूल में जो अवधारणाएँ है वे हमारी दृष्टि में अत्यंत अपरिष्कृत हैं, किंतु आदिम मनुष्य के मन में उनकी जड़े बहुत गहरी हैं"[7] इस प्रकार जादू और धर्म के दृष्टिकोणों में मूल भेद के होते हुए भी आदिम धर्म के साथ जादू का बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है। परंतु आधुनिक युग में धर्म को जादू से पूर्णतः भिन्न मान कर ही उसके स्वरूप की व्याख्या की जाती है।

---

7. जार्ज गैलोवे, 'दि फ़िलॉसॉफ़ी' ऑफ़ रिलिजन', पृ० 100.

5. वैदिक-कालीन धर्म

पिछले खंडों में हमने धर्म के मूल स्रोतों अथवा कारणों और आदिम धर्म के प्रमुख रूपों तथा उसकी मुख्य विशेषताओं का विवेचन किया है। इस संपूर्ण विवेचन को हम 'आदिम धर्म की संक्षिप्त समीक्षा' कह सकते हैं, क्योंकि इसका संबंध मानवीय सभ्यता के उस आदिकाल से है जब मानव-समाज बहुत-सी छोटी-छोटी जनजातियों में विभाजित था और जब इन जनजातियों में धर्म का उद्गम हो रहा था। प्रस्तुत खंड में हम भारतीय संस्कृति के प्रारंभिक युग में धर्म के स्वरूप और विकास पर विचार करेंगे। विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के इस प्रारंभिक युग को 'वैदिक काल' की संज्ञा दी है क्योंकि इस समय तक चार वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—की रचना हो चुकी थी जिन्हें संपूर्ण विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। इस प्रश्न के संबंध में विद्वानों में मतभेद है कि इन वेदों की रचना कब हुई। कुछ विद्वान इन्हें ईसा से तीन हज़ार वर्ष पूर्व रचित ग्रंथ मानते हैं, किंतु कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि इनकी रचना ईसा से कम-से-कम छः हज़ार वर्ष पूर्व हो चुकी थी। इस मतभेद के होते हुए भी लगभग सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि वेद संपूर्ण मानव-जाति के प्राचीनतम ग्रंथ हैं। अधिकतर विद्वान यह भी मानते हैं कि भारतीय धर्म तथा दर्शन के मूल तत्त्व वेदों में ही विद्यमान हैं। इसी कारण वेदों को भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत माना जाता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक वेद को कुछ मंडलों में, प्रत्येक मंडल को कुछ अनुवाकों में और प्रत्येक अनुवाक को कुछ सूक्तों में विभाजित किया गया है। ऋग्वेद को अन्य तीनों वेदों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि इसमें मानव-जीवन तथा जगत् के विषय में अपेक्षाकृत अधिक गंभीर चिंतन उपलब्ध होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके विशेष महत्त्व का एक कारण यह भी है कि यह अन्य तीनों वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। इस प्रकार ऋग्वेद में जो मंत्र संकलित हैं उन्हें विश्व-साहित्य की प्राचीनतम लिखित रचनाएँ माना जा सकता है।

वेद आर्यों के अमूल्य ग्रंथ हैं और अधिकतर विद्वान यह मानते हैं कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे। वे बाहर से भारत में आए थे और उन्हें इस देश के मूल निवासियों के विरुद्ध लम्बे समय तक कठिन संघर्ष करना पड़ा था। इस संघर्ष के संकेत हमें ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। इस वेद के अनेक मंत्रों से हमें पता चलता है कि इसके रचना-काल में आर्य भारत के मूल निवासियों को तिरस्कारपूर्वक 'दस्यु' या 'राक्षस' कह कर पुकारते थे। इस प्रकार उक्त संघर्ष में विजय प्राप्त कर के भारत में स्थायी रूप से बस जाने के पश्चात ही आर्यों ने चारों वेदों की रचना की थी जिनसे हमें जीवन और जगत् के विषय में उनके विशेष दृष्टिकोण का स्पष्ट रूप से पता चलता है। इन वेदों में संकलित मंत्रों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि वैदिक-कालीन आर्यों में जीवन के प्रति अत्यधिक उत्साह और संसार की भौतिक वस्तुओं तथा सुख-सुविधाओं के प्रति पर्याप्त आकर्षण था। वे जीवन को सुखमय मानते थे और इस जगत् में तथा मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में सुख-प्राप्ति की कामना करते थे। मूलतः इसी कामना से प्रेरित होकर वे यज्ञ एवं अन्य धार्मिक अनुष्ठान संपन्न करते थे जिनका विस्तृत वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। वे अपने देवी-देवताओं से यह प्रार्थना करते थे कि उन्हें सौ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त हो, उनका शरीर सदा स्वस्थ रहे और

उसके सभी अंग अपना-अपना कार्य भलीभाँति करते रहें, उनकी सन्तान स्वस्थ तथा सुंदर हो, उनकी गौवें दूध देने वाली तथा अन्य सभी पशु बलवान हों, उनके शत्रुओं का नाश हो और युद्ध में उन्हें विजय प्राप्त हो, जीवन में समस्त सुखों का उपभोग करते हुए अंततः मृत्युके पश्चात उन्हें स्वर्ग में सुख की प्राप्ति हो, इत्यादि[8] इन प्रार्थनाओं को स्वीकार करवाने के लिए वे अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उन्हें प्रायः वस्तुओं और कभी-कभी पशुओं की बलि चढ़ाते थे।

सुख की कामना से प्रेरित होकर की गई इस प्रकार की याचनात्मक प्रार्थनाओं तथा देवी-देवताओं की प्रसन्नता के लिए अर्पित बलियों से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि वैदिक-कालीन आर्य उस सन्यासवाद अथवा निवृत्ति-मार्ग में विश्वास नहीं करते थे जो जीवन को क्षणभंगुर तथा नश्वर मान कर उस के समस्त भौतिक सुखों का निषेध करता है और जिसका विकास बाद में उपनिषदों में हुआ। इस सन्यासवाद के विपरीत वे प्रवृत्ति-मार्ग को ही स्वीकार करते थे जिसके अनुसार यह जीवन आनंदमय है और समस्त सांसारिक सुखों की प्राप्ति उचित एवं वांछनीय है। वेदों में इसी प्रवृत्ति-मार्ग की प्रधानता दिखाई देती है। वैदिक-कालीन आर्य इसी जीवन को अधिकाधिक आनंदमय बनाने के लिए प्रयत्नशील थे, अतः वे न तो पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करते थे और न मोक्ष के सिद्धांत को। इन सिद्धांतों का विकास भी वैदिक युग के पश्चात उपनिषदों में ही हुआ। इस प्रकार वेदों में ऋषियों ने जिन धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है वे जगत् और जीवन के प्रति आशावाद से अनुप्राणित हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आदिम धर्म की प्रकृति-पूजा संबंधी महत्त्वपूर्ण विशेषता वैदिक-कालीन धर्म में भी पाई जाती है। आदिकाल के मनुष्यों की भाँति वैदिक युग के आर्य भी सूर्य, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों को सजीव, चैतन्यमयी तथा व्यक्तित्वसम्पन्न मान कर उनकी पूजा करते थे। वे इन प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानते थे और उनसे अपनी रक्षा तथा मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते थे। वेदों में सूर्य, अग्नि वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों को देवताओं के रूप में स्वीकार किया गया है जो इस संसार में सभी प्राणियों को जीवित रखते हैं और उन्हें शक्ति प्रदान करते हैं। इन देवताओं के अतिरिक्त वेदों में इंद्र की भी कल्पना की गई है जो वृष्टि तथा प्रभंजन के देवता हैं और प्रारंभ में आर्यों के सर्वप्रथम देवता माने जाते थे। आर्य जब भारत के मूल निवासियों के साथ संघर्ष कर रहे थे तब उन्हें इस संघर्ष में विजय दिलाने वाले देवता के रूप में इंद्र की कल्पना की गई थी। उदाहरणार्थ ऋग्वेद में यह कहा गया है कि इंद्र के हाथों में 'वज्र' नामक कठोर तथा भयंकर अस्त्र है जिसकी सहायता से वे आर्यों की रक्षा करते हैं और उनके शत्रुओं को नष्ट कर डालते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने इस वज्र द्वारा शत्रुओं के बड़े-बड़े नगरों को भी ध्वस्त कर देते हैं। उन्होंने ही आर्यों के शत्रु वृत्र आदि अनेक दानवों को मार डाला है।[9] वस्तुतः इंद्र की इसी शक्ति के कारण उन्हें समस्त देवताओं का राजा माना जाता था।

---

8. ऋग्वेद, 10, 18.
9. ऋग्वेद, 2, 12. 6, 33, 2.

यहाँ इस रोचक तथा आश्चर्यजनक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि इंद्र के अनेक शत्रुओं में कृष्ण के नाम का भी ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। आज अधिकतर हिंदू कृष्ण को भगवान मानकर उनकी पूजा करते हैं, किंतु वेदों में कृष्ण को देवता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। वास्तव में कृष्ण आर्यों के देवता न होकर भारत के मूल निवासियों की एक जनजाति के कृषि संबंधी देवता थे जिसे आर्यों ने युद्ध में परास्त किया था। इसी कारण कृष्ण तथा आर्यों के देवता इंद्र एक-दूसरे के शत्रु माने जाते थे। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए डा० राधाकृष्णन कहते हैं कि : "ऋग्वेद-काल में इंद्र का एक अन्य शत्रु कृष्ण था जो एक जनजाति का देवता था।....... "परवर्ती" पुराणों में इंद्र तथा कृष्ण के पारस्परिक विरोध का उल्लेख मिलता है। यह संभव है कि कृष्ण खेती करने वाली एक जनजाति का देवता था जिस पर इंद्र ने ऋग्वेद-काल में विजय प्राप्त की थी"।[10] इस प्रकार कृष्ण–जिन्हें आज अधिकतर हिंदू भगवान मान कर पूजते हैं–वस्तुतः मूल रूप में अनार्यों के ही देवता थे, किंतु कालांतर में आर्यों ने भी उन्हें देवता के रूप में स्वीकार कर लिया। महाभारत-काल में-जब कृष्णार्जुन-संवाद के रूप में भगवद्गीता की रचना हुई–कृष्ण का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था, अतः उन्हें और इंद्र को समान रूप से उपास्य देवता मान लिया गया। इंद्र की पूजा का एक अन्य कारण यह भी था कि वे वर्षा के देवता माने जाते थे और आर्यों की सभ्यता तथा समृद्धि पूर्णतः कृषि पर ही निर्भर थी जो उस युग में सामयिक एवं उचित वर्षा के बिना संभव नहीं थी। भारत में आज भी कृषि मुख्यतः वर्षा पर ही निर्भर है और इसी कारण वर्षा के देवता के रूप में इंद्र की अब भी भारतीय कृषकों द्वारा पूजा की जाती है।

वैदिक-कालीन आर्य इंद्र के अतिरिक्त सूर्य को भी देवता मान कर उसकी पूजा करते थे। सूर्य की स्तुति के लिए वेदों में अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं। वैदिक-कालीन ऋषि इस तथ्य से भलीभाँति अवगत थे कि इस पृथ्वी पर समस्त प्राणियों तथा वनस्पतियों का जीवन अंततः सूर्य की ऊर्जा पर ही निर्भर है, अतः संपूर्ण संसार को जीवन-प्रदान करने वाले देवता के रूप में वे उसकी पूजा करते थे। सूर्य की स्तुति करते हुए ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि प्रकाश के मूल स्रोत के रूप में सूर्य ही इस संसार का सृजन करता है और वही इसका शासक है।[11] इसी प्रकार ऋग्वेद में 'सवितृ' नामक जिस देवता की स्तुति की गई है वह भी वास्तव में सूर्य का ही रूप है। सवितृ को स्वर्णिम नेत्रों, स्वर्णिम जिह्वा तथा स्वर्णिम हाथों वाला देवता बताया गया है। वह उस मनुष्य के पापों को क्षमा कर देता है जो उनके लिए उससे क्षमा की प्रार्थना करता है। ऐसी ही एक प्रार्थना का उदाहरण निम्नलिखित है : "हे सवितृ, हम ने अपनी दुर्बलता या अपने अज्ञान, अभिमान अथवा मानव-स्वभाव के कारण देवताओं के विरुद्ध जो अपराध किया हो उसे तुम स्वयं अपने ऊपर ले लो"।[12] सवितृ के अतिरिक्त 'पूषा' नामक जिस अन्य देवता की स्तुति ऋग्वेद में की गई है वह भी वस्तुतः सूर्य का रूप

---

10. डॉ० एस० राधाकृष्णन, 'इंडियन फ़िलॉसॉफ़ी', खंड 1, पृ० 87.
11. ऋग्वेद, 7. 60.
12. ऋग्वेद, 4. 54. 3.

है। उसे कृषि के संरक्षक तथा पशुओं को बलवान बनाने वाले देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो मनुष्य का मित्र है और उसका कल्याण चाहता है। ऋग्वेद की भाँति अन्य वेदों में भी किसी-न-किसी रूप में सूर्य की स्तुति से संबंधित अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदों में सूर्य का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। और अनेक रूपों में उसकी पूजा की गई है।

सूर्य के समान ही अग्नि भी प्रकाश तथा ऊर्जा का स्रोत है, अतः वैदिक-कालीन आर्य उसे भी देवता मानते थे और उसकी पूजा करते थे। वे अपने जीवन में सुख और समृद्धि प्राप्त करने के लिए यज्ञों को अत्यधिक महत्त्व देते थे जिन्हें केवल अग्नि की सहायता से ही संपन्न किया जा सकता है। इसी कारण अग्नि को मानव-जीवन का संरक्षक मान कर वेदों में बार-बार उसकी स्तुति की गई है। वस्तुतः वैदिक आर्य इंद्र के पश्चात अग्नि को ही सर्वाधिक महत्त्व देते थे। उसकी स्तुति के लिए वेदों में लगभग दो सौ मंत्र उपलब्ध होते हैं और इतने अधिक मंत्रों की रचना इंद्र के अतिरिक्त अन्य किसी देवता की स्तुति के लिए नहीं की गई है। लकड़ी तथा घी को अग्नि का भोजन बताया गया है और यह कहा गया है कि वह सूर्य की भाँति अपने प्रकाश द्वारा अंधकार को नष्ट कर देता है। वह मनुष्यों तथा देवताओं के बीच मध्यस्थ का कार्य करके सभी की सहायता करता है। अग्नि की स्तुति करते हुए वैदिक ऋषि कहता है कि: "मैं अग्नि को अपना पिता मानता हूँ। मैं उसे अपना संबंधी, भाई तथा मित्र भी मानता हूँ"।[13] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वैदिक आर्य सूर्य की भाँति अग्नि को भी मानव-जीवन के लिए अनिवार्य मान कर देवता के रूप में उसकी पूजा करते थे।

इसी प्रकार एक अन्य प्राकृतिक शक्ति मारुत अथवा वायु की स्तुति के लिए भी वेदों में अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं। मारुत को इंद्र का सखा मान कर उसकी स्तुति की गई है, क्योंकि वह भी वर्षा में सहायक होता है।

इंद्र, सूर्य, अग्नि तथा मारुत के अतिरिक्त वैदिक-कालीन आर्यों ने जिन अन्य देवताओं की कल्पना की थी उन में वरुण और मित्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों आकाश के देवता हैं और इनकी स्तुति प्रायः एक साथ ही की गई है। इन्हें 'आदित्य' भी कहा गया है, क्योंकि ये दोनों 'अदिति' नामक देवी के पुत्र हैं। वरुण संपूर्ण आकाश को आच्छादित करने वाला देवता है और मित्र भी सदा उसके साथ ही रहता है। वरुण तथा मित्र क्रमशः रात और दिन, अंधकार एवं प्रकाश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वरुण को 'धृतव्रत'—अर्थात् नियमों को धारण करने वाला, सर्वत्र दृष्टि रखने वाला, शुभ कर्म उत्पन्न करने वाला तथा संपूर्ण जगत् पर शासन करने वाला बताया गया है। उसी के आदेश से सूर्य चमकता है, चंद्रमा तथा तारे अपने-अपने पथ का अनुसरण करते हैं और नदियाँ बहती हैं। पृथ्वी और आकाश भी उसी के नियम के कारण एक-दूसरे से अलग हैं।[14] परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वरुण केवल प्राकृतिक जगत् पर शासन करने वाला देवता ही नहीं है, वह संपूर्ण नैतिकता और विश्व-व्यवस्था का संरक्षक भी है। वह शुभ कर्म करने वालों को

---

13. ऋग्वेद, 10, 7, 3.
14. ऋग्वेद, 1, 25. 2, 28, 4, 7, 87, 5.

पुरस्कार तथा अशुभ कर्म करने वालों को दंड देता है। वह दयालु भी है और उन व्यक्तियों के पापों को क्षमा कर देता है जो उससे अपने पापों के लिए क्षमा की प्रार्थना करते हैं। उसी ने विश्व में सर्वत्र नैतिक नियम की स्थापना की है जिसका वह अनिवार्यतः पालन करता है। अपने पापों के लिए पश्चाताप तथा प्रायश्चित करने वाले मनुष्यों पर वह दया करता है और उन्हें क्षमा कर देता है।[15] इसी कारण वरुण ही स्तुति में जो मंत्र कहे गए हैं उनमें उससे पापों को क्षमा करने की प्रार्थना भी की गई है। इससे स्पष्ट है कि वरुण को नैतिकता का संरक्षक माना गया है। इसके अतिरिक्त वरुण ही संपूर्ण विश्व में व्यवस्था भी स्थापित करता है। जिस नियम के आधार पर वह इस व्यवस्था की स्थापना करता है उसे वेदों में 'ऋत' कहा गया है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं, यह ऋत ही संपूर्ण ब्रह्मांड की व्यवस्था का मूल तत्त्व है जिसके कारण इसमें सदैव नियम का शासन बना रहता है।[16] ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व में दिन, रात, ऋतुओं, सूर्य, चंद्र तारागण आदि की नियमित व्यवस्था को देखकर ही वैदिक ऋषियों ने ऋत के इस विचार की कल्पना की होगी। बाद में यह ऋत धर्म और नैतिकता का मूल नियम माना जाने लगा। वेदों में इसी ऋत के संरक्षक के रूप में वरुण और मित्र दोनों की महिमा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार जगत् में व्यवस्था एवं नियम के शासन की स्थापना की दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने वरुण तथा मित्र को विशेष महत्त्व दिया है और इनकी स्तुति के लिए अनेक मंत्रों की रचना की है। इतना ही नहीं, कुछ मंत्रों में तो वरुण को सर्वोच्च देवता मानकर उसकी स्तुति की गई है।

वैदिक ऋषियों ने उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त कुछ देवियों की भी कल्पना की थी जिनकी वे इन देवताओं के साथ-साथ पूजा करते थे। इन देवियों में उषा, सरस्वती, वाक् तथा अदिति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उषा प्रभात का प्रतिनिधित्व करती है और अत्यंत रूपवती देवी के रूप में उसकी स्तुति की गई है। सरस्वती पहले एक प्राचीन नदी का नाम था, किंतु बाद में उसे ज्ञान की देवी के रूप में स्वीकार कर लिया गया और इसी रूप में उसकी पूजा की जाने लगी। आज भी भारत में ज्ञान की देवी के रूप में ही सरस्वती की उपासना की जाती है। इसी प्रकार वाक् वाणी की देवी मानी जाती है जिसका सरस्वती के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। 'अदिति' का शाब्दिक अर्थ है 'सीमा रहित', अतः यह देवी निस्सीम आकाश का प्रतिनिधित्व करती है। वरुण तथा मित्र जैसे महान देवता इसी अदिति के पुत्र बताए गए हैं।

वेदों में देवी-देवताओं की पूजा के साथ-साथ पितरों के रूप में पूर्वजों की पूजा का भी उल्लेख मिलता है। कुछ मंत्रों में देवताओं तथा पितरों की एक ही साथ स्तुति की गई है। वैदिक आर्य यह मानते थे कि उनके पूर्वज यज्ञों में उनकी पूजा तथा भेंट स्वीकार करने के लिए अदृश्य आत्माओं के रूप में उपस्थित होते हैं, अतः वे देवताओं के साथ ही उनकी भी स्तुति करते थे।[17] इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने पितरों की पूजा के माध्यम से सामाजिक

---

15. ऋग्वेद, 8, 87, 7.
16. ऋग्वेद, 4, 23, 9.
17. ऋग्वेद, 10. 15. 54.

परंपरा के प्रति सम्मान अभिव्यक्त करने का एक प्रभावशाली मार्ग ढूँढ निकाला था। इसके अतिरिक्त पितरों की पूजा से यह भी स्पष्ट है कि वैदिक-काल में ही आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास को स्वीकार किया जाने लगा था। वेदों में उपलब्ध अनेक मंत्रों से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि शरीर से भिन्न तथा स्वतंत्र आत्मा की सत्ता और अमरता में विश्वास करते थे। वे यह मानते थे कि मृत्यु के फलस्वरूप केवल शरीर का ही अंत होता है, आत्मा का नहीं। शरीर छोड़कर आत्मा एक विशेष लोक में चली जाती है जिसे वे 'यम-लोक' कहते थे, क्योंकि इस लोक में 'यम' नामक देवता का शासन है। उनका विश्वास था कि सभी आत्माएँ इसी यम-लोक में अनंत काल तक निवास करती हैं, अतः वे मृत्यु के पश्चात इस लोक में अपने पूर्वजों से मिलने की आशा तथा कामना करते थे।[18] उस समय यम-लोक की कल्पना भयंकर कष्ट देने वाले नरक के रूप में नहीं की गई थी। वैदिक आर्य इसे ही स्वर्ग मानते थे जहाँ उनके पूर्वज निवास करते थे। इस स्वर्ग में वे अत्यधिक मात्रा में उन सभी सुखों के प्राप्त होने की कल्पना करते थे जो हमें इस संसार में सामान्यतः उपलब्ध होते हैं।[19] जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, वैदिक-कालीन आर्यों का जीवन सुख, समृद्धि तथा आशावाद से परिपूर्ण था; यही कारण है कि उस समय अनंत काल तक आत्मा को भयंकर कष्ट देने वाले नरक के विचार का उदय नहीं हुआ था जो हमें परवर्ती पुराणों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वेदों में मूर्ति-पूजा का भी उल्लेख नहीं मिलता जिससे यही प्रमाणित होता है कि वैदिक-काल में मूर्ति-पूजा का प्रचलन नहीं था। वस्तुतः वैदिक ऋषि अपने देवताओं की उपासना के लिए मूर्ति जैसे किसी बाह्य साधन की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते थे।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर वैदिक-कालीन धर्म की व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन ने लिखा है कि—"वैदिक धर्म मूर्ति-पूजक धर्म प्रतीत नहीं होता। देवताओं के लिए तब मंदिर नहीं होते थे। मनुष्य देवताओं के साथ बिना किसी माध्यम के प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करते थे। देवता अपने उपासकों के मित्र समझे जाते थे। ...मनुष्यों तथा देवताओं में बहुत घनिष्ठ व्यक्तिगत संबंध होता था। धर्म का संपूर्ण जीवन पर शासन होता था। मनुष्य ईश्वर पर पूर्णतः निर्भर था। लोग जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के लिए भी प्रार्थना करते थे"[20] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वैदिक धर्म संसार के प्रति विरक्ति अथवा उदासीनता की शिक्षा देने के स्थान पर मानव-जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को समुचित महत्त्व देता था। वस्तुतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही उस समय यज्ञ किए जाते थे और देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से कभी-कभी पशुओं की बलि भी दी जाती थी। यह माना जाता था कि देवताओं को भेंट की गई वस्तुएँ अग्नि के माध्यम से उन तक पहुँच जाती हैं। इसी कारण यज्ञ और हवन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। अधिकतर वैदिक ऋषि यज्ञ एवं हवन द्वारा ही देवताओं की पूजा करते थे और पशु-बलि को

---

18. ऋग्वेद, 7, 56, 24.
19. ऋग्वेद, 1, 25, 6.
20. डॉ० एस० राधाकृष्णन, 'इंडियन फ़िलॉसॉफ़ी', खंड 1, पृ० 108.

अनुचित तथा निंदनीय मानते थे। उदाहरणार्थ सामवेद में यह कहा गया है कि: हे देवताओं, हम यज्ञों में किसी पशु की हत्या नहीं करते; हम केवल पुनीत मंत्रों द्वारा ही पूजा करते हैं"[21] इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में ही पशु-बलि का विरोध होने लगा था जो कालांतर में उपनिषदों, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म में अत्यधिक प्रबल हो गया। पशु-बलि के समान ही जादू-टोनों को भी वैदिक ऋषि उचित एवं वांछनीय नहीं मानते थे। यह सत्य है कि इस देश के मूल निवासियों के रीति-रिवाजों तथा अंधविश्वासों से प्रभावित होकर वैदिक काल में कुछ लोग जादू-टोनों में विश्वास करने लगे थे, किंतु वैदिक ऋषियों ने इस प्रकार के अंधविश्वासों को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया। अथर्ववेद में जादू-टोनों का उल्लेख अवश्य मिलता है, परंतु इन्हें धर्म तथा उपासना के लिए वांछनीय नहीं समझा जाता था।

वैदिक धर्म की विवेचना करते हुए अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक शक्तियों की पूजा, बहुदेववाद, पितरों या पूर्वजों की पूजा, आत्मा की अमरता आदि इस धर्म की प्रमुख विशेषताएँ थीं जो जनजातीय आदिम धर्म मे भी पाई जाती हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि वैदिक धर्म आदिम धर्म से मूलतः भिन्न न होकर वस्तुतः उसी का विकसित रूप था। यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि विकास-क्रम की दृष्टि से आदिम धर्म तथा वैदिक धर्म में अनिवार्य और घनिष्ठ संबंध स्पष्टतः देखा जा सकता है। परंतु इस के साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक धर्म आदिम धर्म की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा परिष्कृत था। इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि वैदिक काल में एकेश्वरवाद तथा एकतत्त्ववाद इन दोनों दार्शनिक सिद्धांतों का उदय हो चुका था जो हमें आदिम धर्म में उपलब्ध नहीं होते। वैदिक धर्म के प्रारंभिक काल में इंद्र, सूर्य, अग्नि, वरुण, मित्र आदि अनेक देवताओं की पूजा की जाती थी, परंतु कालांतर में धीरे-धीरे एक ही सर्वोच्च देवता की पूजा की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। यह सर्वोच्च देवता कौन हो—इस प्रश्न के संबंध में अवश्य ही वैदिक ऋषियों में मतभेद था। इसी कारण वेदों में विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न देवताओं को सर्वोच्च देवता के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, सर्वप्रथम इंद्र को सर्वोच्च देवता मानकर उसकी पूजा की जाती थी। परंतु बाद में वरुण को इस उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। उसे संपूर्ण संसार तथा सभी देवताओं का शासक मान लिया गया और उसमें शक्ति के साथ-साथ न्याय, परोपकार, दयालुता आदि नैतिक सद्गुणों को भी आरोपित किया गया। वरुण की यह अवधारणा एकेश्वरवाद के अधिक निकट प्रतीत होती है। परंतु इंद्र तथा वरुण के अतिरिक्त ऋग्वेद में अग्नि, वृहस्पति और प्रजापति को भी सर्वोच्च देवता मानने का उल्लेख मिलता है।[22] यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इतने सारे देवता एक ही साथ सर्वोच्च कैसे हो सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में संभवतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि एकेश्वरवाद के प्रतिपादन तथा विकास के लिए प्रयत्नशील अवश्य थे, किंतु वेदों में हमें एकेश्वरवाद का वह रूप प्राप्त नहीं होता जो कुछ आधुनिक विकसित धर्मों में पाया जाता है। आदिम धर्म की

---

21. सामवेद, 1. 2. 9.

भाँति वैदिक धर्म में भी ऐसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अत्यंत दयालु, सर्वव्यापक, पूर्ण, असीम तथा शाश्वत ईश्वर की अवधारणा का विकास नहीं हो सका था जो संपूर्ण ब्रह्मांड का रचियता है और जो मनुष्य की पूजा या उपासना का विषय है। वेदों में इस प्रकार के ईश्वर की अवधारणा का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। स्पष्ट है कि ऐसे ईश्वर की अवधारणा का विकास बाद में हुआ जिसे एकेश्वरवाद का मूल आधार माना जाता है। परंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वैदिक काल में ही एकेश्वरवाद के विकास के लिए प्रयास आरंभ हो गया था।

इसी प्रकार वैदिक ऋषियों ने 'एकतत्त्ववाद' नामक दार्शनिक सिद्धांत का भी प्रतिपादन किया था जिसके अनुसार संपूर्ण ब्रह्मांड के मूल में केवल एक ही तत्त्व या सत्ता विद्यमान है। इस सिद्धांत की विवेचना ऋग्वेद के पुरुष सूक्त, अदिति-सूक्त या नासदीय सूक्त में की गई है। ब्रह्मांड के परम तत्त्व के लिए वैदिक ऋषियों ने 'सत्' और 'तत्' शब्दों का प्रयोग किया है। उनका कथन है कि यह 'सत्' एक तथा अद्वितीय है और यही जगत् का आधारभूत कारण है। इसीसे समस्त प्राणियों, वनस्पतियों तथा भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। सभी देवता इसी परम तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। वास्तव में यह परम तत्त्व एक ही है, किंतु विद्वान लोग इसे 'अग्नि', 'यम', 'मात्रिश्वा' आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।[23] यही परम तत्त्व विश्व का मूल आधार है, परंतु इसके स्वरूप का वर्णन करना असंभव है। नासदीय सूक्त में इस परम तत्त्व के अतिरिक्त विश्व की उत्पत्ति से संबंधित दार्शनिक प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। इस जगत् की उत्पत्ति कहाँ से हुई है? इसके मूल में कौन-सा तत्त्व विद्यमान है? सर्वप्रथम कौन-सी वस्तु उत्पन्न हुई? आदि प्रश्न इसी सूक्त में उठाए गए हैं जो आज भी दर्शन के मूल प्रश्न माने जाते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त में कुछ और प्रश्न भी उठाए गए हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस काल में वैदिक ऋषि जगत् की विभिन्न वस्तुओं के स्वरूप को समझने का प्रयास कर रहे थे। ये प्रश्न इस प्रकार हैं—रात को सूर्य कहाँ चला जाता है? दिन को तारे कहाँ चले जाते हैं? सूर्य नीचे क्यों नहीं गिरता? रात तथा दिन में से कौन पहले आता है और कौन बाद में? हवा कहाँ से आती है और कहाँ चली जाती है [24] यह समझना कठिन नहीं है कि इसी प्रकार के प्रश्नों से दर्शन तथा विज्ञान दोनों का जन्म हुआ है और इस तथ्य का उल्लेख हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। उपर्युक्त सभी प्रश्नों से यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि धर्म के साथ-साथ दर्शन-विषयक गंभीर चिंतन भी करने लगे थे और उनके मन में उस जिज्ञासा का जन्म हो चुका था जो दर्शन तथा विज्ञान की जननी है। इसी कारण अधिकतर विद्वान वेदों को ही संपूर्ण भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत मानते हैं तथा वेदों में उपलब्ध गंभीर एवं व्यापक चिंतन को ध्यान में रखते हुए इस मत को युक्तिसंगत माना जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वेद किसी एक युग विशेष अथवा किसी व्यक्ति विशेष की रचनाएँ नहीं हैं। भिन्न-भिन्न कालों में विभिन्न ऋषियों द्वारा वेदों की रचना की गई थी; यही कारण है कि इनमें विभिन्न विचारधाराएँ ही नहीं, परस्पर विरोधी विचारधाराएँ भी

23. ऋग्वेद, 1. 164. 46.
24. ऋग्वेद, 1. 24. 185

पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ वेदों में जहाँ एक ओर प्रकृति-पूजा तथा पूर्वज-पूजा संबंधी आदिम धर्म की विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं, वहीं दूसरी ओर उनमें दार्शनिक प्रश्नों से संबंधित गंभीर चिंतन भी प्राप्त होता है। इस प्रकार वेदों में मनुष्य की धार्मिक चेतना के विकास का एक ऐसा क्रम देखा जा सकता है जो निरंतर वैचारिक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होता रहा है। वैदिक धर्म के इस विकास-क्रम में निम्नलिखित सोपान स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं– (1) प्रथम सोपान में सूर्य, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उनकी पूजा की जाती है। ये सभी देवता चेतनापूर्ण तथा व्यक्तित्वसंपन्न हैं, किंतु इनमें न्याय, दयालुता, परोपकार आदि नैतिक गुणों के अस्तित्व की कल्पना नहीं की गई है। इस दृष्टि से वैदिक धर्म की यह प्रकृति-पूजा आदिम धर्म की प्रकृति-पूजा के समान ही है। इसी प्रकृति-पूजा में इंद्र की पूजा भी सम्मिलित है जो आर्यों के संरक्षक तथा उनके शत्रुओं का नाश करने वाले देवता माने गए हैं। (2) दूसरे सोपान में वरुण, मित्र, सवितृ आदि ऐसे देवताओं की पूजा की जाती है जिनमें समस्त नैतिक सद्गुणों के विद्यमान होने की कल्पना की गई है। ये देवता पश्चाताप तथा प्रायश्चित करने वाले मनुष्यों के पापों को क्षमा करते हैं और उन्हें सन्मार्ग की ओर अग्रसर करते हैं। इसी कारण इन देवताओं से यह प्रार्थना की गई है कि वे मनुष्यों को अच्छे कर्म करने के लिए प्रेरित करें। इन देवताओं का यह नैतिक पक्ष इन्हें प्रथम प्रकार के देवताओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट बनाता है। (3) विकास के तीसरे सोपान में बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद की प्राक्कल्पना का उदय होता है। इस प्राक्कल्पना के अनुसार किसी एक देवता को सर्वोच्च मानकर उसकी पूजा की जाती है और अन्य सभी देवताओं को उसके अधीन समझा जाता है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, वैदिक ऋषि इस प्रकार के एकेश्वरवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। (4) विकास के अंतिम और सर्वोच्च सोपान में इस एकेश्वरवाद के स्थान पर एकतत्त्ववाद के प्रतिपादन का प्रयास दिखाई देता है। इसमें वैदिक ऋषि संपूर्ण ब्रह्मांड के आधारभूत कारण के रूप में किसी एक तत्त्व या सत्ता की कल्पना करते हैं। इसे ही वे 'सत्' की संज्ञा देते हैं जो जगत् की एकमात्र यथार्थ सत्ता है। वैदिक काल के इसी एकतत्त्ववाद का उपनिषदों में 'ब्रह्म' के विचार के रूप में पूर्ण विकास हुआ है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि भारतीय धर्म तथा दर्शन के आधारभूत सिद्धांत बीज रूप में वेदों में ही उपलब्ध होते हैं जिसके कारण उन्हें संपूर्ण भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत माना जाता है।

6. राष्ट्रीय तथा विश्वव्यापी धर्मों का विकास

अभी तक हमने धर्म के उद्गम तथा विकास के मूल कारणों, आदिम धर्म के कुछ प्रमुख रूपों और वैदिक धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का विवेचन किया है। अब संक्षेप में धर्म की परिधि के क्रमिक विस्तार और उसके मुख्य कारणों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। आज हम विश्व के जिन प्रमुख धर्मों–हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम आदि–से परिचित हैं उनके विकास का एक लम्बा इतिहास है। यहाँ हम इन धर्मों के इतिहास पर नहीं, अपितु उनके उदय और विकास के कुछ मूल कारणों पर ही विचार करेंगे।

हम देख चुके हैं कि आदिम धर्म का उदय जनजातीय समाज में हुआ था जो छोटी-छोटी जनजातियों में विभाजित था। ये जनजातियाँ स्थायी रूप से किसी एक स्थान पर न रहकर भोजन के लिए आखेट की खोज में इधर-उधर घूमती रहती थीं। परिणामतः उस समय किसी भी जनजाति के निवास का कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता था। इसके अतिरिक्त संचार तथा संपर्क के साधनों की कमी के कारण जनजातियों में पारस्परिक संपर्क भी बहुत सीमित था। ऐसी स्थिति में इस जनजातीय समाज में आदिम धर्म के जिन रूपों का उदय तथा विकास हुआ वे भी अत्यंत सीमित और केवल स्थानीय ही थे। विभिन्न जनजातियों के देवता भिन्न-भिन्न थे और प्रत्येक देवता के उपासकों की संख्या भी बहुत सीमित थी। तब तक मानव-समाज में राज्य, देश या राष्ट्र की अवधारणा का उदय नहीं हो सका था, अतः तत्कालीन आदिम धर्म की परिधि भी अधिक विस्तृत नहीं थी। परंतु कुछ अनिवार्य परिस्थितियों के फलस्वरूप कालांतर में धीरे-धीरे मनुष्य के सामाजिक संगठन का विस्तार होने लगा जिसने धर्म के विकास को भी प्रभावित किया। जैसा कि हम इस अध्याय के प्रथम खंड में बता चुके हैं, आदिकालीन जनजातियों में परस्पर सतत संघर्ष होता रहता था और प्रत्येक जनजाति अपने शत्रुओं के आक्रमण से निरंतर भयभीत रहती थी। इस भय के कारण कई बार एक ही भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाली अनेक जनजातियाँ परस्पर संगठित होकर शत्रु के आक्रमण का सामना करती थीं जिससे उनमें एकता की भावना उत्पन्न हो जाती थी। अपने शत्रु को परास्त करने के बाद भी भावी आक्रमण से बचने के लिए उनमें एकता की यह भावना बनी रहती थी। इस प्रकार शत्रु द्वारा आक्रमण के भय से उत्पन्न इसी एकता की भावना के कारण धीरे-धीरे कुछ जनजातियाँ एक वृहत् मानव-समुदाय के रूप में संगठित होने लगीं जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती थीं। यही देश या राष्ट्र के विकास का प्रारंभिक चरण था।

शत्रु के आक्रमण से रक्षा के लिए संगठन के अतिरिक्त एक अन्य कारण ने भी राष्ट्र के उदय में योगदान किया और वह कारण था युद्ध में किसी एक शक्तिशाली जनजाति की विजय। कभी-कभी एक बलवान जनजाति आस-पास रहने वाली जनजातियों को युद्ध में पराजित करके उन्हें अपने अधीन बना लेती थी और उन पर अपना शासन स्थापित कर लेती थी। सभी पराजित जनजातियों को इस विजेता जनजाति के समस्त रीति-रिवाज़ों, धार्मिक विश्वासों, पूजा-पद्धति और देवी-देवताओं को स्वीकार करना पड़ता था। प्रारंभ में वे बाध्य होकर ही ऐसा करती थीं, किंतु कालांतर में धीरे-धीरे वे स्वेच्छया इन रीति-रिवाज़ों, धार्मिक विश्वासों, पूजा-पद्धति तथा देवी-देवताओं को अपना मान लेती थीं। इस प्रकार इन जनजातियों पर शासन करने वाली विजेता जनजाति के भौगोलिक क्षेत्र का विस्तार हो जाता था जिसमें ये सभी जनजातियाँ एक साथ मिल कर रहती थीं। समय व्यतीत होने के साथ-साथ इस क्षेत्र में रहने वाली इन सभी जनजातियों में स्वभावतः एकता की भावना उत्पन्न हो जाती थी जो उन्हें परस्पर निरंतर संगठित रखती थी। यह समझना कठिन नहीं है कि एक ही निश्चित भौगौलिक क्षेत्र में निवास करने वाली ये संगठित जनजातियाँ अंत में एक देश या राष्ट्र का रूप ग्रहण कर लेती थीं। इस राष्ट्र में एक ही शासन-पद्धति और समान सामाजिक रीति-रिवाजों के साथ-साथ प्रायः एक धर्म को स्वीकार

किया जाता था। ये सभी तत्त्व इस राष्ट्र में रहने वाली विभिन्न जनजातियों के सदस्यों में सामाजिक संगठन और एकता बनाए रखते थे। इस प्रकार बहुत दीर्घ काल में उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप विश्व में अनेक राष्ट्रों का जन्म हुआ और इन राष्ट्रों के साथ ही राष्ट्रीय धर्मों का भी उदय हुआ जो आदिम धर्म से पर्याप्त सीमा तक भिन्न थे। अब हम संक्षेप में इन राष्ट्रीय धर्मों की कुछ प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे।

राष्ट्रीय धर्मों की प्रथम मुख्य विशेषता यह थी कि इनका क्षेत्र आदिम धर्म के क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत था। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, प्रत्येक राष्ट्र में अनेक जनजातियाँ एक ही साथ मिलकर रहती थीं, अतः उसके भौगोलिक क्षेत्र की परिधि भी अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होती थी। स्पष्ट है कि राष्ट्र का आकार आदिकालीन जनजाति के आकार की अपेक्षा अधिक विशाल था। ऐसी स्थिति में जीवन और जगत् के प्रति जनजाति के सदस्यों के दृष्टिकोण की अपेक्षा इस बडे राष्ट्र के निवासियों के दृष्टिकोण का अधिक व्यापक होना स्वाभाविक ही था। उनके दृष्टिकोण की इस व्यापकता का राष्ट्रीय धर्मों के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ये धर्म मानव-जीवन की समस्याओं पर आदिम धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करते थे और इनके अनुयायियों की संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक थी। इसके अतिरिक्त इन धर्मों के माध्यम से नवीन राष्ट्रीय व्यापक मूल्यों तथा लक्ष्यों की अभिव्यक्ति हो सकती थी जो सीमित जनजातीय आदिम धर्म में संभव नहीं थी। इन राष्ट्रीय धर्मों में जिन देवताओं की कल्पना की गई उनके कार्य-क्षेत्र में विस्तार हुआ और उनके उपासकों की संख्या में भी वृद्धि हुई। इन देवताओं की उपासना किसी जनजाति विशेष के सदस्यों तक ही सीमित नहीं रही, क्योंकि राष्ट्र के सभी निवासी इनकी पूजा कर सकते थे। पिछले खंड में जिन वैदिक देवताओं का उल्लेख किया गया है वे सभी इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

राष्ट्रीय धर्मों की दूसरी प्रमुख विशेषता थी उनके देवताओं में शक्ति के साथ-साथ नैतिक गुणों को भी आरोपित करना। आदिम धर्म में जिन देवताओं की कल्पना की गई थी उनकी पूजा केवल उनकी शक्ति के कारण ही की जाती थी। परंतु राष्ट्रीय धर्मों के देवता शक्तिशाली होने के साथ-साथ नैतिक दृष्टि से भी महान माने जाते हैं और उनकी यह नैतिक उत्कृष्टता भी उनकी उपासना का एक महत्त्वपूर्ण कारण माना जाता था। इन देवताओं के उपासक इनमें न्याय, उदारता, दयालुता आदि नैतिक गुणों के विद्यमान होने की कल्पना करते थे और इसी कारण वे इन्हें समस्त नैतिक मूल्यों के संरक्षक मानते थे। ये उपासक इन देवताओं से प्रार्थना करते थे कि वे उनके पापों को क्षमा करें और उन्हें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। उदाहरणार्थ वैदिक देवता वरुण को नैतिक गुणों से परिपूर्ण इसी प्रकार का देवता माना गया है जिसकी चर्चा हम पिछले खंड में कर चुके हैं। उसे ही विश्व में विद्यमान संपूर्ण नैतिक व्यवस्था का मूल आधार बताया गया है और इसी रूप में उसकी उपासना की गई है। यूनानी देवता ऐपोलो के विषय में भी प्राचीन यूनानियों की ऐसी ही मान्यता थी। इस प्रकार राष्ट्रीय धर्मों के देवताओं की यह नैतिक उत्कृष्टता उन्हें आदिम धर्म के देवताओं से पृथक करती है जो प्राकृतिक शक्तियों से संबंधित होने के कारण केवल शक्तिशाली ही माने जाते थे।

राष्ट्रीय धर्मों की तीसरी मुख्य विशेषता यह थी कि इनमें विभिन्न क्षेत्रों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं को स्वीकार किया गया और कुछ ऐसे नए देवताओं की भी कल्पना की गई जो आदिम धर्म में नहीं पाए जाते थे। राष्ट्रों के उदय के साथ-साथ मनुष्यों ने खेती करना भी सीख लिया था, अतः अब उन्हें भोजन के लिए आखेट की खोज में इधर-उधर घूमना नहीं पड़ता था। वे वृहत् समुदाय के रूप में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में स्थायी रूप से बस गए थे और कृषि के विकास के कारण मानव-समाज में अनेक नए व्यवसायों का भी उदय हो गया था। कुछ व्यक्ति खेती करते थे और कुछ अन्य व्यक्ति प्रशासन का कार्य करते थे। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति खेती के लिए औज़ार बनाते थे, कुछ व्यक्ति बच्चों को पढ़ाते थे और कुछ अन्य व्यक्ति राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध करते थे। मानव-समाज में इन भिन्न-भिन्न व्यवसायों के विकास का धर्म के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। विभिन्न व्यवसायों को समुचित रूप से संपन्न करने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की गई और इनमें सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से मनुष्य उनकी पूजा करने लगे। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि इंद्र को वर्षा का देवता माना जाता था जबकि सरस्वती को ज्ञान की देवी के रूप में स्वीकार किया जाता था और इन्हीं रूपों में इन दोनों की उपासना की जाती थी। इसी प्रकार यूनान में ऐपोलो को प्रारंभ में कृषि का देवता मानकर उसकी पूजा की जाती थी, किंतु बाद में उसे संगीत और कला का देवता भी मान लिया गया। प्राचीन रोम में भी मंगल को पहले कृषि और पशुओं के संरक्षण का देवता माना जाता था, परंतु कालांतर में जब रोमवासियों के लिए युद्ध का महत्त्व बहुत बढ़ गया तो उसे युद्ध का देवता माना जाने लगा। रोम के साहित्य में मंगल का चित्रण मुख्यतः युद्ध के देवता के रूप में किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय धर्मों के विकास के प्रारंभिक चरण में बहुदेववाद को ही स्वीकार किया जाता था।

राष्ट्रीय धर्मों की चौथी प्रमुख विशेषता थी उनमें एकेश्वरवाद का विकास। राष्ट्रों के विस्तार के साथ-साथ उनके सामाजिक संगठन में एक राजा के शासन का भी विकास होने लगा था जो सर्वोच्च शासक माना जाता था। इस एकतंत्रीय शासन-पद्धति ने राष्ट्रीय धर्मों के स्वरूप को भी प्रभावित किया। इसके प्रभाव के फलस्वरूप इन धर्मों में भी धीरे-धीरे बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद को स्वीकार किया जाने लगा। प्रत्येक राष्ट्रीय धर्म में राजा के समान ही एक सर्वोच्च देवता की कल्पना की गई जो अन्य सभी देवताओं का शासक समझा जाता था। यह सर्वोच्च देवता ही अन्य सभी देवताओं के कार्यों में समन्वय स्थापित करता था, अतः इसकी स्थिति राष्ट्रीय समाज में राजा की स्थिति के समान ही होती थी। इस एकेश्वरवाद का विकास अनेक राष्ट्रीय धर्मों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वैदिक धर्म में एकेश्वरवाद के विकास का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं जिसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है। वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन यहूदी धर्म में भी एकेश्वरवाद को स्वीकार किया गया था जिसके अनुसार यहूदी देवता 'याहवे' ही संपूर्ण ब्रह्मांड का एकमात्र सर्वोच्च शासक है। इसी प्रकार मिस्र के प्राचीन धर्म में भी एक ही देवता को इस जगत् का सर्वोच्च शासक माना जाता था और अन्य सभी देवता उसी के अधीन समझे जाते थे। इन तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अनेक राष्ट्रों की एकतंत्रीय शासन-पद्धति ने उनके धर्मों में भी एकेश्वरवाद को जन्म दिया जो उनमें आज भी विद्यमान है।

ऊपर हमने राष्ट्रीय धर्मों की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है वे उन सभी धर्मों में पाई जाती थीं जिनका उदय और विकास बहुत से प्राचीन राष्ट्रों में हुआ था। इन राष्ट्रों में भारत, मिस्र, यूनान, इज़राइल, इटली आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी राष्ट्रों तथा अन्य अनेक राष्ट्रों में विभिन्न धर्मों को राष्ट्रीय धर्मों के रूप में स्वीकार किया जाता था और उनके अनुरूप आचरण करना इन राष्ट्रों के नागरिकों के लिए अनिवार्य माना जाता था। इसी कारण इन धर्मों को 'राष्ट्रीय धर्म' कहा गया है जो प्रत्येक राष्ट्र की जीवन-पद्धति के अनिवार्य अंग बन गए थे।

यह सत्य है कि राष्ट्रीय धर्म आदिम धर्म की अपेक्षा अधिक विकसित एवं उत्कृष्ट थे, किंतु किसी भी राष्ट्रीय धर्म को धर्म के विकास का अंतिम सोपान मानना युक्तिसंगत नहीं होगा। इसका कारण यह है कि धर्म के विकास की प्रक्रिया राष्ट्रीय धर्मों के विकास तक ही सीमित नहीं रही; उसकी चरम परिणति कुछ ऐसे धर्मों के विकास में हुई जिन्हें 'विश्वव्यापी धर्म' कहा जाता है और जो राष्ट्रीय धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक माने जाते हैं। जैसा कि 'राष्ट्रीय धर्म' के नाम से ही स्पष्ट है, उसका एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र होता था और उसके अनुयायियों की संख्या भी अपेक्षाकृत सीमित होती थी। परंतु विश्वव्यापी धर्मों की ऐसी कोई सीमाएँ नहीं हैं। वे न तो किसी भौगोलिक क्षेत्र विशेष तक सीमित हैं और न ही उनके अनुयायियों की संख्या की कोई सीमा है। हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म तथा इस्लाम ऐसे ही विश्वव्यापी धर्म हैं। इन धर्मों का क्षेत्र संसार के किसी एक भाग तक सीमित नहीं है, क्योंकि इनके अनुयायी संपूर्ण विश्व में फैले हुए हैं। इस प्रकार भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से ये धर्म प्राचीन राष्ट्रीय धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक हैं। इस व्यापकता के अतिरिक्त इन धर्मों का स्वरूप भी राष्ट्रीय धर्मों कें स्वरूप से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है। राष्ट्रीय धर्मों में बाह्य कर्मकांड को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था, किंतु उपर्युक्त विश्वव्यापी धर्मों में बाह्य कर्मकांड के साथ-साथ मनुष्य की आंतरिक शुद्धि तथा चारित्रिक पवित्रता को भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि जिस भावना से प्रेरित होकर मनुष्य जप-तप, प्रार्थना, पूजा-पाठ आदि करता है धार्मिक दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। यह भावना मनुष्य के चरित्र तथा उसके दैनिक आचरण की पवित्रता में व्यक्त होती है जो उसे वास्तविक अर्थ में धर्मपरायण व्यक्ति बनाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय विश्वव्यापी धर्मों में धर्म के आंतरिक पक्ष को उसके बाह्य पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह विशेषता विश्वव्यापी धर्मों के स्वरूप को राष्ट्रीय धर्मों के स्वरूप से पृथक करती है।

उपर्युक्त विशेषता के अतिरिक्त विश्वव्यापी धर्मों में जाति, लिंग, राष्ट्रीयता आदि के बाह्य भेदों पर विचार किए बिना सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से मुक्ति की संभावना को स्वीकार किया जाता है। इस मुक्ति का स्वरूप तथा इसके मार्ग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किंतु किन्हीं बाह्य कारणों से किसी व्यक्ति को इससे वंचित नहीं रखा जाता। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को स्वीकार कर सकता है; इसके लिए राष्ट्रीयता, लिंग, जाति आदि की कोई शर्त नहीं है।

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म को छोड़कर अन्य विश्वव्यापी धर्मों में सर्वप्रथम उस रूप में

ईश्वर की अवधारणा का विकास हुआ है जिस रूप में आज इसे सामान्यतः स्वीकार किया जाता है। इन धर्मों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अत्यंत दयालु, सर्वव्यापक, पूर्ण, शाश्वत तथा असीम मानने के साथ-साथ उसे ही विश्व का रचयिता माना जाता है और इसी रूप में उसकी उपासना की जाती है। इस ईश्वर को ही विश्व की एकमात्र परम सत्ता मानने के कारण ये धर्म वास्तविक अर्थ में एकेश्वरवाद को स्वीकार करते हैं। यह एकेश्वरवाद उस एकेश्वरवाद का अधिक विकसित और परिष्कृत रूप है जिसका उदय राष्ट्रीय धर्मों में हो चुका था। परंतु राष्ट्रीय धर्मों में ईश्वर की वह अवधारणा उपलब्ध नहीं होती जो आज सामान्यतः प्रचलित है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म के विकास के दीर्घकालीन इतिहास में ईश्वर की वर्तमान अवधारणा का विकास बहुत बाद में हुआ है, अतः इस अवधारणा को धर्म का अनिवार्य तत्त्व मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकतर विश्वव्यापी धर्म ईश्वर की इस अवधारणा में विश्वास करते हैं जिसके कारण धर्म के लिए इस अवधारणा का विशेष महत्त्व है।

7. धर्म के विकास की अविच्छिन्न परंपरा

पिछले खंडों में हमने धर्म के उदय तथा विकास के दीर्घकालीन इतिहास के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि धर्म की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई, मानव-जाति के आदिकाल में उसके प्रमुख रूप कौन-से थे और मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय तथा विश्वव्यापी धर्मों का उदय एवं विकास किस प्रकार हुआ। धर्म के विकास की यह लम्बी प्रक्रिया--जो मानव-जाति के शैशव-काल में ही आरंभ हो गई थी—आज भी समाप्त नहीं हुई है और संभवतः यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक इस पृथ्वी पर मनुष्य का अस्तित्व बना रहेगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म के विकास की इस दीर्घकालीन प्रक्रिया में एक अविच्छिन्न परंपरा विद्यमान है जो आदिकाल से वर्तमान युग तक विभिन्न रूपों में निरंतर चली आ रही है। प्रस्तुत खंड में हम धर्म के विकास की इसी अविच्छिन्न परंपरा तथा इसके कुछ प्रमुख कारणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

यह सत्य है कि आदिम धर्म में प्रचलित अनेक मान्यताएँ और विश्वास मानवीय सभ्यता के विकास के फलस्वरूप समाप्त या लुप्त हो गए हैं। वर्तमान युग में किसी धर्म में इन मान्यताओं तथा विश्वासों को स्वीकार नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ आज सभ्य समाज का कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति 'टोटेमवाद' तथा 'मानावाद' में विश्वास नहीं करता। इसी प्रकार आधुनिक धर्मों के अधिकतर अनुयायी मनुष्य के धार्मिक जीवन के लिए भूतों, चुड़ैलों तथा जादू-टोनों को कोई महत्त्व नहीं देते। परंतु इस से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि आधुनिक सभ्य मनुष्य के धार्मिक जीवन में आदिम धर्म के विश्वासों और उसकी मान्यताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः यदि आधुनिक धर्मों के स्वरूप तथा कर्मकांड का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे आदिम धर्म की मान्यताओं और उसके विश्वासों से पर्याप्त सीमा तक प्रभावित हैं। इसका प्रथम प्रमाण

आधुनिक धर्मों में पाई जाने वाली प्रार्थना और उसके मूल में निहित मनुष्य की आवश्यकता है। आदिकालीन मनुष्यों की भाँति आज भी अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति अपनी किसी आवश्यकता या इच्छा की तृप्ति के लिए ही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। यह आवश्यकता भौतिक भी हो सकती है और मानसिक भी। आधुनिक धर्मों में प्रचलित प्रार्थनाओं पर विचार करने से यही ज्ञात होता है कि वे प्रायः मनुष्य की भौतिक या मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा किसी दुःख, विपत्ति या संकट से मुक्ति के लिए ही की जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रार्थना अथवा उपासना की मूल अभिप्रेरणा अब भी वही है जो आदिम धर्म में थी। यही बात ईश्वर को अर्पित भेंटों अथवा उपहारों के विषय में भी कही जा सकती है। आदिमयुगीन मनुष्यों के समान ही आधुनिक धर्मपरायण व्यक्ति भी किसी कष्ट से बचने अथवा अपनी किसी महत्त्वपूर्ण इच्छा की तृप्ति के लिए अनेक मूल्यवान वस्तुएँ ईश्वर को भेंटस्वरूप अर्पित करते हैं। इस दृष्टि से भी आदिम मनुष्य और आधुनिक मनुष्य में कोई मूल अंतर नहीं है। इसी प्रकार आधुनिक धर्मों में कुछ विशेष वस्तुओं, स्थानों तथा क्रियाओं को अत्यंत पवित्र मानने की जो प्रथा पाई जाती है उसका मूल स्रोत भी आदिम धर्म में खोजा जा सकता है। हम देख चुके हैं कि आदिम मनुष्य कुछ पशुओं, वृक्षों तथा चट्टानों को पवित्र मानकर उनकी पूजा करते थे। यही प्रथा आधुनिक धर्मों में भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ हिंदू और पारसी आज भी गाय को पवित्र मान कर उसकी पूजा करते हैं। हिंदुओं के कुछ देवताओं में मनुष्य तथा पशु दोनों की आकृति सम्मिलित रूप में पाई जाती है। नरसिंह और गणेश इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। कुछ प्राचीन यूनानी देवताओं के साथ भी पशुओं का संबंध रहा है। इसी प्रकार बहुत-से हिंदू आज भी पीपल के वृक्ष को पवित्र तथा पूज्य मानते हैं और पत्थर की बनी देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा करते हैं। अन्य अनेक धर्मों में भी धार्मिक कृत्यों के लिए पत्थर के उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। ये सभी तथ्य आधुनिक विकसित धर्मों पर आदिम धर्म के प्रभाव को स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त आदिम धर्म में प्रचलित बहुदेववाद तथा सर्वात्मवाद का भी अनेक विकसित धर्मों पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। आज भी संसार के कुछ धर्मों में एकेश्वरवाद के साथ-साथ बहुदेववाद को भी स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ बहुत-से हिंदू अब भी अनेक देवी-देवताओं के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और उनकी पूजा करते हैं। बहुदेववाद की भाँति सर्वात्मवाद भी विश्व के कुछ धर्मों में आज भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए बर्मा में बौद्ध धर्म के बहुत-से अनुयायी वनों, पर्वतों तथा वृक्षों को सजीव मानते हैं और उनमें आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। भारत में बहुत-से हिंदू भी अनेक नदियों को सजीव मान कर माताओं के रूप में उनकी पूजा करते हैं। कुछ घरों तथा मंदिरों में देवी-देवताओं की पाषाण-मूर्तियों को सजीव व्यक्तियों के समान ही सुलाया, जगाया तथा नहलाया जाता है और उन्हें विभिन्न स्वादिष्ट खाद्यपदार्थों का भोग लगाया जाता है। इन सभी तथ्यों से कुछ आधुनिक धर्मों पर उस सर्वात्मवाद का प्रभाव भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है जो जनजातीय समाज के आदिम धर्म में प्रचलित था। इस प्रकार आदिम धर्म के बहुदेववाद तथा सर्वात्मवाद इन दो मूल विश्वासों को कुछ आधुनिक विकसित धर्मों में भी स्वीकार किया जा रहा है जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आदिम धर्म में विकसित

परम्परा इन धर्मों में भी अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है।

आधुनिक विकसित धर्मों पर आदिम धर्म की परम्परा के इसी व्यापक प्रभाव का उल्लेख करते हुए डा. राधाकृष्णन कहते हैं कि :– "मानवशास्त्र हमें बताता है कि धर्म के नाम पर हमें प्राचीन काल से प्राप्त हुई कुछ परम्पराएँ वास्तव में आदिमयुगीन कर्मकांडों से ही प्रारंभ हुई थीं। आदिमयुगीन लोग अपने देवताओं को खाया करते थे ताकि इससे उन्हें शक्ति प्राप्त हो। ईसाइयों में ईसा के शरीर को खाने तथा उसके रक्त को पीने की जो प्रथा प्रचलित है वह भी इस पुरानी प्रथा से सर्वथा असंबद्ध नहीं है। धार्मिक साहित्य में दी गई कहानियाँ ईश्वर द्वारा सुनाई हुई नहीं हैं, और यदि हम आज भी उन्हें ईश्वरीय कहानियाँ मान कर ही उनसे चिपटे हुए हैं तो इससे यह सिद्ध होता है कि गलतियों का उन्मूलन बहुत कठिनाई से ही हो पाता है।....... 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे' के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य को ही ब्रह्मांड का प्रतिरूप मानने के दयनीय विश्वास ने सर्वात्मवाद के ऐसे-ऐसे विचित्र सिद्धांतों को जन्म दिया जिनके कारण प्रायः प्रत्येक चेतन और अचेतन वस्तु में मानवीय गुणों को आरोपित कर दिया गया। हमने पत्थरों को सजीव और वृक्षों को संवेदनशील माना। यहाँ तक कि जब हमारे मन में मानवीय व्यक्तित्व की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो गई तब भी सब वस्तुओं को मनुष्य के समान मानने की इस प्रवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा"।[25] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदिमयुगीन धर्म में जिन मान्यताओं तथा विश्वासों का विकास हुआ था उनका आधुनिक विकसित धर्मों पर पर्याप्त और व्यापक प्रभाव पड़ा है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वे कौन-से कारण हैं जिन्होंने लाखों वर्ष पूर्व प्रचलित आदिम धर्म के बहुत-से विश्वासों को आधुनिक विकसित धर्मों में भी पूर्ववत बनाए रखा है। इस प्रश्न के उत्तर में अनेक मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :–

(1) सर्वप्रथम महान वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद जीवन के बहुत-से क्षेत्रों में मनुष्य की वह असहायता आज भी बनी हुई है जिसके फलस्वरूप आदिकाल में धर्म का उदय हुआ था। यह सर्वविदित तथ्य है कि बाढ़, तूफ़ान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकम्प, ज्वालामुखियों के विस्फोट आदि घोर प्राकृतिक विपत्तियों को नियंत्रित करने में असमर्थ होने के कारण मनुष्य उनके समक्ष आज भी नितांत असहाय हो जाता है और उसकी यह असहायता उसे दैवी शक्तियों का आश्रय लेने के लिए विवश करती है। आदिकालीन मनुष्य की भाँति आधुनिक मनुष्य ईश्वर से जो प्रार्थना करता है उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण वस्तुतः उसकी यह असमर्थता या असहायता ही है।

(2) यह सत्य है कि आदिमयुगीन मनुष्य की तुलना में आधुनिक मनुष्य ने प्राकृतिक नियमों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है, किंतु बहुत-से क्षेत्रों में आज भी उसका ज्ञान अत्यंत सीमित है। उदाहरणार्थ वह आज भी अनेक भयंकर रोगों के मूल कारणों को ठीक-ठीक नहीं जानता, अतः वह इन रोगों का निराकरण करने में लगभग असमर्थ है।

---

25. डॉ॰ एस॰ राधाकृष्णन, 'आइडियालिस्टिक व्यू ऑफ़ लाइफ़' अध्याय 1, खंड 4.

घातक कैंसर और 'एड्स' इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। अपनी इस अनभिज्ञता के कारण भी मनुष्य ईश्वर तथा अन्य अनेक दैवी शक्तियों का सहारा लेने के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार धर्म के दो मूल स्रोत—मनुष्य की असमर्थता और अनभिज्ञता—आज भी उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार वे आदिम युग में थे, फलतः मानव-समाज के लिए धर्म की आवश्यकता अब भी पूर्ववत बनी हुई है।

(3) विश्व में अन्यायपूर्ण आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के कारण आज भी अधिकतर मनुष्य अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हैं। वे इस व्यवस्था के जटिल कारणों को नहीं समझ पाते, अतः इसका विरोध करने के स्थान पर वे अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ईश्वर तथा अन्य दैवी शक्तियों से प्रार्थना करने लगते हैं। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के कारण ही कार्ल मार्क्स ने यह कहा था कि "धर्म लोगों के लिए अफीम है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज भी मानव-समाज में किसी न किसी रूप में प्रार्थना के वे सभी कारण विद्यमान हैं जो आदिकालीन जनजातीय समाज में थे। ऐसी स्थिति में आधुनिक मनुष्य का धर्मपरायण बने रहना स्वाभाविक ही है।

(4) मनुष्य की यह सामान्य एवं नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वह अपने पूर्वजों से प्राप्त रीति-रिवाजों, मान्यताओं तथा विश्वासों का सरलतापूर्वक परित्याग नहीं करता। वह इन्हें अपने जीवन में दृढ़तार्वूक बनाए रखना चाहता है। इस स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्ति ने भी आदिकालीन धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों को आज तक बनाए रखा है। इस प्रवृत्ति के कारण ये मान्यताएँ और विश्वास लाखों वर्षों से पूर्ववर्ती पीढ़ी द्वारा अपनी अगली पीढ़ी को निरंतर हस्तांतरित किए जाते रहे हैं। यही कारण है कि आज संसार में बहुत-से व्यक्ति सुशिक्षित और वैज्ञानिक होते हुए भी प्रचलित विश्वासों को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जिस प्रकार लाखों वर्ष पूर्व उनके अशिक्षित पूर्वज स्वीकार करते थे। स्पष्ट है कि परम्परा का अनुसरण करने की इस मानवीय प्रवृत्ति ने भी आदिम धर्म के अनेक विश्वासों को अभी तक बनाए रखा है।

(5) धार्मिक विश्वासों का उदय मानव-जाति के उस शैशव-काल में हुआ था जब मनुष्य में तर्क करने की न तो क्षमता थी और न इच्छा। इसी कारण आदिकाल से ही इन विश्वासों की प्रामाणिकता के लिए तर्कों अथवा प्रमाणों की माँग करना घोर पाप या अपराध माना जाता रहा है। इन विश्वासों का एकमात्र आधार निर्बौद्धिक आस्था ही है जिसका प्रमाणों या तर्कों से कोई संबंध नहीं है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी धार्मिक विश्वासों के विषय में मनुष्य की यही मनोवृत्ति है। आज भी धर्मपरायण व्यक्ति इन विश्वासों को पवित्र एवं अपरिवर्तनीय मानते हैं और इनकी प्रामाणिकता के लिए किसी प्रकार के तर्कों अथवा प्रमाणों की माँग करना अनुचित तथा अनावश्यक समझते हैं। वस्तुतः इन धार्मिक विश्वासों को स्वीकार करना और इनके अनुरूप आचरण करना केवल इसलिए अनिवार्य माना जाता है कि इन्हें शताब्दियों से स्वीकार किया जाता रहा है अथवा इनका वर्णन किन्हीं धर्म-ग्रंथों में किया गया है। मनुष्य की इस मनोवृत्ति ने भी धार्मिक विश्वासों को दीर्घ काल तक बनाए रखने में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

(6) धार्मिक विश्वासों का बहुत समय तक अपरिवर्तित रूप में निरंतर बने रहने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि मनुष्य को शैशव-काल से ही इन्हें स्वीकार करने तथा इनके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित किया जाता है और इस प्रकार उसके मन में इनके प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न की जाती है। इन विश्वासों के संबंध में आदिकाल से ही मनुष्य की यही स्थिति रही है जिस के फलस्वरूप उसके मन में इनकी जड़ें बहुत गहरी तथा स्थायी हो गई हैं। इसी कारण उसके लिए इन विश्वासों का परित्याग करने की कल्पना करना ही अत्यंत कठिन हो जाता है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि बहुत-से व्यक्ति अनेक धार्मिक कृत्यों का अर्थ और उद्देश्य न जानते हुए भी उन्हें आजीवन यंत्रवत निरंतर करते रहते हैं। उदाहरणार्थ हमारे देश में लाखों व्यक्ति प्रतिदिन संस्कृत के रटे हुए मंत्र पढ़ते हैं, किंतु वे न तो इन मंत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझते हैं और न प्रयोजन। इस प्रकार शैशवकालीन गहरे संस्कारों से उत्पन्न परम्परानुसरण की प्रवृत्ति ने भी मानव-समाज में धर्म को निरंतर बनाए रखा है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप जनजातीय समाज के आदिम धर्म की परम्परा आधुनिक विकसित धर्मों में भी अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है।

धर्म के उद्‌गम और विकास के विषय में अभी तक इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि समस्त धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं, अवधारणाओं तथा अनुष्ठानों की उत्पत्ति मानवीय आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप ही हुई है। आज हम ईश्वर, आत्मा, परलोक, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, मुक्ति आदि जिन धार्मिक अवधारणाओं को स्वीकार करते हैं उन सब का उद्‌गम-स्रोत मनुष्य की अपनी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं में ही खोजा जा सकता है। हम देख चुके हैं कि मनुष्य ने स्वयं अपनी आवश्यकताओं के अनुसार तथा अपने अनुभव के आधार पर ही समय-समय पर विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं की कल्पना की। इसी प्रकार उसने अपने हित के लिए इन देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से प्रार्थना, पूजा-पाठ, जप-तप आदि अनेक धार्मिक कृत्यों अथवा अनुष्ठानों का भी आविष्कार किया। वस्तुतः ऐसी कोई भी धार्मिक अवधारणा तथा क्रिया नहीं है जिसका अंतिम आधार मनुष्य का अपना अनुभव या उसकी कोई मूल आवश्यकता न हो। इससे यही प्रमाणित होता है कि धर्म स्वयं मनुष्य का अपना आविष्कार है जिसे उसने अपनी कुछ मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही जन्म दिया है। ऐसी स्थिति में कुछ धर्मपरायण व्यक्तियों की यह मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि स्वयं ईश्वर ने ही मनुष्य को धर्म तथा समस्त धार्मिक अवधारणाओं का साक्षात ज्ञान प्रदान किया है। इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय प्रमाण और तर्कसंगत आधार नहीं है। इस प्रकार हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि श्रुतिमूलक धर्मशास्त्र के आधार पर धर्म के उद्‌गम और विकास की संतोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती।

3

ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण

1. ईश्वर के अस्तित्व का अर्थ

प्राचीन काल से केवल धर्म और दर्शन पर ही नहीं, अपितु मनुष्य के सामान्य जीव
पर भी ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित विश्वास का बहुत गहरा तथा व्यापक प्रभाव रहा है
कुछ थोड़े-से विचारकों अथवा दार्शनिकों को छोड़ कर संसार के अधिकतर मनु
शताब्दियों से ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते रहे हैं और इस विश्वास ने उन के विचा
तथा आचरण को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इतना ही नहीं, संसार के बहुत-
दार्शनिक सिद्धांत और धर्म भी ईश्वरवादी हैं, क्योंकि अधिकतर दार्शनिक तथा धर्मपराय
व्यक्ति किसी न किसी रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते रहे हैं। ऐसी स्थिति
धर्म पर विचार करने वाले दार्शनिक के लिए इस प्रश्न का विशेष महत्त्व है कि ईश्वर
अस्तित्व का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। वस्तुतः इस प्रश्न के समुचित एवं तर्कसंगत उत्तर
आधार पर ही ईश्वर के स्वरूप तथा उस के अस्तित्व के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले प्रमा
अथवा तर्कों की संतोषप्रद विवेचना की जा सकती है। इसी कारण यहाँ सर्वप्रथम उपर्यु
प्रश्न पर ही विचार किया जाएगा।

यह सर्वविदित तथ्य है कि हम अपने जीवन में अनेक प्रकार की वस्तुओं के अस्तित
की बात करते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कहते हैं कि मेज़, कुर्सी, घर, नगर आदि भौति
वस्तुओं का अस्तित्व है। इसी प्रकार हम यह भी कहते हैं कि पेड़-पौधों, पशु-पक्षिय
मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों का अस्तित्व है। भौतिक वस्तुओं और प्राणियों के अस्तित्व
समान ही हम अभौतिक या अमूर्त विचारों के अस्तित्व की भी बात करते हैं। उदाहरण
लिए हम यह कहते हैं कि हमारे मन में अमुक विचार अथवा प्रत्यय है जिस का अर्थ य
समझा जाता है कि हमारे मन में उस का अस्तित्व है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हम समा
रूप से भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं के अस्तित्व की सार्थकतापूर्वक बात कर सकते
और करते हैं। जब हम किसी भी वस्तु के अस्तित्व की बात करते हैं तो इस से हमा
तात्पर्य यही होता है कि वास्तव में वह वस्तु है अथवा हमारे समक्ष या हमारे मन में वह वस
उपस्थित है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है वास्तव में उस का विद्यमा
होना अथवा उस की उपस्थिति। दार्शनिक दृष्टि से किसी वस्तु की सत्ता का भी लगभग य
अर्थ समझा जाता है, अतः 'अस्तित्व' और 'सत्ता' इन दोनों शब्दों को सामान्यतः पर्यायवा
शब्द माना जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में हम इन दोनों का प्रयोग समानार्थक शब्दों
रूप में ही करेंगे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सामान्यतः किसी वस्तु
अस्तित्व अथवा उस की सत्ता का अर्थ यही है कि वह हमारे अनुभव या हमारी तर्कबुद्धि

विषय है अथवा हो सकती है। वस्तुतः अपने दैनिक जीवन में हम इसी अर्थ में किसी वस्तु के अस्तित्व या उस की सत्ता की बात करते हैं। इस का तात्पर्य यही है कि सार्थक रूप से हम केवल उसी वस्तु के अस्तित्व की बात कर सकते हैं जो प्रत्यक्षतः अथवा कम-से-कम सिद्धांततः हमारे अनुभव या हमारी तर्कबुद्धि का विषय हो सकती है। यही बात काल्पनिक वस्तुओं के तथाकथित अस्तित्व के संबंध में भी कही जा सकती है। जब हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करते हैं जिस का वास्तव में अस्तित्व नहीं है तो हमारी इस कल्पना का आधार भी हमारा अनुभव ही होता है। उदाहरणार्थ हम स्वर्णिम पर्वत और उड़ने वाले घोड़े की कल्पना कर सकते हैं, किंतु हमारी इस कल्पना का आधार भी हमारा अनुभव ही है। इस से स्पष्ट है कि हमारे लिए किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करना संभव नहीं है जो हमारे अनुभव तथा हमारी तर्कबुद्धि से परे हैं। ऐसी वस्तु की कल्पना हमारे लिए निराधार, निरर्थक तथा अबोधगम्य ही होगी।

सामान्य भाषा में 'अस्तित्व' और 'सत्ता' इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात अब ईश्वर के अस्तित्व के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। ईश्वरवादी दार्शनिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को एक ऐसी स्वतंत्र एवं वस्तुपरक सत्ता मानते हैं जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अत्यंत दयालु, शाश्वत, अपरिवर्तनीय, असीम तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण है और जो विश्व का रचयिता या आदि कारण, शासक एवं संचालक है। हिंदू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म आदि सभी ईश्वरवादी धर्मों में थोड़े-बहुत अंतर के साथ प्रायः इसी रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। इस के अतिरिक्त बहुत-से दार्शनिक भी इसी रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। जब सामान्य व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व की बात करता है तो उस के मन में भी प्रायः ईश्वर की ऐसी ही अवधारणा विद्यमान रहती है। इसी रूप में ईश्वर उपासना या पूजा का विषय बनता है जो ईश्वरवादी धर्मों का अनिवार्य तत्त्व है। भक्त केवल इसी प्रकार के ईश्वर की पूजा करता है और अपने जीवन में सदा उस के अनुग्रह की आकांक्षा करता है। इस प्रकार ईश्वर को ऐसी स्वतंत्र तथा वस्तुपरक सत्ता माना जाता है जिस में असीम शक्ति, ज्ञान, दयालुता, अपरिवर्तनशीलता, नित्यता आदि विशेष गुण पाए जाते हैं और जो विश्व का मूल आधार, रचयिता तथा संचालक है। प्रायः सभी धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक सामान्यतः ईश्वर के अस्तित्व का यही अर्थ स्वीकार करते हैं। सगुण तथा साकार ईश्वर की इस अवधारणा को 'मानवत्वारोपी अवधारणा' कहा जा सकता है, क्योंकि इस के अनुसार ईश्वर को मानवाकारयुक्त माना जाता है और उस में समस्त मानवीय सद्गुणों को आरोपित किया जाता है। अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर की इसी मानवत्वारोपी अवधारणा को स्वीकार करते हुए उस की पूजा या उपासना करते हैं। स्पष्ट है कि ईश्वरवादी धर्मों के लिए ईश्वर की इस अवधारणा का विशेष महत्त्व है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त मानवत्वारोपी अवधारणा के अनुसार ईश्वर को सगुण और साकार सत्ता मानते हुए भी ईश्वरवादी दार्शनिक उसे मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे मानते हैं। उन का मत है कि मनुष्य न तो ईश्वर का अनुभव प्राप्त कर सकता है और न उसे अपनी तर्कबुद्धि द्वारा जान सकता है। इसी कारण ईश्वर को अगम्य और अगोचर माना गया है। उस की सत्ता मानवीय

अनुभव तथा तर्कबुद्धि का विषय नहीं है और न हो सकती है। ईश्वर को अनुभव त
तर्कबुद्धि द्वारा जानने का प्रयास करना पूर्णतः व्यर्थ है।

परंतु ईश्वरवादी दार्शनिकों की उपर्युक्त मान्यता के फलस्वरूप एक गंभीर दार्शनि
समस्या उत्पन्न हो जाती है जिस का संतोषप्रद एवं तर्कसंगत समाधान असंभव है। व
समस्या यह है कि यदि मनुष्य अपने अनुभव और अपनी तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता व
ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता तो हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि ईश्वर व
अस्तित्व है। हम ऊपर बता चुके हैं कि सामान्यतः मनुष्य अपने अनुभव अथवा अप
तर्कबुद्धि द्वारा ही यह जान सकता है कि वास्तव में किसी वस्तु का अस्तित्व है या नहीं
किसी भी वस्तु के अस्तित्व के विषय में निर्णय करने के लिए उस के पास इस के अतिरिक
अन्य कोई साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि ईश्वर को मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि
परे माना जाए तो सार्थक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उस का अस्तित्व है। इ
प्रकार हम सार्थकतापूर्वक यह भी नहीं कह सकते कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इस क
अर्थ यह है कि ईश्वर को मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे मानने पर हमारे लिए ईश्व
के संबंध में कुछ भी कहना नितांत निरर्थक और अबोधगम्य हो जाता है। स्पष्ट है कि य
ईश्वरवादी दार्शनिकों की उपर्युक्त मान्यता उचित है तो ईश्वर के अस्तित्व के विषय
हमारे किसी कथन का वास्तव में कोई संज्ञानात्मक अर्थ रह ही नहीं जाता-फिर चाहे व
कथन सकारात्मक हो या नकारात्मक। इसी आधार पर रुडोल्फ़ कार्नैप, ए०जे० एयर आ
तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने ईश्वर विषयक कथनों के संज्ञानात्मक अर्थ को अस्वीकार किया है
उन के इस मत पर हम धार्मिक भाषा संबंधी नौवें अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे
यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि यदि ईश्वर मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि से परे है त
उस के अस्तित्व या अनस्तित्व के विषय में संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थकतापूर्वक कुछ भ
कहना संभव नहीं है।

परंतु ईश्वरवादी दार्शनिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति उपर्युक्त समस्या की उपेक्षा कर
हुए एक ओर तो ईश्वर को शरीररहित, अनुभवातीत एवं तर्कातीत मानते हैं और दूसरी ओ
उस के स्वरूप तथा गुणों के संबंध में सविस्तार चर्चा करते हैं। वे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न प
विचार करने का कष्ट नहीं करते कि उनकी यह ईश्वर विषयक चर्चा वास्तव में संज्ञानात्म
दृष्टि से सार्थक है या नहीं। ईश्वरवाद के विरुद्ध यह एक ऐसी गंभीर आपत्ति है जिस क
अभी तक कोई युक्तिसंगत और संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया जा सका। इस प्रकार यदि ईश्व
मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे है तो उस के अस्तित्व या अनस्तित्व के संबंध
संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता और ऐसा ईश्वर पू
अथवा उपासना का विषय भी नहीं हो सकता। संभवतः इसी कठिनाई के कारण अधिकत
भक्त या धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा को ही स्वीकार करते
जिस के अनुसार ईश्वर निर्गुण तथा निराकार न हो कर व्यक्तित्वसंपन्न और असीम शक्ति
ज्ञान, प्रेम, दया, न्याय आदि समस्त मानवीय सद्गुणों से परिपूर्ण एक महा मानव है ज
हमारी पूजा या उपासना का विषय हो सकता है। सभी ईश्वरवादी धर्म किसी न किसी रू
में ईश्वर की इसी अवधारणा में विश्वास करते हैं और इसी अर्थ में वे ईश्वर के अस्तित्व क

दावा करते हैं। उन का यह दावा कहाँ तक उचित है-इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के अगले खंडों में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सगुण और साकार ईश्वर की यह मानवत्वारोपी अवधारणा ही ईश्वरवादी धर्मों के लिए सार्थक तथा उपादेय हो सकती है निर्गुण तथा निराकार ईश्वर की विशुद्ध बौद्धिक अवधारणा नहीं। यही कारण है कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अभी तक जो प्रमाण या तर्क प्रस्तुत किए गए हैं वे निर्गुण और निराकार ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के स्थान पर सगुण एवं साकार ईश्वर के अस्तित्व को ही प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।

ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों अथवा प्रमाणों की विवेचना करने से पूर्व यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि केवल दार्शनिक के समक्ष ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने की समस्या उपस्थित होती है, भक्त अथवा धर्मपरायण व्यक्ति के समक्ष नहीं। भक्त तो श्रद्धा या आस्था के आधार पर ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लेता है, अतः वह उस के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए तर्कों अथवा युक्तियों की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। वस्तुतः वह ईश्वर के अस्तित्व में कभी संदेह नहीं करता और इसी कारण उस के लिए इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं है कि ईश्वर की सत्ता को किस प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है। परंतु, जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, दार्शनिक समुचित एवं विश्वसनीय प्रमाणों के अभाव में किसी भी मान्यता अथवा विश्वास को स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में ईश्वर की सत्ता से संबंधित विश्वास के समर्थन में पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाणों या तर्कों की माँग करना उस के लिए अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का संपूर्ण प्रयास दार्शनिक की इसी माँग का अनिवार्य परिणाम है। इस दृष्टि से धर्म-दार्शनिक के लिए ईश्वर की सत्ता से संबंधित प्रमाणों, तर्कों अथवा युक्तियों की विवेचना का विशेष महत्त्व है।

विभिन्न दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अभी तक जो प्रमाण या तर्क प्रस्तुत किए हैं उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे प्रमाण आते हैं जो किसी न किसी रूप में स्वयं मनुष्य के अपने अनुभव पर ही आधारित हैं। इसी कारण इन्हें 'अनुभवाश्रित प्रमाण' कहा जा सकता है। सृष्टिमूलक प्रमाण, प्रयोजनमूलक प्रमाण, नीतिपरक प्रमाण तथा धार्मिक अनुभव संबंधी प्रमाण ऐसे ही अनुभवाश्रित प्रमाण हैं। दूसरे वर्ग में उस प्रत्यय-सत्ता युक्ति अथवा प्रमाण को रखा जा सकता है जिस का मानवीय अनुभव से कोई संबंध नहीं है और जो केवल ईश्वर के प्रत्यय पर आधारित है। यही कारण है कि इसे 'प्रागनुभविक प्रमाण' कहा जाता है। इस प्रमाण में सभी दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय के आधार पर ही उस के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। इन सभी प्रमाणों द्वारा ईश्वरवादी दार्शनिकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर की सत्ता से संबंधित विश्वास का बौद्धिक अथवा तार्किक आधार है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रत्यय-सत्ता युक्ति केवल पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा ही प्रस्तुत की गई है, किंतु अन्य सभी प्रमाण किसी न किसी रूप में भारतीय दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन दोनों में उपलब्ध होते हैं। अगले खंडों में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए इन सभी प्रमाणों की विस्तृत विवेचना की जाएगी।

2. सृष्टिमूलक प्रमाण

जैसा कि इस प्रमाण के नाम से ही स्पष्ट है, इस का संबंध सृष्टि अथवा जगत् से है। इस में जगत् के अस्तित्व के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। हम इस विश्व में विद्यमान विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों के अस्तित्व का प्रत्यक्षत: अनुभव करते हैं। अपने अनुभव द्वारा हम यह भी जानते हैं कि प्रत्येक प्राणी तथा वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है जिस पर उस का अस्तित्व निर्भर रहता है। किसी कारण के अभाव में हम किसी वस्तु की उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में अपने इसी सामान्य अनुभव के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस विश्व का भी कोई कारण अवश्य है और उसे ही 'ईश्वर' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार सृष्टिमूलक प्रमाण में विश्व के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दर्शन में नैयायिकों तथा अद्वैत वेदांत के समर्थकों और पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू, ऐक्वाइनस, डेकार्ट, लाइब्नीज़ आदि अनेक दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में ईश्वर के अस्तित्व के लिए यह सृष्टिमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है। थॉमस ऐक्वाइनस ने अपनी पुस्तक 'सम्मा थियोलॉजिका' में इस प्रमाण की सविस्तार व्याख्या की है। उन्होंने इस के जिन रूपों की विवेचना की है उनमें तीन रूपों का विशेष महत्त्व है। इन रूपों का संबंध विश्व में विद्यमान गति, आकस्मिकता और कारणता से है, अत: इन्हें क्रमश: 'गति संबंधी प्रमाण' 'आकस्मिकता संबंधी प्रमाण' तथा 'कारणता संबंधी प्रमाण' कहा जा सकता है। ऐक्वाइनस ने सृष्टिमूलक प्रमाण के इन तीनों रूपों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर का अस्तित्व है। अन्य अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ईश्वर की सत्ता के समर्थन में इस प्रमाण के तीनों रूप अथवा इन में से कोई एक या दो रूप प्रस्तुत किए हैं। यहाँ हम सृष्टिमूलक प्रमाण के उपर्युक्त तीनों रूपों की संक्षेप में विवेचना करेंगे।

यूनान के महान दार्शनिक अरस्तू ने संभवत: सर्वप्रथम ईश्वर के अस्तित्व के लिए गति संबंधी प्रमाण प्रस्तुत किया था। इस के पश्चात मध्य युग में ऐक्वाइनस ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में अन्य प्रमाणों के साथ–साथ यह प्रमाण भी दिया। इस प्रमाण द्वारा विश्व में विद्यमान गति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। हम संसार में अनेक वस्तुओं की गतिशीलता का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, हम यह भी जानते हैं कि इस ब्रहमांड के समस्त ग्रह-नक्षत्र निरंतर गतिशील हैं। यहाँ स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि ब्रहमांड की इस गतिशीलता का मूल कारण क्या है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि कोई भी वस्तु स्वत: ही गतिशील नहीं हो सकती—उसे गति प्रदान करने वाला कोई कारण अवश्य होता है। उदाहरणार्थ बिजली के पंखे की गति का कारण बिजली है, बिजली की गति का कारण विद्युत-उत्पादक यंत्र है और इस यंत्र की गति का कारण अत्यधिक तीव्रता से गिरने वाला जल है। इस जल-प्रपात की गति का कारण कोई अन्य प्राकृतिक शक्ति है। इस प्रकार यदि हम विश्व में विद्यमान गतिशील वस्तुओं की गति के कारणों की खोज करें तो इन कारणों की यह श्रृंखला कभी समाप्त नहीं होगी जिस के फलस्वरूप अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस अनंत श्रृंखला के परिणामस्वरूप उत्पन्न उक्त अनवस्था दोष से बचने के लिए ऐसी सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है जो

समस्त गतिशील वस्तुओं की गति का आदि कारण है— अर्थात् जिस ने उन्हें सर्वप्रथम गति प्रदान की है। इसी सत्ता को 'ईश्वर' कहा जाता है जो संसार में सभी गतिशील वस्तुओं की गति का मूल कारण है। स्वयं गतिशील न होते हुए भी वही समस्त गतिशील वस्तुओं को गति प्रदान करने वाला आदि स्रोत है। इसी कारण अरस्तू ने ईश्वर को ऐसी गतिरहित सत्ता कहा है जो सभी गतिशील वस्तुओं को मूलतः गति प्रदान करती है। ईश्वर गतिशील सत्ता नहीं है, अतः उस के विषय में यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि उस की गति का कारण क्या है। वह तो संसार में समस्त गतिशील वस्तुओं की गति का गतिरहित आदि कारण है। इस प्रकार अरस्तू, ऐक्वाइनस आदि दार्शनिकों ने इस गति सबंधी प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

परंतु उपर्युक्त गति संबंधी प्रमाण पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि इस के आधार पर तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रमाण के विरुद्ध प्रमुख आपत्ति यह है कि इस में एक गतिहीन सत्ता को विश्व में विद्यमान गति का आदि कारण मान लिया गया है। हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि केवल कोई गतिशील वस्तु ही किसी गतिहीन वस्तु को गति प्रदान कर सकती है; जो वस्तु स्वयं ही गतिहीन है वह किसी अन्य वस्तु को कभी भी गति प्रदान नहीं कर सकती। इसी कारण हम ईश्वर के अस्तित्व के लिए उपर्युक्त प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों की इस मान्यता का युक्तिसंगत रूप से समर्थन नहीं कर सकते कि स्वयं गतिरहित ईश्वर संसार में विद्यमान गति का आदि स्रोत है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ये दार्शनिक ईश्वर को गतिरहित सत्ता क्यों मानते हैं। इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यही है कि यदि ईश्वर को गतिशील सत्ता माना जाए तो हमें उस की गति के कारण की भी खोज करनी होगी। ऐसी स्थिति में हम गति के कारणों की अनंत श्रृंखला के फलस्वरूप उत्पन्न उस अनवस्था दोष से नहीं बच सकेंगे जिससे बचने के लिए ईश्वर के अस्तित्व की प्राक्कल्पना की गई है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए उपर्युक्त दार्शनिकों ने ईश्वर को गतिरहित सत्ता माना है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, उन की यह मान्यता हमारे अनुभव के विरुद्ध होने के कारण युक्तिसंगत नहीं है। फिर यदि उपर्युक्त आपत्ति की उपेक्षा करते हुए इन दार्शनिकों की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाए तो भी इस के आधार पर केवल यही प्रमाणित होता है कि विश्व में विद्यमान गति का कोई आदि कारण है; इसके द्वारा उस ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती जिस में धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक विश्वास करते हैं। भक्त और ईश्वरवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि ईश्वर सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अत्यंत दयालु, अपरिवर्तनशील, असीम तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण है। यह समझना कठिन नहीं है कि गति संबंधी उपर्युक्त प्रमाण ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं करता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण होने के कारण यह प्रमाण ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने में असमर्थ है।

सृष्टिमूलक प्रमाण का दूसरा रूप आकस्मिकता संबंधी प्रमाण है। इस प्रमाण में सांसारिक वस्तुओं के आकस्मिक अस्तित्व के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। इस आकस्मिकता संबंधी प्रमाण को प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों

का कथन है कि इस विश्व में प्रत्येक प्राणी तथा वस्तु का अस्तित्व केवल आकस्मिक है—अर्थात् उस का होना अनिवार्य नहीं है और उस का अस्तित्व किसी अन्य प्राणी एवं वस्तु के अस्तित्व पर ही अनिवार्यतः निर्भर है। हम प्रत्येक प्राणी तथा वस्तु के विषय में यह कह सकते हैं कि उस का अनस्तित्व संभव था और यदि किसी अन्य प्राणी तथा वस्तु का अस्तित्व न होता तो उसका अस्तित्व भी न होता। इस अर्थ में सभी प्राणियों और वस्तुओं का अस्तित्व अनिवार्य न हो कर केवल आकस्मिक ही है। उदाहरणार्थ यदि मेरे माता-पिता न होते तो मैं भी न होता; यदि उनके माता-पिता न होते तो वे भी न होते; यदि उनके माता-पिता के माता-पिता न होते तो वे भी न होते, इत्यादि। इसी प्रकार यदि लकड़ी न होती तो वह मेज़ न होती; यदि वृक्ष न होते तो लकड़ी न होती; यदि मिट्टी और जलवायु न होते तो वृक्ष न होते, इत्यादि। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि विश्व में समस्त प्राणियों तथा वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता की यह अनंत श्रृंखला है जिस के कारण प्रत्येक प्राणी एवं वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या किसी अन्य प्राणी और वस्तु के अस्तित्व के आधार पर ही की जा सकती है। ऐसी स्थिति में इस अनंत श्रृंखला से बचने के लिए एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है जो आकस्मिक न होकर अनिवार्य हो और जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व पर निर्भर न हो। यह अनिवार्य सत्ता ही ईश्वर है जिस के अस्तित्व की व्याख्या किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व के आधार पर नहीं की जा सकती, क्योंकि वह किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है। इसी ईश्वर के आधार पर हम संसार की समस्त आकस्मिक वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या कर सकते हैं। सांसारिक वस्तुओं के विपरीत इस ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है, क्योंकि इस के अनस्तित्व की कल्पना करना असंभव है। इस प्रकार उपर्युक्त आकस्मिकता संबंधी प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों ने सांसारिक वस्तुओं की आकस्मिकता के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

परंतु गति संबंधी प्रमाण की भाँति यह आकस्मिकता संबंधी प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने में असमर्थ है। हम देख चुके हैं कि इस प्रमाण के समर्थक सांसारिक वस्तुओं के विपरीत ईश्वर को 'अनिवार्य सत्ता' मानते हैं, किंतु कठिनाई यह है कि ईश्वर के संबंध में 'अनिवार्य सत्ता' की यह अवधारणा केवल अस्पष्ट ही नहीं, अपितु अबोधगम्य भी है। हम अपने अनुभव से यह जानते हैं कि जिस वस्तु का अस्तित्व है उसके भिन्न स्वरूप तथा अनस्तित्व की भी कल्पना की जा सकती है। हम यह कल्पना कर सकते है कि इस समय वह वस्तु जैसी है उससे भिन्न भी हो सकती थी। हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि अस्तित्व में आने से पूर्व वह वस्तु नहीं थी और कुछ समय के पश्चात वह नहीं रहेगी। संसार में सभी वस्तुओं के अस्तित्व का हम यही अर्थ समझते हैं। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु की 'अनिवार्य सत्ता' की अवधारणा हमारी समझ से परे है। हम ऐसी किसी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते जिसके स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन न हो सके और जिस का अनस्तित्व असंभव हो। परंतु आकस्मिकता संबंधी प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक ईश्वर को इसी अर्थ में 'अनिवार्य सत्ता' मानते हैं जो मनुष्य के लिए नितांत अबोधगम्य है। वस्तुतः घटनाओं तथा वस्तुओं के स्थान पर भाषा में प्रयुक्त कुछ विशेष

वाक्यों के संदर्भ में ही अनिवार्यता की अवधारणा का सार्थकतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। शब्दों की परिभाषाओं पर आधारित पुनरुक्तियाँ मात्र होने के कारण कुछ विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ सर्वदा तथा अनिवार्यतः सत्य होती हैं: उन्हें कभी भी मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। "त्रिकोण के तीन कोण होते हैं" "कुमारी अविवाहिता नारी होती है", "दो और दो चार होते हैं" आदि प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी ही विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ हैं जिन्हें सदैव और अनिवार्यतः सत्य माना जाता है। ऐसी प्रतिज्ञप्तियों के संदर्भ में ही हम सार्थकतापूर्वक अनिवार्यता की अवधारणा की बात कर सकते हैं। किसी घटना या वस्तु को 'अनिवार्य' कहना वस्तुतः निरर्थक और अबोधगम्य है। यही कारण है कि हम सार्थकतापूर्वक ईश्वर की अनिवार्य सत्ता की बात नहीं कर सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनिवार्य सत्ता की अवधारणा के आधार पर युक्तिसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना संभव नहीं है।

आकस्मिकता संबंधी प्रमाण के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इस के समर्थक विश्व को एक वस्तु मान कर ईश्वर के आधार पर उस के अस्तित्व की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं और ईश्वर की व्याख्या के लिए स्वयं उसे ही एकमात्र आधार मानते हैं। यह सत्य है कि इस विश्व में प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर रहती है, अतः उस के अस्तित्व की व्याख्या किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व के आधार पर ही की जा सकती है। इस अर्थ में सभी सांसारिक वस्तुएँ निश्चय ही आकस्मिक हैं। परंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित और युक्तिसंगत नहीं है कि विश्व भी एक आकस्मिक वस्तु है जिसकी व्याख्या के लिए ईश्वर जैसी किसी अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। वस्तुतः यह विश्व मेज़, कुर्सी, कागज़, कलम या घर जैसी कोई एक वस्तु नहीं है, दिक्-काल सहित सभी प्राणियों, पेड़-पौधों, घटनाओं तथा वस्तुओं का सामूहिक नाम ही 'विश्व' है। ऐसी स्थिति मे आकस्मिकता संबंधी प्रमाण के समर्थकों की इस मान्यता का कोई अर्थ नहीं हो सकता कि यह विश्व एक आकस्मिक वस्तु है जिसके अस्तित्व की व्याख्या ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार कर के ही की जा सकती है। सामान्यतः हम प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या उन वस्तुओं के आधार पर करते हैं जिन पर उस का अस्तित्व प्रत्यक्षतः निर्भर रहता है। इस के लिए हम संपूर्ण विश्व के अस्तित्व की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं समझते। वास्तव में यह प्रश्न ही निरर्थक है कि विश्व के अस्तित्व की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है। परंतु आकस्मिकता संबंधी प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक मानते हैं। इसी कारण उन का यह प्रमाण दोषपूर्ण तथा अविश्वसनीय हो जाता है जिस के आधार पर तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त आपत्ति के अतिरिक्त यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि ईश्वर के अस्तित्व की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है। इस प्रश्न के उत्तर में आकस्मिकता संबंधी प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक यही कहते हैं कि ईश्वर आकस्मिक सत्ता न होकर अनिवार्य सत्ता है, अतः उसके अस्तित्व की व्याख्या किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व के आधार पर नहीं की जा सकती। ईश्वर स्वयं ही अपने अस्तित्व की व्याख्या का एकमात्र आधार है।

परंतु इन दार्शनिकों की यह मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि किसी वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या स्वयं उसी के आधार पर करना संभव नहीं है। जब हम किसी वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या करते हैं तो हम यह स्पष्ट करते हैं कि वह अपने वर्तमान रूप में क्यों है और किसी अन्य रूप में क्यों नहीं हैं। इस के लिए कुछ ऐसी वस्तुओं का आधार लेना अनिवार्य हो जाता है जिन पर वह वस्तु प्रत्यक्षतः निर्भर है। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम उस के अस्तित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। आक़स्मिकता संबंधी प्रमाण के समर्थक भी सांसारिक वस्तुओं की व्याख्या के विषय में इस तथ्य को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। उन के विचार में केवल ईश्वर ही इस का अपवाद है जिस के अस्तित्व की व्याख्या स्वयं उसी के आधार पर की जा सकती है। परंतु तर्कसंगत रूप से उनके इस मत का समर्थन करना संभव नहीं है, क्योंकि इससे वास्तव में ईश्वर के अस्तित्व की व्याख्या नहीं होती। यह कहना कि स्वयं ईश्वर के आधार पर ही उसके अस्तित्व की व्याख्या की जा सकती है इस तथ्य को स्वीकार करना है कि ईश्वर के अस्तित्व की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आकस्मिकता संबंधी प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक अपने इस प्रमाण द्वारा युक्तिसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सके।

सृष्टिमूलक प्रमाण के तीसरे रूप का संबंध कारणता की अवधारणा से है, अतः इसे 'कारणपरक प्रमाण' कहा जा सकता है। न्याय दर्शन के आचार्य उदयन ने अपनी 'न्याय-कुसुमांजलि' में तथा अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपनी कृतियों में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए यह कारणपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है। इस प्रमाण का आधार वह कारण-कार्य-संबंध है जिसका हम संसार में सामान्यतः अनुभव करते हैं। हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि इस विश्व में कोई भी वस्तु या घटना अकारण नहीं होती; प्रत्येक वस्तु अथवा घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण के अभाव में हम कार्य की उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह संपूर्ण जगत् कारण-कार्य के इसी अनिवार्य नियम द्वारा शासित और संचालित होता है। एक घटना दूसरी घटना को, दूसरी घटना तीसरी घटना को तथा तीसरी घटना चौथी घटना को जन्म देती है और कारण-कार्य की यह श्रृंखला निरंतर चलती रहती है। ईश्वरवादी दार्शनिकों का कथन है कि कारण-कार्य की इस अनंत श्रृंखला से बचने के लिए किसी ऐसे आदि कारण को मानना आवश्यक है जिस का अपना कोई कारण न हो और जो इस श्रृंखला का प्रथम कारण हो। ऐसे आदि कारण को स्वीकार न करने से अनिवार्यतः अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। स्पष्ट है कि विश्व का यह आदि कारण ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। जिस प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तु तथा घटना का कारण अनिवार्य है उसी प्रकार इस विश्व के कारण का होना भी अनिवार्य है और यह कारण ईश्वर ही है। हम ईश्वर को विश्व का आदि कारण मान कर ही इस विश्व के अस्तित्व की संतोषप्रद व्याख्या कर सकते हैं। इस प्रकार उक्त कारणपरक प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों ने विश्व के आदि कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

भारत में नैयायिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व के लिए यह कारणपरक प्रमाण दिया है। उन के मतानुसार ईश्वर इस विश्व का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण

है—अर्थात् उसने पहले से विद्यमान कुछ शाश्वत द्रव्यों के आधार पर ही इस विश्व की रचना की है। इस संबंध में उन्होंने दिक्, काल, आकाश, आत्मा, मनस तथा पुद्गल या परमाणु इन छह शाश्वत द्रव्यों का उल्लेख किया है जिन का रचयिता ईश्वर नहीं है किंतु जिन के आधार पर उस ने इस जगत् की रचना की है। इसका अर्थ यही है कि उपर्युक्त शाश्वत छह द्रव्य भी ईश्वर के समान ही अनादि हैं और उन का कोई रचयिता नहीं है। नैयायिक निश्चित रूप से यह मानते हैं कि जगत् के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है। जिस प्रकार एक घड़े की उपस्थिति से उस के बनाने वाले कुम्भकार का अस्तित्व सिद्ध होता है उसी प्रकार इस विश्व की उपस्थिति से उस के रचयिता ईश्वर का अस्तित्व भी असंदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है। इस विश्व का रचयिता होने के कारण ईश्वर ही इस की रक्षा करता है: वही इस का संचालन तथा पालन-पोषण करता है और अंत में वही इस का विनाश भी करता है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किए बिना हम इस विश्व के अस्तित्व की संतोषजनक व्याख्या कभी नहीं कर सकते। इस प्रकार भारत में नैयायिकों ने तथा पाश्चात्य देशों में ऐक्वाइनस, डेकार्ट आदि अनेक दार्शनिकों ने उपर्युक्त कारणपरक प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

परंतु गति संबंधी प्रमाण तथा आकस्मिकता संबंधी प्रमाण के समान ही यह कारणपरक प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असमर्थ है। यह प्रमाण निश्चय ही जन-साधारण को बहुत प्रभावित करता है और इसके आधार पर सामान्य व्यक्ति ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने लगता है, किंतु इस प्रमाण के विरुद्ध ऐसी अनेक गंभीर आपत्तियाँ हैं जो इसे पूर्णतः अविश्वसनीय सिद्ध करती हैं। इन आपत्तियों में से यहाँ हम कुछ प्रमुख आपत्तियों का उल्लेख करेंगे।

(1) यह सत्य है कि विश्व में प्रत्येक वस्तु तथा घटना का कारण अवश्य होता है, किंतु इसके आधार पर कारणपरक प्रमाण के समर्थकों ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिया है वह बहुत दोषपूर्ण है। इन दार्शनिकों ने यह मान लिया है कि अन्य वस्तुओं और घटनाओं की भाँति यह विश्व भी एक वस्तु है जिस के अस्तित्व का कोई कारण होना आवश्यक है। परंतु उनकी यह मान्यता नितांत भ्रामक है, क्योंकि, जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, विश्व कोई एक वस्तु नहीं है जिस के कारण की खोज करना आवश्यक हो। वस्तुतः 'विश्व' एक समूहवाचक संज्ञा है जिस में दिक्-काल सहित समस्त भौतिक वस्तुएँ, पेड़-पौधे तथा प्राणी सम्मिलित हैं। ऐसी स्थिति में विश्व को एक वस्तु मान कर यह प्रश्न करना निरर्थक है कि उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है। विश्व में सम्मिलित विभिन्न वस्तुओं के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं और होते हैं, अतः उसके किसी एक कारण की खोज करने का कोई अर्थ नहीं हो सकता। मान लीजिए किसी समूह में दस वस्तुएँ सम्मिलित हैं। अब यदि हम इन में से प्रत्येक वस्तु का कारण बता देते हैं तो यह पूछना निरर्थक है कि इस समूह का कारण क्या है, क्योंकि यह समूह उन दस वस्तुओं के संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ठीक यही बात विश्व के संबंध में भी कही जा सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती।

(2) कारणपरक प्रमाण का मूल आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का कारण

अवश्य होता है। इसी आधार पर इस प्रमाण के समर्थकों ने विश्व के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। अब यदि यह मान लिया जाए कि प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का कारण होना अनिवार्य है तो युक्तिसंगत रूप से यह प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर के अस्तित्व का कारण क्या है। कारणपरक प्रमाण के समर्थक इस प्रश्न का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाते। वे केवल यही कहते हैं कि ईश्वर का कोई कारण नहीं है: वह स्वयंभू अथवा अपना कारण स्वयं है। परंतु उन का यह उत्तर उन के अपने कारणपरक प्रमाण के विरुद्ध है। उन्होंने अपना तर्क इस मान्यता से आरंभ किया था कि कोई भी वस्तु अकारण नहीं हो सकती। यदि यह मान्यता सत्य है तो ईश्वर भी अकारण या स्वयंभू नहीं हो सकता। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कारणपरक प्रमाण के समर्थक यह कहते हैं कि कारण-कार्य की अनंत श्रृंखला से बचने के लिए ईश्वर को अकारण मानना आवश्यक है। परंतु उन का यह उत्तर स्वयं उन के अपने तर्क के विरुद्ध है, क्योंकि इससे यही सिद्ध होता है कि कोई वस्तु बिना किसी कारण के भी हो सकती है। स्पष्ट है कि ईश्वर को अकारण अथवा स्वयंभू मान कर वे स्वयं ही अपने कारणपरक प्रमाण का खंडन करते हैं। इस के अतिरिक्त इन दार्शनिकों से यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि यदि ईश्वर अकारण हो सकता है तो यह विश्व अकारण क्यों नहीं हो सकता। यदि किसी वस्तु को अकारण मानना अनिवार्य ही है तो ईश्वर की अपेक्षा विश्व को अकारण मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि विश्व का अनुभव हमें प्राप्त है जबकि ईश्वर हमारे अनुभव से परे है। कारणपरक प्रमाण के समर्थकों की यह मान्यता नितांत अयुक्तिसंगत है कि ईश्वर स्वयंभू अथवा अपना कारण स्वयं है। वे पहले ही यह तर्क दे चुके हैं कि कोई भी वस्तु अपना कारण स्वयं नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में उन्हीं के इस तर्क के अनुसार ईश्वर भी अपना कारण स्वयं नहीं हो सकता। ईश्वर को स्वयंभू मानना कारण-कार्य के नियम का स्पष्ट रूप से उल्लंघन करना है जिस पर कारणपरक प्रमाण आधारित है। इस प्रकार यह प्रमाण केवल अविश्वसनीय ही नहीं है, अपितु इस में स्वतोव्याघात भी विद्यमान है जो इसे बहुत दोषपूर्ण बना देता है और जिस के कारण यह ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में सफल नहीं हो पाता।

(3) यह सत्य है कि इस जगत् में सर्वत्र कारण-कार्य का नियम दिखाई देता है, किंतु इस नियम का क्षेत्र हमारे अनुभव तक ही सीमित है। हमारा अनुभव ही कारणता की अवधारणा का एकमात्र आधार है, अतः अनुभव से परे इस अवधारणा का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता। हम केवल दिक्-काल के अंतर्गत होने वाली घटनाओं के संदर्भ में ही कारणता की अवधारणा का प्रयोग कर सकते है; दिक्-काल से परे हम सार्थकतापूर्वक कारण-कार्य की बात नहीं कर सकते। स्पष्टतः इस का तात्पर्य यही है कि अनुभवात्मक जगत् से परे कारणता की अवधारणा हमारे लिए निरर्थक हो जाती है। परंतु कारणपरक प्रमाण के समर्थक अनुभवातीत ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए इस का प्रयोग करते हैं जो निश्चय ही उचित नहीं है। हम कारण-कार्य के नियम के आधार पर ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को युक्तिसंगत रूप से कभी भी प्रमाणित नहीं कर सकते जो हमारे अनुभव का विषय नहीं है और न हो सकता है। ऐसे अनुभवातीत ईश्वर के संबंध में सार्थकतापूर्वक कारणता की अवधारणा का प्रयोग करना संभव नहीं है। इसी तथ्य के आधार पर महान

दार्शनिक कान्ट ने कारणपरक प्रमाण की तीव्र आलोचना की है। इस प्रमाण को अयुक्तिसंगत मानते हुए वे कहते हैं कि: "अनुभवात्मक जगत् के अतिरिक्त कारणता के नियम का न कोई अर्थ है और न उसके प्रयोग के लिए हमारे पास कोई कसौटियाँ हैं। परंतु सृष्टिमूलक प्रमाण में इस का प्रयोग हमें अनुभवात्मक जगत् से परे जाने में समर्थ बनाने के लिए ही किया गया है"।[1] इस प्रकार हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि अनुभवात्मक जगत् तक सीमित कारण-कार्य के नियम द्वारा अनुभवातीत ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करना सम्भव नहीं है।

(4) हम देख चुके हैं कि कारणपरक प्रमाण के समर्थकों के अनुसार कारण-कार्य की इस अनंत श्रृंखला से बचने के लिए ईश्वर को विश्व का आदि कारण मानना अनिवार्य है। परंतु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि कारण-कार्य की इस अनंत श्रृंखला से बचना क्यों आवश्यक है। इस प्रश्न के उत्तर में प्रायः यह कहा जाता है कि ऐसी श्रृंखला का कोई प्रथम कारण मान कर उसे समाप्त न करने से अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। यह उत्तर संतोषप्रद नहीं है, क्योंकि कारण-कार्य की अनंत-श्रृंखला तर्कबुद्धि के विरुद्ध प्रतीत नहीं होती। यदि हम यह मान लें कि इस विश्व में कारण-कार्य की श्रृंखला का कोई अंत नहीं है तो हमारी इस मान्यता को अयुक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। हम तर्कसंगत रूप से यह मान सकते हैं कि विश्व में एक घटना दूसरी घटना का कारण है और इस प्रक्रिया का कोई अंत नहीं है। काल और संख्या के संबंध में हम पहले ही बिना किसी तार्किक कठिनाई के इस विचार को स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ हम आगे तथा पीछे की ओर अनंत समय की कल्पना कर सकते हैं। इसी प्रकार हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि संख्या की छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी इकाई का कोई अंत नहीं है। इन उदाहरणों से यही प्रमाणित होता है कि अनंत श्रृंखला का विचार हमारी तर्कबुद्धि के विरुद्ध नहीं है। यदि हमारा यह मत युक्तिसंगत है तो कारणपरक प्रमाण का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि इस प्रमाण के समर्थक कारण-कार्य की अनंत श्रृंखला से बचने के लिए ही विश्व के आदि कारण के रूप में ईश्वर की कल्पना करते हैं। परंतु कारण-कार्य की अनंत श्रृंखला के विचार को युक्तिसंगत मान लेने पर उनकी यह कल्पना तार्किक दृष्टि से निराधार हो जाती है।

(5) यदि उपर्युक्त सभी आपत्तियों की उपेक्षा करते हुए यह मान लिया जाए कि ईश्वर ही इस विश्व का आदि कारण है तो भी कारणपरक प्रमाण द्वारा उस ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता जिसमें धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक विश्वास करते हैं। हम देख चुके हैं कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, परम दयालु, शाश्वत या नित्य, अपरिवर्तनशील तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण माना जाता है। कारणपरक प्रमाण द्वारा ऐसे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। इस प्रमाण के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्तियों की ओर ध्यान न देने पर भी इस के द्वारा केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि इस विश्व का

---

1. इमैनुअल कान्ट, 'क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न', नार्मन कैम्प-स्मिथ द्वारा अनूदित, पृ० 511।

कोई प्रथम कारण है। इस प्रथम कारण को 'ईश्वर' की संज्ञा दी जा सकती है, किंतु यह उस प्रकार का ईश्वर नहीं होगा जिस प्रकार के ईश्वर में धर्मपरायण व्यक्ति विश्वास करते हैं। विश्व के इस प्रथम कारण में असीम शक्ति, ज्ञान, दया, प्रेम आदि गुणों को आरोपित करने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। कारण-कार्य के नियम पर आधारित कारणपरक प्रमाण केवल इतना ही प्रमाणित कर सकता है कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य संभव नहीं है। इस के द्वारा किसी भी कारण के विशेष स्वरूप को सिद्ध नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि इस प्रमाण के आधार पर हम तर्कसंगत रूप से उस ईश्वर के अस्तित्व को कभी प्रमाणित नहीं कर सकते जो भक्तों की उपासना का विषय है और जिसके स्वरूप का वर्णन ऊपर किया गया है। इतना ही नहीं, कारणपरक प्रमाण को स्वीकार करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि विश्व को उत्पन्न करने के पश्चात इस का प्रथम कारण नष्ट हो गया है। हमारा सामान्य अनुभव इस तथ्य की पुष्टि करता है कि अनेक वस्तुओं के कारण उन्हें जन्म देने के पश्चात नष्ट या समाप्त हो जाते हैं। कार्य के साथ-साथ उसके कारण का सदा विद्यमान रहना अनिवार्य नहीं है। ऐसी स्थिति में इस संभावना को अयुक्तिसंगत नहीं माना जा सकता कि विश्व को उत्पन्न करने के उपरांत ईश्वर का भी अंत हो गया हो। परंतु कारणपरक प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक ईश्वर को शाश्वत अथवा नित्य मान कर इस संभावना को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। वस्तुतः ये दार्शनिक अपने इस प्रमाण द्वारा उस ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना चाहते हैं जो इस के सीमित क्षेत्र से बाहर है। यही कारण है कि उन्हें अपने इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि सृष्टिमूलक प्रमाण के तीनों रूप दोषपूर्ण तथा अविश्वसनीय हैं, अतः यह प्रमाण तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असमर्थ है।

3. प्रयोजनमूलक प्रमाण

सृष्टिमूलक प्रमाण के अतिरिक्त ईश्वरवादी दार्शनिकों ने प्रयोजनमूलक प्रमाण द्वारा भी ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। यह प्रयोजनमूलक प्रमाण भी मूलतः अनुभवाश्रित प्रमाण है, क्योंकि इस का आधार भी विश्व के संबंध में मनुष्य का अपना अनुभव ही है। अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए यह प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है। न्याय, वैशेषिक, योग और अद्वैत वेदांत में इस प्रमाण का उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम प्लेटो ने ईश्वर की सत्ता के लिए यह प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया था। इस के पश्चात मध्य युग में ऐक्वाइनस ने सृष्टिमूलक प्रमाण के साथ-साथ इस प्रमाण को भी ईश्वर के अस्तित्व के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण के रूप में स्वीकार किया। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भी विलियम पेले, हैनरी मोर, जेम्स मार्टिन्यू, ऐफ० आर० टैनेन्ट आदि अनेक दार्शनिकों ने इस प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ह्यूम और कान्ट ने इस प्रमाण की तीव्र

आलोचना की है, किंतु वे भी इसे ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में दिया जाने वाला प्राचीनतम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के प्रयास के रूप में प्रयोजनमूलक प्रमाण का बहुत महत्त्व है।

जैसा कि इस प्रमाण के नाम से ही ज्ञात होता है, इस के द्वारा विश्व में विद्यमान व्यवस्था, समायोजन तथा प्रयोजन के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रमाण के समर्थक यह कहते हैं-और हमारा सामान्य अनुभव भी इस तथ्य की पुष्टि करता है-कि जब कोई व्यवस्था स्थापित की जाती है अथवा किसी वस्तु की रचना की जाती है तो उसके मूल में कोई उद्देश्य या प्रयोजन अवश्य होता है। इस संपूर्ण ब्रह्मांड में एक निश्चित व्यवस्था स्पष्ट रूप से दिखाई देती है जिस के अनुसार इस के समस्त ग्रह-नक्षत्रों का संचालन होता है। इसकी सभी वस्तुएँ तथा कार्य-प्रणालियाँ कुछ विशेष प्राकृतिक नियमों द्वारा शासित होती हैं जो सर्वत्र व्याप्त हैं। उदाहरणार्थ समस्त ग्रह अपनी-अपनी निश्चित कक्षाओं में नियमित रूप से घूमते हैं जिस के फलस्वरूप उनमें सदा एक व्यवस्था बनी रहती है। ब्रह्मांड में विद्यमान इस व्यवस्था के कारण ही वैज्ञानिक इसका संचालन करने वाले प्राकृतिक नियमों तथा इसकी कार्य-प्रणालियों को कुछ सीमा तक समझने में समर्थ हो सके हैं। हमारी पृथ्वी इस ब्रह्मांड का बहुत ही छोटा-सा भाग है, किंतु इसमें भी सर्वत्र नियमानुरूपता और व्यवस्था दिखाई देती है। इस में नियमानुसार विभिन्न ऋतुएँ बदलती हैं और दिन तथा रात्रि का निरंतर चलने वाला चक्र दिखाई देता है जो सभी जीवों के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। इस पृथ्वी के पर्यावरण का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि उस में सभी प्राणी जीवित रह सकें और उन का विकास हो सके। यदि इस पृथ्वी पर जल-वायु और तापमान पूर्णतः भिन्न प्रकार के होते तो निश्चय ही इस पर वर्तमान रूप में जीवों का विकास संभव नहीं था।

विश्व में विद्यमान इस व्यवस्था के अतिरिक्त सभी प्राणियों के अंगों में समायोजन दिखाई देता है जिस के कारण वे जीवित रहते हैं और उन का विकास होता है। उदाहरणार्थ मनुष्य के शरीर के सभी अंग समायोजित रूप से इस प्रकार कार्य करते हैं कि वह जीवित रह सके और विकसित हो सके। आँखों और कानों का निर्माण इस प्रकार किया गया है कि वे क्रमशः प्रकाश तथा ध्वनि की तरंगो को ग्रहण कर के देखने एवं सुनने की क्रियाएँ सम्पन्न कर सकें। यही बात मानव-शरीर के अन्य सभी अंगों के विषय में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार जल, स्थल तथा नभ में विचरण करने वाले विभिन्न प्राणियों के सभी अंगों की रचना ऐसे ढंग से की गई है कि वे अपने-अपने परिवेश में जीवित रह सकें और स्वयं अपना एवं अपनी जातियों का भली-भाँति विकास कर सकें। प्राणियों के अंगों में पाए जाने वाले इस समायोजन से यह स्पष्ट है कि इसका एक विशेष उद्देश्य है और वह है उन का अस्तित्व बनाए रखना तथा उनका समुचित विकास करना।

अब यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि किसी प्रकार की व्यवस्था के लिए व्यवस्थापक और किसी प्रकार के प्रयोजन के लिए प्रयोजनकर्ता का होना अनिवार्य है। हम ऊपर देख चुके हैं कि संपूर्ण ब्रह्मांड में प्राकृतिक नियमों पर आधारित एक निश्चित व्यवस्था है और सभी प्राणियों के अंगों में समुचित समायोजन दिखाई देता है जिस का प्रयोजन उन की जीवन-रक्षा

तथा उन का विकास है। ईश्वरवादी दार्शनिको का कथन है कि ब्रह्मांड में विद्यमान इस व्यवस्था और प्रयोजन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका कोई बुद्धिमान रचयिता अवश्य है जिस ने एक विशेष प्रयोजन को ध्यान में रख कर इस में यह व्यवस्था स्थापित की है। ब्रह्मांड का यह रचयिता और व्यवस्थापक ही ईश्वर है जिस के बिना इसके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हम अपने अनुभव से यह जानते हैं कि बुद्धिमान रचयिता के अभाव में किसी व्यवस्थित एवं उद्देश्यपूर्ण कृति की रचना संभव नहीं है। अपने इसी य अनुभव के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्मांड के रचयिता ईश्वर के बिना ब्रह्मांड का अस्तित्व भी नहीं हो सकता। यदि इस के रचयिता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न किया जाए तो इस में विद्यमान व्यवस्था एवं प्रयोजन की संतोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रकार प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थकों के मतानुसार ब्रह्मांड के व्यवस्थापक तथा प्रयोजनकर्ता के रूप में उस के रचयिता ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

एक पाश्चात्य दार्शनिक विलियम पैले ने 1802 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'नेचरल थियोलॉजी' में इसी प्रयोजनमूलक प्रमाण के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इस प्रमाण की पुष्टि के लिए उन्होंने सौरमंडल के अंतर्गत अपनी-अपनी कक्षाओं में घूमने वाले ग्रहों, पृथ्वी पर नियमानुसार परिवर्तित होने वाली ऋृतुओं, प्राणियों के अंगों की जटिल रचना तथा उन के पारस्परिक समायोजन का उल्लेख किया है जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। उन का कथन है कि ये सभी बातें ब्रह्मांड में विद्यमान व्यवस्था और प्रयोजन को स्पष्टतः प्रमाणित करती हैं जिन के आधार पर हम इसके बुद्धिमान रचयिता ईश्वर की सत्ता को भली-भाँति सिद्ध कर सकते हैं। अपने इस प्रयोजनमूलक प्रमाण की व्याख्या करने के लिए पैले ने घड़ी और घड़ी साज़ का उदाहरण दिया है। वे कहते हैं कि मान लीजिए हमें किसी वन में पड़ी हुई एक घड़ी मिलती है। ठीक-ठीक समय बताने के लिए निर्मित इसके विभिन्न भागों को देखकर हम निश्चय ही यह अनुमान लगाएँगे कि इस का कोई निर्माता अवश्य रहा होगा और उसने समय बताने के उद्देश्य को ध्यान में रख कर इसका निर्माण किया होगा। परंतु यदि हमें उसी वन में पड़ा हुआ एक पत्थर मिलता है तो हम उस के विषय में इस प्रकार का अनुमान नहीं लगा सकते, क्योंकि उस के भागों में न तो कोई व्यवस्था है और न ही उसका कोई प्रयोजन है। इसके विपरीत वहाँ पड़ी हुई घड़ी को देखकर हम उस के निर्माता का अनुमान किए बिना नहीं रह सकते। ठीक यही बात व्यवस्थित और उद्देश्यपूर्ण ब्रह्मांड के संबंध में भी कही जा सकती है। अपने वर्तमान रूप में ब्रह्मांड का अस्तित्व इस के बुद्धिमान रचयिता को सिद्ध करता है और इसी रचयिता को 'ईश्वर' की संज्ञा दी जाती है। पैले का कथन है कि यदि घड़ी के कुछ भाग ठीक प्रकार से कार्य नहीं करते तो इससे उस पर आधारित हमारा घड़ीसाज़ संबंधी अनुमान अयुक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता, क्योंकि घड़ी की उपस्थिति मात्र उसके निर्माता को अनिवार्यतः प्रमाणित करती है। इसी प्रकार यदि हम उस घड़ी के कुछ भागों के कार्य को भलीभाँति नहीं समझ पाते तो इससे भी हमारा घड़ी साज़ विषयक अनुमान गलत प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि इसके लिए घड़ी के सभी भागों के कार्य को ठीक-ठीक समझना अनिवार्य नहीं है। पैले यह भी कहते हैं कि यदि हम ने पहले कभी घड़ी नहीं देखी और हम यह भी नहीं जानते कि वह

मानव-निर्मित वस्तु है तो भी हमारे इस अनुमान की प्रामाणिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि व्यवस्थित एवं उद्देश्यपूर्ण घड़ी की उपस्थिति ही उस के निर्माता को अनिवार्यतः प्रमाणित करती है। उन का मत है कि ये तीनों बातें ब्रह्मांड तथा उस के रचयिता ईश्वर से संबंधित हमारे अनुमान पर भी पूर्ण रूप से लागू होती हैं। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण द्वारा अपने प्रयोजनमूलक प्रमाण की व्याख्या करते हुए पैले ने इस प्रमाण के आधार पर ब्रह्मांड के बुद्धिमान रचयिता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

वर्तमान शताब्दी में भी कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए यह प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है। इन दार्शनिकों में ए० आइ० ब्राउन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर इस प्रमाण का समर्थन करने का प्रयास किया है। इस संबंध में उन्होंने हमारी पृथ्वी के ऊपरी पर्यावरण में विद्यमान 'ओज़ोन' नामक गैस की उस परत का उदाहरण दिया है जो इस पृथ्वी पर समस्त प्राणियों तथा पेड़-पौधों के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अनिवार्य है। यह 'ओज़ोन' गैस इस धरती पर प्राणियों के जीवन के लिए एक ऐसा रक्षा-कवच है जिसके बिना वे एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। इसे पृथ्वी के समस्त प्राणियों के लिए ईश्वर का वरदान मानते हुए ब्राउन कहते हैं कि "ओज़ोन गैस की परत रचयिता द्वारा पहले से सोच-समझ कर किए गए कार्य का महान प्रमाण है। क्या कोई इस गैस की परत को विकास की आकस्मिक प्रक्रिया का परिणाम मान सकता है? एक ऐसी दीवार जो प्रत्येक प्राणी को मृत्यु से बचाती है....... योजना का प्रमाण देती है"।[2] उपर्युक्त उद्धरण में ब्राउन का संकेत स्पष्टतः सूर्य की उन पराबैंगनी किरणों की ओर है जो जीवन के लिए अत्यंत घातक हैं और जिन्हें ओज़ोन गैस की परत धरती पर आने से रोकती है। इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्राणियों की जीवन-रक्षा के लिए ही ईश्वर ने जान-बूझ कर पृथ्वी के ऊपरी पर्यावरण में ओज़ोन गैस की यह परत स्थापित की है। उन के विचार में इस से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि ईश्वर की सत्ता है।

जैसा कि पहले कहा गया है, पाश्चात्य दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ भारतीय दार्शनिकों ने भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए यह प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है। इन दार्शनिकों में नैयायिक जयंत भट्ट तथा अद्वैत वेदांत के प्रणेता शंकराचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ईश्वर की सत्ता के समर्थन में यही प्रमाण देते हुए जयंत भट्ट कहते हैं कि जिस प्रकार व्यवस्था एवं प्रयोजन से परिपूर्ण भवन, वस्त्र, घट आदि सभी सांसारिक वस्तुएं बुद्धिमान मनुष्यों द्वारा ही निर्मित होती हैं और केवल संयोगवश उनकी उत्पत्ति संभव नहीं है उसी प्रकार इस ब्रह्मांड की रचना भी सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर द्वारा ही की गई है, क्योंकि इसमें भी व्यवस्था एवं प्रयोजन विद्यमान है यह व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण ब्रह्मांड किसी प्रकार के संयोग मात्र का परिणाम नहीं हो

---

2. ए० आई० ब्राउन, फट प्रिंटस ऑफ़ गॉड', पृ० 102

सकता; इसका कोई बुद्धिमान रचयिता अवश्य है और वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है। जयंत भट्ट का मत है कि इस व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण ब्रह्मांड तथा इसके रचयिता ईश्वर में वही अनिवार्य संबंध है जो धुएँ और अग्नि में पाया जाता है। इस का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हम धुएँ के आधार पर अग्नि के होने का अनुमान लगा सकते हैं उसी प्रकार हम इस व्यवस्थित एवं प्रयोजनपूर्ण ब्रह्मांड के आधार पर उस के रचयिता ईश्वर के अस्तित्व का भी अनुमान लगा सकते हैं। हमारे ये दोनों अनुमान समान रूप से तर्कसंगत हैं, क्योंकि इन दोनों में समान व्याप्ति विद्यमान है। इस प्रकार जयंत भट्ट यह मानते हैं कि ईश्वर की सत्ता के लिए यह प्रयोजनमूलक प्रमाण पूर्णतः युक्तिसंगत है।

जयंत भट्ट की भाँति शंकर ने भी इस प्रयोजनमूलक प्रमाण का समर्थन किया है। यह सत्य है कि वे पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण, निराकार और निर्विशेष ब्रह्म को ही एकमात्र यथार्थ सत्ता मानते हैं, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने इस जगत् तथा उसके रचयिता ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। इसी व्यावहारिक दृष्टि से वे ईश्वर की सत्ता के लिए सृष्टिमूलक तथा नीतिपरक प्रमाणों के साथ-साथ प्रयोजनमूलक प्रमाण का भी समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि इस जगत् की वस्तुओं में व्यवस्था और प्रयोजन स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं जिन से यही प्रमाणित होता है कि इस की रचना बुद्धिमान ईश्वर ने की है। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी को एक व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण घड़े में परिवर्तित कर देता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी माया से इस व्यवस्थित एवं प्रयोजनपूर्ण जगत् की रचना करता है। इस रचयिता-अर्थात् ईश्वर-के अभाव में हम जगत् में विद्यमान व्यवस्था और प्रयोजन की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जयंत भट्ट के समान ही शंकर ने भी प्रयोजनमूलक प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

अभी तक हम ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए कुछ पाश्चात्य तथा भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत प्रयोजनमूलक प्रमाण की व्याख्या की है। अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि यह प्रयोजनमूलक प्रमाण कहाँ तक युक्तिसंगत और संतोषप्रद है। इस में संदेह नहीं है कि सामान्य व्यक्ति को यह प्रमाण बहुत विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि वह इस विश्व में स्पष्ट रूप से व्यवस्था और प्रयोजन का अनुभव करता है। वह अपने अनुभव के आधार पर यह जानता है कि इस जगत् में ऐसी सभी वस्तुओं का कोई बुद्धिमान रचयिता अवश्य होता है जिन में व्यवस्था, समायोजन तथा प्रयोजन पाए जाते हैं। इसी कारण उसे ब्रह्मांड के बुद्धिमान रचयिता के रूप में ईश्वर की सत्ता के लिए उपर्युक्त प्रयोजनमूलक प्रमाण पूर्णतः तर्कसंगत और संतोषजनक प्रतीत होता है। परंतु दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर हम सामान्य व्यक्ति के इस मत का समर्थन नहीं कर सकते। वस्तुतः सृष्टिमूलक प्रमाण की भाँति यह प्रयोजनमूलक प्रमाण भी तार्किक दृष्टि से बहुत दोषपूर्ण होने के कारण अविश्वसनीय तथा असंतोषप्रद है। इस प्रमाण के विरुद्ध भी ह्यूम, कान्ट आदि अनेक महान दार्शनिकों ने बहुत-सी गंभीर आपत्तियाँ उठाई हैं जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं:

(1) हम देख चुके हैं कि उपर्युक्त प्रयोजनमूलक प्रमाण मूलतः साम्यानुमान पर ही आधारित है। इस के समर्थक ब्रह्मांड को व्यवस्थित तथा प्रयोजनपूर्ण मानते हैं और कुछ

सांसारिक वस्तुओं में विद्यमान व्यवस्था एवं प्रयोजन के आधार पर इस ब्रह्मांड के बुद्धिमान रचयिता के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। परंतु उन का यह साम्यानुमान दोषपूर्ण तथा अयुक्तिसंगत हैं। इसका कारण यह है कि हमारे पास ऐसे साम्यानुमान के लिए वास्तव में कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। हम मकान, घड़ी, मेज, कुर्सी आदि सांसारिक वस्तुओं के विषय में अवश्य ही यह कह सकते हैं कि इन का कोई निर्माता है जिस ने किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रख कर इन का निर्माण किया है, क्योंकि हमने बार-बार मनुष्यों द्वारा इन्हें निर्मित होते देखा है। परंतु ब्रह्मांड तथा उस के रचयिता ईश्वर के संबंध में हम ऐसा नहीं कह सकते। इस का कारण यह है कि ब्रह्मांड तथा ईश्वर दोनों ही अद्वितीय अथवा अनन्य हैं और हमने कभी भी ईश्वर को ब्रह्मांड की रचना करते हुए नहीं देखा। ऐसी स्थिति में हम तर्कसंगत रूप से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि ईश्वर ने किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रख कर इस ब्रह्मांड की रचना की है। यदि हम ने ईश्वर को बार-बार व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण ब्रह्मांड की रचना करते हुए देखा होता तभी हम तार्किक दृष्टि से यह अनुमान लगा सकते थे कि उसने किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस व्यवस्थित ब्रह्मांड की रचना की है। परंतु इस ज्ञान के अभाव में हमारा उपर्युक्त साम्यानुमान निराधार तथा अयुक्तिसंगत हो जाता है। प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थक इस ब्रह्मांड तथा ईश्वर में जिस अपरिहार्य संबंध अथवा व्याप्ति की बात करते हैं वह वस्तुतः इन दोनों में विद्यमान नहीं है। इसी कारण उनके इस साम्यानुमान का तार्किक दृष्टि से समर्थन नहीं किया जा सकता। यदि हम यह मान भी लें कि इस जगत् में व्यवस्था और प्रयोजन पाए जाते हैं तो भी हम इस के आधार पर तर्कसंगत रूप से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि इसका रचयिता ईश्वर है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रयोजनमूलक प्रमाण का साम्यानुमान संबंधी मूल आधार ही दोषपूर्ण तथा अयुक्तिसंगत है, अतः यह ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में नितांत असमर्थ है।

(2) प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थकों का यह दावा है कि इस विश्व में एक निश्चित व्यवस्था और इस के सभी भागों में पूर्ण समायोजन है जिससे इसके बुद्धिमान रचयिता ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है। परंतु उनका यह दावा उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस विश्व में व्यवस्था के साथ-साथ अनेक अपूर्णताएँ तथा समायोजन की कमियाँ भी हैं जिन की वे उपेक्षा करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि संपूर्ण विश्व में भूकम्प, बाढ़, आंधी, तूफान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल आदि प्राकृतिक विपत्तियाँ प्रायः आती रहती हैं जिन के कारण अपार धन-संपति के विनाश के साथ-साथ लाखों निर्दोष मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों की असामयिक मृत्यु होती है। इन प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरूप जो व्यापक विनाश होता है वह इस विश्व की अपूर्णता का स्पष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार मनुष्य और अन्य प्राणियों के अंग भी अपना-अपना कार्य सदा भलीभाँति संपन्न नहीं कर पाते। वे प्रायः रोग-ग्रस्त हो जाते हैं जिस के कारण प्राणियों को घोर कष्ट भोगना पड़ता है। हमारे शरीर का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जो रोग के आक्रमण से मुक्त हो और जो आजीवन अपना कार्य भलीभाँति संपन्न करता रहे। इतना ही नहीं, अनेक घातक रोगों के कारण लाखों मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त पशु-जगत् में बलवान

प्राणी दुर्बल प्राणी को प्रायः मार कर खा जाता है अथवा उसे निरंतर भयत्रस्त किए रहता है। वस्तुतः समस्त प्राणी-जगत् का इतिहास निरंतर रक्तरंजित संघर्ष का क्रूर इतिहास है। विश्व की उपर्युक्त सभी अपूर्णताएँ यही प्रमाणित करती हैं कि इस का कोई बुद्धिमान रचयिता नहीं है। यदि कोई शिल्पी ऐसा भवन बनाए जिस की छत से पानी टपकता हो, जिस के फ़र्श में जगह-जगह पर दरारें हों और जिसकी दीवारों का पलस्तर गिरता रहता हो तो हम यही कहेंगे कि वह शिल्पी अपने कार्य में नितांत अकुशल है और उसे तुरंत हटा दिया जाना चाहिए। ऐसे शिल्पी को हम निश्चय हीं उस भवन का बुद्धिमान रचयिता नहीं मान सकते। यदि प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थकों का यह मत स्वीकार कर लिया जाए कि ईश्वर ही विश्व का रचयिता है तो इस विश्व की उपर्युक्त अनेक अपूर्णताओं को ध्यान में रखते हुए ईश्वर के विषय में भी हम यही कह सकते हैं कि वह अपूर्ण तथा अपने कार्य में नितांत अकुशल है। विश्व की इन अपूर्णताओं के साथ-साथ इस में पाई जाने वाली कुरूपताओं तथा समायोजन की कमियों की भी प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थक उपेक्षा करते हैं। वे अपने प्रमाण के समर्थन में केवल उन्हीं वस्तुओं का उदाहरण देते हैं, जो मनुष्य के लिए सुखद तथा लाभदायक हैं और जो उसे सुंदर एवं आकर्षक प्रतीत होती हैं। ऐसा करते समय वे उन सभी वस्तुओं की उपेक्षा करते हैं जो अत्यंत कुरूप हैं, जिन में समायोजन का अभाव है और जो मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के लिए अत्यधिक कष्टदायक एवं हानिकारक हैं। इससे स्पष्ट है कि वे अपने प्रमाण के विरुद्ध सभी तथ्यों की उपेक्षा करते हुए केवल उन्हीं तथ्यों पर ध्यान देते हैं जो उनके प्रमाण का समर्थन करते हैं। परंतु जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, किसी दार्शनिक के लिए ऐसा करना उचित और युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार अनेक प्रासंगिक तथ्यों की उपेक्षा करने के कारण प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थक अपने इस प्रमाण द्वारा तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर पाते।

(3) हम देख चुके हैं कि प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिक इस पृथ्वी के विशेष पर्यावरण तथा इस में विकसित होने वाले जीवों की विभिन्न जातियों के विशेष प्रकार के विकास के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परंतु उन का यह प्रयास उन की इस भ्रामक मान्यता पर आधारित है कि ईश्वर ने ही इस पर्यावरण तथा इस में रहने वाले समस्त प्राणियों की रचना की है। चार्ल्स डार्विन के विकासवाद और उस के पश्चात प्राणीशास्त्र में होने वाले वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा निश्चित रूप से यह प्रमाणित हो गया है कि इस धरती पर सभी जीवों की जातियों का विकास कुछ विशेष प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही हुआ है। ये नियम हैं 'प्राकृतिक चयन का नियम' तथा 'योग्यतम की उत्तरजीविता का नियम' जिन के द्वारा समस्त प्राणियों के विकास की व्याख्या की जा सकती है। इन नियमों के अनुसार जीवों की सभी जातियों में अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए परस्पर निरंतर संघर्ष चलता रहता है और जो जातियाँ अपने वातावरण के साथ समायोजन के फलस्वरूप इस संघर्ष में विजयी होती हैं वे ही जीवित रहती हैं तथा उन्हीं का विकास होता है; इस संघर्ष में पराजित होने वाली शेष सभी जातियाँ नष्ट हो जाती हैं। विकासवाद के प्रणेता डार्विन तथा इस सिद्धांत के अन्य समर्थकों ने यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया हैं कि इस पृथ्वी पर अनेक विशालकाय जीवों की जातियाँ अपने

वातावरण के साथ अपने आप को समायोजित न कर सकने के कारण नष्ट हो गई हैं। इससे स्पष्ट है कि जीवों की जातियों का विकास अथवा विनाश का कारण ईश्वर या कोई अन्य दैवी शक्ति नहीं, अपितु कुछ विशेष प्राकृतिक नियम ही हैं। ऐसी स्थिति में प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थकों का यह दावा अयुक्तिसंगत सिद्ध हो जाता है कि जीवों के अंगों में पाए जाने वाले समायोजन के फलस्वरूप उनके विकास के आधार पर हम उनके बुद्धिमान रचयिता ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं। वस्तुतः जीवों के विकास की व्याख्या के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि विकासवादी सिद्धांत के प्राकृतिक नियमों द्वारा यह व्याख्या संतोषप्रद रूप से की जा सकती है। यहाँ ईश्वरवादी दार्शनिक यह कह सकते हैं कि विकासवाद के सिद्धांत द्वारा ईश्वर की प्राक्कल्पना का अनिवार्यतः खंडन नहीं होता। अपनी इस मान्यता के समर्थन में वे यह तर्क दे सकते हैं कि स्वयं ईश्वर ने ही विकासवाद के नियमों द्वारा इस विश्व की रचना की है। परंतु उनका यह तर्क दोषपूर्ण है, क्योंकि हमारे पास इस मान्यता को स्वीकार करने का कोई वस्तुपरक और युक्तिसंगत आधार नहीं है कि ईश्वर ने विकासवादी नियमों के आधार पर इस विश्व की रचना की है। फिर यदि उनके इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाए तो ईश्वर की स्थिति 'भूल और प्रयास की विधि' के अनुसार कार्य करने वाले एक सामान्य व्यक्ति की स्थिति की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट नहीं रह जाती। इस का कारण यह है कि विकासवादी सिद्धांत के अनुसार इस पृथ्वी पर जीवों की जातियों का विकास किसी एक समय में नहीं, अपितु 'भूल और प्रयास की विधि' द्वारा लाखों वर्षों में हुआ है। स्पष्ट है कि विश्व की रचना के लिए इस विधि का प्रयोग करने वाला ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रयोजनमूलक प्रमाण के समर्थक विकासवाद का आधार ले कर भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकते।

(4) ईश्वरवादियों का यह दावा है कि सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ होने के साथ-साथ अत्यंत दयालु होने के कारण ईश्वर ने मनुष्यों और अन्य सभी प्राणियों के सुख के लिए ही इस विश्व की रचना की है। परंतु उनका यह दावा नितांत भ्रामक तथा अयुक्तिसंगत है, क्योंकि इस संसार में सुख के साथ-साथ दुःख भी सर्वत्र व्याप्त है। यह निर्विवाद तथ्य है कि अनेक भयंकर प्राकृतिक आपदाओं तथा घातक रोगों के फलस्वरूप इस संसार में सभी प्राणी व्यापक रूप से तीव्र पीड़ा अथवा दुःख का अनुभव करते हैं। यदि इस संसार का रचयिता ईश्वर सच-मुच सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अत्यंत दयालु होता तो निश्चय ही इसमें इतनी अधिक पीड़ा न होती। इस विश्व में सर्वत्र व्याप्त तीव्र पीड़ा या दुःख से यही प्रमाणित होता है कि यदि ईश्वर इसका रचयिता है तो वह निश्चय ही सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ एवं अत्यंत दयालु नहीं है और उसने प्राणियों के सुख के लिए इस की रचना नहीं की। दर्शनशास्त्र में इस समस्या को 'अशुभ की समस्या' कहा जाता है जो ईश्वरवाद के लिए एक गंभीर चुनौती है। इस समस्या पर प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान बाद में विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि संसार में विद्यमान व्यापक और तीव्र दुःख प्रयोजनमूलक प्रमाण के विरुद्ध निश्चय ही एक प्रबल तर्क है।

(5) यदि उपर्युक्त सभी आपत्तियों की उपेक्षा करते हुए यह मान भी लिया जाए कि

ईश्वर ही इस विश्व का रचयिता है तो भी प्रयोजनमूलक प्रमाण के आधार पर उस ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता जिसे धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक स्वीकार करते हैं। हम देख चुके हैं कि ईश्वरवादियों के मतानुसार ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अत्यंत दयालु, नित्य, असीम तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण है। परंतु वर्तमान विश्व के आधार पर निश्चय ही ऐसे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। इसका कारण यह है कि इस विश्व में अनेक कमियाँ तथा अपूर्णताएँ हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यदि ईश्वर वास्तव में सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा पूर्ण होता तो वह ऐसे सीमित और अपूर्ण विश्व की रचना न करता। इसके अतिरिक्त कारण-कार्य के नियम के अनुसार हम किसी सीमित और अपूर्ण कार्य को देख कर उसके आधार पर असीम तथा पूर्ण कारण का तर्कसंगत रूप से अनुमान नहीं लगा सकते। अपूर्ण तथा सीमित कार्य के आधार पर केवल अपूर्ण और सीमित कारण का ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रयोजनमूलक प्रमाण द्वारा अधिक से अधिक एक सीमित तथा अपूर्ण शिल्पी की सत्ता ही प्रमाणित की जा सकती है जिसने पहले से विद्यमान सामग्री के आधार पर इस विश्व की रचना की है। ऐसा शिल्पी विश्व का केवल निमित्त कारण ही हो सकता है, उपादान कारण नहीं। हम देख चुके हैं कि नैयायिक ईश्वर को विश्व का उपादान कारण न मान कर केवल निमित्त कारण ही मानते हैं। परंतु ऐसा निमित्त कारण पहले से विद्यमान सामग्री द्वारा अपनी रचना-प्रक्रिया में अनिवार्यतः सीमित हो जाता है। स्पष्ट है कि ऐसे अपूर्ण तथा सीमित शिल्पी को—जो विश्व का केवल निमित्त कारण है—उस अर्थ में 'ईश्वर' नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में ईश्वरवादी और धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार यदि प्रयोजनमूलक प्रमाण के विरुद्ध अभी तक उठाई गई सभी गंभीर आपत्तियों पर ध्यान न देते हुए इसे युक्तिसंगत मान भी लिया जाए तो भी यह 'ईश्वर' शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में नितांत असमर्थ है।

4. नीतिपरक प्रमाण

उपर्युक्त दो प्रमाणों के अतिरिक्त नीतिपरक प्रमाण द्वारा भी कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिए सृष्टिमूलक और प्रयोजनमूलक प्रमाणों के साथ-साथ इस नीतिपरक प्रमाण को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। भारतीय दर्शन में गौतम, वात्स्यायन आदि नैयायिकों तथा अद्वैत वेदांत के प्रवर्तक शंकर ने और पाश्चात्य दर्शन में कान्ट, कार्डिनल न्यूमैन आदि दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में यह प्रमाण प्रस्तुत किया है। जैसा कि इस प्रमाण के नाम से ही स्पष्ट है, इस का आधार मनुष्य का नैतिक अनुभव है जिसकी संतोषप्रद व्याख्या के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य माना गया है। इस प्रमाण के समर्थकों का कथन है कि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये बिना हम अपने नैतिक कर्त्तव्य, नैतिक मूल्यों तथा उच्चतम और पूर्ण शुभ की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते। गौतम, वात्स्यायन, शंकर आदि कछ भारतीय दार्शनिकों ने कर्म-सिद्धांत की युक्तिसंगत व्याख्या

के लिए इस नीतिपरक प्रमाण को आवश्यक माना है। उनका कथन है कि इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को उसके शुभ-अशुभ कर्मों का उचित फल अवश्य प्राप्त होना चाहिए जिसके लिए कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह कार्य स्वयं मनुष्य अथवा अन्य कोई प्राणी नहीं कर सकता। असीम शक्ति और ज्ञान से परिपूर्ण ईश्वर ही सभी मनुष्यों को उनके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार एक निष्पक्ष न्यायाधीश की भाँति सुख-दुःख प्रदान कर सकता है। कर्म-सिद्धांत की यह अनिवार्य माँग है कि संसार में सभी मनुष्यों के साथ न्याय हो—अर्थात् उनके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुःख प्राप्त हो। इस माँग की पूर्ति के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार उपर्युक्त भारतीय दार्शनिकों ने कर्म-सिद्धांत के आधार पर कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है और उनके इस प्रयास को 'नीतिपरक प्रमाण' की संज्ञा दी जा सकती है।

पाश्चात्य दर्शन में जर्मन दार्शनिक कान्ट ही नीतिपरक प्रमाण के प्रमुख समर्थक माने जाते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने जिस रूप में यह प्रमाण प्रस्तुत किया है वह भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत कर्माध्यक्ष के रूप से मूलतः भिन्न नहीं है। कान्ट के नीतिपरक प्रमाण की व्याख्या करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उनके मतानुसार आत्मा तथा ईश्वर दोनों ही मनुष्य की तर्कबुद्धि से परे हैं, अतः उसके लिए सैद्धांतिक दृष्टि से तर्कबुद्धि द्वारा इन दोनों के अस्तित्व को प्रमाणित करना सम्भव नहीं है। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने आत्मा और ईश्वर के समर्थन में दिए गए सभी परम्परागत तर्कों अथवा प्रमाणों का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है। परंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि कान्ट आत्मा तथा ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। वस्तुतः वे यह मानते हैं कि तर्कों या प्रमाणों द्वारा इन दोनों के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, किंतु मनुष्य के नैतिक अनुभव की संतोषप्रद व्याख्या के लिए इनकी सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी कारण उन्होंने मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य के साथ-साथ आत्मा की अमरता और ईश्वर के अस्तित्व को भी नैतिकता की आवश्यक आधारभूत मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया है। आत्मा की अमरता के संबंध में कान्ट के मत पर यथास्थान आगे विचार किया जाएगा। यहाँ ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उन के नीतिपरक प्रमाण की व्याख्या करना आवश्यक है।

कान्ट 'निरपेक्ष नैतिक आदेश' तथा 'कर्त्तव्य-पालन' के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य को केवल कर्त्तव्य-चेतना से प्रेरित हो कर ही अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए, किसी प्रकार के परिणामों को प्राप्त करने के लिए नहीं। नैतिकता का आदेश 'निरपेक्ष आदेश' है—अर्थात् वह किसी अन्य प्रयोजन की पूर्ति का साधन न हो कर अपने आप में साध्य है। इसी निरपेक्ष आदेश तथा कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य-पालन की चेतना से प्रेरित हो कर आचरण करने वाला मनुष्य ही नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट है। ऐसे मनुष्य में ही 'शुभ संकल्प' पाया जाता है जो इस विश्व में एकमात्र स्वतः शुभ है। कान्ट यह मानते हैं कि यद्यपि केवल कर्त्तव्य-चेतना से प्रेरित हो कर ही कर्त्तव्य का पालन करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है, फिर भी नैतिकता के निरपेक्ष आदेश का पालन करने वाले शुभ संकल्प से

परिपूर्ण मनुष्य को उसके शुभाचरण के अनुपात में आनंद अवश्य प्राप्त होना चाहिए। इसका कारण यह है कि अपने शुभाचरण के अनुपात में आनंद प्राप्त करना नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट मनुष्य का न्यायोचित अधिकार है जो उसे मिलना ही चाहिए।

अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ही उच्चतम अथवा परम शुभ की व्याख्या करते हुए कान्ट ने यह कहा है कि इसमें शुभ संकल्प के साथ-साथ आनंद का समावेश होना भी अनिवार्य है। आनंदरहित शुभ संकल्प को वे स्वतः शुभ के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसे परम शुभ नहीं मानते। शुभ संकल्प के अनुपात में आनंद के समावेश के फलस्वरूप ही परम शुभ की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य में शुभ संकल्प विद्यमान है उसका जीवन आनंदमय भी अवश्य होना चाहिए, अन्यथा उच्चतम शुभ की उत्पत्ति असंभव है। शुभ संकल्प में यह क्षमता नहीं है कि वह स्वयं आनंद को अपने आप में समाविष्ट कर सके, अतः इसके लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता है और यह शक्ति ईश्वर ही है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके शुभ संकल्प के अनुपात में केवल ईश्वर ही आनंद प्रदान कर सकता है; स्वयं मनुष्य अथवा किसी अन्य शक्ति के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है। सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, शाश्वत तथा सर्वव्यापक होने के कारण केवल ईश्वर ही संसार में सभी व्यक्तियों को सदैव उनके शुभाचरण के अनुपात में समुचित आनंद प्रदान करने की क्षमता रखता है। ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना हम शुभ संकल्प और आनंद से परिपूर्ण उच्चतम शुभ की उत्पत्ति की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते। इस प्रकार स्पष्ट है कि कुछ भारतीय दार्शनिकों की भाँति कान्ट भी अपने उपर्युक्त नीतिपरक प्रमाण द्वारा मुख्यतः कर्माध्यक्ष के रूप में ही ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को उसके शुभ-अशुभ आचरण के अनुपात में न्यायोचित रूप से सुख-दुःख प्रदान करने के लिए सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, शाश्वत और सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। ऐसा किए बिना हम नैतिकता एवं परम शुभ के स्वरूप की तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर सकते। इसी कारण कान्ट ने ईश्वर विषयक विश्वास को नैतिकता की एक अनिवार्य मान्यता के रूप में स्वीकार किया है। उनके विचार में संकल्प-स्वातंत्र्य तथा आत्मा की अमरता के समान ही ईश्वर की सत्ता भी नैतिकता का आवश्यक आधार है। इस प्रकार कान्ट सैद्धांतिक दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना सम्भव न मानते हुए भी अपने उपर्युक्त नीतिपरक प्रमाण द्वारा नैतिकता की एक आवश्यक आधार भूत मान्यता के रूप में उसकी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और निश्चित रूप से यह मानते हैं कि ईश्वर विषयक विश्वास का यही एकमात्र उचित आधार है।

कान्ट के अतिरिक्त कुछ आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए एक अन्य रूप में यह नीतिपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है। इन दार्शनिकों में डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड,जे०एच० कार्डिनल,न्यूमैन, डी०एम० बेली आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दार्शनिकों का विचार है कि नैतिक व्यवस्था, नैतिक नियमों तथा मूल्यों की वस्तुनिष्ठता के अलौकिक आधार के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है। यदि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न किया जाए तो हम नैतिक नियमों और मूल्यों की

सार्थकता एवं वस्तुनिष्ठता की तर्कसंगत व्याख्या नहा कर सकते। इसी आधार पर ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए ट्रूब्लड कहते हैं कि : "वस्तुपरक नैतिक व्यवस्था के अभाव में नैतिक अनुभव निरर्थक है। ईश्वर के अस्तित्व के बिना वस्तुपरक नैतिक व्यवस्था का कोई अर्थ नहीं हो सकता।.......नैतिक नियम का एकमात्र आधार अतिमानवीय मनस है। जब हम यह देखते हैं कि मनसयुक्त प्राणियों के अतिरिक्त किसी अन्य प्राणी के लिए इस नियम का कोई अर्थ नहीं होता तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका आधार मनस ही है, और जब हम यह देखते हैं कि यह नियम हमारा अपना नहीं हो सकता तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आधार अतिमानवीय है। इसलिए वस्तुपरक नैतिक नियम की स्वीकृति हमें ईश्वर में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है जिसके बिना इस नियम का कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा। यदि हम इस नियम में विश्वास करते हैं तो हमें अनिवार्यतः उन स्थितियों में भी विश्वास करना होगा जो इस नियम को संभव बनाती हैं"।[3] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ट्रूब्लड ने नैतिक नियमों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

एक अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक डी०एम०बेली भी ट्रूब्लड के उपर्युक्त मत का पूर्णतः समर्थन करते हैं। उन्होंने भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए यही तर्क प्रस्तुत किया है। वे यह प्रश्न उठाते हैं कि "क्या यह कहना आधुनिक संसार में बहुत विरोधाभासपूर्ण है कि ईश्वर में आस्था हमारी नैतिक चेतना का ही भाग है जिस के बिना नैतिक चेतना निरर्थक हो जाती है ?......... या तो हमारे नैतिक मूल्य वास्तविक सत्ता के स्वरूप तथा प्रयोजन के विषय में हमें कुछ बताते हैं—अर्थात् हमें धर्मिक विश्वास का आधार प्रदान करते हैं—अथवा वे आत्मनिष्ठ हैं और इसलिए निरर्थक हैं"।[4] इस प्रकार ट्रूब्लड की भाँति बेली ने भी हमारी नैतिक चेतना के मूल आधार के रूप में ईश्वर की सुत्ता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इन दोनों दार्शनिकों के अतिरिक्त कार्डिनल न्यूमैन, हेस्टिंग्ज़ रैश्डल, एच. डी. लेविस आदि कुछ अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए लगभग इसी रूप में नीतिपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है। ये सभी दार्शनिक सर्वप्रथम यह मान लेते हैं कि हमारे नैतिक मूल्य तथा नियम निरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ हैं और हमारी अंतश्चेतना का स्रोत अनिवार्यतः कोई दैवी या अलौकिक शक्ति है। फिर अपनी इसी मान्यता के आधार पंर वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि नैतिक मूल्यों तथा नियमों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता और अंतश्चेतना के गहन प्रभाव की संतोषप्रद तथा युक्तिसंगत व्याख्या करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। इन दार्शनिकों का यह दावा है कि इस नीतिपरक प्रमाण द्वारा हम तार्किक दृष्टि से ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि कान्ट ने जिस रूप में नीतिपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है उसके आधार पर वे ईश्वर के अस्तित्व को तार्किक दृष्टि से प्रमाणित करने का दावा नहीं करते, क्योंकि वे उसे मानवीय तर्कबुद्धि से परे

3. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 114-115
4. डी०एम० बेली, 'फ़ेथ इन गॉड ऐंड इट्स क्रिश्चियन कन्ज़्यूमेशन', पृ० 172-173

मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि ट्रूब्लड, बैली आदि दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए इस नीतिपरक प्रमाण की प्रभावशीलता और विश्वसनीयता के संबंध में कान्ट की अपेक्षा कहीं अधिक आश्वस्त हैं।

अभी तक हम ने नीतिपरक प्रमाण के स्वरूप तथा उसके कुछ प्रमुख समर्थकों के मत की व्याख्या की है। अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि यह प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में कहाँ तक समर्थ है। यह सत्य है कि कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक ईश्वर संबंधी विश्वास के लिए इस प्रमाण को बहुत महत्त्व देते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कान्ट तो इस नीतिपरक प्रमाण को ही ईश्वर विषयक विश्वास का एकमात्र आधार मानते है। परंतु वास्तव में अन्य प्रमाणों की भाँति यह प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर पाता। इस प्रमाण के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं:

(1) सर्वप्रथम नीतिपरक युक्ति अथवा तर्क वास्तविक अर्थ में 'प्रमाण' नहीं हैं, क्योंकि यह कुछ ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जिन्हें तार्किक दृष्टि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इस के प्रमुख समर्थक कान्ट स्वयं स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि इसका मूल आधार तर्क न हो कर आस्था ही है। अपनी आस्था के कारण ही हम यह मान लेते हैं कि शुभ संकल्प तथा आनंद के समावेश के फलस्वरूप परम शुभ की उत्पत्ति के लिए किसी दैवी शक्ति—अर्थात् ईश्वर—का होना आवश्यक है। इसी मान्यता के आधार पर कान्ट ने ईश्वर विषयक विश्वास को स्वीकार किया है। परंतु इस मान्यता से वस्तुतः यह प्रमाणित नहीं होता कि ईश्वर का अस्तित्व है। यदि कोई व्यक्ति कान्ट के निरपेक्ष आदेश संबंधी नैतिक सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता तो यह स्पष्ट है कि उसके लिए इस सिद्धांत पर आधारित उनके नीतिपरक प्रमाण का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। उसे यह मानने के लिए तर्कसंगत रूप से बाध्य नहीं किया जा सकता कि ईश्वर ही शुभ संकल्प के साथ समुचित आनंद का समावेश कर के परम शुभ को उत्पन्न करने में समर्थ है। ऐसा व्यक्ति कोई तार्किक भूल किए बिना ईश्वर के अस्तित्व में संदेह कर सकता है अथवा उसे अस्वीकार कर सकता है। ईश्वर के प्रति उसके इस दृष्टिकोण को नीतिपरक प्रमाण द्वारा अयुक्तिसगत सिद्ध नहीं किया जा सकता। कान्ट स्वयं इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हैं और इसे स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। अपने नीतिपरक प्रमाण की वस्तुनिष्ठता का निषेध करते हुए वे स्वयं स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि "यह नीतिपरक तर्क ईश्वर के अस्तित्व के लिए कोई" 'वस्तुनिष्ठ रूप से प्रामाणिक' प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता; यह संदेहवादी के लिए इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि ईश्वर है, किंतु यह इस बात को प्रमाणित करता है कि यदि वह नैतिकता के दृष्टिकोण से विचार करना चाहता है तो उसे अपनी व्यावहारिक तर्कबुद्धि के नियमों के अनुरूप इस कथन से संबंधित 'मान्यता' को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर का अस्तित्व है।.......इस प्रकार यह एक व्यक्तिनिष्ठ तर्क है जो नैतिकता को स्वीकार करने वाले मनुष्यों के लिए प्रभावशील है"।[5] इस उद्धरण से यह

---

5. इमैनुअल कान्ट, 'सलैक्शन्स', सम्पादक टी०एम० ग्रीन, पृ० 514

पूर्णतः स्पष्ट है कि कान्ट स्वयं अपनी नीतिपरक युक्ति को ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने वाले वस्तुनिष्ठ और विश्वसनीय प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण के रूप में दार्शनिक दृष्टि से इस युक्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

(2) संभवतः कान्ट द्वारा प्रस्तुत नीतिपरक प्रमाण की उपर्युक्त कठिनाई के कारण ही ट्रूब्लड, बेली आदि दार्शनिकों ने इसे इसी रूप में स्वीकार न कर के एक भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। हम देख चुके हैं कि वे नैतिक नियमों तथा मूल्यों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता के आधार पर ही इन के मूल स्रोत के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परंतु जिस रूप में उन्होंने यह नीतिपरक प्रमाण प्रस्तुत किया है वह भी तर्कसंगत और विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम उन्होंने यह मान लिया है कि मानवीय आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा अनुभवों के आधार पर नैतिक नियमों और मूल्यों की प्रकृतिवादी व्याख्या नहीं की जा सकती। अपनी इस मान्यता के लिए इन दार्शनिकों ने कोई संतोषप्रद तथा विश्वसनीय तर्क प्रस्तुत नहीं किया, अतः हमारे पास इसे स्वीकार करने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। वस्तुतः समस्त नैतिक मूल्यों एवं नियमों की व्याख्या इस तथ्य के आधार पर की जा सकती है कि मनुष्य अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अन्य व्यक्तियों के जीवन पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि मानव का सामाजिक जीवन ही नैतिकता का मूल स्रोत है, क्योंकि सामाजिक जीवन से पृथक मनुष्य के लिए नैतिकता का कोई अर्थ और महत्त्व नहीं हो सकता। यदि नैतिकता के संबंध में इस प्रकृतिवादी अथवा सामाजिक दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाए तो नैतिक मूल्यों तथा नियमों की वस्तुनिष्ठता की व्याख्या करने के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। हम मनुष्य के सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के आधार के रूप में इन मूल्यों और नियमों की वस्तुनिष्ठता की तर्कसंगत व्याख्या कर सकते हैं। इस के अतिरिक्त यह भी निर्विवाद तथ्य नहीं है कि नैतिक मूल्य तथा नियम वास्तव में निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ हैं। बहुत-से दार्शनिक इन्हें सापेक्ष और व्यक्तिनिष्ठ ही मानते हैं। यदि इन दार्शनिकों के मत को स्वीकार कर लिया जाए तो उस रूप में नीतिपरक प्रमाण का आधार ही समाप्त हो जाता है जिस रूप में ट्रूब्लड, बेली आदि दार्शनिकों ने इसे प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक मूल्यों तथा नियमों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता के आधार पर तर्कसंगत रूप से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(3) ईश्वरवादी दार्शनिकों की यह मान्यता भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि हमारी अंतश्चेतना की ध्वनि ईश्वर का आदेश है और इस अंतश्चेतना के स्रोत के रूप में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। वस्तुतः नैतिक मूल्यों तथा नियमों की भाँति हमारी अंतश्चेतना की व्याख्या भी मनुष्य के सामाजिक जीवन के आधार पर ही की जा सकती है; इसके लिए ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति की प्राक्कल्पना की आवश्यकता नहीं है। हम जिसे अपनी 'अंतश्चेतना' या 'अंतरात्मा' कहते हैं और जिसके आदेश को इतना अधिक महत्त्व देते हैं

उसका मूल स्रोत हमारे उन स्थायी एवं गहरे संस्कारों में खोजा जा सकता है जो हमारे माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक तथा अन्य व्यक्ति अपने आचरण और उपदेशों द्वारा शैशव-काल से ही हमारे मन में उत्पन्न करते हैं। इन पारिवारिक तथा सामाजिक संस्कारों से उत्पन्न अंतश्चेतना बाद में वयस्क होने पर हमें 'ईश्वर की ध्वनि' प्रतीत होने लगती है जिसके आदेशों का उल्लंघन करना हमारे लिए असंभव हो जाता है। परंतु वास्तव में यह अंतश्चेतना उस समाज की ही ध्वनि है जिसमें हमने जन्म लिया है और जिसमें हमारा पालन-पोषण हुआ है। यही कारण है कि विरोधी सामाजिक तथा धार्मिक परंपराओं में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों की अंतश्चेतना उन्हें परस्पर विरोधी आदेश देती है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति की अंतश्चेतना उसे गाय को पवित्र मान कर उस की पूजा करने का आदेश देती है जबकि दूसरे व्यक्ति की अंतश्चेतना उसे गाय को साधारण पशु मान कर बकरें की भाँति उसका मांस-भक्षण करने का आदेश देती है। इसी प्रकार एक व्यक्ति की अंतश्चेतना उसे एक ही पत्नी रखने का आदेश देती है जबकि दूसरे व्यक्ति की अंतश्चेतना उसे अनेक पत्नियाँ रखने से नहीं रोकती। ऐसी स्थिति में ईश्वरवादी दार्शनिकों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या एक ही ईश्वर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को परस्पर विरोधी आदेश देता है। यह स्पष्ट है कि वे इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि ऐसा करने से उनके विचारों में गंभीर स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाएगा। वस्तुतः अपने विचारों में संगति बनाए रखते हुए उनके लिए इस प्रश्न का कोई तर्कसंगत उत्तर देना संभव नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य की अंतश्चेतना या अतरात्मा के आधार पर तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

(4) जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ईश्वरवादी दार्शनिकों का यह दावा है कि ईश्वर ही नैतिकता का अंतिम आधार तथा मूल स्रोत है जिसके बिना हमारे लिए 'शुभ', 'उचित', 'कर्त्तव्य' आदि नैतिक अवधारणाओं का कोई अर्थ नहीं रह जाता। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना कोई भी व्यक्ति वास्तव में सदाचरण नहीं कर सकता। नैतिकता के लिए ईश्वर के अस्तित्व की अनिवार्यता से संबंधित ईश्वरवादियों के इसी दावे की व्याख्या करते हुए कार्डिनल न्यूमैन कहते हैं:– "जैसी कि स्थिति है, यदि हम अंतश्चेतना के प्रति दायित्व का अनुभव करते हैं, उसके आदेश का उल्लंघन करने के कारण लज्जित तथा भयभीत होते हैं तो इसका अर्थ यही है कि ईश्वर है जिसके प्रति हम उत्तरदायी हैं; जिसके समक्ष हम लज्जित होते हैं और जिसके दंड से हम भयभीत होते हैं।....... यदि इन संवेगों का कारण इस दृश्य संसार में विद्यमान नहीं है तो जिस सत्ता के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति का ज्ञान उन्मुख होता है वह अवश्य ही अलौकिक तथा दैवी या ईश्वरीय है"।[6] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कार्डिनल न्यूमैन ईश्वर को ही समस्त नैतिक अवधारणाओं का मूल स्रोत मानते हैं। वस्तुतः अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में इसी मत को स्वीकार करते

---

6. जे० एच० कार्डिनल न्यूमैन, 'ए ग्रामर ऑफ़ असन्ट', पृ० 83-84

हैं। परंतु इन दार्शनिकों की यह मान्यता दोषपूर्ण तथा अयुक्तिसंगत है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, नैतिकता का आधार ईश्वर या कोई अन्य दैवी शक्ति न हो कर मनुष्य का सामाजिक जीवन ही है जिसके अभाव में उसके लिए नैतिकता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में नैतिक अवधारणाओं की व्याख्या के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना अनावश्यक तथा निरर्थक है।

यदि समाज के स्थान पर ईश्वर को नैतिकता का आधार मान लिया जाए तो हमारे समक्ष अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। इनमें से कुछ प्रश्न निम्नलिखित हैः— विभिन्न मानव-समुदायों में भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी नैतिक मानदंडों को देखते हुए हम यह निश्चयपूर्वक कैसे जान सकते हैं कि ईश्वर किस प्रकार के आचरण का आदेश देता है ? क्या इस संबंध में हमारे पास ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के ज्ञान का कोई युक्तिसंगत आधार है ? यदि इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाए कि हम धर्म-ग्रथों तथा साधु-संतों के माध्यम से इस संबंध में ईश्वर के आदेश को जानते हैं तो पुनः यह प्रश्न उठता है कि इन धर्म-ग्रंथों के लेखकों और साधु-संतों को ईश्वर यह आदेश कैसे देता है ? नैतिक आचरण के विषय में वे जो विचार व्यक्त करते हैं क्या वे विचार तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था और जीवन-पद्धति के परिणाम नहीं हो सकते ? क्या ईश्वर ऐसे आचरण का आदेश दे सकता है जो अशुभ है ? यदि नहीं, तो क्या शुभ की अवधारणा को ईश्वर से स्वतत्र मानना अनिवार्य नहीं हो जाता ? यदि स्वयं पूर्णतः शुभ होने के कारण ईश्वर केवल शुभाचरण का ही आदेश देता है तो क्या यह कहना अधिक युक्तिसंगत नहीं होगा कि नैतिकता का अंतिम आधार ईश्वर न होकर शुभत्व की अवधारणा ही है ? फिर यदि ईश्वर को ही नैतिकता का आधार मान लिया जाए तो क्या वह किसी बाह्य शक्ति द्वारा आरोपित नैतिकता नहीं हो जाएगी ? क्या ऐसी नैतिकता को वास्तविक अर्थ में 'नैतिकता' कहा जा सकता है ? क्या ईश्वर द्वारा दिए जाने वाले पुरस्कार के प्रलोभन तथा दड के भय से प्रेरित होकर सदाचरण करने वाले व्यक्ति को वास्तव में नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट मनुष्य माना जा सकता है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो नैतिकता को ईश्वर पर आधारित मानने के परिणामस्वरूप अनिवार्यतः उत्पन्न होते हैं और जिनका ईश्वरवादी दार्शनिकों ने कोई संतोषप्रद एवं तर्कसगत उत्तर नहीं दिया है। ऐसी स्थिति में नैतिक अवधारणाओं की उत्पत्ति और सार्थकता के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि अन्य प्रमाणों की भाँति नीतिपरक प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध नहीं कर पाता।

5. धार्मिक अनुभव संबंधी प्रमाण

नैतिक अनुभव की भाँति धार्मिक अनुभव के आधार पर भी कछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इन दार्शनिकों का विचार है कि बहुत-से धर्मपरायण व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार का धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है जिसे वे ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव कहते हैं। ये धर्मपरायण व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से उसी प्रकार ईश्वर का स्पष्ट तथा असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं जिस प्रकार वे अपने इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा प्रत्यक्षतः भौतिक वस्तुओं को जानते हैं। विभिन्न युगों तथा देशों में बहुत प्राचीन काल से

अनेक धर्मपरायण व्यक्ति इस प्रकार के ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष अनुभव का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करते रहे हैं। यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो निश्चय ही उन्हें उसका यह प्रत्यक्ष अनुभव कभी प्राप्त नहीं हो सकता था। ईश्वर संबंधी उनके इस प्रत्यक्ष अनुभव से यही सिद्ध होता है कि वास्तव में ईश्वर की सत्ता है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में धर्मपरायण व्यक्ति अपना यह तर्क प्रायः इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:– "मैंने ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है, अतः मेरे पास इसविश्वासकापर्याप्तकारण है कि वास्तव में उस का अस्तित्व है। इस का अर्थ यह है कि 'मैंने ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है, किंतु उसका अस्तित्व नहीं है' यह कथन स्वतोव्याघाती है, अतः ऐसे कथन को सत्य नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ईश्वर विषयक मेरा प्रत्यक्ष अनुभव असंदिग्ध रूप से उसकी वस्तुगत सत्ता को प्रमाणित करता है।"

डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, एच०एच० फ़ार्मर आदि दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में अन्य तर्कों के साथ-साथ धार्मिक अनुभव संबंधी यह तर्क भी प्रस्तुत किया है। ये दार्शनिक इस तर्क को पूर्णतः सत्य औरप्रामाणिक मानते हैं। उदाहरणार्थ इस तर्क का पूर्ण रूप से समर्थन करते हुए ट्रूब्लड कहते हैं कि :– "लाखों व्यक्तियों ने यह बताया है और अब भी बता रहे हैं कि उन्होंने ईश्वर को उसी प्रत्यक्षता एवं गहराई से जाना है जिससे वे अन्य व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं को जानते हैं।...... यह तथ्य कि अनेक सभ्यताओं तथा अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले बहुत-से व्यक्तियों ने–जिनमें बहुत बड़ी संख्या ऐसे मनुष्यों की है जिन्हें सामान्यतः श्रेष्ठतम एवं सर्वाधिक बुद्धिमान मनुष्य माना जाता रहा है–प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव का विवरण दिया है, हमारे संसार के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यों में से एक है। उनके विवरण जो दावा करते हैं वह इतना विशाल है और इतने व्यापक रूप से प्रस्तुत किया गया है कि कोई भी दर्शन उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।........ ऐसी स्थिति में यह समझना आवश्यक है कि हमारे समक्ष दो ही विकल्प रह जाते हैं–या तो ईश्वर है अथवा वे सभी जिन्होंने उसे जानने का दावा किया है भ्रम में रहे हैं"।[7] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि ट्रूब्लड धर्मपरायण व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव को ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय प्रमाण मानते हैं। अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया धार्मिक अनुभव संबंधी उपर्युक्त तर्क वस्तुतः ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में समर्थ है अथवा नहीं। यह सत्य है कि प्राचीन काल से ही बहुत-से धर्मपरायण व्यक्ति इस तर्क की प्रभावशीलता और विश्वसनीयता में असंदिग्ध रूप से विश्वास करते रहे हैं। परंतु ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिए गए अन्य तर्कों की भाँति इस तर्क के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं:

---

7. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 144-146

(1) जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, धार्मिक अनुभव संबंधी प्रमाण के समर्थक धर्मपरायण व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि 'धार्मिक अनुभव' से उनका क्या तात्पर्य है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ये दार्शनिक इस मूल प्रश्न का कोई तर्कसंगत और संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। इस प्रश्न के उत्तर में वे प्रायः यही कहते हैं कि धार्मिक अनुभव ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है जिससे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है। परंतु इन दार्शनिकों का यह उत्तर वास्तव में युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इसमें ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के स्थान पर उसे पहले से ही स्वीकार कर लिया गया है। ईश्वरवादी दार्शनिक बिना किसी प्रमाण के पहले से ही मान लेते हैं कि ईश्वर है जिस का प्रत्यक्ष अनुभव धर्मपरायण व्यक्तियों को प्राप्त होता है। उनका तर्क यह है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो धर्मपरायण व्यक्तियों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता था, क्योंकि हम केवल उसी वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं जिसका वास्तव में अस्तित्व है। परंतु इन दार्शनिकों का यह तर्क दोषपूर्ण और भ्रामक है। इसका कारण यह है कि हमारे पास उनके इस दावे को स्वीकार करने का कोई विश्वसनीय तथा तर्कसंगत आधार नहीं है कि धर्मपरायण व्यक्तियों को जो धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है वह वस्तुतः 'ईश्वर का अनुभव' है। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि इन व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार का मानसिक अनुभव प्राप्त होता है जो निरीश्वरवादियों को प्राप्त नहीं होता। परंतु यह तथ्य केवल इतना ही सिद्ध करता है कि धार्मिक अनुभव एक विशेष प्रकार की मनोदशा है जिस का धर्मपरायण व्यक्ति अनुभव करते हैं। उनकी इस मनोदशा से यह बिल्कुल प्रमाणित नहीं होता कि उनके अपने मन से पृथक और स्वतंत्र किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व है। किसी व्यक्ति द्वारा एक विशेष प्रकार की मनोदशा का अनुभव करना एक बात है और उसके मन से पृथक एवं स्वतंत्र–अर्थात् वस्तुगत रूप से–किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व होना बिल्कुल दूसरी बात है जिस का पहली बात से कोई संबंध नहीं है। उदाहरणार्थ मानसिक रोग से ग्रस्त कोई व्यक्ति अपने कमरे में बैठे-बैठे विभ्रम के कारण रेल गाड़ी या घोड़ों के दौड़ने की ध्वनि का प्रत्यक्षतः अनुभव कर सकता है, किंतु उसके इस अनुभव से यह सिद्ध नहीं होता कि वहाँ वास्तव में रेल गाड़ी चल रही है अथवा घोड़े दौड़ रहे हैं। ठीक यही बात धर्मपरायण व्यक्तियों के तथाकथित ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष अनुभव के संबंध में भी कही जा सकती है। उनका विशेष मानसिक अनुभव तार्किक दृष्टि से यह प्रमाणित नहीं करता कि उनके इस अनुभव से पृथक ईश्वर का वस्तुगत अस्तित्व है। इस प्रकार धर्मपरायण व्यक्तियों का धार्मिक अनुभव केवल व्यक्तिनिष्ठ मनोदशा होने के कारण वस्तुपरक रूप से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में असमर्थ है।

(2). धर्मपरायण व्यक्ति स्वयं यह कहते हैं कि उन्हें जो ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है उसका वर्णन करना संभव नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि उनका यह अनुभव पूर्णतः आत्मनिष्ठ है और वह किसी बाह्य वस्तु के ऐसे वस्तुपरक ज्ञान का आधार नहीं हो सकता जो सामान्य परिस्थितियों में सभी मनुष्यों को उपलब्ध हो सके। ऐसी स्थिति में

धर्मपरायण व्यक्ति असंदिग्ध रूप से यह दावा कैसे कर सकते हैं कि उन्हें जो अवर्णनीय अनुभव प्राप्त होता है वह वास्तव में 'ईश्वर का अनुभव' है ? यदि उनका धार्मिक अनुभव सचमुच अवर्णनीय है तो उसके आधार पर तर्कसंगत रूप से यह दावा कैसे किया जा सकता है कि वह किसी विशेष वस्तु का अनुभव है ? जब वे अपने इस धार्मिक अनुभव के आधार पर यह दावा करते हैं कि वह ईश्वर का अनुभव है तो उनके विचारों में अनिवार्यतः असंगति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो वे अपने धार्मिक अनुभव को अवर्णनीय मानते हैं और दूसरी ओर वे यह दावा भी करते हैं कि यह अनुभव एक ऐसी वस्तुपरक सत्ता का अनुभव है जिसे 'ईश्वर' कहा जाता है और जिसका विशेष स्वरूप है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं जिन्हें तर्कसंगत रूप से एक साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु ईश्वरवादी दार्शनिक अपने धार्मिक अनुभव संबंधी प्रमाण में उपर्युक्त दोनों परस्पर विरोधी बातों को एक ही साथ स्वीकार कर लेते हैं जिस के कारण उनके इस प्रमाण में अनिवार्यतः स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है और वह युक्तिसंगत रूप से ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं कर पाता।

(3) ईश्वरवादी दार्शनिकों का यह दावा भी तथ्यपरक और तर्कसंगत नहीं है कि सभी धर्मपरायण व्यक्तियों का धार्मिक अनुभव समान रूप से ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है जिसके आधार पर एक सर्वमान्य ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है। प्राचीन काल से वर्तमान युग तक विभिन्न धर्मों का इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि देश, काल, संस्कृति तथा धर्म की भिन्नता के कारण धर्मपरायण व्यक्तियों के ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव एक-दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं, अपितु परस्पर विरोधी भी रहे हैं। उदाहरणार्थ ईसाइयों का धार्मिक अनुभव यह बताता है कि ईश्वर दयालु तथा प्रेममय है, जबकि यहूदियों का धार्मिक अनुभव यह कहता है कि ईश्वर क्रोधी और प्रतिशोध लेने वाला है। इतना ही नहीं, एक ही धर्म को मानने वाले व्यक्तियों के ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव भी परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए वैष्णव दर्शन के विशिष्टा-द्वैतवाद को स्वीकार करने वाले हिंदू ईश्वर को सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसंपन्न मानते हैं, इसके विपरीत शंकराचार्य के अद्वैतवाद का समर्थन करने वाले हिंदू केवल निर्गुण और निराकार ब्रहम में ही विश्वास करते हैं। इन अद्वैतवादियों के मतानुसार पारमार्थिक दृष्टि से सगुण तथा साकार ईश्वर की सत्ता मिथ्या है। इसी प्रकार सनातन धर्म के समर्थक अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करते हैं जबकि आर्य-समाज के अनुयायी केवल एक ही ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर के स्वरूप के विषय में ये सभी परस्पर विरोधी मत धर्मपरायण व्यक्तियों के अपने-अपने धार्मिक अनुभवों पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए तर्कसंगत रूप से यह निर्णय करना असंभव हो जाता है कि इन विरोधी मतों में से कौन-सा मत सत्य है और कौन-सा मिथ्या। वस्तुतः इस बात का निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय और वस्तुपरक कसौटी नहीं है, क्योंकि सभी धर्मपरायण व्यक्तियों के ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव पूर्णतः आत्मनिष्ठ हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ धर्मपरायण व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव में ईश्वर के लिए कोई स्थान ही नहीं है। बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयाइयों को भी धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है, किंतु वे किसी प्रकार के ईश्वर का अनुभव नहीं करते, अतः यदि उनके धार्मिक अनुभव को सत्य माना जाए तो इससे यही

प्रमाणित होता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। संसार में निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयाइयों की संख्या भी करोड़ों में है जिनका धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत करता है। गौतम बुद्ध, महावीर, कन्फ्यूशियस आदि अनेक महान विचारकों ने भी अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व का निषेध किया है। उनके अनुयायी भी ईश्वर के विषय में उन्हीं के मत को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयाइयों का धार्मिक अनुभव ईश्वरवादियों के धार्मिक अनुभव के ठीक विपरीत है और ये दोनों ही अपने-अपने धार्मिक अनुभव को पूर्णतः सत्य तथा प्रामाणिक मानते हैं। परंतु हमारे पास ऐसी कोई विश्वसनीय एवं वस्तुपरक कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हम तर्कसंगत रूप से यह निर्णय कर सकें कि इन दोनों परस्पर विरोधी धार्मिक अनुभवों में से कौन-सा अनुभव सत्य है और कौन-सा मिथ्या। इस विवेचन से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पूर्णतः आत्मनिष्ठ होने के कारण मनुष्यों का धार्मिक अनुभव न तो ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि करता है और न उसका खंडन, अतः इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता के लिए धार्मिक अनुभव संबंधी प्रमाण का कोई महत्त्व नहीं है।

(4) जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ईश्वरवादी दार्शनिकों का यह विश्वास है कि संसार में लाखों धर्मपरायण व्यक्तियों का ईश्वर संबंधी व्यापक धार्मिक अनुभव असंदिग्ध रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करता है, क्योंकि ये सभी मनुष्य-जिनमें बहुत-से बुद्धिमान व्यक्ति भी सम्मिलित हैं—भ्रम में नहीं हो सकते। परंतु वास्तव में इन दार्शनिकों का यह विश्वास भी तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि जब कुछ सिद्धांत अथवा विश्वास किसी परम्परा या संस्कृति के अनिवार्य अंग बन जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने के संबंध में केवल अशिक्षित व्यक्ति ही नहीं, अपितु सुशिक्षित एवं बुद्धिमान व्यक्ति भी भूल कर सकते हैं। ऐसे सिद्धांतों तथा विश्वासों को साधारण अशिक्षित व्यक्तियों के समान ही ये सुशिक्षित और बुद्धिमान व्यक्ति भी तर्कों अथवा प्रमाणों के बिना ही पूर्णतः स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरणार्थ जब यूरोप में चुड़ैलों तथा डायनों के अस्तित्व से संबंधित अंधविश्वास सर्वत्र प्रचलित था तब बहुत-से बुद्धिमान एवं सुशिक्षित व्यक्ति भी इसे स्वीकार करते थे और इसके अनुरूप आचरण भी करते थे। इसी प्रकार जब भारत में सती-प्रथा प्रचलित थी तब बहुत-से सुशिक्षित व्यक्ति भी इस अंधविश्वास को स्वीकार करते थे कि अपने मृत पति के साथ जीवित ही चिता में जल जाने के पश्चात पत्नी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि किन्हीं अंधविश्वासों को स्वीकार करने के संबंध में केवल अशिक्षित व्यक्ति ही नहीं, अपितु सुशिक्षित एवं बुद्धिमान व्यक्ति भी भ्रम में हो सकते हैं। धर्मपरायण व्यक्तियों के ईश्वर विषयक विश्वास के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। ऐसी स्थिति में लाखों धर्मपरायण व्यक्तियों का यह विश्वास कि उन्हें ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ है वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व के लिए कोई विश्वसनीय तथा वस्तुपरक प्रमाण नहीं है। इस के अतिरिक्त ईश्वर के स्वरूप तथा गुणों के विषय में धर्मपरायण व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी विचारों से भी हमारे उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, ये व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप के संबंध में अपने-अपने व्यक्तिगत धार्मिक अनुभवों के आधार पर अलग-अलग ही

नहीं, अपितु परस्पर विरोधी बातें भी कहते हैं इससे भी यही प्रमाणित होता है कि उनके ये तथाकथित ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष अनुभव भ्रामक हो सकते हैं। इस प्रकार यदि ईश्वरवादी दार्शनिकों के इस दावे को स्वीकार भी कर लिया जाए कि लाखों धर्मपरायण व्यक्तियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ है तो भी उनके इस आत्मनिष्ठ अनुभव को ईश्वर के अस्तित्व के लिए विश्वसनीय तथा वस्तुपरक प्रमाण नहीं माना जा सकता।

(5) उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक अनुभव संबंधी तर्क प्रस्तुत करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिकों से यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि 'ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव' से उनका वास्तव में क्या तात्पर्य है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इस प्रश्न के उत्तर में ट्रूब्लड यह कहते हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं जिस प्रकार हम अन्य व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं। परंतु उनका यह उत्तर युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर को ऐसी अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता मानते हैं जो मनुष्य के ज्ञान और उसकी तर्कबुद्धि से परे है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक प्रायः यह कहते हैं कि ईश्वर कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है, अतः उसे भौतिक वस्तुओं की भाँति मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। हम उस अर्थ में भी ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते जिस अर्थ में हम अपनी भावनाओं अथवा मनोदशाओं को प्रत्यक्षतः जानते हैं। इसका कारण यह है कि ईश्वरवादी ईश्वर को कोई प्रत्यय, भावना या मनोदशा न मान कर ऐसी वस्तुपरक सत्ता मानते हैं जो मनुष्य के मन से पूर्णतः पृथक और स्वतंत्र है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वयं ईश्वरवादियों के मतानुसार ईश्वर को न तो किसी भौतिक वस्तु की भाँति प्रत्यक्षतः जाना जा सकता है और न व्यक्तिगत भावना, मनोदशा अथवा प्रत्यय की भाँति। ऐसी स्थिति में यह समझना अत्यंत कठिन है कि 'ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव' का क्या अर्थ हो सकता है। यदि ईश्वर वास्तव में अलौकिक और अनुभवातीत सत्ता है जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं तो मनुष्य के लिए किसी भी अर्थ में उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना नितांत असम्भव है। परंतु ईश्वरवादी दार्शनिक एक ओर तो ईश्वर को अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता मानते हैं और दूसरी ओर वे यह दावा भी करते हैं कि बहुत-से धर्मपरायण व्यक्तियों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है। इन दोनों परस्पर विरोधी बातों को एक ही साथ स्वीकार करने के फलस्वरूप इन दार्शनिकों के विचारों में गंभीर स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है जो उनके धार्मिक अनुभव संबंधी प्रमाण को अत्यधिक दुर्बल एवं अविश्वसनीय बना देता है। वस्तुतः ईश्वर को अलौकिक और अनुभवातीत मानते हुए किसी व्यक्ति को उसके प्रत्यक्ष अनुभव की प्राप्ति की बात करना पूर्णतः निरर्थक है, किंतु धार्मिक अनुभव संबंधी तर्क का समर्थन करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं जिसके कारण उनका यह तर्क दोषपूर्ण हो जाता है। यदि मनुष्य के लिए किसी भी अर्थ में ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना संभव ही नहीं है तो इस अनुभव की सत्यता और प्रभावशीलता के समर्थन में ट्रूब्लड द्वारा दिए गए इन तर्कों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि विभिन्न सभ्यताओं, युगों तथा देशों में बहुत-से धर्मपरायण व्यक्तियों ने यह अनुभव प्राप्त किया है, इस अनुभव के विषय में उनके विवरणों में एकरूपता है और ये व्यक्ति बहुत बुद्धिमान एवं

उत्कृष्ट चरित्र के रहे हैं।

इस प्रकार धार्मिक अनुभव संबंधी प्रमाण के विरुद्ध उपर्युक्त सभी गंभीर आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि अन्य प्रमाणों के समान ही यह प्रमाण भी तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में पूर्णतः असमर्थ है।

6. प्रत्यय-सत्ता प्रमाण

अभी तक हमने ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में प्रस्तुत किए गए उन प्रमाणों की विवेचना की है जो इस संसार के स्वरूप अथवा मनुष्य के अपने अनुभव पर ही आधारित हैं। ये सभी प्रमाण विश्व के विशेष स्वरूप या किसी विशेष प्रकार के मानवीय अनुभव के आधार पर ही ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से इन प्रमाणों को 'अनुभवमूलक प्रमाण' कहा जा सकता है। परंतु कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए एक ऐसा प्रमाण भी प्रस्तुत किया है जिस का मनुष्य के अनुभव से कोई संबंध नहीं है और जो केवल विशुद्ध विचार के आधार पर उसकी सत्ता को सिद्ध करन का प्रयास करता है। इसी कारण इस प्रमाण को 'प्रत्यय-सत्ता-प्रमाण' अथवा 'प्रत्यय-सत्ता-युक्ति' की संज्ञा दी जाती है और उसे पूर्णतः प्रागनुभविक प्रमाण माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्लैटो के दर्शन में हमें यह प्रमाण प्राप्त होता है। परंतु ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए एक व्यवस्थित तर्क के रूप में इस प्रमाण को सर्वप्रथम ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विचारक एन्सैल्म ने अपनी पुस्तक 'प्रोस्लोजियन' में प्रस्तुत किया था। उन्होंने इस प्रमाण की सविस्तार विवेचना की है और ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रस्तुत किए गए अन्य सभी प्रमाणों की अपेक्षा इसे अधिक महत्त्व दिया है। ऐन्सैल्म के पश्चात सत्रहवीं शताब्दी के सुविख्यात दार्शनिक रेने डेकार्ट ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए अन्य प्रमाणों के साथ-साथ इस प्रत्यय-सत्ता युक्ति को भी प्रस्तुत किया और इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की। इन दोनों दार्शनिकों के अतिरिक्त लाइबनीज़, हीगल आदि कुछ अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इस युक्ति का समर्थन किया है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन में प्रत्यय-सत्ता प्रमाण का विशेष महत्त्व रहा है। परंतु, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारतीय दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिए यह प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया।

प्रत्यय-सत्ता प्रमाण का मूल आधार किसी प्रकार का मानवीय अनुभव न होकर मनुष्य के मन में विद्यमान 'पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय' ही है जिसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जाता है। इस प्रमाण की व्याख्या करते हुए ऐन्सैल्म कहते हैं कि ईश्वर पूर्ण तथा महानतम सत्ता है और उसकी अपेक्षा अधिक महान सत्ता के विषय में हमारे लिए विचार करना भी संभव नहीं है। ईश्वर के संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है कि वह सभी दृष्टियों से पूर्ण सत्ता है; इस के साथ ही उसके संबंध में हमारे लिए यह कहना भी अनिवार्य है कि हम किसी ऐसी सत्ता के विषय में विचार भी नहीं कर सकते जो ईश्वर की अपेक्षा अधिक महान या पूर्ण हो। हमारे मन में ऐसे पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय विद्यमान है जिससे यही सिद्ध होता है कि वस्तुगत रूप से भी उसका अस्तित्व है—अर्थात हमारे मन से पृथक और स्वतंत्र उसकी

सत्ता है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर मनुष्य का मानसिक प्रत्यय मात्र नहीं है, उसका यथार्थ और वस्तुपरक अस्तित्व भी है। यदि ईश्वर केवल मानसिक प्रत्यय होता तो उसे 'महानतम अथवा सभी दृष्टियों से पूर्ण सत्ता' नहीं कहा जा सकता था। इसका कारण यह है कि वस्तुपरक अस्तित्व का अभाव स्वयं एक अपूर्णता है जिस की सब दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर में कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिाते में हमारे लिए यह मानना अनिवार्य है कि हमारे मन में पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय के साथ-साथ वस्तुपरक रूप से भी उसका अस्तित्व अवश्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐन्सैल्म ज्ञान, शक्ति आदि गुणों की भाँति 'अस्तित्व' को भी एक गुण के रूप में स्वीकार करते हैं, इसी कारण वे सभी दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर में असीम शक्ति, असीम ज्ञान आदि गुणों के साथ-साथ 'अस्तित्व' नामक गुण का होना भी अनिवार्य मानते हैं जिसके बिना उसे वास्तविक अर्थ में 'पूर्ण' नहीं कहा जा सकता। उन के मतानुसार ईश्वर में 'अस्तित्व' नामक इस गुण के विद्यमान होने के कारण ही हम यह कह सकते हैं कि वह वास्तव में पूर्ण है और अनिवार्यतः उसका अस्तित्व है। ईश्वर के स्वरूप में ही उसका अस्तित्व अनिवार्यतः निहित रहता है।

वस्तुतः ऐन्सैल्म ईश्वर की परिभाषा ही इस प्रकार करते हैं कि हमारे लिए ईश्वर के अनस्तित्व का विचार करना ही संभव नहीं है– अर्थात् ईश्वर के विषय में विचार करना अनिवार्यतः उसके अस्तित्व के विषय में विचार करना है। ईश्वर के अनस्तित्व के विचार को असम्भव बता'कर ऐन्सैल्म ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि वस्तुपरक रूप से ईश्वर की अनिवार्य सत्ता है। यह कहना कि "ईश्वर महानतम अथवा पूर्ण है, किंतु उसका अस्तित्व नहीं है" उसी प्रकार स्वतोव्याघाती है जिस प्रकार यह कहना कि "गुलाब लाल है, किंतु वह रंगीन नहीं है।" इस स्वतोव्याघात का कारण यह है कि जिस प्रकार लाल गुलाब के प्रत्यय में उसका रंगीन होना अनिवार्यतः निहित हैं उसी प्रकार पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में भी उसके अस्तित्व का होना अनिवार्यतः निहित रहता है। जिस प्रकार हम तार्किक दृष्टि से लाल गुलाब के रंगीन होने का निषेध नहीं कर सकते उसी प्रकार हम पूर्ण ईश्वर के अस्तित्व का भी तार्किक दृष्टि से निषेध नहीं कर सकते। ऐन्सैल्म के इस तर्क से यह स्पष्ट है कि वे ईश्वर की सत्ता को आपातिक या आकस्मिक न मान कर अनिवार्य मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर शाश्वत तथा नित्य है और भौतिक वस्तुओं के विपरीत उसका अस्तित्व किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ईश्वर के सभी दृष्टियों से पूर्ण होने के कारण उसकी यह अनिवार्य सत्ता स्वयं उसके स्वरूप में ही निहित रहती है। ईश्वर को पूर्ण कहना और उसकी अनिवार्य सत्ता का निषेध करना परस्पर विरोधी बातें हैं। इस प्रकार ऐन्सैल्म पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय से उसके अस्तित्व को तार्किक दृष्टि से निगसिम करते हैं और यह मानते हैं कि उनकी उपर्युक्त प्रत्यय-सत्ता युक्ति ईश्वर की अनिवार्य सत्ता का विश्वसनीय प्रमाण है।

ऐन्सैल्म के अतिरिक्त आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक रेने डेकार्ट ने भी प्रत्यय-सत्ता प्रमाण की विस्तृत व्याख्या की है और उसका पूर्णतः समर्थन किया है। वे भी 'अस्तित्व' को एक गुण मानते हुए यह कहते हैं कि पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में ही उसका अस्तित्व अनिवार्यतः निहित रहता है, अतः तार्किक दृष्टि से उसकी अनिवार्य सत्ता का निषेध करना संभव नहीं है। अपने

इस मत को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने त्रिभुज के प्रत्यय का उदाहरण दिया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार त्रिभुज के प्रत्यय में ही उसके तीन कोणों का होना अनिवार्यतः निहित रहता है ठीक उसी प्रकार पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में ही उसके वस्तुपरक अस्तित्व का होना भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। जिस प्रकार त्रिभुज के तीन कोणों का निषेध करना स्वतोव्याघाती है उसी प्रकार पूर्ण ईश्वर की अनिवार्य सत्ता का निषेध करना भी स्वतोव्याघाती है। इसी कारण यदि हम यह कहते हैं कि "पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व नहीं है" तो हमारे इस कथन में वैसा ही तार्किक व्याघात आ जाता है जैसा हमारे इस कथन में पाया जाता है कि "त्रिभुज के तीन कोण नहीं हैं।" इस प्रकार ऐन्सैल्म की भाँति डेकार्ट भी पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय से उसकी अनिवार्य सत्ता को निगमित करते हैं।

प्रत्यय-सत्ता प्रमाण के समर्थन में अपने उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त डेकार्ट ने एक अन्य तर्क भी दिया है। वे कहते हैं कि हमारे मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है, अतः इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हम स्वयं इसका कारण नहीं हो सकते क्योंकि हम सीमित और अपूर्ण हैं। हमारे माता-पिता तथा पूर्वज भी इसका कारण नहीं हो सकते क्योंकि वे भी सीमित और अपूर्ण थे। संसार की अन्य कोई वस्तु भी इसका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि समस्त सांसारिक वस्तुएँ भी अपूर्ण तथा सीमित हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि हमारे मन में पूर्ण ईश्वर का जो प्रत्यय है उसका कारण स्वयं ईश्वर ही है। इस प्रकार डेकार्ट ने प्रत्यय-सत्ता प्रमाण के समर्थन में उपर्युक्त तर्क दे कर इसके आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। वे यह मानते हैं कि ईश्वर की अनिवार्य सत्ता सिद्ध करने के लिए यह पूर्णतः विश्वसनीय प्रमाण है। ऐन्सैल्म तथा डेकार्ट के अतिरिक्त स्पिनोज़ा, लाइब्नीज, हीगल, जान केयर्ड, नॉर्मन मैल्कॉम आदि अन्य बहुत-से पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अपने-अपने ढंग से किसी न किसी रूप में इस प्रत्यय-सत्ता प्रमाण को स्वीकार किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिए विशुद्ध विचार पर आधारित इस प्रत्यय-सत्ता प्रमाण को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या उपर्युक्त प्रत्यय-सत्ता युक्ति अथवा प्रमाण द्वारा वास्तव में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है। अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में दिए गए अन्य प्रमाणों की भाँति इस प्रमाण की भी तीव्र आलोचना की है। इस प्रमाण के विरुद्ध जो गंभीर आपत्तियाँ उठाई गई हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:-

(1) वस्तुतः स्वयं ऐन्सैल्म के समय में ही प्रत्यय-सत्ता प्रमाण की आलोचना आरम्भ हो गई थी। तत्कालीन विचारक गोनीलो ने सर्वप्रथम इस प्रमाण का खंडन किया था। इसके विरुद्ध आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा था कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो हम इस के आधार पर किसी भी कल्पित वस्तु की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। अपनी इस आपत्ति को उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया था। मान लीजिए हम एक ऐसे द्वीप की कल्पना करते हैं जो सभी दृष्टियों से पूर्ण है। अब हमारे मन में इस पूर्ण द्वीप का प्रत्यय विद्यमान है, अतः ऐन्सैल्म की प्रत्यय-सत्ता युक्ति के अनुसार इस द्वीप के अस्तित्व का होना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि इस द्वीप को सभी दृष्टियों से पूर्ण तभी कहा जा सकता है जब हमारे मन

में इसके प्रत्यय के साथ-साथ वास्तव में इसका अस्तित्व भी हो। इसके वस्तुपरक अस्तित्व का अभाव इसमें अपूर्णता उत्पन्न करता है। इस प्रकार ऐन्सैल्म की युक्ति के आधार पर इस कल्पित पूर्ण द्वीप का वस्तुपरक अस्तित्व अनिवार्यतः प्रमाणित हो जाता है। इसी प्रकार हम किसी भी कल्पित वस्तु की अनिवार्य सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। परंतु वास्तविक स्थिति यह है कि हमारा इस प्रकार का प्रयास नितांत निराधार तथा हास्यास्पद है, क्योंकि किसी पूर्ण वस्तु की कल्पना करने से ही उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं हो जाता। अपने इस तर्क द्वारा गोनीलो ने यह प्रमाणित किया है कि महानतम अथवा सभी दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय मात्र से वास्तव में उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। हमारे मन में किसी वस्तु के प्रत्यय का होना एक बात है और वस्तुपरक रूप से उसके अस्तित्व का होना बिल्कुल दूसरी बात हैं; इन दोनों बातों में परस्पर कोई संबंध नहीं है।

गोनीलो की उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए ऐन्सैल्म ने कहा था कि उनका प्रत्यय-सत्ता प्रमाण केवल पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय के संबंध में ही लागू होता है, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यय समस्त सांसारिक वस्तुओं के प्रत्ययों से पूर्णतः भिन्न तथा अनन्य या अद्वितीय है। सभी सांसारिक वस्तुओं की केवल आपातिक या आकस्मिक सत्ता है– अर्थात् उनका अस्तित्व अनिवार्यतः अन्य वस्तुओं के अस्तित्व पर ही निर्भर है और हम उनके अनस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं। केवल ईश्वर की सत्ता ही अनिवार्य सत्ता है, अतः उसके अनस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐन्सैल्म के इस उत्तर को उनके समय में युक्तिसंगत और संतोषप्रद मान लिया गया था। परंतु आधुनिक युग के विश्लेषणवादी दार्शनिकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि ईश्वर की अनिवार्य सत्ता के विषय में ऐन्सैल्म का उपर्युक्त तर्क दोषपूर्ण है। इन दार्शनिकों का कथन है कि हम केवल विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के संबंध में ही सार्थकतापूर्वक 'अनिवार्यता' की बात कर सकते हैं; किसी वस्तु की 'अनिवार्य सत्ता' की बात करना निरर्थक है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए ईश्वर की 'अनिवार्य सत्ता' का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर को अनन्य अथवा अद्वितीय कह कर उसकी सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम सृष्टिमूलक प्रमाण की आलोचना करते हुए पहले ही बता चुके हैं, जिस वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है उसके अनस्तित्व की भी निश्चय ही कल्पना की जा सकती है। इसका अर्थ यही है कि यदि हम ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं तो हम उसके अनस्तित्व की भी अवश्य ही कल्पना कर सकते हैं। ईश्वर को 'अनिवार्य सत्ता' कह देने मात्र से उसके अनस्तित्व की संभावना का खंडन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ऐन्सैल्म ने गोनीलो की आपत्ति का जो उत्तर दिया है वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(2) हम देख चुके हैं कि ऐन्सैल्म, डेकार्ट आदि प्रत्यय-सत्ता प्रमाण के समर्थकों ने शक्ति तथा ज्ञान भी भाँति 'अस्तित्व' को भी ईश्वर का अनिवार्य गुण माना है। परंतु उनका यह मत नितांत भ्रामक है। वस्तुतः कान्ट ने इसी आधार पर प्रत्यय-सत्ता प्रमाण की तीव्र आलोचना की है। उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि 'अस्तित्व' किसी वस्तु का कोई ऐसा गुण नहीं है जो उसमें विद्यमान रहता है। जब हम वस्तु के किसी गुण की बात करते हैं तो हम इसके द्वारा अनिवार्यतः उसकी कोई विशेषता बताते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "गुलाब

लाल है" तो हम गुलाब की लालिमा के विषय में सूचना देते हैं। यही बात सभी वस्तुओं के अन्य गुणों के संबंध में भी कही जा सकती है। परंतु जब हम यह कहते हैं कि "अमुक वस्तु का अस्तित्व है" तो हम उस वस्तु के विषय में कोई अतिरिक्त सूचना नहीं देते; हम केवल इतना ही कहते हैं कि वह वस्तु है। इसका तात्पर्य यह है कि "अमुक वस्तु का अस्तित्व है" और "अमुक वस्तु है" ये दोनों कथन पूर्णतः समानार्थक हैं। पहले कथन में 'अस्तित्व' शब्द का प्रयोग कर के हम उस वस्तु के संबंध में कोई ऐसी सूचना नहीं देते जिस का वर्णन दूसरे कथन में नहीं किया गया है। परंतु प्रत्यय-सत्ता प्रमाण के समर्थकों ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हुए अन्य गुणों की भाँति 'अस्तित्व' को भी वस्तुओं का एक अतिरिक्त गुण मान लिया है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने पूर्ण ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है, किंतु वास्तव में उनकी यह मान्यता निराधार तथा अयुक्तिसंगत है। यह कहना कि "ईश्वर का अस्तित्व है" उसके स्वरूप के विषय में कोई अतिरिक्त सूचना देना नहीं है। ऐसी स्थिति में 'अस्तित्व' को ईश्वर के स्वरूप का अनिवार्य गुण मान कर प्रत्यय-सत्ता-प्रमाण के समर्थकों ने उसकी पूर्णता को सिद्ध करने का जो प्रयास किया है वह दोषपूर्ण तथा भ्रामक है। यदि 'अस्तित्व' किसी वस्तु का कोई गुण है ही नहीं तो उसके आधार पर ईश्वर की पूर्णता और वास्तविक सत्ता को प्रमाणित करने का संपूर्ण प्रयास निश्चय ही व्यर्थ है।

(3) यदि प्रत्यय-सत्ता प्रमाण का समर्थन करने वाले दार्शनिकों की इस मान्यता को स्वीकार भी कर लिया जाए कि 'अस्तित्व' एक गुण है तो भी उनके इस प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि वास्तव में ईश्वर का वस्तुपरक अस्तित्व है। हम देख चुके हैं कि ये दार्शनिक ईश्वर की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि उसका अस्तित्व उसके स्वरूप में ही अनिवार्यतः सम्मिलित हो जाता है। परंतु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि उनके मतानुसार 'ईश्वर' की परिभाषा क्या हैं, इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ईश्वर का वस्तुपरक अस्तित्व है। किसी वस्तु की परिभाषा करना एक बात है और बाह्य जगत् में उसके वास्तविक अस्तित्व को प्रमाणित करना बिल्कुल दूसरी बात है। इन दोनों बातों में परस्पर कोई संबंध नहीं है। उदाहरण के लिए 'त्रिकोण' की परिभाषा करते हुए हम यह कह सकते हैं कि "त्रिकोण वह आकृति है जिसमें तीन कोण होते हैं।" इस परिभाषा के अनुसार तीन कोणों का होना त्रिकोण का अनिवार्य लक्षण है जिसके अभाव में किसी आकृति को 'त्रिकोण' नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ यह है कि यदि त्रिकोण है तो उसमें तीन कोणों का होना अनिवार्य है, क्योंकि किसी आकृति को 'त्रिकोण' कहना और उसके तीन कोणों को स्वीकार न करना परस्पर विरोधी बातें हैं। परंतु त्रिकोण की इस परिभाषा से यह प्रमाणित नहीं होता कि बाह्य जगत् में त्रिकोण का वास्तविक अस्तित्व है। ठीक यही बात ईश्वर के अस्तित्व के विषय में भी कही जा सकती है। हम ऐन्सैल्म द्वारा दी गई ईश्वर की इस परिभाषा को स्वीकार कर सकते हैं कि "ईश्वर वह है जिसकी अपेक्षा अधिक महान या पूर्ण सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती"। इस परिभाषा से केवल यही सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर है तो उसकी अपेक्षा महान अथवा पूर्ण सत्ता की कल्पना करना संभव नहीं है। परंतु इस परिभाषा से यह प्रमाणित नहीं होता कि ईश्वर का वास्तविक या वस्तुपरक अस्तित्व है। ऐन्सैल्म का तर्क हमें केवल इतना ही बताता है कि वे

ईश्वर की परिभाषा किस प्रकार करते हैं; यह तर्क उसकी वस्तुपरक सत्ता को प्रमाणित नहीं करता। हम अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु की परिभाषा कर सकते हैं, किंतु इससे वास्तव में उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्यय-सत्ता प्रमाण के विरुद्ध यही तर्क प्रस्तुत करते हुए कान्ट कहते हैं कि:— "त्रिकोण को स्वीकार करना और उसके तीन कोणों का निषेध करना स्वतोव्याघाती हैं, किंतु त्रिकोण को उसके तीनों कोणों के साथ ही अस्वीकार करने में कोई स्वतोव्याघात नहीं है। यही बात निरपेक्ष रूप से अनिवार्य ईश्वर की अवधारणा के विषय में भी कही जा सकती है"।[8] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अस्तित्व' को एक गुण के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी विचार से भिन्न और स्वतंत्र ईश्वर की वस्तुपरक सत्ता को प्रत्यय-सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(4) हम ऊपर चुके हैं कि प्रत्यय-सत्ता प्रमाण के समर्थक पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय या विचार के आधार पर ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं और इस प्रमाण की यही विशेषता इसे अन्य सभी प्रमाणों से पृथक करती है। परंतु ये दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि केवल विचार के आधार पर वास्तव में किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि मनुष्य के मन में किसी वस्तु का प्रत्यय या विचार है तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि बाह्य जगत् में भी उस का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ मैं अपने मन में यह विचार कर सकता हूँ कि मेरे पास सौ रुपए हैं, किंतु मेरे इस विचार मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि इस समय वास्तव में मेरे पास सौ रुपए हैं। मैं अपने मन में किसी भी वस्तु की कल्पना कर सकता हूँ, किंतु इससे वास्तविक जगत् में उस वस्तु का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। ठीक यही बात ईश्वर के विषय में भी कही जा सकती है। किसी मनुष्य के मन में ऐसे ईश्वर का प्रत्यय अथवा विचार हो सकता है जिस की अपेक्षा अधिक महान या पूर्ण अन्य कोई सत्ता नहीं है। परंतु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि उसके मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय हैं, इससे वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। वस्तुतः प्रत्यय-सत्ता प्रमाण के समर्थक ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के स्थान पर उसे केवल इसलिए मान लेते हैं कि उन के मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है। ऐसी स्थिति में उनके इस तर्क को वास्तविक अर्थ में 'प्रमाण' कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। धर्मपरायण व्यक्ति अपने उपास्य ईश्वर को सभी दृष्टियों से पूर्ण देखना चाहते हैं जिससे वे उसकी उपासना कर सकें। इसीलिए वे ईश्वर को 'पूर्ण' या 'महानतम' कहते हैं। परंतु उनकी इस मान्यता से यह प्रमाणित नहीं होता कि वास्तव में ऐसे ईश्वर की सत्ता है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि अन्य सभी प्रमाणों की भाँति प्रत्यय-सत्ता प्रमाण भी ईश्वर के अस्तित्व को तर्कसंगत रूप से प्रमाणित नहीं कर पाता।

7. निष्कर्ष

पिछले खंडों में हमने कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रमाणों अथवा तर्कों की विवेचना की है जो

---

8. इमैनुअल कान्ट, "क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न", नॉरमन कैम्प-स्मिथ द्वारा अनुदित, बुक 2, अध्याय 3, खंड 4

ईश्वरवादी दार्शनिक अपने इस विश्वास को सत्य प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत करते हैं कि असीम शक्ति, ज्ञान, प्रेम, दया, नित्यता आदि गुणों से परिपूर्ण ईश्वर का वास्तविक तथा वस्तुपरक अस्तित्व हैं। इस विवेचना से यह पूर्णतः स्पष्ट हैं कि ईश्वर की सत्ता के समर्थन में प्रस्तुत किए गए सभी प्रमाण तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं। हम देख चुके हैं कि प्रत्यय-सत्ता युक्ति को छोड कर अन्य सभी प्रमाण किसी न किसी रूप में मनुष्य के अपने अनुभव पर ही आधारित हैं। परंतु ईश्वर को अनुभवातीत माना जाता है जिस का अर्थ यह है कि वह कभी भी मानवीय अनुभव का विषय नहीं हो सकता और इसी कारण किसी भी अनुभवाश्रित प्रमाण द्वारा उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में जब किसी अनुभवाश्रित प्रमाण द्वारा अनुभवातीत ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है तो उस प्रमाण में तार्किक दोषों का आ जाना अनिवार्य है। पिछले खंडों में हमने अनुभवाश्रित प्रमाणों की जो विवेचना की है वह हमारे इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है। वस्तुतः इस कठिनाई से बचने के उद्देश्य से ही कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रत्यय-सत्ता युक्ति प्रस्तुत की है जिस का एकमात्र आधार पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है और जिस का मानवीय अनुभव से कोई संबंध नहीं है। परंतु, जैसा कि हम पिछले खंड में स्पष्ट कर चुके हैं, यह युक्ति भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में पूर्णतः असमर्थ है, क्योंकि केवल प्रत्यय के आधार पर किसी वस्तु के वास्तविक अस्तित्व को प्रमाणित करना संभव नहीं है। मुख्यतः इसी आधार पर अनेक महान दार्शनिकों ने इस युक्ति को भी तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण तथा अविश्वसनीय माना है। इस प्रकार कोई भी प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित विश्वास को तर्कसंगत रूप से सत्य प्रमाणित नहीं कर पाता जिससे हम अनिवार्यतः यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईश्वर वास्तव में प्रमाण या तर्क का विषय नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि केवल भक्त अथवा धर्मपरायण व्यक्ति ही नहीं, अपितु अनेक महान दार्शनिक भी ईश्वर के संबंध में इसी निष्कर्ष को स्वीकार करते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मूलतः इसी निष्कर्ष को स्वीकार करके कान्ट ने यह कहा है कि ईश्वर ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, अतः तर्कों या प्रमाणों द्वारा उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है। केवल आस्था के आधार पर ही उसके अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है। अपनी पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न' के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना में इसी मान्यता को व्यक्त करते हुए कान्ट स्पष्ट कहते हैं कि: "आस्था के लिए स्थान बनाने के उद्देश्य से ही मैंने ईश्वर विषयक ज्ञान का खंडन किया है।" परंतु यहाँ मूल प्रश्न यह है कि आस्था के आधार पर हम जिस ईश्वर में विश्वास करते हैं क्या उसका हमारे मन से स्वतंत्र कोई वस्तुपरक अस्तित्व है। कान्ट के नीतिपरक प्रमाण से संभवतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे ईश्वर के वस्तुपरक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। परंतु ईश्वर के विषय में उनके कुछ कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी ईश्वर के वस्तुपरक अस्तित्व को अत्यंत संदेहास्पद मानते है। उदाहरणार्थ ईश्वर को मनुष्य का मानसिक प्रत्यय मात्र मानते हुए वे कहते हैं कि : "ईश्वर मुझ से बाहर कोई सत्ता नहीं है, अपितु वह मेरे भीतर एक विचार मात्र है। ईश्वर आत्मारोपित नैतिक नियमों से संबंधित

व्यावहारिक तर्कबुद्धि है।" [9] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कान्ट ईश्वर की वस्तुपरक सत्ता का निषेध करते हैं। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कान्ट का यही निष्कर्ष प्रतीत होता है जो उन की ज्ञानमी मांसा के अनुरूप हैं।

---

9. इमैनुअल कान्ट, 'सलैक्शन्स', सम्पादक टी० एम० ग्रीन, पृ० 373.

4

ईश्वर का स्वरूप और जगत् के साथ उसका संबंध

1. ईश्वर के तत्त्वमीमांसीय गुण

पिछले अध्याय के प्रथम खंड में ईश्वर के अस्तित्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए हम उसके कुछ ऐसे गुणों का संक्षिप्त उल्लेख कर चुके हैं जिन्हें भक्त और ईश्वरवादी दार्शनिक उसमें आरोपित करते हैं। हम देख चुके हैं कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य अथवा शाश्वत, असीम, प्रेममय, अत्यंत दयालु तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर में शक्ति, ज्ञान, नित्यता, प्रेम, दया आदि गुण असीमित मात्रा में पाए जाते हैं जो उसे सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाते हैं और जिनके कारण वह भक्तों की पूजा या उपासना का विषय बनता है। यदि ईश्वर में इन गुणों का अभाव हो अथवा ये उसमें केवल सीमित मात्रा में ही विद्यमान हों तो वह भक्तों की उपासना का विषय नहीं रह जाएगा, क्योंकि तब वह असीम और सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं होगा। इसी कारण ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर में इन गुणों का असीमित मात्रा में विद्यमान होना अनिवार्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर के इन गुणों के आधार पर ही वे उसके स्वरूप उसकी क्रियाओं तथा जगत् या विश्व के साथ उसके संबंध की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए भक्त तथा ईश्वरवादी दार्शनिक प्रायः यह कहते हैं कि वह ऐसी वस्तुपरक सत्ता है जिसमें असीम शक्ति, ज्ञान, नित्यता, शुभत्व, प्रेम, दया आदि गुण अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं और जो जगत् का आदिकारण, रचयिता, पालनकर्ता, शासक एवं संहारक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वरवादियों के लिए ईश्वर के उपर्युक्त गुणों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये गुण ही उसके स्वरूप तथा जगत् के साथ उसके संबंध को निर्धारित करते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर के उक्त गुणों की विवेचना करने से पूर्व यहाँ संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को किस प्रकार की सत्ता मानते हैं। क्या ईश्वर कोई भौतिक वस्तु है? अथवा क्या वह कोई विशेष प्रकार का प्राणी है? क्या वह कोई ऐसा विचार, मूल्य या आदर्श है जिसका आविष्कार स्वयं मनुष्य ने किया है? भक्त और ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के स्वरूप के विषय में उपर्युक्त सभी प्रश्नों का स्पष्ट रूप से नकारात्मक उत्तर देते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि वे ईश्वर को वस्तुपरक सत्ता मानते हुए भी उसे कोई भौतिक वस्तु नहीं मानते। उनका कथन है कि ईश्वर ने जगत् की समस्त भौतिक वस्तुओं की रचना की है, किंतु वह स्वयं कोई भौतिक वस्तु नहीं है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं, प्रत्येक भौतिक वस्तु की सत्ता केवल आपातिक होती है—अर्थात् उसका आदि तथा अंत है और वह अपने अस्तित्व के लिए अनिवार्यतः किसी अन्य वस्तु पर ही निर्भर है। इसके विपरीत ईश्वर को ऐसी अनिवार्य सत्ता माना जाता है जो अपने

अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है, जो अनादि, अनंत, स्वयंभू, नित्य अथवा शाश्वत है। इससे स्पष्ट है कि समस्त भौतिक वस्तुओं के विपरीत ईश्वर विशुद्ध रूप से अभौतिक सत्ता है। उपर्युक्त कारणों के आधार पर ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को किसी प्रकार का प्राणी भी नहीं मानते। प्रत्येक प्राणी अनिवार्यतः शरीरवान होता है और भौतिक वस्तु की भाँति उसकी सत्ता भी केवल आपातिक ही होती है। परंतु ईश्वर को शरीररहित ऐसी सत्ता माना जाता है जो मनुष्य के अनुभव तथा उसकी तर्कबुद्धि का विषय नहीं हो सकती। इसी प्रकार अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिक यह भी मानते हैं कि ईश्वर कोई ऐसा विचार, मूल्य अथवा आदर्श नहीं है जिसे स्वयं मनुष्य ने जन्म दिया है। प्रत्येक विचार, मूल्य या आदर्श की सत्ता अंततः मनुष्य के मनस पर ही निर्भर है, अतः मनुष्य से पृथक उसकी स्वतंत्र सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके विपरीत ईश्वर को मनुष्य सहित संपूर्ण ब्रह्मांड का रचयिता माना जाता है, अतः उसकी सत्ता मनुष्य के मनस पर निर्भर नहीं हो सकती। फिर यदि ईश्वर को केवल विचार, मूल्य अथवा आदर्श मान लिया जाए तो वह भक्तों की पूजा या उपासना का विषय भी नहीं हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वरवादी दार्शनिकों के मतानुसार ईश्वर न तो कोई भौतिक वस्तु तथा प्राणी है और न कोई मानसिक विचार, मूल्य या आदर्श।

ऐसी स्थिति में मूल प्रश्न यह है कि ईश्वर का स्वरूप क्या है और वह किस प्रकार की सत्ता है। इस प्रश्न का कोई स्पष्ट, निश्चित तथा सर्वमान्य उत्तर देना संभव नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों और कालों में विभिन्न दार्शनिकों ने इसका भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्तर दिया है। उदाहरणार्थ, कुछ दार्शनिक ईश्वर को सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता मानते हैं, किंतु कुछ अन्य दार्शनिक उसे व्यक्तित्वरहित, निर्गुण और निराकार सत्ता के रूप में ही स्वीकार करते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिकों में ईश्वर के स्वरूप के विषय में इस आधारभूत मतभेद के होते हुए भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनके मतानुसार ईश्वर एक शरीररहित, अभौतिक तथा विशुद्ध चैतन्य सत्ता है जो अनादि, अनंत, शाश्वत एवं स्वयंभू है और जो संपूर्ण ब्रह्मांड के अस्तित्व का आदिकारण या मूल आधार है। इस प्रकार ईश्वरवादी दार्शनिकों के विचार में ईश्वर समस्त भौतिक वस्तुओं तथा प्राणियों और अभौतिक विचारों, मूल्यों एवं आदर्शों से मूलतः भिन्न प्रकार की सत्ता है, अतः उसका स्वरूप इन सबसे भिन्न है। यह सत्य है कि ऐसा कहने से ईश्वर का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, किंतु इस संबंध में ईश्वरवादी दार्शनिकों के मतभेद को ध्यान में रखते हुए ईश्वर के स्वरूप के विषय में इससे अधिक कुछ कहना बहुत कठिन है।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, भक्त केवल ऐसे ही ईश्वर की उपासना करना चाहते हैं जिसमें किसी प्रकार की अपूर्णता न हो—अर्थात् जो समस्त सीमाओं, दुर्बलताओं तथा दोषों से मुक्त और सभी दृष्टियों से पूर्ण हो। इसी कारण वे अपने उपास्य ईश्वर में उन सभी गुणों का होना अनिवार्य मानते हैं जो मानवीय दृष्टि से उत्कृष्टतम और सर्वाधिक मूल्यवान हैं। सर्वशक्तिमता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, अपरिमितता, नित्यता, पूर्ण शुभत्व, असीमित प्रेम, अपार करुणा आदि ऐसे ही गुण हैं जिनका ईश्वर में विद्यमान रहना अनिवार्य माना जाता है। भक्त या ईश्वरोपासक ईश्वर को इन सब गुणों से परिपूर्ण मानकर ही उसकी पूजा अथवा आराधना

करता है। वह अपनी आस्था एवं श्रद्धा के आधार पर यह मान लेता है कि ईश्वर में वस्तुतः ये सब गुण विद्यमान हैं; इसके लिए वह किसी के तर्क या प्रमाण की आवश्यकता अनुभव नहीं करता। परंतु, जैसा कि हम प्रथम अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं, निष्पक्ष परीक्षक तथा अलोचक होने के कारण दार्शनिक भक्त के इस आस्थापूर्ण दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकता। वह ईश्वर के स्वरूप और उसके गुणों पर केवल तार्किक दृष्टि से विचार करना चाहता है। इसी कारण वह इस संबंध में अनेक गंभीर दार्शनिक प्रश्न उठाता है और उनके युक्तिसंगत उत्तर खोजने का प्रयास करता है। इनमें से कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं:—क्या उपर्युक्त गुण ईश्वर में वस्तुतः विद्यमान हैं— अर्थात् क्या ये गुण ईश्वर के स्वरूप के अनिवार्य तत्त्व हैं? क्या मनुष्य ने अपने उपास्य ईश्वर में उन सभी गुणों को केवल आरोपित कर लिया है जिन्हें वह स्वयं अपने लिए अत्यधिक मूल्यवान तथा उत्कृष्टतम मानता है? क्या ईश्वर के ये गुण स्वयं उसमें निहित न होकर मनुष्य की अपनी उपासना संबंधी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति के कल्पित साधन मात्र हैं? यदि इन गुणों को वस्तुतः ईश्वर में विद्यमान मान लिया जाए तो कौन-सी दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं? क्या इन समस्याओं का कोई तर्कसंगत समाधान संभव हैं? धर्म-दार्शनिक के लिए ईश्वर के स्वरूप और गुणों के संबंध में इन सभी प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों पर तार्किक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट है कि उक्त समस्या के विषय में दार्शनिक का दृष्टिकोण भक्त या ईश्वरोपासक के दृष्टिकोण से पूर्णतः भिन्न है।

ईश्वर के जिन गुणों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन्हें अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— तत्त्वमीमांसीय गुण और नैतिक गुण। सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, अपरिमितता, नित्यता आदि गुण 'तत्त्वमीमांसीय गुण' हैं और पूर्ण शुभत्व, असीमित प्रेम, अत्यधिक दयालुता आदि गुणों को 'नैतिक गुण' कहा जाता है। प्रस्तुत खंड में तत्त्वमीमांसीय गुणों और अगले खंड में नैतिक गुणों की विवेचना की जाएगी। ईश्वर के इन सभी गुणों के संबंध में अनेक गंभीर दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर प्रस्तुत खंड तथा अगले खंड में विचार किया जाएगा।

(1) सर्वशक्तिमत्ता

धर्म के उद्‌गम तथा विकास की विवेचना करते हुए हम दूसरे अध्याय मे बता चुके हैं कि मनुष्य आदि-काल से ही अपने उपास्य देवता को अत्यधिक शक्तिशाली मानता रहा है और उसकी इसी शक्ति के कारण वह उसकी पूजा करता रहा है। धीरे-धीरे कालांतर में जब बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद का विकास हुआ तो मनुष्य एक ही ईश्वर को सर्वशक्तिमान समझने लगा। जो ईश्वरवादी एक ही ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं वे उसे अनिवार्यतः सर्वशक्तिमान भी मानते हैं। ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहने का अर्थ यह है कि उसमें असीम शक्ति है और इसी कारण संपूर्ण ब्रह्मांड पर उसका पूर्ण नियंत्रण है। ईश्वर अपनी इच्छानुसार सब कुछ कर सकता है—ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे करना उसके लिए असंभव हो। वही प्रकृति के समस्त नियमों का विधायक है, अतः वह अपनी इच्छानुसार इन नियमों का उल्लंघन भी कर सकता है। इस प्रकार अपनी असीम शक्ति के कारण ईश्वर के

लिए सब कुछ करना संभव हैं। ईश्वर के संबंध में अपनी इसी मान्यता के कारण भक्त उसकी पूजा या उपासना करता है और अपने आपको उस पर पूर्णतः निर्भरं मानता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि जो कार्य वह स्वयं नहीं कर सकता ईश्वर सर्वशक्तिमान होने के कारण वह कार्य उसके लिए अवश्य कर सकता है। ईश्वरोपासकों के जीवन में प्रार्थना की जो महत्त्वपूर्ण भूमिका है उसका आधार ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से संबंधित उनका यही विश्वास है। इस विश्वास के अभाव में ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानकर उसकी उपासना करना और उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करना उनके लिए संभव नहीं होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर के भक्तों के लिए उसे सर्वशक्तिमान मानना अपरिहार्य हैं, इसी कारण सर्वशक्तिमत्ता को ईश्वर का बहुत महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य गुण माना जाता है।

परंतु ईश्वर की इस सर्वशक्तिमत्ता के संबंध में अनेक गंभीर दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिन पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। यदि ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने का अर्थ यह है कि उसके लिए कुछ भी करना असंभव नहीं है तो हमारे समक्ष अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं जिनका कोई संतोषप्रद तथा युक्तिसंगत उत्तर देना संभव प्रतीत नहीं होता। इनमें से कुछ प्रश्न निम्नलिखित हैं:—क्या ईश्वर आत्म-हत्या कर सकता है? क्या वह झूठ को सत्य बना सकता है? क्या वह पाप कर सकता है? क्या वह इतना भारी पत्थर बना सकता है जिसे वह स्वयं न उठा सके?इस प्रकार के प्रश्नों को दार्शनिकों ने 'सर्वशक्तिमत्ता के विरोधाभास' कहा है जिनका तर्कसंगत समाधान असंभव है। उदाहरणार्थ, यदि ईश्वर आत्म-हत्या कर सकता है तो वह नित्य अथवा शाश्वत नहीं रह जाता जैसा कि ईश्वरवादी दार्शनिक उसे मानते हैं। यदि वह आत्म-हत्या नहीं कर सकता तो उसे सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि कोई कार्य (आत्म-हत्या) ऐसा है जो उसके लिए करना असंभव है। इसी प्रकार ईश्वर झूठ को सत्य नहीं बना सकता, क्योंकि यह एक तार्किक असंभावना है और अनेक ईश्वरवादी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो तार्किक दृष्टि से असंभव है। यदि यह माना जाए कि ईश्वर पाप कर सकता है तो उसकी नैतिक पूर्णता खंडित हो जाती है, किंतु यदि यह कहा जाए कि वह पाप नहीं कर सकता तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता का अंत हो जाता है। ऊपर जिन चार विरोधाभासों का उल्लेख किया गया है उनमें से अंतिम विरोधाभास के संबंध में हमारे समक्ष जो कठिनाई उपस्थित होती है वह विशुद्ध रूप से तार्किक है। इस विरोधाभास के दोनों ही विकल्प ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का खंडन करते हैं। यदि ईश्वर इतना भारी पत्थर बना सकता है जिसे वह स्वयं नहीं उठा सकता तो उसे सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता और यदि वह ऐसा पत्थर नहीं बना सकता तो भी उसे सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उपर्युक्त अंतिम प्रश्न के ये दोनों ही उत्तर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध हैं। कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से संबंधित इन सभी विरोधाभासों के अनेक समाधान प्रस्तुत किए हैं, किंतु दोषपूर्ण होने के कारण ये सभी समाधान असंतोषप्रद हैं।

उपर्युक्त विरोधाभासों के अतिरिक्त ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य का भी निषेध करती है जिसे नैतिकता के लिए अनिवार्य माना जाता है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो इसका अर्थ यह है कि मनुष्य ऐसा कोई कर्म नहीं कर सकता जो

ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध हो। यदि मनुष्य ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कर्म कर सकता है तो निश्चय ही ईश्वर को सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य में परस्पर विरोध है जिसे तर्कसंगत रूप से समाप्त नहीं किया जा सकता। इन दोनों में विद्यमान इस विरोध की चिंता किए बिना ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानने के साथ-साथ मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के फलस्वरूप ऐसी अनेक जटिल दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका तर्कसंगत और संतोषप्रद समाधान सम्भव नहीं है।

(2) सर्वव्यापकता

सर्वशक्तिमत्ता के अतिरिक्त सर्वव्यापकता को भी ईश्वर का अनिवार्य गुण माना जाता है। सामान्यतः ईश्वर को 'सर्वव्यापक' कहने का अर्थ यह है कि वह इस जगत् में सर्वत्र व्याप्त या विद्यमान है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की भाँति उसकी सर्वव्यापकता के गुण का विकास भी एकेश्वरवाद के उदय के फलस्वरूप ही हुआ है। प्राचीन काल में जब बहुदेववाद प्रचलित था तब किसी एक देवता को सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक नहीं माना जाता था। ऐसी स्थिति में प्रत्येक देवी या देवता का कार्य-क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित ही होता था। किसी विशेष देश के निवासी ही किसी विशेष प्रकार के कार्य के लिए उसकी पूजा या उपासना करते थे। इस प्रकार बहुदेववाद के प्रत्येक देवता को हम 'स्थानीय देवता' की संज्ञा दे सकते हैं। परंतु कालांतर में जब मनुष्य की धार्मिक चेतना के विकास के फलस्वरूप एकेश्वरवाद का उदय हुआ तो एक ही ईश्वर ने सभी देवी-देवताओं का स्थान ले लिया। स्पष्ट है कि ऐसा ईश्वर केवल स्थानीय देवता नहीं हो सकता था। इसी कारण उसे सर्वव्यापक—अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त—माना जाने लगा। जब ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सर्वव्यापक कहता है तो इससे उसका तात्पर्य यह होता है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर उपस्थित न हो। वह इस ब्रह्मांड के कण-कण में ईश्वर की उपस्थिति को अनिवार्य मानता है। ईश्वर की सर्वव्यापकता को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए ईश्वरवादी दार्शनिक यह कहते हैं कि जिस प्रकार दूध की प्रत्येक बूँद में मक्खन विद्यमान रहता है और जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग में आत्मा व्याप्त रहती है उसी प्रकार संपूर्ण ब्रह्माड में ईश्वर भी सर्वत्र विद्यमान अथवा व्याप्त है। वस्तुतः ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक के लिए ईश्वर को सर्वव्यापक मानना अनिवार्य है, क्योंकि सर्वव्यापकता के अभाव में उसे असीम और सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि सर्वशक्तिमत्ता की भाँति सर्वव्यापकता को भी ईश्वर का अपरिहार्य गुण माना जाता है।

परंतु ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के समान ही उसकी सर्वव्यापकता के फलस्वरूप भी अनेक जटिल दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। सर्वप्रथम ईश्वर के विषय में सर्वव्यापकता की अवधारणा अबोधगम्य प्रतीत होती है। हम देख चुके हैं कि ईश्वर को शरीररहित अभौतिक सत्ता माना जाता है जिसमें किसी प्रकार का भौतिक तत्त्व नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि पूर्णतः अभौतिक ईश्वर भौतिक जगत में किस प्रकार व्याप्त हो सकता है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु वहाँ उपस्थित है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि वह वस्तु किसी विशेष स्थान पर विद्यमान है। परंतु ईश्वर

के संबंध में इस प्रकार के सामान्य कथन का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह पूर्णतः अभौतिक सत्ता है जिसकी दिक्-काल में उपस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी कारण यह कथन बोधगम्य प्रतीत नहीं होता कि अभौतिक ईश्वर भौतिक जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर की सर्वव्यापकता को स्पष्ट करने के लिए दूध और मक्खन का जो उदाहरण दिया गया है वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता. क्योंकि दूध तथा मक्खन दोनों ही भौतिक वस्तुएँ हैं जबकि ईश्वर को पूर्णतया अभौतिक माना जाता है। इसी प्रकार इस संबंध में शरीर और आत्मा के उदाहरण को भी तर्कसंगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व असंदिग्ध तथा निर्विवाद नहीं है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वर की सर्वव्यापकता की अवधारणा हमारे लिए वास्तव में बोधगम्य नहीं है, अतः हम इस कथन का ठीक-ठीक अर्थ कभी नहीं जान सकते कि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस समस्या के अतिरिक्त ईश्वर की सर्वव्यापकता के संबंध में एक अन्य दार्शनिक समस्या भी है जो इस अवधारणा को हमारे लिए अबोधगम्य बना देती है। जगत् की अन्य वस्तुओं की भांति दिक् और काल को भी ईश्वर की ही सृष्टि माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर दिक् और काल से पूर्णतः भिन्न है। अब प्रश्न यह है कि यदि दिक् एवं काल ईश्वर की ही रचनाएँ हैं और ईश्वर स्वयं इन दोनों से पूर्णतया भिन्न है तो वह इनमें व्याप्त कैसे हो सकता है। वस्तुतः रचयिता का रचना से भिन्न होना अनिवार्य है, अतः वह अपनी रचना में व्याप्त—अर्थात् उससे अभिन्न—नहीं हो सकता। इस प्रकार यदि दिक् और काल ईश्वर की ही रचनाएँ हैं जैसा कि ईश्वरवादी दार्शनिक मानते हैं तो हमारे लिए ईश्वर की सर्वव्यापकता की अवधारणा अबोधगम्य हो जाती है।

परंतु उपर्युक्त दार्शनिक समस्याओं पर ध्यान न देते हुए यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मान लिया जाए तो भी हमारे समक्ष ऐसी अनेक जटिल समस्याएँ उपस्थित होती हैं जिनका संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है। इनमें से प्रथम समस्या यह है कि ईश्वर को सर्वव्यापक मान लेने पर भक्त और ईश्वर का अंतर समाप्त हो जाता है। यदि ईश्वर जगत् के कण-कण में व्याप्त है तो उसे भक्त में भी व्याप्त मानना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होगा कि भक्त ईश्वर से भिन्न नहीं रह जाएगा। अब यदि भक्त और ईश्वर की भिन्नता समाप्त हो जाती है तो भक्त के लिए ईश्वर की उपासना करना असंभव हो जाएगा। वास्तव में ईश्वरोपासना तभी संभव हो सकती है जब भक्त और ईश्वर में भेद बना रहे। परंतु ईश्वर को सर्वव्यापक मान लेने पर भक्त और ईश्वर का यह भेद समाप्त हो जाता है, अतः ईश्वरोपासना तथा ईश्वर की सर्वव्यापकता में परस्पर संगति स्थापित करना संभव प्रतीत नहीं होता। इस गंभीर तार्किक कठिनाई की उपेक्षा करते हुए ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सर्वव्यापक तथा उपास्य दोनों ही मान लेते हैं जिससे उनके विचारों में स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मान लिया जाए तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अत्यंत निकृष्ट, कुरूप तथा निंदनीय स्थानों पर और अत्यधिक घृणास्पद वस्तुओं में भी विद्यमान है। परंतु कोई भी ईश्वरोपासक अथवा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की सर्वव्यापकता के इस परिणाम को स्वीकार नहीं करना चाहेगा। उदाहरणार्थ, वह यह मानने के लिए उद्यत नहीं होगा कि ईश्वर मल-मूत्र में भी उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार सुगंधित पुष्पों और सुंदर चांद-तारों में। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर में सर्वव्यापकता के गुण को स्वीकार कर लेने के परिणामस्वरूप हमारे समक्ष ऐसी अनेक गंभीर दार्शनिक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं

जिनका युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद समाधान संभव प्रतीत नहीं होता।

(3) सर्वज्ञता

ईश्वर को सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक मानने के साथ-साथ सर्वज्ञ भी माना जाता है। ईश्वर की सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि उसे संपूर्ण जगत्—अर्थात् सभी भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों तथा प्राणियों—और भूत, वर्तमान एवं भविष्यत की समस्त घटनाओं का पूर्ण ज्ञान है। इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु और घटना नहीं है जिसे ईश्वर पूर्ण रूप से नहीं जानता। इस अर्थ में सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर का ज्ञान मनुष्य के ज्ञान से मूलतः भिन्न प्रकार का है। मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि तथा ज्ञानेंद्रियों द्वारा ही इस जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है जिनका क्षेत्र बहुत सीमित है, इसी कारण उसका ज्ञान भी अत्यंत सीमित और अपूर्ण होता है। वह यथा संभव अधिकतम प्रयास करने पर भी किसी वस्तु या घटना के एक विशेष पक्ष को ही कुछ सीमा तक जान पाता है। इसके अतिरिक्त दिक् और काल भी मनुष्य के ज्ञान को सीमित करते हैं, क्योंकि वह केवल इन्हीं के अंतर्गत रहकर किसी वस्तु अथवा घटना का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परंतु ईश्वर के ज्ञान के संबंध में उपर्युक्त सभी मानवीय सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। मनुष्य के ज्ञान के विपरीत ईश्वर का ज्ञान पूर्ण तथा असीम है, क्योंकि ईश्वर सभी दृष्टियों से पूर्ण है। वस्तुतः इसी अर्थ में ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है। ईश्वर की सर्वज्ञता का कारण यह है कि उसी ने संपूर्ण ब्रह्मांड की रचना की है और वह इसमें सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर का अनुभव किसी विशेष वस्तु या घटना का अनुभव न होकर संपूर्ण ब्रह्मांड का अनुभव है। मनुष्य की सीमित चेतना के विपरीत ईश्वर की चेतना विश्वव्यापी है जिसकी परिधि में सब कुछ सम्मिलित है। विश्व में ऐसी कोई वस्तु अथवा घटना नहीं है जो ईश्वर की विश्वव्यापी चेतना की परिधि से बाहर हो। ऐसी स्थिति में ईश्वर का सर्वज्ञ होना अनिवार्य है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वव्यापकता की भाँति उसकी यह सर्वज्ञता भी उसे सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाती है और इस सर्वज्ञता के कारण भी भक्त उसकी पूजा या उपासना करता है। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसके उपास्य ईश्वर का ज्ञान सीमित तथा अपूर्ण है अथवा वह किसी प्रकार की अनभिज्ञता के दोष से ग्रस्त है। यही कारण है कि वह ईश्वर को सर्वज्ञ मानता है। इस प्रकार सर्वशक्मित्ता और सर्वव्यापकता के साथ-साथ सर्वज्ञता को भी ईश्वर का एक अनिवार्य गुण माना जाता है।

परंतु ईश्वर के अन्य दो गुणों की भाँति उसकी सर्वज्ञता का यह गुण भी कुछ दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है जिनकी यहाँ संक्षिप्त विवेचना करना आवश्यक है। इस संबंध में पहली कठिनाई यह है कि ईश्वर की सर्वज्ञता और उसकी नित्यता अथवा शाश्वतता में परस्पर संगति स्थापित करना संभव प्रतीत नहीं होता। जैसा कि हम आगे विस्तारपूर्वक स्पष्ट करेंगे, ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को नित्य या शाश्वत भी मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि उसके स्वरूप में कभी भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। परंतु ईश्वर के विपरीत विश्व को अनित्य माना जाता है जिसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। अब यदि ईश्वर इस परिवर्तनशील विश्व के विषय में सब कुछ जानता है तो वह अपरिवर्तनशील कैसे हो सकता है? यह स्पष्ट है कि परिवर्तनशील विश्व से संबंधित ज्ञान में

भी अनिवार्यतः सतत परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति में यदि ईश्वर निरंतर परिवर्तित होने वाले इस विश्व का सतत परिवर्तनशील ज्ञान प्राप्त करता है तो उसके स्वरूप में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। इस प्रकार यदि ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाए तो उसे तर्कसंगत रूप से नित्य या अपरिवर्तनशील मानना संभव नहीं है। परंतु इस तार्किक कठिनाई की उपेक्षा करते हुए ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को एक ही साथ सर्वज्ञ तथा नित्य दोनों मान लेते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनके विचारों में स्वतोव्याघात का आ जाना अनिवार्य है।

ईश्वर की सर्वज्ञता के संबंध में दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि मानव के संकल्प-स्वातंत्र्य के साथ इसकी संगति स्थापित नहीं की जा सकती। ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सर्वज्ञ मानने के साथ-साथ मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य को भी स्वीकार करते हैं, किंतु इन दोनों मान्यताओं को एक ही साथ स्वीकार करना तार्किक दृष्टि से संभव प्रतीत नहीं होता। हम देख चुके हैं कि ईश्वर के सर्वज्ञ होने का अर्थ यह है कि वह भूत और वर्तमान संबंधी घटनाओं के साथ-साथ भविष्य में होने वाली घटनाओं को भी पूर्ण रूप से जानता है। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य द्वारा भविष्य में किए जाने वाले कर्मों का भी ईश्वर को पूर्ण ज्ञान है। ऐसी स्थिति में मानव का संकल्प-स्वातंत्र्य समाप्त हो जाता है। ईश्वर की सर्वज्ञता और मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य में जो परस्पर व्याघात है उसे निम्नलिखित तर्क द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। (1) ईश्वर को समस्त भावी घटनाओं का पूर्ण ज्ञान है, (2) अतः यदि कोई मनुष्य भविष्य में 'क' नामक कर्म करने वाला है तो ईश्वर पहले से ही जानता है कि वह यह कर्म अवश्य करेगा, (3) ईश्वर का ज्ञान पूर्णतः सत्य है और वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता, (4) अतः यदि ईश्वर जानता है कि वह मनुष्य 'क' नामक कर्म करेगा तो वह अवश्य ही उस कर्म को करेगा, (5) ऐसी स्थिति में वह मनुष्य उस कर्म को करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगा, (6) इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य के विरुद्ध है। वस्तुतः मानव के संकल्प स्वातंत्र्य का अर्थ यह है कि वह भविष्य में अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकता है, अतः किसी के लिए निश्चित रूप से यह जानना संभव नहीं है कि वह भविष्य में क्या करेगा। यदि मनुष्य को संकल्प-स्वातंत्र्य प्राप्त है तो स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि वह भविष्य में कोई विशेष कर्म करने के लिए बाध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में ईश्वर भी यह नहीं जान सकता कि वह भविष्य में कौन-सा कर्म करेगा। यदि ईश्वर पहले ही निश्चित रूप से यह जानता है कि मनुष्य भविष्य में कौन-सा कर्म करेगा और मनुष्य अनिवार्यतः वही कर्म करता है तो इसका अर्थ यही है कि उसे किसी प्रकार का संकल्प-स्वातंत्र्य प्राप्त नहीं है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की भाँति उस की सर्वज्ञता भी मानव के संकल्प-स्वातंत्र्य का पूर्णतः निषेध करती है. अतः इन दोनों को तार्किक दृष्टि से एक साथ स्वीकार करना संभव नहीं है।

(4) नित्यता

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ मानने के साथ-साथ नित्य अथवा शाश्वत भी माना जाता है। ईश्वर के संबंध में 'नित्यता' शब्द का प्रयोग सामान्यतः दो अर्थों में किया जाता है। इसके प्रथम अर्थ में ईश्वर को 'नित्य' कहने का तात्पर्य यह है कि वह शाश्वत, अनश्वर, अपरिवर्तनशील, अनादि तथा अनंत है। इस दृष्टि से

ईश्वर की सत्ता समस्त सांसारिक वस्तुओं के अस्तित्व से मूलतः भिन्न प्रकार की है। सभी सांसारिक वस्तुएँ नश्वर एवं परिवर्तनशील हैं और दिक्-काल के अंतर्गत ही उनका प्रारंभ तथा अंत होता है। इसी अर्थ में संसार और उसकी समस्त वस्तुओं को 'अनित्य' कहा गया है। क्षणभंगुरता और परिवर्तनशीलता प्रत्येक सांसारिक वस्तु तथा प्राणी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं। परन्तु ईश्वर की सत्ता इसके ठीक विपरीत है। वह अनश्वर तथा अपरिवर्तनशील है, उसका न कोई आदि है और न अंत। ईश्वर ही संपूर्ण ब्रह्मांड का आदि कारण अथवा मूल आधार है, अतः ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसने उसे जन्म दिया हो और जो उसे नष्ट कर सके। इस प्रकार 'नित्यता' के प्रथम अर्थ में ईश्वर सर्वदा एकरूप तथा निर्विकार बना रहता है।

परंतु ईश्वर की 'नित्यता' का एक अन्य अर्थ भी है जो इसके उपर्युक्त अर्थ से कुछ भिन्न है। 'नित्यता' के इस दूसरे अर्थ के अनुसार ईश्वर काल के अंतर्गत न होकर उससे परे अथवा कालातीत है। उसके संबंध में यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि वह काल के अंतर्गत सदा अपरिवर्तनशील तथा निर्विकार बना रहता है। इसका कारण यह है कि अन्य सभी वस्तुओं की भाँति स्वयं काल भी ईश्वर की ही सृष्टि है और वह अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर ही निर्भर है। ऐसी स्थिति में ईश्वर काल के अंतर्गत नहीं हो सकता, स्वयं काल का स्रष्टा होने के कारण वह कालातीत है। इसका अर्थ यह है कि काल विषयक कोई भी अवधारणा ईश्वर पर लागू नहीं होती, अतः ऐसी किसी अवधारणा द्वारा उसके स्वरूप की व्याख्या नहीं की जा सकती। काल विषयक अवधारणाओं के आधार पर हम केवल सांसारिक वस्तुओं के स्वरूप की व्याख्या कर सकते हैं, क्योंकि वे सब काल के अंतर्गत हैं। परंतु कालातीत होने के कारण ईश्वर के लिए इन अवधारणाओं का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वर की नित्यता का दूसरा अर्थ है उसका कालातीत होना। परंतु इस अर्थ में भी ईश्वर शाश्वत, अनश्वर और अपरिवर्तनशील है। स्वयं काल के अंतर्गत न होने के कारण वह समस्त कालगत परिवर्तनों से पूर्णतः अप्रभावित रहता है। इस प्रकार ईश्वर की नित्यता के उपर्युक्त दोनों अर्थों में उसकी अनश्वरता और अपरिवर्तनशीलता को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है।

परंतु ईश्वर के अन्य गुणों की भाँति उस की नित्यता का यह गुण भी अनेक दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। ईश्वर की नित्यता के प्रथम अर्थ पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि इसमें स्वतोव्याघात विद्यमान है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस प्रथम अर्थ के अनुसार ईश्वर काल के अंतर्गत रहकर अपरिवर्तनशील तथा निर्विकार बना रहता है। परंतु कोई भी वस्तु काल के अंतर्गत रहते हुए उसकी सतत प्रवाहशीलता से अप्रभावित नहीं रह सकती, अतः यदि ईश्वर काल के अंतर्गत है तो उसमें परिवर्तन या विकार का आ जाना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त स्वयं काल को ईश्वर की ही रचना माना जाता है, ऐसी स्थिति में यह कहना निरर्थक और अयुक्तिसंगत है कि ईश्वर काल के अंतर्गत है। इन्हीं कारणों से कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की नित्यता के इस प्रथम अर्थ को अस्वीकार करते हुए उसका दूसरा अर्थ बताया है जिसके अनुसार ईश्वर कालातीत है। परंतु ईश्वर की नित्यता का यह दूसरा अर्थ भी कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। यदि ईश्वर वास्तव में कालातीत है तो इस जगत् के साथ उसका कोई संबंध नहीं रह जाता, क्योंकि यह जगत् अनिवार्यतः काल के प्रवाह द्वारा शसित होता है।

जगत् की समस्त वस्तुएँ काल के अंतर्गत होने के कारण उसके प्रवाह से अनिवार्यतः प्रभावित होती हैं और उनमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति में कालातीत ईश्वर का जगत् की वस्तुओं के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता। यह स्थिति ईश्वरवादी धर्मों के लिए अत्यंत घातक है। इसका कारण यह है कि ईश्वरोपासक भी इस जगत् के प्राणी हैं जो अपने से पूर्णतः असंबद्ध कालातीत ईश्वर की उपासना नहीं कर सकते। ऐसा ईश्वर न तो उनकी प्रार्थना सुन सकता है और न उसके अनुरूप कोई कार्य कर सकता है। स्पष्ट है कि कालातीत ईश्वर भक्तों का उपास्य नहीं हो सकता। जगत् से पूर्णतः असंबद्ध होने के कारण वह इसमें किसी प्रकार का वांछनीय परिवर्तन या सुधार भी नहीं कर सकता। वस्तुतः ईश्वर को एक ही साथ उपास्य तथा कालातीत के अर्थ में नित्य मानना स्वतोव्याघातपूर्ण है। परंतु अनेक ईश्वरवादी दार्शनिक इस गंभीर स्वतोव्याघात की चिंता किए बिना ईश्वर को एक ही साथ उपास्य भी मानते हैं और कालातीत के अर्थ में नित्य भी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर की नित्यता के दूसरे अर्थ को भी तर्कसंगत रूप से स्वीकार करना संभव नहीं है।

(5) असीमता या अपरिमितता

ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर में उपर्युक्त सभी गुणों को स्वीकार करने के साथ-साथ उसे असीम या अपरिमित भी मानते हैं। इस दृष्टि से ईश्वर समस्त सांसारिक वस्तुओं से मूलतः भिन्न है जिनका सीमित होना अनिवार्य है। इस जगत् की प्रत्येक वस्तु की कुछ अनिवार्य सीमाएँ होती हैं जिनके अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। परंतु सांसारिक वस्तुओं के विपरीत ईश्वर किसी प्रकार की सीमाओं में आबद्ध नहीं है। सामान्यतः इसी अर्थ में उसे असीम अथवा अपरिमित कहा जाता है और इस असीमता को उसके स्वरूप का अनिवार्य लक्षण माना जाता है। ईश्वर की इस असीमता की व्याख्या करते हुए पॉल तिलिक कहते हैं कि हम वस्तुतः ईश्वर के संबंध में 'अस्तित्व' शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि किसी वस्तु के अस्तित्व की बात करना उसे अनिवार्यतः सीमित मानना है। अपनी इसी मान्यता के कारण वे ईश्वर के अस्तित्व की चर्चा करना ही अनुचित और अयुक्तिसगत मानते हैं। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि : "ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रश्न न तो पूछा जा सकता है और न उसका उत्तर दिया जा सकता है। यदि यह प्रश्न पूछा जाता है तो यह उसके विषय में है जो स्वरूपतः अस्तित्व से ऊपर है और इसी लिए इसका उत्तर—चाहे वह नकारात्मक हो या सकारात्मक—अप्रत्यक्षतः ईश्वर के स्वरूप का निषेध करता है। ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना उतना ही निरीश्वरवादी है जितना उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना"।[1] इस प्रकार तिलिक के विचार में असीम होने के कारण ईश्वर अस्तित्व विषयक हमारी सामान्य अवधारणा से ऊपर है, अतः उसके अस्तित्व की बात करना उसे अनिवार्यतः सीमित करना है।

---

1. पॉल तिलिक, "सिस्टेमैटिक थियोलॉजी', खंड 1, पृ० 237

परंतु कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर की असीमता की एक अन्य दृष्टिकोण से व्याख्या की है जो तिलिक द्वारा की गई उपर्युक्त व्याख्या से कुछ भिन्न है। इस व्याख्या के अनुसार ईश्वर को असीम कहने का अर्थ यह है कि वह सभी दृष्टियों से पूर्ण और अपने आप में पर्याप्त है। ईश्वर में ऐसी कोई कमी या अपूर्णता नहीं है जो उसे किसी प्रकार से सीमित कर सके। जॉर्ज गैलोवे ईश्वर की असीमता का यही अर्थ स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि : "ईश्वर की चर्चा करते हुए यदि हमें 'असीम' शब्द का प्रयोग करना ही है तो इसे पूर्ण और अपने आप में पर्याप्त संबंधी सकारात्मक अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। ईश्वर ऐसी सीमाओं में आबद्ध नहीं है जो उसकी अपनी इच्छा से उत्पन्न नहीं हुई और वह समस्त सीमित वस्तुओं के अस्तित्व का पर्याप्त आधार है"।[2] इस प्रकार गैलोवे के मतानुसार ईश्वर के असीम होने का सकारात्मक अर्थ है सभी दृष्टियों से उसका पूर्ण तथा स्वपर्याप्त होना।

परंतु उपर्युक्त दोनो अर्थों में ईश्वर की असीमता की यह अवधारणा वस्तुतः बोधगम्य प्रतीत नहीं होती। हमारे लिए किसी ऐसी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना करना संभव नहीं है जो असीम हो—अर्थात् जो किसी प्रकार की सीमाओं में आबद्ध न हो। हम अपने अनुभव और अपनी तर्कबुद्धि द्वारा जिन वस्तुओं को जानते हैं या जान सकते हैं वे किसी न किसी अर्थ में अनिवार्यतः सीमित होती हैं, अतः असीम ईश्वर की अवधारणा का हमारे लिए कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं हो सकता। ईश्वर को असीम कहना उसके किसी विशेष गुण का द्योतक नहीं है, क्योंकि असीमता वास्तव में कोई गुण नहीं है। हम एक यथार्थ सत्ता के रूप में असीम ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते। इस संबंध में पॉल तिलिक का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है उसका सीमित होना अनिवार्य है। हम देख चुके हैं कि इसी आधार पर वे ईश्वर के अस्तित्व की चर्चा को ही अनुचित मानते हैं। परंतु जब वे यह कहते हैं कि ईश्वर अस्तित्व से ऊपर है तो उनके इस कथन का अर्थ समझना अत्यंत कठिन है। हमारे लिए इस बात की कल्पना करना असंभव है कि कोई वस्तु अस्तित्व से ऊपर है। वस्तुतः "ईश्वर असीम है", "ईश्वर अस्तित्व से ऊपर है" आदि वाक्य संज्ञानात्मक कथन न होकर केवल छद्म-कथन हैं जो सार्थक और बोधगम्य नहीं हो सकते। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए ईश्वर की असीमता की अवधारणा का कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं है और न हो सकता है।

2. ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता और उसके नैतिक गुण

अभी तक हमने ईश्वर के उन गुणों का विवेचन किया है जिन्हें 'तत्त्वमीमांसीय गुण' कहा जाता है। अब संक्षेप में ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता और उसके कुछ नैतिक गुणों पर भी विचार करना आवश्यक है। अनेक ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को निर्गुण

---

2. जॉर्ज गैलोवे, 'दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 478

एवं निराकार न मानकर सगुण और व्यक्तित्वसंपन्न मानते हैं। वे ईश्वर की कल्पना विशेष प्रकार के व्यक्तित्व से संपन्न एक ऐसे महापुरुष के रूप में करते हैं जो इस जगत् का रचयिता, पालनकर्ता एवं संहारक है और जिसमें समस्त सद्गुण असीमित मात्रा में विद्यमान हैं। उनका मत है कि ऐसा व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर ही भक्तों का उपास्य हो सकता है और उनकी प्रार्थना सुनकर उनके प्रति अपना अनुग्रह तथा स्नेह प्रदर्शित कर सकता है। ऐसे ईश्वर के साथ ही गहन आत्मीयता का अनुभव करते हुए भक्त उसके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर सकते हैं। निर्गुण, निराकार तथा व्यक्तित्वरहित ईश्वर उनकी उपासना का विषय नहीं हो सकता। इसी कारण ईश्वरवादी धर्मों में इस प्रकार के ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया गया। जब ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को 'व्यक्तित्वपूर्ण' या 'व्यक्तित्वसंपन्न' कहते हैं तो इससे उनका तात्पर्य यह होता है कि ईश्वर में मानवीय व्यक्तित्व की सभी मूल विशेषताएँ अवश्य पाई जाती हैं। सामान्यतः मनुष्य को 'व्यक्ति' कहने का अर्थ यह होता है कि वह शरीर-मन सहित एक बुद्धिमान प्राणी है, उसमें जगत् की चेतना के साथ-साथ आत्म-चेतना विद्यमान है, वह दूसरों के हित का साधन मात्र न होकर स्वतःसाध्य तथा प्रतिष्ठित प्राणी है, उसके समस्त ऐच्छिक कर्मों का एक निश्चित लक्ष्य होता है और वह नैतिक नियमों एवं मूल्यों को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए उनके अनुरूप कर्म करता है अथवा कर सकता है। इसी अर्थ में हम मनुष्य को 'व्यक्तित्वसंपन्न' कहकर उसे समस्त भौतिक वस्तुओं से पृथक करते हैं जो अनिवार्यतः व्यक्तित्वरहित होती हैं। ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता का भी मूलतः यही अर्थ समझा जाता है जो उसे निर्गुण, निराकार निर्विशेष तथा व्यक्तित्वरहित ब्रह्म या परमतत्त्व से पृथक करता है। ऐसे ब्रह्म अथवा परमतत्त्व के विपरीत व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर ही भक्तों को अपना उपास्य देवता, सहायक तथा मार्गदर्शक प्रतीत होता है, जिसके अनुग्रह की वे आकांक्षा करते हैं और जिस पर वे पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं। यही कारण है कि वे ऐसे ही व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं।

ईश्वर की इस व्यक्तित्वपूर्णता का अर्थ स्पष्ट करते हुए ट्रूबलड कहते हैं कि : "हमारा लक्ष्य ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को सुनिश्चित करना है जिसके समक्ष हम अपने पापों को स्वीकार कर सकें—ऐसा ईश्वर जो प्रेम करता है और जो हमारी जिज्ञासा तथा खोज से ऊपर नहीं है, जो परमतत्त्व न होकर पिता है। पूर्णतः व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर के विचार का अर्थ यह है कि ईश्वर चेतना तथा आत्म-चेतना का केंद्र है और इसी कारण वह केवल शक्ति तथा नियम के शासन से पूर्णतया भिन्न है, यद्यपि ईश्वर निश्चय ही शक्ति एवं प्राकृतिक नियम दोनों का स्रोत है। ईश्वर कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसके विषय में केवल बात ही की जा सके, वह ऐसी सत्ता है जिसके साथ बात की जा सकती है और जिसकी बात सुनी जा सकती है"।[3] इस प्रकार ट्रूबलड के अनुसार ईश्वर एक ऐसी व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता है जिसके साथ भक्त अपनी पूजा या आराधना द्वारा संपर्क स्थापित कर सकते हैं, जो उनके लिए सहायक तथा मार्गदर्शक है और जो सभी प्राणियों से पिता की भाँति प्रेम करता है। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों के समान ही अनेक भारतीय दार्शनिक—विशेषतः वैष्णव दार्शनिक—भी ईश्वर के स्वरूप के विषय में

---

3. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 266-267

मूलतः इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं।

जो ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं वे उसे अनिवार्यतः समस्त नैतिक सद्गुणों से भी परिपूर्ण मानते हैं। उनका मत है कि ऐसे व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में प्रेम, शुभत्व, करुणा, परोपकार, न्याय, उदारता, क्षमाशीलता आदि नैतिक सद्गुण असीमित मात्रा में पाए जातें हैं। संपूर्ण ब्रह्मांड का रचयिता होने के कारण ईश्वर ही सभी प्राणियों का जनक है, अतः वह उन सबसे पिता की भाँति प्रेम करता है। उसका यह प्रेम असीम और निस्स्वार्थ है। इसी प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति ईश्वर के अनुग्रह तथा परोपकार और उसकी उदारता एवं क्षमाशीलता की भी कोई सीमा नहीं है। वह सभी प्रकार के दुर्गुणों एव दोषों से मुक्त, पूर्ण रूप से शुभ तथा पवित्र है। जगत् का संचालक तथा प्रशासक होने के नाते ईश्वर निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में सभी प्राणियों के प्रति पूर्ण न्याय करता है। मूलतः इसी विचार का समर्थन करते हुए अनेक भारतीय दार्शनिकों ने ईश्वर को कर्माध्यक्ष के रूप में स्वीकार किया है। इन दार्शनिकों का कथन है कि कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर ही सभी मनुष्यों को उनके कर्मों के अनुसार उचित फल—अर्थात् सुख या दुःख—प्रदान करता है। इस प्रकार ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को नैतिक दृष्टि से उत्कृष्टतम सत्ता मानते हैं जिसमें समस्त नैतिक मूल्य तथा सद्गुण असीमित मात्रा में विद्यमान हैं। इन दार्शनिकों का विचार है कि ऐसा ईश्वर ही भक्तों की पूजा या उपासना का विषय हो सकता है। भक्त केवल ईश्वर की असीम शक्ति के कारण ही उसकी पूजा नहीं करते; वे उसकी नैतिक महानता के कारण भी उसे उपास्य मानते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसे ईश्वर की पूजा नहीं करना चाहेगा जिसमें उपर्युक्त नैतिक सद्गुणों का अभाव हो। इसी कारण ईश्वर में तत्त्वमीमांसीय गुणों के साथ-साथ इन नैतिक सद्गुणों का विद्यमान होना भी अनिवार्य समझा जाता है। संक्षेप में भक्त एवं ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को व्यक्तिसंपन्न तथा नैतिक दृष्टि से उत्कृष्टतम सत्ता मानते हैं और ईश्वरवादी धर्मों में मुख्यतः इसी रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है।

परंतु ईश्वर के तत्त्वमीमांसीय गुणों की भाँति उसकी व्यक्तित्वपूर्णता और उसके नैतिक गुणों के कारण भी अनेक दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख कर देना आवश्यक है। जो ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को व्यक्तित्वसंपन्न तथा नैतिक सद्गुणों से परिपूर्ण मानते हैं वे उसके स्वरूप के विषय में अनिवार्यतः मानवत्वारोपी अवधारणा को ही स्वीकार करते हैं जिसकी चर्चा हम पिछले अध्याय के प्रथम खंड में कर चुके हैं। इस अवधारणा के अनुसार ईश्वर की कल्पना एक ऐसे महा मानव के रूप में की जाती है जिसमें मानवीय व्यक्तित्व और समस्त मानवीय सद्गुण असीमित मात्रा में विद्यमान हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक तथा अधिकतर ईश्वरोपासक इस मानवत्वारोपी अवधारणा के अनुसार ही ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करते हैं। प्रायः ईश्वर को सगुण तथा व्यक्तित्वसंपन्न महा पुरुष मानकर ही उसकी उपासना या पूजा की जाती है। परंतु ईश्वरवादी दार्शनिकों के लिए ईश्वर के स्वरूप के संबंध में इस मानवत्वारोपी अवधारणा को तर्कसंगत रूप से स्वीकार करना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि वे सामान्यतः जिस रूप में ईश्वर का वर्णन करते हैं उसकी मानवत्वारोपी अवधारणा के साथ संगति स्थापित नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि ईश्वर शरीररहित, अभौतिक एवं

अतींद्रिय सत्ता है जो मानवीय अनुभव, ज्ञान और तर्कबुद्धि से परे है। अब यदि ईश्वर के स्वरूप के विषय में इन दार्शनिकों की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाए तो व्यक्तित्वसंपन्न तथा नैतिक सद्गुणों से परिपूर्ण महा मानव के रूप में ईश्वर की कल्पना करना निरर्थक और असंभव हो जाता है। हम निश्चय ही ऐसे किसी व्यक्ति की कल्पना नहीं कर सकते जिसका शरीर नहीं है और जो विशुद्ध रूप से अभौतिक तथा अतींद्रिय होने के कारण हमारे अनुभव एवं ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। वस्तुत: ऐसे व्यक्ति और उसके स्वरूप तथा विशेष गुणों की चर्चा करना अयुक्तिसंगत ही नहीं, अपितु संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक भी है। परंतु अनेक ईश्वरवादी दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हुए अभौतिक एवं अतींद्रिय ईश्वर में उन सभी क्रियाओं तथा गुणों को आरोपित करते हैं जो केवल मानवीय संदर्भ में ही सार्थक और उपादेय हैं। वे शरीररहित अभौतिक ईश्वर को भी विशेष व्यक्तित्व एवं समस्त नैतिक सद्गुणों से संपन्न एक महा मानव मान लेते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी संपूर्ण ईश्वर विषयक चर्चा निरर्थक और अबोधगम्य हो जाती है। हमारे लिए उनकी इस मान्यता को तर्कसंगत रूप से स्वीकार करना संभव नहीं है कि शरीररहित तथा अभौतिक होते हुए भी ईश्वर प्रेममय, क्षमाशील, अत्यंत दयालु, परोपकारक, करुणामय, पूर्णतया शुभ एवं न्यायशील है और वह भक्तों की प्रार्थना सुनकर उनकी सहायता करता है। शरीररहित, अभौतिक तथा इंद्रियातीत ईश्वर के विषय में इस प्रकार की चर्चा का कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं हो सकता।

ईश्वर के स्वरूप के संबंध में मानवत्वारोपी अवधारणा की उपर्युक्त गंभीर समस्या के कारण ही बहुत-से ईश्वरवादी दार्शनिक भी इसका समर्थन नहीं करते। उदाहरणार्थ, इस अवधारणा का खंडन करते हुए आई० एम० क्रौम्बी कहते हैं कि : "हमें तुरंत यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि सामान्यत: हमारे मन में ईश्वर के स्वरूप की कोई संकल्पना नहीं है। हम ईश्वर को नहीं जानते, और यह दावा करना मूर्खतापूर्ण होगा कि हम यह जानते हैं कि वह किस प्रकार की सत्ता है। जब हम उसके विषय में 'सर्वज्ञ', 'नित्य' आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं तो ये विशेषण हमें यह समझने में समर्थ नहीं बनाते कि ईश्वर कैसा है। ... जो बात लोगों को यह मानने के लिए प्रेरित करती है कि वे ईश्वर विषयक चर्चा का अर्थ समझ सकते हैं वह आकाश में कहीं रहने वाले अतिमानव की प्राचीन अवधारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कोई भी सभ्य व्यक्ति वहाँ (आकाश में) ऐसे प्राणी के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, किंतु साधारण व्यक्तियों के मन में विद्यमान यह चित्र हमसे इस तथ्य को छिपा लेता है कि हम यह नहीं जानते कि हम किसके विषय में बात कर रहे हैं"।[4] इसी प्रकार एक अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक, जॉन हिक भी क्रौम्बी के उपर्युक्त मत का पूर्णत: समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि : "ईसाई धर्मशास्त्र में ईश्वर का वर्णन सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता, पूर्ण शुभत्व, असीम प्रेम आदि विभिन्न अपरिमित गुणों द्वारा किया गया है जिनका हम अनुभव नहीं कर सकते। ... ये गुण मानवीय अनुभव के विषय नहीं हो सकते। ... कोई भी ऐसी सत्ता के साक्षात्कार का दावा नहीं कर सकता जिसे असीम, सर्वशक्तिमान, शाश्वत रचयिता के रूप में

आई० एम० क्रौम्बी, 'दि पॉसिबिलिटी ऑफ़ थियोलाजिकल स्टेटमैंट्स', बेसिल मिचल द्वारा संपादित 'फेथ ऐंड लाजिक' में संकलित, पृ० 55

जाना जाता है। ... केवल ईश्वर ही अपने अपरिमित स्वरूप को जानता है"।[5] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अनेक ईश्वरवादी दार्शनिक भी ईश्वर के स्वरूप के विषय में मानवत्वारोपी अवधारणा को युक्तिसंगत नहीं मानते। वास्तव में यदि ईश्वर इंद्रियातीत होने के कारण मानवीय अनुभव, ज्ञान एवं तर्कबुद्धि का विषय नहीं हो सकता, जैसा कि ईश्वरवादी दार्शनिक मानते हैं, तो उसके विशेष व्यक्तित्व और गुणों की बात करना निरर्थक तथा अबोधगम्य है।

उपर्युक्त समस्या के अतिरिक्त ईश्वर को पूर्णतः शुभ मानने के फलस्वरूप एक अन्य दार्शनिक कठिनाई भी उत्पन्न होती है जिस पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। ईश्वरवादी यह कहते हैं कि पूर्ण रूप से शुभ होने के कारण जिसकी इच्छा करता है वह अनिवार्यतः शुभ है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर द्वारा इच्छा करने पर अन्याय, अत्याचार, शोषण, घृणा, ईर्ष्या आदि समस्त दुर्गुण भी शुभ तथा वांछनीय हो सकते हैं। परंतु हमारे लिए इस निष्कर्ष को स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि यह हमारे सामान्य नैतिक सिद्धांतों के विरुद्ध है। इस प्रकार हम किसी गुण या कर्म को केवल इसलिए शुभ नहीं मान सकते कि ईश्वर उसकी इच्छा करता है। यदि मानवीय कर्मों तथा गुणों का शुभत्व केवल ईश्वर की इच्छा पर ही निर्भर है तो नैतिकता को अनिवार्यतः वाह्य प्रतिमान पर ही आधारित मानना पड़ेगा जिसके फलस्वरूप मनुष्य को उसके कर्मों और गुणों के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी मानना संभव नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त जब ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को शुभ कहते हैं तो वे यह मान लेते हैं कि किसी वस्तु के शुभत्व का प्रतिमान स्वयं ईश्वर में निहित न होकर उससे पृथक और स्वंतत्र है। यदि हम 'शुभ' का अर्थ नहीं जानते और हमारे पास उसका कोई प्रतिमान नहीं है तो हम सार्थक रूप से ईश्वर को शुभ नहीं कह सकते। स्पष्ट है कि ईश्वर को शुभ कहने के लिए हमारे पास शुभत्व का कोई ऐसा प्रतिमान होना आवश्यक है जो ईश्वर की इच्छा पर निर्भर न हो। अब यदि ईश्वरवादी यह मान लेते हैं कि शुभत्व का कोई ऐसा प्रतिमान है जो ईश्वर की इच्छा से स्वतंत्र है तो इससे ईश्वर की एकमात्र परम सत्ता और उसकी सर्वशक्तिमत्ता संबंधी उनके मूल विश्वास का खंडन होता है। तब उनके लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि एक ऐसे प्रतिमान के आधार पर ईश्वर के शुभत्व की परीक्षा की जा सकती है जो स्वयं ईश्वर द्वारा प्रदत्त नहीं है। स्पष्ट है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध होने के कारण यह विचार ईश्वरवादियों को स्वीकार्य नहीं हो सकता। इस प्रकार वे तर्कसंगत रूप से शुभत्व को न तो ईश्वर की इच्छा पर निर्भर मान सकते हैं और न उसकी इच्छा से स्वतंत्र। वस्तुतः ईश्वरवादियों के लिए यह एक ऐसी जटिल समस्या है जिसका कोई समुचित और युक्तिसंगत समाधान संभव प्रतीत नहीं होता। निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर के अन्य गुणों की भाँति उसके शुभत्व की तर्कसंगत एवं संतोषप्रद व्याख्या करना भी ईश्वरवादी दार्शनिकों के लिए अत्यंत कठिन है।

ईश्वर के गुणों की विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयों के होते हुए भी ईश्वर की

5. जॉन हिक, 'थियोलॉजी ऐंड वेरिफ़िकेशन' बेसिल मिचल द्वारा संपादित 'दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन' में संकलित, पृ० 64-69

मानवत्वारोपी अवधारणा से ईश्वरवादियों के लिए मुक्त होना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि मनुष्य स्वंय अपने अनुभव के आधार पर ही ईश्वर की कल्पना कर सकता है और वास्तव में उसने ऐसा ही किया है। हमने ऊपर ईश्वर के जिन तत्त्वमीमांसीय और नैतिक गुणों का वर्णन किया है वे सभी अंततः स्वयं मानव के अपने अनुभव पर ही आधारित हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य का यह सामान्य अनुभव है कि उसकी शक्ति तथा उसके ज्ञान की अनिवार्य सीमाएँ हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने अनुभव से यह भी जानता है कि वह एक समय में किसी एक स्थान पर ही उपस्थिति हो सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को यह भी ज्ञात है कि उसमें प्रेम, क्षमाशीलता, करुणा, उदारता, न्यायशीलता, परोपकार आदि जो नैतिक गुण हैं उनकी मात्रा अनिवार्यतः सीमित है। मानव की मरणशीलता भी एक ऐसा कटु सत्य है जिससे वह अपने अनुभव द्वारा भलीभाँति परिचित है। वह इस संसार में कुछ ही समय तक जीवित रहता है और फिर उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु की यह अटलता उसके जीवन को अनित्य बना देती है। यह समझना कठिन नहीं है कि मनुष्य ने स्वयं अपने इस व्यापक अनुभव के आधार पर ही ईश्वर में सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, नित्यता, असीमित प्रेम, क्षमाशीलता, करुणा, उदारता, न्यायशीलता , परोपकार आदि समस्त गुणों की कल्पना की है। वह अपने उपास्य ईश्वर में उन सभी गुणों को अपरिमित मात्रा में देखना चाहता है जो स्वयं उसमें अत्यंत सीमित मात्रा में ही विद्यमान हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि स्वयं सीमित प्राणी होने के कारण मनुष्य ऐसे ईश्वर की ही पूजा या उपासना कर सकता है जिसमें उपर्युक्त सभी गुण अपरिमित मात्रा में पाए जाते हों। यदि ईश्वर में भी ये गुण केवल सीमित मात्रा में ही विद्यमान हों तो वह भी मनुष्य के समान ही सीमित तथा अपूर्ण होगा और तब वह उसका उपास्य देवता नहीं हो सकेगा। मनुष्य का उपास्य होने के लिए ईश्वर का सभी दृष्टियों से पूर्ण होना अनिवार्य है और यही कारण है कि उसने इसी रूप में अपने ईश्वर की कल्पना की है।

यह भी पूर्णतः स्पष्ट है कि मनुष्य ऐसे ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकता था जिसका उसके अनुभव से कोई संबंध न हो। वह अपने उपास्य ईश्वर में केवल उन्ही गुणों को आरोपित कर सकता था जिनका स्वयं उसे अनुभव था और जिन्हें वह अपने लिए मूल्यवान तथा वांछनीय मानता था। अन्य वस्तुओं की भाँति ईश्वर की प्राक्कल्पना के संबंध में भी उसके लिए अपने अनुभव से बाहर जाना संभव नहीं था। इसी कारण मनुष्य का आराध्य ईश्वर मूलतः स्वयं उसी के अनुरूप है। **इस प्रकार ईश्वर के गुणों के विषय में उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर हम तर्कसंगत रूप से यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वास्तव में ईश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न नहीं किया, अपितु मनुष्य ने स्वयं अपने अनुभव के आधार पर ही ऐसे ईश्वर को जन्म दिया है जो उसकी समस्त अपूर्ण कामनाओं तथा कुछ आधारभूत मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।**

3. ईश्वर और विश्व-रचना

ईश्वर के गुणों की विवेचना करते हुए हम ऊपर यह बता चुके हैं कि ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को ही विश्व या जगत् का आदिकारण अथवा रचयिता मानते हैं। उनका मत है कि इस विश्व का अस्तित्व पूर्णतः ईश्वर पर ही निर्भर है, क्योंकि उसी ने इसकी रचना की है

और वही इसका एकमात्र मूल आधार है। अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय ईश्वरवादी दार्शनिक किसी न किसी रूप में इस मान्यता को स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत खंड में उन की इस मान्यता पर कुछ विस्तार से विचार किया जाएगा। इस संबंध में सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि जब ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को विश्व का रचयिता कहते हैं तो इस से उन का क्या तात्पर्य है। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों का कथन है कि ईश्वर विश्व का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण है। ईश्वर को विश्व का केवल निमित्त कारण कहने का अर्थ यह है कि उसने पहले से विद्यमान कुछ विशेष द्रव्यों द्वारा ही इस विश्व की रचना की है; परंतु वह इन द्रव्यों का रचयिता नहीं है, क्योंकि ये उसके समान ही नित्य अथवा शाश्वत हैं। भारत में नैयायिकों ने इसी अर्थ में ईश्वर को विश्व का रचयिता माना है। उनका विचार है कि ईश्वर ने पहले से विद्यमान परमाणु, दिक्, काल, आकाश, आत्मा तथा मनस इन शाश्वत द्रव्यों द्वारा ही इस विश्व की रचना की है—अर्थात् उसने इन सभी द्रव्यों को विभिन्न रूपों में संगठित करके संपूर्ण विश्व का निर्माण किया है। ये सभी द्रव्य ईश्वर के समान ही नित्य या शाश्वत हैं, अतः ईश्वर ने इन का सृजन नहीं किया। नैयायिक इन शाश्वत द्रव्यों को ही विश्व का उपादान कारण मानते हैं जिस का रचयिता ईश्वर नहीं है। जिस प्रकार एक शिल्पी अथवा मूर्तिकार पहले से विद्यमान सामग्री द्वारा भवन या मूर्ति का निर्माण करता है उसी प्रकार ईश्वर ने भी उपर्युक्त शाश्वत द्रव्यों द्वारा इस विश्व का सृजन किया है। संक्षेप में नैयायिकों के मतानुसार ईश्वर को विश्व का रचयिता कहने का अर्थ यही है कि वह कर्ता के रूप में विश्व का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं।

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नैयायिक ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हुए भी उसे विश्व के संचालक और नियंता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि ईश्वर ने ही वे प्राकृतिक नियम बनाए हैं जिनके द्वारा संपूर्ण विश्व संचालित होता है और वही उस कर्म-सिद्धांत का भी निर्माता है जिसके आधार पर सभी प्राणियों को अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुख प्राप्त होता है। ईश्वर की इच्छा तथा शक्ति के कारण ही इस जगत् की समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, कुछ समय तक बनी रहती हैं और अंततः नष्ट हो जाती हैं। यही बात सभी प्राणियों के विषय में भी कही जा सकती है। ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, असीम तथा नित्य है और उसमें व्यक्तित्व सहित समस्त नैतिक सद्गुण असीमित मात्रा में विद्यमान रहते हैं। वही विश्व का रचयिता होने के साथ-साथ उसका नैतिक प्रशासक तथा कर्माध्यक्ष भी है, अतः उसकी इच्छा और कृपा के बिना कुछ भी संभव नहीं है। वह सभी प्रकार के दुर्गुणों, दोषों तथा क्लेशों से मुक्त और समस्त सद्गुणों से परिपूर्ण है। उसका जगत् के प्राणियों के साथ वही संबंध है जो पिता का अपनी संतान के साथ होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैयायिक ईश्वर के स्वरूप के विषय में उस मानवत्वारोपी अवधारणा को पूर्णतः स्वीकार करते हैं जिसकी विवेचना हम प्रथम खंड में कर चुके हैं। इस अवधारणा से संबंधित पूर्ववर्णित जटिल समस्याओं के अतिरिक्त उनके ईश्वर विषयक सिद्धांत में एक अन्य गंभीर दार्शनिक कठिनाई भी है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। एक ओर तो नैयायिक ईश्वर को विश्व का केवल निमित्त कारण ही स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर वे उसे असीम तथा सर्वशक्तिमान भी मानते हैं। परंतु

उनके ये दोनों विचार परस्पर असंगत हैं, अतः इन दोनों को तर्कसंगत रूप से एक साथ स्वीकार करना संभव नहीं है। यदि ईश्वर विश्व का केवल निमित्त कारण है और उसने विश्व के उपादान कारणों की रचना नहीं की है तो उसे असीम तथा सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि पहले से विद्यमान सभी द्रव्य उसे अनिवार्यतः सीमित करते हैं जो उसके समान ही शाश्वत अथवा नित्य हैं। विश्व के उपादान कारणों का रचयिता न होने के कारण ईश्वर निश्चय ही एक शिल्पी के समान अपनी विश्व-रचना-प्रक्रिया के संबंध में सीमित हो जाता है। परंतु इस गंभीर असंगति पर ध्यान न देते हुए नैयायिक ईश्वर को विश्व का केवल निमित्त कारण मानने के साथ-साथ उसे सर्वशक्तिमान तथा असीम भी मान लेते हैं जिसके फलस्वरूप उनके ईश्वर विषयक सिद्धांत में स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है।

नैयायिकों के सिद्धांत की उपर्युक्त कठिनाई के कारण ही अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों एक साथ माना है। उदाहरणार्थ, ईश्वर, आत्मा और जगत् के स्वरूप के विषय में परस्पर सहमत न होते हुए भी शंकर तथा रामानुज दोनों ही यह मानते हैं कि ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण न होकर उसका उपादान कारण भी है। अद्वैतवादी शंकर का मत है कि पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता केवल एक ही है और वह है निराकार, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म जो समस्त भेदों, उपाधियों एवं विकारों से मुक्त है। यह सच्चिदानंद स्वरूप विशुद्ध चैतन्य सत्ता ही संपूर्ण ब्रह्मांड का एकमात्र अधिष्ठान और अंतिम तत्त्व है। पारमार्थिक दृष्टि से इस ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ईश्वर, जीव तथा जगत् सभी इसी ब्रह्म के विवर्त या मिथ्या प्रतिभास हैं। केवल माया अथवा अविद्या के कारण ही ये सब हमें निराकार, निर्विशेष और निर्गुण ब्रह्म से पृथक तथा स्वतंत्र प्रतीत होते हैं। वस्तुतः ब्रह्म से पृथक इन तीनों की कोई यथार्थ और स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

परंतु व्यावहारिक दृष्टि से शंकर भी ईश्वर, जीव तथा जगत् की पृथक और स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। इस व्यावहारिक दृष्टि से ही उन्होंने इन तीनों के स्वरूप तथा इनके पारस्परिक संबंध की विस्तृत विवेचना की है। उनके मतानुसार मायावच्छिन्न अथवा मायोपाधिक सगुण ब्रह्म ही ईश्वर है जो सभी जीवों तथा भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति, रक्षा एवं विनाश का एकमात्र कारण है और जो पूजा या उपासना का विषय बनता है। यह सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर ही अपनी माया की शक्ति द्वारा केवल लीला के लिए इस जगत् की रचना करता है, किंतु वह स्वयं इससे पूर्णतः अप्रभावित रहता है। भौतिक वस्तुओं में होनेवाले परिवर्तनों तथा जीवों के सुख-दुःख और विकारों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नैयायिकों की भाँति शंकर भी ईश्वर को व्यक्तित्वसंपन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, असीम, नित्य तथा समस्त सद्गुणों से परिपूर्ण मानते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर के स्वरूप के विषय में शंकर भी नैयायिकों की भाँति मानवत्वारोपी अवधारणा का समर्थन करते हैं। परंतु नैयायिकों के विपरीत उनका मत है कि ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं, उसका उपादान कारण भी है। ईश्वर ने इस जगत् की रचना पहले से विद्यमान किसी प्रकार की सामग्री द्वारा न करके स्वयं अपनी माया की शक्ति द्वारा ही की है। इस माया की ईश्वर से स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यह ईश्वर से उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार अग्नि से

उसकी दाहिका शक्ति। ईश्वर की इस माया के कारण ही हमें यह नामरूपात्मक जगत् सत्य और वास्तविक प्रतीत होता है। यही कारण है कि स्वयं ईश्वर की माया को ही जगत् की उत्पादिका शक्ति कहा गया है। इस प्रकार नैयायिकों के विपरीत शंकर ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों एकसाथ मानते हैं।

यह सत्य है कि विश्वोत्पत्ति के विषय में शंकर के उपर्युक्त सिद्धांत में वह कठिनाई नहीं है जो नैयायिको के सिद्धांत में विद्यमान है और जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, परंतु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि शंकर का सिद्धांत कठिनाइयों अथवा समस्याओं से मुक्त है। इस सिद्धांत की मूल समस्या यह है कि शंकर उस माया के उद्गम तथा स्वरूप की कोई तर्कसंगत एवं संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सके जिसे वे ईश्वर की सृजनात्मिका शक्ति कहते हैं और जिसके द्वारा ईश्वर इस नामरूपात्मक जगत् को उत्पन्न करता है। माया के उद्गम और स्वरूप के संबंध में वे केवल इतना ही कहते हैं कि वह अनादि तथा अनिर्वचनीय है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि हम माया की उत्पत्ति और उसके स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं कह सकते। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए शंकर स्वयं कहते हैं कि ब्रहम के ज्ञान द्वारा बाधित हो जाने के कारण माया को सत् नहीं माना जा सकता; किंतु इसकी प्रतीति होती है, अतः इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। यह सत्-असत् उभयात्मिका भी नहीं है, अतः इसे केवल अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। परंतु कठिनाई यह है कि माया को अनादि तथा अनिर्वचनीय कह देने से उसके उद्गम और स्वरूप की व्याख्या नहीं होती।

उपर्युक्त कठिनाई के अतिरिक्त शंकर के सिद्धांत की एक अन्य समस्या यह है कि इसमें पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर, जीव तथा जगत् तीनों को मिथ्या प्रतीति अथवा प्रतिभास मात्र माना गया है जिसका अर्थ यह है कि इन तीनों की कोई यथार्थ और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। शंकर स्पष्ट कहते हैं कि इन तीनों की प्रतीति का मूल कारण है माया के फलस्वरूप उत्पन्न अध्यास—अर्थात् पारमार्थिक सत्ता, ब्रहम पर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का मिथ्या मानसिक आरोप। परंतु उनके इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर पारमार्थिक दृष्टि से जीव तथा जगत् के समान ही ईश्वर की भी महत्ता समाप्त हो जाती है और वह भक्तों के लिए उपास्य नहीं रह जाता। कोई भी मनुष्य उस ईश्वर की पूजा अथवा उपासना नहीं करना चाहेगा जो पारमार्थिक दृष्टि से जीव और जगत् की भाँति मिथ्या प्रतीति या प्रतिभास मात्र है। ऐसा ईश्वर निश्चय ही भक्तों के मन में धार्मिक आस्था और श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त पारमार्थिक दृष्टि से जगत् और सभी जीवों को मिथ्या प्रतिभास मान लेने के कारण शंकर के सिद्धांत में वस्तुतः उपासना का कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि जीव और ब्रहम पारमार्थिक दृष्टि से एक ही हैं तो उपासना की संभावना ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि, जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, उपासना के लिए भक्त तथा उपास्य देवता में भेद का होना अनिवार्य है। इस प्रकार शंकर का सिद्धांत वास्तविक अर्थ में न तो ईश्वरवाद की रक्षा करता है और न जगत् की उत्पत्ति की कोई संतोषप्रद व्याख्या ही कर पाता है।

जगत् की उत्पत्ति तथा ईश्वर और जगत् के संबंध के विषय में शंकर के अद्वैतवाद की उपर्युक्त कठिनाई का निराकार करने के लिए वैष्णव दर्शनाचार्य रामानुज ने एक अन्य सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहा जाता है। शंकर की भाँति रामानुज भी

मूलतः अद्वैतवादी हैं, क्योंकि वे भी यह मानते हैं कि परम सत्ता अथवा अंतिम तत्त्व एक ही है जिसे वे 'ब्रहम' या 'ईश्वर' कहते हैं। परंतु इस आधारभूत समानता के होते हुए भी ईश्वर के स्वरूप, जगत् की उत्पत्ति और ईश्वर के साथ उसके संबंध के विषय में इन दोनों दार्शनिकों में तीव्र मतभेद है। शंकर के विपरीत रामानुज केवल साकार, सविशेष तथा सगुण ब्रहम में ही विश्वास करते हैं जिसे उन्होंने 'ईश्वर' की संज्ञा दी है। इस प्रकार ब्रहम और ईश्वर में शंकर ने जो भेद किया था उसे रामानुज स्वीकार नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि रामानुज के विचार में सगुण ब्रहम या ईश्वर ही एकमात्र अंतिम सत्ता है जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का मूल कारण है। यह ईश्वर व्यक्तित्वसंपन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, असीम, नित्य तथा समस्त सद्गुणों से परिपूर्ण पुरुषोत्तम है। ईश्वर में सत्य, ज्ञान, शक्ति, आनंद, तेज आदि सभी उत्कृष्टतम गुण अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं, अतः उसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में ईश्वर या ब्रहम को निर्गुण कहने का अर्थ यह है कि उसमें अल्पज्ञ जीव के दुर्गुण नहीं होते। सगुण होने के साथ-साथ ईश्वर व्यक्तित्वसंपन्न भी है, अतः वह भक्तों की प्रार्थना सुनता है, उनके दुःखों का निराकरण करता है और उन्हें मोक्ष प्रदान करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में नैयायिकों तथा शंकर की भाँति रामानुज भी मानवत्वारोपी अवधारणा को पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

जगत् की उत्पत्ति के संबंध में रामानुज का कथन है कि ईश्वर ही उसका निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। इस दृष्टि से शंकर और रामानुज में कोई मतभेद नहीं है। परंतु जगत् तथा जीवों की उत्पत्ति और ईश्वर के साथ उनके संबंध की रामानुज ने जो व्याख्या की है वह शंकर द्वारा की गई इनकी व्याख्या से पूर्णतः भिन्न है। रामानुज आत्मा अथवा जीवों के लिए 'चिद्' या 'चित्' और भौतिक पदार्थों के लिए 'अचिद्' या 'अचित्' शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनका मत है कि ईश्वर अंशी या विशेष्य है और चित् तथा अचित् ये दोनों उसके अंश अथवा विशेषण है जिनकी वास्तविक सत्ता है। जिस प्रकार अवयव अवयवी से भिन्न नहीं होते उसी प्रकार चित् और अचित् भी ईश्वर के अंग या अंश होने के कारण उससे पृथक नहीं हैं। ये दोनों मिथ्या अथवा प्रपंच न होकर सत्य, वास्तविक और नित्य हैं। चित् और अचित् को ईश्वर के विशेषण मानने के कारण रामानुज ने उसे 'चिदचिद्विशिष्ट' कहा है जिसका अर्थ यह है कि ये दोनों तत्त्व ईश्वर केअभिन्न अंश हैं और उसमें अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं ईश्वर सदा चिदचिद् से युक्त रहता है, अतः वह निर्विशेष न होकर सविशेष है। रामानुज का कथन है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व तथा प्रलय-काल के पश्चात् चित् एवं अचित् ये दोनों तत्त्व सूक्ष्म रूप में सदैव ईश्वर में ही निहित रहते हैं और उससे कभी पृथक नहीं होते। वस्तुतः स्वयं चिदचिद्विशिष्ट यह ईश्वर ही जगत् के रूप में परिणत या व्यक्त होता है, अतः वही जगत् का निमित्त कारण होने के साथ-साथ उसका उपादान कारण भी है। ईश्वर अपनी सृजनात्मिका शक्ति माया द्वारा स्वयं अपने ही चिदचिद् अंशों से समस्त जीवों और भौतिक पदार्थों की रचना करता है। जगत् का रचयिता होने के साथ-साथ ईश्वर उसका पालनकर्ता और संहारक भी है। प्रलय के पश्चात् समस्त जीव तथा भौतिक पदार्थ सूक्ष्म चित् और अचित् के रूप में परिणत होकर पुनः ईश्वर या ब्रहम में ही लय हो जाते हैं, अतः वे कभी नष्ट नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर के समान ही जीव और जगत् भी शाश्वत अथवा नित्य हैं।

ईश्वर तथा जगत् के संबंध के विषय में रामानुज के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे शंकर के उस विवर्तवाद का खंडन करते हैं जो पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या प्रतीति या प्रतिभास मात्र मानता है। इस विवर्तवाद के स्थान पर वे एक अन्य सिद्धांत परिणामवाद का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार ईश्वर या ब्रह्म का वास्तविक रूपांतर होने के कारण जगत् की भी यथार्थ सत्ता है। इस प्रकार शंकर के विपरीत रामानुज ने जीव और जगत् को ईश्वर के विशेषण या अंश मानकर इन दोनों की वास्तविक सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

परंतु रामानुज का उपर्युक्त विशिष्टाद्वैतवाद भी दोषों तथा कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। शंकर के अद्वैतवाद की भाँति रामानुज का यह सिद्धांत भी ईश्वर के स्वरूप तथा जगत् के साथ उसके संबंध की पूर्णतः संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता। हम ऊपर देख चुके हैं कि रामानुज चित् और अचित् को ईश्वर के अंश या विशेषण मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि वे दोनों ईश्वर से भिन्न नहीं हैं। मूलतः अद्वैतवाद में विश्वास करने के कारण रामानुज स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि चित् तथा अचित् की ईश्वर से पृथक और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ऐसी स्थिति में जीवों तथा भौतिक पदार्थों को भी ईश्वर से मूलतः भिन्न नहीं माना जा सकता और यदि ये ईश्वर से भिन्न नहीं हैं तो इनकी यथार्थ सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार रामानुज के सिद्धांत का अंतिम परिणाम सर्वेश्वरवाद ही हो सकता है जिसमें ईश्वर से पृथक जगत् की यथार्थ सत्ता संभव नहीं है। परंतु वे इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए ईश्वर के चित् और अचित् से उत्पन्न जीवों तथा भौतिक वस्तुओं की वास्तविक सत्ता स्वीकार करते हैं।

रामानुज के सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि इसके अनुसार ईश्वर को भी जीवों तथा भौतिक वस्तुओं की भाँति सावयव मानना अनिवार्य हो जाता है। यदि चित् और अचित् ईश्वर के अंश या अंग हैं, जैसा कि रामानुज मानते हैं, तो वह निश्चय ही अविश्लेष्य सरल तत्त्व नहीं रह जाता। इसके विपरीत वह एक ऐसी जटिल वस्तु हो जाता है जिसका अनेक भागों में विश्लेषण किया जा सकता है। वस्तुतः इसी कठिनाई के कारण शंकर ने ब्रह्म में सजातीय तथा विजातीय भेदों के साथ-साथ स्वगत भेद को भी अस्वीकार किया था। परंतु रामानुज चित् और अचित् को ईश्वर के दो भिन्न-भिन्न अंश या अंग मानकर उसमें स्वगत भेद स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। ऐसा करने से उनके द्वारा वर्णित ईश्वर का स्वरूप विभिन्न अवयवों या भागों से निर्मित जीवों और भौतिक वस्तुओं के स्वरूप से मूलतः भिन्न नहीं रह जाता।

रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद की तीसरी समस्या यह है कि यदि चित् के समान ही अचित् भी ईश्वर का अभिन्न अंश है, जैसा कि उनका विचार है, तो निश्चय ही ईश्वर को विशुद्ध चैतन्य सत्ता नहीं माना जा सकता। ईश्वर में अचित् के अनिवार्यतः विद्यमान रहने के कारण उसका स्वरूप कम से कम अंशतः जड़ पदार्थ के स्वरूप के समान हो जाता है। यह कहना कठिन है कि रामानुज अपने सिद्धांत के इस अनिवार्य परिणाम को स्वीकार करने के लिए कहाँ तक उद्यत होंगे।

रामानुज के सिद्धांत की चौथी कठिनाई यह है कि चित् और अचित् नामक अभिन्न अंशों से युक्त होने के कारण ईश्वर वास्तव में अविकारी तथा अपरिवर्तनशील नहीं रह जाता। यदि चित् और अचित् ईश्वर के अभिन्न अंश हैं तो इनसे उत्पन्न जीवों के सुख-दुःख, दोषों, दुर्गुणों तथा भौतिक वस्तुओं के विकारों एवं परिवर्तनों का ईश्वर पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। परंतु

रामानुज ईश्वर को चिदचिद्विशिष्ट मानते हुए भी उसे इन सबसे पूर्णतः अप्रभावित मानते हैं। अपनी इस मान्यता के समर्थन में वे कहते हैं कि जिस प्रकार राजाज्ञा के पालन या उल्लंघन के कारण प्रजा के सुख अथवा दुःख का राजा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार ईश्वर भी जीवों तथा भौतिक वस्तुओं के विकारों, दोषों एवं परिवर्तनों से अप्रभावित रहता है। परंतु अपनी उपर्युक्त मान्यता के समर्थन में रामानुज का यह उदाहरण युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि राजा तथा प्रजा में वह अंशांशी संबंध नहीं है जो ईश्वर और उसके अभिन्न अंशों चित् एवं अचित् में है। दूसरे शब्दों में, चित् और अचित् ईश्वर के स्वरूप के अभिन्न अंश हैं जबकि राजा तथा प्रजा में भेद स्पष्ट एवं अनिवार्य है। वस्तुतः चिदचिद्विशिष्ट होने के कारण ईश्वर जीवों तथा भौतिक पदार्थों के विकारों, दोषों और परिवर्तनों के प्रभाव से बच नहीं सकता। इस प्रकार रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद की उपर्युक्त सभी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि शंकर की भाँति वे भी ईश्वर के स्वरूप तथा जगत् के साथ उसके संबंध की पूर्णतः संतोषप्रद और तर्कसंगत व्याख्या करने में सफल नहीं हो सके।

प्रस्तुत खंड में अभी तक हमने ईश्वर के स्वरूप तथा उसके द्वारा विश्व-रचना के संबंध में कुछ प्रमुख भारतीय दार्शनिकों के सिद्धांतों की विवेचना की है। अब संक्षेप में इस विषय से संबंधित कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों के मत पर भी विचार करना आवश्यक है। ईश्वरवाद में विश्वास करने वाले जिन पाश्चात्य दार्शनिकों ने इस समस्या पर विचार किया है उन पर ईसाई धर्म के मत का गहरा प्रभाव पड़ा है। ईसाई धर्म में भी ईश्वर को विश्व का रचयिता माना गया है और उसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य, असीम, स्वयंभू, व्यक्तित्वसंपन्न तथा अपार स्नेह, करुणा, क्षमा आदि समस्त उत्कृष्ट गुणों से परिपूर्ण कहा गया है। अधिकतर पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के स्वरूप के विषय में ईसाई धर्म के इस मत को स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर में उपर्युक्त सभी गुणों का विद्यमान होना आवश्यक मानते हैं और यह भी कहते हैं कि वही इस विश्व का रचयिता है। परंतु अधिकतर पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को विश्व का केवल निमित्त कारण न मानकर उसका उपादान कारण भी मानते हैं। उनका मत है कि ईश्वर ने पहले से विद्यमान किसी प्रकार की सामग्री द्वारा इस विश्व की रचना नहीं की है, ईश्वर द्वारा विश्व की रचना से पूर्व ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना किस तत्त्व से की। इस प्रश्न के उत्तर में पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिकों का कथन है कि ईश्वर ने अभाव से ही इस विश्व की रचना की है। इसका तात्पर्य यह है कि विश्व की रचना करने के लिए ईश्वर ने पहले से विद्यमान किसी सामग्री या तत्त्व का प्रयोग नहीं किया। उसकी इच्छा के परिणामस्वरूप केवल अभाव से ही विश्व के समस्त भौतिक पदार्थ तथा प्राणी उत्पन्न हुए हैं। विश्व-रचना के संबंध में इसी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए जॉन हिक कहते हैं कि : "इस सिद्धांत में 'रचना' का अर्थ पहले से विद्यमान सामग्री को नए रूप प्रदान करने की अपेक्षा कहीं अधिक है (जैसा कि एक भवन-निर्माता मकान बनाने के लिए अथवा एक मूर्तिकार मूर्ति बनाने के लिए करता है): इसका अर्थ है अभाव से रचना करना—अपनी इच्छा द्वारा ब्रह्मांड को तब अस्तित्व में लाना जब केवल ईश्वर ही था"।[6] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ईश्वर द्वारा

6. जॉन हिक, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 8

अभाव से विश्व-रचना के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिकों ने भी इसी सिद्धांत को स्वीकार किया है।

जॉन हिक का कथन है कि विश्व-रचना के विषय में उपर्युक्त सिद्धांत के साथ दो प्रमुख मान्यताएँ अनिवार्यतः संबद्ध हैं। प्रथम मान्यता यह है कि ईश्वर और विश्व में ऐसा भेद विद्यमान है जिसे कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। ईश्वर ने जिसका निर्माण किया है वह स्वयं कभी भी ईश्वर नहीं हो सकता, अतः उसे ईश्वर से भिन्न मानना अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं मनुष्य को ईश्वर मान लेने का विचार निरर्थक और असंभव है। उपर्युक्त सिद्धांत की दूसरी मान्यता यह है कि संपूर्ण विश्व अपने अस्तित्व के लिए केवल ईश्वर पर ही पूर्णतः निर्भर है। ईश्वर ही उसकी उत्पत्ति का मूल स्रोत है और वही उसे बनाए रखता है। मनुष्य को जो कुछ प्राप्त होता है वह उसे ईश्वर का प्रसाद या अनुग्रह समझ कर साभार ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इस संसार पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। इस दूसरी मान्यता में यह विचार भी सम्मिलित है कि ईश्वर ही सभी प्राणियों तथा भौतिक पदार्थों के साथ-साथ दिक् और काल का भी रचयिता है। उसने किसी विशेष समय में विश्व की रचना नहीं की है, क्योंकि विश्व-रचना से पूर्व काल का अस्तित्व था ही नहीं। संत ऑगस्टाइन ने इसी मत को स्वीकार किया है।[7] काल के विषय में जो कुछ कहा गया है वही दिक् के संबंध में भी सत्य है। इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार दिक्-काल सहित संपूर्ण ब्रह्मांड ईश्वर की रचना होने के कारण अपने अस्तित्व के लिए केवल उसी पर पूर्ण रूप से निर्भर है।

परंतु ईश्वर द्वारा अभाव से विश्व-रचना का उपर्युक्त सिद्धांत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इस सिद्धांत की मूल कठिनाई यह है कि इसमें नकारात्मक तत्त्व (अभाव) से सकारात्मक तत्त्व (विश्व) की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है जो असंभव है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि अभाव से अभाव के अतिरिक्त और कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। 'अभाव'' का अर्थ है 'कुछ भी न होना', अतः यदि कारण का अभाव है तो किसी प्रकार के कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। स्पष्ट है कि अभाव से विश्व की उत्पत्ति की प्राक्कल्पना प्रस्तुत करके उपर्युक्त सिद्धांत कारण-कार्य संबंधी मूल प्राकृतिक नियम का उल्लंघन करता है जिसके फलस्वरूप इसमें अनिवार्यतः स्वतोव्याघात आ जाता है। कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उनके इस सिद्धांत में उपर्युक्त कठिनाई है। उदाहरणार्थ, इसी कठिनाई का उल्लेख करते हुए गैलोवे कहते हैं कि : "अभाव से सृष्टि के इस विचार में कुछ व्याघात है। ... अभाव से किसी वस्तु की रचना के विचार में निश्चय ही कुछ असंगति विद्यमान है। ... वस्तुतः जब हम रचना करने की बात करते हैं तो हमारे लिए मानवीय क्रिया के क्षेत्र से प्राप्त शब्दों तथा साम्यानुमानों के प्रयोग को छोड़ देना लगभग असंभव है, ये अनुभवात्मक विश्व के संबंधों पर तो लागू होते हैं, किंतु ये इस बात का समुचित वर्णन नहीं कर सकते कि स्वयं इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है"[8] गैलोवे के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि अभाव से विश्व-रचना का सिद्धांत तर्कसंगत एवं संतोषप्रद नहीं है और स्वयं ईश्वरवादी दार्शनिक भी इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हैं।

---

7. संत ऑगस्टाइन, 'कन्फ़ेशन्स', बुक 11, अध्याय 13
8. जॉर्ज गैलोवे, 'दि फिलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 470

उपर्युक्त सिद्धांत के संतोषजनक न होने के कारण ही कुछ पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिकों ने विश्व-रचना के संबंध में एक अन्य सिद्धांत को स्वीकार किया है जिसे 'अन्तर्वर्ती सिद्धांत' कहा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार विश्व स्वयं ईश्वर की अभिव्यक्ति है। यह विश्व ईश्वर से भिन्न कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, स्वयं ईश्वर ही अपने आपको विश्व के रूप में अभिव्यक्त करता है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ही विश्व का एकमात्र मूल स्रोत है। विश्व के समस्त प्राणी तथा भौतिक पदार्थ स्वयं ईश्वर से ही निस्सृत होते हैं और अंततः उसी में विलीन हो जाते हैं। स्पष्ट है कि इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर और विश्व एक-दूसरे से पृथक न होकर मूलतः एक ही हैं। पाश्चात्य ईश्वरवादियों के इस अन्तर्वर्ती सिद्धांत तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में आधारभूत समानता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। ये दोनों ही सिद्धांत विश्व को ईश्वर से भिन्न न मानकर मूलतः उसी का रूपांतर मात्र मानते हैं। इसी कारण विशिष्टाद्वैतवाद के समान उक्त अन्तर्वर्ती सिद्धांत का अंतिम परिणाम भी सर्वेश्वरवाद ही हो सकता है जिसमें विश्व की स्वतंत्र और वास्तविक सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति में वे ईश्वरवादी इस सिद्धांत का समर्थन नहीं कर सकते जो ईश्वर और विश्व में भेद स्वीकार करते हैं। मुख्यतः इसी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए कुछ पाश्चात्य ईश्वरवादियों ने इस सिद्धांत का खंडन किया है। उदाहरणार्थ, इस सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए गैलोवे कहते हैं कि : "इस विचार के विरुद्ध वे सभी आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जो सर्वेश्वरवाद के विरुद्ध उठाई जाती हैं। यह ईश्वर के अस्तित्व को सांसारिक वस्तुओं के साथ मिला देता है। ... इसमें न तो मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान है और न नैतिक मूल्यों के विकास के लिए। इसके अतिरिक्त यह इस बात की भी व्याख्या नहीं करता कि आध्यात्मिक निर्गमन भौतिक और दिक् में फैला हुआ ब्रह्मांड कैसे प्रतीत हो सकता है। ... वास्तव में ऐसा कोई उपाय नहीं है जिसके द्वारा हम वस्तुओं को उत्पन्न करने से संबंधित ईश्वर की प्रक्रिया को समझ सकें"।[9] इस उद्धरण में गैलोवे ने अन्तर्वर्ती सिद्धांत के विरुद्ध जो अंतिम आपत्ति उठाई है उस का अर्थ यह है कि यह सिद्धांत विशुद्ध चैतन्यस्वरूप आध्यात्मिक सत्ता ईश्वर से भौतिक ब्रह्मांड की उत्पत्ति की संतोषप्रद व्याख्या करने में असमर्थ है। हम देख चुके हैं कि यही आपत्ति रामानुज के सिद्धांत के विरुद्ध भी उठाई गई है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि विश्वोत्पत्ति के संबंध में अन्तर्वर्ती सिद्धांत भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं है।

ईश्वर द्वारा विश्व की रचना के विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिकों के कुछ प्रमुख सिद्धांतों की विवेचना करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ईश्वर ने किस प्रयोजन या उद्देश्य से प्रेरित होकर इस विश्व की रचना की है। किसी वस्तु की रचना करना ऐच्छिक और बौद्धिक कर्म है, अतः वह कभी भी निरुद्देश्य नहीं हो सकता; उसका कोई निश्चित प्रयोजन अथवा उद्देश्य होना अनिवार्य है। इसका अर्थ यह है कि यदि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है तो ऐसा करने में उसका भी कोई प्रयोजन अवश्य रहा होगा। विचारणीय प्रश्न यह है कि वह प्रयोजन क्या हो सकता है। इस प्रश्न पर विचार

9. वही पुस्तक, पृ० 47।

करते समय हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि ईश्वरवादियों के मतानुसार ईश्वर अपरिवर्तनशील तथा सभी दृष्टियों से पूर्ण है। स्पष्ट है कि ऐसा ईश्वर स्वयं अपनी किसी कामना या इच्छा की पूर्ति के प्रयोजन से प्रेरित होकर विश्व की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी कोई वस्त् नहीं है जो उसे प्राप्त न हो और जिसे वह प्राप्त करना चाहता हो। स्वरूपतः सभी दृष्टियों से पूर्ण होने के कारण ईश्वर की किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा हो ही नहीं सकती। इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं अपने लिए सुख या आनंद प्राप्त करना अथवा अपने किसी दुःख का निराकरण करना विश्व की रचना के संबंध में ईश्वर का प्रयोजन नहीं हो सकता। अपने किसी अभाव को दूर करने के लिए भी ईश्वर विश्व की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें कोई अभाव है ही नहीं। इस प्रकार सभी दृष्टियों से पूर्ण ईश्वर का कोई स्वार्थ विश्व-रचना का प्रयोजन नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह है कि क्या ईश्वर ने केवल परोपकार के लिए इस विश्व की रचना की है। कुछ ईश्वरवादियों ने इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया है। उनका कथन है कि जीवों के प्रति अपार करुणा अथवा दया से प्रेरित होकर ही ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। जीवों को आनंद प्रदान करने के लिए ही उसने इस विश्व में विभिन्न प्रकार की सुखद वस्तुएँ उत्पन्न की हैं। परंतु विश्व-रचना के प्रयोजन के विषय में ईश्वरवादियों की यह मान्यता नितांत अनुचित तथा अयुक्तिसंगत है। इसका कारण यह है कि विश्व-रचना से पूर्व जीवों का अस्तित्व था ही नहीं, अतः उनके प्रति ईश्वर की दया अथवा करुणा का प्रश्न ही नहीं उठता। किसी प्राणी को कष्ट में देखकर ही हमारे मन में उसके प्रति दया की भावना उत्पन्न होती है। विश्व-रचना से पूर्व जब प्राणी थे ही नहीं तो उनके दुःखी होने पर ईश्वर द्वारा उनके प्रति दया करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर ने वास्तव में जीवों के प्रति दया से प्रेरित होकर ही इस विश्व की रचना की होती तो वे सभी सदा आनंदमय जीवन व्यतीत करते और इस संसार में इतना अधिक दुःख न होता। फिर यदि यह मान लिया जाए कि ईश्वर ने प्राणियों के प्रति दया की भावना से प्रेरित होकर ही इस विश्व की रचना की है तो उसे अपरिवर्तनशील नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें दया के उत्पन्न होने का अर्थ है उसके स्वरूप में परिवर्तन होना। परंतु ईश्वरवादी तो ईश्वर को अपरिवर्तनशील मानते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सभी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि जीवों के प्रति करुणा अथवा दया विश्व-रचना के संबंध में ईश्वर का प्रयोजन नहीं हो सकता।

कुछ ईश्वरवादियों—विशेषतः वैष्णव दार्शनिकों—का मत है कि ईश्वर ने केवल लीला या क्रीड़ा के लिए ही इस विश्व की रचना की है। यह संपूर्ण विश्व ईश्वर की लीला है जिसके माध्यम से वह खेलने वाले बालक के समान केवल आनंद प्राप्त करता है। इस लीला का कोई निश्चित प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है। परंतु विश्व-रचना के प्रयोजन के संबंध में वैष्णव दार्शनिकों की यह मान्यता उचित और तर्कसंगत नहीं है। इस मान्यता के विरुद्ध प्रथम आपत्ति तो यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर ईश्वर की पूर्णता का खंडन होता है। जो ईश्वर स्वयं आनंद प्राप्त करने के लिए विश्व-रचना की लीला करता है उसे निश्चय ही पूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें आनंद का अभाव तथा इस अभाव के निराकरण की इच्छा शेष है। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर क्रीड़ारत बालक के समान निरुद्देश्य लीला के लिए ही विश्व की रचना

करता है तो इस विश्व को व्यवस्थित और प्रयोजनपूर्ण नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि इस मान्यता को स्वीकार करने वाले दार्शनिक विश्व में विद्यमान व्यवस्था और प्रयोजन की कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर सकते। इन आपत्तियों के अतिरिक्त वैष्णव दार्शनिकों की उपर्युक्त मान्यता के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि यह मान्यता ईश्वर की बौद्धिकता का निषेध करती है, क्योंकि बुद्धिमान ईश्वर केवल निष्प्रयोजन लीला के लिए इतने विराट ब्रह्मांड की सृष्टि नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो निश्चय ही उसे बुद्धिमान मानना संभव नहीं है। इन सभी आपत्तियों के कारण विश्व-रचना के प्रयोजन के विषय में वैष्णव दार्शनिकों की उपर्युक्त मान्यता का युक्तिसंगत रूप से समर्थन करना संभव नहीं है।

ईश्वर द्वारा विश्व-रचना की अवधारणा के संबंध में हमने ऊपर जिन समस्याओं का उल्लेख किया है उनके अतिरिक्त इस अवधारणा के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति यह है कि इसे स्वीकार करने वाले अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिक दिक् और काल को भी ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं। परंतु इन दोनों की रचना की कल्पना करना हमारे लिए असंभव तथा अबोधगम्य है। यदि दिक् और काल को भी ईश्वर की रचना माना जाए तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एक ऐसा समय भी था जब इन दोनों का अस्तित्व नहीं था, किंतु यह हमारे लिए पूर्णतः अचिंत्य तथा अबोधगम्य है। सभी प्राणियों तथा वस्तुओं का अस्तित्व दिक् और काल के अंतर्गत ही संभव है, अतः हम इन दोनों के अभाव की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त यह कथन पूर्णतः असंगत और स्वतोव्याघातपूर्ण है कि "किसी समय काल का अस्तित्व नहीं था", क्योंकि इस कथन में काल की अवधारणा के आधार पर ही एक विशेष समय में काल के अस्तित्व का निषेध किया गया है। वस्तुतः हम सब दिक् और काल से सर्वत्र तथा सर्वदा इस प्रकार घिरे हुए हैं कि हमारे लिए इन दोनों अथवा इनमें से किसी एक के अभाव की कल्पना करना असंभव है। ऐसी स्थिति में हम तर्कसंगत रूप से यह नहीं कह सकते कि ईश्वर ने ही दिक् और काल की रचना की है। जो ईश्वरवादी दार्शनिक ऐसा कहते हैं वे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि दिक् और काल कोई भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं जिनकी रचना की सार्थकतापूर्वक बात की जा सके। इस प्रकार दिक् और काल की रचना का विचार मानवीय तर्कबुद्धि से परे है, अतः ईश्वर द्वारा इन दोनों की रचना का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता। परंतु कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए अन्य वस्तुओं की भाँति दिक् और काल को भी ईश्वर द्वारा रचित मान लेते हैं जिसके फलस्वरूप उनके विश्व-रचना संबंधी सिद्धांत में गंभीर दोष आ जाता है।

अंत में यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि ईश्वर द्वारा विश्व-रचना का विचार उसकी अपरिवर्तनशीलता और पूर्णता दोनों का निषेध करता है जिन्हें ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के अनिवार्य गुण मानते हैं। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि रचना करना ऐच्छिक कर्म है। ऐसी स्थिति में यदि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है तो विश्व-रचना से पूर्व उसमें इसकी इच्छा अवश्य उत्पन्न हुई होगी जिसके अभाव में उसके लिए इसकी रचना करना संभव नहीं था। इसका अर्थ यह है कि विश्व-रचना के परिणामस्वरूप ईश्वर में परिवर्तन हुआ; विश्व की रचना के पश्चात वह ठीक वैसा नहीं रहा जैसा इससे पूर्व था। इस प्रकार यदि ईश्वर को विश्व का रचयिता माना जाए तो विश्व-रचना की इच्छा के

कारण उसके स्वरूप में परिवर्तन को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है जिससे उसकी अपरिवर्तनशीलता का स्पष्ट रूप से खंडन होता है। यही बात ईश्वर की पूर्णता के विषय में भी कही जा सकती है। यदि विश्व-रचना से पूर्व ईश्वर में इसकी रचना की इच्छा उत्पन्न हुई तो इसका अर्थ यह है कि उसमें कोई अभाव था जिसने इस इच्छा को जन्म दिया। स्वयं अपने भीतर विद्यमान इस अभाव का निराकरण करने के लिए ही ईश्वर ने इस विश्व की रचना की। यदि ईश्वर में कोई अभाव न होता तो उसमें विश्व-रचना की इच्छा भी उत्पन्न न होती, क्योंकि किसी प्रकार के अभाव से ही अनिवार्यतः इच्छा का जन्म होता है। इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विश्व की रचना से पूर्व ईश्वर ने स्वयं अपने भीतर इसके अभाव का अनुभव किया जिसके फलस्वरूप उसमें इसकी रचना करने की इच्छा उत्पन्न हुई। परंतु इससे निश्चय ही ईश्वर की पूर्णता का खंडन होता है, क्योंकि जो ईश्वर किसी प्रकार के अभाव का अनुभव करता है उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। यदि ईश्वर सभी दृष्टियों से पूर्ण है, जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं, तो किसी प्रकार के अभाव का अनुभव न करने के कारण उसमें कभी भी विश्व-रचना की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती, फलतः वह विश्व की रचना नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि ईश्वर की पूर्णता की अवधारणा तथा विश्व-रचना की अवधारणा इन दोनों को एक साथ तर्कसंगत रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये दोनों अनिवार्यतः एक-दूसरे का निषेध करती हैं। इस प्रकार ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा मान्य ईश्वर के स्वरूप के साथ उसके द्वारा विश्व-रचना के विचार की तार्किक संगति स्थापित करना संभव नहीं है, अतः इन दार्शनिकों की यह मान्यता किसी भी रूप में युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है।

4. ईश्वर और जगत् के संबंध के विषय में कुछ प्रमुख सिद्धांत

पिछले खंड में हमने ईश्वर द्वारा विश्व-रचना की अवधारणा से संबंधित कुछ मुख्य दार्शनिक कठिनाइयों पर विचार किया हैं जिनके कारण इस अवधारणा का युक्तिसंगत रूप से समर्थन करना बहुत कठिन हो जाता है। परंतु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को ही इस विश्व या जगत् का रचयिता मानते हैं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर तथा जगत् में परस्पर क्या संबंध है। प्रस्तुत खंड में इसी प्रश्न पर विचार किया जाएगा।

यह तो सभी ईश्वरवादी स्वीकार करते हैं कि जगत् का रचयिता होने के कारण ईश्वर उसके साथ किसी न किसी रूप में संबंधित अवश्य है, किंतु इस संबंध के स्वरूप के विषय में उनमें परस्पर पर्याप्त मतभेद है। इसी मतभेद के कारण ईश्वरवादियों ने ईश्वर और जगत् के संबंध के विषय में विभिन्न प्रकार के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। इन सिद्धांतों में तटस्थेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद तथा एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सिद्धांतों में ईश्वर और जगत् के पारस्परिक संबंध के स्वरूप की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। ईश्वर तथा जगत् के संबंध के विषय में इन सिद्धांतों द्वारा की गई विभिन्न व्याख्याओं की विवेचना करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये सभी सिद्धांत मूलतः एक ही ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं और उसे ही इस जगत् का रचयिता मानते हैं, अतः इस दृष्टि से इन सभी सिद्धांतों में आधारभूत समानता है जिसके कारण इन्हें ईश्वरवाद

के विभिन्न रूप माना जा सकता है। परंतु इस आधारभूत समानता के होते हुए भी ये सिद्धांत एक-दूसरे से पर्याप्त सीमा तक भिन्न हैं, क्योंकि ये ईश्वर और जगत् के संबंध की भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्या करते हैं। अब हम संक्षेप में उपर्युक्त तीनों सिद्धांतों की विवेचना करेंगे।

(1) तटस्थेश्वरवाद

यह सिद्धांत पूर्णतः बौद्धिक दृष्टिकोण के आधार पर ईश्वर तथा जगत् के संबंध की व्याख्या करता है। इसके अनुसार ईश्वर जगत् का रचयिता अवश्य है, किंतु एक बार इसकी रचना करने के पश्चात वह इसकी कार्य-प्रणाली में कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। यह जगत् एक विशाल यंत्र के समान है जो ईश्वर द्वारा निर्मित बौद्धिक प्राकृतिक नियमों के आधार पर संचालित होता है। जगत् की समस्त वस्तुओं, घटनाओं तथा कार्य-प्रणालियों की व्याख्या केवल इन्हीं प्राकृतिक नियमों द्वारा की जा सकती है। एक बार इन नियमों का निर्माण करने के उपरांत ईश्वर इनमें कोई संशोधन या परिवर्तन नहीं करता। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि तटस्थेश्वरवाद इस जगत् में उन धार्मिक चमत्कारों की संभावना को अस्वीकार करता है जिनमें अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति विश्वास करते रहे हैं। इस सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि धार्मिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ईश्वर स्वयं अपने बनाए हुए प्राकृतिक नियमों का कभी उल्लंघन नहीं करता। ऐसी स्थिति में उस प्रार्थना का भी कोई महत्त्व नहीं है जो चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ईश्वर से की जाती है। विश्वातीत होने के कारण ईश्वर मनुष्य के लिए पूर्णतः अगम्य है; वह अपनी प्रार्थना द्वारा ईश्वर को प्रभावित नहीं कर सकता। इस प्रकार तटस्थेश्वरवाद सामान्य अर्थ में प्रार्थना की प्रभावशीलता और उपादेयता का भी निषेध करता है। ईश्वर तथा जगत् के संबंध की व्याख्या करते हुए इस सिद्धांत के समर्थक कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य अपनी रचना से पृथक होता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी कृति, जगत् से पृथक और परे है; वह न तो जगत् में अंतर्निहित है और न उसकी रक्षा करता है। वह जगत् के प्रति उदासीन तथा उससे पूर्णतः पृथक रहता है। जगत् का रचयिता होते हुए भी ईश्वर का उसके साथ कोई गहरा संबंध नहीं है। वह जगत् का प्रशासक, संचालक तथा पालनकर्ता भी नहीं है। विश्वातीत होने के कारण ईश्वर जीवों के सुख-दुःख के प्रति पूर्णतः तटस्थ रहता है। यही कारण है कि इस सिद्धांत को 'तटस्थेश्वरवाद' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार ईश्वर का विश्वातीत अथवा जगत् से पृथक होना तटस्थेश्वरवाद की प्रमुख विशेषता है जो इसे अन्य सिद्धांतों से पृथक करती है।

तटस्थेश्वरवाद का पूर्वाभास हमें सर्वप्रथम अरस्तु के दर्शन में प्राप्त होता है। उन्होंने अपनी पुस्तक, 'मैटाफ़िज़िक्स' में ईश्वर को विश्वातीत सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया है जो जगत् से पृथक रहकर उसे गति प्रदान करता है। आधुनिक काल में सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के कुछ पाश्चात्य ईश्वरवादी विचारकों ने तत्कालीन वैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित होकर तटस्थेश्वरवाद का समर्थन किया। श्रुति के महत्त्व को अस्वीकार करते हुए उन्होंने धर्म को केवल मानवीय तर्कबुद्धि पर आधारित माना और उसे 'प्राकृतिक धर्म' की संज्ञा दी। इस प्राकृतिक धर्म में ईश्वरीय चमत्कारों तथा अंधविश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के महान् विचारक, जे०एस० मिल भी ईश्वर को सर्वशक्तिमान

तथा असीम न मानकर मूलतः तटस्थेश्वरवाद का ही समर्थन करते थे। मिल के अतिरिक्त विश्व-विख्यात वैज्ञानिक न्यूटन भी जगत् को केवल प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित मानकर मुख्यतः इसी सिद्धांत को स्वीकार करते थे। उन्होंने यह अवश्य कहा था कि ग्रह-नक्षत्रों की गति में आने वाली अनियमितताओं को ठीक करने के लिए ईश्वर उनकी कार्य-प्रणाली में कभी-कभी हस्तक्षेप करता है, किंतु उनका यह मत उनकी वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप नहीं था। इसी कारण एक अन्य वैज्ञानिक, लाप्लास ने न्यूटन के इस मत को स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः तटस्थेवरवाद के अनुसार जगत् के संचालन के लिए ईश्वर को किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि स्वयं सभी दृष्टियों से पूर्ण होने के कारण उसने इसके संचालन के लिए जिन प्राकृतिक नियमों का निर्माण किया है वे दोषरहित हैं और मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि द्वारा उन्हें भलीभाँति समझ सकता है। जगत् के विषय में इस सिद्धांत के समर्थकों का यह बौद्धिक दृष्टिकोण वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रोत्साहित करने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इस दृष्टिकोण के कारण अनेक वैज्ञानिकों ने ईश्वरवाद को स्वीकार करते हुए भी जगत् की व्याख्या ऐसे प्राकृतिक नियमों के आधार पर की जिनमें ईश्वर के प्रयोजन और उसकी नैतिक व्यवस्था से संबंधित धार्मिक मान्यताओं के लिए कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार रूढ़िवादी धार्मिक मान्यताओं और अंधविश्वासों का खंडन करके तटस्थेश्वरवादियों ने मनुष्य को इस जगत् की समस्याओं पर केवल तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए प्रेरित किया।

परंतु कुछ कठिनाइयों के कारण तटस्थेश्वरवाद ईश्वरोपासकों के लिए संतोषप्रद सिद्ध नहीं हो सका। इस सिद्धांत की पहली कठिनाई यह है कि इसमें ईश्वर को जगत् से पूर्णतः पृथक और उसके प्रति तटस्थ माना गया है। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के समर्थक ईश्वर को विश्वातीत मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि वह प्राणियों के सुख-दुख के प्रति पूर्णतः उदासीन है। यह समझना कठिन नहीं है कि भक्त ऐसे तटस्थ ईश्वर के प्रति न तो आत्मसमर्पण कर सकते हैं और न वे उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा कर सकते हैं। स्पष्ट है कि भक्तों के साथ ऐसे ईश्वर का कोई संबंध नहीं हो सकता और वह उन्हें किसी प्रकार का संतोष तथा सहारा प्रदान नहीं कर सकता। इसी कारण ऐसे तटस्थ ईश्वर के प्रति भक्तों का उदासीन हो जाना भी स्वाभाविक ही है। तटस्थेश्वरवाद की दूसरी कठिनाई—जो इसकी उपर्युक्त कठिनाई से अनिवार्यता संबद्ध है—यह है कि इसमें ईश्वर की पूजा अथवा उपासना के लिए कोई स्थान नहीं है। जगत् से परे और उसके प्रति उदासीन ईश्वर निश्चय ही भक्तों की उपासना का विषय नहीं हो सकता। ऐसे ईश्वर की उपासना करना भक्तों के लिए निरर्थक ही होगा, क्योंकि वह उनकी उपासना से पूर्णतः अप्रभावित रहेगा। जिस ईश्वर से उपासकों को किसी प्रकार के अनुग्रह, मार्गदर्शन अथवा सहारे की आशा ही नहीं है उसकी उपासना के विचार का उनके लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में ईश्वर एक निरपेक्ष बौद्धिक सत्ता मात्र रह जाता है जिसका भक्तों के जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार ईश्वरवादी सिद्धांत होते हुए भी तटस्थेश्वरवाद ईश्वरोपासना को अनावश्यक तथा निरर्थक बना देता है। मुख्यतः इसी कारण यह सिद्धांत ईश्वरोपासकों में लोकप्रिय नहीं हो सका। तटस्थेश्वरवाद की तीसरी कठिनाई यह है कि इसमें ईश्वर की प्रयोजनशीलता और नैतिक व्यवस्था से संबंधित उन धार्मिक मान्यताओं का निषेध किया गया है जिन्हें

ईश्वरोपासक प्राचीन काल से स्वीकार करते रहे हैं। हम देख चुके हैं कि तटस्थेश्वरवादी इस जगत् को एक विशाल यंत्र मानकर केवल प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही इसकी व्याख्या करते हैं। इन प्राकृतिक नियमों में किसी प्रकार के प्रयोजन तथा नैतिक मूल्यों के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं हैं। इस का अर्थ यह है कि ईश्वर विश्व का नैतिक प्रशासक नहीं है और न ही उसने किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए इसकी रचना की है। तटस्थेश्वरवाद की इस मान्यता के कारण भक्तों की आशावादिता और ईश्वर पर उनकी निर्भरता को भारी आघात पहुँचता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धांत ईश्वरीय चमत्कारों को भी अस्वीकार करता है जिन्हें ईश्वरोपासक बहुत महत्त्व देते हैं। ऐसी स्थिति में इस सिद्धांत का समर्थन करना उनके लिए संभव नहीं था। इस प्रकार उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के कारण तटस्थेश्वरवाद ईश्वरोपासकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका और वह कुछ बुद्धिजीवी विचारकों अथवा दार्शनिकों तक ही सीमित रह गया।

(2) सर्वेश्वरवाद

सर्वेश्वरवाद ईश्वर और जगत् के संबंध की जो व्याख्या करता है वह तटस्थेश्वरवाद द्वारा की गई व्याख्या के ठीक विपरीत है। हम देख चुके हैं कि तटस्थेश्वरवाद ईश्वर को एक ऐसी विश्वातीत सत्ता मानता है जो जगत् से पृथक तथा उसके प्राणियों के सुख-दु:ख के प्रति पूर्णत: तटस्थ और उदासीन है। इसके विपरीत सर्वेश्वरवाद ईश्वर को जगत् से भिन्न न मानकर इन दोनों के पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करता है। इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर तथा जगत् वस्तुत: एक ही हैं और इन दोनों में कोई मूल भेद नहीं है। सर्वेश्वरवाद को अँग्रेज़ी में 'पैन्थीइज्म' कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ यह है कि 'ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है'। तटस्थेश्वरवाद के विपरीत यह सिद्धांत ईश्वर को विश्वातीत मानने के स्थान पर उसे विश्व में अंतर्वर्ती अथवा सर्वत्र व्याप्त मानता है। इसके समर्थकों के मतानुसार ईश्वर जगत् के कण-कण में व्याप्त है, अत: इन दोनों की भिन्नता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जगत् की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें ईश्वर विद्यमान न हो। इसका कारण यह है कि जगत् मूलत: स्वयं ईश्वर का ही रूप है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर ही अपने आपको इस जगत् की विविध वस्तुओं और इसके प्राणियों के रूप में अभिव्यक्त करता है। स्पष्ट है कि इस सिद्धांत के अनुसार जगत् की ईश्वर से कोई पृथक सत्ता नहीं है। ईश्वर इस जगत् के कण-कण में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार दूध में सफेदी और शरीर में आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती है। इस प्रकार तटस्थेश्वरवाद के विपरीत सर्वेश्वरवाद ईश्वर और जगत् की पूर्ण अभिन्नता के आधार पर ही इन दोनों के संबंध की व्याख्या करता है।

भारत और पाश्चात्य देशों में अनेक दार्शनिक तथा ईश्वरोपासक किसी न किसी रूप में सर्वेश्वरवाद का समर्थन करते रहे हैं। हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि यद्यपि वैदिक युग में बहुदेववाद प्रचलित था, फिर भी ऋग्वेद में एक ही ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता का विचार भी विद्यमान था। वैदिक काल के पश्चात अनेक उपनिषदों तथा भगवद्गीता में भी स्पष्ट रूप से सर्वेश्वरवाद को स्वीकार किया गया है। शंकर और रामानुज ने भी क्रमश: अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद में मूलत: इसी सिद्धांत का समर्थन किया है। इन महान दार्शनिकों के विचारों का अनुसरण करते हुए भक्ति-काल में बहुत-से संत कवियों ने ईश्वर और जगत् के संबंध के

विषय में सर्वेश्वरवाद को ही स्वीकार किया। आज भी भारत में अधिकतर ईश्वरोपासक ईश्वर को जगत् में सर्वत्र व्याप्त मानकर इसी सिद्धांत का समर्थन करते हैं। भारतीय दार्शनिकों की भाँति अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी सर्वेश्वरवाद के अनुसार ही ईश्वर तथा जगत् के संबंध की व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, महान विचारक प्लोटिनस का दर्शन उपनिषदों के दर्शन के समान ही सर्वेश्वरवादी है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने यह कहा है कि प्लोटिनस तथा उपनिषदों के दर्शन में आधारभूत समानता है। प्लोटिनस की भाँति स्पिनोज़ा भी स्पष्ट रूप से सर्वेश्वरवाद को ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर ही एकमात्र परम सत्ता है, अतः ईश्वर तथा जगत् में कोई मूल भेद नहीं है। स्पिनोज़ा के अतिरिक्त परमतत्त्व में विश्वास करने वाले दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में सर्वेश्वरवाद का ही समर्थन करते हैं। इन दार्शनिकों में हीगेल तथा ब्रैडले के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दार्शनिक परमतत्त्व को ही अंतिम सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं और उसे ही जगत् में सर्वत्र व्याप्त मानते हैं। इन दार्शनिकों के अनुसार परमतत्त्व तथा ईश्वर एक ही सत्ता है और जगत् का इस सत्ता से पृथक एवं स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में इन दार्शनिकों को सर्वेश्वरवादी कहना उचित ही होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन की भाँति पाश्चात्य दर्शन में भी सर्वेश्वरवाद का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है और इस सिद्धांत ने ईश्वरोपासकों के जीवन को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया है।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि सर्वेश्वरवाद धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि से कहाँ तक उचित एवं संतोषप्रद सिद्धांत है। वस्तुतः तटस्थेश्वरवाद के समान ही इस सिद्धांत में भी अनेक दोष और कठिनाइयाँ हैं। सर्वेश्वरवाद की प्रथम कठिनाई यह है कि तटस्थेश्वरवाद की भाँति इस सिद्धांत में भी ईश्वरोपासना के लिए कोई स्थान नहीं है। उपासना के लिए ईश्वर तथा भक्त में भेद का होना अनिवार्य है, किंतु सर्वेश्वरवाद इन दोनों के भेद को ही समाप्त कर देता है। यदि ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है, जैसा कि सर्वेश्वरवादी मानते हैं, तो निश्चय ही भक्त ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकता। यदि ईश्वर और भक्त एक ही हैं तो भक्त द्वारा ईश्वर की उपासना करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ऐसी स्थिति में भक्त या ईश्वर स्वयं अपनी ही उपासना करेगा। इस प्रकार तटस्थेश्वरवाद के समान सर्वेश्वरवाद भी ईश्वरोपासना की संभावना को ही समाप्त कर देता है। स्पष्ट है कि ऐसा सिद्धांत ईश्वरोपासकों के लिए संतोषप्रद नहीं हो सकता।

इस कठिनाई से अनिवार्यतः संबद्ध सर्वेश्वरवाद की दूसरी कठिनाई यह है कि इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर केवल निर्वैयक्तिक सत्ता है। ऐसे ईश्वर में इच्छा, भावना, विचार, प्रेम, करुणा, उदारता आदि व्यक्तित्व संबंधी गुणों का होना संभव नहीं है और इन गुणों के अभाव में वह भक्तों की पूजा या उपासना का विषय नहीं हो सकता। वह न तो अपने भक्तों की प्रार्थना सुन सकता है और न उनकी कोई सहायता ही कर सकता है। भक्त ऐसे निर्वैयक्तिक ईश्वर पर अपने आपको निर्भर मानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण नहीं कर सकते। इस प्रकार उपासना की दृष्टि से भक्तों के लिए सर्वेश्वरवाद के ईश्वर का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

सर्वेश्वरवाद की तीसरी कठिनाई यह है कि यह सिद्धांत चेतनापूर्ण सजीव प्राणियों तथा निर्जीव भौतिक वस्तुओं में कोई मूल भेद स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार ईश्वर पत्थर में भी उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार मनुष्य में, अतः इन दोनों में कोई आधारभूत अंतर नहीं

है। परंतु अधिकतर ईश्वरवादी इस मत को स्वीकार नहीं करते। वे यह मानते हैं कि मनुष्य और पत्थर दोनों ही ईश्वर की सृष्टि होते हुए भी चेतना के स्तर पर एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। इसी कारण मनुष्य ही ईश्वर की उपासना कर सकता है, पत्थर नहीं। इसके अतिरिक्त सर्वेश्वरवाद को स्वीकार करने के कारण ईश्वर को निकृष्ट तथा घृणास्पद वस्तुओं में भी उसी प्रकार व्याप्त मानना अनिवार्य हो जाता है जिस प्रकार उत्कृष्ट और आकर्षक वस्तुओं में। परंतु सर्वेश्वरवादी अपने सिद्धांत के इस अनिवार्य परिणाम को संभवतः स्वीकार नहीं करना चाहेंगे। इस कठिनाई का उल्लेख हम ईश्वर की सर्वव्यापकता के संदर्भ में पहले ही कर चुके हैं, अतः यहाँ इसके अधिक विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

सर्वेश्वरवाद की चौथी कठिनाई यह है कि इसे स्वीकार लेने पर सीमित मनुष्य तथा असीम ईश्वर के अनुभव को मूल रूप में एक ही मानना अनिवार्य हो जाता है। सीमित प्राणी होने के कारण मनुष्य का अनुभव बहुत सीमित और अपूर्ण ही होता है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सर्वेश्वरवाद मनुष्य और ईश्वर में कोई मूल भेद स्वीकार नहीं करता, अतः इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का अनुभव असीम ईश्वर के अनुभव का ही एक अंश है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का सीमित सुख-दुःख असीम ईश्वर के अनुभव का ही एक अंग है। परंतु यहाँ प्रश्न यह है कि किसी भी सीमित प्राणी का सीमित अनुभव असीम ईश्वर के असीम अनुभव का अभिन्न अंश कैसे हो सकता है। प्रत्येक प्राणी का अनुभव अनिवार्यतः केवल उसी तक सीमित होता है; वह किसी अन्य सीमित प्राणी के अनुभव का अंश नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, किन्हीं दो प्राणियों के अलग-अलग अनुभव कभी भी एक-दूसरे के अंश नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में प्रत्येक प्राणी के अनुभव को असीम ईश्वर के अनुभव का अभिन्न अंग मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

सर्वेश्वरवाद की अंतिम कठिनाई यह है कि यह सिद्धांत मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य और नैतिक मूल्यों का निषेध करता है। यदि ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है तो मनुष्य के संकल्प की स्वतंत्रता, शुभ-अशुभ के भेद तथा नैतिक मूल्यों के महत्त्व की बात करना निरर्थक हो जाता है। वस्तुतः ये सब तभी सार्थक और महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं जब मानव ईश्वर का अभिन्न अंश न होकर उससे कुछ सीमा तक भिन्न तथा स्वतंत्र हो। परंतु सर्वेश्वरवाद मनुष्य को ईश्वर से पूर्णतः अभिन्न मानता है; अतः इस सिद्धांत में मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य, शुभ-अशुभ के भेद तथा नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। संक्षेप में इन सभी कठिनाइयों के कारण ही बहुत से ईश्वरवादी दार्शनिक सर्वेश्वरवाद को संतोषप्रद सिद्धांत नहीं मानते।

परंतु उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी धर्म और दर्शन के लिए सर्वेश्वरवाद का पर्याप्त महत्त्व है। यह सिद्धांत ईश्वर को एकमात्र परम सत्ता मानकर संपूर्ण ब्रह्मांड की एकता से संबंधित मनुष्य की बलवती इच्छा की पूर्ति करता है। इस विश्व में विभिन्न प्राणियों तथा वस्तुओं के रूप में विविधता का स्पष्टतः अनुभव करते हुए भी मनुष्य इसके मूल में एक ही परम सत्ता देखना चाहता है जो इस विविधता का अंतिम आधारभूत तत्त्व है। विज्ञान का मूल आधार विश्व की एकता से संबंधित मनुष्य की यही इच्छा है। सर्वेश्वरवाद ईश्वर को विश्व के कण-कण में व्याप्त एक ही मूल सत्ता मानकर मनुष्य की इसी इच्छा की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धांत ईश्वर और जगत् में उस दूरी को भी समाप्त कर देता है जो

तटस्थेश्वरवाद के कारण इन दोनों में अनिवार्यतः उत्पन्न हो जाती है। हम देख चुके हैं कि सर्वेश्वरवाद ईश्वर को जगत् से अतीत और पृथक न मानकर उसमें अंतर्वर्ती अथवा सर्वत्र व्याप्त मानता है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर मानव से पृथक और उसके प्रति उदासीन नहीं है। वास्तव में मानव स्वयं ईश्वर का ही अभिन्न अंश है। सर्वेश्वरवाद के इस विचार से मनुष्य को निश्चय ही संतोष तथा सांत्वना का अनुभव होता है। इसी कारण सर्वेश्वरवाद को तटस्थेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद सिद्धांत माना गया है। अंत में सर्वेश्वरवाद उस रहस्यात्मकता को भी समुचित महत्त्व देता है जो धर्म के साथ प्रायः संबद्ध रहती है। भारत तथा पाश्चात्य देशों के अनेक रहस्यवादियों ने जगत् की विविधता के मूल में एक ही रहस्यमयी सत्ता के विचार को स्वीकार किया है। जगत् की समस्त विभिन्नताएँ अंततः इसी रहस्यमयी सत्ता में विलीन हो जाती हैं। सर्वेश्वरवाद ईश्वर और जगत् को मूलतः एक ही मानकर रहस्यवादियों की इस आधारभूत मान्यता का समर्थन करता है। यही कारण है कि अनेक रहस्यवादियों ने किसी न किसी रूप में सर्वेश्वरवाद को स्वीकार किया है। इस प्रकार हम निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि अनेक समस्याओं तथा कठिनाइयों के होते हुए भी सर्वेश्वरवाद दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

(3) एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद

एकेश्वरवाद अथवा ईश्वरवाद भी ईश्वर को ही एकमात्र अंतिम सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। इस दृष्टि से यह सिद्धांत तटस्थेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद के समान ही है। परंतु एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद ईश्वर के स्वरूप तथा जगत् के साथ उसके संबंध की जो व्याख्या करता है वह अन्य दोनों सिद्धांतों द्वारा की गई व्याख्याओं से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है। यह सिद्धांत तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की कुछ आधारभूत मान्यताओं का खंडन करता है जिसके कारण इसे इन दोनों सिद्धांतों से पृथक माना जाता है। परंतु इसके साथ ही एकेश्वरवाद अथवा ईश्वरवाद इन दोनों सिद्धांतों की कुछ मूल विशेषताओं को स्वीकार भी करता है, अतः इसे इन सिद्धांतों से पूर्णतः भिन्न मानना युक्तिसंगत नहीं होगा। उदाहरणार्थ, एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद तटस्थेश्वरवाद की इस आधारभूत मान्यता का समर्थन करता है कि ईश्वर विश्वातीत और सृष्टिकर्ता है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, असीम, नित्य तथा पूर्ण है और वह मानवीय तर्कबुद्धि एवं अनुभव से परे है, अतः इस दृष्टि से वह जगत् की प्रत्येक सीमित वस्तु से मूलतः भिन्न है। इस प्रकार एकेश्वरवाद अथवा ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर तथा जगत् में कुछ भिन्नता अवश्य है; इन दोनों में पूर्ण तादात्म्य नहीं है। परंतु तटस्थेश्वरवाद की इस आधारभूत मान्यता को स्वीकार करते हुए भी एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद ईश्वर को जगत् से पूर्णतः भिन्न और अतीत नहीं मानता। वह सर्वेश्वरवाद की भाँति ईश्वर को जगत् में अंतर्वर्ती अथवा सर्वत्र व्याप्त भी मानता है। एकेश्वरवाद अथवा ईश्वरवाद के समर्थकों का मत है कि ईश्वर जगत् के कण-कण में व्याप्त है, क्योंकि यह जगत् उसी की सृष्टि है। जगत् पूर्णतः ईश्वर पर ही निर्भर है, अतः उसका ईश्वर से पृथक और स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की आधारभूत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए एकेश्वरवाद ईश्वर को जगत् से अतीत भी मानता है और उसमें अंतर्वर्ती भी।

परंतु तटस्थेश्वरवादियों और सर्वेश्वरवादियों के विपरीत एकेश्वरवादी ईश्वर को ऐसी व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता मानते हैं जो भक्तों की प्रार्थना सुनता है, उनके प्रति स्नेह रखता है और उनकी सहायता करता है। उनके मतानुसार ईश्वर न तो भक्तों के प्रति उदासीन रहता है और न ईश्वर तथा भक्तों में पूर्ण तादात्म्य है। इस प्रकार एकेश्वरवाद को तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद का कुछ सीमा तक मिश्रित रूप माना जा सकता है। यही कारण है कि अनेक विद्वान एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद को अन्य दोनों सिद्धांतों की अपेक्षा धार्मिक दृष्टि से अधिक संतोषजनक सिद्धांत मानते हैं। उनका विचार है कि यह सिद्धांत मनुष्य के धार्मिक जीवन की मूल आवश्यताओं की पूर्ति करने में पूर्णतः समर्थ है। एकेश्वरवाद अथवा ईश्वरवाद के विषय में गैलोवे इसी मत का समर्थन करते हैं। इस सिद्धांत की उत्कृष्टता के संबंध में उनका कथन है कि : ''तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद में जो कुछ सत्य है उसे सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करते हुए ईश्वरवाद यह घोषणा करता है कि ईश्वर अंतर्वर्ती और अतीत दोनों हैं। ... ईश्वरवादी तटस्थेश्वरवाद के इस मत को तो स्वीकार करता है कि ईश्वर का जगत् के साथ तादात्म्य नहीं है किंतु वह इस बात को अस्वीकार करता है कि जगत् ईश्वर से स्वतंत्र है। ... दूसरी ओर ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद के कथनों में भी सुधार करता है और उन्हें उस रूप में प्रस्तुत करता है जिसकी आध्यात्मिक मूल्यों के साथ संगति स्थापित की जा सकती है। 'सब कुछ ईश्वर है' सर्वेश्वरवादी के इस कथन को ईश्वरवादी इस कथन में परिवर्तित कर देता है कि 'सब कुछ ईश्वर पर निर्भर है' और यह कथन पहले कथन से बहुत भिन्न है। ... इस प्रकार धार्मिक अनुभव के मानवीय तथा ईश्वरीय पक्षों को समुचित मान्यता प्राप्त हो जाती है''।[10] गैलोवे के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि वे एकेश्वरवाद अथवा ईश्वरवाद को तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट सिद्धांत मानते हैं।

गैलोवे के अतिरिक्त अन्य बहुत से पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक भी इस एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद का ही समर्थन करते हैं। ईसाई धर्म में विश्वास करने वाले दार्शनिक किसी न किसी रूप में इसी सिद्धांत को स्वीकार करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, ऐक्वाइनस, ऑगस्टाइन आदि मध्य-युगीन विचारकों तथा जॉन हिक, डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, एच० एच० फ़ारमर आदि समकालीन दार्शनिकों ने मुख्यतः इसी एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद का समर्थन किया है। भारत में रामानुज तथा अन्य वैष्णव दार्शनिक इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक माने जाते हैं। ईश्वरवाद के विषय में रामानुज के मत की विवेचना हम पिछले खंड में कर चुके हैं, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इन वैष्णव दार्शनिकों की विचारधारा का अनुसरण करते हुए अनेक भारतीय संतों ने भी ईश्वरवाद का ही समर्थन किया है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि एकेश्वरवाद या ईश्वरवाद के समर्थकों ने उन कठिनाइयों के निराकरण का प्रयास किया है जो तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद में पाई जाती हैं। परंतु तार्किक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस प्रयास में ईश्वरवादियों को कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। वस्तुतः स्वयं ईश्वरवाद में भी बहुत-सी गंभीर कठिनाइयाँ हैं जो इसे

---

10. वही पुस्तक, पृ० 466, 468

दोषपूर्ण सिद्धांत बना देती हैं। सर्वप्रथम तर्कसंगत रूप से ईश्वरवादियों के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि ईश्वर विश्वातीत भी है और विश्व में अंतर्वर्ती अथवा विश्वव्यापी भी। उनके इस मत में स्वतोव्याघात स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यदि ईश्वर वास्तव में विश्वातीत है तो वह विश्वव्यापी नहीं हो सकता और यदि वह विश्वव्यापी है तो उसे विश्वातीत नहीं माना जा सकता। परंतु ईश्वरवादी इन दोनों परस्पर विरोधी मान्यताओं को एक ही साथ स्वीकार कर लेते हैं जिसके कारण उनके सिद्धांत में स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है। इस कठिनाई के अतिरिक्त ईश्वरवाद में वे सभी कठिनाईयाँ भी पाई जाती हैं जिनका संबंध ईश्वर की व्यक्तित्वसंपन्नता और उसके तत्त्वमीमांसीय तथा नैतिक गुणों से है। इसी प्रकार विश्वरचना की अवधारणा से संबंधित समस्याएँ भी वस्तुतः ईश्वरवाद की कठिनाइयाँ ही हैं। इन सब कठिनाइयों की विस्तृत विवेचना हम पिछले खंडों में कर चुके हैं, अतः यहाँ इन पर पुनः विचार करना आवश्यक नहीं है। उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त अशुभ की समस्या तथा ईश्वर विषयक कथनों की संज्ञानात्मक सार्थकता की समस्या भी ईश्वरवाद की गंभीर कठिनाइयाँ हैं जिन पर इस पुस्तक के अगले अध्यायों में विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा। यहाँ निष्कर्ष के रूप में इतना कह देना ही आवश्यक है कि तटस्थेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की भाँति एकेश्वरवाद अथवा ईश्वरवाद भी कठिनाइयों और दोषों से मुक्त नहीं है, अतः दार्शनिक दृष्टि से इसे भी पूर्णतः संतोषप्रद सिद्धांत नहीं माना जा सकता।

5. ब्रह्म और परमतत्त्व

जैसा कि हम पिछले अध्याय के प्रथम खंड में बता चुके हैं, ईश्वरवादी दार्शनिक बहुत प्राचीन काल से ही ईश्वर के स्वरूप के विषय में दो विभिन्न अवधारणाओं को स्वीकार करते रहे हैं। प्रथम अवधारणा के अनुसार ईश्वर साकार, सगुण तथा व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता है जिसमें शक्ति, ज्ञान, नित्यता, प्रेम, दया आदि गुण असीमित मात्रा में पाए जाते हैं। ईश्वर की इस अवधारणा को 'मानवत्वारोपी अवधारणा' की संज्ञा दी गई है, क्योंकि इसमें ईश्वर को एक महा मानव अथवा पुरुषोत्तम के रूप में स्वीकार किया जाता है। हम देख चुके हैं कि अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के स्वरूप के संबंध में इस मानवत्वारोपी अवधारणा का ही समर्थन करते हैं। प्रस्तुत अध्याय के पिछले खंडों में हमने इस अवधारणा के अनुसार ईश्वर के स्वरूप तथा इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं और कठिनाइयों का विवेचन किया है। इस अवधारणा की इन कठिनाइयों के कारण कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने इसके स्थान पर ईश्वर के स्वरूप के संबंध में एक अन्य अवधारणा को स्वीकार किया है जिसके अनुसार ईश्वर निराकार, निर्विशेष, निर्गुण तथा निर्वैयक्तिक सत्ता है। इस अवधारणा को ईश्वर की 'निरपेक्ष अवधारणा' कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें ईश्वर को सभी दृष्टियों से पूर्णतया निरपेक्ष माना गया है। कुछ भारतीय और पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के स्वरूप के विषय में इस निरपेक्ष अवधारणा को स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, मूलतः इसी अवधारणा का समर्थन करते हुए शंकर ने अपने अद्वैतवाद की स्थापना की है जिसका उल्लेख हम तीसरे खंड में कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि उनके मतानुसार पारमार्थिक दृष्टि से अंतिम सत्ता एक ही है और वह है निराकार, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म। इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन में भी हीगेल, ब्रैडले, ग्रीन आदि कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर को निर्वैयक्तिक सत्ता के रूप में

ही स्वीकार किया है और उसे 'परमतत्त्व' की संज्ञा दी है। प्रस्तुत खंड में हम शंकर के ब्रह्म तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के परमतत्त्व के स्वरूप की कुछ विस्तार से विवेचना करेंगे।

जैसा कि हम इस अध्याय के दूसरे खंड में बता चुके हैं, शंकर के दर्शन को 'अद्वैतवाद' की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि उनके अनुसार निराकार, निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म ही पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र परम सत्ता है। ईश्वर, जीव तथा जगत् पारमार्थिक दृष्टि से यथार्थ न होकर माया अथवा अविद्या के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिभास या मिथ्या प्रतीतियाँ मात्र हैं जिनकी कोई पृथक और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है और उसे कैसे जाना जा सकता है। शंकर ने अपने दर्शन में इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। बौद्ध दार्शनिकों की भाँति वे भी यह स्वीकार करते हैं कि जगत् की सभी वस्तुएं अनित्य और परिवर्तनशील हैं। परंतु इन दार्शनिकों के विपरीत शंकर का मत है कि इस अनित्यता और परिवर्तनशीलता के मूल में एक शाश्वत एवं स्थायी सत्ता अवश्य विद्यमान है जो संपूर्ण जगत् का अधिष्ठान अथवा मूल आधार है। इसी शाश्वत और अपरिवर्तनशील चैतन्य सत्ता को शंकर ने 'ब्रह्म' कहा है। उनका मत है कि यह ब्रह्म निराकार, निर्विशेष तथा निर्गुण है और यह समस्त भेदों एवं उपाधियों से भी रहित है। ब्रह्म में किसी गुण का समावेश करना उसे सीमित करना है, अतः उसके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि उपनिषदों में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा गया है और 'नेति-नेति' ('वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है') कहकर ही उसके स्वरूप का परिचय दिया गया है। शंकर के अनुसार ब्रह्म में कभी किसी प्रकार का विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन नहीं होता—वह सदैव आनंदमय और चैतन्यस्वरूप रहता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदों से रहित है और उसमें कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। ब्रह्म को 'सच्चिदानंद' कहकर भी उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है जिसका अर्थ यह है कि वह सत्, चित् तथा आनंद से परिपूर्ण विशुद्ध चैतन्य सत्ता है। परंतु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सत्, चित् और आनंद ब्रह्म के गुण न होकर उसके स्वरूप के अभिन्न अंश अथवा मूल तत्त्व हैं। इस प्रकार अपने अद्वैतवादी सिद्धांत के अनुरूप शंकर यह मानते हैं कि समस्त भेदों, विकारों एवं उपाधियों से मुक्त यह निराकार, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रहम ही संपूर्ण जगत् का वास्तविक अधिष्ठान है और पारमार्थिक दृष्टि से यही एकमात्र अंतिम सत्ता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इस ब्रहम को कैसे जाना जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में शंकर का कथन है कि अनुभव एवं तर्कबुद्धि द्वारा ब्रहम को जानना संभव नहीं है, क्योंकि निराकार तथा निर्गुण होने के कारण वह बुद्धि की समस्त अवधारणाओं से परे है। वस्तुतः वह स्वयंसिद्ध तथा स्वप्रकाश्य सत्ता है जिसे प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। फिर भी शंकर के मतानुसार श्रुति के कथनों द्वारा ब्रहम की सत्ता को असंदिग्ध रूप मे प्रमाणित किया जा सकता है। भारत में वेदों, उपनिषदों तथा भगवद्‌गीता को श्रुति के रूप में स्वीकार किया जाता है और यह कहा जाता है कि इनके कथनों की प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। शंकर का कथन है कि उपनिषदों में निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, सच्चिदानंद ब्रहम के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, अतः हमारे लिए उसके अस्तित्व में संदेह करना संभव नहीं है। ब्रहम की सत्ता के लिए श्रुति के रूप में इन उपनिषदों के कथन ही अंतिम और अकाट्य प्रमाण हैं। हम इंद्रिय-अनुभव और युक्तियों द्वारा ब्रहम के

अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकते, अतः हमारे लिए इन श्रुति-वचनों के आधार पर उसकी सत्ता को असंदिग्ध रूप से स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। श्रुति के कथन स्वयंसिद्ध होते हैं जिन्हें प्रमाणित करने के लिए किसी प्रकार के तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार शंकर श्रुति को स्वयंसिद्ध मानकर उसके कथनों को ही ब्रह्म के अस्तित्व के लिए अंतिम और असंदिग्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।

परंतु ब्रह्म की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए स्वतः प्रामाणिकता के विषय में शंकर के उपर्युक्त मत का युक्तिसंगत रूप से समर्थन करना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि जिन ग्रंथों को 'श्रुति' की संज्ञा दी जाती है वे सब मानव-रचित ही हैं और मानव अनिवार्यतः सीमित तथा अपूर्ण है। मनुष्य की अपरिहार्य सीमाओं तथा अपूर्णता के कारण कोई भी मानवीय रचना ऐसी नहीं हो सकती जो सभी दृष्टियों से पूर्ण एवं निर्दोष हो और जिसे सदा के लिए असंद्रिग्ध रूप से प्रामााणिक माना जा सके। इसके अतिरिक्त विभिन्न विचारक श्रुतिमूलक ग्रंथों के कथनों की भिन्न-भिन्न ही नहीं, अपितु परस्पर विरोधी व्याख्याएँ भी करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, शंकर तथा रामानुज दोनों ही यह दावा करते हैं कि उनके दर्शन का मूल आधार उपनिषदें हैं, किंतु इन दोनों दार्शनकों ने उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप की परस्पर विरोधी व्याख्याएँ की हैं। हम देख चुके हैं कि शंकर के मतानुसार ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विशेष तथा निर्वैयक्तिक सत्ता है; इसके विपरीत रामानुज ब्रह्म को सगुण, साकार, सविशेष और व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता मानते हैं। शंकर के विचार में ब्रह्म सभी उपाधियों तथा भेदों से रहित है, किन्तु रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करते हैं। ये दोनों दार्शनिक ब्रह्म के स्वरूप के संबंध में अपनी इन परस्पर विरोधी व्याख्याओं को मूलतः उपनिषदों पर ही आधारित मानते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे पास इस बात का निर्णय करने के लिए कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है कि स्वतः सिद्ध तथा असंदिग्ध रूप से सत्य माने जाने वाले श्रुतिमूलक ग्रंथों पर आधारित ब्रह्म की इन परस्पर विरोधी व्याख्याओं में से कौन-सी सत्य है और कौन-सी मिथ्या। इस कठिनाई से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए श्रुति—अर्थात् उपनिषदों—के कथनों को असंदिग्ध तथा अंतिम प्रमाण नहीं माना जा सकता। फिर स्वयं उपनिषदों में भी ब्रह्म को 'अनिर्वचनीय' कहकर यह स्वीकार किया गया है कि उसके स्वरूप का वर्णन करना और उसका ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। यदि ब्रह्म के विषय में उपनिषदों का यह मत सत्य है तो उसके स्वरूप के वर्णन का संपूर्ण प्रयास व्यर्थ ही माना जाएगा। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि मानवीय रचनाएँ होने के कारण श्रुतिमूलक ग्रंथ स्वतः प्रामाण्य और असंदिग्ध रूप से सत्य नहीं हो सकते, अतः उन्हें ब्रह्म की सत्ता के लिए अंतिम प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जैसा कि हम इस खंड के प्रारंभ में बता चुके हैं, कुछ पाश्चात्य दार्शनिक भी ईश्वर को निर्वैयक्तिक सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं और उसे 'परमतत्त्व' की संज्ञा देते हैं। इन दार्शनिकों में शैलिंग, हीगेल, ग्रीन, ब्रैडले आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी दार्शनिक परमतत्त्व को सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता न मानकर उसे व्यक्तित्वरहित निरपेक्ष सत्ता मानते हैं। उनके विचार में समस्त गुणों, भेदों और उपाधियों से मुक्त यह परमतत्त्व ही विश्व की एकमात्र अंतिम सत्ता है। विश्व के समस्त पदार्थों तथा प्राणियों के रूप में वस्तुतः इसी परमतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि

विश्व में जो कुछ है वह सब परमतत्त्व का ही रूपांतर है। इस परमतत्त्व से पृथक और स्वतंत्र अन्य कोई सत्ता नहीं है। शैलिंग का विचार है कि परमतत्त्व असीम तथा समस्त गुणों से रहित सत्ता है। हीगेल के मतानुसार दिक् और काल परमतत्त्व में ही निहित हैं, अतः वह इन दोनों के द्वारा सीमित नहीं है। विश्व की सर्वव्यापी सत्ता यह असीम परमतत्त्व ही है। यह परमतत्त्व संपूर्ण विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। विश्व के समस्त पदार्थों तथा प्राणियों में इसी परमतत्त्व का विकास हुआ है, अतः वे सब किसी न किसी रूप में इससे अनिवार्यतः संवद्ध हैं। उनकी इस परमतत्त्व से पृथक और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। विश्व की विभिन्न वस्तुओं में इस परमतत्त्व के विकास का स्तर अवश्य भिन्न-भिन्न है। उदाहरणार्थ, भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों में परमतत्त्व का क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक विकास हुआ है। इस प्रकार हीगेल के विचार में परमतत्त्व ही विश्व की एकमात्र सर्वव्यापी असीम सत्ता है। हीगेल की भाँति ग्रीन भी परमतत्त्व को असीम, सर्वव्यापी तथा शाश्वत चैतन्य सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार यह चैतन्य सत्ता ही विश्व में सर्वत्र क्रियाशील है। इसी चैतन्य सत्ता द्वारा अनुप्राणित होने के कारण विश्व मूलतः आध्यात्मिक है। स्पिनोज़ा परमतत्त्व को 'ईश्वर' की संज्ञा देते हैं और यह मानते हैं कि वही विश्व की एकमात्र अंतिम सत्ता है। पुद्गल तथा मनस ईश्वर के ही अभिन्न अंश हैं, अतः उनकी ईश्वर से पृथक और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ब्रैडले के अनुसार परमतत्त्व सभी प्रकार के संवंधों से ऊपर है। इसका कारण यह है कि किसी से संवंधित होना अनिवार्यतः सापेक्ष होना है, किंतु परमतत्त्व पूर्णतः निरपेक्ष सत्ता है। इसी निरपेक्षता के कारण परमतत्त्व हमारे ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता। जो ज्ञान का विषय है वह अनिवार्यतः ज्ञाता से पृथक होता है, किंतु परमतत्त्व को विश्व की एकमात्र अंतिम सत्ता मानने के कारण ब्रैडले ज्ञाता और ज्ञेय का यह द्वैत स्वीकार नहीं करते। वे परमतत्त्व को संवंधनिरपेक्ष अज्ञेय सत्ता मानते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शंकर के ब्रह्म की भाँति पाश्चात्य दार्शनिकों का परमतत्त्व भी निर्गुण, निर्वैयक्तिक, असीम, शाश्वत एवं निरपेक्ष सत्ता है।

प्रस्तुत अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या ब्रह्म अथवा परमतत्त्व का धार्मिक दृष्टि से कोई महत्त्व है। यह सत्य है कि ब्रह्म या परमतत्त्व की अवधारणा में वे सब कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ नहीं हैं जो सगुण, साकार एवं व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा में पाई जाती हैं और जिन की चर्चा हम पिछले खंडों में कर चुके हैं। इसका अर्थ यह है कि दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म अथवा परमतत्त्व की अवधारणा सगुण और व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर की अवधारणा की अपेक्षा शायद अधिक युक्तिसंगत मानी जा सकती है। परंतु धार्मिक दृष्टि से ब्रह्म या परमतत्त्व की अवधारणा की कोई विशेष उपादेयता प्रतीत नहीं होती। भक्त के लिए उपासना का अत्यधिक महत्त्व है। वह ईश्वर को उपास्य मानकर उसकी पूजा करता है और उसके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करता है। जैसा कि हम पहले ही अनेक बार स्पष्ट कर चुके हैं, इस उपासना के लिए भक्त और ईश्वर में भेद या द्वैत का होना अनिवार्य है, क्योंकि इन दोनों में भेद के बिना उपासना संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त उपासना के लिए ईश्वर का सगुण और व्यक्तित्वसंपन्न होना भी अनिवार्य है। जो ईश्वर भक्त की प्रार्थना सुनकर उसकी सहायता नहीं कर सकता उसका भक्त के लिए कोई महत्त्व नहीं हो सकता। इसी कारण भक्त ईश्वर में मानवीय गुणों को आरोपित करके उसे व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता मानता है। परंतु ब्रह्म अथवा परमतत्त्व में विश्वास करने वाले दार्शनिक किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि उनके मतानुसार भक्त तथा ईश्वर एक ही हैं और उनमें कोई भेद नहीं है। भक्त और ईश्वर में द्वैत का निषेध करने के साथ-साथ ये दार्शनिक ईश्वर के समस्त गुणों तथा व्यक्तित्व का भी निषेध करते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्म या परमतत्त्व निश्चय ही भक्तों की उपासना का विषय नहीं हो सकता और इसी कारण उनके लिए उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वस्तुतः इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए ही शंकर ने ब्रह्म के साथ-साथ व्यावहारिक दृष्टि से सगुण तथा साकार ईश्वर की अवधारणा को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दार्शनिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत होते हुए भी ब्रह्म अथवा परमतत्त्व की अवधारणा धार्मिक दृष्टि से उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती।

इस आपत्ति के उत्तर में कुछ विचारक यह कह सकते हैं कि सगुण तथा साकार ईश्वर की अवधारणा में अनेक गंभीर कठिनाइयाँ हैं और फिर यह अवधारणा भी धर्म के लिए अनिवार्य नहीं है। उनका यह मत निश्चय ही उचित है, किंतु इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म या परमतत्त्व की अवधारणा में भी बहुत-सी दार्शनिक कठिनाइयाँ हैं और इस अवधारणा को भी धर्म के लिए अनिवार्य नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से इन दोनों अवधारणाओं की स्थिति समान ही है। वस्तुतः धर्म के लिए न तो सगुण तथा साकार ईश्वर की अवधारणा अनिवार्य है और न निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म अथवा परमतत्त्व की अवधारणा। इन दोनों अवधारणाओं में विश्वास न करने वाला व्यक्ति भी धर्मपरायण हो सकता है। जैन तथा बौद्ध धर्मों के अनुयायी इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना धर्म के लिए आवश्यक नहीं है। यह सत्य है कि कुछ धर्मों का मूल आधार ईश्वर ही रहा है जिसके कारण उन्हें 'ईश्वरवादी धर्म' कहा जाता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वरवाद धर्म का अनिवार्य अंग है। यह कहना निश्चय ही उचित नहीं होगा कि जो व्यक्ति किसी भी अर्थ में ईश्वरवाद को स्वीकार नहीं करता वह धर्म में भी निष्ठा नहीं रखता। वस्तुतः निरीश्वरवाद और धर्म में कोई अपरिहार्य विरोध नहीं है, अतः इन दोनों का सह-अस्तित्व संभव है। विश्व में प्रचलित अनेक निरीश्वरवादी धर्म इसी तथ्य को भलीभाँति प्रमाणित करते हैं। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सगुण तथा साकार ईश्वर और ब्रह्म या परमतत्त्व ये दोनों ही अवधारणाएँ धर्म के व्यापक अर्थ में उसके लिए अनिवार्य नहीं हैं।

5

प्रार्थना का स्वरूप और उसकी दार्शनिक समस्याएँ

1. प्रार्थना का स्वरूप, उद्देश्य तथा उद्गम

धर्म के स्वरूप की व्याख्या करते हुए प्रथम अध्याय में हम बता चुके हैं कि किसी अलौकिक, अतिप्राकृतिक या दैवी शक्ति अथवा सत्ता में मनुष्य का विश्वास धर्म का मूल आधार तथा अनिवार्य तत्त्व है। वस्तुतः धर्म का यही तत्त्व उसे दर्शन और विज्ञान दोनों से पृथक करता है जिनका मुख्य आधार आस्था न होकर तर्कबुद्धि है। दार्शनिक तथा वैज्ञानिक के विपरीत धर्मपरायण व्यक्ति अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति अपने इस आस्थापूर्ण दृष्टिकोण के अनुरूप ही जीवन और जगत् की समस्याओं पर विचार करता है। उसके जीवन में अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति अखंड आस्था अथवा श्रद्धा का सर्वोपरि स्थान होता है। यही आस्था या श्रद्धा धर्मपरायण व्यकित के मन में प्रार्थना, पूजा अथवा उपासना को जन्म देती है जो धर्म का अनिवार्य अंग है और जिसके माध्यम से धार्मिक अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति होती है।

विश्व के सभी धर्मों में—चाहे वे अविकसित हों या विकसित, ईश्वरवादी हों या निरीश्वरवादी—पूजा उपासना अथवा प्रार्थना किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती है। दूसरे अध्याय में धर्म के उद्गम और विकास पर विचार करते हुए हम सोदाहरण यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अविकसित आदिम धर्मों में देवी-देवताओं से की जाने वाली प्रार्थना का प्रमुख स्थान था। तब मनुष्य भोजन, आश्रय, सुरक्षा आदि जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अतिप्राकृतिक शक्तियों से प्रार्थना करता था। कालांतर में मानवीय सभ्यता का पर्याप्त विकास हो जाने पर भी इस स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं आया। भारत में वैदिक धर्म इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वेद-मंत्रों में इंद्र, अग्नि, वरुण, सूर्य आदि देवताओं के प्रति जो प्रार्थनाएँ पाई जाती हैं उनका मुख्य उद्देश्य मानव—जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुख-समृद्धि ही है। इस तथ्य की विवेचना हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं, अतः यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि विकसित और उन्नत माने जाने वाले वैदिक धर्म की प्रार्थनाओं का उद्देश्य भी अविकसित आदिम धर्मों की प्रार्थनाओं के उद्देश्य से मूलतः भिन्न नहीं था। वैदिक धर्म के समान ही यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम आदि ईश्वरवादी धर्मों में भी मुख्यतः इसी प्रकार की प्रार्थनाएँ पाई जाती हैं परंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रार्थना केवल ईश्वरवादी धर्मों तक ही सीमित नहीं है। जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि निरीश्वरवादी धर्मों में भी प्रार्थना, पूजा या उपासना का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन धर्मों के अनुयायी भी ईश्वर के स्थान पर कुछ अन्य अतिप्राकृतिक सत्ताओं में आस्था रखते हैं, अतः वे भी मंदिरों में इन सत्ताओं की पूजा या उपासना करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रार्थना, पूजा अथवा उपासना धर्म का अनिवार्य तत्त्व है जिसके अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना करना संभव नहीं है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि प्रार्थना का स्वरूप क्या है अथवा उसकी परिभाषा कैसे दी जा सकती है। इस प्रश्न का कोई स्पष्ट तथा निश्चित उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि अभी तक प्रार्थना की कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो सर्वमान्य और पूर्णतः दोषरहित हो। **फिर भी प्रार्थना के मूल तत्त्वों अथवा उसकी आधारभूत मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि प्रार्थना आस्था पर आधारित वह धार्मिक कृत्य है जिसके माध्यम से उपासक किसी अतिप्राकृतिक उपास्य सत्ता के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करता है, जिसके द्वारा वह स्वयं अपने लिए या दूसरों के लिए इस उपास्य सत्ता से सुख, समृद्धि तथा शांति की याचना करता है और आशा करता है कि उसकी यह याचना स्वीकार की जाएगी तथा जिसके माध्यम से उपास्य सत्ता के प्रति उसकी उपार श्रद्धा एवं विनम्रता की अभिव्यक्ति होती है।** अब हम संक्षेप में प्रार्थना की इस परिभाषा के कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की व्याख्या करेंगे जिन्हें प्रार्थना की अनिवार्य आधारभूत मान्यताएँ भी कहा जा सकता है।

(1) उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि यहाँ 'प्रार्थना' शब्द का प्रयोग ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता की पूजा अथवा उपासना के अर्थ में ही किया जा रहा है, मानवीय संदर्भों में प्रयुक्त इसके सामान्य अर्थ में नहीं। इस विशेष धार्मिक अर्थ में सर्वप्रथम किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व में उपासक की आस्था प्रार्थना का आवश्यक आधारभूत तत्त्व है। यह शक्ति ईश्वर या कोई अन्य देवी अथवा देवता हो सकता है जिसमें उपासक आस्था रखता है। इस शक्ति का अलौकिक, अतींद्रिय या अतिप्राकृतिक होना अनिवार्य है। वस्तुतः ऐसी शक्ति के अस्तित्व में आस्था के बिना प्रार्थना संभव नहीं है। विश्व के सभी धर्म किसी न किसी रूप में ऐसी शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, अतः प्रत्येक धर्म में प्रार्थना, पूजा या उपासना को विशेष महत्त्व दिया जाता है। संपूर्ण संसार में मंदिरों, गुरुद्वारों, गिरजाघरों, मस्जिदों अथवा अन्य धार्मिक स्थलों का उपस्थित होना इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।

(2) प्रार्थना के माध्यम से उपासक अपने आराध्य देवता के प्रति श्रद्धापूर्वक पूर्ण आत्म-समर्पण करता है। उपासक द्वारा देवता के प्रति इस आत्म-समर्पण के बिना वास्तविक अर्थ में प्रार्थना संभव नहीं है, अतः यह आत्म-समर्पण प्रार्थना का अनिवार्य तत्त्व है। इसी तत्त्व के कारण प्रार्थना में तर्कबुद्धि के स्थान पर केवल श्रद्धा को ही महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार आराध्य देवता के प्रति उपासक का श्रद्धाजनित आत्म-समर्पण प्रार्थना का आधारभूत तत्त्व है जो उपासक तथा उपास्य में गहन आत्मीय संबंध स्थापित करता है।

(3) प्रार्थना द्वारा उपासक अपने आराध्य देवता से किसी ऐसी वस्तु की याचना करता है जिसका उसके लिए बहुत महत्त्व है और जिसे वह स्वयं अपने तथा अपने सहयोगियों के प्रयास के फलस्वरूप प्राप्त करने में असमर्थ है। उपासक प्रार्थना द्वारा अपने उपास्य देवता से स्वयं अपने लिए या दूसरों के लिए सुख-समृद्धि के भौतिक साधनों, मानसिक शांति, चारित्रिक उत्कृष्टता अथवा अपने पापों के लिए क्षमा की याचना कर सकता है। विश्व के धर्मों में पाई जाने वाली प्रार्थनाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आदिकाल से

मनुष्य उपर्युक्त सभी उद्देश्यों अथवा इनमें से किसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने उपास्य देवता से प्रार्थना करता रहा है। वह किसी ऐसी वस्तु के लिए प्रार्थना का सहारा नहीं लेता जिसे वह स्वयं अपने अथवा अपने साथियों के प्रयास द्वारा प्राप्त कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि किसी न किसी रूप में मनुष्य की असमर्थता से ही प्रार्थना का जन्म होता है, अतः इस असमर्थता को भी प्रार्थना का अनिवार्य मूल तत्त्व माना जा सकता है।

(4) अपने आराध्य देवता से प्रार्थना करते समय उपासक यह आशा करता है कि उसका उपास्य देवता उसकी प्रार्थना को स्वीकार करेगा और उसकी मनोवांछित वस्तु उसे अवश्य प्रदान करेगा। यदि उपासक के मन में यह आशा और विश्वास न हो कि उसकी प्रार्थना स्वीकार की जाएगी तो वह प्रार्थना नहीं कर सकेगा। इसी कारण सच्चा उपासक प्रार्थना कीप्रभावशीलता में कभी संदेह नहीं करता। उसके मन में सदा यह दृढ़ विश्वास बना रहता है कि अपने आराध्य देवता से की गई उसकी प्रार्थना कभी भी व्यर्थ नहीं जाएगी। अपने इसी विश्वास के कारण उपासक प्रार्थना द्वारा ऐसे चमत्कारों का होना संभव मानता है जिन्हें सामान्यतः असंभव समझा जाता है। इस प्रकार प्रार्थना की प्रभावशीलता में उपासक का दृढ़ विश्वास भी प्रार्थना का अनिवार्य मूल तत्त्व है।

(5) प्रार्थना के माध्यम से उपासक अपने उपास्य देवता के प्रति अपनी गहरी विनयशीलता और विनम्रता अभिव्यक्त करता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रार्थना का जन्म उपासक की असमर्थता के परिणामस्वरूप होता है। ऐसी स्थिति में अपने उपास्य देवता के समक्ष अपने आप को तुच्छ समझना उसके लिए स्वाभाविक ही है। मनोवांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए वह अत्यंत नम्रतापूर्वक अपने आराध्य देवता से निवेदन करता है। सभी धर्मों की प्रार्थनाओं में उपास्य देवता के प्रति यह नम्र निवेदन किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। वस्तुतः यही तत्त्व प्रार्थना को जादू से पृथक करता है जिसमें मंत्र-बल द्वारा कार्य-सिद्धि के लिए प्रयास किया जाता है। इस प्रकार उपासक की विनयशीलता अथवा उसके नम्र निवेदन को भी प्रार्थना का आवश्यक तत्त्व माना जा सकता है। **संक्षेप में किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता अथवा शक्ति में उपासक की आस्था, आराध्य देवता के प्रति उसका पूर्ण आत्म-समर्पण, उपासक की असहायता या असमर्थता, अपने उपास्य देवता से मनोवांछित परिणाम प्राप्त करने की आशा और उपासक की श्रद्धाजनित विनम्रता प्रार्थना के अनिवार्य मूल तत्त्व अथवा उसकी आवश्यक आधारभूत मान्यताएँ हैं।**

प्रार्थना या उपासना के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उसका लक्ष्य अथवा प्रयोजन क्या है-अर्थात् उपासक प्रार्थना क्यों करता है। इस प्रश्न का भी कोई निश्चित और सर्वमान्य उत्तर देना संभव नहीं है, क्योंकि विभिन्न उपासक भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से प्रेरित होकर प्रार्थना या उपासना करते हैं अथवा कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति या समुदाय केवल अपनी शुख-समृद्धि तथा मानसिक शांति के लिए प्रार्थना कर सकता है। इसके विपरीत कोई अन्य व्यक्ति अथवा समुदाय संपूर्ण मानव-जाति और सभी प्राणियों के कल्याण के लिए प्रार्थना कर सकता है। इस प्रकार प्रयोजन की दृष्टि से प्रार्थना या उपासना को स्वार्थमूलक तथा परोपकारमूलक

इन दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। विश्व के विकसित धर्मों में इन दोनों प्रकार की प्रार्थनाओं के उदाहरण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। वैदिक धर्म में स्वयं अपनी सुख-समृद्धि तथा शांति के लिए विभिन्न देवी-देवताओं से की जाने वाली प्रार्थनाओं का उल्लेख हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। ईसाई धर्म, इस्लाम आदि अन्य धर्मों में भी इसी प्रकार की प्रार्थनाएँ पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं इस प्रकार की प्रार्थनाओं को 'अभ्यर्थनामूलक प्रार्थनाएँ' भी कहा जाता है जो स्वार्थमूलक प्रार्थनाओं के स्पष्ट उदाहरण हैं। बहुत-से व्यक्ति तथा समुदाय आज भी ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति से इसी प्रकार की अभ्यर्थनामूलक प्रार्थनाएँ करते हैं।

परंतु इन स्वार्थमूलक प्रार्थनाओं के अतिरिक्त दूसरों के कल्याण तथा उनकी सुख-समृद्धि एवं शांति के लिए की जाने वाली परोपकारमूलक प्रार्थनाएँ भी विकसित धर्मों में उपलब्ध होती हैं। हिंदू धर्म में पाई जाने वाली निम्नलिखित प्रार्थना इस प्रकार की परोपकारमूलक प्रार्थना का बहुत उपयुक्त उदाहरण है:—"सभी सुखी हों; सब निरापद रहें; सभी का कल्याण हो; किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो।" विभिन्न धर्मों में उपलब्ध होने वाली इस प्रकार की परोपकारमूलक प्रार्थनाओं के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ऐसी प्रार्थनाओं को स्वार्थमूलक प्रार्थनाओं की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से निश्चय ही अधिक उत्कृष्ट माना जा सकता है, क्योंकि नैतिकता विशुद्ध स्वार्थ का निषेध करते हुए दूसरों के कल्याण अथवा हित को ही प्रश्रय देती है। इस प्रकार नैतिकता के दृष्टिकोण से विचार करने पर उपासक की स्वार्थपरायणता और परोपकारात्मकता के अनुपात के आधार पर ही किसी प्रार्थना की निकृष्टता या उत्कृष्टता का निर्णय किया जा सकता है। परंतु यदि प्रार्थना पर इस दृष्टिकोण से विचार न भी किया जाए तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में उपासक की आत्मतुष्टि ही प्रार्थना अथवा उपासना का मूल उद्देश्य है। विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में प्रार्थना द्वारा इस आत्मतुष्टि या मानसिक संतोष का अनुभव करते हैं। कुछ व्यक्तियों को स्वयं अपने तथा अपने परिवार के सुख के लिए प्रार्थना कर के आत्मतुष्टि प्राप्त होती है और कुछ अन्य व्यक्तियों को दूसरों के हित अथवा कल्याण के लिए प्रार्थना कर के। कुछ व्यक्तियों को ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति की पूजा अथवा उसके गुण-गान द्वारा ही अपार मानसिक शांति का अनुभव होता है। इस प्रकार उपासकों की आत्मलुष्टि के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और होते हैं, किंतु उपासना या प्रार्थना का प्रमुख लक्ष्य किसी न किसी रूप में यह अत्मलुष्टि प्राप्त करना ही होता है।

प्रार्थना अथवा उपासना के स्वरूप तथा उद्देश्य के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि मानव-जीवन में सर्वप्रथम इसका उद्गम कैसे और क्यों हुआ। हम देख चुके हैं कि प्रार्थना धर्म का अनिवार्य अंग है, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि आदिकालीन मानव के जीवन में धर्म के उदय के साथ ही इसका भी उद्गम हुआ। दूसरे अध्याय में धर्म के उद्गम तथा विकास के कारणों की विवेचना करते हुए हम सविस्तार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करने वाले आदि मानव ने भय, असुरक्षा, असमर्थता एवं अनभिज्ञता के कारण अनेक अलौकिक या अतिप्राकृतिक देवी-देवताओं की कल्पना की जिसके परिणामस्वरूप धर्म की उत्पत्ति हुई।

वस्तुतः मानव-जीवन में प्रार्थना या उपासना के उद्‌गम के भी यही मूल कारण हैं। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आदिकालीन मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अत्यधिक प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करना पड़ता था। वह सर्वदा ऐसे अनेक हिंसक पशुओं से घिरा रहता था जो अत्यंत भयानक तथा उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली थे और जो उसे निरंतर भयत्रस्त किए रहते थे। इसके अतिरिक्त आंधी, तूफ़ान, बाढ़, भूकम्प आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण भी उसका जीवन सदा अत्यधिक संकटग्रस्त रहता था। आदिकालीन मानव प्रकृति के नियमों तथा उन प्राकृतिक शक्तियों के स्वरूप के विषय में भी पूर्णतः अनभिज्ञ था जिन पर उसका संपूर्ण जीवन निर्भर था। इन प्रतिकूल परस्थितियों में अत्यधिक भयभीत रहना तथा अपने आप को पूर्णतया असहाय और असमर्थ अनुभव करना उसके लिए स्वाभाविक ही था। इस असमर्थता और अनभिज्ञता से उत्पन्न भय तथा असुरक्षा के कारण ही आदिकालीन मनुष्य ने नाना प्रकार के देवी-देवताओं की कल्पना की थी जिनसे वह अपने जीवन की सुरक्षा एवं मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरंतर प्रार्थना करता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि ये देवी-देवता संकटों तथा विपदाओं से उसकी रक्षा कर सकते हैं और भोजन, आश्रय आदि उसकी मूल आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदिकालीन मानव की असमर्थता तथा अनभिज्ञता ही प्रार्थना अथवा उपासना के उद्‌गम के मूल कारण थे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रार्थना के उपर्युक्त मूल कारण मानव-जीवन में आज भी पर्याप्त सीमा तक विद्यमान हैं। यह सत्य है कि अद्‌भुत वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप वर्तमान युग का मनुष्य आदिकालीन मानव की अपेक्षा कहीं अधिक सुरक्षित, ज्ञानवान तथा शक्तिशाली है, किंतु फिर भी जीवन के बहुत-से क्षेत्रों में वह आज भी अपने आप को नितांत असहाय और असमर्थ पाता है। उदाहरणार्थ, वह आज भी बाढ़, तूफ़ान, भूकम्प, अकाल, सूखा आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारणों को समझने तथा उन्हें नियंत्रित करने में पूर्णतः सफल नहीं हो सका है। इन प्राकृतिक विपत्तियों में फंस कर वह आज भी अपने आपको असहाय तथा असमर्थ अनुभव करता है। प्राकृतिक शक्तियों तथा नियमों के विषय में मनुष्य का ज्ञान अब भी बहुत सीमित है। इसके अतिरिक्त वह आज भी अनेक भयंकर रोगों को पूर्णतया नियंत्रित करने में असमर्थ है, क्योंकि वह इनके मूल कारणों को भलीभाँति नहीं जानता। चिकित्सा-विज्ञान में पर्याप्त प्रगति हो जाने पर भी आधुनिक मनुष्य प्रायः अनेक शारीरिक तथा मानसिक रोगों से ग्रस्त रहता है और वह अभी तक इनसे मुक्त होने के प्रभावशाली उपाय नहीं खोज पाया है। प्राकृतिक विपत्तियों की भाँति इन असाध्य भयंकर रोगों से गस्त हो जाने पर भी वह अपने आप को नितांत असहाय अनुभव करता है। यही कारण है कि ऐसा कठिन परिस्थितियों में आधुनिक मनुष्य भी आदिकालीन मानव के समान ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति से सहायता और रक्षा की प्रार्थना करने लगता है। इस प्रार्थना के फलस्वरूप वह भी अपने आप को उसी प्रकार सुरक्षित अनुभव करता है जिस प्रकार आदिकालीन मनुष्य करता था। वस्तुतः इस दृष्टि से उसकी स्थिति आदिकालीन मानव की स्थिति से मूलतः भिन्न नहीं है। आधुनिक मनुष्य के जीवन में प्रार्थना के अवसर अपेक्षाकृत कुछ कम अवश्य हुए हैं, किंतु वे समाप्त नहीं हुए। इस प्रकार वर्तमान युग में अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति हो जाने पर भी मानव-जीवन में अनभिज्ञता,

असमर्थता, भय, असुरक्षा आदि वे सभी मूल कारण किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं जिन्होंने आदिकालीन मनुष्य के जीवन में प्रार्थना को जन्म दिया था; इसी कारण अपने पूर्वजों की भाँति आधुनिक मनुष्य भी प्रार्थना की आवश्यकता का बड़ी तीव्रता से अनुभव करता है और तब तक करता रहेगा जब तक उसके जीवन में ये कारण बने रहेंगे।

2. ईश्वर विषयक प्रार्थना की कुछ प्रमुख दार्शनिक कठिनाइयाँ

यह सत्य है कि निरीश्वरवादी धर्म किसी न किसी प्रकार की अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करते हैं और इसी कारण इन धर्मों में भी प्रार्थना अथवा उपासना को बहुत महत्त्व दिया जाता है। परंतु ये धर्म ऐसे ईश्वर की अवधारणा में विश्वास नहीं करते जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, नित्य, असीम, अत्यंत दयालु, पूर्ण रूप से शुभ तथा प्रेममय व्यक्तित्वसंपन्न सत्ता है और जो जगत् का रचयिता, पालनकर्ता, प्रशासक एवं संहारक है। इसी कारण इन निरीश्वरवादी धर्मों में ऐसे ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना के लिए भी कोई स्थान नहीं है। स्पष्ट है कि इन धर्मों में पाई जाने वाली प्रार्थना के विषय में वे दार्शनिक कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं होती जो उपर्युक्त ईश्वर की अवधारणा में विश्वास करने वाले धर्मों की प्रार्थना के संबंध में अनिवार्यतः उपस्थित होती हैं। निरीश्वरवादी धर्मों की प्रार्थना के विषय में केवल यही मूल समस्या है कि उस अतिप्राकृतिक सत्ता को कैसे प्रमाणित किया जा सकता है जिसमें वे विश्वास करते हैं और जिसकी इन धर्मों के अनुयायी उपासना करते हैं। परंतु ईश्वरवादी धर्मों में ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना के संबंध में इस समस्या के अतिरिक्त अन्य अनेक दार्शनिक कठिनाइयाँ भी उपस्थित होती हैं जिनका कोई तर्कसंगत और संतोषप्रद समाधान संभव प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत खंड में ईश्वर विषयक प्रार्थना की इन्हीं दार्शनिक कठिनाइयों पर संक्षेप में विचार किया जाएगा।

ईश्वरोपासक ईश्वर से जो प्रार्थना करते हैं उसका मूल आधार सगुण तथा व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर की वह अवधारणा ही है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। ये उपासक ऐसे ईश्वर के अस्तित्व में असंदिग्ध रूप से दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं। इनके मतानुसार ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करना घोर पाप तथा अधार्मिक कृत्य है। परंतु ईश्वर के अस्तित्व के विषय में ईश्वरवादियों के इस विश्वास का कोई तार्किक आधार नहीं है। अभी तक ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं वे सभी तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण सिद्ध हुए हैं। पाश्चात्य दर्शन में कान्ट, ह्यूम आदि दार्शनिकों ने और भारत में चार्वाक, जैन, बौद्ध तथा मीमांसा दर्शनों ने इन प्रमाणों को प्रबल तर्कों द्वारा अयुक्तिसंगत प्रमाणित कर दिया है। ईश्वर विषयक इन प्रमाणों के प्रमुख दोषों की विवेचना हम तीसरे अध्याय में सविस्तार कर चुके हैं, अतः इनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं हैं। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिए गए प्रमाणों को दोषपूर्ण सिद्ध करने के साथ-साथ अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने उसके अस्तित्व के विरुद्ध भी बहुत-से प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जिनका विवेचन इस पुस्तक में यथास्थान आगे किया जाएगा। इस प्रकार ईश्वर के समर्थन में दिए गए दोषपूर्ण प्रमाणों तथा उसके विरुद्ध प्रस्तुत किए गए प्रबल तर्कों से यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर का अस्तित्व अत्यंत

संदेहास्पद है। ऐसी स्थिति में ईश्वर विषयक प्रार्थना का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। यदि ईश्वर का अस्तित्व ही संदिग्ध है तो उससे प्रार्थना करना निरर्थक तथा अयुक्तिसंगत ही माना जाएगा। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर विषयक प्रार्थना का मूल आधार ही अत्यंत दुर्बल है।

फिर यदि ईश्वर के विरुद्ध समस्त प्रबल तर्कों की उपेक्षा करते हुए उसके अस्तित्व को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी ईश्वर से की जाने वाली प्रार्थना दार्शनिक कठिनाइयों से मुक्त नहीं हो जाती। सर्वप्रथम इस प्रार्थना के लिए ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा में विश्वास करना अनिवार्य है जिसके विरुद्ध अनेक गंभीर दार्शनिक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। इन आपत्तियों का उल्लेख हम पिछले अध्याय में इस अवधारणा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पहले ही कर चुके हैं, अतः यहाँ इनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा के विरुद्ध इन आपत्तियों के अतिरिक्त उसके कुछ आवश्यक गुणों के कारण भी ईश्वर विषयक प्रार्थना के लिए बहुत-सी गंभीर दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। पिछले अध्याय में हम देख चुकें हैं कि सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, नित्यता, पूर्ण शुभत्व, दयालुता आदि गुणों को ईश्वर के अनिवार्य गुण माना जाता है। ये सभी गुण ईश्वर विषयक प्रार्थना के संबंध में ऐसी अनेक दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं जिनका तर्कसंगत एवं संतोषप्रद समाधान संभव प्रतीत नहीं होता। यदि इस प्रकार की प्रार्थना पर तार्किक दृष्टि से विचार किया जाए तो इसके विषय में ये दार्शनिक कठिनाइयाँ अनिवार्यतः उत्पन्न होती हैं। यहाँ हम इनमें से कुछ मुख्य कठिनाइयों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

हम देख चुके हैं कि ईश्वरोपासक ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर जगत् की सभी वस्तुओं तथा भूत,वर्तमान और भविष्यत की समस्त घटनाओं को भली भाँति जानता है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे वह अनभिज्ञ हो। अब यदि ईश्वर इस अर्थ में सर्वज्ञ है तो प्रार्थना निरर्थक और अनावश्यक हो जाती है। इसका कारण यह है कि ईश्वर पहले से ही भली-भाँति जानता है कि उपासक उससे क्या प्राप्त करना चाहता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर उपासक की समस्त आकांक्षाओं तथा कामनाओं से पूर्णतः परिचित है। ऐसी स्थिति में उपासक के लिए ईश्वर से भौतिक सुख-समृद्धि अथवा मानसिक शांति प्रदान करने की प्रार्थना करना व्यर्थ और अनावश्यक ही माना जाएगा। ईश्वर से ऐसी प्रार्थना करने का अर्थ है उसकी सर्वज्ञता का निषेध करना अर्थात यह मान लेना कि वह उपासक की इच्छा तथा आकांक्षा से अनभिज्ञ है। इस प्रकार प्रार्थना और ईश्वर की सर्वज्ञता में तर्कसंगत रूप से संगति स्थापित करना संभव नहीं है, क्योंकि इन दोनों में परस्पर ऐसा विरोध है जिसे कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता। परंतु ईश्वरोपासक ईश्वर को सर्वज्ञ भी मानते हैं और इसके साथ ही प्रार्थना की उपादेयता एवं आवश्यकता को भी स्वीकार करते हैं जिससे उनके विचारों में अनिवार्यतः स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है।

ईश्वर की सर्वज्ञता की भाँति उसके अन्य दो गुण—सर्वशक्तिमत्ता और पूर्ण शुभत्व अथवा अत्यधिक दयालुता—भी प्रार्थना को अनावश्यक बना देते हैं। हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर अपनी इच्छानुसार सब कुछ कर सकता है; ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे करना उसके लिए

असंभव हो। इसके साथ ही वे ईश्वर को पूर्ण रूप से शुभ या अत्यंत दयालु भी मानते हैं। उनका कथन है कि ईश्वर ही सभी प्राणियों का पिता है, अतः वह उन सबके प्रति अत्यंत दयालु है। यदि ईश्वरवादियों की ये दोनों मान्यताएँ सत्य हैं तो प्रार्थना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। हम देख चुके हैं कि भक्त अपनी किसी कामना या आवश्यकता से प्रेरित होकर ही ईश्वर से प्रार्थना करता है। इस का अर्थ यह है कि भक्त के जीवन में किसी प्रकार का अभाव प्रार्थना के लिए अनिवार्य है। अब यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो वह निश्चय ही भक्त के जीवन में अभाव उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को पूर्णतः समाप्त कर सकता है और यदि वह अत्यंत दयालु भी है तो उसे ऐसा अवश्य करना चाहिए। स्पष्ट है कि ऐसे सर्वशक्तिमान तथा अत्यंत दयालु ईश्वर से प्रार्थना करने का कोई औचित्य नहीं हो सकता। यदि ईश्वर भक्त के जीवन में अभाव उत्पन्न करने वाली दुखद परिस्थितियों को समाप्त नहीं कर सकता तो उसे सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता और यदि वह ऐसा नहीं करना चाहता तो उसे अत्यंत दयालु नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार ईश्वर को सर्वशक्तिमान और अत्यंत दयालु मान लेने पर प्रार्थना की आवश्यकता तथा उसके औचित्य को तर्कसंगत रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

ईश्वर के उपर्युक्त गुणों की भाँति उसकी नित्यता के कारण भी प्रार्थना व्यर्थ और अनावश्यक हो जाती है। पिछले अध्याय में हम देख चुकें हैं कि ईश्वरवादी ईश्वर को नित्य अथवा शाश्वत मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि उसके स्वरूप में कभी भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वह सर्वदा निर्विकार तथा अपरिवर्तनशील ही बना रहता है। यहाँ कठिनाई यह है कि यदि ईश्वर इस अर्थ में नित्य है तो प्रार्थना पूर्णतः व्यर्थ हो जाती है। हम ऊपर बता चुके हैं कि उपासक कोई विशेष मनोवांछित परिणाम उत्पन्न करने के लिए ही ईश्वर से प्रार्थना करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपनी प्रार्थना द्वारा ईश्वर में उसे मनोवांछित वस्तु प्रदान करने की इच्छा उत्पन्न करना चाहता है। वह यह आशा भी करता है कि ईश्वर उस की प्रार्थना को अवश्य स्वीकार करेगा। परंतु उपासक यह भूल जाता है कि नित्य माने जाने वाले ईश्वर पर उसकी इस प्रार्थना का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि ऐसे ईश्वर का निर्विकार और अपरिवर्तनशील बने रहना अनिवार्य है। यदि ईश्वर उपासक की प्रार्थना को स्वीकार करता है तो इसका अर्थ यह है कि उसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य होता है। इस परिवर्तन का कारण यह है कि उपासक की प्रार्थना को स्वीकार करने के फलस्वरूप ईश्वर में उसे कोई मनोवांछित वस्तु प्रदान करने की वह इच्छा उत्पन्न होती है जो उसमें पहले से विद्यमान नहीं थी। स्पष्ट है कि प्रार्थना की प्रभावशीलता और ईश्वर की नित्यता इन दोनों को तर्कसंगत रूप से एक साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन में परस्पर अनिवार्य विरोध है। यदि ईश्वर प्रार्थना से प्रभावित होता है तो उसे नित्य नहीं माना जा सकता और यदि वह वास्तव में नित्य है तो उस पर प्रार्थना का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। परंतु ईश्वरवादी इस गंभीर दार्शनिक कठिनाई की उपेक्षा करते हुए ईश्वर को नित्य भी मानते हैं और इसके साथ ही उससे मनोवांछित वस्तु प्रदान करने की प्रार्थना भी करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनके विचारों में अनिवार्यतः स्वतोव्याघात आ जाता है। संक्षेप में ईश्वर की नित्यता से संबंधित विश्वास के साथ प्रार्थना की प्रभावशीलता की

तार्किक संगति स्थापित करना संभव नहीं है, अतः इन दोनों को एक साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वर के कुछ महत्त्वपूर्ण गुण प्रार्थना के लिए ऐसी अनेक गंभीर दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न करते हैं जिनका युक्तिसंगत समाधान असंभव है। ईश्वर के इन गुणों के अतिरिक्त ईश्वरवादियों की एक अन्य मान्यता भी प्रार्थना को अनावश्यक बना देती है। इस मान्यता का संबंध ईश्वर की दोषरहित योजना के अनुसार जगत् की रचना से है। ईश्वरवादी यह मानते हैं कि ईश्वर ने एक विशेष योजना के अनुसार इस विश्व की रचना की है और उसकी इस योजना में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। जो ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा अत्यंत दयालु है उसकी विश्व-रचना संबंधी योजना में निश्चय ही कोई दोष नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर द्वारा रचित यह विश्व सभी दृष्टियों से पूर्ण तथा दोषरहित है। अब यदि ईश्वरवादियों की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाए तो इस दोषरहित विश्व में प्रार्थना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। इसका कारण यह है कि ऐसे विश्व में किसी व्यक्ति को किसी प्रकार के अभाव या दुःख का अनुभव हो ही नहीं सकता जिसके बिना प्रार्थना संभव नहीं है। हम देख चुके हैं कि भक्त अपने किसी अभाव अथवा दुःख के निराकरण के लिए ही ईश्वर से प्रार्थना करता है। परंतु ईश्वर की दोषरहित योजना के अनुसार रचित विश्व में भक्त को न तो कोई कष्ट हो सकता है और न वह किसी प्रकार के अभाव का अनुभव कर सकता है, अतः उसके जीवन में प्रार्थना की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यदि वह प्रार्थना करता है तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर की विश्व-रचना संबंधी योजना में कोई त्रुटि अथवा दोष है जिसके फलस्वरूप उसे किसी कष्ट या अभाव का अनुभव होता है जो उसकी प्रार्थना का कारण बनता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर की दोषरहित योजना के अनुसार विश्व-रचना संबंधी ईश्वरवादियों के विश्वास के साथ तर्कसंगत रूप से मानव-जीवन में प्रार्थना की आवश्यकता और उपादेयता को स्वीकार करना संभव नहीं है।

ईश्वर विषयक प्रार्थना की दार्शनिक कठिनाइयों के इस विवेचन को समाप्त करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये सभी कठिनाइयां प्रार्थना पर तार्किक दृष्टि से विचार करने वाले दार्शनिक के लिए ही हैं, ईश्वरोपासक या भक्त के लिए नहीं। हम प्रथम अध्याय में यह बता चुके हैं कि जीवन और जगत के संबंध में भक्त का दष्टिकोण दार्शनिक के दृष्टिकोण से मूलतः भिन्न होता है। दार्शनिक प्रत्येक समस्या पर निष्पक्ष रूप से चिंतन करते हुए केवल उन्हीं निष्कर्षों को स्वीकार करता है जो तर्कों या प्रमाणों द्वारा प्रमाणित होते हैं। इसके विपरीत भक्त का दृष्टिकोण केवल श्रद्धा या आस्था का दृष्टिकोण होता है। वह तर्कों अथवा प्रमाणों की चिंता किए बिना केवल अपनी आस्था के आधार पर किन्हीं मान्यताओं या विश्वासों को पूर्णतः स्वीकार कर लेता है और उनमें कभी किसी प्रकार का संदेह नहीं करता। ऐसी स्थिति में भक्त के लिए उन तार्किक कठिनाइयों तथा असंगतियों का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता जिन्हें दार्शनिक अपने प्रामाणिक चिंतन की दृष्टि से अत्याधिक महत्त्व देता है। प्रार्थना के स्वरूप तथा उसकी प्रभावशीलता पर भी भक्त अपने इस आस्थापूर्ण दृष्टिकोण के अनुरूप ही विचार करता है। वह कभी भी इस बात की चिंता

नहीं करना कि ईश्वर के अनिवार्य गुणों तथा विश्वरचना संबंधी उसकी दोषरहित योजना के विश्वास के साथ प्रार्थना की आवश्यकता, उपादेयता एवं प्रभावशीलता की तार्किक दृष्टि से संगति स्थापित की जा सकती है या नहीं। वस्तुतः श्रद्धा अथवा आस्था को अपने जीवन का एकमात्र आधार मानने वाले भक्त के लिए ऐसी दार्शनिक समस्याओं का कोई महत्त्व नहीं है। इन समस्याओं की चिंता किए बिना वह प्रार्थना के माध्यम से अपने उपास्य ईश्वर के साथ गहन आत्मीय संबंध स्थापित करता है और उसके प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाता है। इस प्रकार भक्त के लिए प्रार्थना की उपादेयता और प्रभावशीलता निश्चय ही असंदिग्ध है।

3. प्रार्थना का प्रभाव और उसकी आवश्यकता

यह सत्य है कि प्रार्थना–विशेषतः ईश्वर विषयक प्रार्थना–के संबंध में अनेक दार्शनिक कठिनाइयाँ हैं, किंतु फिर भी, इन कठिनाइयों पर विचार न करने के कारण, उपासक के जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है अथवा पड़ सकता है। उपास्य सत्ता के प्रति उसके मन में जो गहन समर्पणात्मक अनुभूति होती है उसे प्रार्थना केवल अभिव्यक्त ही नहीं करती, अपितु उसकी तीव्रता में वृद्धि भी करती है। जो व्यक्ति अपने उपास्य देवता में पूर्ण निष्ठा रखते हुए सच्चे हृदय से प्रार्थना करता है उसके जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को यह प्रार्थना व्यापक रूप से प्रभावित करती है। भक्त के जीवन पर प्रार्थना के इस व्यापक प्रभाव का मूल कारण मनोवैज्ञानिक ही होता है। व्यक्ति और समुदाय दोनों पर प्रार्थना का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, अतः इस प्रभाव की व्याख्या करने के लिए हम प्रार्थना को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–वैयक्तिक प्रार्थना तथा सामूहिक प्रार्थना। जो प्रार्थना व्यक्ति अपने घर में अथवा किसी अन्य एकांत स्थान पर अकेला ही करता है उसे 'वैयक्तिक प्रार्थना' कहा जाता है। यह वैयक्तिक प्रार्थना स्वार्थमूलक भी हो सकती है और परोपकारात्मक भी। जब बहुत-से व्यक्ति किसी धार्मिक स्थान पर एकत्र होकर एक साथ प्रार्थना करते हैं तो ऐसी प्रार्थना को 'सामूहिक प्रार्थना' की संज्ञा दी जाती है। गिरजाघर में की जाने वाली प्रार्थना, मंदिर में की जाने वाली पूजा या आरती और मस्जिद में पढ़ी जाने वाली नमाज़ इसी सामूहिक प्रार्थना के उदाहरण हैं। यह सामूहिक प्रार्थना भी स्वार्थमूलक या परोपकारात्मक हो सकती हैं। अब हम मानव-जीवन पर क्रमशः इन दोनों प्रकार की प्रार्थनाओं के प्रभाव की संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

यह कहा जाता है कि वैयक्तिक प्रार्थना के फलस्वरूप मनुष्य का चारित्रिक उत्थान होता है और उसे मानसिक शांति भी प्राप्त होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रार्थना के संबंध में इस मान्यता का समर्थन किया जा सकता है। सच्चे हृदय से की जाने वाली प्रार्थना का भक्त के व्यावहारिक जीवन या आचरण पर निश्चय ही बहुत वांछनीय प्रभाव पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति ईश्वर या किसी अन्य उपास्य देवता से बार-बार प्रतिदिन यह प्रार्थना करता है कि वह उसे मनोबल प्रदान करे, उसके चरित्र को महान बनाए और उसमें नम्रता, उदारता, ईमानदारी, न्यायशीलता, स्नेह, करुणा, क्षमाशीलता आदि सद्गुण उत्पन्न करे तो ऐसी प्रार्थना के परिणामस्वरूप उसमें ये सद्गुण उत्पन्न हो सकते हैं। हमारे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि उस व्यक्ति में ईश्वर अथवा कोई अन्य

उपास्य देवता ये सब नैतिक गुण उत्पन्न कर देता है। वस्तुतः उस व्यक्ति में इन सब सद्गुणों के उत्पन्न होने का कारण पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक ही है। प्रतिदिन बार-बार की गई ऐसी प्रार्थना उसके जीवन में प्रवल आत्म-सुझाव या आत्म-प्रेरणा का कार्य करती है जिसके द्वारा उसमें उपर्युक्त सद्गुणों का विकास होता है। इस आत्म-प्रेरणा अथवा आत्म-सुझाव के कारण ही उसमें मनोबल उत्पन्न होता है और उसे मानसिक शांति भी प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में इस आत्म-प्रेरणा या आत्म-सुझाव का विशेष महत्त्व है और भक्त के आचरण पर प्रार्थना के वांछनीय प्रभाव का यही मनोवैज्ञानिक कारण है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानव-जीवन के लिए आत्म-सुझाव अथवा आत्म-प्रेरणा को बहुत महत्त्व देते हैं। इस प्रकार आत्म-प्रेरणा के रूप में कार्य करते हुए प्रार्थना उपासक के चरित्र को उत्कृष्ट और उसके आचरण को पवित्र बना सकती है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य केचारित्रिक उत्थान के लिए प्रार्थना अनिवार्य है। वस्तुतः ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता में विश्वास न करने वाले व्यक्ति का जीवन भी नैतिक दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट हो सकता है। गौतम बुद्ध, महावीर, वृहस्पति आदि महान व्यक्तियों का पवित्र आचरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वस्तुतः नैतिकता मानव-निर्मित विशुद्ध सामाजिक व्यवस्था है जिस के लिए किसी दैवी शक्ति के अस्तित्व में विश्वास करना आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के नैतिक उत्थान के लिए प्रार्थना या किसी अन्य धार्मिक कृत्य को अनिवार्य नहीं माना जा सकता। परंतु इसके साथ ही इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव की मानसिक शांति तथा उसके नैतिक उत्कर्ष के लिए प्रार्थना का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है।

वैयक्तिक प्रार्थना की भाँति सामूहिक प्रार्थना का भी मानव-जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। हम ऊपर बता चुके हैं कि सामूहिक प्रार्थना एक ही धर्म के बहुत-से अनुयायी अपनी पूजन-पद्धति के अनुसार किसी धार्मिक स्थान पर एक साथ मिल कर करते है। इसी कारण ऐसी प्रार्थना के परिणाम-स्वरूप उन सबमें पारस्परिक मैत्री तथा एकता की भावना उत्पन्न होती है। वे एक ही उपास्य देवता में विश्वास करते हैं और उनकी पूजन-पद्धति भी एक ही होती है। इस समानता के कारण वे प्रायः परस्पर संगठित रहते हैं और संकट-काल में एक-दूसरे की सहायता भी करते हैं। इससे स्पष्ट है कि सामूहिक प्रार्थना किसी एक धर्म के अनुयायियों में पारस्परिक मैत्री-संबंध स्थापित करने में बहुत सहायक सिद्ध हाती है। इस धार्मिक एकता को ऐसी प्रार्थना का वांछनीय प्रभाव माना जा सकता है।

परंतु इस वांछनीय प्रभाव के साथ-सांथ सामूहिक प्रार्थना का मानव-जाति पर हानिकारक प्रभाव भी पड़ता है जिसकी उपेक्षा करना उचित नहीं होगा। विशेष पूजन-पद्धति तथा धार्मिक विश्वासों पर आधारित होने के कारण यह प्रार्थना एक धर्म के अनुयायियों को दूसरे सभी धर्मों के अनुयायियों से पृथक करती है। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मों में विश्वास करने वाले व्यक्तियों में अलगाव की भावना उत्पन्न होती है जो समाज में एक-दूसरे के प्रति धार्मिक असहिष्णुता और पारस्परिक शत्रुता का कारण बनती है। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में प्रायः जो संघर्ष होता है उसका कारण विश्वासों की भिन्नता के साथ-साथ पूजन-पद्धतियों की भिन्नता भी है। अलग-अलग धर्मों की सामूहिक

प्रार्थना में भाग लेने वाले धर्मपरायण व्यक्ति अपने आप को एक ही मानव-जाति का सदस्य न मान कर एक-दूसरे से पृथक समझने लगते हैं। यह स्थिति निश्चय ही मानव-समाज के लिए बहुत हानिकारक है जो सामूहिक प्रार्थना के अवांछनीय प्रभाव को स्पष्टतः प्रमाणित करती है। इसके अतिरिक्त बहुत-से व्यक्ति धार्मिक स्थानों पर निरंतर पूजा-पाठ करते रहते के कारण किसी प्रकार का उत्पादक श्रम किया बिना ही सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे तथाकथित साधु-संतों को आर्थिक दृष्टि से मानव-समाज पर भार ही माना जा सकता है। परंतु सभी धर्मों में पाई जाने वाली सामूहिक प्रार्थना की पद्धति ऐसे व्यक्तियों को अनुत्पादक एवं निष्क्रिय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों से ऐसी प्रार्थना का मानव-समाज पर हानिकारक प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

मानव-जीवन में प्रार्थना की उपादेयता और आवश्यकता पर विचार करने से पूर्व यहाँ उसकी कुछ अपरिहार्य सीमाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः यह दावा करते है। कि प्रार्थना में अत्यधिक शक्ति है, अतः उसके द्वारा सब कुछ संभव है। उदाहरणार्थ, उनके मतानुसार, प्रार्थना के परिणामस्वरूप वर्षा हो सकती है, आंधी, तूफ़ान, बाढ़, भूकम्प आदि प्राकृतिक विपत्तियों का निराकरण किया जा सकता है, असाध्य रोगों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है और अपंगुता, दृष्टिहीनता, बहरापन आदि विकलांगताओं को भी दूर किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि प्रार्थना ऐसे चमत्कारपूर्ण परिणाम उत्पन्न कर सकती है जो समस्त प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हैं। इस प्रकार का दावा करने वाले धर्मपरायण व्यक्ति प्रार्थना को ही मनुष्य के सभी संकटों के निराकरण का एकमात्र प्रभावशाली उपाय मानते हैं। उनका विश्वास है कि प्रार्थना वह सब कुछ कर सकती है जिसे सामान्यतः असंभव समझा जाता है। परंतु प्रार्थना की प्रभावशीलता के संबंध में धर्मपरायण व्यक्तियों का यह दावा उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसे स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय प्रमाण या तर्कसंगत आधार नहीं है। अभी तक इस दावे को किन्हीं तथ्यों अथवा विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा उचित सिद्ध नहीं किया जा सका है। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्तियों की इस मांन्यता का युक्तिसंगत रूप से समर्थन करना संभव नहीं है कि प्रार्थना द्वारा प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने वाले चमत्कारपूर्ण परिणाम उत्पन्न किए जा सकते हैं।

वस्तुतः मानव-जीवन पर प्रार्थना के प्रभाव की कुछ अनिवार्य सीमाएँ हैं जिन्हें भली भाँति समझ लेना आवश्यक है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर प्रार्थना का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है अथवा पड़ सकता है। परंतु प्रार्थना द्वारा ऐसा कोई परिणाम उत्पन्न नहीं किया जा सकता जिससे प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन होता हो। दूसरे शब्दों में, प्रार्थना चमत्कार उत्पन्न कर के असंभव को संभव नहीं बना सकती। उदाहरणार्थ, उपयुक्त चिकित्सा द्वारा ही मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक रोगों से मुक्त हो सकता है, प्रार्थना द्वारा नहीं, अतः प्रार्थना को चिकित्सा का विकल्प नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार प्राकृतिक विपत्तियों से बचने, वर्षा करवाने तथा मौसम में अन्य किसी वांछनीय परिवर्तन करने के लिए भी मनुष्य को वैज्ञानिक उपायों और उपकरणों का ही प्रयोग करना होगा; प्रार्थना इस संबंध में उसकी कोई

सहायता नहीं कर सकती। वास्तव में ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रार्थना के प्रयोग का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि **प्रार्थना द्वारा चमत्कारपूर्ण परिणाम उत्पन्न करने अथवा असंभव को संभव बनाने का प्रयास मनुष्य की आत्म-प्रवंचना है जिस के फलस्वरूप उसे केवल मिथ्या सांत्वना ही प्राप्त हो सकती है।**

परंतु प्रार्थना की सीमाओं के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि मानव-जीवन में इसकी कोई उपादेयता और आवश्यकता नहीं है। यह सत्य है कि प्रार्थना प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई चमत्कारपूर्ण परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकती, किंतु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह मनुष्य के नैतिक उत्थान में सहायक हो सकती है, उसे मानसिक शांति प्रदान कर सकती है और उसके जीवन में आशा तथा विश्वास उत्पन्न कर के उसे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दे सकती है। इस दृष्टि से धर्मपरायण व्यक्ति के लिए प्रार्थना का बहुत महत्त्व है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। आदिकाल से वर्तमान युग तक मानव-जीवन में प्रार्थना का जो महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है उसका मुख्य कारण प्रार्थना की यही मनोवैज्ञानिक उपादेयता है। वर्तमान काल में मनुष्य द्वारा अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति कर लेने के पश्चात भी प्रार्थना के इस मनोवैज्ञानिक महत्त्व में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। आज भी संसार में अधिकतर व्यक्ति धर्मपरायण हैं और इसी कारण उनके जीवन में प्रार्थना या उपासना का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आदिकालीन समाज की भाँति इस वैज्ञानिक युग में भी मानव-समाज धर्म में इतनी प्रबल निष्ठा क्यों रखता है-इस प्रश्न की विवेचना हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जिन कारणों से आज भी मनुष्य के जीवन में धर्म का महत्त्व बना हुआ है वस्तुतः वे ही प्रार्थना के भी प्रमुख कारण हैं।

अब हम संक्षेप में उन मुख्य तथ्यों पर विचार करेंगे जिनके कारण आज भी अधिकतर व्यक्ति प्रार्थना या उपासना की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। हम देख चुके हैं कि मनुष्य की असमर्थता और अनभिज्ञता ही प्रार्थना के मूल कारण हैं जो किसी न किसी रूप में अब भी पूर्ववत विद्यमान हैं। प्रार्थना के इन मूल कारणों का विवेचन हम इस अध्याय के प्रथम खंड में कर चुके हैं, अतः यहाँ इनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इन कारणों के अतिरिक्त धर्म का विश्वव्यापी सतत प्रचार भी मानव-जीवन में प्रार्थना को बनाए रखने और उसे प्रोत्साहित करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि अधिकतर व्यक्तियों को शैशव-काल से ही धार्मिक शिक्षा दी जाती है और उन्हें मंदिर, मस्जिद आदि धर्म-स्थलों में पूजा अथवा प्रार्थना करने के लिए निरंतर प्रेरित किया जाता है। इस शैशवकालीन धार्मिक शिक्षा का उन के भावी जीवन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि उनके लिए इससे मुक्त होना अत्यधिक कठिन हो जाता है। धार्मिक शिक्षा के इस गहन प्रभाव के कारण ही अधिकतर वैज्ञानिक, चिकित्सक तथा इंजीनियर भी प्रायः अपना कोई महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारंभ करने से पूर्व उसमें सफलता की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करने लगते हैं। जब महान वैज्ञानिक ही धार्मिक शिक्षा के इस प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाते तो सामान्य व्यक्ति से यह आशा करना व्यर्थ ही है कि वह इससे मुक्त हो सकेगा। इस धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त तथाकथित साधु-संतों, पुजारियों और धर्म-गुरुओं द्वारा मानव-समाज में धर्म का

निरंतर व्यापक प्रचार भी किया जा रहा है। इस धार्मिक प्रचार के लिए विशाल धनराशि व्यय करने के साथ-साथ साहित्य, संगीत और कला का भी व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि धर्म का यह विश्वव्यापी प्रचार उससे अनिवार्यतः संबद्ध प्रार्थना अथवा उपासना को बनाए रखने और प्रोत्साहित करने में बहुत सहायक होता है।

मानव-समाज में प्रार्थना के बने रहने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है अधिकतर व्यक्तियों का इसकी दार्शनिक समस्याओं से अनभिज्ञ होना। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि प्रार्थना-विशेषतः ईश्वर विषयक प्रार्थना-के संबंध में अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयाँ हैं। परंतु केवल दार्शनिक अथवा विचारक ही प्रार्थना की इन कठिनाइयों से भलीभाँति परिचित हैं, अन्य व्यक्ति न तो इन कठिनाइयों को जानते हैं और न उन्हें जानने का प्रयास ही करते हैं। इसी कारण वे एक ओर तो ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नित्य पूर्ण रूप से शुभ तथा अत्यंत दयालु मानते हैं और दूसरी ओर उससे भौतिक सुख-समृद्धि एवं मानसिक शांति प्रदान करने की प्रार्थना भी करते हैं। वे इस बात पर विचार करने का कष्ट नहीं करते कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में उनकी मान्यता और उससे की जाने वाली उनकी प्रार्थना में कितनी गंभीर दार्शनिक असंगतियाँ हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्य व्यक्तियों की यह अनभिज्ञता भी मानव-समाज में प्रार्थना को बनाए रखने में पर्याप्त सीमा तक सहायक सिद्ध होती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त विश्व तथा प्राकृतिक नियमों के संबंध में मनुष्य का अपूर्ण और सीमित ज्ञान भी मानव-जीवन में प्रार्थना के महत्त्व का एक मुख्य कारण है। यह सत्य है कि गत दो-तीन शताब्दियों में मनुष्य ने आश्चर्यजनक वैज्ञानिक प्रगति की है जिसके फलस्वरूप वह अंतरिक्ष में विचरण तथा चंद्रमा पर पदार्पण करने, कुछ सीमा तक ब्रह्मांड के स्वरूप को समझने और प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित करने में सफल हुआ है। इस अद्भुत वैज्ञानिक प्रगति के कारण वह स्वयं अपने तथा अन्य प्राणियों के जीवन के विषय में भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर सका है। परंतु इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवन और जगत् के संबंध में मनुष्य का ज्ञान आज भी अपेक्षाकृत बहुत सीमित है। उदाहरणार्थ, ब्रहमांड की उत्पत्ति, उसके स्वरूप तथा विस्तार, पृथ्वी पर जीवन के उद्गम, अन्य ग्रहों पर जीवन की उपस्थिति और सम्भावना के विषय में उसे अब भी बहुत कम जानकारी है। इसी प्रकार, जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, अनेक भयंकर असाध्य रोगों तथा जन-धन को भारी क्षति पहुँचाने वाली प्राकृतिक आपदाओं को नियंत्रित करने में मनुष्य आज भी लगभग असमर्थ है। ऐसी स्थिति में वह इनके दुष्प्रभाव तथा प्रकोप से बचने के लिए ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति से प्रार्थना करने लगता है। यद्यपि यह प्रार्थना मनुष्य को प्राकृतिक विपदाओं तथा रोगों से नहीं बचा सकती, फिर भी यह उसे मानसिक शांति तो देती ही है। वस्तुतः मानव के जीवन में प्रार्थना की यही प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपादेयता है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि **जब तक मानव-जीवन पर धर्म का व्यापक प्रभाव बना रहेगा और जब तक मनुष्य अपने अपूर्ण एवं सीमित ज्ञान के कारण अपने आप को असहाय तथा असमर्थ अनुभव करता रहेगा तब तक उसके जीवन में प्रार्थना की उपादेयता एवं आवश्यकता भी बनी रहेगी।**

6

ईश्वरवाद और अशुभ की समस्या

1. अशुभ का अर्थ और वर्गीकरण

तीसरे और चौथे अध्याय में हम ईश्वर के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण के रूप में अशुभ की समस्या का संक्षिप्त उल्लेख कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में ईश्वरवाद की इस जटिल समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा। परंतु इस समस्या के स्वरूप तथा ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत किए गए इसके प्रमुख समाधानों की विवेचना करने से पूर्व यहाँ 'अशुभ' का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः 'अशुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं और यह मानते हैं कि हम इस शब्द के अर्थ से भलीभाँति अवगत हैं, किंतु वास्तव में दार्शनिक दृष्टि से इसका कोई निश्चित तथा सर्वमान्य अर्थ बताना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से 'अशुभ' के अर्थ की विवेचना की है। परंतु अशुभ के अर्थ के विषय में इस दार्शनिक कठिनाई के होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि सामान्यतः अशुभ वह है जो प्राणी अथवा प्राणियों के लिए दुखद, अहितकर या अमंगलमय है। इस अर्थ में 'अशुभ' को 'बुराई' का पर्यायवाची शब्द माना जा सकता है। स्पष्ट है कि इस विशेष अर्थ में 'अशुभ' केवल विशेषण ही नहीं, अपितु भाववाचक संज्ञा भी है। मनुष्य द्वारा जान-बूझकर किए गए दुराचरण और किसी प्राणी को होने वाले ऐसे दुःख अथवा कष्ट को सामान्यतः 'अशुभ' या 'बुराई' कहा जाता है जो न्यायोचित नहीं है—अर्थात् जिसका वह अधिकारी नहीं है। यह दुःख शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी। इस दुःख का स्रोत या कारण चाहे कुछ भी हो, इसे 'बुराई' अथवा 'अशुभ' ही माना जाएगा। इस प्रकार अशुभ मनुष्य का दुराचार तथा प्राकृतिक या मानवीय कारणों से उत्पन्न वह शारीरिक अथवा मानसिक दुःख है जिसका कोई प्राणी अनुभव करता है और जिसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है। यहाँ अशुभ को मुख्यतः इस भाववाचक संज्ञा के अर्थ में ग्रहण करते हुए अशुभ की समस्या पर विचार किया जाएगा।

यह सर्वविदित तथ्य है कि शारीरिक पीड़ा अथवा मानसिक दुःख के रूप में अशुभ संसार में सर्वत्र व्याप्त है। इस विश्व में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो कभी न कभी कम या अधिक मात्रा में दुःख का अनुभव न करता हो। सभी पशु-पक्षी तथा मनुष्य आंधी, तूफान, बाढ़, भूकम्प, सूखा, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक विपदाओं और अनेक प्रकार के शारीरिक या मानसिक रोगों एवं अपने प्रिय जनों की असामयिक मृत्यु के कारण प्राप्त होने वाले दुःख के रूप में निरंतर अशुभ का अनुभव करते हैं। इस दृष्टि से विश्व में अशुभ की व्यापक उपस्थिति एक यथार्थ कटु सत्य है जिसकी कोई भी विचारशील व्यक्ति उपेक्षा नहीं कर सकता। सैकड़ों वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने 'सर्वं-दुःखं' कहकर संपूर्ण संसार को दुःखमय बताते हुए इसी कठोर सत्य को 'प्रथम आर्य सत्य' के रूप में स्वीकार किया था। उन्होंने इस व्यापक दुःख के मूल कारणों का

विश्लेषण करते हुए 'अष्टांगिक मार्ग' के रूप में मुक्त होने अथवा निर्वाण प्राप्त करने का उपाय भी बताया था। गौतम बुद्ध के दर्शन के विषय में चाहे कितना ही विवाद क्यों न हो, हमें यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने बहुत पहले ही संसार में सर्वत्र दुःख की उपस्थिति के रूप में अशुभ को भलीभाँति जान लिया था। उनकी भाँति अन्य अनेक विचारकों ने भी दुःख के रूप में अशुभ की यथार्थ सत्ता को पूर्णतः स्वीकार किया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अशुभ कोई रहस्यमयी वस्तु न होकर मानवीय दुराचरण और शारीरिक या मानसिक दुःख के रूप में समस्त प्राणियों के साक्षात अनुभव का विषय तथा कठोर यथार्थ सत्य है।

अशुभ के स्वरूप को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए दार्शनिकों ने इसे दो वर्गों में विभाजित किया है—भौतिक या प्राकृतिक अशुभ तथा नैतिक अशुभ। पूर्वोल्लिखित विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक विपत्तियों तथा अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोगों के फलस्वरूप उत्पन्न उस दुःख को 'प्राकृतिक अशुभ' की संज्ञा दी जाती है जिसके मूल कारणों पर प्राणियों का कोई नियंत्रण नहीं है और इसी कारण जिसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी नहीं हैं। संसार में लाखों प्राणी इन प्राकृतिक आपदाओं के कारण प्रति दिन अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं अथवा असहय शारीरिक या मानसिक पीड़ा का अनुभव करते हैं। इसी पीड़ा अथवा दुःख को 'प्राकृतिक अशुभ' कहा जाता है, क्योंकि इसके मूल कारण स्वयं प्रकृति में ही निहित हैं। इसके लिए मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को उत्तरदायी नहीं माना जाता। यह प्राकृतिक अशुभ संपूर्ण प्राणी-जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। कोई भी प्राणी शारीरिक अथवा मानसिक दुःख के रूप में इस प्राकृतिक अशुभ से मुक्त नहीं है। इस अशुभ की मात्रा दुःख का अनुभव करने वाले प्राणियों की संख्या, दुःख की तीव्रता और अवधि के आधार पर निश्चित की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक अशुभ की मात्रा इन तीनों तत्त्वों के अनुपात के अनुसार कम या अधिक हो सकती है। अनुभव किए जाने वाले दुःख की तीव्रता तथा अवधि का प्रत्येक प्राणी के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। यह दुःख जितना अधिक तीव्र और दीर्घकालीन होगा प्राणी में जीवित रहने की नैसर्गिक इच्छा उतनी ही कम होती जाएगी। मनुष्य तो ऐसे दुःख से मुक्त होने के लिए कुछ भी कर सकता है जिसमें आत्म-हत्या और समस्त नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का परित्याग भी सम्मिलित है। यह तीव्र और दीर्घकालीन दुःख के घातक प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। इस प्रकार प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न शारीरिक तथा मानसिक दुःख के रूप में भौतिक या प्राकृतिक अशुभ का अस्तित्व प्रत्येक प्राणी के जीवन की ऐसी कठोर वास्तविकता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

परंतु उपर्युक्त प्राकृतिक अशुभ के अतिरिक्त विश्व में नैतिक अशुभ का भी अस्तित्व है जिसका क्षेत्र मानव-जगत् तक ही सीमित है। ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध की भावना, स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाने की इच्छा, लालच, वासना आदि दुर्गुणों से प्रेरित होकर स्वेच्छया किए जाने वाले मानवीय दुराचरण को ही 'नैतिक अशुभ' की संज्ञा दी जाती है। नैतिक अशुभ में मनुष्य के वे समस्त दुर्गुण सम्मिलित हैं जो उसे स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से दूसरों को दुःख

पहुँचाने तथा नैतिक मूल्यों, आदर्शों एवं नियमों के विरुद्ध आचरण करने के लिए प्रेरित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मानव द्वारा किया जाने वाला सभी प्रकार का भ्रष्टाचार नैतिक अशुभ के अंतर्गत ही आता है। ईश्वरवादी इसी नैतिक अशुभ को 'पाप' की संज्ञा देते हैं जिसका अर्थ है जान-बूझकर ईश्वरीय आदेशों का उल्लंघन करना। समाज में कुछ व्यक्ति स्वार्थ-सिद्धि के लिए जान-बूझकर क़ानून तथा नैतिकता के विरुद्ध जो आचरण करते हैं उसे 'अपराध' कहा जाता है और ऐसे समस्त अपराध नैतिक अशुभ के अंतर्गत ही सम्मिलित हैं। मनुष्य में विद्यमान इस नैतिक अशुभ के फलस्वरूप समाज़ में व्यापक रूप से दु:ख की उत्पत्ति होती है और अन्य प्राणियों को भी बहुत कष्ट पहँचता है। उदाहरणार्थ, किसी रेलवे-कर्मचारी द्वारा अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने के कारण भयक़र रेल-दुर्घटना हो सकती है जिसके फलस्वरूप बहुत-से व्यक्ति मारे जा सकते हैं अथवा गंभीर रूप से घायल हो सकते हैं। यदि कोई इंजीनियर रिश्वत लेकर किसी भवन या पुल के निर्माण के लिए घटिया सामग्री का प्रयोग करने देता है तो वह भवन अथवा पुल कभी भी गिर सकता है जिसके कारण भारी आर्थिक क्षति हो सकती है और बहुत-से लोग हताहत हो सकते हैं। इस प्रकार स्वार्थ-सिद्धि,लालच, वासना, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध की भावना आदि दुर्गणों से प्रेरित हो कर किसी व्यक्ति या समुदाय द्वारा किए गए अपराधों तथा अत्याचारों के कारण अनेक मनुष्यों और अन्य प्राणियों को अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक कष्ट पहुँच सकता है। यह संपूर्ण दु:ख नैतिक अशुभ का ही दुष्परिणाम है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है। प्राकृतिक अशुभ के विपरीत इस नैतिक अशुभ को मनुष्य जान-बुझकर उत्पन्न करता है, अत: इसके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह है कि मानव अपने प्रयास द्वारा इस नैतिक अशुभ से मुक्त हो सकता है, क्योंकि यह स्वयं उसके नियंत्रण में है। इस नैतिक अशुभ के मूल कारण बाह्य प्रकृति में न होकर मनुष्य के अपने स्वभाव में ही निहित रहते हैं और यही तथ्य इसे प्राकृतिक अशुभ से पृथक करता है। यह अशुभ मानव द्वारा नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों के विपरीत आचरण करने के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होता है, इसी कारण इसे 'नैतिक अशुभ' की संज्ञा दी जाती है। संपूर्ण मानव-जाति के लिए यह अत्यंत दुर्भाग्य की बात है कि मानव-समाज में यह नैतिक अशुभ भी सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य की हिंसा-वृत्ति तथा उसके अन्य दुर्गुणों के कारण आज केवल मानव-समाज ही नहीं, अपितु दूसरे अनेक प्राणी भी असह्य कष्ट भोग रहे हैं। सभी राष्ट्रों के पारस्परिक भय तथा अविश्वास के फलस्वरूप निरंतर बढ़ती हुई घातक शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता और तृत्तीय विश्व-युद्ध की संभावित भयंकर विभीषिका ने मानव-जाति को पूर्ण विनाश के कगार पर पहुँचा दिया है। यह दुखद स्थिति नैतिक अशुभ का ही भयंकर दुष्परिणाम है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव-जाति के लिए नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ की अपेक्षा कहीं अधिक घातक सिद्ध हो सकता है।

यद्यपि प्राकृतिक अशुभ तथा नैतिक अशुभ एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ संबंध देखा जा सकता है। कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ को और नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ को उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, बाढ़, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक विपत्तियों के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए

अत्यधिक चिंतित होने के कारण दूसरों के प्रति पूर्णतः उदासीन हो सकता है और उनके हित को भारी क्षति भी पहुँचा सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि ऐसी कठिन परिस्थितियों में सामान्य व्यक्ति बहुत स्वार्थी हो जाता है और वह दूसरों के कल्याण की ही नहीं, अपितु स्वयं अपने परिवार के हित की भी चिंता नहीं करता। ऐसे आपद्-काल में मनुष्य के लिए अपने नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों के अनुरूप आचरण करना अत्यंत कठिन हो जाता है। वह केवल अपने जीवन की रक्षा के लिए ही प्रयत्नशील हो जाता है और स्नेह, सहानुभूति, परोपकार, उदारता आदि उसकी समस्त सद्वृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। दुर्भिक्ष के समय में भूख से व्याकुल माता-पिता अपनी संतान तक को बेच डालते हैं जिससे स्वयं उनके प्राणों की रक्षा हो सके। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ को जन्म देता है।

इसी प्रकार नैतिक अशुभ के कारण भी प्राकृतिक अशुभ की उत्पत्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ, जब मनुष्य धन-लिप्सा से प्रेरित होकर उद्योगीकरण के लिए वनों को समाप्त कर देता है तो भू-क्षरण तथा बाढ़ की संभावना बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रकार भौतिक समृद्धि के लिए उद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जल-वायु सहित संपूर्ण पर्यावरण दूषित हो जाता है जिसके कारण अनेक भयंकर रोग फैल सकते हैं। वस्तुतः वर्तमान युग में मानव-जाति इसी गंभीर समस्या का सामना कर रही है। आज द्रुत गति से अधिकाधिक आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने के लिए मनुष्य की तीव्र लालसा के कारण संपूर्ण विश्व में उद्योगीकरण को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है जिसके फलस्वरूप पर्यावरण-प्रदूषण निरतर बढ़ता जा रहा है और यह स्थिति मानव सहित सभी प्राणियों के लिए कष्टदायक सिद्ध हो रही है। इसके कारण मानव-समाज में अनेक रोग फैल रहे हैं जो लाखों व्यक्तियों के जीवन को यातनापूर्ण बना देते हैं। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि कुछ परिस्थितियों में नैतिक अशुभ भी प्राकृतिक अशुभ को उत्पन्न करता है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं।

2. अशुभ की समस्या का स्वरूप

पिछले खंड में हमने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है कि 'अशुभ' का अर्थ क्या है और उसके कौन-कौन से रूप हो सकते हैं। अशुभ के विषय में अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक विपत्तियों तथा मनुष्य के अपने दुर्गुणों से उत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक दुःख तथा मानवीय दुराचरण के रूप में अशुभ का वास्तविक अस्तित्व है और वह इस संसार में सर्वत्र व्याप्त है। अब उस समस्या के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है जो विश्व में इस अशुभ के अस्तित्व के कारण ईश्वरवाद के लिए अनिवार्यतः उत्पन्न होती है। परंतु इस समस्या के स्वरूप को स्पष्ट करने से पूर्व यहाँ यह बता देना उचित होगा कि यह समस्या केवल उन्हीं व्यक्तियों के समक्ष उपस्थित होती है जो ईश्वरवाद या एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं, अन्य व्यक्तियों के लिए यह उस रूप में उत्पन्न नहीं होती जिस रूप में ईश्वरवादियों के लिए होती है। प्रस्तुत खंड तथा अगले खंड में अशुभ की इस समस्या पर केवल ईश्वरवाद के संदर्भ में ही विचार किया जाएगा।

हम चौथे अध्याय में देख चुके हैं कि बहुत-से दार्शनिक तथा ईश्वरोपासक एक ही ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार यह ईश्वर असीम, नित्य एवं सर्वज्ञ होने के साथ-साथ सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण रूप से शुभ या अत्यंत दयालु है और वही समस्त प्राणियों सहित संपूर्ण जगत् का रचयिता, पालनकर्ता एवं प्रशासक है। ईश्वरवादियों के इस सिद्धांत को ही 'एकेश्वरवाद' अथवा 'ईश्वरवाद' की संज्ञा दी जाती है। इस प्राचीन सिद्धांत के विरुद्ध बहुत-से भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनेक गंभीरआपत्तियाँ उठाई हैं। अशुभ की समस्या ईश्वरवाद के विरुद्ध उठाई गई इन गंभीर आपत्तियों में संभवतः सर्वप्रमुख है। इस समस्या के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए निम्नलिखित तीन कथनों पर विचार करना आवश्यक है :—(1) "ससार में दुःख और मानवीय दुराचरण के रूप में अशुभ का अस्तित्व है।" (2) "इस संसार का रचयिता ईश्वर सर्वशक्तिमान है।" (3) "ईश्वर पूर्ण रूप से शुभ तथा 'अत्यंत दयालु और प्रेममय है।" इन तीनों कथनों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह ज्ञात होता है कि तार्किक दृष्टि से ये तीनों सत्य नहीं हो सकते। इनमें से किसी एक कथन को मिथ्या मानना अनिवार्य है। यदि कोई दार्शनिक उपर्युक्त तीन कथनों में से किसी एक को मिथ्या मान लेता है तो उसके लिए ईश्वरवाद संबंधी अशुभ की समस्या उत्पन्न ही नहीं होगी। परंतु कठिनाई यह है कि अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिक इन तीनों कथनों को सत्य मानते हैं जिसके फलस्वरूप उनके समक्ष उस रूप में अशुभ की समस्या उपस्थित होती है जो ईश्वरवाद के लिए एक गंभीर चुनौती है।

यह समस्या इस प्रकार है। यदि इस जगत् का रचयिता ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा अत्यंत दयालु है तो इसमें अशुभ का अस्तित्व क्यों है? यदि स्वयं पूर्ण रूप से शुभ होने के कारण ईश्वर ने इस अशुभ को उत्पन्न नहीं किया तो इस संसार में यह अशुभ कहाँ से आया है? क्या ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति ने उसकी इच्छा के विरुद्ध जगत् में इस अशुभ को उत्पन्न किया है? यह स्पष्ट है कि ईश्वरवादी इस अंतिम प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में नहीं दे सकते, क्योंकि ऐसा करने से उनके मूल सिद्धांत ईश्वरवाद का खंडन होता है। यदि किसी अन्य शक्ति ने ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध इस संसार में अशुभ को उत्पन्न किया है तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर असीम तथा सर्वशक्तिमान नहीं है। ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति भी है जो उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करके उसे सीमित करती है। ईश्वरवादी तर्कसंगत रूप से इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि वे एक ही असीम और सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। इसका अर्थ यही है कि ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति ने इस जगत् में अशुभ को उत्पन्न नहीं किया। हम देख चुके हैं कि ईश्वरवादियों के मतानुसार स्वयं पूर्ण शुभ होने के कारण ईश्वर ने भी इस अशुभ को उत्पन्न नहीं किया है। इस प्रकार हम पुनः अपने पहले प्रश्न पर लौट आते हैं—अर्थात् इस जगत् में अशुभ कहाँ से आया है अथवा उसे किसने उत्पन्न किया है? ईश्वरवादी अशुभ की उत्पत्ति के विषय में इस मूल प्रश्न का कोई तर्कसंगत और संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाते।

वस्तुतः ईश्वरवादियों का सिद्धांत उन्हें बहुत बड़ी उलझनपूर्ण द्विविधा में डाल देता है। जगत् में अशुभ की उपस्थिति के संबंध में यदि वे यह कहते हैं कि ईश्वर अशुभ का निराकरण करना तो चाहता है किंतु वह ऐसा करने में असमर्थ है तो उनका ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं रह

जाता। वह एक सामान्य मनुष्य की भाँति किसी अन्य शक्ति के समक्ष असहाय दर्शक मात्र हो जाता है। परंतु ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता बनाए रखने के लिए यदि ईश्वरवादी यह कहते हैं कि पूर्णतः समर्थ होते हुए भी वह अशुभ का निराकरण नहीं करना चाहता तो निश्चय ही उसे अत्यंत दयालु तथा प्रेममय नहीं माना जा सकता। ऐसा ईश्वर एक शक्तिशाली क्रूर अत्याचारी मनुष्य के समान हो जाता है। उपर्युक्त उलझनपूर्ण द्विविधा से बचने के लिए यदि ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वर अशुभ का निराकरण करने में पूर्णतया समर्थ है और वह ऐसा करना भी चाहता है तो उनसे यह पूछा जा सकता है कि फिर इस संसार में अशुभ का अस्तित्व क्यों बना हुआ है। इस प्रश्न का भी वे कोई संतोषजनक तथा युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे पाते। वास्तव में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और दयालुता इन दोनों को बनाए रखते हुए ईश्वरवादियों के लिए जगत् में अशुभ के अस्तित्व की तर्कसंगत व्याख्या करना संभव प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वरवाद के संदर्भ में अशुभ की समस्या के दो प्रमुख पक्ष हैं—(1) सर्वशक्तिमान तथा अत्यंत दयालु ईश्वर द्वारा रचित जगत् में अशुभ का उत्पन्न होना और (2) इस जगत् में उसके अस्तित्व का बना रहना। हम अगले खंड में देखेंगे कि ईश्वरवादी इस समस्या के इन दोनों पक्षों का कोई समुचित एवं संतोषप्रद समाधान करने में सफल नहीं हो सके। इसी कारण अनेक दार्शनिक अशुभ की समस्या को ईश्वरवाद के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।

प्राचीन काल से ही बहुत-से दार्शनिक ईश्वरवाद के संदर्भ में अशुभ की इस समस्या पर विचार करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, आज से लगभग 2300 वर्ष पूर्व महान यूनानी दार्शनिक, ऐपिक्यूरस ने इस समस्या को उठाया था। उन्होंने ईश्वरवादियों से यह प्रश्न किया था कि यदि जगत् का रचयिता ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण रूप से शुभ या अत्यंत दयालु है तो इस जगत् में अशुभ की उत्पत्ति कहाँ से हुई और इसमें उसका अस्तित्व क्यों बना हुआ है। मध्य युग में अगस्टाइन तथा ऐक्वाइनस इन दो ईश्वरवादी दार्शनिकों ने भी अशुभ की इस समस्या पर विचार किया था और अपनी ईश्वरवादी विचारधारा के अनुरूप इसके कुछ समाधान भी प्रस्तुत किए थे। आधुनिक दर्शन में सुविख्यात अनुभववादी दार्शनिक, डेविड ह्यूम ने अपनी प्रसिद्ध कृति, 'डाएलॉग्ज़ कन्सरनिंग नैचरल रिलिजन' में इस समस्या की विस्तृत विवेचना की और इसे ईश्वरवाद के विरुद्ध एक प्रभावशाली तर्क के रूप में प्रस्तुत किया। इस समस्या के आधार पर उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि अशुभ से परिपूर्ण इस विश्व का रचयिता सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतः शुभ ईश्वर नहीं हो सकता। वर्तमान शताब्दी के समकालीन दर्शन में भी अशुभ की इस समस्या की पर्याप्त चर्चा होती रही है। डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, नैल्सन पाइक, जे०एल० मैकी, एच०के० मैकलॉस्की आदि अनेक समकालीन दार्शनिकों ने इस समस्या के सभी प्रमुख पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विस्तारपूर्वक विचार किया है। पाश्चात्य दर्शन के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय दर्शन में भी ईश्वरवाद के विरुद्ध अशुभ की यह समस्या उठाई गई है। उदाहरणार्थ, जैन दार्शनिकों ने विश्व में सर्वत्र व्याप्त अशुभ को सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतया शुभ ईश्वर के विरुद्ध एक प्रबल तर्क के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल से ही अशुभ की यह समस्या ईश्वरवाद के लिए एक अत्यंत जटिल समस्या बनी हुई है जिसके आधार पर निरीश्वरवादी इस सिद्धांत का खंडन करते रहे हैं।

कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने स्वयं यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि अशुभ की समस्या उनके सिद्धांत के विरुद्ध निरीश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत एक गंभीर चुनौती है। उदाहरणार्थ, इसी मत का समर्थन करते हुए ट्रूब्लड कहते हैं कि :—"बहुत पहले ही मानवीय विचारधारा में यह स्वीकार किया जाने लगा था कि अन्यायसंगत दुःख प्रयोजनमूलक तर्क में एक बाधा है। ... ऐसे बहुत-से अनुभवों की उपस्थिति निरीश्वरवाद के समर्थन में सदा से ही एक प्रमाण रहा है जिन की व्याख्या ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करके नहीं की जा सकती। अशुभ की समस्या ईश्वर के विरुद्ध प्रमुख प्रमाण है"।[1] इसी प्रकार अन्य अनेक ईश्वरवादियों ने भी यह स्वीकार किया है कि अशुभ की समस्या ईश्वरवाद की एक मुख्य समस्या है। ऐसी स्थिति में इस जटिल समस्या का समुचित समाधान करना ईश्वरवादियों के लिए अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि उन्होंने अशुभ की समस्या को हल करने के लिए अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतया शुभ मानते हुए उसके द्वारा रचित जगत् में अशुभ का अस्तित्व स्वीकार करने के कारण ही यह अशुभ की समस्या उत्पन्न होती है। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सर्वशक्तिमान या पूर्णतः शुभ नहीं मानता अथवा वह इस जगत् में अशुभ के अस्तित्व को ही स्वीकार नही करता तो उसके लिए यह समस्या उत्पन्न नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, ऊपर जिन तीन कथनों का उल्लेख किया गया है उनमें से किसी एक को मिथ्या मानकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है और अनेक ईश्वरवादियों ने ऐसा किया भी है। उदाहरण के लिए, कुछ ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वशक्तिमान नहीं मानते अथवा वे 'सर्वशक्तिमान' शब्द का सीमित अर्थ ही स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार स्वयं ईश्वर भी कुछ कार्य करने में असमर्थ है। इसी प्रकार कुछ अन्य ईश्वरवादी संसार में अशुभ का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते अथवा उसे केवल एक भ्रम मानते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे ईश्वरवादियों के लिए अशुभ की समस्या का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। परंतु अधिकतर ईश्वरवादी ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतया शुभ भी मानते हैं और जगत् में अशुभ के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। ऐसे ईश्वरवादियों के लिए ही अशुभ की समस्या एक जटिल समस्या बन जाती है जिसका संतोषप्रद समाधान खोजना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। हम अगले खंड में देखेंगे कि इस समस्या के समाधान के लिए वे कौन-से सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं और उनके ये सिद्धांत इस कठिन समस्या से ईश्वरवाद को बचाने की दृष्टि से कहाँ तक तर्कसंगत एवं संतोषजनक हैं।

3. कुछ मुख्य समाधान

ईश्वरवादियों का यह दावा है कि अशुभ की समस्या का समुचित एवं संतोषप्रद समाधान संभव है, अतः इसके लिए उन्होंने कुछ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जो उनके विचार में ईश्वरवाद के अनुरूप इस समस्या का समाधान करते हैं। प्रस्तुत खंड में हम ईश्वरवादियों के

---

1. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 231

इन्हीं सिद्धांतों का मूल्यांकन करेंगे जिन्हें वे अशुभ की समस्या के संतोषजनक समाधान मानते हैं।

(1) कुछ ईश्वरवादियों का मत है कि संसार में शारीरिक तथा मानसिक दुःख के रूप में जो अशुभ है वह वस्तुतः मनुष्य के अपने पाप का ही दुष्परिणाम है। ईश्वर मनुष्य को उसके पापों का समुचित दंड देने के लिए ही यह अशुभ उत्पन्न करता है, अतः इसके लिए स्वयं मनुष्य ही उत्तरदायी है, ईश्वर नहीं। भारत में सामान्य व्यक्ति प्रायः इसी रूप में कर्म-सिद्धांत की व्याख्या करते हैं और अपने दुःखों के लिए ईश्वर को उत्तरदायी न मानकर स्वयं अपने पापों या दुष्कर्मों को ही उत्तरदायी मानते हैं। अनेक धर्मपरायण विचारक इसी सिद्धांत के आधार पर संसार में अशुभ के अस्तित्व की व्याख्या करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, बिहार में आए भूकम्प के लिए गाँधी जी ने अस्पृश्यता का समर्थन करने वाले सवर्ण हिंदुओं के पापों को ही उत्तरदायी माना था। इसी प्रकार अनेक पादरियों ने भी लिस्बन के उस भीषण भूकम्प को मनुष्यों के पापों का परिणाम माना था जिसमें लगभग चालीस हज़ार व्यक्ति मारे गए थे। आज भी भारत तथा पाश्चात्य देशों में बहुत-से व्यक्ति इसी सिद्धांत के आधार पर जगत् में अशुभ की व्याख्या करते हैं।

परंतु वास्तव में उपर्युक्त सिद्धांत द्वारा अशुभ की समस्या का संतोषप्रद समाधान नहीं हो पाता। इस सिद्धांत के विरुद्ध अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। सर्वप्रथम यही स्पष्ट नहीं है कि 'पाप' का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः ईश्वर की आज्ञा अथवा इच्छा के विरुद्ध आचरण करने को ही पाप मानते हैं। यदि उनके इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो पुनः यह प्रश्न उठता है कि हम ईश्वर की आज्ञा या इच्छा को कैसे जान सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में ईश्वरवादी यह कह सकते हैं कि धर्म-ग्रंथों द्वारा ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा को जाना जा सकता है। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि विभिन्न धर्म-ग्रंथ कभी-कभी भिन्न-भिन्न ही नहीं, अपितु परस्पर विरोधी आदेश भी देते हैं। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना असंभव हो जाता है कि ईश्वर की वास्तविक आज्ञा या इच्छा क्या है।

फिर यदि यह मान लिया जाए कि हम ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा को जान सकते हैं तो भी यह सिद्धांत संसार में अशुभ के अस्तित्व की कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं कर पाता। हम देख चुके हैं कि दुःख के रूप में अशुभ संपूर्ण प्राणी-जगत् में व्याप्त है। यह सिद्धांत उन बच्चों और पशु-पक्षियों के दुःख की व्याख्या करने में असमर्थ है जिन्होंने कोई पाप नहीं किया है। इन सबके दुःख की व्याख्या करने के लिए इस सिद्धांत के समर्थकों को आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करना पड़ेगा जिसकी सत्यता अत्यंत संदेहास्पद है।

उपर्युक्त दो आपत्तियों के अतिरिक्त इस सिद्धांत के विरुद्ध तीसरी गंभीर आपत्ति यह है कि इसके समर्थक प्राकृतिक विपत्तियों की नितांत भ्रामक व्याख्या करते हैं। उनका यह मत पूर्णतः अयुक्तिसंगत है कि ये विपत्तियाँ मनुष्य के पापों का परिणाम हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि इन प्राकृतिक विपत्तियों के कारण पापी और पुण्यात्मा सभी मनुष्यों को समान रूप से घोर कष्ट पहुँचता है। उदाहरणार्थ, भूकम्प के फलस्वरूप पापी और परोपकारी दोनों ही मारे जाते हैं—वह इस संबंध में इन दोनों में कोई भेद नहीं करता। यही बात अन्य सभी प्राकृतिक विपत्तियों के विषय में भी कही जा सकती है।

इस सिद्धांत के विरुद्ध चौथी गंभीर आपत्ति यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर दु:ख के निराकरण का संपूर्ण मानवीय प्रयास केवल व्यर्थ ही नहीं, अपितु अनुचित और अवांछनीय भी हो जाता है। यदि मनुष्य तथा अन्य सभी प्राणी अपने पापों के कारण ईश्वर द्वारा दिए गए दंड के फलस्वरूप ही दु:ख भोग रहे हैं तो उनके दु:ख के निवारण का प्रयास अवांछनीय है, क्योंकि ऐसा करने से ईश्वरीय विधान में अनुचित हस्तक्षेप होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत अशुभ को पाप का अनिवार्य परिणाम मानकर दु:ख-निवारण के संपूर्ण मानवीय प्रयास को निरर्थक और अवांछनीय बना देता है जिसके कारण इसका समर्थन करना निश्चय ही उचित नहीं होगा।

परंतु यदि उपर्युक्त सभी आपत्तियों की उपेक्षा करते हुए इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो भी यह ईश्वर को संसार में विद्यमान अशुभ के लिए उत्तरदायित्व से बचा नहीं सकता। इसका कारण यह है कि यदि मनुष्य पाप करता है जो इसका अंतिम उत्तरदायित्व स्वयं ईश्वर पर ही है। हमारे समक्ष मूल प्रश्न यह है कि आखिर मनुष्य पाप क्यों करता है। इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि अपने भीतर विद्यमान कुछ वासनाओं तथा दुष्प्रवृत्तियों के कारण ही वह ऐसा करता है। अब प्रश्न यह है कि उसके भीतर ये वासनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ किसने उत्पन्न की हैं। ईश्वरवादी मनुष्य को ईश्वर की ही रचना मानते हैं, अत: स्वयं उन्हीं के सिद्धांत के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर केवल यही हो सकता है कि ईश्वर ने ही मनुष्य में समस्त दुष्प्रवृत्तियाँ तथा वासनाएँ उत्पन्न की हैं। सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर उसे इनसे मुक्त भी रख सकता था, किंतु उसने ऐसा नहीं किया। स्पष्ट है कि यद्दि मनुष्य पाप करता है तो इसके लिए स्वयं ईश्वर ही उत्तरदायी है, मनुष्य नहीं। वस्तुत: यह सिद्धांत पाप की भी कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं कर पाता जो स्वयं नैतिक अशुभ है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी गंभीर आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि उक्त सिद्धांत अशुभ की समस्या का समुचित और संतोषप्रद समाधान करने में असमर्थ है।

(2) कुछ ईश्वरवादियों का कथन है कि प्राकृतिक आपदाओं से उत्पन्न दु:ख मानव के लिए एक चेतावनी है जिसके द्वारा वह अपने रचयिता ईश्वर की महानता और अपार शक्ति को पहचान सकता है। प्राय: यह देखा जाता है कि तीव्र दु:ख या घोर संकट में फँस जाने के बाद ही मनुष्य ईश्वर का स्मरण करता है और उसकी असीम शक्ति का सहारा खोजता है। यदि संसार में दु:ख न हो तो वह ईश्वर की अपार शक्ति को कभी नहीं पहचान सकेगा। जी०एच० जॉएस इस मत का पूर्णत: समर्थन करते हैं। इसी आधार पर प्राकृतिक विपदाओं को वांछनीय मानते हुए वे कहते हैं कि : "ये एक नैतिक उद्देश्य की पूर्ति करती हैं जो इनके द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक दु:ख की क्षतिपूर्ति कर देता है। इन विपदाओं का भयानक स्वरूप, इनके मूल में कार्य करने वाली शक्तियों की अत्यधिक क्षमता, और इनके समक्ष मानव की पूर्ण असहायता उसे धार्मिक उदासीनता से मुक्त करती हैं जिसके प्रति वह इतना अधिक उन्मुख रहता है। ये उसमें रचयिता के प्रति श्रद्धापूर्ण भय उत्पन्न करती हैं जिसने इनकी रचना की है, जो इन्हें नियंत्रित करता है, और ये रचयिता द्वारा स्थापित नियमों के उल्लंघन के संबंध में भी सम्मानयुक्त भय उत्पन्न करती है"।[2] जॉएस की भाँति कुछ अन्य ईश्वरवादी भी इसी आधार पर प्राकृतिक दु:ख

---

2. जी० एच० जॉएस, 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ नैचरल थियोलॉजी', अध्याय 17

को वांछनीय मानते हुए इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं।

परंतु प्रथम सिद्धांत के समान ही यह सिद्धांत भी अशुभ की समस्या का संतोषप्रद समाधान करने में सफल नहीं हो पाता। इसके विरुद्ध प्रथम आपत्ति तो यह है कि इसके द्वारा नैतिक अशुभ की व्याख्या नहीं की जा सकती जिसके लिए स्वयं मनुष्य को उत्तरदायी माना जाता है। ऐसा अशुभ निश्चय ही मानव में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं करता। इसके अतिरिक्त उक्त सिद्धांत के समर्थकों द्वारा की गई प्राकृतिक अशुभ की व्याख्या वास्तविकता पर आधारित नहीं है। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक विपत्तियों से उत्पन्न भयंकर दुःख व्यक्तियों को धार्मिक बनाने के स्थान पर उन्हें प्रायः धर्म का विरोधी बना देता है। बहुत-से व्यक्ति दीर्घ काल तक तीव्र दुःख भोगते रहने के कारण ईश्वर के घोर विरोधी हो जाते हैं। इस प्रकार अधिकतर मनुष्यों पर प्राकृतिक दुःख का प्रभाव इस सिद्धांत के समर्थकों द्वारा बताए गए प्रभाव के ठीक विपरीत ही होता है, अतः यह सिद्धांत सत्य और वास्तविक प्रतीत नहीं होता। इस सिद्धांत के विरुद्ध तीसरी आपत्ति यह है कि यह ईश्वर को नैतिक दृष्टि से मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक निकृष्ट बना देता है। हम ऐसे मनुष्य की निंदा करते हैं जो अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाता है। स्पष्ट है कि यदि ईश्वर भी ऐसा ही करता है तो उसे पूर्णतया शुभ मानने के स्थान पर नैतिक दृष्टि से निकृष्ट मानना अनिवार्य हो जाता है। अपनी अपार शक्ति का प्रदर्शन करने के उद्देश्य से स्वयं अपनी ही संतान को भयंकर दुःख देने वाला ईश्वर निश्चय ही अत्यंत दयालु तथा नैतिक दृष्टि से पूर्ण नहीं हो सकता। संक्षेप में उपर्युक्त सभी आपत्तियाँ इस सिद्धांत को अशुभ की समस्या का समुचित समाधान करने की दृष्टि से नितांत असंतोषप्रद बना देती हैं।

(3) बहुत-से ईश्वरवादी यह मानते हैं कि शुभ को जानने और उसके महत्त्व को समझने के लिए अशुभ का होना अनिवार्य है, अतः इस संसार में अशुभ का अस्तित्व सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतः शुभ ईश्वर के विरुद्ध नहीं है। इन ईश्वरवादियों का कथन है कि दुःख प्राप्त करने के पश्चात ही हम वास्तव में सुख के स्वरूप और महत्त्व को भलीभाँति समझ सकते हैं। यदि हमें दुःख का अनुभव न हो तो हम सुख को सुख के रूप में कभी नहीं जान सकेंगे और न अपने जीवन में उसका मूल्य ही समझ पाएँगे। इसके अतिरिक्त दुःख मनुष्य में साहस, धैर्य आदि नैतिक सद्गुण उत्पन्न करके उसके चरित्र को अधिक दृढ़ बनाता है। दुःख भोगने वाला व्यक्ति विपत्तियों से पराजित न हो कर उनके विरुद्ध संघर्ष करता है और अंततः विजयी होता है। मनुष्य के चरित्र को दृढ़ बनाने के साथ-साथ दुःख ही उसमें दूसरों के प्रति वास्तविक सहानुभूति, स्नेह तथा उदारता उत्पन्न करता है। जिस व्यक्ति ने स्वयं अपने जीवन में कष्ट सहा है वही अन्य दुःखी व्यक्तियों के प्रति सच्ची सहानुभूति का अनुभव कर सकता है और उनके दुःख-निवारण के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। यह सहानुभूति ही मनुष्य का आत्म-विस्तार करके उसे संपूर्ण प्राणी-जगत् के साथ संबद्ध करती है। दुःख के अभाव में मानव सहानुभूति-शून्य तथा पूर्णतः आत्मकेंद्रित प्राणी बनकर रह जाएगा।

ईश्वरवादियों के मतानुसार दुःख मनुष्य को साहसी, धैर्यवान, उदार तथा दयालु बनाने के अतिरिक्त उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति में भी बहुत सहायक सिद्ध होता है। यदि मनुष्य को किसी प्रकार के दुःख का अनुभव न हो तो वह निष्चेष्ट तथा निष्क्रिय हो जाएगा

और अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में कभी कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसी आधार पर मानव जीवन के लिए दुःख के महत्त्व का वर्णन करते हुए निवेन कहते हैं कि : "भौतिक दुःख मनुष्य को आगे बढ़ाने वाली वह अभिप्रेरणा है जिसने उसे वे सफलताएँ प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया है जिनके कारण मानव-इतिहास इतना आश्चर्यजनक है। कठिनाई कष्टदायक.तो होती है, किंतु वह आविष्कार की जननी भी है। जहाँ भौतिक कष्टों के न्यूनतम होने के कारण जीवन सुखमय या आरामदायक है वहाँ हम मनुष्य को शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक दृष्टि से पतित पाते हैं"।[3] निवेन की भाँति विलियम टैम्पल, जी०एच० जॉएस आदि अन्य अनेक ईश्वरवादी भी इसी आधार पर भौतिक दुःख को मानव-जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक मानते हैं। उनका कथन है कि दुःख ही मनुष्य सहित सभी प्राणियों को जीवन में निरंतर सक्रिय बनाए रखता है। उदाहरणार्थ, भूख से उत्पन्न पीड़ा के कारण वे गतिशील होते हैं और कर्म करते हैं। यदि दुःख न होता तो सभी प्राणी सदा निष्क्रिय पड़े रहते। ईश्वरवादियों का दावा है कि संसार में दुःख की उपस्थिति से संबंधित उपर्युक्त सभी तथ्य ईश्वरवाद का खंडन करने के स्थान पर वास्तव में उसका समर्थन ही करते हैं।

अशुभ की समस्या के समाधान के विषय में उपर्युक्त सिद्धांत पूर्ववर्णित अन्य दो सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वस्तुतः सामान्य व्यक्ति इस सिद्धांत को पूर्णतः सत्य और संतोषप्रद मान सकता है। परंतु यदि इस सिद्धांत पर अधिक गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि अन्य दो सिद्धांतों की भाँति यह सिद्धांत भी अशुभ की समस्या का संतोषजनक समाधान नहीं कर पाता। इस सिद्धांत के विरुद्ध भी बहुत-सी गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिनके कारण इसका तर्कसंगत रूप से समर्थन करना असंभव हो जाता है। इस सिद्धांत के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि यह शुभ को अशुभ से पृथक और स्वतंत्र न मानकर उस पर पूर्णतः निर्भर बना देता है। इसके अनुसार हम अशुभ के साथ शुभ की तुलना करके ही शुभ के स्वरूप तथा महत्व को जान सकते हैं। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि यदि संसार में अशुभ न हो तो हमारे लिए शुभ के स्वरूप और महत्त्व को समझना संभव नहीं है। परंतु इस सिद्धांत के समर्थकों की यह मान्यता वास्तव में सत्य प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि शारीरिक या मानसिक सुख की अनुभूति के लिए दुःख का अनुभव अनिवार्य नहीं है। उदाहरणार्थ, किसी कोमल वस्तु का स्पर्श करने, सुंदर दृश्य को देखने, सुगंधित वस्तु को सूंघने, संगीत एवं कविता को सुनने और साहित्य के अध्ययन से हमें जो सुख प्राप्त होता है वह किसी प्रकार के दुःख की अनूभूति पर निश्चय ही निर्भर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि दुःख के रूप में अशुभ का अनुभव किए बिना भी मनुष्य सुख के रूप में शुभ का अनुभव प्राप्त कर सकता है, अतः शुभ के स्वरूप तथा महत्त्व को समझने के लिए दुःख के अनुभव को अनिवार्य नहीं माना जा सकता। फिर यदि उक्त सिद्धांत के समर्थकों के मत को स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि अशुभ पर पूर्णतः निर्भर होने के कारण इस जगत् में विशुद्ध रूप में शुभ की सत्ता है ही नहीं। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यह मान्यता वास्तव में मिथ्या है।

---

3. डब्ल्यू० डी० निवेन, 'ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजन ऐंड ऐथिक्स'

इस सिद्धांत के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इसके समर्थक अशुभ के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए जो तर्क देते हैं उसके आधार पर ईश्वर को अशुभ के उत्तरदायित्व से बचाया नहीं जा सकता। यदि यह मान लिया जाए कि मनुष्य अशुभ का अनुभव किए बिना शुभ को नहीं जान सकता तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों है और मनुष्य की इस सीमा का उत्तरदायित्व किस पर है। ईश्वरवादी ईश्वर को ही मनुष्य का रचयिता मानते हैं, अतः इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उसकी इस सीमा के लिए अंततः स्वयं ईश्वर ही उत्तरदायी है। सर्वशक्तिमान होने के कारण वह मनुष्य को अशुभ का अनुभव किए बिना ही शुभ के स्वरूप और महत्त्व को समझने की क्षमता प्रदान कर सकता था, किंतु उसने ऐसा नहीं किया। यदि ईश्वर चाहता तो वह जगत् में केवल शुभ को ही उत्पन्न करता और यदि ऐसा होतातो अशुभ पर शुभ की निर्भरता का प्रश्न ही न उठता। स्पष्ट है कि शुभ को अशुभ पर निर्भर मानकर न तो अशुभ के महत्त्व को सिद्ध किया जा सकता है और न ही ईश्वर को इस संसार में विद्यमान अशुभ के उत्तरदायित्व से बचाया जा सकता है। फिर जो ईश्वर मनुष्य को केवल अशुभ के अनुभव के आधार पर ही शुभ का अनुभव करने की क्षमता प्रदान करता है उसे परोपकारक या अत्यंत दयालु नहीं माना जा सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी को कष्ट देने के पश्चात ही उसे सुख प्रदान करे तो उसे हम दयालु मानकर उसकी प्रशंसा नहीं कर सकते। इस प्रकार यह सिद्धांत ईश्वर की करुणावृत्ति अथवा दयालुता का खंडन करता है।

इस सिद्धांत की तीसरी कठिनाई यह है कि इसमें जिस तर्क के आधार पर मानव-जीवन के लिए दुःख के रूप में अशुभ का महत्त्व बताया गया है वह पूर्णतः सत्य और विश्वसनीय नहीं है। यह ठीक है कि कुछ परिस्थितियों में मनुष्य अपने दुःख का निराकरण करने के लिए कार्य करता है, किंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि वह केवल इसी अभिप्रेरणा से प्रेरित होकर जीवन में कर्म करता है। दुःख से मुक्ति की इच्छा से अतिरिक्त अन्य अनेक अभिप्रेरणाएँ भी मनुष्य को कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं। उदाहरणार्थ, वह महत्त्वाकांक्षा तथा साहित्य, कला, प्राकृतिक सौंदर्य आदि विभिन्न स्रोतों से आनंद प्राप्त करने की इच्छा द्वारा प्रेरित होकर भी कर्म करता है। ऐसी स्थिति में यह कहना एकांगी होगा कि मनुष्य केवल दुःख निवारण की इच्छा से प्रेरित होकर ही गतिशील होता है और कर्म करता है। फिर यदि उक्त सिद्धांत के समर्थकों के मत को स्वीकार कर लिया जाए तो इससे यही सिद्ध होता है कि पहले तो ईश्वर ने जगत् में दुःख के रूप में अशुभ को उत्पन्न किया और फिर मनुष्य की रचना इस प्रकार से की कि वह दुःख-निवारण की इच्छा से प्रेरित होकर ही समस्त कर्म करे। ईश्वर संसार में दुःख को उत्पन्न न करके मनुष्य की रचना ऐसे ढंग से भी कर सकता था कि वह केवल शुभ की अभिवृद्धि के लिए ही निरंतर कार्यरत रहता। यदि ईश्वर ने ऐसा नहीं किया तो इसका उत्तरदायित्व स्वयं उसी पर है, मनुष्य पर नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त तर्क द्वारा संसार में अशुभ की उपस्थिति को महत्त्वपूर्ण तथा न्यायोचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस सिद्धांत के विरुद्ध चौथी आपत्ति यह है कि इसके समर्थक मानव-जीवन में दुःख के महत्त्व को अत्यंत अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह सत्य है कि कुछ परिस्थितियों में दुःख मनुष्य में धैर्य, साहस तथा दूसरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है। परंतु इसके साथ ही हमें

यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि दीर्घकालीन तीव्र दुःख का मनुष्य पर अत्यंत घातक प्रभाव पड़ता है। ऐसा दुःख भोगने वाला मनुष्य प्रायः बहुत चिड़चिड़े स्वभाव का और अत्यधिक आत्म-केंद्रित हो जाता है। दूसरों के हित या सुख की चिंता किए बिना किसी प्रकार अपने दुःख से मुक्ति प्राप्त करना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि लंबे समय तक चलने वाला तीव्र दुःख मनुष्य के चरित्र को दृढ़ करने के स्थान पर उसके धैर्य को नष्ट कर देता है और उसे अत्यधिक निराश तथा स्वार्थी बना देता है। ऐसे दुःख को निश्चय ही शुभ की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि का साधन नहीं माना जा सकता। इस प्रकार मानव-जीवन के लिए दुःख के महत्त्व के विषय में उक्त सिद्धांत के समर्थकों की मान्यता पूर्णतः सत्य नहीं है।

उपर्युक्त चार आपत्तियों के अतिरिक्त इस सिद्धांत के विरुद्ध पाँचवीं आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि पूर्ववर्णित अन्य दो सिद्धांतों की भाँति यह सिद्धांत भी नैतिक अशुभ की व्याख्या नहीं कर पाता। हम देख चुके हैं कि मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष, वासना, क्रूरता, प्रतिशोध की भावना आदि दुर्गुणों के रूप में नैतिक अशुभ विद्यमान है। इस नैतिक अशुभ के कारण ही मानव अनेक प्रकार के अपराधों में लिप्त होता है और अपने साथियों तथा अन्य प्राणियों पर अत्याचार करता है। उक्त सिद्धांत के समर्थक इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते कि मनुष्य में यह नैतिक अशुभ क्यों है और इसके लिए उत्तरदायी कौन है। इस संबंध में लाइब्नीज़ का कथन है कि मनुष्य स्वभावतः अपूर्ण है और नैतिक अशुभ उसकी इसी अपूर्णता का परिणाम है। अब यदि लाइब्नीज के इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो मनुष्य में विद्यमान नैतिक अशुभ के लिए ईश्वर को उत्तरदायी मानना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि ईश्वरवादियों के अनुसार उसी ने मनुष्य की रचना की है। इसके अतिरिक्त उक्त सिद्धांत के समर्थक इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की भी उपेक्षा करते हैं कि यह नैतिक अशुभ स्वयं मनुष्य के लिए अत्यंत घातक है। वे मानव-जीवन के लिए भौतिक अशुभ के महत्त्व को तो अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करते हैं, किंतु नैतिक अशुभ की घातकता के विषय में वे कुछ भी नहीं कहते जिसके कारण उनका सिद्धांत एकांगी तथा असंतोषप्रद हो जाता है।

इस सिद्धांत के विरुद्ध छठी आपत्ति यह है कि इसके समर्थक दुःख के रूप में भौतिक अशुभ से उत्पन्न कुछ नैतिक सद्गुणों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं। यह सत्य है कि दुःख के फलस्वरूप मनुष्य में साहस, धैर्य, करुणा, दानशीलता, परोपकारवृत्ति आदि सद्गुण उत्पन्न होते हैं और उन्हें नैतिक दृष्टि से शुभ भी माना जाता है। परंतु हमें इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि मूलतः दुःख के रूप में अशुभ पर निर्भर होने के कारण ये सद्गुण पूर्ण शुभ नहीं हैं। इनका एकमात्र मूल आधार किसी न किसी प्रकार का दुःख है। इसी कारण जी०ई० मूर ने इन्हें पूर्ण शुभ न मानकर 'मिश्रित शुभ' की संज्ञा दी है।[4] इसका अर्थ यह है कि दुःख मनुष्य में जिन 'सद्गुणों को' उत्पन्न करता है वे उन सद्गुणों की अपेक्षा निम्न कोटि के हैं जो दुःख पर निर्भर नहीं हैं। उदाहरणार्थ, हम मनुष्यों के पारस्परिक प्रेम, प्राकृतिक सौंदर्य तथा साहित्य, संगीत एवं अन्य ललित कलाओं से प्राप्त होने वाले आनंद, दार्शनिक चिंतन,

4. जी० ई० मूर, 'प्रिंसिपिया ऐथिका', अध्याय 6

सत्य की खोज आदि को स्वतः शुभ मानते हैं, किंतु ये सब किसी प्रकार के दुःख पर निर्भर नहीं हैं। इसी कारण इन्हें दुःख से उत्पन्न साहस, धैर्य, करुणा, दानशीलता आदि सद्गुणों की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट कोटि के सद्गुण माना जाता है। वस्तुतः इन्हीं सद्गुणों की उत्पत्ति और अभिवृद्धि में पूर्ण शुभ निहित है। परंतु दुःख की अनिवार्यता और महत्ता को सिद्ध करने के लिए ईश्वरवादी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं। दुःख के फलस्वरूप उत्पन्न सद्गुणों का महत्त्व अवश्य है, किंतु मूलतः अशुभ पर आधारित होने के कारण ये केवल नकारात्मक सद्गुण हैं। ऐसी स्थिति में ये मानव-जीवन के लिए आदर्श अथवा परम शुभ नहीं हो सकते। दुःख के अभाव में न तो इन सद्गुणों का अस्तित्व संभव है और न मानव-जीवन के लिए इनकी कोई आवश्यकता ही रह जाती है। इस प्रकार ईश्वरवादियों का यह मत उचित और युक्तिसंगत नहीं है कि अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने के कारण दुःख मनुष्य के लिए अनिवार्य तथा वांछनीय है।

अंत में उक्त सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति भी उठाई जा सकती है जिसका संबंध दुःख के वितरण और उसकी मात्रा से है। इस सिद्धांत के समर्थक यह मान लेते हैं कि विश्व में दुःख का न्यायपूर्ण वितरण हुआ है और इसमें उसकी उचित मात्रा विद्यमान है। परंतु उनकी ये दोनों मान्यताएँ मिथ्या तथा आपत्तिजनक हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि इस संसार में दुःख का वितरण उचित और न्यायपूर्ण नहीं है। कुछ व्यक्तियों को बहुत अधिक दुःख भोगना पड़ता है और कुछ को बहुत कम। कुछ व्यक्ति जन्म से ही विकलांग होने के कारण आजीवन अनेक प्रकार के कष्ट भोगते रहते हैं जबकि कुछ अन्य व्यक्ति प्रायः पूर्णतः स्वस्थ रहकर अपने जीवन में सभी प्रकार के सुख प्राप्त करते हैं। ईश्वरवादी दुःख के इस अन्यायपूर्ण वितरण की कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर पाते। वे प्रायः पाप के सिद्धांत के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं, किंतु हम देख चुके हैं कि यह सिद्धांत नितांत असंतोषप्रद है। भारतीय ईश्वरवादी दार्शनिक कर्म-सिद्धांत द्वारा दुःख के इस अन्यायपूर्ण वितरण की व्याख्या करते हैं। परंतु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह सिद्धांत भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं है। इस प्रकार ईश्वरवादी इस विश्व में दुःख के अनुचित एवं अन्यायपूर्ण वितरण की कोई युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाते।

उपर्युक्त समस्या के अतिरिक्त ईश्वरवादियों के इस सिद्धांत की एक अन्य समस्या है संसार में दुःख की मात्रा। वे यह मान लेते हैं कि इस जगत् में दुःख उचित मात्रा में विद्यमान है। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि ईश्वर द्वारा स्थापित इस विश्व की व्यवस्था में जितना दुःख विद्यमान है उतना ही अनिवार्य तथा वांछनीय है। परंतु ईश्वरवादियों की यह मान्यता अत्यधिक आपत्तिजनक है। इसका कारण यह है कि इस मान्यता को स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप दुःख का निराकरण करने अथवा उसे कम करने का संपूर्ण मानवीय प्रयास पूर्णतः व्यर्थ और अनावश्यक ही नहीं, अपितु अनुचित तथा अवांछनीय भी हो जाता है। यह कहना बहुत कठिन है कि ईश्वरवादी अपने सिद्धांत के इस अनिवार्य परिणाम को स्वीकार करने के लिए कहाँ तक उद्यत होंगे। वे स्वयं यह मानते हैं कि दुःख को दूर या कम करना मनुष्य का कर्तव्य है। परंतु उनके सिद्धांत के साथ उनकी इस मान्यता की संगति स्थापित करना संभव नहीं है। वस्तुतः यदि उनका सिद्धांत सत्य है तो हमें यही कहना पड़ेगा कि दुःख को समाप्त अथवा कम

करने का प्रयास ईश्वरीय व्यवस्था के विरुद्ध होने के कारण घोर पाप या अपराध है। इस प्रकार पूर्ववर्णित अन्य दो सिद्धांतों के समान ही यह सिद्धांत भी दुःख-निवारण के समस्त मानवीय प्रयास को अनुचित और अवांछनीय बना देता है। यह इस सिद्धांत का निश्चय ही बहुत गंभीर दोष है जिसके कारण इसे स्वीकार करना असंभव हो जाता है। संक्षेप में इस सिद्धांत के विरुद्ध, उपर्युक्त सभी आपत्तियों के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अन्य दो सिद्धांतों की भाँति यह सिद्धांत भी अशुभ की समस्या का तर्कसंगत और संतोषप्रद समाधान करने में सफल नहीं हो पाता।

(4) अभी तक हमने जिन सिद्धांतों पर विचार किया है वे सभी अशुभ की यथार्थ सत्ता को स्वीकार करते हुए सर्वशक्तिमान तथा परम शुभ ईश्वर के साथ उसकी संगति स्थापित करने का प्रयास करते हैं। परंतु कुछ ईश्वरवादी अशुभ के वास्तविक अस्तित्व का ही निषेध करते हैं। उनका मत है कि इस जगत् में अशुभ की यथार्थ एवं वस्तुपरक सत्ता नहीं है, वह तो मनुष्य का केवल भ्रम है। जिसे हम अशुभ समझते हैं वह हमारे संकुचित दृष्टिकोण का ही परिणाम है। यदि हम उस पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार करें तो वह हमें अशुभ प्रतीत नहीं होगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस घटना को हम अपने लिए अशुभ समझते हैं वही कालांतर में हमारे लिए सुखद तथा हितकर सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त जिसे हम अशुभ कहते हैं वह हमारी मानसिक अनुभूति मात्र होने के कारण केवल व्यक्तिनिष्ठ अनुभव है, बाह्य जगत् में उसकी कोई वस्तुपरक सत्ता नहीं है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि दुःख के रूप में अशुभ विषयक हमारा मानसिक अनुभव वास्तविक न होकर केवल भ्रम है। परम शुभ ईश्वर द्वारा रचित इस जगत् में केवल शुभ की ही यथार्थ और वस्तुपरक सत्ता है। जो हमें अशुभ प्रतीत होता है वह भी वास्तव में शुभ ही है, किंतु इसे समझने के लिए अधिक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इसी सिद्धांत का समर्थन करते हुए ब्रैडले ने लिखा है कि : "अंततः समस्त सत्ता, विचार तथा भावना एक ही हो जाते हैं, अतः हम यह भी कह सकते हैं कि इस ब्रह्मांड में प्रत्येक वस्तु पूर्णतया शुभ है"।[5] ब्रैडले की भाँति लाइब्नीज़ भी अशुभ के विषय में इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि यह जगत् सर्वोत्तम है जिसमें अशुभ का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार उक्त सिद्धांत के समर्थक अशुभ को भ्रम मात्र मानकर उसके अस्तित्व का पूर्ण रूप से निषेध करते हैं।

परंतु अशुभ की समस्या के समाधान के संबंध में यह सिद्धांत पूर्णतः भ्रामक और मिथ्या है। इस सिद्धांत के समर्थक उक्त समस्या का समाधान करने के स्थान पर उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं। दुःख के रूप में जिस अशुभ का अनुभव इस संसार का प्रत्येक प्राणी करता है उसे वे केवल भ्रम मानते हैं। परंतु मूल प्रश्न यह है कि क्या अशुभ को केवल भ्रम कह देने से उसकी कठोर वास्तविकता का निषेध किया जा सकता है। वस्तुतः समस्त प्राणियों द्वारा दुःख के रूप में प्रति दिन अनुभव किए जाने वाले अशुभ के अस्तित्व को अस्वीकार करके अशुभ की समस्या का समाधान करना संभव नहीं है, किंतु यह सिद्धांत इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करता है।

---

5. एफ० एच० ब्रैडले, 'अपीयरैंस ऐंड रियैलिटी', पृ० 412

फिर यदि इस सिद्धांत के समर्थकों का यह मत स्वीकार कर लिया जाए कि अशुभ केवल भ्रम है तो यह प्रश्न उठता है कि संसार के समस्त प्राणियों में यह व्यापक भ्रम किसने उत्पन्न किया है। यदि ईश्वर ने यह भ्रम उत्पन्न किया है तो वही इसके लिए उत्तरदायी है, अशुभ का अनुभव करने वाले प्राणी नहीं। यदि ईश्वर ने यह भ्रम उत्पन्न नहीं किया है तो फिर यह कहाँ से आया है और इसकी उत्पत्ति की व्याख्या कैसे की जा सकती है? सर्वशक्तिमान तथा परम दयालु होने के नाते क्या ईश्वर का यह कर्तव्य नहीं है कि वह संसार के प्राणियों को इस व्यापक भ्रम से मुक्त करे? इस सिद्धांत के समर्थक इन प्रश्नों का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाते। वस्तुतः अशुभ को केवल भ्रम कहकर भी वे ईश्वर को इसके उत्तरदायित्व से बचा नहीं सकते, क्योंकि यदि अशुभ एक भ्रम है तो ईश्वर ने ही इसे उत्पन्न किया है और वही इसके लिए उत्तरदायी है।

उक्त सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति यह है कि दुःख के रूप में अशुभ का अनुभव करने वाले मनुष्य को इससे कोई सांत्वना प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत यह सिद्धांत उसके दुःख में वृद्धि ही करता है। उदाहरणार्थ, यदि तीव्र शारीरिक पीड़ा से छटपटाते हुए किसी व्यक्ति से यह कहा जाए कि उसका दुःख वास्तविक न होकर केवल भ्रम है और उसके संकुचित दृष्टिकोण का परिणाम है तो यह उसके प्रति घोर निर्दयता होगी जिसके फलस्वरूप उसके दुःख में निश्चय ही वृद्धि होगी। सत्य तो यह है कि उस व्यक्ति के लिए इस तीव्र पीड़ा के अनुभव की अपेक्षा अधिक वास्तविक संसार में और कुछ नहीं है। इसे भ्रम कहना उसके लिए घृणास्पद अनर्गल प्रलाप मात्र है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह सिद्धांत मिथ्या ही प्रमाणित होता है।

उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त इस सिद्धांत की एक अन्य कठिनाई यह है कि पूर्ववर्णित सिद्धांतों की भाँति यह भी नैतिक अशुभ की व्याख्या नहीं कर पाता। इसके समर्थक हमें यह नहीं बताते कि मनुष्य में दुर्गुणों के रूप में नैतिक अशुभ क्यों है और इसके लिए कौन उत्तरदायी है। नैतिक अशुभ को केवल भ्रम कहकर निश्चय ही इसके स्वरूप तथा इसकी उत्पत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। दुःख के रूप में भौतिक अशुभ के समान ही यह नैतिक अशुभ भी जीवन की एक कठोर वास्तविकता है जिसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु उक्त सिद्धांत के समर्थक इस नैतिक अशुभ के स्वरूप की कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं करते।

अंत में इस सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि पूर्ववर्णित अन्य सिद्धांतों की भाँति यह सिद्धांत भी दुःख-निवारण विषयक मानवीय प्रयास को निरर्थक और अनावश्यक बना देता है। यदि दुःख केवल भ्रम है और उसकी वास्तविक सत्ता है ही नहीं तो उसके निराकरण के लिए मनुष्य द्वारा प्रयास करने का प्रश्न नहीं उठता। ऐसी स्थिति में दुःख को भूलकर उसके प्रति उदासीन हो जाना ही मनुष्य के लिए एकमात्र विकल्प रह जाता है—फिर चाहें यह दुःख कितना ही तीव्र और दीर्घकालीन क्यों न हो। परंतु दुःख के प्रति उदासीनता का यह दृष्टिकोण अवास्तविक ही नहीं, अपितु निर्दयतापूर्ण तथा मानव-जीवन के लिए अत्यंत घातक भी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार आचरण करके कोई भी प्राणी इस जगत् में जीवित नहीं रह सकता। वास्तव में दुःख—विशेषतः तीव्र एवं दीर्घकालीन दुःख—के प्रति

उदासीन रहना न तो संभव है और न वांछनीय। परंतु यह सिद्धांत इस आधारभूत तथ्य की पूर्णत: उपेक्षा करता है। संक्षेप में उपर्युक्त सभी कठिनाइयों तथा दोषों के कारण यह सिद्धांत भी अन्य सिद्धांतों के समान ही अशुभ की समस्या का समुचित एवं संतोषप्रद समाधान करने में असमर्थ है।

(5) कुछ ईश्वरवादी स्वयं ईश्वर द्वारा निर्मित प्राकृतिक नियमों के आधार पर अशुभ की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। उनका कथन है कि ईश्वर ने जिन प्राकृतिक नियमों का निर्माण किया है वे कुल मिलाकर सभी प्राणियों के हित के लिए अनिवार्य हैं। इन नियमों में कारणता का नियम, सुख-दु:ख का नियम तथा एकरूपता का नियम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन प्राकृतिक नियमों के फलस्वरूप ही पर्यावरण में स्थिरता आती है और हम इस जगत् की कार्य-प्रणाली को समझने में समर्थ होते हैं। यदि ये नियम न हों तो जगत् में सर्वत्र अराजकता फैल जाएगी। उदाहरणार्थ, इन नियमों के अभाव में जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र आदि सभी प्राकृतिक वस्तुएँ सदैव अपने अनिवार्य स्वभाव के अनुरूप कार्य न करके कभी-कभी उसके विपरीत भी कार्य करेंगी। स्पष्ट है कि ऐसी अराजकता की स्थिति में न तो जगत् की कार्य-प्रणाली को समझा जा सकेगा और न प्राणियों को कोई सुख ही प्राप्त हो सकेगा। इस स्थिति में विज्ञान का उदय तथा विकास निश्चय ही असम्भव हो जाएगा। यही कारण है कि ईश्वर ने इस जगत् को ऐसे स्थायी प्राकृतिक नियमों के अधीन रखा है जो बिना किसी अपवाद के सदा और सर्वत्र समान रूप से कार्य करते हैं। परंतु इन नियमों के कारण कभी कुछ प्राणियों को सुख प्राप्त होता है और कभी दु:ख। उदाहरण के लिए, यदि कोई प्राणी अग्नि के संपर्क में आ जाए तो वह अवश्य जलेगा जिससे उसे अनिवार्यत: कष्ट होगा। इस स्थिति में ईश्वर भी उसकी कोई सहायता नहीं कर सकता। यदि ईश्वर प्राणियों के सुख के लिए इन प्राकृतिक नियमों में हस्तक्षेप करने लगे तो ये नियम निरर्थक हो जाएँगे और संसार में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। इसी कारण इन प्राकृतिक नियमों के अधीन रहकर सभी प्राणियों को सुख के साथ-साथ दु:ख भी अनिवार्यत: भोगना पड़ता है। परंतु अंतत: इन नियमों के फलस्वरूप समस्त प्राणियों का हित ही होता है।

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर इसी सिद्धांत का समर्थन करते हुए बर्टोकी कहते हैं कि : "हमें ऐसा पानी नहीं मिल सकता जो प्यास तो बुझाए किंतु लोगों को डुबोए नहीं, ऐसी आग नहीं मिल सकती जो घरों को गर्म तो करे किंतु मांस को जलाए नहीं, ऐसे मन प्राप्त नहीं हो सकते जो संवेदनशील तो हों किंतु विक्षिप्त या अस्वस्थ न हो सकें"।[6] बर्टोकी की भाँति एक अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक, ट्रब्लड भी इसी सिद्धांत के अनुसार अशुभ की व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि : "स्थिर पर्यावरण के बिना व्यक्तिगत जीवन का विकास नहीं हो सकता। ... ईश्वर ने सीमित प्राणियों के विकास के लिए जो पर्यावरण प्रदान किया है वह भौतिक पर्यावरण है और उसकी स्थिरता इस बात में निहित है कि वह नियमों द्वारा शासित होता है। ... मूल बात यह है कि यदि हमारे व्यक्तिगत विकास के लिए ऐसा स्थिर पर्यावरण अनिवार्य है

---

6. पी० ए० बर्टोकी, 'इंट्रोडक्शन टु दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 414

तो सभी व्यक्तियों के लिए सभी स्थितियाँ समान रूप से सुखद नहीं हो सकतीं। सच्चाई यह है कि वर्षा कुछ मानवीय उद्देश्यों के लिए सहायक हो सकती है और कुछ के लिए हानिकारक। जिन्हें हम 'दुर्घटनाएँ' कहते हैं उनका घटित होना अनिवार्य है। यदि अच्छा काम करने के लिए चाकू तेज़ हैं तो वे उन अंगुलियों को काटने के लिए भी तेज़ ही होंगे जो वह काम करती हैं"।[7] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उक्त सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार प्राकृतिक नियमों के कारण प्राणियों के लिए सुख के साथ-साथ दुःख की उत्पत्ति भी अनिवार्य है, परंतु ये नियम सभी प्राणियों के हित के लिए आवश्यक हैं, अतः इनसे उत्पन्न दुःख ईश्वरवाद का खंडन नहीं करता।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या यह सिद्धांत ईश्वर को दुःख के उत्तरदायित्व से मुक्त करके अशुभ की समस्या का संतोषजनक समाधान करता है। यह सत्य है कि प्राणियों के विकास के लिए प्राकृतिक नियम अनिवार्य हैं और हमारा संपूर्ण विज्ञान अंततः इन्हीं नियमों पर आधारित है। यह भी ठीक है कि इन नियमों के कारण प्राणियों को कभी सुख प्राप्त होता है और कभी दुःख। परंतु कठिनाई यह है कि ईश्वरवादी ईश्वर को ही इन प्राकृतिक नियमों का निर्माता मानते हैं जो परम शुभ होने के साथ-साथ सर्वशक्तिमान भी है। उनका यह भी दावा है कि ईश्वर ने प्राणियों के सुख या हित के लिए इन नियमों का निर्माण किया है। ऐसी स्थिति में ईश्वरवादियों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ईश्वर ऐसे प्राकृतिक नियमों का निर्माण नहीं कर सकता था जिनके फलस्वरूप सभी प्राणियों को केवल सुख प्राप्त होता। वे इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि वे ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर के लिए कुछ भी करना असंभव नहीं है। यदि ईश्वर चाहता तो वह सभी प्राणियों को सदा सुख देने वाले प्राकृतिक नियमों का निर्माण कर सकता था, किंतु उसने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह प्राणियों के दुःख को समाप्त या कम नहीं करना चाहता, अतः उनके इस दुःख के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। यदि किसी देश की सरकार प्रभुत्वसंपन्न होते हुए भी अपने नागरिकों के लिए केवल ऐसे क़ानून बनाए जिनका पालन करने के कारण उन्हें कभी सुख प्राप्त हो और कभी दुःख भोगना पड़े तो निश्चय ही उसे 'अच्छी सरकार' नहीं कहा जा सकता। ठीक यही बात ईश्वर के विषय में भी कहीं जा सकती है। सर्वशक्तिमान ईश्वर से सभी प्राणियों को सदा सुख देने वाले प्राकृतिक नियमों के निर्माण की आशा करना किसी ऐसे कार्य की आशा करना नहीं है जो उसके लिए असंभव हो। इस प्रकार उक्त सिद्धांत के समर्थक प्राकृतिक नियमों के आधार पर ईश्वर को उस व्यापक और तीव्र दुःख के उत्तरदायित्व से नहीं बचा सकते जो इन नियमों के कारण कभी न कभी सभी प्राणियों को भोगना पड़ता है।

इस सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि इसके द्वारा सभी प्रकार के भौतिक अशुभ की व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, कैंसर, पोलियो आदि भयंकर रोगों से उत्पन्न दुःख

---

7. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 253

के लिए किन्हीं प्राकृतिक नियमों को उत्तरदायी सिद्ध करना बहुत कठिन है, क्योंकि ये रोग प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने के कारण नहीं होते। इसी प्रकार कुछ जन्मजात शारीरिक दोषों तथा मानसिक विकृतियों को भी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन का परिणाम नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि इन सबके कारण जो दु:ख उत्पन्न होता है उसकी व्याख्या उक्त सिद्धांत के आधार पर करना संभव नहीं है।

अंत में इस सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि पूर्ववर्णित अन्य सिद्धांतों की भाँति यह सिद्धांत भी नैतिक अशुभ की व्याख्या नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि मनुष्य में जो नैतिक अशुभ है वह प्राकृतिक नियमों से उत्पन्न नहीं होता, अतः इन नियमों के आधार पर इस अशुभ की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रकार उपर्युक्त सभी कठिनाइयों तथा दोषों के कारण यह सिद्धांत भी अशुभ की समस्या का समुचित समाधान करने में सफल नहीं हो पाता।

(6) अभी तक हमने अशुभ की समस्या के समाधान से संबंधित जिन सिद्धांतों पर विचार किया है वे सभी ईश्वरवाद के संदर्भ में केवल भौतिक या प्राकृतिक अशुभ की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इनमें से कोई भी सिद्धांत नैतिक अशुभ की व्याख्या नहीं करता। परंतु संसार में नैतिक अशुभ की उपस्थिति ईश्वरवाद के लिए प्राकृतिक अशुभ की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर चुनौती प्रस्तुत करती है। ऐसी स्थिति में ईश्वरवादियों के लिए अपने सिद्धांत के अनुरूप इस नैतिक अशुभ की संतोषप्रद व्याख्या करना अनिवार्य हो जाता है। जैसा कि हम प्रथम खंड में बता चुके हैं, यह नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है। इस अशुभ की मूल विशेषता यह है कि मनुष्य इसमें सोच-समझकर और स्वेच्छया लिप्त होता है। मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के प्रति जान-बूझकर किए गए मानव के समस्त अपराध इसी नैतिक अशुभ—में सम्मिलित किए जाते हैं। इस दृष्टि से नैतिक अशुभ का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

प्राकृतिक अशुभ के अतिरिक्त इस नैतिक अशुभ के कारण भी संसार में अत्यधिक पीड़ा अथवा दु:ख की उत्पत्ति होती है अतः इस संसार के रचयिता ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा परम शुभ मानने वाले ईश्वरवादियों के लिए इस अशुभ की ऐसी व्याख्या करना अनिवार्य हो जाता है जिसके द्वारा ईश्वर को इसके उत्तरदायित्व से मुक्त किया जा सके। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने मानव के संकल्प-स्वातंत्र्य के आधार पर नैतिक अशुभ की व्याख्या करने का प्रयास किया है। ईश्वरवादियों का कथन है कि यह संकल्प-स्वातंत्र्य मनुष्य को ईश्वर का अमूल्य उपहार है जो उसे अन्य सभी प्राणियों से पृथक करता है और उनकी अपेक्षा उसे कहीं अधिक उत्कृष्ट भी बनाता है। अन्य प्राणियों के विपरीत केवल मनुष्य को ही अपनी इच्छानुसार अनेक कर्म करने तथा शुभ और अशुभ में से किसी का भी चुनाव करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। यह स्वतंत्रता ही मानव को वास्तविक अर्थ में 'व्यक्ति' बनाती है और उसे विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करती है। इसके अभाव में वह केवल एक कठपुतली अथवा यंत्र बनकर रह जाएगा। यही कारण है कि मानव के इस संकल्प-स्वातंत्र्य को विशेष महत्त्व दिया जाता है और इसे ही नैतिकता का मूल आधार माना जाता है।

ईश्वरवादियों का मत है कि मनुष्य में जो नैतिक अशुभ है वह वास्तव में उसके द्वारा ईश्वरप्रदत्त इस स्वतंत्रता के दुरुपयोग का ही दुष्परिणाम है। मानव कभी-कभी जान-बूझकर शुभ का परित्याग करते हुए अशुभ का चुनाव करता है और इस प्रकार उस स्वतंत्रता का दुरुपयोग करता है जो ईश्वर ने उसे प्रदान की है। उसके द्वारा अपनी स्वतंत्रता के इस दुरुपयोग के परिणामस्वरूप ही जगत् में नैतिक अशुभ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ईश्वरवादियों के अनुसार नैतिक अशुभ के लिए स्वयं मनुष्य ही उत्तरदायी है, ईश्वर नहीं। यदि मनुष्य चाहे तो वह सदैव शुभ का चुनाव करते हुए नैतिक अशुभ से बच सकता है। परंतु वह कई बार जान-बूझकर अशुभ का ही चुनाव करता है और इसी कारण संसार में नैतिक अशुभ का जन्म होता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में इस नैतिक अशुभ का उत्तरदायित्व ईश्वर पर न होकर स्वयं मनुष्य पर ही है। ईश्वरवादियों का कथन है कि ईश्वर मानव को सदैव शुभ का चुनाव करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहता, क्योंकि यदि वह ऐसा करता है तो इससे मानव की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। ट्रूब्लड के शब्दों में :—"यदि मनुष्य को शुभत्व के चुनाव के लिए विवश किया जाए तो ईश्वर का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। इसके अतिरिक्त यह शुभत्व वास्तविक नहीं होगा। एक ऐसे यंत्र का शुभत्व, जिसके समक्ष और कोई विकल्प है ही नहीं, वस्तुतः शुभत्व बिल्कुल नहीं है। वह प्राणी जो स्वेच्छया, किंतु ग़लत ढंग से, शुभ वस्तु का चुनाव करता है उस प्राणी की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है जिसके समक्ष अन्य कोई विकल्प ही नहीं है। यदि शुभत्व की संभावना में चयन सम्मिलित है तो इसमें अशुभ की संभावना भी निहित है, और यदि यह संभावना वास्तविक है तो कभी-कभी यह यथार्थता में भी परिणत हो जाएगी। ... पाप करना हमारा दोष है, ईश्वर का नहीं, यद्यपि ईश्वर ने हमें इस प्रकार बनाया है कि पाप कर सकें, क्योंकि यदि वह ऐसा न करता तो जीवन में सर्वोत्तम को प्राप्त नहीं किया जा सकता था। ... अशुभ वह मूल्य है जो हम नैतिक स्वतंत्रता के लिए देते हैं"।[8] ट्रूब्लड की भाँति अन्य बहुत-से ईश्वरवादी भी इसी प्रकार संकल्प-स्वातंत्र्य के आधार पर नैतिक अशुभ की व्याख्या करते हुए इसके लिए केवल मनुष्य को ही उत्तरदायी मानते हैं।

परंतु पूर्ववर्णित अन्य सिद्धांतों की भाँति इस सिद्धांत के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। सर्वप्रथम इस सिद्धांत की आधारभूत मान्यता ही विवादास्पद है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य को संकल्प-स्वातंत्र्य प्राप्त है जिसके द्वारा वह शुभ और अशुभ में स्वयं अपनी इच्छानुसार चुनाव कर सकता है। परंतु कुछ दार्शनिक मनुष्य के इस संकल्प-स्वातंत्र्य का पूर्णतः निषेध करते हैं। उनका कथन है कि वास्तव में मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं, उसके समस्त कर्म उसकी शारीरिक संरचना, आनुवंशिकता, स्वभावगत विशेषताओं तथा बाह्य परिस्थितियों द्वारा ही निर्धारित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति आज जो कुछ है और जो कुछ करता है उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी न होकर उपर्युक्त सभी तत्त्व ही उत्तरदायी हैं। मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य कुछ दार्शनिकों की कल्पना मात्र हैं। इस प्रकार अनेक दार्शनिक पूर्ण या कठोर नियतत्ववाद में विश्वास करते हैं

---

८. वही पुस्तक, पृ० 249-25।

जिसमें संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं हैं। यदि इस कठोर नियतत्ववाद को स्वीकार कर लिया जाए तो उपर्युक्त सिद्धांत का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। परंतु इस आपत्ति के उत्तर में ईश्वरवादी यह कह सकते हैं कि मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य का निषेध करने वाला कठोर नियतत्ववाद वास्तव में मिथ्या है। अनेक दार्शनिक ईश्वरवादियों के इस मत का समर्थन करते हुए मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं और इसे ही नैतिकता का मूल आधार मानते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या संकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार कर लेने पर ईश्वरवादियों के उपर्युक्त सिद्धांत को संतोषजनक माना जा सकता है। मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि केवल संकल्प-स्वातंत्र्य के आधार पर अशुभ की समस्या का समुचित समाधान करना संभव नहीं है। हम देख चुके हैं कि यह सिद्धांत केवल नैतिक अशुभ की व्याख्या करने का दावा करता है। परंतु जगत् में नैतिक अशुभ के अतिरिक्त भौतिक या प्राकृतिक अशुभ का भी अस्तित्व है जिसकी व्याख्या इस सिद्धांत के आधार पर नहीं की जा सकती। भूकम्प, तूफान, अकाल, ज्वालामुखियों के विस्फोट आदि अनेक प्राकृतिक आपदाओं के कारण लाखों प्राणियों को अत्यधिक कष्ट सहन करना पड़ता है। परंतु इन आपदाओं के लिए मनुष्य को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है। ऐसी स्थिति में इन प्राकृतिक विपत्तियों से उत्पन्न दुःख की व्याख्या के लिए मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य नितांत अप्रासंगिक है। इसी प्रकार रोगों तथा अन्य प्राकृतिक कारणों के फलस्वरूप पशु-पक्षियों को जो पीड़ा सहन करनी पड़ती है उसका भी संकल्प-स्वातंत्र्य के साथ कोई संबंध नहीं है, क्योंकि इन प्राणियों में उसके अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वरवादियों का उपर्युक्त सिद्धांत प्राकृतिक अशुभ की व्याख्या करने में पूर्णतः असमर्थ है।

इस सिद्धांत की एक अन्य कठिनाई यह है कि यह ईश्वर को नैतिक अशुभ के उत्तर-दायित्व से भी नहीं बचा पाता जिसका यह दावा करता है। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक अशुभ मनुष्य द्वारा उस स्वतंत्रता के दुरुपयोग का ही परिणाम है जो उसे ईश्वर ने प्रदान की है। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर पहले से ही यह जानता था कि मनुष्य इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग करेगा। यह जानते हुए भी उसने मनुष्य को स्वतंत्रता दी जिसके दुरुपयोग के फलस्वरूप जगत् में नैतिक अशुभ का जन्म हुआ। यदि ईश्वर मनुष्य को यह स्वतंत्रता न देता अथवा उसके स्वभाव का निर्माण इस प्रकार करता कि वह इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग न कर सकता—अर्थात् वह केवल शुभ का ही चुनाव करने में समर्थ होता तो निश्चय ही इस संसार में नैतिक अशुभ की उत्पत्ति न होती। परंतु सर्वज्ञ होते हुए भी ईश्वर ने मनुष्य को स्वतंत्रता देकर नैतिक अशुभ की उत्पत्ति को संभव बनाया, अतः इस अशुभ के उद्गम का अंतिम उत्तरदायित्व स्वयं ईश्वर पर ही है। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए ईश्वरवादी यह कह सकते हैं कि संकल्प-स्वातंत्र्य वास्तव में अत्यंत मूल्यवान वस्तु है जिसके बिना मनुष्य एक यंत्र मात्र बनकर रह जाता, अतः मनुष्य को यह संकल्प-स्वातंत्र्य प्रदान करके ईश्वर ने उसका बहुत बड़ा उपकार किया है। परंतु ईश्वरवादियों के इस तर्क के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि संकल्प-स्वातंत्र्य के अभाव में यदि मनुष्य केवल शुभ को

ही अपनाने में समर्थ होता तो नैतिक अशुभ का जन्म न होने के कारण इस विश्व की स्थिति कुल मिलाकर उत्कृष्ट और वांछनीय होती। सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर ऐसे अशुभ रहित विश्व की रचना कर सकता था, किंतु ऐसा न करके उसने विश्व में संकल्प-स्वातंत्र्य के साथ शुभ और अशुभ दोनों को उत्पन्न किया। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि इस जगत् में नैतिक अशुभ के लिए अंततः ईश्वर ही उत्तरदायी है।

फिर यदि यह मान लिया जाए कि नैतिक अशुभ मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का ही परिणाम है तो यह प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य इसका दुरुपयोग क्यों करता है। इस का एक मात्र तर्कसंगत उत्तर यही है कि अपनी दुष्प्रवृत्तियों के कारण ही मनुष्य संकल्प-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करता है। ईर्ष्या, द्वेष, वासना, लालच, क्रूरता, प्रतिशोध की भावना आदि दुष्प्रवृत्तियाँ न होतीं तो वह सदा शुभ का ही चुनाव करता। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य में ये दुष्प्रवृत्तियाँ किसने उत्पन्न की हैं। इस प्रश्न के उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि ईश्वर ने ही मनुष्य के स्वभाव में इन दुष्प्रवृत्तियों को सम्मिलित किया है, क्योंकि वही उसका रचयिता है। सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कोई भी अन्य शक्ति उसके स्वभाव में ये दुष्प्रवृत्तियाँ सम्मिलित नहीं कर सकती। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि अपने स्वभाव में अनिवार्यतः सम्मिलित इन दुष्प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य संकल्प-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करते हुए नैतिक अशुभ का जो चुनाव करता है उसका अंतिम उत्तरदायित्व मानव-स्वभाव के रचयिता ईश्वर पर ही है, मनुष्य पर नहीं। यह कठिनाई उन सभी ईश्वरवादी दार्शनिकों के समक्ष उपस्थित होती है जो मनुष्य को अंशतः अच्छा और अंशतः बुरा मानते हैं। परंतु उन धर्मपरायण विचारकों के लिए यह कठिनाई और भी अधिक गंभीर हो जाती है जो मानव को पूर्णतः पतित एवं पापी समझते हैं। इन विचारकों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि परम शुभ ईश्वर ने अपनी संतान मनुष्य को पूर्णतया पतित तथा पापी क्यों बनाया अथवा बनने दिया है। सर्वशक्तिमान ईश्वर निश्चय ही मनुष्य को इस दयनीय स्थिति से बचा सकता था, किंतु यदि ईश्वर ने ऐसा नहीं किया है तो संसार में नैतिक अशुभ के लिए केवल उसे ही उत्तरदायी मानना अनिवार्य हो जाता है।

उपर्युक्त कठिनाई के साथ अनिवार्यतः संबद्ध एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि यदि ईश्वर स्वयं पूर्णतः शुभ है, जैसा कि ईश्वरवादी दावा करते हैं, तो वह मानव-स्वभाव में अशुभ प्रवृत्तियों को कैसे सम्मिलित कर सकता है। मनुष्य के रचयिता परम शुभ ईश्वर में तो अशुभत्व हो ही नहीं सकता, फिर मनुष्य में यह अशुभत्व कैसे और कहाँ से आ जाता है। ईश्वरवादी अपने सिद्धांत में संगति बनाए रखते हुए इस प्रश्न के उत्तर में यह नहीं कह सकते कि ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति ने मनुष्य के स्वभाव में अशुभ प्रवृत्तियों को सम्मिलित किया है। यदि वे ऐसा कहते हैं तो उन्हें ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के विचार का परित्याग करना पड़ेगा जिससे उनके अपने मूल सिद्धांत का खंडन होगा। इस प्रकार जो ईश्वरवादी दार्शनिक मानव को अंशतः अथवा पूर्णतः पतित और पापी मानते हैं वे अनिवार्यतः इस गंभीर कठिनाई में उलझ जाते हैं जिससे मुक्त होना उनके लिए असंभव हो जाता है। वस्तुतः यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा परम शुभ दोनों ही है, जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं, तो मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य के आधार पर उसे जगत् में विद्यमान नैतिक अशुभ के उत्तरदायित्व

से बचाया नहीं जा सकता। ऐसा ईश्वर मनुष्य को संकल्प-स्वातंत्र्य प्रदान करने के साथ-साथ उसे सदैव शुभाचरण करने में भी समर्थ बना सकता था। यह कार्य उसके लिए निश्चय ही असंभव नहीं था। अब भी मनुष्य अपने समक्ष विद्यमान अनेक शुभ विकल्पों में से अपनी इच्छानुसार स्वतंत्रतापूर्वक किसी एक शुभ विकल्प का चुनाव करने में समर्थ है। मनुष्य की इस क्षमता को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर चाहता तो वह उसे केवल शुभ विकल्पों में से सदैव किसी एक शुभ विकल्प का चुनाव करने की स्वतंत्रता प्रदान कर सकता था। ऐसी स्थिति में मानव को संकल्प-स्वातंत्र्य भी प्राप्त हो जाता और इस जगत में नैतिक अशुभ की भी उत्पत्ति न होती। परंतु सर्वशक्तिमान तथा परम शुभ होते हुए भी ईश्वर ने ऐसा नहीं किया, अतः इस संसार में विद्यमान नैतिक अशुभ के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है, मनुष्य नहीं। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि पूर्ववर्णित अन्य सभी सिद्धांतों की भाँति सकल्प-स्वातत्र्य संबंधी यह सिद्धांत भी उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के कारण अशुभ की समस्या का समुचित एवं संतोषप्रद समाधान नहीं कर पाता।

(7) अशुभ की समस्या से संबंधित उपर्युक्त सभी समाधानों की असफलता से निराश होकर कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर के परंपरागत स्वरूप में ही संशोधन करने के लिए उद्यत हो गए हैं। इन दार्शनिकों में विलियम जेम्स, एच० रेश्डल, ई०एस० ब्राइटमैन, पी०ए० बर्टोकी, डी०ई० ट्रब्लड आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर पूर्णतया शुभ तो है, किंतु वह सर्वशक्तिमान नहीं है। उसकी शक्ति की भी कुछ अनिवार्य सीमाएँ हैं जिनके कारण वह अपनी इच्छानुसार सब कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर इस संसार मे अशुभ को पूर्णतः हटाना तो चाहता है, किंतु वह ऐसा करने में असमर्थ है। इसी कारण इन ईश्वरवादियों का कथन है कि ईश्वर ने जिस जगत् की रचना की है वह यथासंभव सर्वोत्तम है—अर्थात् वह इसकी अपेक्षा अधिक अच्छे जगत् की रचना नहीं कर सकता था। अपनी इसी मान्यता के आधार पर ये दार्शनिक ईश्वर को इस जगत् में विद्यमान अशुभ के उत्तरदायित्व से पूर्णतः मुक्त मानते हैं। उनके मतानुसार चाहते हुए भी ईश्वर इस जगत् से अशुभ का पूर्णतः निराकरण नहीं कर पाता। अपने इसी सिद्धांत के आधार पर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का निषेध करते हुए बर्टोकी कहते हैं कि: "मूल रूप में ईश्वर का अनुभव हमारे अनुभव से भिन्न नहीं है।... उसके जीवन में भी चुनौती, आनंद तथा संघर्ष विद्यमान हैं"।[9] इसी प्रकार ट्रब्लड भी ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को अस्वीकार करते हैं। इस संबंध में उनका कथन है कि: "'सर्वशक्तिमान' शब्द बहुत ही अस्पष्ट है। यदि इसका अर्थ कुछ भी करने की क्षमता है तो यह व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक है।... पर्याप्त समय से यह माना जाता रहा है कि ईश्वर तर्कशास्त्र के नियमों द्वारा सीमित है।... दुःख उत्पन्न करने वाली स्थितियों को जन्म दिए बिना ईश्वर भी परस्पर निर्भर व्यक्तियों के समुदाय की रचना नहीं कर सकता।... यदि सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ कुछ भी करने की क्षमता है तो निश्चय ही ईश्वर

---

9. पी० ए० बर्टोकी, 'इंट्रोडक्शन टु दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 433

सर्वशक्तिमान नहीं है"।[10] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुछ ईश्वरवादियों ने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का निषेध करके अशुभ की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है।

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अशुभ की समस्या के उपर्युक्त समाधान के लिए इन ईश्वरवादियों को अपने मूल सिद्धांत, ईश्वरवाद का परित्याग करके बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा है। इसी कारण बहुत-से ईश्वरवादियों ने भी उनके इस समाधान की तीव्र आलोचना की है। इन में एफ़० एस० फ़ेरे तथा एफ़० आर० टैनैंट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फ़ेरे का निश्चित मत है कि यदि हम ईश्वर की पूर्णता की कोई भी सीमा स्वीकार कर लेते हैं तो ईश्वर की संपूर्ण अवधारणा ही नष्ट हो जाती है।[11] इसी प्रकार टैनैंट भी उक्त सिद्धांत का विरोध करते हुए कहते हैं कि विश्व की बुराइयाँ ईश्वर की सीमा को प्रमाणित नहीं करतीं।[12] इन दोनों ईश्वरवादी दार्शनिकों की भाँति अन्य अनेक ईश्वरवादियों ने भी ईश्वर की सीमा के सिद्धांत को पूर्णतः अस्वीकार किया है। इन ईश्वरवादियों की यह आलोचना उचित ही है, क्योंकि उपर्युक्त सिद्धांत ईश्वरवाद या एकेश्वरवाद का परित्याग करके ही अशुभ की समस्या का समाधान कर पाता है। यदि ईश्वर इस अर्थ में सर्वशक्तिमान नहीं है कि वह अपनी इच्छानुसार जगत् से अशुभ का निराकरण कर सके तो निश्चय ही वह बहुत सीमित हो जाता है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के निषेध का अर्थ यह है कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति भी है जो उसकी अपेक्षा अधिक प्रबल होने के कारण उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर सकती है। यदि ऐसी किसी अन्य शक्ति को स्वीकार कर लिया जाए तो ईश्वरवाद अथवा एकेश्वरवाद समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि अधिकतर ईश्वरवादी ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का निषेध करने वाले उपर्युक्त सिद्धांत को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं।

वस्तुतः इस सिद्धांत के समर्थक उन तीन कथनों में से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से संबंधित कथन का निषेध करके ही अशुभ समस्या का समाधान करने का प्रयास करते हैं जिनका उल्लेख दूसरे खंड में किया गया है। इससे यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतया शुभ दोनों ही मानते हुए उक्त समस्या का समाधान करना असंभव है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, यदि कोई व्यक्ति जगत् में अशुभ की उपस्थिति, ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता एवं उसके पूर्ण शुभत्व इन तीनों में से किसी एक का भी निषेध करता है तो उसके लिए अशुभ की समस्या उस रूप में उत्पन्न नहीं होती जिस रूप में यह ईश्वरवादियों के समक्ष उपस्थित होती है और जिस रूप में यहाँ इसकी विवेचना की गई है। ऐसी स्थिति में इस समस्या के समाधान का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धांत के समर्थक अशुभ की समस्या का समाधान करने के लिए अपने मूल सिद्धांत, ईश्वरवाद या एकेश्वरवाद का ही परित्याग कर देते हैं जिसके कारण अधिकतर ईश्वरवादी भी उनके इस समाधान को उचित एवं संतोषप्रद नहीं मानते।

---

10. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 245-246
11. एफ़० एस० फ़ेरे, 'फ़ेथ ऐंड रीज़न', पृ० 181
12. एफ़० आर० टैनैंट, 'फ़िलॉसॉफ़ीकल थियोलॉजी', खंड 2, पृ० 201

(8) अशुभ की समस्या के लिए अभी तक प्रस्तुत किए गए सभी समाधानों की असफलता को ध्यान में रखते हुए कुछ ईश्वरवादी यह कहते हैं कि वास्तव में इस समस्या को समझना और इस का समाधान करना मनुष्य की क्षमता से परे है। उनके मतानुसार जीवन और जगत् के विषय में मनुष्य का ज्ञान सीमित हैं, फिर ईश्वरीय शाश्वत सत्यों को जानने में तो वह नितांत असमर्थ है। ऐसी स्थिति में उसे यह प्रश्न उठाने का कोई अधिकार नहीं है कि ईश्वर ने इस जगत् में जो व्यवस्था की है वह उचित है या नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा परम दयालु है, अतः वह जो कुछ करता है वही उचित और न्यायसंगत है। सच्चा ईश्वरोपासक सभी परिस्थितियों में ईश्वर की व्यवस्था को सहर्ष स्वीकार करता है। वह अपने जीवन में घोर यातनाएँ सहकर भी यही कहता और अनुभव करता है कि ईश्वर अत्यंत दयालु है। इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार मनुष्य अपनी सीमित तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर के महान उद्देश्यों तथा कार्यों को नहीं समझ सकता, अतः उसे संसार में विद्यमान दुःख को अशुभ कहने का कोई अधिकार नहीं है। वस्तुतः उसे अपनी सीमित तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर की व्यवस्था को चुनौती देते हुए अशुभ की समस्या समझने और उसका समाधान करने का प्रयास ही नहीं करना चाहिए। ऐसा करना केवल व्यर्थ ही नहीं, अपितु मनुष्य की धृष्टता भी है जो नितांत अनुचित और निंदनीय है। संत ऑगस्टाइन स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य बहुत-सी समस्याओं को समझने में असमर्थ है और अशुभ की समस्या भी उनमें से एक है। इस प्रकार उक्त सिद्धांत के समर्थक अशुभ की समस्या के समाधान के संबंध में मानवीय प्रयास को ही अनुचित और निरर्थक मानते हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि उपर्युक्त सिद्धांत वास्तव में अशुभ की समस्या का कोई समाधान नहीं है और न ही वह इस समस्या के समाधान का दावा करता है। इसके विपरीत यह सिद्धांत अशुभ की समस्या के समाधान के लिए मनुष्य द्वारा किए गए संपूर्ण प्रयास का ही निषेध करता है। ऐसी स्थिति में इस सिद्धांत को अशुभ की समस्या का संतोषप्रद समाधान मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि इस सिद्धांत के समर्थक ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और परम दयालुता में अपनी आस्था को सुरक्षित रखने के लिए ही इस समस्या के समाधान के संबंध में मानवीय प्रयास को व्यर्थ मानते हैं। उनके इस सिद्धांत के विरुद्ध कम से कम दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। सर्वप्रथम इस सिद्धांत के समर्थकों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि अशुभ की समस्या को समझना मनुष्य की तर्कबुद्धि से परे है। हम दूसरे खंड में बता चुके हैं कि अशुभ की समस्या वास्तव में तार्किक समस्या है। मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि द्वारा भलीभाँति समझ सकता है कि निम्नलिखित दो कथनों में तार्किक व्याघात विद्यमान है :– (क) ''ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा परम शुभ या अत्यंत दयालु है'': (ख) ''उसके द्वारा रचित जगत् में दुःख और दुराचार के रूप में अशुभ का अस्तित्व है''। इन दोनों कथनों को एक साथ स्वीकार करने में जो स्वतोव्याघात है उसे समझना निश्चय ही मनुष्य की तर्कबुद्धि से परे नहीं है। वह भलीभाँति यह जान सकता है कि ये दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं जिन्हें एक साथ स्वीकार करने के कारण अशुभ की समस्या का जन्म होता है।

उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इसके समर्थक अशुभ की समस्या को तो मनुष्य की तर्कबुद्धि से परे मानते हैं, किंतु वे अन्य सभी धार्मिक विषयों के संबंध में

उसकी इस तर्कबुद्धि के महत्त्व को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, वे ईश्वर के अस्तित्व और आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं जिसका अर्थ यह है कि उनके अनुसार ईश्वर एवं आत्मा को समझना मनुष्य की तर्कबुद्धि से परे नहीं है। इसी प्रकार वे यह सिद्ध करने के लिए भी अनेक तर्क देते हैं कि इस जगत् का रचयिता ईश्वर ही है। इन उदाहरणों से यही प्रमाणित होता है कि ये ईश्वरवादी आत्मा, ईश्वर आदि धार्मिक विषयों के लिए युक्तियों अथवा तर्कों को बहुत महत्त्व देते हैं। ऐसी स्थिति में यह समझना अत्यंत कठिन है कि वे अशुभ की समस्या को मानवीय तर्कबुद्धि से परे कैसे मान सकते हैं। वस्तुतः वे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि अन्य धार्मिक विषयों के लिए मनुष्य की तर्कबुद्धि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अशुभ की समस्या को उससे परे मानने के फलस्वरूप स्वयं उनके अपने विचारों में गंभीर असंगति उत्पन्न हो जाती है। इससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि वे अपनी सुविधानुसार मानवीय तर्कबुद्धि का प्रयोग करते हैं और जिस समस्या के संबंध में वे ऐसा करने में असमर्थ हो जाते हैं उसे इस तर्कबुद्धि के क्षेत्र से परे मान लेते हैं। दार्शनिक दृष्टि से इन ईश्वरवादियों के इस अयुक्तिसंगत दृष्टिकोण का समर्थन करना निश्चय ही संभव नहीं है। संक्षेप में इन आपत्तियों के कारण अशुभ की समस्या के समाधान के विषय में उनके उपर्युक्त सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

4. निष्कर्ष

पिछले खंड में हमने अशुभ की समस्या के समाधान के संबंध में ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रमुख सिद्धांतों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इन सिद्धांतों की इस विवेचना से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि ईश्वरवाद के अनुरूप इस समस्या का तर्कसंगत एवं संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है—अर्थात् ईश्वर को सर्वशक्तिमान और परम शुभ मानते हुए उसके द्वारा रचित इस जगत् में दुःख तथा दुराचरण के रूप में विद्यमान अशुभ की संतोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी कारण अनेक दार्शनिक जगत् में अशुभ की उपस्थिति को परम शुभ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। इन दार्शनिकों का कथन है कि संसार में अशुभ की उपस्थिति ईश्वरवाद के विरुद्ध एक ऐसी गंभीर आपत्ति है जिसका तर्कसंगत रूप से निराकरण करना ईश्वरवादियों के लिए संभव नहीं है। ईश्वरवाद के संबंध में इन दार्शनिकों का यह मत युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है।

परंतु यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है और वह यह है कि ईश्वरवाद का परित्याग कर देने पर अशुभ की समस्या का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है—अर्थात् संसार में विद्यमान प्राकृतिक तथा नैतिक अशुभ की संतोषप्रद व्याख्या कैसे की जा सकती है और दुःख एवं दुराचार को कम करने के लिए मनुष्य क्या कर सकता है। अनेक निरीश्वरवादी दार्शनिक बहुत प्राचीन काल से इस प्रश्न पर विचार करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, गौतम बुद्ध ने दुःख के मूल कारण तथा उससे मुक्ति प्राप्त करने के उपायों की जो विवेचना की है उसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। वे मनुष्य की तृष्णा को ही दुःख का मूल कारण मानते हैं जो उनके अनुसार अविद्या से उत्पन्न होती है। परंतु उनके इस सिद्धांत की एक मुख्य कठिनाई यह है कि वे अविद्या के उद्गम तथा स्वरूप की कोई संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाते।

बौद्ध दर्शन में अविद्या के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे वह केवल तत्त्वमीमांसीय अवधारणा प्रतीत होती है। हाँ, गौतम बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग का निष्ठापूर्वक अनुसरण कर के मनुष्य नैतिक अशुभ से अवश्य मुक्त हो सकता है। परंतु रोग तथा अन्य प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न पीड़ा या दुःख के रूप में संसार के समस्त प्राणी जिस प्राकृतिक अशुभ का निरंतर अनुभव करते हैं उसका निराकरण इस अष्टांगिक मार्ग द्वारा संभव नहीं है।

अब व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि जगत् में दुःख को यथासंभव कम करने के लिए मनुष्य क्या कर सकता है। यह तो निश्चित है कि दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है, अतः उसे समाप्त करना तो संभव नहीं है। परंतु मनुष्य स्वयं अपने व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवस्था में वांछनीय परिवर्तन कर के दुःख को कुछ सीमा तक कम अवश्य कर सकता है। इसके लिए मनुष्य को दुःख उत्पन्न करने वाले मूल कारणों का भली-भाँति विश्लेषण करके उनका यथासंभव निराकरण करना होगा। यह सत्य है कि दुःख को जन्म देने वाले कुछ कारण मानव के नियंत्रण से बाहर हैं। हम देख चुके हैं कि विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक आपदाएँ सभी प्राणियों के जीवन में अत्यधिक दुःख उत्पन्न करती हैं। इन सब प्राकृतिक आपदाओं को नियंत्रित करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। परंतु वह पेड़-पौधों की सुरक्षा तथा वृद्धि, पर्यावरण की शुद्धि और अपने चारों ओर स्वच्छता के लिए अधिकाधिक प्रयास करके बाढ़, सूखा, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक विपदाओं पर कुछ सीमा तक नियंत्रण प्राप्त कर सकता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के कारण अब ये विपत्तियाँ मनुष्य के लिए उतनी भयंकर तथा दुखद नहीं रहीं जितनी ये उसके जीवन के आदिकाल में थीं। इसी प्रकार मनुष्य ने आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप अनेक घातक रोगों को भी नियंत्रित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने प्रयास द्वारा प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न दुःख को कुछ सीमा तक कम अवश्य कर सकता है।

परंतु इस संसार में दुःख केवल प्राकृतिक कारणों के फलस्वरूप ही उत्पन्न नहीं होता। इसकी उत्पत्ति का एक और प्रमुख कारण है नैतिक अशुभ जिसमें मनुष्य के समस्त दुर्गुण सम्मिलित हैं। मनुष्य स्वयं अपने दुराचरण द्वारा जगत् में जान-बूझ कर बहुत बड़ी मात्रा में दुःख को जन्म देता है। वह लालच, वासना, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध की भावना आदि अपने आंतरिक दुर्गुणों से प्रेरित होकर दूसरों के लिए तथा स्वयं अपने लिए अत्यधिक दुःख उत्पन्न करता है। आज मानव-समाज में सर्वत्र जो घोर दुःख व्याप्त है इसका एक बहुत बड़ा कारण मनुष्य का यही दुराचरण है। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का आधार सभी मनुष्यों का हित न होकर केवल उन थोड़े-से व्यक्तियों का सुख है जिन्होंने अनैतिक उपायों द्वारा सत्ता, धन तथा अन्य समस्त साधनों पर पूर्ण रूप से एकाधिकार स्थापित कर लिया है। भ्रष्टाचार पर आधारित इस सामाजिक व्यवस्था के कारण संसार में अधिकतर मनुष्यों को बहुत अधिक शारीरिक एवं मानसिक कष्ट सहन करना पड़ रहा है। नैतिक अशुभ से उत्पन्न इस प्रकार के व्यापक दुःख के लिए निश्चय ही मानव स्वयं उत्तरदायी है।

इसके अतिरिक्त विश्व के सभी राष्ट्रों में पारस्परिक भय तथा अविश्वास के कारण आज घातक शस्त्रास्त्रों की जो विनाशकारी प्रतिद्वंद्विता निरंतर बढ़ती जा रही है वह भी

मानव-समाज में अनावश्यक दुःख को जन्म दे रही है। इस प्रतिद्वंद्विता के कारण मनुष्य की अधिकाश बौद्धिक क्षमता और अपार धनराशि जन-हित के स्थान पर अत्यंत घातक शस्त्रास्त्रों के निर्माण के लिए ही व्यय की जा रही है। यदि सभी राष्ट्र इस मूर्खतापूर्ण उन्माद से मुक्त हो सकें तो मानव-समाज से दरिद्रता, रोग, अशिक्षा और बेरोज़गारी को समाप्त या बहुत कम किया जा सकता है जो मानवीय दुःख के प्रमुख कारण हैं। परंतु अभी तो यह केवल सुखद कल्पना ही प्रतीत होती है जिसकी निकट भविष्य में वास्तविकता में परिणत होने की कोई आशा दिखाई नहीं देती।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अज्ञान से उत्पन्न अंधविश्वास भी मानव-समाज में व्याप्त दुःख का एक बहुत बड़ा कारण है। अभी तक सहस्रों वर्षों में मनुष्य ने सतत प्रयास द्वारा दर्शन और विज्ञान का जो विकास किया है उसका ज्ञान कुछ थोड़े-से व्यक्तियों को ही उपलब्ध हो सका है। सारे संसार में मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या इस ज्ञान से आज भी पूर्णतः वंचित है। अब भी उन तक ज्ञान का वह आलोक नहीं पहुँच सका है जो अंधविश्वास के अंधकार को नष्ट करता है। यही कारण है कि संसार के अधिकतर व्यक्तियों का जीवन आज भी आदिकालीन अंधविश्वासों द्वारा ही शासित होता है। इन व्यक्तियों के जीवन में काल्पनिक देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों तथा हानिकारक तर्कहीन धार्मिक रीति-रिवाजों से संबंधित अंधविश्वासों का सर्वप्रथम स्थान है। यह समझना कठिन नहीं है कि अज्ञान-जनित ये अंधविश्वास उनके संपूर्ण जीवन को सदा दुःखमय बनाए रखते हैं और वे इस दुःख को ही अपने जीवन की अपरिहार्य नियति मान कर संतुष्ट हो जाते हैं। इस दुःख से मानव-समाज को मुक्त करने के लिए ज्ञान के प्रचार-प्रसार द्वारा इन अंधविश्वासों को आमूल नष्ट करना होगा। परंतु यह बड़े खेद की बात है कि विश्व के सभी धर्म इन अंधविश्वासों का निराकरण करने के स्थान पर इन्हें बनाए रखने तथा इन की वृद्धि करने में ही निरंतर सहायक हो रहे हैं। वस्तुतः धर्म का यह एक ऐसा अंधकारमय पक्ष है जिसकी ओर समुचित ध्यान देना और जिससे उसे मुक्त करने के लिए यथासंभव अधिकाधिक प्रयास करना सभी प्रबुद्ध व्यक्तियों का अनिवार्य कर्त्तव्य है। अपने इस प्रयास द्वारा वे मानवसमाज में विद्यमान दुःख को निश्चय ही कम कर सकते हैं।

इस प्रकार हम दुःख के समस्त कारणों के उपर्युक्त विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने प्रयास द्वारा इन कारणों का निराकरण कर के दुःख को पर्याप्त सीमा तक कम कर सकता है और इसके लिए उसे ईश्वर या किसी अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति से सहायता की याचना करने की आवश्यकता नहीं है।

7

धार्मिक अनुभव और रहस्यवाद

1. अनुभव का अर्थ और वर्गीकरण

तीसरे अध्याय में ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रस्तुत किए गए प्रमाणों की विवेचना करते हुए हम बता चुके हैं कि कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों ने भक्तों के धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। हम यह भी देख चुके हैं कि अनेक कठिनाइयों के कारण धार्मिक अनुभव संबंधी यह प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में सफल नहीं हो पाता। प्रस्तुत अध्याय में हम उपासकों के इस धार्मिक अनुभव तथा उससे संबंधित रहस्यवाद के विभिन्न पक्षों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। परंतु धार्मिक अनुभव एवं रहस्यवाद का विवेचन करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'अनुभव' का अर्थ क्या है और उसके मुख्य भेद कौन-कौन से हो सकते हैं। 'अनुभव' हमारे लिए सुपरिचित शब्द है जिस का प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः करते हैं और हम यह मानते हैं कि इस शब्द का अर्थ हम भलीभाँति समझते हैं। परंतु वास्तव में दार्शनिक दृष्टि से 'अनुभव' की ठीक-ठीक और सर्वसम्मत परिभाषा करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यहाँ हम अनुभव की परिभाषा से संबंधित दार्शनिकों के इस विवाद में न उलझते हुए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुभव के अर्थ और स्वरूप पर विचार करेंगे।

मनोविज्ञान के अध्येता 'अनुभव' शब्द का प्रयोग प्रायः बहुत व्यापक अर्थ में करते हैं। उनके मतानुसार मनुष्य का संपूर्ण ज्ञान, विचार तथा संकल्प और उसकी समस्त क्रियाएँ भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ एवं इच्छाएँ मूलतः अनुभव के अंतर्गत ही सम्मिलित हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य के स्वप्नों की समस्त अनुभूतियों तथा क्रियाओं को भी अनुभव के अंतर्गत ही रखा जाता है। इस प्रकार मानवीय अनुभव का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य की समस्त मानसिक क्रियाओं को ज्ञान, अनुभूति तथा संकल्प इन तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया है और ये तीनों ही मानवीय अनुभव के प्रमुख विषय हैं। मनुष्य अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा स्वयं अपना तथा बाह्य जगत् का जो ज्ञान प्राप्त करता है, सुख एवं दुःख के रूप में उसे जो मानसिक अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं और अपने संकल्प के परिणामस्वरूप वह जो शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ करता है उन सब को अनुभव में ही सम्मिलित किया जाता है। वस्तुतः कोई भी विचार, संकल्प, ज्ञान, अनुभूति और क्रिया मानवीय अनुभव की परिधि से बाहर नहीं है। कुछ दार्शनिक तो मनुष्य के अनुभव की परिधि को इससे भी अधिक विस्तृत मानते हुए यह दावा करते हैं कि अलौकिक या अतिप्राकृतिक जगत् की घटनाएँ भी उसके अनुभव का विषय हो सकती हैं। उनका कथन है कि कुछ व्यक्ति अतींद्रिय ईश्वर तथा अन्य रहस्यमयी सत्ताओं का साक्षात् अनुभव प्राप्त करते हैं जो साधारण मनुष्यों को

उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार इन दार्शनिकों के अनुसार अतींद्रिय या अलौकिक वस्तुओं को भी मानवीय अनुभव के क्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है। इन दार्शनिकों का यह दावा सत्य हो या न हो, किंतु इतना निश्चित है कि मनुष्य के अनुभव का क्षेत्र बहुत विस्तृत है जिसमें ज्ञान, अनुभूति और क्रिया सभी सम्मिलित हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की चेतना का प्रत्येक विषय उसके अनुभंव के अंतर्गत आता है।

इस व्यापक मानवीय अनुभव के अध्ययन तथा विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से इसे मुख्य चार वर्गों में विभाजित किया गया है—इंद्रियजन्य अनुभव, सौंदर्यात्मक अनुभव, नैतिक अनुभव और धार्मिक अनुभव। जैसा कि 'इंद्रियजन्य अनुभव' के नाम से ही स्पष्ट है, यह अनुभव मनुष्य अपनी विभिन्न ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, नेत्रों से वह भिन्न-भिन्न वस्तुओं तथा दृश्यों को देखता है;कानो से ध्वनियों को सुनता है; जिह्वा से विभिन्न वस्तुओं का स्वाद ग्रहण करता है , नासिका से सभी प्रकार की गंधों को सूँघता है और अपनी त्वचा से वस्तुओं का स्पर्श करता है। इन सभी ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त बाहय जगत् संबंधी मनुष्य का संपूर्ण अनुभव इंद्रियजन्य अनुभव है। इसी अनुभव के माध्यम से मनुष्य भौतिक वस्तुओं के रूप, रंग, आकार, ठोसपन, उनकी कोमलता, कठोरता आदि सभी गुणों का ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार संपूर्ण भौतिक जगत् इंद्रियजन्य अनुभव का मूल विषय है। भौतिक जगत् के अतिरिक्त मनुष्य आत्मनिरीक्षण द्वारा स्वयं अपने सुख-दुःख, आशा-निराशा, विचार-संकल्प, इच्छा-अनिच्छा आदि का जो साक्षात् ज्ञान प्राप्त करता है उसे भी इंद्रियजन्य अनुभव के अंतर्गत ही रखा जा सकता है। मनुष्य का अपना मन ही उसके उस आंतरिक अनुभव का एकमात्र माध्यम है। मनुष्य का यह आंतरिक अनुभव व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होने के कारण 'व्यक्तिनिष्ठ अनुभव' कहलाता है। इस दृष्टि से यह आंतरिक अनुभव मनुष्य के बाहय जगत् संबंधी उस अनुभव से भिन्न है जिसे 'वस्तुनिष्ठ अनुभव' माना जाता है, क्योंकि समान परिस्थितियों में सभी सामान्य व्यक्ति समान रूप से यह अनुभव प्राप्त करते हैं। इंद्रियजन्य अनुभव के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह अनुभव सर्वाधिक व्यापक है और, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यही अनुभव अन्य सभी प्रकार के अनुभवों का मूल आधार है।

परंतु विवेकयुक्त तथा सृजनशील प्राणी होने के कारण मनुष्य के अनुभव की परिधि केवल उसके इंद्रियजन्य अनुभव तक ही सीमित नहीं है। इस अनुभव के अतिरिक्त वह सौंदर्यात्मक, नैतिक और धार्मिक अनुभव भी प्राप्त करता है जो अन्य प्राणियों को उपलब्ध नहीं है। मनुष्य भोजन, वस्त्र तथा मकान संबंधी अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति से ही संतुष्ट नहीं होता। वह अपने चारों ओर विद्यमान संपूर्ण पर्यावरण, वस्तुओं, व्यक्तियों तथा अन्य प्राणियों को सुंदर और आकर्षक भी देखना चाहता है। अपने जीवन में वह जिन वस्तुओं का प्रयोग करता है उनकी उपयोगिता के साथ-साथ वह उनके सौंदर्य तथा आकर्षण की ओर भी विशेष रूप से ध्यान देता है। वह केवल भोजन कर के पेट ही नहीं भरना चाहता, अपितु खाद्य पदार्थों को आकर्षक भी बनाना चाहता है। जब वह वस्त्र धारण करता है तो उसका उद्देश्य केवल अपना शरीर ढकना ही नहीं होता, प्रत्युत सुंदर वस्त्रों द्वारा अपने व्यक्तित्व को

आकर्षक बनाना भी होता है। इसी प्रकार मनुष्य केवल सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि से बचने के लिए ही मकान नहीं बनाता, अपितु वह इन मकानों को अधिकाधिक सुंदर और आकर्षक बनाने का भी प्रयास करता है। इतना ही नहीं, वह साहित्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं द्वारा स्वयं भी सौंदर्य का सृजन कर के इन सब का आनंद प्राप्त करता है। साहित्य और कला के साथ-साथ वह चंद्रमा, तारागणों, हिमाच्छादित पर्वतीय शिखरों, वृक्षों, लताओं, पुष्पों तथा अन्य मनोरम प्राकृतिक दृश्यों की सुंदरता पर भी मुग्ध होता है। मनुष्य व्यक्तियों के आकर्षक रूप, साहित्य, कला तथा प्रकृति के सुरम्य दृश्यों के माध्यम से सुंदरता की यह जो अनुभूति प्राप्त करता है उसे ही 'सौंदर्यात्मक अनुभव' की संज्ञा दी जाती है। इसी अनुभव को साहित्यिक भाषा में 'रसानुभूति' कहा जाता है जो साहित्य का मूल तत्त्व है और जो उसे दर्शन, विज्ञान, धर्म, नैतिकता, राजनीति आदि से पृथक करती है। वस्तुतः यह सौंदर्यात्मक अनुभव ही मनुष्य के जीवन को सरस तथा आनंदमय बनाता है, अतः इसके अभाव में वह निरंतर कार्य करने वाला एक यंत्र मात्र रह जाएगा। इस अनुभव का मूल आधार मनुष्य का इंद्रियजन्य अनुभव ही है, क्योंकि वह अपनी ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से ही इसे प्राप्त करने में समर्थ होता है। परंतु मनुष्य की सौंदर्य-चेतना उसे इस सौंदर्यात्मक अनुभव को ग्रहण करने और इसका आनंद प्राप्त करने में सक्षम बनाती है। इस प्रकार मानव-जीवन में इस सौंदर्यात्मक अनुभव का विशेष महत्त्व है।

सौंदर्यात्मक अनुभव के अतिरिक्त नैतिक अनुभव का भी मनुष्य के जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य में इस नैतिक अनुभव का उद्गम और विकास उसके सामाजिक जीवन के परिणामस्वरूप ही होता है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है और जन्म से मृत्यु तक उसका संपूर्ण जीवन समाज में ही व्यतीत होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का अन्य मनुष्यों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनिवार्यतः प्रभाव पड़ता है। दूसरों पर मानवीय आचरण के इस अनिवार्य प्रभाव के कारण ही नैतिकता का जन्म होता है जिसके अंतर्गत वे सभी मूल्य, आदर्श, नियम और रीति-रिवाज सम्मिलित हैं जो एक-दूसरे के प्रति मनुष्यों के व्यवहार को शासित तथा नियमित करते हैं। मनुष्य का नैतिक अनुभव उसके सामाजिक जीवन से उत्पन्न इसी नैतिकता का अनिवार्य परिणाम है। इस नैतिकता के कारण ही मनुष्य अपने तथा अन्य व्यक्तियों के कुछ कर्मों के प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव करता है और कुछ अन्य कर्मों के प्रति अननुमोदन की भावना का। उदाहरणार्थ, जब वह अपनी किसी दुर्बलता के कारण अपने नैतिक कर्तव्य की पूर्ति करने में असफल होता है अथवा अपने नैतिक आदर्श या नियम के विरुद्ध आचरण करता है तो उसके मन में आत्म-ग्लानि तथा पश्चाताप की भावना उत्पन्न होती है। इसके विपरीत जब वह अपने नैतिक आदर्श अथवा कर्तव्य के अनुरूप आचरण करने में सफल हो जाता है तो उसे विशेष प्रकार की आत्म-तुष्टि का अनुभव होता है। अपने आचरण की भाँति दूसरों के आचरण की भी मनुष्य के मन पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। उदाहरण के लिए, जब वह यह देखता है कि कोई व्यक्ति किसी निर्दोष मनुष्य या अन्य प्राणी पर घोर अत्याचार कर रहा है तो उस अत्याचारी के प्रति उसके मन में तीव्र क्षोभ और नैतिक अननुमोदन की भावना उत्पन्न होती है जो उसे अत्याचारी को दंड देने के लिए प्रेरित करती है। इसके विपरीत जब वह किसी व्यक्ति को संकटग्रस्त मनुष्य अथवा अन्य प्राणी की सहायता करते हुए देखता है तो वह उसके प्रति

प्रशंसा तथा नैतिक अनुमोदन की भावना का अनुभव करता है। ऐसे परोपकारी व्यक्ति के प्रति उसके मन में सम्मान की भावना उत्पन्न होती है। नैतिक अनुमोदन, अननुमोदन, आत्म-तुष्टि, पश्चाताप, आत्म-ग्लानि आदि उपर्युक्त सभी मानवीय नैतिक भावनाओं को ही सम्मिलित रूप में 'नैतिक अनुभव' कहा जाता है। मनुष्य का यह नैतिक अनुभव उसके जीवन की ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक करती है और उनकी अपेक्षा उसे नैतिक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट बनाती है। यह नैतिक अनुभव भी अंततः मनुष्य के इंद्रियजन्य अनुभव पर ही आधारित है, क्योंकि इसके लिए भी किसी न किसी प्रकार का इंद्रियजन्य अनुभव अनिवार्य है। परंतु इंद्रियजन्य अनुभव के साथ-साथ इस नैतिक अनुभव के लिए मनुष्य में उस नैतिक चेतना का होना भी आवश्यक है जो उसके सामाजिक जीवन से उत्पन्न होती है और उसे नैतिक प्राणी बनाती है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि अपने उपर्युक्त नैतिक अनुभव के कारण ही मनुष्य वास्तविक अर्थ में 'मनुष्य' कहलाता है, अतः उस के जीवन में इस अनुभव का अत्यधिक महत्त्व है।

ऊपर जिन तीन प्रकार के अनुभवों का उल्लेख किया गया है उनके अतिरिक्त अधिकतर व्यक्तियों को एक अन्य विशेष प्रकार का अनुभव भी प्राप्त होता है जिसे 'धार्मिक अनुभव' कहा जाता है और जो इन तीनों प्रकार के अनुभवों से भिन्न है। इस धार्मिक अनुभव के उद्गम तथा स्वरूप पर हम अगले खंड में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस धार्मिक अनुभव में उपर्युक्त तीनों प्रकार के अनुभव प्रायः सम्मिलित रहते हैं।

धार्मिक अनुभव की विवेचना करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सभी प्रकार के मानवीय अनुभवों का आधारभूत स्वरूप समान ही होता है। प्रत्येक अनुभव में अनुभवकर्ता, अनुभव की प्रक्रिया तथा अनुभूत वस्तु—ये तीनों पक्ष या तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं। सर्वप्रथम अनुभव के लिए किसी ऐसे मनुष्य या अन्य प्राणी का अस्तित्व आवश्यक है जो स्वयं अनुभव प्राप्त करता है। अनुभव प्राप्त करने वाले ऐसे प्राणी को ही 'अनुभवकर्ता' की संज्ञा दी जाती है जिसके अभाव में अनुभव की उत्पत्ति संभव नहीं है। इस दृष्टि से अनुभवकर्ता को अनुभव का मूल आधार माना जा सकता है जो अनुभव का साक्षी है। यह अनुभवकर्ता अनुभव की संपूर्ण अवधि के अंतर्गत एक विशेष मानसिक प्रक्रिया से गुजरता है जिसे 'अनुभव की प्रक्रिया' कहा जाता है। यह अनुभव की मानसिक प्रक्रिया प्रत्येक अनुभव में अवश्य विद्यमान रहती है, किंतु इसका स्वरूप विभिन्न प्रकार के अनुभवों के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। उपर्युक्त दो तत्त्वों के अतिरिक्त अनुभूत वस्तु भी अनुभव का अनिवार्य तत्त्व है। अनुभवकर्ता जिस भौतिक या अभौतिक वस्तु का अनुभव प्राप्त करता है उसे ही 'अनुभूत वस्तु' की संज्ञा दी जाती है। यह अनुभूत वस्तु कोई भौतिक पदार्थ भी हो सकता है और अमूर्त विचार या आदर्श भी। परंतु किसी प्रकार की अनुभूत वस्तु के बिना अनुभव की उत्पत्ति संभव नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि अनुभव के लिए अनुभूत वस्तु और अनुभवकर्ता इन दोनों का पृथक-पृथक अस्तित्व अनिवार्य है। इन दोनों में भेद या द्वैत को स्वीकार किए बिना अनुभव के स्वरूप की तर्कसंगत व्याख्या संभव नहीं है।

अनुभवकर्ता जिस वस्तु का अनुभव प्राप्त करता है उसका अनुभवकर्ता से भिन्न होना अनिवार्य है, क्योंकि इन दोनों को एक ही मान लेने पर अनुभव के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया की बोधगम्य व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रकार अनुभवकर्ता, अनुभव की मानसिक प्रक्रिया तथा अनुभूत वस्तु इन तीनों तत्त्वों के आधार पर ही अनुभव के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनुभव—चाहे वह किसी भी प्रकार का हो—एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इस दृष्टि से—अर्थात् तथ्य के रूप में—अनुभव को न तो सत्य कहा जा सकता है और न मिथ्या। हाँ, प्रत्येक अनुभव की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की जा सकती है और यह व्याख्या सत्य अथवा मिथ्या हो सकती है। यह बात सभी प्रकार के अनुभवों के विषय में कही जा सकती है। यदि किसी अनुभव की व्याख्या उससे संबंधित तथ्यों के अनुरूप है तो उसे सत्य कहा जा सकता है और यदि वह इन तथ्यों के विपरीत है तो उसे मिथ्या मानना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कोई व्यक्ति अपने मित्र के आने की बड़ी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है। अपने पास आते हुए किसी मनुष्य के पैरों की ध्वनि सुन कर यदि वह यह सोचता है कि उसका मित्र आ रहा है और आने वाला व्यक्ति यदि वास्तव में उसका मित्र ही है तो उसके द्वारा की गई अपने इंद्रियजन्य अनुभव की यह व्याख्या सत्य मानी जाएगी। परंतु यदि आने वाला व्यक्ति उसका मित्र न होकर डाकिया अथवा अखबार वाला है तो उसकी इस व्याख्या को मिथ्या ही कहा जाएगा। यही नियम अन्य सभी प्रकार के अनुभवों की व्याख्या के संबंध में भी लागू होता है। परंतु इंद्रियजन्य अनुभव के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से संबंधित तथ्यों की व्याख्या के विषय में तीव्र व्यक्तिगत मतभेद संभव है जिसके कारण अनेक दार्शनिक इन अनुभवों को व्यक्तिनिष्ठ अनुभव मानते हैं। उदाहरणार्थ, एक ही स्त्री किसी व्यक्ति को सुंदर और किसी अन्य व्यक्ति को कुरूप प्रतीत हो सकती है। इसी प्रकार एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह को एक व्यक्ति नितांत अनुचित और दूसरा व्यक्ति उचित कर्म मान सकता है। एक व्यक्ति यह कह सकता है कि जगत् की अंतिम सत्ता निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म हैं, इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति ईश्वर को सगुण और साकार कह कर जगत् की अंतिम सत्ता के रूप में उसकी व्याख्या कर सकता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सौंदर्यात्मक, नैतिक तथा धार्मिक अनुभवों की व्याख्या के विषय में तीव्र व्यक्तिगत मतभेद संभव है। इसी कारण बहुत-से दार्शनिक इन सभी अनुभवों को वस्तुनिष्ठ न मान कर इंद्रियजन्य अनुभव के विपरीत इन्हें मूलतः व्यक्तिनिष्ठ अनुभव ही मानते हैं। उनकी यह मान्यता सत्य हो या न हो, किंतु इतना निश्चित है कि ये सभी अनुभव इंद्रियजन्य अनुभव से पर्याप्त सीमा तक भिन्न हैं, क्योंकि इनसे संबंधित तथ्यों की भिन्न-भिन्न अथवा परस्पर विरोधी व्याख्याएँ की जा सकती हैं और की गई हैं।

2. धार्मिक अनुभव का स्वरूप

पिछले खंड में हम अनुभव के अर्थ और इंद्रियजन्य अनुभव, सौंदर्यात्मक अनुभव तथा नैतिक अनुभव के स्वरूप की संक्षिप्त विवेचना कर चुके हैं। अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धार्मिक अनुभव का स्वरूप क्या है और यह अनुभव उपर्युक्त तीनों प्रकार

के अनुभवों से कहाँ तक भिन्न है। यद्यपि धार्मिक अनुभव की कोई निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा करना बहुत कठिन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि अधिकतर दार्शनिकों के मतानुसार भक्तों या धर्मपरायण व्यक्तियों को किसी अलौकिक अथवा दैवी सत्ता का जो विशेष प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है उसे 'धार्मिक अनुभव' की संज्ञा दी जा सकती है। जैसा कि इस अनुभव के नाम से ही स्पष्ट है, यह अनिवार्यतः धर्म से संबंधित है जिसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि किसी अतींद्रिय अथवा दैवी सत्ता में विश्वास धर्म का अनिवार्य तत्त्व है और प्रत्येक उपासक या धर्मपरायण व्यक्ति किसी न किसी रूप में इस सत्ता का अवश्य अनुभव करता है जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, जप-तप, पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्मकांड के माध्यम से होती है। दैवी सत्ता से संबंधित उसके इसी अनुभव को 'धार्मिक अनुभव' कहा जाता है।

धार्मिक अनुभव की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अतिप्राकृतिक या दैवी सत्ता से संबंधित अलौकिकता इस अनुभव का आधारभूत तत्त्व है जो इसे अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक करता है। धार्मिक अनुभव के अतिरिक्त अन्य किसी भी अनुभव में अलौकिकता का यह तत्त्व विद्यमान नहीं रहता। धर्मपरायण व्यक्ति अनिवार्यतः किसी अतींद्रिय या दैवी सत्ता को ही अपना आराध्य विषय बनाता है। वह अत्यंत निष्ठापूर्वक इस दैवी या अतींद्रिय सत्ता की उपासना करता है और अपने आप को इसी सत्ता पर पूर्णतः निर्भर मानता है। इस दैवी सत्ता के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण उसके जीवन का एकमात्र ध्येय बन जाता है और वह अपने समस्त कर्म इसी समर्पण-भावना से प्रेरित होकर करता है। वह इस सत्ता के प्रति अगाध श्रद्धा, प्रेम, आदर, पूजा आदि भावनाओं का निरंतर अनुभव करता है और उसका संपूर्ण जीवन इन्हीं भावनाओं से ओतप्रोत रहता है। यह दैवी सत्ता धर्मपरायण व्यक्ति को समस्त साधारण वस्तुओं से भिन्न तथा अत्यंत रहस्यमयी प्रतीत होती है। इस प्रकार किसी अतींद्रिय या दैवी सत्ता पर पूर्ण निर्भरता, उसके प्रति अखंड श्रद्धा, सम्मान, प्रेम, आत्म-समर्पण तथा पूजा की भावना धार्मिक अनुभव के अनिवार्य मूल तत्त्व हैं जो उसे अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक करते हैं और उसे विशेष प्रकार का अलौकिक अनुभव बनाते हैं।

रुडॉल्फ़ ऑटो ने अपनी पुस्तक, 'दि आइडिया ऑफ़ दि होली' में इस धार्मिक अनुभव के स्वरूप की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। उनका कथन है कि यद्यपि धार्मिक अनुभव में बौद्धिक तथा निर्बौद्धिक दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं, फिर भी इसमें निर्बौद्धिक तत्त्वों की प्रधानता होती है। इसका कारण यह है कि धार्मिक अनुभव मुख्यतः विचारात्मक न होकर भावनात्मक ही होता है। इस अनुभव की तुलना सुख-दुःख की उन अनुभूतियों के साथ की जा सकती है जिन्हें मनुष्य महसूस तो करता है किंतु जिनका वह ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर पाता। इस दृष्टि से भावनात्मक अनुभव की भाँति धार्मिक अनुभव को भी अवर्णनीय कहा जा सकता है। जिस व्यक्ति ने स्वयं प्रत्यक्षतः धार्मिक अनुभव प्राप्त नहीं किया है उसे भाषा के माध्यम से इस अनुभव का वर्णन कर के इसका ज्ञान नहीं कराया जा सकता। जिस प्रकार जन्म अथवा शैशव-काल से दृष्टिहीन व्यक्ति को केवल वर्णन द्वारा रंग के अनुभव का साक्षात् ज्ञान प्रदान नहीं किया जा सकता उसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति को भी धार्मिक

अनुभव का केवल वर्णन कर के उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराना संभव नहीं है। ऑटो के मतानुसार यह अवर्णनीयता धार्मिक अनुभव की अनिवार्य विशेषता है। परंतु यह विशेषता उसे अन्य भावनात्मक अनुभवों से पृथक नहीं करती, क्योंकि इन सभी अनुभवों में भी यही विशेषता पाई जाती है।

जो तत्त्व धार्मिक अनुभव को अन्य सभी अनुभवों से पृथक करता है और जो इस अनुभव का मूल तत्त्व है उसे ऑटो 'दिव्य तत्त्व' अथवा 'दिव्यानुभूति' की संज्ञा देते हैं। उनका मत है कि यह दिव्य तत्त्व या दिव्यानुभूति वस्तुतः निर्बौद्धिक तत्त्व है, अतः अन्य अनुभूतियों के समान ही इसे भी भाषा, विचार अथवा किसी अन्य माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में इस दिव्यानुभूति के विषय में मौन रहना ही उचित होगा। परंतु फिर भी ऑटों ने इस दिव्यानुभूति के स्वरूप का सविस्तार विवेचन किया है। उनका कथन है कि इस अनुभूति में भय एवं श्रद्धायुक्त विस्मय, रहस्यात्मकता तथा प्रेममय तीव्र आकर्षण—ये तीन तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं। सर्वप्रथम धर्मपरायण व्यक्ति अपने उपास्य विषय के प्रति एक विशेष प्रकार के धार्मिक संवेग का अनुभव करता है जिसे 'भय एवं श्रद्धायुक्त विस्मय' की संज्ञा दी जा सकती है। वह अपने आराध्य विषय की महानता से इतना अधिक अभिभूत होता है कि उसके समक्ष वह अपने आप को धूल और राख के समान नितांत तुच्छ समझता है। इस आराध्य विषय की महानता और असीम शक्ति के कारण वह आश्चर्यचकित रह जाता है। इस प्रकार धर्मपरायण व्यक्ति अपने उपास्य विषय के संबंध में भय और श्रद्धा से मिश्रित विस्मय का अनुभव करता है और यह संवेग धार्मिक अनुभव का एक आवश्यक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त वह अपने आराध्य विषय के स्वरूप को समझने में असमर्थ होने के कारण उसे अत्यंत रहस्यमय पाता है। इस दृष्टि से धर्मपरायण व्यक्ति को अपना उपास्य विषय समस्त सांसारिक वस्तुओं से नितांत भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। इस उपास्य विषय की रहस्यात्मकता इसे अन्य सभी वस्तुओं से पूर्णतः पृथक करती है। उपासक इस के स्वरूप के संबंध में निश्चयपूर्वक कभी कुछ नहीं कह पाता। उसके लिए यह आराध्य विषय सदा अबोधगम्य तथा रहस्यमय ही बना रहता है। इसी कारण ऑटो ने उपास्य विषय को 'पूर्ण-पर' अथवा 'पूर्ण रूप से अन्य' कहा है। परंतु अबोधगम्य और रहस्यमय होते हुए भी यह आराध्य विषय उपासक को अपनी ओर अत्यधिक आकृष्ट करता है। अपने आराध्य विषय के प्रति इस तीव्र आकर्षण से प्रेरित होकर उपासक उससे प्रेम करने लगता है और अपने आप को उसके प्रति पूर्णतः समर्पित कर देता है। धार्मिक अनुभव का यह अंतिम तत्त्व भक्त के लिए इम अनुभव को आनंदमय बनाता है। वह अपने उपास्य विषय को केवल भय, श्रद्धा, विस्मय तथा रहस्य की वस्तु ही नहीं समझता, अपितु उसके प्रति तीव्र आकर्षण और प्रेम का भी अनुभव करता है। इस प्रकार ऑटो भय तथा श्रद्धायुक्त विस्मय, रहस्यात्मकता और प्रेममय तीव्र आकर्षण से परिपूर्ण उपर्युक्त विशेष दिव्यानुभूति के आधार पर ही धार्मिक अनुभव के स्वरूप की व्याख्या करते हैं और इसे मुख्यतः निर्बौद्धिक अनुभव मानते हैं।

ऑटों के उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि एक ओर तो वे दिव्यानुभूति को ऐसा निर्बौद्धिक तत्त्व मानते हैं जिसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा

सकता और दूसरी और वे इस तत्त्व का सविस्तार वर्णन भी करते हैं। यदि दिव्यानुभूति वास्तव में निर्बौद्धिक तथा अवर्णनीय है, जैसा कि ऑटो का मत है, तो उसके संबंध में मौन रहने के अतिरिक्त हम और कुछ नहीं कर सकते। परंतु हम ऊपर देख चुके हैं कि ऑटो ने इस दिव्यानुभूति के स्वरूप की विस्तृत विवेचना की है जो उनके अपने सिद्धांत के विरुद्ध है। इस प्रकार धार्मिक अनुभव के स्वरूप से संबंधित उनके विचारों में कुछ असंगति दिखाई देती है। वस्तुतः वे इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि किसी भी अनुभव के विषय में अवधारणाओं तथा शब्दों का प्रयोग किए बिना हम उसके संबंध में कुछ भी नहीं कह सकते।

उपर्युक्त आपत्ति के अतिरिक्त ऑटो के सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि जिन भावनाओं को वे केवल धार्मिक अनुभव की अनिवार्य मूल विशेषताएँ मानते हैं वे मनुष्य के सामान्य अनुभव के साथ भी संबद्ध हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, किसी शक्ति से अत्यधिक अभिभूत हो जाने की भावना विनाशकारी तीव्र भूकम्प अथवा ज्वालामुखी के भयंकर विस्फोट के फलस्वरूप भी मनुष्य में उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार मनुष्य में रहस्यात्मकता की भावना भी ऐसी किसी भी वस्तु को देख कर उत्पन्न हो सकती है जो अत्यंत विशाल अथवा उसके लिए अबोधगम्य हो। पर्वत या सागर की विशालता अथवा अनंत ब्रह्मांड की अबोधगम्यता उसमें यह भावना उत्पन्न कर सकती है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि ये भावनाएँ केवल धार्मिक अनुभव तक ही सीमित नहीं हैं जैसा कि ऑटो मानते हैं। ऐसी स्थिति में इन भावनाओं को केवल धार्मिक अनुभव की अनिवार्य विशेषताएँ मानना बहुत कठिन है।

अंत में ऑटो के सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति यह है कि वे धार्मिक अनुभव से संबद्ध इन भावनाओं को ही इस अनुभव के विषय—अर्थात् उपास्य सत्ता—के अस्तित्व और मूल्य का आधार मान लेते हैं। उनका मत है कि ये भावनाएँ ही हमें आराध्य विषय के अस्तित्व तथा मूल्य का बोध कराती हैं। परंतु उनकी यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि उन्होंने धार्मिक अनुभव से संबद्ध जिन भावनाओं का वर्णन किया है वे व्यक्तिनिष्ठ भावनाएँ हैं और ऐसी भावनाएँ किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता का आधार नहीं हो सकतीं। यदि कोई व्यक्ति इन भावनाओं का अनुभव करता है तो उसका यह व्यक्तिनिष्ठ अनुभव केवल उसी तक सीमित होने के कारण ईश्वर या किसी अन्य वस्तुनिष्ठ सत्ता को प्रमाणित नहीं करता। किसी व्यक्ति द्वारा किन्हीं भावनाओं का अनुभव करना यह सिद्ध नहीं करता कि उसके अनुभव का कोई वस्तुनिष्ठ विषय भी है। इस प्रकार ऑटो ने मनुष्य के व्यक्तिनिष्ठ धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर की वस्तुनिष्ठ सत्ता और उसके विशेष स्वरूप का जो दावा किया है वह उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

कुछ समकालीन दार्शनिकों ने धार्मिक अनुभव के विषय में ऑटों के इस निष्कर्ष को वास्तविक अर्थ में स्वीकार किया है कि यह अनुभव अवर्णनीय है। इन दार्शनिकों में लुडविग विटगिनस्टाइन तथा टॉमस मैकफरसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऑटो के विपरीत ये दार्शनिक धार्मिक अनुभव के स्वरूप का वर्णन करनें के स्थान पर केवल इतना ही कहते हैं कि शब्दों तथा अवधारणाओं द्वारा इस अनुभव को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, धार्मिक अनुभव के संबंध में विटगिनस्टाइन का मत है कि यह अनुभव

रहस्यात्मक होने के कारण वस्तुतः अवर्णनीय है। इस का संबंध ऐसी रहस्यमयी सत्ता से है जिसके विषय में सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विटगिनस्टाइन ने ये विचार अपनी पुस्तक,'ट्रैक्टेटस लॉजिको- फिलॉसॉफ़िकस' में व्यक्त किए थे। धार्मिक अनुभव की अवर्णनीयता के संबंध में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि:– "ईश्वर इस संसार में अपने आप को अभिव्यक्त नहीं करता।.......... सीमित समग्रता के रूप में संसार का अनुभव करना ही रहस्यमय है।......... संदेह वहीं किया जा सकता है जहाँ प्रश्न हों, प्रश्न वहीं हो सकता है जहाँ कोई उत्तर हो, और उत्तर वहीं संभव है जहाँ कुछ कहा जा सके।...... हम यह अनुभव करते हैं कि सभी संभव वैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर दिए जाने के बाद भी जीवन की समस्याएँ अछूती ही रह जाती हैं।........ वस्तुतः कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।........ ये बातें ही रहस्यमयी हैं।....... जिसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते उसके संबंध में हमें मौन ही रहना चाहिए"।[1]

धार्मिक अनुभव के विषय में टामस मैकफ़रसन भी विटगिनस्टाइन के उपर्युक्त मत का पूर्णतः समर्थन करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि धर्म विषयक कुछ बातों के संबंध में हमारे लिए मौन रहना ही एकमात्र उचित विकल्प है, क्योंकि उनके संबंध में हम कुछ कह ही नहीं सकते। अपने इसी मत की व्याख्या करते हुए मैकफ़रसन ने लिखा है कि:– " कुछ ऐसी बातें हैं जो कही ही नहीं जा सकतीं। जब तक कोई व्यक्ति उन्हें कहने का प्रयास नहीं करता तब तक कोई कठिनाई नहीं होती। परंतु यदि कोई उन्हें कहने का प्रयास करता है तो उसे अनिवार्यतः परिणामों का सामना करना चाहिए। हमें अवर्णनीय को अभिव्यक्त करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। धर्मशास्त्री जिन बातों को कहने का प्रयास करते हैं वे (अथवा उनमें से कुछ) ऐसी बातों की श्रेणी में आती हैं जिन्हें कहा ही नहीं जा सकता। मौन रहना ही इस कठिनाई से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है।....... धर्म के लिए जो आवश्यक है वह है उसका निर्बौद्धिक पक्ष–वह पक्ष जिसे विचारों तथा शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता"।[2] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कुछ समकालीन दार्शनिक धार्मिक अनुभव को अवर्णनीय मान कर उसके संबंध में केवल मौन रहना ही उचित समझते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये दार्शनिक इस अनुभव को बौद्धिक विवेचना का विषय नहीं मानते। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि ऐसी स्थिति में धार्मिक अनुभव को धर्म-दर्शन की परिधि से परे मानना पड़ेगा जिसके कारण इस अनुभव के स्वरूप की व्याख्या और इस की प्रामाणिकता की परीक्षा करना संभव नहीं होगा।

संभवतः विटगिनस्टाइन और मैकफ़रसन के सिद्धांत की उपर्युक्त कठिनाई के कारण ही अधिकतर दार्शनिक इस सिद्धांत का समर्थन नहीं करते। ये दार्शनिक धार्मिक अनुभव को अवर्णनीय मान कर उसके संबंध में मौन रहना उचित नहीं समझते। इसी कारण उन्होंने इस अनुभव के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए इसके विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया है। उनका मत है कि धार्मिक अनुभव का क्षेत्र बहुत व्यापक है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मानव-जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को प्रभावित करता है। सामान्यतः इस अनुभव को

---

1. आई० टी० रैम्से द्वारा संपादित 'वर्ड्स अबाउट गॉड' नामक पुस्तक से उद्धृत, पृ० 95-96
2. टॉमस मैकफ़रसन का लेख, 'रिलिजन ऐज़ दि इनऐक्सप्रेसिबल', ए० फ्ल्यू तथा ए० मैकिनटायर द्वारा सम्पादित पुस्तक, 'न्यू एसेज़ इन फ़िलॉसॉफ़िकल थियालॉजी' में संकलित, पृ० 132-33-39

भावनाप्रधान माना जाता है जो उचित ही है, किंतु इसमें भावना के साथ-साथ ज्ञान और संकल्प भी अवश्य विद्यमान रहते हैं। इन तीनों तत्त्वों में से किसी भी तत्त्व की उपेक्षा कर के धार्मिक अनुभव के स्वरूप को भलीभाँति नहीं समझा जा सकता। सर्वप्रथम इस अनुभव में ज्ञान के तत्त्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि किसी अतिप्राकृतिक या दैवी सत्ता में उपासक का विश्वास इस अनुभव का अनिवार्य मूल आधार है जिसके बिना इसकी उत्पत्ति संभव नहीं है। जो व्यक्ति ऐसी किसी सत्ता में विश्वास नहीं करता उसे वास्तविक अर्थ में धार्मिक अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता। प्रत्येक भक्त या उपासक किसी दैवी सत्ता में अपने विश्वास को असंदिग्ध रूप से सत्य मानता है। वस्तुतः अपने इसी विश्वास के कारण वह इस दैवी सत्ता की पूजा अथवा उपासना करता है और इसके प्रति अपने आप को पूर्णतः समर्पित कर देता है। यह स्पष्ट है कि उसके इस विश्वास का संबंध अनिवार्यतः दैवी सत्ता के ज्ञान से ही है जिसके अभाव में यह विश्वास निरर्थक और निराधार हो जाएगा। तार्किक दृष्टि से उपासक का यह विश्वास सत्य हो या न हो, किंतु वह स्वयं इसकी सत्यता को असंदिग्ध रूप से स्वीकार करता है। ऐसी स्थिति में उसके धार्मिक अनुभव को केवल निर्बौद्धिक अनुभव नहीं माना जा सकता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस अनुभव के लिए ज्ञान का तत्त्व ही पर्याप्त नहीं है।

ज्ञान के साथ-साथ भावना का भी धार्मिक अनुभव में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपासक ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति के अस्तित्व में केवल विश्वास ही नहीं करता, अपितु वह उसकी पूजा भी करता है और उसके प्रति अगाध प्रेम तथा श्रद्धा भी रखता है। अपने आराध्य विषय के प्रति पूजा की यह भावना ही उपासक को उसके प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित करती है। वस्तुतः पूजा और समर्पण की इस भावना के बिना धार्मिक अनुभव का अस्तित्व ही संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त उपासक की यही भावना उसके धार्मिक अनुभव को अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक करती है जिन में इसका अभाव होता है। हम प्रथम खंड में बता चुके हैं कि इंद्रियजन्य अनुभव, सौंदर्यात्मक अनुभव तथा नैतिक अनुभव में किसी दैवी सत्ता के प्रति पूजा और समर्पण की भावना नहीं होती, किंतु धार्मिक अनुभव के लिए यह भावना अनिवार्य है। इस भावना की प्रधानता के कारण ही ऑटो तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने इस अनुभव को निर्बौद्धिक अनुभव माना है।

परंतु धार्मिक अनुभव में पूजा तथा समर्पण की भावना की उपस्थिति ही पर्याप्त नहीं है, विशेष धार्मिक कर्मकांड के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। इस भावना से प्रेरित होकर उपासक विशेष प्रकार का आचरण करता है। प्रार्थना, पूजा-पाठ, जप-तप, कीर्तन, सत्संग आदि उपासक की क्रियाएँ अपने आराध्य विषय के प्रति उसकी पूजा तथा समर्पण की भावना की अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन हैं। इस बाह्य धार्मिक कर्मकांड के माध्यम से वह अपने आप को अपने उपास्य विषय के साथ संबद्ध करता है। यही धार्मिक अनुभव का क्रियात्मक तत्त्व है जो इस विशेष रूप में किसी अन्य अनुभव में नहीं पाया जाता। हमारे समक्ष धार्मिक अनुभव का यह क्रियात्मक तत्त्व ही प्रत्यक्षतः उपस्थित होता है जिसके माध्यम से उपासक के इस अनुभव की स्पष्टतः अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य अनुभवों की भाँति धार्मिक अनुभव में भी ज्ञान,

भावना तथा क्रिया ये तीनों तत्त्व अनिवार्यतः उपस्थित रहते हैं।

धार्मिक अनुभव की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें इंद्रियजन्य अनुभव, सौंदर्यात्मक अनुभव तथा नैतिक अनुभव ये तीनों किसी न किसी रूप में प्रायः पाए जाते हैं। इस दृष्टि से भी धार्मिक अनुभव को सर्वाधिक व्यापक अनुभव कहा जा सकता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि बाह्य कर्मकांड धार्मिक अनुभव का आवश्यक तत्त्व है जिसके माध्यम से इस अनुभव की अभिव्यक्ति होती है। इंद्रियजन्य अनुभव का धार्मिक अनुभव के इस क्रियात्मक तत्त्व के साथ अनिवार्य संबंध है। उपासक पवित्र धर्म-ग्रंथों, मूर्तियों अथवा अन्य धार्मिक वस्तुओं को देखता हैं, प्रार्थना तथा कीर्तन में प्रयुक्त शब्दों एवं संगीत की ध्वनि सुनता हैं, धर्म-स्थलों में अर्पित किए जाने वाले सुगंधित पुष्पों, धूप आदि की सुगंध का आनंद प्राप्त करता है, पूजा-पाठ करते समय कुछ विशेष शब्दों का उच्चारण और अन्य शारीरिक चेष्टाएँ करता है। यह समझना कठिन नहीं है कि उपासक के धार्मिक अनुभव से संबद्ध ये सभी बाह्य क्रियाएँ इंद्रियजन्य अनुभव के माध्यम से ही सम्पन्न होती हैं। इससे धार्मिक अनुभव के लिए इंद्रियजन्य अनुभव का महत्त्व स्वतः प्रमाणित हो जाता है। वस्तुतः इंद्रियजन्य अनुभव के अभाव में न तो धार्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति संभव है और न ही वह हमारे लिए बोधगम्य हो सकता है।

इस इंद्रियजन्य अनुभव के साथ-साथ सौंदर्यात्मक अनुभव भी धार्मिक अनुभव म प्रायः सम्मिलित रहता है। बहुत प्राचीन काल से ही धर्म के साथ संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि ललित कलाओं का घनिष्ठ संबंध रहा है। भक्त अपने उपास्य विषय से संबंधित सभी क्रियाओं को सुंदर देखना चाहता है, अतः वह उन्हें अधिकाधिक आकर्षक और मोहक बनाने का प्रयास करता है। उसका यह सृजनात्मक प्रयास विभिन्न रूपों में सौंदर्य की सृष्टि कर के धार्मिक अनुभव के साथ सौंदर्यात्मक अनुभव को अनिवार्यतः संबद्ध करता है। इस प्रकार धार्मिक अनुभव में सौंदर्यात्मक अनुभव का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अंत में इंद्रियजन्य अनुभव तथा सौंदर्यात्मक अनुभव के अतिरिक्त नैतिक अनुभव का भी धार्मिक अनुभव के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। हम प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म मनुष्य के आचरण पर बहुत गहरा प्रभाव डालता है, अतः नैतिकता धर्म का अनिवार्य तत्त्व है। अपने धर्म में सच्ची निष्ठा रखने वाला व्यक्ति जब भी इस धर्म के नैतिक नियमों एवं आदर्शों के विरुद्ध आचरण करता है तो उसके मन में आत्म-ग्लानि उत्पन्न होती है और वह पश्चाताप का अनुभव करता है। इसके विपरीत जब वह इन नियमों तथा आदर्शों के अनुरूप आचरण करता है तो उसे विशेष प्रकार के आत्म-संतोष का अनुभव होता है। हम इस अध्याय के प्रथम खंड में देख चुके हैं कि आत्म-ग्लानि, पश्चाताप, आत्म-संतोष आदि मनोवृत्तियाँ नैतिक अनुभव के अनिवार्य तत्त्व हैं। इसी प्रकार अपने धर्म के नैतिक नियमों और आदर्शों के अनुरूप या उनके विरुद्ध दूसरों को आचरण करते हुए देख कर धर्मपरायण व्यक्ति के मन में उनके प्रति अनुमोदन अथवा अननुमोदन की भावना अवश्य उत्पन्न होती है। यह भावना भी नैतिक अनुभव का अनिवार्य भाग है जिसका धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः अनुभव करता है। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है कि नैतिक अनुभव के साथ अनिवार्यतः संबद्ध सभी मनोवृत्तियाँ धार्मिक अनुभव में अवश्य सम्मिलित रहती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित

न होगा कि धार्मिक अनुभव में नैतिक अनुभव की भी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक अनुभव में इंद्रियजन्य अनुभव, सौंदर्यात्मक अनुभव तथा नैतिक अनुभव इन तीनों का समुचित समावेश रहता है।

3. रहस्यवाद का स्वरूप और वर्गीकरण

पिछले खंड में हम देख चुके हैं कि धार्मिक अनुभव में रहस्यात्मकता का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, क्योंकि उपासक को अपना आराध्य विषय समस्त सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतः भिन्न तथा रहस्यमय प्रतीत होता है। वह इस आराध्य विषय के स्वरूप को समझने में अपने आप को नितांत असमर्थ पाता है। धार्मिक अनुभव की इसी रहस्यात्मकता से रहस्यवाद का जन्म होता है जो सभी विकसित धर्मों में पाया जाता है। हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, आदि सभी उन्नत धर्मों में इस रहस्यवाद की दीर्घकालीन परम्परा स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इन सभी धर्मों के अनेक महान संतों को रहस्यवादी माना जाता है। उपनिषदों, योग संबंधी साहित्य, बौद्ध ग्रंथों, सूफ़ी साहित्य और ईसाई धर्म के साहित्य में रहस्यवाद का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। विश्व के सभी विकसित धर्मों में रहस्यवाद की इस व्यापकता को ध्यान में रखते हुए धर्म-दार्शनिक के लिए इसके स्वरूप तथा इससे संबद्ध समस्याओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि रहस्यवाद बहुत ही अस्पष्ट तथा विवादास्पद विषय है, अतः इसकी कोई सर्वसम्मत एवं निश्चित परिभाषा देना अथवा इसके संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना अत्यंत कठिन है। लगभग सभी रहस्यवादी यह मानते हैं कि रहस्यवाद मनुष्य के सामान्य अनुभव से पूर्णतः भिन्न और उसकी परिधि से परे है। ऐसी स्थिति में सामान्य व्यक्ति के लिए ही नहीं, अपितु विचारक अथवा दार्शनिक के लिए भी रहस्यवाद का अबोधगम्य बना रहना नितांत स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। रहस्यवाद की इसी अबोधगम्यता के कारण इस विषय की विवेचना में अस्पष्टता प्रायः बनी रहती है जिस का पूर्ण रूप से निराकरण करना संभव नहीं है। जो विषय हमारे अनुभव की परिधि से बाहर है उसके संबंध में हम निश्चयपूर्वक कुछ भी कहने का दावा नहीं कर सकते। परंतु इस अपरिहार्य कठिनाई के होते हुए भी यहाँ रहस्यवाद की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं तथा उससे संबंधित प्रमुख समस्याओं को यथासंभव स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा।

बहुत प्राचीन काल से सभी धर्मों के कुछ महान संत प्रायः यह दावा करते रहे हैं कि उन्होंने अपने जीवन में ऐसा अनुभव प्राप्त किया है जो सांसारिक अनुभव से नितांत भिन्न है और इसी कारण जिसे 'रहस्यात्मक अनुभव' कहा जा सकता है। रहस्यवाद का संबंध उनके इसी रहस्यात्मक अनुभव से ही है। उनके अनुसार यह ऐसा अनुभव है जिसके विषय में कुछ भी कहना संभव नहीं है और इस अनुभव की यही विशेषता इसे रहस्यात्मक अनुभव बनाती है। इस प्रकार रहस्यवाद वह स्थिति है जिसमें पहुँच कर मनुष्य मौन रहने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह भाषा के माध्यम से इसे अभिव्यक्त करने में अपने आप को

असमर्थ पाता है। रहस्यवाद के लिए अँग्रेज़ी में प्रयुक्त शब्द 'मिस्टिसिज़्म' रहस्यात्मक अनुभव संबधी इसी मौन का स्पष्ट रूप से बोध कराता है। 'मिस्टिसिज़्म' शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी भाषा के 'म्यो' शब्द से हुई हे जिसका अर्थ है 'मौन रहना'। इससे स्पष्ट है कि रहस्यवादी जो विशेष अनुभव प्राप्त करता है उसकी अभिव्यक्ति में असमर्थ होने के कारण वह उसके संबंध में केवल मौन ही रह सकता है।

परंतु रहस्यात्मक अनुभव की इस विशेषता के होते हुए भी कुछ दार्शनिकों ने रहस्यवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इन दार्शनिकों में विलियम जेम्स तथा डब्ल्यू०टी० स्टेस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जेम्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'वेराइटीज़ ऑफ़ रिलीजियस एक्सपीरियैंस' में रहस्यवाद पर एक विस्तृत अध्याय लिखा है जिसमें उन्होंने रहस्यात्मक अनुभव के स्वरूप का सविस्तार व्रर्णन किया है। उनका कथन है कि प्रायः ऐसे विचार को रहस्यात्मक मान लिया जाता है जो अस्पष्ट तथा अनिश्चित है, जिसे समझने में हम असमर्थ हैं अथवा जिसका कोई बौद्धिक या तार्किक आधार नहीं है। सामान्य व्यक्ति प्रायः इसी अर्थ में रहस्यवाद' तथा 'रहस्यात्मक' इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। परंतु उक्त विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से इस प्रकार की मान्यताओं का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि इनसे रहस्यवाद और रहस्यात्मक अनुभव के स्वरूप की व्याख्या नहीं होती। रहस्यात्मक अनुभव की समुचित व्याख्या करने के लिए हमें कुछ ऐसी विशेषताओं को खोजना होगा ज़ो इसी अनुभव में पाई जाती हैं और जो इसे अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक करती हैं। जेम्स ने रहस्यात्मक अनुभव की ऐसी चार विशेषताओं का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं:–

(1) अवर्णनीयता:– सर्वप्रथम रहस्यवादियों को जो रहस्यात्मक अनुभव प्राप्त होता है उसका वर्णन करने में वे अपने आप को नितांत असमर्थ पाते हैं। किसी ऐसे व्यक्ति को भाषा अथवा अन्य किसी माध्यम से इस रहस्यात्मक अनुभव का ज्ञान नहीं कराया जा सकता जिसने स्वयं इसे प्राप्त नहीं किया है। इसी कारण इस अनुभव को 'अवर्णनीय' अथवा 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। इस दृष्टि से यह अनुभव ज्ञान से भिन्न है जिसे भाषा के माध्यम से दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। वस्तुतः रहस्यात्मक अनुभव की तुलना सुख-दुःख संबंधी व्यक्तिगत भावनाओं के साथ की जा सकती है जो अनुभवकर्ता तक ही सीमित होती हैं और जिनका वह शब्दों में वर्णन नहीं कर पाता। कोई व्यक्ति रहस्यात्मक अनुभव के स्वरूप को तभी समझ सकता है जब वह स्वयं प्रत्यक्षतः यह अनुभव प्राप्त करे। इस प्रकार अवर्णनीयता अथवा अनिर्वचनीयता रहस्यात्मक अनुभव की अनिवार्य विशेषता है।

(2) ज्ञानात्मकता:– जेम्स के मतानुसार भावनाओं के समान व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी रहस्यात्मक अनुभव उन व्यक्तियों के लिए विशेष अर्थ में ज्ञानात्मक होता है जो इसे प्राप्त करते हैं। इस अनुभव के फलस्वरूप उन्हें ऐसे गहन सत्यों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है जिन्हें सामान्य अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा जानना संभव नहीं है। रहस्यवादियों के लिए यह साक्षात् ज्ञान पूर्णतः प्रामाणिक होता है, अतः उनके जीवन पर इसका बहुत गहरा प्रभाव

पड़ता है। उदाहरणार्थ, अनेक रहस्यवादी यह अनुभव करते हैं कि यह संपूर्ण जगत् ईश्वरमय है, क्योंकि ईश्वर इसमें सर्वत्र व्याप्त है। इसी प्रकार आत्मा और ब्रहम के पूर्ण तादात्म्य का ज्ञान भी ऐसा ही साक्षात् ज्ञान माना जाता है जिसे सामान्य अनुभव एवं तर्कबुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। रहस्यवादी को ऐसे अलौकिक गहन सत्यों का साक्षात् ज्ञान प्रदान करने के कारण रहस्यात्मक अनुभव को ज्ञानात्मक कहा जा सकता है।

(3) क्षणिकताः— जेम्स का कथन है कि रहस्यात्मक अनुभव अधिक समय तक नहीं बना रहता; इसकी अवधि अल्पकालीन ही होती है। यह अधिक से अधिक एक या दो घंटों तक ही बना रहता है। इसके पश्चात यह लुप्त हो जाता है और रहस्यवादी सामान्य अनुभव की स्थिति में पहुँच जाता है। वह अपने इस रहस्यात्मक अनुभव को बहुत अस्पष्ट रूप से ही स्मरण कर पाता है। परंतु जब वह पुनः यह रहस्यात्मक अनुभव प्राप्त करता है तो वह इसे पहचान सकता है। इस अनुभव की बार-बार पुनरावृत्ति होने पर इसकी गहनता और तीव्रता में विकास भी होता है।

(4) निष्क्रियताः— यह सत्य है कि योग-साधना, मंत्रोच्चारण, किसी वस्तु पर दीर्घ काल तक ध्यान केंद्रित करना तथा कुछ अन्य उपाय रहस्यात्मक अनुभव की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं, किंतु जब रहस्यवादी यह अनुभव प्राप्त कर लेता है तो वह अपने आप को पूर्णतः किसी अलौकिक शक्ति के नियंत्रण में पाता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि कोई महान अलौकिक शक्ति उसके संपूर्ण जीवन का संचालन कर रही है और वह अपनी इच्छा से कुछ भी करने में असमर्थ है। इस रहस्यात्मक अनुभव की अवधि में उस की संकल्प–शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। इस अवधि में उसका व्यक्तित्व उसके सामान्य व्यक्तित्व से पूर्णतया भिन्न प्रकार का हो जाता है। परंतु इस रहस्यात्मक अनुभव की समाप्ति के पश्चात भी उसके मन में इसकी कुछ स्मृति अवश्य बनी रहती है और इसी कारण उसके व्यावहारिक जीवन पर इस अनुभव का गहरा प्रभाव पड़ता है। यह अनुभव उसके आंतरिक तथा बाहय जीवन में वांछनीय परिवर्तन करता है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से भी रहस्यवादी के लिए इस अनुभव का बहुत महत्त्व है। संक्षेप में जेम्स के मतानुसार उपर्युक्त सभी विशेषताएँ रहस्यात्मक अनुभव का बहुत महत्त्व है। संक्षेप में जेम्स के मतानुसार उपर्युक्त सभी विशेषताएं रहस्यात्मक अनुभव को विशेष प्रकार का अनुभव बनाती हैं और उसे अन्य सभी अनुभवों से पृथक करती हैं।

जेम्स तथा स्टेस दोनों ही इस रहस्यात्मक अनुभव को वास्तविक और महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका कथन है कि हमारी सामान्य चेतना के अतिरिक्त एक ऐसी चेतना का अस्तित्व भी है जो इस सामान्य चेतना से पूर्णतः भिन्न तथा असाधारण है। रहस्यात्मक अनुभव का संबंध हमारी सामान्य चेतना से न होकर इसी असाधारण चेतना से है। इस असाधारण चेतना के स्वरूप का वर्णन करते हुए स्टेस कहते हैं कि इस में उन सभी तत्त्वों का अभाव होता है जो हमारी सामान्य चेतना के अनिवार्य तत्त्व हैं। संवेदन, विचार, प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ, इच्छाएँ आदि तत्त्व हमारी सामान्य चेतना में अनिवार्यतः पाए जाते हैं। वस्तुतः इन्हीं तत्त्वों द्वारा इस चेतना का निर्माण होता है जिनके अभाव में इसका अस्तित्व संभव नहीं है। परंतु स्टेस के अनुसार रहस्यात्मक चेतना वह असाधारण चेतना है जिसमें ये

तत्त्व नहीं पाए जाते। इस दृष्टि से यह रहस्यात्मक चेतना हमारी सामान्य चेतना से पूर्णतः भिन्न प्रकार की होती है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर इस चेतना के स्वरूप की व्याख्या करते हुए स्टेस ने लिखा है कि: ''रहस्यात्मक चेतना में किसी प्रकार के संवेदन बिल्कुल नहीं पाए जाते। इसमें अवधारणाओं अथवा विचारों का भी अभाव होता है। यह संवेदनात्मक बौद्धिक चेतना बिल्कुल नहीं है। इसलिए इस संवेदनात्मक बौद्धिक चेतना के तत्त्वों में से किसी के आधार पर इसका वर्णन या विश्लेषण नहीं किया जा सकता जिससे यह पूर्णतः भिन्न है। इसी कारण रहस्यवादी सदा यह कहते हैं कि उनके अनुभव 'अवर्णनीय' हैं''।[3] इस प्रकार स्टेस के मतानुसार संवेदन, भावना, इच्छा, संकल्प, विचार आदि समस्त तत्त्वों से रहित रहस्यात्मक चेतना का हमारी सामान्य चेतना के साथ कोई संबंध नहीं है। यही कारण है कि रहस्यवादियों के रहस्यात्मक अनुभव को अवर्णनीय अथवा अनिर्वचनीय माना जाता है।

जेम्स की भाँति स्टेस भी यह मानते हैं कि हमारी सामान्य चेतना के समान ही इस असाधारण रहस्यात्मक चेतना का भी वास्तव में अस्तित्व है। यह सत्य है कि सामान्य व्यक्ति ऐसी असाधारण चेतना की कल्पना नहीं कर सकता, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि जो सामान्य व्यक्ति के लिए अकल्पनीय है उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। मनुष्य अपने अनुभव तथा अपनी तर्कबुद्धि की अपरिहार्य सीमाओं के कारण इस असीम ब्रह्मांड का बहुत थोड़ा-सा ही ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। ऐसी स्थिति में यह कहना उसकी केवल धृष्टता होगी कि जो कुछ वह नहीं जानता अथवा नहीं जान सकता उसका अस्तित्व ही नहीं है। स्टेस का मत है कि कुछ व्यक्तियों को रहस्यात्मक अनुभव अवश्य प्राप्त होता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अस्वीकार करना हमारे लिए उचित नहीं होगा। हाँ, इस संबंध में विवाद हो सकता है कि इस रहस्यात्मक अनुभव का हमारे लिए कोई विशेष मूल्य अथवा महत्त्व है या नहीं।[4] स्टेस स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि बहुत कम व्यक्ति ही यह असाधारण अनुभव प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, अतः इसे असामान्य मनोविज्ञान का विषय ही माना जा सकता है। इसका अर्थ यही है कि उनके अनुसार यह रहस्यात्मक अनुभव सामान्य व्यक्ति के लिए बोधगम्य नहीं हो सकता। परंतु फिर भी वे इसकी वास्तविकता का निषेध करना युक्तिसंगत नहीं मानते। इसी कारण उन्होंने इस रहस्यात्मक अनुभव—जिसे वे 'रहस्यात्मक चेतना' कहते हैं—का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और रहस्यवादियों के लिए इसे बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। इस के स्वरूप के संबंध में उनका कथन है कि यह हमारी सामान्य चेतना का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि यह उससे पूर्णतः भिन्न है। इस अनुभव की आधारभूत विशेषता—जो इसे अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक करती है और जिसके संबंध में लगभग सभी रहस्यवादी सहमत हैं—यह है कि इसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति विश्व की सभी वस्तुओं में ऐसी अतींद्रिय एकता का अनुभव करता है जिसे सामान्य ज्ञान एवं तर्कबुद्धि द्वारा नहीं समझा जा सकता। परिपक्व रहस्यात्मक

---

3. डब्ल्यू० टी० स्टेस का लेख, 'दि टीचिंग्ज़ ऑफ़ दि मिस्टिक्स', बी० ए० ब्रोडी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'रीडिंग्ज़ इन दि फ़िलॉसाफ़ी ऑफ़ रिलिजन—ऐन ऐनालिटिक ऐप्रोच' में संकलित, पृ० 503-504
4. वही पुस्तक, पृ० 504-505

अनुभव में यह मूल विशेषता अवश्य पाई जाती है। हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म तथा ईसाई धर्म के अनेक रहस्यवादी तो अनुभवकर्ता और अनुभूत विश्व के द्वैत को ही स्वीक़ार नहीं करते, क्योंकि उनके अनुसार इन दोनों में पूर्ण अभेद है। इन सभी धर्मों में इस प्रकार के परिपक्व रहस्यात्मक अनुभव का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।[5]

स्टेस का कथन है कि रहस्यवाद को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—बहिर्मुखी रहस्यवाद तथा अंतर्मुखी रहस्यवाद। लगभग सभी विकसित धर्मों और संस्कृतियों में ये दोनों प्रकार के रहस्यवाद पाए जाते हैं। इन दोनों में रहस्यवादी जगत् के मूल में एक ही आध्यात्मिक दैवी सत्ता का अनुभव करता है, किंतु इस अनुभव की प्राप्ति उसे भिन्न-भिन्न माध्यमों से होती है।

बहिर्मुखी रहस्यवाद में रहस्यवादी भौतिक जगत् के माध्यम से इस आध्यात्मिक सत्ता का अनुभव प्राप्त करता है। सामान्य व्यक्तियों की भाँति वह भी अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा विभिन्न प्रकार की भौतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, किंतु इन सभी वस्तुओं के मूल में उसे एक आध्यात्मिक सत्ता का अनुभव होता है। विभिन्न रहस्यवादी इसी आध्यात्मिक सत्ता को 'ईश्वर', 'ब्रह्म', 'परम तत्त्व' आदि भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ देते हैं। बहिर्मुखी रहस्यवाद में रहस्यवादी बाह्य जगत् के भेदों का अनुभव करता रहता है, अतः वह असाधारण अनुभव की उस उच्चतम अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता जिसमें हमारी सामान्य चेतना के समस्त तत्त्वों का नितांत अभाव होता है। इसी कारण स्टेस इस प्रकार के रहस्यवाद को अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उन का मत है कि बहिर्मुखी रहस्यवाद अंतर्मुखी रहस्यवाद की प्रारंभिक अवस्था है जिस के पश्चात रहस्यवादी रहस्यात्मक अनुभव की उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[6] परंतु मेरे विचार में स्टेस द्वारा दी गई रहस्यवाद की पूर्वोल्लिखित परिभाषा को ध्यान में रखते हुए बहिर्मुखी रहस्यवाद को वास्तविक अर्थ में 'रहस्यवाद' कहना कठिन है। इस का कारण यह है कि इस प्रकार के रहस्यवाद में रहस्यवादी निरंतर बाह्य जगत् के संपर्क में बना रहता है जिस के फलस्वरूप वह रहस्यात्मक अनुभव की उस असाधारण स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता जिसे स्टेस रहस्यवाद के लिए अनिवार्य मानते हैं। संभवतः बहिर्मुखी रहस्यवाद की इसी अपूर्णता को ध्यान में रखते हुए स्टेस ने इस प्रकार के रहस्यवाद को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया और इस का विस्तृत विवेचन भी नहीं किया।

वस्तुतः स्टेस अंतुर्मखी रहस्यवाद को ही विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हैं और इसी कारण उन्होंने इसकी सविस्तार विवेचना की है। जब रहस्यवादी बाह्य जगत् के स्थान पर अपने भीतर ही आध्यात्मिक सत्ता का साक्षात् अनुभव करता है तो उसकी इस स्थिति को 'अंतर्मुखी रहस्यवाद' की संज्ञा दी जाती है। जैसा कि इस रहस्यवाद के नाम से ही स्पष्ट है, इस में रहस्यवादी पूर्णतः अंतर्मुखी हो जाता है और बाह्य जगत् के साथ उस का कोई संबंध नहीं रहता। संवेदन, विचार, इच्छा, भावना आदि उसकी सामान्य चेतना के समस्त तत्त्व पूर्णतः लुप्त हो जाते हैं और इन का स्थान असाधारण रहस्यात्मक चेतना ले लेती है। यही वास्तविक रहस्यात्मक अनुभव है और जब तक रहस्यवादी इस अंतर्मुखी रहस्यवाद की

5. वही पुस्तक, पृ० 505
6. वही पुस्तक, पृ० 507

स्थिति में रहता है तब तक वह बाह्य जगत् संबंधी किसी प्रकार के अनुभव से प्रभावित नहीं होता। इसी अवस्था में वह जगत् की मूल अतींद्रिय आध्यात्मिक सत्ता का साक्षात् अनुभव प्राप्त करता है। यद्यपि रहस्यवादी इस प्रकार के रहस्यात्मक अनुभव को अनिर्वचनीय मानते हैं, फि भी हमें सभी विकसित धर्मों में इस अनुभव का कुछ सीमा तक वर्णन उपलब्ध होता है। यह वर्णन प्रायः बहुत संक्षिप्त रूप में ही पाया जाता है और इस में रहस्यवादी स्वयं अपने विषय में कुछ न कह कर अप्रत्यक्ष रूप से ही इसे प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, इसी रहस्यात्मक चेतना को ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत करते हुए मांडूक्य उपनिषद में कहा गया है कि: "यह इंद्रियों, मन तथा बुद्धि से परे और अनिर्वचनीय है। यही अद्वैत की विशुद्ध चेतना है जिस में बाह्य जगत् का संपूर्ण ज्ञान समाप्त हो जाता है। यही अनिर्वचनीय शांति और परम शुभ है। यह अद्वितीय तथा जगत् की परम सत्ता है।" स्टेस के मतानुसार ईसाई धर्म के रहस्यवाद में भी हमें जगत् की परम सत्ता का ऐसा ही वर्णन उपलब्ध होता है। इस से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विभिन्न कालों तथा धर्मों के ये रहस्यवादी वस्तुतः एक ही प्रकार के रहस्यात्मक अनुभव का वर्णन कर रहे हैं। विभिन्न संस्कृतियों तथा धर्मों में इस अनुभव की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है, किंतु इस में संदेह नहीं किया जा सकता कि मूल रूप में यह अनुभव एक ही है।[7]

स्टेस के मतानुसार रहस्यवादी अपने इस रहस्यात्मक अनुभव को प्रायः ऐसी भाषा में अभिव्यक्त करते हैं जो विरोधाभासों से परिपूर्ण होती है। संभवतः इसका कारण यह है कि रहस्यवादी अपने इस असाधारण अनुभव को सामान्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। हमारी भाषा का निर्माण सामान्य अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ है, अतः इस के द्वारा रहस्यात्मक अनुभव को अभिव्यक्त करना रहस्यवादी के लिए अत्यंत कठिन हो जाता है। यही कारण है कि रहस्यात्मक अनुभव को अभिव्यक्त करने वाली रहस्यवादियों की भाषा में प्रायः विरोधाभास पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, रहस्यवाद का एक विरोधाभास यह है कि रहस्यात्मक चेतना का कोई विषय ही नहीं होता। सामान्य अर्थ में जब हम चेतना की बात करते हैं तो इस चेतना का कोई विषय अवश्य होता है—अर्थात् यह चेतना किसी वस्तु विशेष की चेतना होती है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, रहस्यात्मक चेतना किसी वस्तु की चेतना नहीं होती, क्योंकि रहस्यवादी किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करता। इसी कारण कुछ रहस्यवादी रहस्यात्मक अनुभव को 'शून्य का अनुभव' कहते हैं। इस अनुभव के विषय में बौद्ध दर्शन के महायान सम्प्रदाय का यही मत है। उपर्युक्त विरोधाभास के अतिरिक्त रहस्यात्मक अनुभव का वर्णन करने वाली रहस्यवादियों की भाषा में 'मुखर मौन', 'आलोकमय अंधकार' आदि विरोधाभासपूर्ण वाक्यांश प्रायः पाए जाते हैं। वस्तुतः ऐसे विरोधाभासों के कारण ही रहस्यवादियों की भाषा सामान्य व्यक्तियों के लिए अबोधगम्य हो जाती है। परंतु अपने असाधारण अनुभव का वर्णन करने के प्रयास में उन्हें कभी-कभी ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है।

उपर्युक्त अंतर्मुखी रहस्यात्मक अनुभव को प्राप्त करने के लिए सभी विकसित धर्मों में कुछ विशेष उपायों अथवा विधियों का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, भारत में बहुत

7. वही पुस्तक, पृ० 510

प्राचीन काल से अनेक योगी विभिन्न प्रकार की योग-साधनाओं द्वारा इस अनुभव की प्राप्ति के लिए प्रयास करते रहे हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि योग-दर्शन द्वारा वर्णित यम, नियम, आसन, प्राणायाम्, ध्यान, धारणा आदि उपाय इस रहस्यात्मक अनुभव को प्राप्त करने में सहायक होते हैं। इन उपायों द्वारा समाधि की अवस्था में पहुँचकर योगी यह असाधारण अनुभव प्राप्त करने में समर्थ होता है। इन उपायों में ध्यान को विशेष महत्त्व दिया गया है, क्योंकि यह रहस्यवादी की साधना में बहुत सहायक होता है। अनेक रहस्यवादियों का विचार है कि व्यक्ति किसी विशेष वस्तु पर पर्याप्त समय तक ध्यान केंद्रित करने का अभ्यास करके रहस्यात्मक अनुभव की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सकता है। उदाहरणार्थ, वह अपने श्वास, अपनी नाभि या अपने नाम की ध्वनि पर ध्यान केंद्रित कर सकता है। इसी प्रकार वह अपना ध्यान केंद्रित करने के लिए किसी मंत्र की तब तक निरंतर पुनरावृत्ति करत रह सकता है जब तक मंत्रोच्चारण की यह ध्वनि उसके लिए एक निरर्थक ध्वनि मात्र नहीं हो जाती। यह माना जाता है कि ऐसा करने से वह उस मंत्र के विशेष अर्थ से प्रभावित नहीं होगा और मंत्रोच्चारण की निरर्थक ध्वनि पर ध्यान केंद्रित करने में अधिक सफल हो सकेगा। ईसाई धर्म के रहस्यवादी भी रहस्यात्मक अनुभव की प्राप्ति के लिए ध्यान केंद्रित करने की इस विधि को बहुत महत्त्व देते हैं। ध्यान के अतिरिक्त सभी धर्मों में वैराग्य को भी रहस्यात्मक अनुभव प्राप्त करने का आवश्यक साधन माना जाता है। इसका कारण यह है कि अहंकार और तृष्णा से उत्पन्न समस्त इच्छाओं एवं कामनाओं का परित्याग करके ही व्यक्ति विश्वव्यापी आध्यात्मिक सत्ता का साक्षात् अनुभव प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। जब तक व्यक्ति में देह तथा बाह्य जगत् की वस्तुओं के प्रति आसक्ति बनी रहती है। तब तक वह रहस्यात्मक अनुभव के माध्यम से इस परम सत्ता के साथ साक्षात्कार की उच्च स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि सभी धर्मों में रहस्यात्मक अनुभव के आवश्यक साधन के रूप में वैराग्य के विशेष महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी उपाय रहस्यात्मक अनुभव को प्राप्त करने में सहायक होते हैं, किंतु वास्तविक अर्थ में इस अनुभव की प्राप्ति बहुत ही कम व्यक्तियों को हो पाती है।

स्टेस का कथन है कि रहस्यवाद के विरुद्ध कभी-कभी पलायनवाद का आरोप लगाया जाता है। यह कहा जाता है कि रहस्यवादी अन्य मनुष्यों की आवश्यकताओं तथा उन के कष्टों और अभावों के प्रति उदासीन हो कर केवल अपने ही आध्यात्मिक आनंद में मग्न रहते हैं, अतः उन का जीवन पूर्णतया आत्मकेंद्रित हो जाता है। रहस्यात्मक अनुभव के फलस्वरूप प्राप्त अपने आध्यात्मिक आनंद में वे इतने अधिक लिप्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने सांसारिक कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों की भी कोई चिंता नहीं रहती। संसार के प्रति इस उदासीनता के कारण वे अपने जीवन में स्वार्थी और पलायनवादी हो जाते हैं जिस के परिणामस्वरूप वे अच्छे नागरिक नहीं रह जाते। स्टेस यह स्वीकार करते हैं कि कुछ रहस्यवादियों के संबंध में पलायनवाद का यह आरोप सत्य हो सकता है। उन्हीं के शब्दों में : "यह संभव है कि कुछ रहस्यवादी ऐसे रहे हों जो इस प्रकार की निंदा के अधिकारी हैं। रहस्यात्मकं चेतना के आध्यात्मिक आनंद कोअपने आप में साध्य मान लेना निश्चय ही एक

मनोवैज्ञानिक संभावना है' और निस्संदेह ऐसे मनुष्य भी हैं जो इस प्रलोभन के शिकार हो गए हैं"।[8]

परंतु स्टेस का विचार है कि जगत् और जीवन के प्रति यह पलायनवाद रहस्यवादियों के लिए आदर्श कभी नहीं रहा। इस के विपरीत महान रहस्यवादियों ने इस प्रकार के पलायनवाद की तीव्र निंदा ही की है। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म के एक रहस्यवादी संत जॉन ने रहस्यवादियों के ऐसे स्वार्थपूर्ण आनंद को 'आध्यात्मिक पेटूपन' कह कर उसकी भर्त्सना की है। इसी प्रकार एक अन्य ईसाई रहस्यवादी एखार्ट कहते हैं कि मनुष्य को अपने आध्यात्मिक आनंद का परित्याग करके निर्धनों की सेवा और सहायता करनी चाहिए। स्टेस के मतानुसार अधिकतर रहस्यवादी सभी मनुष्यों के प्रति प्रेम को विशेष महत्त्व देते रहे हैं जो ईश्वर के साथ रहस्यात्मक एकता का अनिवार्य परिणाम है। कुछ रहस्यवादियों का तो यह भी कहना है कि रहस्यात्मक चेतना ही प्रेम का मूल स्रोत है जो संपूर्ण नैतिकता का अंतिम आधार है। अपने आप को दूसरों से अलग समझने की भावना के कारण ही स्वार्थपरायणता, निर्दयता, अन्याय, अत्याचार आदि बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, किंतु रहस्यात्मक चेतना मनुष्य की इस भावना को समाप्त कर देती है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस रहस्यात्मक चेतना के अंतर्गत समस्त भेदभाव समाप्त हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप रहस्यवादी अपने आप को अन्य व्यक्तियों से पृथक नहीं समझता। वह उनके सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख मानता है, अतः वह ऐसा कोई कर्म नहीं कर सकता जिससे दूसरों को कष्ट हो। इस प्रकार स्टेस रहस्यवाद के विरुद्ध लगाए गए पलायनवाद तथा स्वार्थपरायणता के उपर्युक्त आरोप का खंडन करते हैं।[9] परंतु मेरे विचार में उन के द्वारा दी गई रहस्यवाद की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि रहस्यात्मक अनुभव की अवधि के अंतर्गत रहस्यवादी स्वयं अपने सुख-दुःख के साथ-साथ दूसरों के सुख-दुःख के प्रति भी उदासीन हो जाता है, अतः उसके जीवन को पलायनवाद से पूर्णतः मुक्त मानना कुछ कठिन ही प्रतीत होता है। इस आपत्ति के उत्तर में स्टेस यह कह सकते हैं कि रहस्यात्मक अनुभव की अवधि बहुत कम होती है।

4. रहस्यवाद और धर्म

रहस्यवाद के स्वरूप तथा वर्गीकरण की विवेचना के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि रहस्यवाद का धर्म के साथ क्या संबंध है। अधिकतर विचारक यह मानते हैं कि रहस्यवाद अनिवार्यतः धार्मिक मनोदशा है। उन के मतानुसार रहस्यात्मक अनुभव तथा धार्मिक अनुभव में कोई मूल भेद नहीं है। वास्तव में मूल अनुभव एक ही है जिसे कुछ व्यक्ति धार्मिक अनुभव कहते हैं और कुछ रहस्यात्मक अनुभव। ये विचारक सभी रहस्यवादियों को अनिवार्यतः धर्मपरायण व्यक्ति मानते हैं। उन की इस मान्यता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि सभी देशों में अधिकतर रहस्यवादी किसी न किसी धर्म के

---

8. वही पुस्तक, पृ० 514
9. वही पुस्तक, पृ० 514-515

अनुयायी अवश्य रहे हैं और उन्होंने अपने रहस्यात्मक अनुभव की व्याख्या अपने-अपने धर्म के अनुरूप ही की है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद का धर्म के साथ सदैव बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है। परन्तु कुछ विचारक इन दोनों के इस घनिष्ठ संबंध को स्वीकार करते हुए भी रहस्यवाद को धार्मिक स्थिति नहीं मानते। इन विचारकों में स्टेस का नाम उल्लेखनीय है। उन का मत है कि अधिकतर रहस्यवादियों के धर्मपरायण होने का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि रहस्यवाद और धर्म में कोई भेद नहीं है। वस्तुतः रहस्यात्मक अनुभव तथा धार्मिक अनुभव परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित होने हुए भी दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव हैं। धार्मिक अनुभव का रहस्यात्मक अनुभव होना और रहस्यात्मक अनुभव का धार्मिक अनुभव होना अनिवार्य नहीं है। सभी धर्मपरायण व्यक्ति रहस्यवादी नहीं होते और न ही सभी रहस्यवादी धर्मपरायण होते हैं। ऐसी स्थिति में रहस्यात्मक अनुभव को धार्मिक अनुभव मान लेना उचित नहीं होगा।

अपने उपर्युक्त मत के समर्थन में स्टेस ने यह तर्क दिया है कि मूल रूप में रहस्यात्मक अनुभव का किसी विशेष धर्म के साथ कोई संबंध नहीं है। रहस्यवाद तथा धर्म में जो संबंध रहा है वह स्थायी एवं आंतरिक न हो कर केवल अस्थायी और बाहरी ही है। रहस्यात्मक अनुभव समस्त भेदों से रहित एक ही परम सत्ता का अनुभव है। इस अनुभव में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो इसे अनिवार्यतः धार्मिक अनुभव बना दे। हाँ, विभिन्न धर्मों के अनुरूप इस अनुभव की भिन्न-भिन्न प्रकार से धार्मिक व्याख्या अवश्य की जा सकती है। उदाहरणार्थ ईश्वरवादी धर्मों के अनुयायी रहस्यात्मक अनुभव को 'ईश्वर के साथ एकता का अनुभव' कहते हैं। कुछ अन्य धर्मपरायण व्यक्ति इसे 'परम तत्त्व का अनुभव' या 'विश्वात्मा का अनुभव' कहते हैं। परंतु ऐसी व्याख्याओं से रहस्यात्मक अनुभव अपने मूल रूप में धार्मिक अनुभव नहीं हो जाता। यदि इस अनुभव की ऐसी धार्मिक व्याख्याएँ की जाएँ तो इसे धार्मिक अनुभव नहीं कहा जा सकता। बौद्ध धर्म के अनुयायी रहस्यात्मक अनुभव को किसी भी रूप में ईश्वर का अनुभव नहीं मानते, क्योंकि वे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करते। यह अनुभव उन्हें शून्य का अनुभव प्रतीत होता है जिस में वे निर्वाण की झलक देखते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि निरीश्वरवादी रहस्यवाद का अस्तित्व भी संभव है जिस में ईश्वर के अनुभव के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार स्टेस के अनुसार रहस्यात्मक अनुभव को धार्मिक अनुभव मान कर उस के स्वरूप की व्याख्या करना उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि अधिकतर विचारक रहस्यात्मक अनुभव को धार्मिक अनुभव क्यों मानते हैं। स्टेस ने इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। प्रस्तुत खंड के आरंभ में हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अधिकतर रहस्यवादियों के धर्मपरायण व्यक्ति होने के कारण रहस्यात्मक अनुभव को अनिवार्यतः धार्मिक अनुभव मान लिया जाता है। इस कारण के अतिरिक्त स्टेस ने रहस्यात्मक अनुभव को धार्मिक अनुभव के रूप में स्वीकार किए जाने के कुछ अन्य कारण भी बताए हैं। सर्वप्रथम उनका कथन है कि रहस्यात्मक अनुभव की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता के कारण ईश्वरवादी धर्मों के अनुयायी

---

10 वही पुस्तक, पृ० 512

उसे धार्मिक अनुभव मान लेते हैं। यह विशेषता है असीम परम तत्त्व में विलीन हो जाने की अनुभूति। रहस्यवादी यह अनुभव करता है कि उस का संपूर्ण व्यक्तित्व असीम परम सत्ता में पूर्णतः विलीन हो गया है। स्टेस के विचार में उसका यह अनुभव अनुमान, व्याख्या अथवा कल्पना मात्र न होकर यथार्थ होता है। सभी धर्मों का रहस्यवादी साहित्य इस तथ्य को भलीभाँति प्रमाणित करता है। रहस्यवादी अपने रहस्यात्मक अनुभव का जो वर्णन करते हैं उस में 'विलीन हो जाना', 'लुप्त हो जाना' आदि वाक्यांश प्रायः पाए जाते हैं। रहस्यवादी व्यक्ति को वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभूति होती है कि उसका अस्तित्व असीम परम तत्त्व में लुप्त हो गया है। उसकी इसी अनुभूति को ईश्वरवादी असीम ईश्वर के साथ एकाकार होने का अनुभव मान लेते हैं। इस प्रकार ईश्वरवादियों के लिए रहस्यात्मक अनुभव धार्मिक अनुभव हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्टेस के मतानुसार एक अन्य कारण से प्रेरित होकर भी ईश्वरवादी रहस्यात्मक अनुभव को धार्मिक अनुभव मान लेते हैं। वह कारण यह है कि रहस्यवादी अपने रहस्यात्मक अनुभव को दिक्-काल से परे शाश्वत परम तत्त्व का अनुभव कहते हैं। वे यह मानते हैं कि उनका अनुभव दिक्-काल की परिधि द्वारा सीमित नहीं होता, अतः यह शाश्वत परम सत्ता का अनुभव है। ईश्व वादी इस अनुभव को ईश्वर का धार्मिक अनुभव मान लेते हैं, क्योंकि ईश्वर को कालातीत होने के अर्थ में शाश्वत माना जाता है। स्टेस के विचार में रहस्यात्मक अनुभव को धार्मिक अनुभव मान लिए जाने का अंतिम कारण यह है कि इस अनुभव के फलस्वरूप रहस्यवादी जिस अपार शांति का अनुभव करता है उसे ईश्वरीय शांति मान लिया जाता है। रहस्यवादी प्रायः यह कहते हैं कि उन्हें रहस्यात्मक अनुभव में अलौकिक आनंद की अनुभूति प्राप्त होती है। उनके इसी अलौकिक आनंद को आध्यात्मिक ईश्वरीय आनंद मान कर ईश्वरवादी धार्मिक अनुभव के रूप में रहस्यात्मक अनुभव की व्याख्या करते हैं।[11]

यहाँ स्टेस के विचारों में असंगति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। एक ओर तो वे रहस्यात्मक अनुभव को हमारी सामान्य चेतना के समस्त तत्त्वों—जिन में भावना भी सम्मिलित है—से रहित मानते हैं और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि रहस्यवादी को रहस्यात्मक अनुभव में अलौकिक आनंद की अनुभूति प्राप्त होती है। मेरे विचार में उनकी ये दोनों मान्यताएँ परस्पर विरोधी हैं। इसका कारण यह है कि आनंद की अनुभूति भी एक भावना ही है जो भावना रहित रहस्यात्मक अनुभव में विद्यमान नहीं हो सकती। यदि रहस्यात्मक अनुभव में यह अनुभूति पाई जाती है तो फिर उसे भावना-शून्य अनुभव नहीं कहा जा सकता। इस आपत्ति के उत्तर में स्टेस संभवतः यह कह सकते हैं कि अलौकिक आनंद की अनुभूति सामान्य अर्थ में भावना नहीं है। परंतु यदि वे ऐसा कहते हैं तो हमारे लिए अलौकिक आनंद की अनुभूति अबोधगम्य हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'अलौकिक आनंद की अनुभूति' ये शब्द हमारे लिए अनुभव-शून्य निरर्थक शब्द मात्र रह जाते हैं। परंतु इस आपत्ति के होते हुए भी हम यह कह सक हैं कि स्टेस ने अपनी इस मान्यता को तर्कसंगत रूप से प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि रहस्यात्मक अनुभव वास्तव में अनिवार्यतः धार्मिक अनुभव नहीं है।

11. वही पुस्तक, पृ० 513

स्टेस यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि रहस्यवादी जिस धर्म का अनुयायी होता है वह उसी धर्म के अनुरूप अपने रहस्यात्मक अनुभव की व्याख्या करता है। उदाहरणार्थ, यदि वह किसी ईश्वरवादी धर्म को स्वीकार करता है तो वह ईश्वर के साथ पूर्ण तादात्म्य के रूप में अपने अनुभव की व्याख्या करेगा। इसके विपरीत यदि वह किसी निरीश्वरवादी धर्म का अनुयायी है तो उसके द्वारा की गई अपने अनुभव की व्याख्या में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं होगा। हम ऊपर देख चुके हैं कि बौद्ध रहस्यवादी अपने रहस्यात्मक अनुभव की निरीश्वरवादी व्याख्या करते हैं। वे अपने इस अनुभव को निर्वाण की शांति के रूप में देखते हैं। स्टेस का कथन है कि यदि कोई आधुनिक रहस्यवादी अपनी वैज्ञानिक शिक्षा के परिणामस्वरूप धर्म के संबंध में संदेहवादी हो गया है जिसके कारण वह धर्म में विश्वास ही नहीं करता तो वह अपने रहस्यात्मक अनुभव की व्याख्या किसी भी धर्म के सिद्धांतों के अनुसार नहीं करेगा। उस के रहस्यवाद में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं होगा। परंतु मेरे विचार में स्टेस की यह मान्यता संदेहास्पद ही प्रतीत होती है कि आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात भी कोई व्यक्ति रहस्यवादी हो सकेगा। फिर भी उन के इस मत को स्वीकार किया जा सकता है कि रहस्यवाद किसी विशेष धर्म के साथ अनिवार्यतः संबद्ध नहीं है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि "यह किसी विशेष धर्म का समर्थन नहीं करता। अपने आप में रहस्यात्मक अनुभव किसी मनुष्य को ईसाई या बौद्ध नहीं बनाता। रहस्यवादी किस धार्मिक सिद्धांत के अनुसार अपने अनुभव की व्याख्या करेगा, यह मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि वह किस संस्कृति को स्वीकार करता है"।[12] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्टेस रहस्यवाद और धर्म में कोई अनिवार्य संबंध स्वीकार नहीं करते।

5. रहस्यवाद और ज्ञान

अंत में यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि रहस्यवाद द्वारा किसी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति की संभावना है अथवा नहीं। हम देख चुके हैं कि रहस्यवादी गहन एवं अलौकिक सत्यों के साक्षात् ज्ञान की प्राप्ति का दावा करते हैं। वे यह कहते हैं कि उन्हें रहस्यात्मक अनुभव द्वारा ऐसे अलौकिक सत्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है जिन्हें ज्ञान के सामान्य साधनों के माध्यम से जानना संभव नहीं है। इस ज्ञान को वे पूर्णतः निश्चित अथवा असंदिग्ध मानते हैं। संपूर्ण ब्रह्मांड के मूल में एक ही असीम परम सत्ता का ज्ञान ऐसा ही ज्ञान है। रहस्यवादियों का दावा है कि साक्षात् अनुभव पर आधारित होने के कारण उनका यह ज्ञान सत्य एवं वस्तुपरक होता है। हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि उन का यह दावा कहाँ तक उचित एवं युक्तिसंगत है। वस्तुतः इस प्रश्न का कोई निश्चित तथा सर्वमान्य उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि इस के संबंध में दार्शनिकों में तीव्र मतभेद है। उदाहरणार्थ, स्टेस का विचार है कि रहस्यवादी को अपने रहस्यात्मक अनुभव द्वारा दिक्-काल से परे आध्यात्मिक सत्ता अथवा असीम परम तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है जो पूर्णतः असंदिग्ध एवं वस्तुपरक है। वह उन अलौकिक सत्यों का साक्षात् अनुभव करता है जो सामान्य मनुष्यों के लिए अज्ञेय हैं।[13]

---

12. वही पुस्तक, पृ० 514
13. वही पुस्तक, पृ० 515

परंतु अनेक दार्शनिक रहस्यवाद के विषय में स्टेस के उपर्युक्त दावे को पूर्णत: स्वीकार नहीं करते। इस संबंध में विलियम जेम्स का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपनी पुस्तक 'वेराइटीज़ ऑफ़ रिलीजियस ऐक्सपीरियँस' में स्टेस से पूर्व इस समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया था। जेम्स का मत है कि रहस्यवादी अलौकिक सत्यों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का दावा करता है वह स्वयं उस के लिए निश्चय ही प्रामाणिक है। जिन व्यक्तियों को रहस्यात्मक अनुभव प्राप्त नहीं हुआ है और इसी कारण जो रहस्यावादी के इस अलौकिक ज्ञान से अनभिज्ञ हैं उन्हें उसके इस ज्ञान को अप्रामाणिक तथा मिथ्या मानने का कोई अधिकार नहीं है। यह सत्य है कि रहस्यात्मक अनुभव से अनभिज्ञ व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है, किंतु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वे जो ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। रहस्यवादी अपने रहस्यात्मक अनुभव द्वारा जो साक्षात् ज्ञान प्राप्त करता है वह उसके लिए उतना ही निश्चित और असंदिग्ध है जितना साधारण व्यक्तियों के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान। उसे अपने इस ज्ञान को सत्य मानने और उसके अनुरूप आचरण करने का पूर्ण अधिकार है। सामान्य व्यक्ति उसे इस ज्ञान को मिथ्या मानने के लिए विवश नहीं कर सकते। अपनी संख्या और शक्ति की अधिकता के कारण वे उसे बंदी-गृह या पागल-खाने में तो डाल सकते हैं, किंतु उसे अपने विश्वासों का परित्याग करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त रहस्यवादी के साथ इस प्रकार के अनुचित व्यवहार द्वारा उसके ज्ञान को मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि जेम्स के मतानुसार रहस्यवादी को यह पूर्ण अधिकार है कि वह अपने रहस्यात्मक अनुभव के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को सत्य माने और उसके अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करे।

परंतु जेम्स के उपर्युक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि वे रहस्यवादियों के अलौकिक ज्ञान को वस्तुपरक तथा सभी मनुष्यों के लिए प्रामाणिक मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि रहस्यात्मक अनुभव से अनभिज्ञ सामान्य व्यक्ति रहस्यवादियों के इस ज्ञान को सत्य एवं प्रामाणिक मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। रहस्यवादियों को यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि सामान्य व्यक्ति उनके असाधारण ज्ञान को वस्तुपरक तथा प्रामाणिक ज्ञान के रूप में स्वीकार करें। वस्तुत: उन्हें इस प्रकार का आग्रह करने का कोई अधिकार नहीं है। इसका कारण यह है कि रहस्यवादियों का असाधारण अनुभव सामान्य व्यक्तियों के लिए वस्तुपरक और प्रामाणिक ज्ञान का स्रोत नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त रहस्यवादी अपने रहस्यात्मक अनुभव द्वारा जो अलौकिक ज्ञान प्राप्त करने का दावा करते हैं उसकी व्याख्या के संबंध में स्वयं उनमें पर्याप्त मतभेद है। वे अपने-अपने धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार इस ज्ञान की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करते हैं। रहस्यवादियों के इस मतभेद का उल्लेख हम पिछले खंड में कर चुके हैं, अत: यहाँ इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इस प्रकार जेम्स रहस्यवादियों के अलौकिक ज्ञान को स्वयं उनके लिए प्रामाणिक मानते हुए भी सभी मनुष्यों के लिए उसे सत्य एवं वस्तुपरक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते।

कुछ समकालीन दार्शनिकों ने भी रहस्यात्मक ज्ञान की प्रामाणिकता की समस्या पर विचार किया है। इन दार्शनिकों में तर्कीय प्रत्यक्षवाद के समर्थक ए०जे० एयर का नाम

विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे वस्तुपरक ज्ञान के अर्थ में रहस्यात्मक ज्ञान की संभावना को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि रहस्यवादी अलौकिक सत्यों के जिस ज्ञान को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने का दावा करता है उसे सत्य और प्रामाणिक मानने के लिए हमारे पास कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है। ऐसे रहस्यात्मक ज्ञान की प्राप्ति का दावा करके वह केवल अपनी व्यक्तिनिष्ठ मनोदशा का ही वर्णन करता है, किसी वस्तुपरक तथ्य का नहीं। ऐसी स्थिति में उसके इस व्यक्तिनिष्ठ अनुभव को वास्तविक अर्थ में ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

रहस्यात्मक ज्ञान के विषय में अपनी उपर्युक्त मान्यता को स्पष्ट करते हुए एयर ने लिखा है कि–"अनुभव द्वारा सत्यापित प्रतिज्ञप्तियों को अभिव्यक्त करने के स्थान पर रहस्यवादी किसी प्रकार की बोधगम्य प्रतिज्ञप्तियाँ व्यक्त करने में नितान्त असमर्थ है। इसलिए हम यह कहते हैं कि उसकी अंतःप्रज्ञा ने उस के समक्ष किसी प्रकार के तथ्य प्रस्तुत नहीं किए हैं। ...अपनी अंतर्दृष्टि का वर्णन करके रहस्यवादी हमें बाह्य जगत् के विषय में कोई सूचना नहीं देता: वह हमें अपनी मनोदशा के संबंध में ही अप्रत्यक्ष सूचना देता है।...उसका यह कहना व्यर्थ है कि उसने तथ्यों का साक्षात ज्ञान तो प्राप्त किया है किन्तु वह उन्हें अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। क्योंकि हम यह जानते हैं कि यदि उसने वास्तव में कोई सूचना प्राप्त की होती तो वह उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ होता। ...यह तथ्य कि वह जो कुछ 'जानता है' उसे वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता अथवा अपने 'ज्ञान' को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए कोई अनुभवात्मक कसौटी भी प्रस्तुत नहीं कर सकता इसी बात को स्पष्ट करता है कि उसका रहस्यात्मक अनुभव वास्तव में संज्ञानात्मक अनुभव नहीं है"।"[14]

रहस्यात्मक ज्ञान के विषय में एयर के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे इस ज्ञान की वस्तुनिष्ठता और प्रामाणिकता का पूर्णतः निषेध करते हैं। वे इसे रहस्यवादी का व्यक्तिनिष्ठ अनुभव मात्र मानते हैं जिसके द्वारा वस्तुपरक रूप से कुछ भी प्रमाणित नहीं होता। यदि हम ज्ञान को तथ्यात्मक ज्ञान के अर्थ में ग्रहण करें तो एयर का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वस्तुतः रहस्यात्मक ज्ञान हमें किसी प्रकार का वस्तुपरक ज्ञान प्रदान नहीं करता। हाँ, स्वयं रहस्यवादी के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार के ज्ञान का विशेष महत्त्व हो सकता है।

---

14. ए० जे० एयर, 'लैंग्वेज, ट्रुथ एंड लॉजिक' पृ० 118

8

धार्मिक ज्ञान और आस्था

1. ज्ञान का अर्थ

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि रहस्यवादी अपने रहस्यात्मक अनुभव द्वारा अलौकिक गहन सत्यों के विशेष ज्ञान की प्राप्ति का दावा करते हैं जो अनेक दार्शनिकों के मतानुसार उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। रहस्यवादियों की भाँति भक्त अथवा धर्मपरायण व्यक्ति भी प्रायः एक विशेष प्रकार के ज्ञान की चर्चा करते हैं जिसे वे 'धार्मिक ज्ञान' की संज्ञा देते हैं और जो उनके विचार में हमारे सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है। भौतिक वस्तुओं तथा घटनाओं के स्थान पर ईश्वर, आत्मा, देवी-देवता और उनसे संबंधित क्रियाओं एवं अतिप्राकृतिक घटनाओं को ही इस धार्मिक ज्ञान का मूल विषय माना जाता है। उदाहरणार्थ, बहुत-से धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः यह कहते हैं कि :– "ईश्वर का अस्तित्व है" "यह ईश्वर ही विश्व का रचयिता, संरक्षक तथा पालनकर्ता है," ईश्वर में सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, नित्यता, पूर्ण शुभत्व, प्रेम, दया, न्याय आदि गुण असीमित मात्रा में अनिवार्यतः पाए जाते हैं।", "शरीर से पृथक आत्मा का अस्तित्व है जो अभौतिक तथा अजर-अमर है," "यह आत्मा ही सांसारिक बंधनों से मोक्ष अथवा मुक्ति प्राप्त करती है।", "ईश्वर या अन्य देवी-देवता हमारी प्रार्थना सुनते हैं और संकट-काल में हमारी सहायता करते हैं।" "प्रत्येक मनुष्य को उसके शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक प्राप्त होता है", इत्यादि। विश्व के सभी धर्मों में-चाहे वे आदिम धर्म हों या उन्नत धर्म, ईश्वरवादी धर्म हों अथवा निरीश्वरवादी धर्म–दैवी या अतिप्राकृतिक शक्तियों तथा उनसे संबंधित क्रियाओं एवं घटनाओं के विषय में इस प्रकार के कथन पाए जाते हैं और इन्हीं कथनों को 'धार्मिक ज्ञान संबंधी कथन' माना जाता है। धर्मपरायण व्यक्ति ऐसे ही कथनों के माध्यम से 'धार्मिक ज्ञान' को अभिव्यक्त करने का दावा करते हैं और यह मानते हैं कि इस प्रकार का ज्ञान उनके धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत अध्याय में इस धार्मिक ज्ञान से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं की विवेचना की जाएगी। इस ज्ञान के संबंध में जिन प्रश्नों पर हम यहाँ विचार करेंगे उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :– धार्मिक ज्ञान का अर्थ या स्वरूप क्या है और यह ज्ञान हमारे सामान्य ज्ञान से किस प्रकार भिन्न होता है? धार्मिक ज्ञान के मूल स्रोत क्या हैं–अर्थात् क्या अनुभव, तर्कबुद्धि, आस्था या श्रुति द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? क्या धार्मिक ज्ञान की प्रामाणिकता की कोई संभावना है? यदि हाँ, तो हम इस ज्ञान की प्रामाणिकता के समर्थन में किस प्रकार के तर्क दे सकते हैं? क्या धार्मिक ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए कुछ वस्तुपरक कसौटियाँ निर्धारित की जा सकती है? धार्मिक ज्ञान की दृष्टि से तर्कबुद्धि, आस्था और श्रुति का क्या महत्त्व हैं? इन सभी प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों को धार्मिक ज्ञान के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। परंतु इन प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व हमारे लिए यह

जानना आवश्यक है कि ज्ञान का अर्थ या स्वरूप क्या है, वह कितने प्रकार का होता है, उसे किन उपायों या विधियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और उसकी प्रामाणिकता की आधारभूत कसौटियाँ क्या हैं। प्रस्तुत खंड तथा अगले खंड में हम इन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे।

अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की भाँति ज्ञान की भी कोई निश्चित एवं सर्वसम्मत परिभाषा करना बहुत कठिन है, क्योंकि विभिन्न दार्शनिक प्रायः भिन्न-भिन्न अर्थों में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। यहाँ हम ज्ञान की परिभाषा से संबंधित दार्शनिकों के विवाद में न उलझते हुए यह कह सकते हैं कि **मनुष्य अपने अनुभव, निरीक्षण तथा अंतर्निरीक्षण, शब्दों या अवधारणाओं के विश्लेषण और अपनी तर्कबुद्धि द्वारा जो कुछ जानता है अथवा जान सकता है उसे व्यापक अर्थ में 'ज्ञान' की संज्ञा दी जा सकती है।** ज्ञान के इस व्यापक अर्थ में मनुष्य के संवेदन, प्रत्यय, विचार, संवेग, उसकी इच्छाएँ, भावनाएँ, अभिवृत्तियाँ उसके मूल्य एवं आदर्श, वाह्य जगत् की वस्तुएँ, घटनाएँ प्रक्रियाएँ, गणित और तर्कशास्त्र की अवधारणाएँ-ये सभी ज्ञान के विषय हैं। इस प्रकार मनुष्य जो कुछ जानता है अथवा जान सकता है वह सब उसके ज्ञान में सम्मिलित है। अनेक दार्शनिकों ने ज्ञान का यही व्यापक अर्थ स्वीकार किया है। इस व्यापक अर्थ में मनुष्य अनुभव, निरीक्षण (जिसमें अंतर्निरीक्षण भी सम्मिलित है) तथा तर्कबुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, अतः इन सबको ज्ञान के स्रोत माना जा सकता है। विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी विचार-धाराओं के अनुरूप ज्ञान के इन भिन्न-भिन्न स्रोतों को विशेष महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ, प्लैटो, अरस्तू, डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइब्नीज़, आदि बुद्धिवादी दार्शनिकों ने तर्कबुद्धि को ही ज्ञान का मूल स्रोत माना है। इसके विपरीत लॉक, बर्कले, ह्यूम आदि अनुभववादी दार्शनिक अनुभव को ही ज्ञान का एकमात्र मूल स्रोत मानते हैं। परंतु कान्ट ने अपने दर्शन में इन दोनों परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का समन्वय करते हुए अनुभव और तर्कबुद्धि दोनों को ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना है। यहाँ हमारा उद्देश्य इन विभिन्न दार्शनिक विचार-धाराओं की विवेचना करना नहीं, अपितु केवल इतना ही स्पष्ट करना है कि ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि दोनों का बहुत महत्त्व है।

ज्ञान के अर्थ तथा उसके मूल स्रोतों के विषय में अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान की प्रक्रिया में तीन पक्ष या तत्त्व अनिवार्यतः पाए जाते हैं—ज्ञाता जो ज्ञान प्राप्त करता है, ज्ञेय वस्तु जिसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है और ज्ञान का साधन अथवा उसकी विधि जिसके द्वारा ज्ञाता को ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान के स्वरूप की संतोषप्रद व्याख्या करने के लिए इन तीनों तत्त्वों पर समुचित ध्यान देना बहुत आवश्यक है। इन तत्त्वों में से किसी भी तत्त्व के अभाव में ज्ञान की प्रक्रिया अपूर्ण ही रहेगी जिसके परिणाम-स्वरूप ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं हो सकेगा। यदि ज्ञाता ही नहीं है तो ज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार यदि कोई ज्ञेय वस्तु है ही नहीं तो ज्ञाता द्वारा उसके ज्ञान की प्राप्ति की बात करना निरर्थक है। अंत में यदि ज्ञाता के पास किसी ज्ञेय वस्तु को जानने का साधन ही नहीं है तो निश्चय ही वह उसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण ज्ञान की प्राप्ति के लिए

उपर्युक्त तीनों तत्त्वों को अनिवार्य माना जाता है जिनकी सम्मिलित उपस्थिति के परिणामस्वरूप ही ज्ञान की प्रक्रिया पूर्ण होती है। इस प्रक्रिया के पूर्ण होने पर जब मनुष्य किसी तथ्य—अर्थात् वस्तु, घटना, स्थिति, मनोदशा, क्रिया, नियम, मूल्य, आदर्श आदि—का ज्ञान प्राप्त करता है तो वह अपने इस ज्ञान के यथार्थ अथवा सत्य होने में विश्वास करना चाहता है। वह यह मानता है कि उसने जो कुछ जाना है वह भ्रम अथवा मिथ्या न होकर वास्तविक या सत्य है। मनुष्य का यह विश्वास उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान के साथ अनिवार्यतः संबद्ध रहता है।

इसी कारण अनेक दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान-मीमांसा का मूल उद्देश्य इस प्रश्न का उत्तर देना है कि मनुष्य को किस वस्तु में और क्यों विश्वास करना चाहिए। इस प्रश्न का तर्कसंगत एवं संतोषप्रद उत्तर प्राप्त कर के ही ज्ञाता अपने ज्ञान की वास्तविकता और सत्यता में विश्वास कर सकता है। परंतु इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि सभी संज्ञानात्मक कथन—अर्थात् ऐसे कथन जो हमें किसी प्रकार का ज्ञान प्रदान करते हैं—सर्वदा सत्य और पूर्णतः निश्चित नहीं होते। उपलब्ध प्रमाणों के अनुरूप इन कथनों की निश्चयात्मकता की मात्रा में अंतर पाया जाता है। कुछ संज्ञानात्मक कथन—यथा, गणित और तर्कशास्त्र के वाक्य—पूर्णतः निश्चित एवं सर्वदा सत्य होते हैं। परंतु अधिकतर संज्ञानात्मक कथन पूर्णतः निश्चित न होकर कम या अधिक मात्रा में केवल प्रायिक ही होते हैं। इन कथनों के समर्थन में दिए गए प्रमाणों की दुर्बलता अथवा प्रबलता के अनुरूप ही इनकी प्रायिकता की मात्रा में कमी या अधिकता आ जाती है। ज्ञान-मीमांसा का कार्य हमें ऐसी तर्कसंगत कसौटियाँ प्रदान करना है जिनके आधार पर संज्ञानात्मक कथनों की निश्चयात्मकता अथवा प्रायिकता को भलीभाँति निर्धारित किया जा सके। ज्ञान-मीमांसा के इस कार्य से यह स्पष्ट है कि वह केवल वर्णनात्मक विधा न होकर मानकीय विधा भी है। वह ज्ञान की प्रक्रिया का केवल वर्णन ही नहीं करती, अपितु ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा सत्यता के लिए आवश्यक नियमों और तर्कसंगत कसौटियों को भी निर्धारित करती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वे कौन-सी कसौटियाँ हैं जो 'ज्ञान' शब्द के सार्थक प्रयोग के लिए अनिवार्य हैं और जिनके आधार पर हम किसी कथन को 'संज्ञानात्मक कथन' कह सकते हैं। अपनी पुस्तक 'दि प्रॉब्लम ऑफ़ नॉलेज' में ए०जे० एयर ने ज्ञान-मीमांसा के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके मतानुसार ज्ञान के लिए निम्नलिखित तीन कसौटियों को स्वीकार करना अनिवार्य है:—

(1) मनुष्य जिस कथन को जानता है वह अनिवार्यतः सत्य होना चाहिए। जिस कथन को जानने के विषय में हम पूर्णतः आश्वस्त हैं यदि वह भविष्य में मिथ्या प्रमाणित होता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि हम उसे वास्तव में जानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि 'मिथ्या ज्ञान' असंभव है, क्योंकि वास्तविक अर्थ में ज्ञान सर्वदा सत्य ही होता है। एयर के अनुसार किसी कथन को सत्य कहने का अर्थ यह है कि वह किसी तथ्य का उसी रूप में वर्णन करता है जिस रूप में वह तथ्य है। इससे स्पष्ट है कि सत्य के स्वरूप के विषय में वे संवाद-सिद्धांत को ही स्वीकार करते हैं जो तथ्यों की अनुरूपता के आधार पर सत्य की परिभाषा करता है। इस सिद्धांत के अनुसार सत्य वह है जो किसी तथ्य के अनुरूप है।

(2) जिस कथन को मनुष्य जानता है उसके सत्य होने के संबंध में उसे पूर्णतः आश्वस्त होना चाहिए। वह यह नहीं कह सकता कि "मैं 'क' को जानता हूँ, किंतु मैं उसके विषय में आश्वस्त नहीं हूँ।" कुछ दार्शनिक ज्ञान की इस कसौटी को पूर्णतः स्वीकार नहीं करते। उदाहरणार्थ, वूज़ले के मतानुसार यह संभव है कि कोई व्यक्ति किसी तथ्य को जानता हो, किंतु वह उसके विषय में आश्वस्त न हो।[1] संभवतः इससे उनका तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति किसी कथन की सत्यता के संबंध में पूर्णतः आश्वस्त हुए बिना भी उसे जानने का दावा कर सकता है। वह उस कथन को निश्चित न मान कर केवल प्रायिक मान सकता है।

(3) मनुष्य जिस कथन को जानता है उसकी सत्यता के विषय में आश्वस्त होने के लिए उसके पास पर्याप्त कारण या आधार होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि इस कथन की सत्यता के समर्थन में उसके पास ऐसे प्रमाण होने चाहिएं जो विश्वसनीय उपायों अथवा विधियों द्वारा प्राप्त किए गए हों। ऐसे प्रमाणों द्वारा समर्थित कथन या विश्वास को ही सत्य माना जा सकता है और उसे ही 'ज्ञान' की संज्ञा दी जा सकती है। एयर यह स्वीकार करते हैं कि किसी कथन अथवा विश्वास के समर्थन में प्रस्तुत प्रमाण उसकी विषय वस्तु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। परंतु किसी वाक्य को संज्ञानात्मक कथन तभी माना जा सकता है जब उसके समर्थन में हमारे पास विश्वसनीय प्रमाण हों। एयर का निश्चित मत है कि किसी कथन या विश्वास को 'ज्ञान' की संज्ञा देने के लिए उपर्युक्त तीनों शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है।[2] अनेक दार्शनिक ज्ञान के विषय में उनके इस मत को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि न्याय-दर्शन में भी यथार्थवाद के आधार पर ही ज्ञान के स्वरूप की विवेचना की गई है। इस दर्शन के अनुसार ज्ञान का अर्थ है अपनी मनोदशाओं तथा बाह्य वस्तुओं को उसी रूप में ठीक-ठीक जानना जिस रूप में वे हैं। इसी वास्तविक अथवा यथार्थ ज्ञान को न्याय-दर्शन में 'प्रमा' कहा गया है। नैयायिकों का कथन है कि जिस प्रकार दीपक अपने समक्ष उपस्थित समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान भी वस्तुओं को हमारे समक्ष उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करता है। मनुष्य संशय अथवा भ्रम की अवस्था में जो कुछ जानता है वह वस्तुतः ज्ञान या प्रमा नहीं है। ऐसे मिथ्या ज्ञान को 'अप्रमा' की संज्ञा दी गई है जिसका अर्थ यह है कि उसे यथार्थ ज्ञान नहीं माना जा सकता। किसी वस्तु को उसके वास्तविक रूप में न जान पर संदिग्ध रूप में जानना ही 'अप्रमा' है जो संशय, विपर्यय आदि भ्रामक ज्ञान के, रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। परतु अप्रमा के विपरीत प्रमा हमारी अपनी मनोदशाओं तथा बाह्य वस्तुओं का स्पष्ट, सुनिश्चित और असंदिग्ध यथार्थ ज्ञान है। इस ज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन करते

---

1. ए० डी० वूज़ले का लेख, 'नोइंग ऐंड नॉट नोइंग', 'ऐरिस्टोटेलियन सोसाइटी प्रोसीडिंग' नामक पत्रिका में संकलित, न्यू सीरीज़, वोल्यूम 53, 1952-53
2. ए० जे० एयर, 'दि प्रॉब्लम ऑफ़ नालेज', पृ० 35

हुए न्याय-दर्शन में कहा गया है कि यह ज्ञान पंच ज्ञानेंद्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ, मन का ज्ञानेंद्रियों के साथ तथा आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष अथवा संयोग होने के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया के संबंध में न्याय-दर्शन का दृष्टिकोण सामान्य व्यक्ति के दृष्टि-कोण की भाँति व्यावहारिक और यथार्थवादी है।

एयर द्वारा प्रस्तुत ज्ञान की कसौटियों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे भी हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ज्ञान के संबंध में वे भी मूलतः इसी यथार्थवादी तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। परंतु यदि उनके द्वारा बताई गई कसौटियों के अनुसार ज्ञान की परिभाषा की जाए तो केवल पूर्णतः निश्चित एवं असंदिग्ध रूप से सत्य कथनों को ही 'ज्ञान' की संज्ञा दी जा सकेगी; अन्य सभी कथनों को ज्ञान की परिधि से बाहर मानना अनिवार्य हो जाएगा। इस परिभाषा के अनुसार गणित और तर्कशास्त्र में पाए जाने वाले विश्लेषणात्मक कथन ही ज्ञान के अंतर्गत रखे जा सकेंगे, क्योंकि ऐसे कथन ही असंदिग्ध रूप से सर्वदा सत्य होते हैं। परंतु ज्ञान का यह अर्थ बहुत ही संकुचित है जिसका समर्थन स्वयं एयर भी नहीं करते। उन्होंने स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि तथ्यपरक संश्लेषणात्मक कथन असंदिग्ध रूप से सत्य न होकर केवल प्रायिक ही होते हैं, किंतु फिर भी उन्हें ज्ञान के अंतर्गत ही रखा जाता है। इसका अर्थ यह है कि हम ऐसे प्रत्येक कथन या विश्वास को 'ज्ञान' की संज्ञा दे सकते हैं जो पूर्णतः निश्चित और सर्वदा सत्य न होते हुए भी इस समय उपलब्ध विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा सत्य प्रमाणित किया जा चुका है अथवा किया जा सकता है। ऐसा कथन अथवा विश्वास केवल प्रायिक ही हो सकता है, क्योंकि भविष्य में इसके मिथ्या प्रमाणित होने की संभावना सदा बनी रहती है। 'ज्ञान' शब्द के व्यापक अर्थ में ऐसे सभी प्रायिक कथनों को निश्चय ही 'संज्ञानात्मक' कहा जा सकता है। स्वयं एयर ने भी 'ज्ञान' का यही व्यापक अर्थ स्वीकार किया है। ज्ञान के स्वरूप के संबंध में नैयायिकों के जिस मत का उल्लेख ऊपर किया गया है उसे ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि वे भी 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में करते हैं।

2. ज्ञान का वर्गीकरण

ज्ञान के अर्थ अथवा स्वरूप की विवेचना करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उसका वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम ज्ञान को मुख्य दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—परिचयात्मक ज्ञान वर्णनात्मक तथा ज्ञान। मनुष्य को प्रत्यक्ष आत्मनिष्ठ अनुभव द्वारा स्वयं अपनी मनोदशाओं तथा अपने विचारों एवं इंद्रिय-संवेदनों का जो साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है उसे ही 'परिचयात्मक ज्ञान' कहा जाता है। इस ज्ञान की प्रमुख विशेषता यह है कि यह अनिवार्यतः केवल ज्ञाता तक ही सीमित रहता है और अन्य कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्षतः इसे प्राप्त नहीं कर सकता। सभी प्रकार के व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुभूतियों तथा स्वयं अपनी इच्छाओं,भावनाओं, अभिवृत्तियों, वासनाओं,

इंद्रिय-संवेदनों आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान ऐसा ही परिचयात्मक ज्ञान है। मनुष्य अपनी शारीरिक चेष्टाओं, क्रियाओं तथा भाषा द्वारा अपने इस ज्ञान को दूसरों तक अवश्य पहुँचा सकता है, किंतु स्वयं उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति उसके इस ज्ञान को प्रत्यक्षतः कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण इस प्रकार के ज्ञान को 'आत्मनिष्ठ ज्ञान' भी कहा जा सकता है। जब कोई व्यक्ति इंद्रिय-संवेदनों तथा किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक सुख अथवा दुःख का स्वयं अनुभव करता है तो हम उसके इस ज्ञान को 'परिचयात्मक ज्ञान' या 'आत्मनिष्ठ ज्ञान' की संज्ञा दे सकते हैं। उसके इस आत्मनिष्ठ ज्ञान को अन्य व्यक्ति केवल अप्रत्यक्षतः ही जान सकते हैं, क्योंकि यह उनके प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि जिस सुख-दुःख का मैं स्वयं अनुभव करता हूँ उसका मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्षतः अनुभव नहीं कर सकता। हाँ, मैं भाषा तथा अन्य उपायों द्वारा कुछ सीमा तक दूसरों को यह बता सकता हूँ कि मैं क्या अनुभव कर रहा हूँ। यदि इस समय मेरे दाँत या सिर में तीव्र पीड़ा हो रही है तो उसे केवल मैं ही जानता हूँ, कोई अन्य व्यक्ति नहीं। केवल मुझ तक सीमित होने के कारण ही इस प्रकार के ज्ञान को 'आत्मनिष्ठ ज्ञान' कहा गया है।

इस आत्मनिष्ठ ज्ञान की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसे सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। केवल व्यक्ति विशेष तक सीमित होने के कारण यह ज्ञान वस्तुपरक प्रमाणों की परिधि से परे है। इस ज्ञान का केवल प्रत्यक्षतः अनुभव किया जा सकता है, किंतु किसी वस्तुपरक विधि या उपाय द्वारा इसकी प्रामाणिकता की परीक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य अपनी पाँच ज्ञानेंद्रियों, स्मृति तथा अंतर्निरीक्षण द्वारा इस ज्ञान को प्रत्यक्षतः प्राप्त करता है, अतः उसके लिए इसे सत्य प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं होती। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि किसी वस्तु या अनुभव के विषय में उसका आत्मनिष्ठ ज्ञान सत्य है तो इससे उसका तात्पर्य यह होता है कि उसे निश्चित रूप से यह ज्ञान प्राप्त हो रहा है अथवा हो चुका है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वह अपने इस ज्ञान की निश्चयात्मकता में संदेह नहीं कर सकता। एक अन्य उपाय द्वारा भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि आत्मनिष्ठ ज्ञान को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करना संभव नहीं है। ज्ञाता के अतिरिक्त इस ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में अन्य कोई भी व्यक्ति कुछ नहीं कह सकता। उदाहरणार्थ, यदि मैं यह कहता हूँ कि 'इस समय मेरे सिर में पीड़ा हो रही है' तो आप यह कैसे प्रमाणित कर सकते हैं कि मेरा यह कथन मिथ्या है, निश्चय ही मेरे इस कथन के विरुद्ध किसी के लिए कोई वस्तुपरक प्रमाण देना संभव नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मनिष्ठ ज्ञान की प्रामाणिकता के संबंध में प्रश्न उठाना निरर्थक है।

वर्णनात्मक ज्ञान का स्वरूप उपर्युक्त परिचयात्मक अथवा आत्मनिष्ठ ज्ञान के ठीक विपरीत होता है। यह वर्णनात्मक ज्ञान हमें बताता है कि किसी वस्तु, स्थिति अथवा प्रक्रिया में कौन-से गुण या संबंध हैं। आत्मनिष्ठ ज्ञान के विपरीत यह ज्ञान सार्वजनिक होता है—अर्थात्, इसे समान परिस्थितियों में सभी सामान्य व्यक्ति उपयुक्त विधियों अथवा उपायों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। यह ज्ञान किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं होता और न ही इसकी प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत अनुभव की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक होने के

साथ-साथ यह वर्णनात्मक ज्ञान वस्तुपरक भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा हमें बाह्य वस्तुओं का उनके यथार्थ रूप में ज्ञान होता है और इसके लिए हमें ज्ञाता की व्यक्तिगत अनुभूतियों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। इस ज्ञान को हम भाषा तथा अन्य व्यक्तिनिरपेक्ष विधियों द्वारा दूसरों तक भली-भाँति पहुँचा सकते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञाता स्वयं किसी विशेष अनुभव को प्रत्यक्षतः प्राप्त करे। वह किसी वस्तु, स्थिति या तथ्य की परिभाषा अथवा व्याख्या द्वारा भी उसका समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी कारण वर्णनात्मक ज्ञान की परिधि अधिक विस्तृत होती है: बहुत-से व्यक्ति इसे एक ही साथ समान रूप से प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, बहुत-से व्यक्ति मकान, मेज़, कुर्सी, वृक्ष आदि वस्तुओं को देख या छू कर एक ही साथ समान रूप से उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परिभाषा अथवा व्याख्या के अतिरिक्त आगमनात्मक तथा निगमनात्मक अनुमान द्वारा भी इस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

परिचयात्मक या आत्मनिष्ठ ज्ञान के विपरीत इस वर्णनात्मक ज्ञान को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करना संभव है। यदि किसी वस्तु में वे गुण या संबंध हैं जिनका वर्णन किया गया है तो उस वर्णन को सत्य माना जा सकता है, अन्यथा उसे मिथ्या कहा जा सकता है। इस वस्तु में इन गुणों अथवा संबंधों की उपस्थिति या अनुपस्थिति के लिए उपयुक्त प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इन प्रमाणों का स्वरूप तथा इन्हें प्राप्त करने की विधियाँ वर्णित वस्तु के स्वरूप के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। इन प्रमाणों को कुछ विशेष नियमों के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है जिनका निर्णय कुछ वस्तुपरक विधियों द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार वर्णनात्मक ज्ञान को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करने के लिए विश्वसनीय प्रमाणों को प्राप्त करना अनिवार्य होता है। वर्णनात्मक ज्ञान विषयक कोई कथन सत्य है अथवा मिथ्या यह इस बात पर निर्भर है कि उसकी पुष्टि के लिए हमें विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हैं या नहीं। हमारे व्यावहारिक जीवन में संबंधित तथ्यात्मक कथनों, गणित, तर्कशास्त्र, प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में हमें जो ज्ञान उपलब्ध होता है उसे 'वर्णनात्मक ज्ञान' की संज्ञा दी जाती है। उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि परिचयात्मक या आत्मनिष्ठ ज्ञान के विपरीत यह वर्णनात्मक ज्ञान सार्वजनिक, वस्तुपरक, प्रमाणों पर आधारित और सत्य अथवा मिथ्या होता है।

दार्शनिकों ने इस वर्णनात्मक ज्ञान को मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया है—आकारिक ज्ञान और तथ्यात्मक अथवा अनुभवात्मक ज्ञान। गणित, तर्कशास्त्र तथा दैनिक जीवन की हमारी भाषा में पाए जाने वाले समस्त विश्लेषणात्मक कथन आकारिक ज्ञान के अंतर्गत ही आते हैं। सामान्य भाषा, प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के सभी तथ्यपरक कथनों को तथ्यात्मक या अनुभवात्मक ज्ञान में सम्मिलित किया जाता है। ये दोनों प्रकार के ज्ञान वस्तुतः वर्णनात्मक ज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इन ज्ञानों में पाए जाने वाले कथनों की विषयवस्तु तथा इनके प्रमाणीकरण की विधियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों प्रकार के ज्ञानों से संबंधित कथनों को किसी एक ही कसौटी या प्रमाणीकरण की किसी

एक ही विधि द्वारा सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक ज्ञान में पाए जाने वाले कथनों की विषयवस्तु के अनुसार ही उनके प्रमाणीकरण की कसौटी अथवा विधि को निश्चित करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार इन कथनों के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले प्रमाणों के स्वरूप में भी भिन्नता पाई जाती है। दोनों प्रकार के वर्णनात्मक ज्ञानों से संबंधित कथनों के समर्थन में एक ही प्रकार के प्रमाण नहीं दिए जा सकते। उदाहरणार्थ, हम गणित एवं तर्कशास्त्र के कथनों की पुष्टि के लिए जो प्रमाण देते हैं वे ही प्रमाण हम तथ्यात्मक कथनों के लिए नहीं दे सकते। यह बात इन कथनों के प्रमाणीकरण की कसौटी तथा विधि के संबंध में भी कही जा सकती है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, आकारिक ज्ञान हमें मुख्यतः गणित और तर्कशास्त्र में उपलब्ध होता है। इस ज्ञान की मूल विशेषता यह है कि इससे संबंधित कथन अनिवार्यतः विश्लेषणात्मक होते हैं—अर्थात् वे कुछ शब्दों या प्रत्ययों के विश्लेषण पर ही आधारित रहते हैं। उदाहरणार्थ, "त्रिकोण की तीन भुजाएँ होती हैं।" "दो और दो चार होते हैं" आदि कथन विश्लेषणात्मक कथन हैं। इन्हें 'विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ' भी कहा जाता है। केवल शब्दों की परिभाषाओं का विश्लेषण करने के कारण ये कथन हमें संसार के विषय में किसी प्रकार की तथ्यात्मक जानकारी नहीं देते। इन कथनों के विधेय-पद में अनिवार्यतः वही बात कही जाती है जो इनके उद्देश्य-पद में पहले से ही निहित रहती है, अतः इन्हें 'पुनरुक्तियाँ' भी कहा जाता है। इन कथनों से हमें जो आकारिक ज्ञान प्राप्त होता है वह पूर्णतः निश्चित और असंदिग्ध रूप से सत्य होता है। भविष्य में कभी भी इस ज्ञान के मिथ्या प्रमाणित होने की संभावना नहीं होती। इसका कारण यह है कि इन विश्लेषणात्मक कथनों का हमारे अनुभव से कोई संबंध नहीं होता और ये केवल शब्दों के अर्थ का विश्लेषण मात्र करते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि **आकारिक ज्ञान पूर्णतः निश्चित और सर्वदा सत्य होते हुए भी हमें किसी प्रकार की तथ्यात्मक सूचना प्रदान नहीं करता, अतः इसके फलस्वरूप संसार या प्रकृति के विषय में हमारे ज्ञान में वृद्धि नहीं होती।**

तथ्यात्मक ज्ञान उपर्युक्त आकारिक ज्ञान से बहुत भिन्न होता है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह ज्ञान हमें जगत् के संबंध में तथ्यात्मक जानकारी प्रदान करता है। इसे 'अनुभवात्मक ज्ञान' भी कहा जाता है, क्योंकि यह हमारे अनुभव पर ही आधारित रहता है। हमारी सामान्य दैनिक भाषा तथा प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में पाए जाने वाले समस्त तथ्यपरक कथन इसी तथ्यात्मक ज्ञान से संबंधित हैं। "पुस्तक मेज़ पर है", "सीता राम की पत्नी थी", "पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है" आदि कथन तथ्यात्मक ज्ञान के उदाहरण हैं। ऐसे तथ्यपरक कथनों को 'संश्लेषणात्मक कथन' अथवा 'संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ' भी कहा जाता है। ये सभी कथन जगत् का तथ्यपरक वर्णन करते हैं अतः इन्हें तथ्यात्मक ज्ञान के अंतर्गत रखा जाता है। आकारिक ज्ञान के विपरीत यह तथ्यात्मक ज्ञान पूर्णतः निश्चित न होकर केवल प्रायिक ही होता है। इससे संबंधित तथ्यपरक कथन भविष्य में कभी भी मिथ्या प्रमाणित किए जा सकते हैं। इसी कारण इन्हें असंदिग्ध रूप से सत्य न मान कर अत्यधिक प्रायिक ही माना जाता है। यदि कोई तथ्यपरक कथन इस समय उपलब्ध विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा सत्य प्रमाणित हो चुका है और यदि उसके विरुद्ध अभी

तक कोई प्रमाण नहीं दिए जा सके हैं तो हम उसे अत्यधिक प्रायिक मान सकते हैं। यदि किसी तथ्यपरक कथन के पक्ष में बहुत-से विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हैं किंतु इसके साथ ही उसके विरुद्ध भी कुछ थोड़े-से प्रमाण विद्यमान हैं तो ऐसे कथन को भी पर्याप्त सीमा तक प्रायिक माना जा सकता है, परंतु उसकी प्रायिकता में कुछ कमी अवश्य आ जाती है। यदि किसी तथ्यपरक कथन के विरुद्ध अनेक प्रमाण हैं और उसके पक्ष में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है तो उसे मिथ्या ही कहा जा सकता है। इस प्रकार तथ्यपरक कथनों की प्रायिकता की मात्रा उनके पक्ष या विपक्ष में उपलब्ध विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा ही निर्धारित होती है, किंतु ऐसा कोई भी कथन पूर्णतः निश्चित और सर्वदा सत्य नहीं होता। यही बात तथ्यपरक विश्वासों तथा प्राक्कल्पनाओं के विषय में भी कही जा सकती है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि तथ्यपरक कथन अनेक प्रकार के होते हैं, अतः उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के प्रमाणों की आवश्यकता होती है। यदि कोई विशेष तथ्यपरक कथन किसी स्वीकृत सिद्धांत का परिणाम है अथवा यदि निरीक्षण या प्रयोग द्वारा उसे प्रत्यक्षतः प्रमाणित किया जा सकता है तो उसे सत्य माना जाता है। यदि किसी तथ्यपरक कथन के पक्ष या विपक्ष में पर्याप्त विश्वसनीय प्रमाण नहीं हैं तो उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे कथन के सत्य अथवा मिथ्या होने के संबंध में निर्णय को तब तक स्थगित रखना आवश्यक होता है जब तक उसके पक्ष या विपक्ष में विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाते। निरीक्षण, प्रयोग आदि वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों द्वारा जिन कथनों की प्रामाणिकता की परीक्षा करना सम्भव नहीं है उन्हें तथ्यपरक कथन नहीं माना जाता। धर्मशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र आदि में इस प्रकार के अनेक कथन पाए जाते हैं। तथ्यपरक कथनों की प्रामाण्किता की परीक्षा के लिए जिन विधियों को स्वीकार किया जाता है, वे अनिवार्यतः सार्वजनिक तथा वस्तुपरक होती हैं। निरीक्षण और प्रयोग ऐसी ही वस्तुपरक विधियाँ हैं। आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त कर के कोई भी व्यक्ति इन विधियों का प्रयोग कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि ये विधियाँ किसी व्यक्ति विशेष की पसंद या इच्छा पर निर्भर नहीं हैं। इसी कारण इन सार्वजनिक विधियों द्वारा प्राप्त तथ्यपरक ज्ञान वस्तुपरक होता है। इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि तथ्यात्मकता, वस्तुनिष्ठता, प्रामाणिकता और प्रायिकता तथ्यात्मक ज्ञान की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

3. धार्मिक ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान के अर्थ तथा वर्गीकरण की विवेचना के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धार्मिक ज्ञान का स्वरूप क्या है और क्या उसे वास्तविक अर्थ में 'ज्ञान' की संज्ञा दी जा सकती है। हम प्रथम खंड के प्रारंभ में बता चुके हैं कि अनेक दार्शनिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर, आत्मा आदि अतिप्राकृतिक सत्ताओं, उनमें विद्यमान कुछ गुणों और उनके द्वारा किए जाने वाले कुछ विशेष कार्यों के ज्ञान का दावा करते हैं। दैवी शक्तियों या सत्ताओं से संबंधित ऐसे ज्ञान को ही प्रायः 'धार्मिक ज्ञान' कहा जाता है। इस ज्ञान की वास्तविकता में विश्वास करने वाले विचारक इन अतिप्राकृतिक सत्ताओं के गुणों एवं कार्यों से संबंधित कथनों को तथ्यपरक और वस्तुनिष्ठ कथन मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि ये

वस्तुतः संज्ञानात्मक कथन हैं। इन धार्मिक कथनों के कुछउदाहरणोंका उल्लेख हम प्रथम खंड के प्रारम्भ में कर चुके हैं। यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या ये धार्मिक कथन वास्तव में संज्ञानात्मक हैं और इनके द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान किस प्रकार का ज्ञान है। यह सत्य है कि ईश्वर तथा अन्य दैवी सत्ताओं के विषय में धर्मपरायण व्यक्ति जिन कथनों का प्रयोग करते हैं उनमें से कुछ कथनों की भाषा संज्ञानात्मक प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि इन कथनों में 'सत्य', 'मिथ्या', 'जानना' 'समझना' आदि संज्ञानात्मक शब्दों का प्रायः प्रयोग किया जाता है। उपासक और धर्मशास्त्री दोनों ही अपने दैनिक जीवन में प्रायः निम्नलिखित वाक्यों का प्रयोग करते हैं जो वाक्य-विन्यास के स्वरूप की दृष्टि से संज्ञानात्मक कथन प्रतीत होते हैं :—"ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति का अस्तित्व है", "ईश्वर ही जगत् का रचयिता, पालनकर्ता, संचालक और संहारक है", "ईश्वर में शक्ति, ज्ञान, करुणा आदि गुण असीमित मात्रा में पाए जाते हैं", "मैं जानता हूँ कि ईश्वर भक्तों की प्रार्थना सुनता है और उनकी सहायता करता है", "क्या आत्मा का अस्तित्व है और क्य वह अजर-अमर है"? "ईश्वर तथा आत्मा के विषय में उनका विश्वास सत्य है", "यह विश्वास मिथ्या है कि आत्मा पुनर्जन्म लेती है" इत्यादि इन वाक्यों के स्वरूप से स्पष्ट है कि वक्ता और श्रोता दोनों हीं इन्हें विशेष प्रकार के तथ्यात्मक ज्ञान से संबंधित संज्ञानात्मक कथन मानते हैं। इसी कारण यह कहा जाता है कि धार्मिक ज्ञान विशेष प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान है।

परंतु धार्मिक ज्ञान के स्वरूप के विषय में यह मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि किसी वाक्य के स्वरूप और उसे बोलने वाले के अभिप्राय के आधार पर यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि वह वास्तव में संज्ञानात्मक कथन है। इसके लिए प्रथम खंड में वर्णित उन वस्तुपरक कसौटियों का प्रयोग करना आवश्यक है जो ज्ञान के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं और जिनके द्वारा किसी कथन की संज्ञानात्मकता की परीक्षा की जा सकती है। इस दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त धार्मिक वाक्य वास्तविक अर्थ में संज्ञानात्मक कथन सिद्ध नहीं होते, क्योंकि इनका विषय—अर्थात्, अतिप्राकृतिक सत्ता—मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि से परे माना जाता है। जिस कथन के अर्थ को मनुष्य अपने अनुभव या अपनी तर्कबुद्धि द्वारा समझने में असमर्थ है उसके माध्यम से उसे किसी प्रकार का ज्ञा. प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा कथन उसकी भावनाओं या अभिवृत्तियों को तो अभिव्यक्त और जागृत कर सकता है, किंतु वह उसे कोई तथ्यात्मक वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता। अतिप्राकृतिक सत्ताओं या शक्तियों से संबंधित धार्मिक वाक्य वास्तव में ऐसे ही भावनापूर्ण असंज्ञानात्मक कथन हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक ज्ञान को किसी भी अर्थ में 'तथ्यात्मक ज्ञान' कहना उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त एक अन्य तर्क द्वारा भी धार्मिक ज्ञान के असंज्ञानात्मक स्वरूप को प्रमाणित किया जा सकता है। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि वर्णनात्मक ज्ञान या तो आकारिक होता है अथवा तथ्यात्मक। परंतु धार्मिक कथनों को इन दोनों में से किसी के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। यह सत्य है कि धर्मपरायण व्यक्ति इन कथनों की पूर्ण निश्चयात्मकता का दावा करते हैं। वे अपने धार्मिक कथनों को पूर्णतः निश्चित और

असंदिग्ध रूप से सत्य मानते हैं। इस दृष्टि से धार्मिक ज्ञान को आकारिक ज्ञान के समान मानने का दावा किया जा सकता है। परंतु वास्तव में यह दावा अयुक्तिसंगत एवं भ्रामक है। इसका कारण यह है कि आकारिक ज्ञान के कथनों तथा धार्मिक कथनों के स्वरूप और उद्देश्य में आधारभूत अंतर पाया जाता है। जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, आकारिक ज्ञान संबंधी विश्लेषणात्मक कथन पुनरुक्तियाँ मात्र होते हैं और उनकी निश्चयात्मकता कुछ शब्दों की परिभाषाओं के विश्लेषण पर ही निर्भर होती है। ये विश्लेषणात्मक कथन हमें प्रकृति तथा जगत् की किसी वस्तु के विषय में कोई तथ्यपरक सूचना नहीं देते। यही कारण है कि इन कथनों की व्याख्याओं के संबंध में मतभेद सम्भव नहीं है। परंतु धार्मिक कथनों में आकारिक ज्ञान संबंधी कथनों की उपर्युक्त विशेषताएँ नहीं पाई जातीं। कोई भी व्यक्ति धार्मिक कथनों को विश्लेषणात्मक कथनों के समान पुनरुक्तियाँ मात्र नहीं मानता। इन कथनों के विपरीत धार्मिक कथन हमें अतिप्राकृतिक सत्ताओं के विषय में विशेष प्रकार का वस्तुपरक तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करने का दावा करते हैं। जब धर्मपरायण व्यक्ति इन कथनों को पूर्णतः निश्चित या असंदिग्ध रूप से सत्य मानते हैं तो वे इनकी निश्चयात्मकता को कुछ शब्दों की परिभाषाओं के विश्लेषण पर आधारित नहीं मानते। वे इन कथनों को जगत् और जीवन के विषय में तथ्यपरक ज्ञान प्रदान करने वाले संश्लेषणात्मक कथन मानते हैं। इसी कारण विश्लेषणात्मक कथनों के विपरीत इन धार्मिक कथनों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की जा सकती हैं और की जाती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक कथनों को आकारिक ज्ञान के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता, अतः धार्मिक ज्ञान को आकारिक ज्ञान मानना उचित और युक्तिसंगत नहीं होगा।

परंतु धार्मिक कथनों के विषय में कठिनाई यह है कि इन्हें तथ्यात्मक अथवा अनुभवात्मक ज्ञान में भी सम्मिलित करना संभव नहीं है। यह सत्य है कि शताब्दियों से धर्मपरायण व्यक्ति बहुत-से धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक कथन मानते रहे हैं। वे सदा यह दावा करते रहे हैं कि उनके धर्म-ग्रंथों में जीवन तथा जगत् से संबंधित जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह तथ्यात्मक होने के साथ-साथ पूर्णतः निश्चित या असंदिग्ध रूप से सत्य भी है। इस धार्मिक ज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक माना जाता रहा है। इसके अंतर्गत सृष्टि-विज्ञान, धर्मशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि सभी महत्त्वपूर्ण विज्ञान अथवा शास्त्र सम्मिलित किए जाते रहे हैं। विश्व के सभी उन्नत धर्मों के पवित्र ग्रंथों में इन सब विज्ञानों अथवा शास्त्रों से संबंधित अनेक सिद्धांत या विश्वास प्रस्तुत किए गए हैं। विज्ञान के उदय तथा विकास से पूर्व इन सब धार्मिक सिद्धांतों और विश्वासों को पूर्णतः सत्य माना जाता रहा है। इन सबके संबंध में धर्म-ग्रंथों में जो कुछ कहा गया है उसे धर्मपरायण व्यक्ति तथ्यात्मक ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते रहे हैं। अतः इस ज्ञान से संबंधित कथनों को भी तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन माना जाता है।

परंतु ये धार्मिक कथन वास्तव में तथ्यपरक कथन नहीं हैं, क्योंकि इन धार्मिक कथनों में वे विशेषताएँ नहीं पाई जातीं जिन्हें तथ्यपरक कथनों के लिए अनिवार्य माना गया है। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि तथ्यपरक कथन कभी भी असंदिग्ध रूप से सत्य और पूर्णतः निश्चित नहीं होते; ये केवल प्रायिक ही होते हैं, हाँ, इन कथनों की प्रायिकता की

मात्रा अवश्य ही बहुत अधिक हो सकती है। परंतु धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक कथनों को सदैव असंदिग्ध रूप से सत्य मानते हैं; वे इनकी निश्चयात्मकता में कभी संदेह नहीं करते। उनके विचार में ऐसा कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता जो इन कथनों को मिथ्या प्रमाणित कर सके। ईश्वर, आत्मा तथा अन्य दैवी सत्ताओं से संबंधित धार्मिक कथनों को ऐसे ही असंदिग्ध एवं पूर्णतः निश्चित कथन माना जाता है। धर्मपरायण व्यक्ति इन कथनों को सत्य सिद्ध करने के लिए किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, वे केवल अपनी आस्था के आधार पर ही इन्हें असंदिग्ध रूप से सत्य मान लेते हैं। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इन धार्मिक कथनों के विपरीत तथ्यात्मक कथन अनिवार्यतः सत्य न होकर केवल प्रायिक ही होते हैं, अतः भविष्य में उनके मिथ्या प्रमाणित होने की संभावना सदैव बनी रहती है। प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों का कोई भी सिद्धांत या विश्वास इस अर्थ में पवित्र एवं अनिवार्य नहीं होता कि भविष्य में विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा कभी भी उसका खंडन न किया जा सके। इसके विपरीत सभी आधारभूत धार्मिक सिद्धांतों अथवा विश्वासों को अनिवार्यतः सत्य और पवित्र मान कर ही उनके अनुरूप आचरण किया जाता है। ऐसी स्थिति में इन सिद्धांतों या विश्वासों से संबंधित धार्मिक कथनों को वास्तविक अर्थ में तथ्यात्मक कथन नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त तथ्यात्मक कथनों को सत्य प्रमाणित करने के लिए प्रयोग, निरीक्षण आदि ऐसी वैज्ञानिक विधियों का ही उपयोग किया जाता है जो सार्वजनिक तथा वस्तुपरक होती हैं। समुचित प्रशिक्षण के पश्चात कोई भी व्यक्ति उपयुक्त परिस्थितियों में इन वैज्ञानिक विधियों का उपयोग कर सकता है और इनके द्वारा प्राप्त परिणाम उन सभी व्यक्तियों को उपलब्ध होते हैं जो स्वयं इनकी परीक्षा करना चाहते हैं। स्पष्ट है कि तथ्यात्मक कथनों के प्रमाणीकरण की प्रक्रिया में किसी मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा या पसंद के लिए कोई स्थान नहीं है। परंतु धार्मिक कथनों के प्रमाणीकरण के संबंध में हम ऐसा नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि इन कथनों को सत्य प्रमाणित करने के लिए सार्वजनिक एवं वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करना सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि एक धर्मपरायण व्यक्ति यह कहता है कि "आत्मा अजर-अमर है" और दूसरा धर्मपरायण व्यक्ति यह कहता है कि "स्थायीद्रव्य के रूप में आत्मा का अस्तित्व है ही नहीं" तो हम इन दोनों व्यक्तियों के उक्त परस्पर विरोधी कथनों की किसी वैज्ञानिक विधि द्वारा परीक्षा नहीं कर सकते। यही बात अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित अन्य सभी धार्मिक कथनों के विषय में भी कही जा सकती है। इन कथनों के प्रमाणीकरण के लिए प्रायः अपरोक्षानुभूति धार्मिक अनुभव, रहस्यात्मक अनुभव, आप्त वचन, श्रुति आदि ऐसी विधियों का ही प्रयोग किया जाता है जो सार्वजनिक तथा वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियाँ नहीं हैं। यही कारण है कि इन विधियों द्वारा भिन्न-भिन्न व्यक्ति विभिन्न अथवा परस्पर विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जिनकी प्रामाणिकता की परीक्षा करना असंभव हो जाता है, क्योंकि इसके लिए हमारे पास कोई वस्तुपरक आधार या कसौटी नहीं है। परंतु तथ्यात्मक कथनों के प्रमाणीकरण की प्रक्रिया में ऐसी व्यक्तिनिष्ठ और अवैज्ञानिक विधियों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। वस्तुतः धार्मिक कथनों के संबंध में आधारभूत कठिनाई यह है कि ये कथन एक ओर तो

तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन होने का दावा करते हैं और दूसरी ओर ये प्रमाणीकरण की उन सार्वजनिक एवं वस्तुपरक विधियों को स्वीकार नहीं करते जो तथ्यपरक कथनों के प्रमाणीकरण के लिए अनिवार्य हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक ज्ञान के अंतर्गत रखना उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धार्मिक ज्ञान को वर्णनात्मक ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह न तो आकारिक ज्ञान है और न तथ्यात्मक ज्ञान। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कुछ दार्शनिकों ने धार्मिक ज्ञान को परिचयात्मक ज्ञान अथवा साक्षात् ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। जैसा कि हम पिछले खंड में देख चुके हैं , इंद्रिय-संवेदनों, भावनाओं इच्छाओं, संवेगों, अभिवृत्तियों आदि के प्रत्यक्ष अनुभव को ही 'परिचयात्मक ज्ञान' की संज्ञा दी जाती है जिसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। इस ज्ञान का एकमात्र आधार मनुष्य का अपना प्रत्यक्ष अनुभव ही होता है। कुछ दार्शनिकों के मतानुसार धार्मिक ज्ञान वस्तुतः ऐसा ही परिचयात्मक अथवा साक्षात् ज्ञान है। यह ज्ञान उस अर्थ में तथ्यात्मक नहीं है जिस अर्थ में वैज्ञानिक ज्ञान तथ्यात्मक होता है। इन दार्शनिकों का कथन है कि धार्मिक ज्ञान को तथ्यात्मक ज्ञान मान कर वस्तुपरक प्रमाणों के आधार पर उसकी परीक्षा करना बहुत बड़ी भूल है। धार्मिक ज्ञान के स्वरूप के विषय में इसी मत का समर्थन करते हुए गैलोवे कहते हैं कि: "जिस प्रक्रिया द्वारा मनुष्य अपने देवता या देवताओं की अनुभूति प्राप्त करता है उसे 'जानना' की संज्ञा देना सामान्य बात है, परंतु यह 'जानना' वैज्ञानिक अर्थ में समझना अथवा व्याख्या करना नहीं है; यह वस्तुतः अनुभव द्वारा उत्पन्न साक्षात् ज्ञान है और इसकी अभिव्यक्ति सर्वप्रथम सहज विश्वास के रूप में होती है। अपनी तीव्र संवेगात्मक अनुभूति तथा किसी अतिप्राकृतिक सत्ता की ओर संकेत करने के कारण यह विश्वास केवल तथ्यात्मक विश्वास से भिन्न होता है।....... सामान्यतः यह स्वीकार किया जाएगा कि धार्मिक ज्ञान का विकास वैज्ञानिक ज्ञान की भाँति नहीं होता। यह धार्मिक ज्ञान विश्लेषण एवं संश्लेषण आगमन तथा निगमन संबंधी उस प्रक्रिया का धीरे-धीरे उपलब्ध होने वाला निश्चित परिणाम नहीं है जिसके द्वारा हम अनुभवात्मक तथ्यों की परीक्षा करते हैं।.... वास्तविक अर्थ में धार्मिक ज्ञान न तो वैज्ञानिक ज्ञान है और न ही वह ऐसा होने का दावा करता है, यह उन लोगों को याद रखना चाहिए जो उस बात के लिए धार्मिक ज्ञान का खंडन करते हैं जिसका वह दावा ही नहीं करता। मनुष्य अपने देवताओं में विश्वास करते हैं, क्योंकि वे उनकी आवश्यकता का अनुभव करते हैं, वे उनमें इसलिए विश्वास नहीं करते कि वे उन्हें समझते हैं अथवा उनके माध्यम से वस्तुओं या घटनाओं की व्याख्या कर सकते हैं। यदि वैज्ञानिक ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है जैसा कि कुछ लोग कहते हैं तो निश्चय ही धार्मिक ज्ञान एक भ्रम है। परंतु इस मान्यता को प्रमाणित करना होगा कि वैज्ञानिक ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है, और जब तक यह मान्यता प्रमाणित नहीं हो जाती तब तक इस बात की शिकायत करना अप्रासंगिक है कि धार्मिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान की शर्तों को पूरा नहीं करता।"[3] गैलोवे के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे धार्मिक ज्ञान को वर्णनात्मक ज्ञान न मान कर

---

3. जॉर्ज गैलोवे, 'दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 302-303, 307-308

परिचयात्मक या साक्षात् ज्ञान मानते हैं और इसी आधार पर मानव-जीवन में उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य अनेकदार्शनिकों ने भी इसी आधार पर धार्मिक ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या की है और मनुष्य के लिए इसके विशेष महत्त्व को स्वीकार किया है।

परंतु धार्मिक ज्ञान को परिचयात्मक ज्ञान मानने में एक गंभीर कठिनाई है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि व्यक्ति के इंद्रिय-संवेदनों, संवेगों, तथा उसकी इच्छाओं, भावनाओं. अभिवृत्तियों आदि के प्रत्यक्ष अनुभव को ही 'परिचयात्मक ज्ञान' कहा जाता है। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि ऐसा ज्ञान केवल व्यक्ति विशेष के अपने अनुभव तक ही सीमित होता है, अतः इसके आधार पर किसी बाह्य वस्तु के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। मनुष्य की व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति स्वयं उसके लिए निश्चय ही सत्य है, किंतु इसके द्वारा वह बाह्य जगत् में किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकता। यह आत्मनिष्ठता परिचयात्मक ज्ञान की अनिवार्य सीमा है जिसकी परिधि से बाहर वह कभी नहीं जा सकता। परंतु अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक ज्ञान को ऐसा आत्मनिष्ठ ज्ञान नहीं मानते। जैसा कि हम इस खंड के प्रारंभ में बता चुके हैं, उपासक तथा धर्मपरायण विचारक ईश्वर, आत्मा आदि अतिप्राकृतिक सत्ताओं को मनुष्य से पृथक एवं स्वतंत्र मानते हैं, अतः वे इन सत्ताओं से संबंधित धार्मिक ज्ञान को भी वस्तुपरक ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते हैं। वे इस ज्ञान को परिचयात्मक ज्ञान की भाँति किसी व्यक्ति विशेष की निजी अनुभूतियों तक ही सीमित नहीं मानते। जब वे दैवी सत्ताओं से संबंधित धार्मिक ज्ञान की चर्चा करते हैं तो वे इस ज्ञान को असंदिग्ध रूप से सत्य एवं वस्तुपरक ज्ञान ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक ज्ञान को 'परिचयात्मक ज्ञान' कहना निश्चय ही युक्तिसंगत नहीं होगा। हम ऊपर देख चुके हैं कि धार्मिक ज्ञान को वर्णनात्मक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार निश्चित रूप से यह कहना अत्यंत कठिन है कि धार्मिक ज्ञान का वास्तविक स्वरूप क्या है और वह किस प्रकार का ज्ञान है।

कुछ धर्मपरायण विचारकों का मत है कि धार्मिक ज्ञान निश्चय ही वस्तुपरक ज्ञान है, किंतु उसका मूल आधार भक्त या उपासक का प्रत्यक्ष अनुभव ही है जिसे वे 'धार्मिक अनुभव' कहते हैं। इस धार्मिक अनुभव की विस्तृत विवेचना हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या ऐसे वस्तुपरक धार्मिक ज्ञान की कोई संभावना है जो उपासक के प्रत्यक्ष व्यक्तिनिष्ठ अनुभव पर ही आधारित हो। मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि केवल व्यक्तिनिष्ठ अनुभव के आधार पर अनुभवकर्ता से भिन्न किसी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए धार्मिक अनुभव संबंधी जो प्रमाण दिया गया है उसके विरुद्ध भी यही मुख्य आपत्ति है जिसकी विवेचना हम तीसरे अध्याय में कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि कुछ ईश्वरवादी विचारक भक्तों के ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष अनुभव पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का जो दावा करते हैं वह वास्तव में युक्तिसंगत नहीं है। यही बात अन्य सभी अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित ऐसे धार्मिक ज्ञान के विषय में भी कही जा सकती है जिसका एकमात्र आधार धर्मपरायण

व्यक्ति का प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव ही माना जाता है।

वस्तुतः यदि कोई धर्मपरायण व्यक्ति केवल इतना ही दावा करे कि उसे कुछ विशेष भावनाओं या संवेगों का अनुभव होता है तो उसके इस दावे को अस्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है, क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, उसका यह ज्ञान पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान है। हम यह नहीं कह सकते कि वह जिन विशेष संवेगों अथवा भावनाओं के अनुभव का दावा करता है उनका वह वास्तव में अनुभव नहीं करता। स्पष्ट है कि इस व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान के अर्थ में धर्मपरायण व्यक्ति के ज्ञान को तर्कसंगत रूप से चुनौती नहीं दी जा सकती। परंतु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उसका यह धार्मिक ज्ञान पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण केवल उसी तक सीमित है, अतः इसके आधार पर स्वयं अनुभवकर्ता से भिन्न किसी वस्तु के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसके द्वारा केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि स्वयं धर्मपरायण व्यक्ति ने कुछ विशेष भावनाओं या संवेगों का अनुभव किया है अथवा वह उनकाअनुभव कर रहा है। उसके इस व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान को किसी दैवी सत्ता के वस्तुपरक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुपरक ज्ञान के विपरीत ऐसे व्यक्तिनिष्ठ धार्मिक ज्ञान की प्रामाणिकता की परीक्षा करना संभव नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान केवल ज्ञाता या अनुभवकर्ता तक ही सीमित रहता है और उसे सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करने के लिए हम कोई विश्वसनीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते। यदि कोई धर्मपरायण व्यक्ति यह दावा करता है कि उसने ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव किया है तो हमारे पास उसके इस दावे की परीक्षा करने के लिए कोई वस्तुपरक कसौटी नहीं है। हम निश्चित रूप से यह कभी नहीं जान सकते कि उसका वह अनुभव वास्तव में ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता का अनुभव है या नहीं। ऐसी स्थिति में हम उसके इस व्यक्तिनिष्ठ अनुभव पर आधारित ज्ञान को किसी बाहय सत्ता से संबंधित वस्तुपरक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। वस्तुतः यदि धर्मपरायण व्यक्तियों के प्रत्यक्ष अनुभव को ही धार्मिक ज्ञान का आधार मान लिया जाए तो सभी प्रकार के धार्मिक ज्ञान को असंदिग्ध रूप से सत्य मानना पड़ेगा–फिर चाहे वह एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न अथवा परस्पर विरोधी अनुभवों पर ही आधारित क्यों न हो। यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसे व्याघातपूर्ण ज्ञान को वास्तविक अर्थ में 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ऐसे वस्तुपरक धार्मिक ज्ञान की कोई संभावना नहीं हो सकती जो केवल धर्मपरायण व्यक्तियों के आत्मनिष्ठ प्रत्यक्ष अनुभव पर ही आधारित हो।

धार्मिक ज्ञान के स्वरूप के विषय में अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह न तो वर्णनात्मक है और न परिचयात्मक या साक्षात् ज्ञान। हम यह सविस्तार स्पष्ट कर चुके हैं कि धार्मिक ज्ञान को इन दोनों में से किसी के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से अनेक गंभीर दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कुछ दार्शनिकों ने यह कहा है कि मनुष्य वास्तव में ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता का सकारात्मक ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसी सत्ता के स्वरूप के संबंध में वह केवल

नकारात्मक वाक्यों का प्रयोग ही कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ऐसी सत्ता के सकारात्मक गुणों का वर्णन करने में नितांत असमर्थ होने के कारण उसके विषय में केवल इतना ही कह सकता है कि "वह ऐसी नहीं हैं, वह ऐसी नहीं है।" वस्तुत: इस प्रकार की नकारात्मक परिभाषा द्वारा ही वह असीम अतिप्राकृतिक सत्ता को सीमित करने की समस्या से बच सकता है, क्योंकि किसी वस्तु के गुणों का सकारात्मक वर्णन करना उसे अनिवार्यत: सीमित करना है। इसी कारण अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के गुणों का सकारात्मक वर्णन न कर के उसकी केवल नकारात्मक परिभाषा ही दी है। उदाहरणार्थ, भारत में उपनिषदों तथा शंकर ने ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए इसी नकारात्मक परिभाषा का प्रयोग किया है। जैसा कि हम चौथे अध्याय में बता चुके हैं, 'नेति, नेति' ('ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है') कह कर ही निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। उपनिषदों तथा अद्वैत वेदांत ने इसी नकारात्मक विधि द्वारा निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का कुछ आभास देने का प्रयास किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या के लिए इसी नकारात्मक विधि का प्रयोग किया है। मध्य युगीन यहूदी दार्शनिक मैमोनाइड्स स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि सीमित मनुष्य असीम ईश्वर के गुणों का सकारात्मक वर्णन नहीं कर सकता। वह उसके संबंध में केवल इतना ही कह सकता है कि "ईश्वर ऐसा नहीं है, ईश्वर ऐसा नहीं है"। मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे होने के कारण ईश्वर मनुष्य के सकारात्मक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। ऐसे ईश्वर के लिए प्रयुक्त उसके सभी सकारात्मक शब्द केवल निरर्थक ही होंगे। इसके अतिरिक्त असीम ईश्वर के गुणों का सकारात्मक वर्णन करना निश्चय ही उसे भौतिक वस्तुओं की भाँति सीमित करना होगा। वर्तमान युग के दार्शनिक पॉल तिलिक भी मूलत: इसी मत का समर्थन करते हैं। जैसा कि हम चौथे अध्याय में देख चुके हैं, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ईश्वर के विषय में 'अस्तित्व' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि "ईश्वर का अस्तित्व है" यह कहना भी वास्तव में उसे सीमित करना ही है। इसका अर्थ यही है कि हम ईश्वर को सीमित किए बिना सार्थकतापूर्वक उसके अस्तित्व की बात भी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में ईश्वर के गुणों का सकारात्मक वर्णन करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। तिलिक का निश्चित मत है कि ईश्वर कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसके गुणों का वर्णन किया जा सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नकारात्मक विधि का समर्थन करने वाले दार्शनिक मनुष्य के लिए ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना असंभव मानते हैं।

परंतु बहुत-से दार्शनिक धार्मिक ज्ञान के विषय में उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं करते। इन दार्शनिकों का कथन है कि यदि मनुष्य किसी दैवी सत्ता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता तो यह सत्ता उसकी पूजा या उपासना का विषय नहीं हो सकती। वस्तुत: धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए ब्रह्म और परमतत्त्व की यही आधारभूत समस्या है कि ये दोनों भक्तों की आराधना के विषय नहीं बन सकते। परंतु, जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, आराध्य विषय की पूजा तथा उसके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना धर्म के अनिवार्य मूल तत्त्व हैं। ऐसी स्थिति में भक्त के लिए ब्रह्म तथा परमतत्त्व का कोई महत्त्व नहीं हो सकता।

उसके लिए तो उसी दैवी सत्ता का महत्त्व है जिसकी वह उपासना कर सके और जिसके प्रति वह समर्पित हो सके। इस उपासना तथा समर्पण के लिए यह अनिवार्य है कि उपासक किसी न किसी रूप में अपने आराध्य विषय का कुछ ज्ञान प्राप्त करे। इसी कारण अनेक दार्शनिकों के विचार में भक्त के लिए धार्मिक ज्ञान आवश्यक है फिर चाहे इस ज्ञान का स्वरूप कुछ भी हो। ये दार्शनिक धार्मिक ज्ञान को सादृश्यमूलक ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते हैं—ऐसा ज्ञान जिसका एकमात्र आधार मनुष्य तथा दैवी सत्ता में कोई सादृश्य है।

ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता का कुछ ज्ञान प्राप्त करने के लिए सादृश्य की इस विधि को बहुत प्राचीन काल से स्वीकार किया जाता रहा है। मनुष्य ने अपने उपास्य देवता की कल्पना सदा स्वयं अपने अनुभव के आधार पर ही की है। आदिकाल से ही मानव अपने आराध्य देवी-देवताओं में प्रायः उन गुणों को आरोपित करता रहा है जो स्वयं उसमें पाए जाते हैं। ज्ञान, शक्ति, शुभत्व, प्रेम, दया, न्याय आदि ऐसे गुण हैं जो देवी-देवताओं में आरोपित किए जाते रहे हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि उपास्य सत्ताओं में इन सब गुणों को आरोपित करने का अंतिम आधार मनुष्य का अपना अनुभव ही है, क्योंकि ये सभी गुण स्वयं उसमें कम या अधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः सादृश्यमूलक विधि अथवा सादृश्य-सिद्धांत मानवीय अनुभव संबंधी इसी तथ्य पर आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार किन्हीं दो वस्तुओं में विद्यमान सादृश्य के कारण एक वस्तु के ज्ञान के आधार पर दूसरी अज्ञात वस्तु का कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हम से यह कहा जाता है कि मोहन तथा सोहन के स्वभाव में पर्याप्त समानता है और यदि हम मोहन को जानते हैं तो हम अपने इस ज्ञान के आधार पर सोहन-जिसे हम नहीं जानते-के स्वभाव का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे सादृश्यमूलक ज्ञान को व्यापक अर्थ में 'अनुमान' कहा जा सकता है। इसी कारण सादृश्य-सिद्धांत को 'साम्यानुमान का सिद्धांत' भी कहा जाता है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में किसी अज्ञात वस्तु का कुछ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रायः इस सिद्धांत का प्रयोग करते हैं।

कुछ दार्शनिकों ने दैवी सत्ताओं से संबंधित ज्ञान के लिए भी इसी सादृश्य-सिद्धांत को आवश्यक माना है। सुप्रसिद्ध मध्य युगीन दार्शनिक संत टॉमस ऐक्वाइनस ने धार्मिक ज्ञान की दृष्टि से इस सिद्धांत को बहुत महत्त्व दिया था। इसी प्रकार एक समकालीन दार्शनिक ई० एल० मैस्कल भी धार्मिक ज्ञान के लिए इस सिद्धांत को नहुत आवश्यक मानते हैं। इस सादृश्य-सिद्धांत के समर्थकों का कथन है कि हम ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता का संपूर्ण ज्ञान तो प्राप्त नहीं कर सकते, किंतु हम मानवीय गुणों एवं कार्यों के सादृश्य के आधार पर उसके स्वरूप, गुणों तथा कार्यों के विषय में कुछ सीमा तक अवश्य जान सकते हैं। उदाहरणार्थ, हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि मनुष्य में शक्ति, ज्ञान, शुभत्व, प्रेम, दया, न्याय आदि गुण पाए जाते हैं, अतः अपने इस अनुभव के आधार पर हम ईश्वर अथवा किसी अन्य उपास्य देवता में इन गुणों को आरोपित कर सकते हैं। इससे हमें अपने उपास्य देवता के स्वरूप का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान निश्चय ही संपूर्ण एवं तथ्यपरक नहीं होता, किंतु इसके द्वारा हम कुछ सीमा तक यह जान सकते हैं कि हमारा आराध्य विषय क्या और कैसा है। सादृश्य-सिद्धांत के समर्थक इस प्रकार के ज्ञान को ही 'सादृश्यमूलक ज्ञान' की संज्ञा देते हैं और उनके विचार में धार्मिक ज्ञान वस्तुतः ऐसा ही ज्ञान है। इसी आधार पर वे

ईश्वर तथा अन्य अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थक कथन मानते हैं।

परंतु मेरे विचार में उपर्युक्त सादृश्य-सिद्धांत द्वारा ईश्वर तथा अन्य अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित किसी प्रकार का वस्तुपरक धार्मिक ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि उक्त सिद्धांत में ऐसी अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका संतोषप्रद ढंग से निराकरण नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत की पहली कठिनाई यह है कि इसकी आधारभूत मान्यता ही युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। हम देख चुके हैं कि यह सिद्धांत ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता में मानवीय गुणों को आरोपित करने की मान्यता पर ही आधारित है। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि इस अतिप्राकृतिक सत्ता को मनुष्य के अनुभव तथा उसकी तर्कबुद्धि से परे समझा जाता है जिसका अर्थ यह है कि मनुष्य उस सत्ता के विषय में कभी भी किसी प्रकार की अवधारणा नहीं बना सकता। अब यदि मनुष्य के मन में इस सत्ता की न तो कोई अवधारणा है और न हो ही सकती है तो निश्चय ही वह तर्कसंगत रूप से इसमें किसी प्रकार के मानवीय गुणों को आरोपित नहीं कर सकता। वस्तुतः सादृश्य-सिद्धांत का प्रयोग सार्थकतापूर्वक तभी किया जा सकता है जब मनुष्य के मन में ज्ञात वस्तु के साथ-साथ अज्ञात वस्तु की भी कुछ अवधारणा विद्यमान हो जिससे वह इन दोनों में समुचित रूप से सादृश्य स्थापित कर सके। यदि उसके मन में अज्ञात वस्तु की कोई अवधारणा नहीं है और हो भी नहीं सकती तो वह उसके साथ किसी ज्ञात वस्तु का सादृश्य कभी स्थापित नहीं कर सकता। मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे समझी जाने वाली प्रत्येक अतिप्राकृतिक सत्ता के विषय में यही बात कही जा सकती है। यदि मेरे मन में ईश्वर का कोई प्रत्यय नहीं है और न हो सकता है तो मैं सार्थकतापूर्वक उसकी तुलना किसी भी ज्ञात वस्तु के साथ नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह है कि मेरे लिए ईश्वर में किसी प्रकार के मानवीय गुणों को सार्थकतापूर्वक एवं तर्कसंगत रूप से आरोपित करना संभव नहीं है। हम देख चुके हैं कि इसी कारण नकारात्मक विधि का समर्थन करने वाले दार्शनिक ईश्वर के गुणों का सकारात्मक वर्णन करना असंभव मानते हैं।

सादृश्य-सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि इसके समर्थक अतिप्राकृतिक सत्ता में आरोपित मानवीय गुणों को उनके वास्तविक अर्थ से पूर्णतः भिन्न अर्थ में ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ, जब वे ईश्वर में ज्ञान, शक्ति, प्रेम, दया आदि गुणों को आरोपित करते हैं तो वे यह नहीं कहते कि ईश्वर में ये गुण मनुष्य की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। इसके विपरीत वे यह दावा करते हैं कि ईश्वर में ये गुण असीमित मात्रा में विद्यमान रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मानव और ईश्वर में पाए जाने वाले इन गुणों में जो अंतर है वह मात्रा का नहीं, अपितु प्रकार का है। ईश्वर स्वयं असीम है, अतः उसमें विद्यमान शक्ति, ज्ञान, शुभत्व, प्रेम, दया आदि गुण भी असीमित ही हो सकते हैं। परंतु हमारी कठिनाई यह है कि स्वयं सीमित होने के कारण हम असीम ईश्वर की भाँति उसके असीमित गुणों की भी कल्पना नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, हम अपने अनुभव तथा अपनी तर्कबुद्धि के आधार पर असीमित ज्ञान, शक्ति, प्रेम, शुभत्व, दया आदि गुणों की कोई अवधारणा नहीं बना सकते। हम केवल इसी बात की कल्पना कर सकते हैं कि ईश्वर में ये गुण अत्यधिक मात्रा में पाए जाते हैं। ईश्वर के संदर्भ में इन गुणों के पूर्णतः भिन्न अर्थ एवं स्वरूप की कल्पना

करना हमारे लिए संभव नहीं है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में सामान्यतः 'शक्ति', 'ज्ञान', 'शुभत्व', 'प्रेम', 'दया' आदि का जो अर्थ समझते हैं उसी के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ईश्वर में ये गुण मनुष्य की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। परंतु सादृश्य-सिद्धांत के समर्थक ईश्वरवादी इस बात को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से ईश्वर असीम न होकर एक महा मानव मात्र बन कर रह जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उक्त सिद्धांत द्वारा हमें ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता के स्वरूप और गुणों का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित धार्मिक ज्ञान की मूल समस्या यह है कि मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि तथा व्यापक अर्थ में अपने अनुभव के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय अथवा विधि द्वारा इन सत्ताओं के स्वरूप के विषय में कोई स्पष्ट एवं निश्चित अवधारणा नहीं बना सकता। उसके ज्ञान की परिधि की यह एक ऐसी सीमा है जिसका अतिक्रमण करना उसके लिए संभव नहीं है। जो कुछ मानव की तर्कबुद्धि तथा उसके अनुभव की परिधि के अंतर्गत नहीं है और न हो सकता है; उसे वह कभी नहीं जान सकता, अतः उसके संबंध में वह निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकता। अपने ज्ञान की इसी अपरिहार्य सीमा के कारण मनुष्य ने सदा अपने अनुभव के अनुरूप ही उपास्य दैवी सत्ताओं की कल्पना की है। उसके विकास के आदिकाल से आज तक इस स्थिति में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि ऐसा होना संभव ही नहीं है। हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य ने अपने जीवन की विविध समस्याओं के अनुरूप ही अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की थी। संसार में यह बहुदेववाद आज भी समाप्त नहीं हुआ है। हाँ, मानव के बौद्धिक विकास के फलस्वरूप सर्वोच्च उपास्य देवता के रूप में एक ही असीम ईश्वर की कल्पना अवश्य की गई है। परंतु उपासना के लिए इस ईश्वर में भी अंततः मानवीय गुणों को ही आरोपित किया गया है जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अधिकतर ईश्वरोपासक पूजा अथवा आराधना के लिए एक ऐसे व्यक्तित्व संपन्न ईश्वर की कल्पना करते हैं जिसमें समस्त मानवीय सद्गुण असीमित मात्रा में विद्यमान हैं, वास्तव में धार्मिक दृष्टि से ईश्वर की यही प्राक्कल्पना सार्थक, उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण हो सकती है। अन्य उपास्य दैवी सत्ताओं के संबंध में भी हम यही बात कह सकते हैं।

परंतु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य इन अनुभवातीत दैवी सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है, अतः वह इन्हें केवल अपनी आस्था के आधार पर ही स्वीकार कर लेता है। इन सत्ताओं के वस्तुपरक ज्ञान का उसके लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता। वह अपनी कुछ मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही आदिकाल से इन दैवी सत्ताओं की सुखद कल्पना करता आ रहा है और आज भी कर रहा है। इस प्रकार धार्मिक ज्ञान के स्वरूप के विषय में हमारा तर्कसंगत निष्कर्ष यही हो सकता है कि अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित वस्तुपरक ज्ञान के रूप में ऐसे ज्ञान की कोई संभावना नहीं है।

4. श्रुति, आस्था और तर्कबुद्धि

पिछले खंड में हम ने धार्मिक ज्ञान के स्वरूप और उसकी संभावना के विषय में जो निषेधात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किया है उसे बहुत-से धर्मपरायण व्यक्ति तथा दार्शनिक

स्वीकार नहीं करते दैवी सत्ताओं से संबंधित धार्मिक ज्ञान की सम्भावना के विरुद्ध प्रस्तुत उपर्युक्त सभी प्रबल तर्कों की उपेक्षा करते हुए वे ऐसे ज्ञान की वास्तविकता में दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं। उनका मत है कि धार्मिक ज्ञान हमें अनुभव एवं तर्कबुद्धि द्वारा नहीं, अपितु कुछ अन्य उपायों के माध्यम से प्राप्त होता है। इन उपायों में श्रुति और आस्था को विशेष महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि ये दोनों धार्मिक ज्ञान के मूल स्रोत माने जाते हैं प्रस्तुत खंड में हम श्रुति एवं आस्था के स्वरूप और तर्कबुद्धि के साथ इन दोनों के संबंध की विवेचना करेंगे।

उपासक तथा धर्मपरायण दार्शनिक यह मानते हैं कि ईश्वर अथवा कोई अन्य अतींद्रिय आराध्य विषय मनुष्य को स्वयं अपने संबंध में और अन्य विषयों के संबध में विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान करता है। ऐसे ज्ञान को ही 'श्रुति' अथवा 'श्रुतिमूलक ज्ञान' कहा जाता है, क्योंकि मनुष्य को यह ज्ञान ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता से प्राप्त होता है। धर्मपरायण व्यक्तियों का यह विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य को यह श्रुतिमूलक दैवी ज्ञान कुछ विशेष व्यक्तियों के माध्यम से प्रदान करता है जिन्हें 'पैगम्बर', 'संत' या 'ऋषि' कहा जाता है। उनके प्रवचनों अथवा उनके द्वारा रचित धर्म-ग्रंथों में हमें यह श्रुतिमूलक ज्ञान उपलब्ध होता है। मूलतः दैवी सत्ता से प्राप्त होने के कारण यह ज्ञान अंतिम तथा असंदिग्ध रूप मे सत्य होता है, अतः अनुभव एवं तर्कबुद्धि द्वारा इसकी परीक्षा करना न तो संभव है और न आवश्यक। विश्व के सभी उन्नत धर्मों में यह श्रुतिमूलक ज्ञान किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति का अस्तित्व, उसका स्वरूप उसके गुण, मनुष्य और विश्व के साथ उसका सम्बन्ध, आत्मा का अस्तित्व, स्वरूप तथा उसकी अमरता, मानव-जीवन का अंतिम ध्येय और उसकी प्राप्ति के उपाय, विश्व की रचना तथा उसका मूल प्रयोजन आदि विषय श्रुतिमूलक ज्ञान के प्रमुख विषय माने जाते हैं। इन सभी अथवा इनमें से कुछ विषयों से संबंधित श्रुतिमूलक ज्ञान प्रमुख धर्मों के पवित्र धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध होता है। इस ज्ञान को सामान्य ज्ञान से पूर्णतः भिन्न प्रकार का माना जाता है, क्योंकि इसका स्रोत मानवीय अनुभव या तर्कबुद्धि न होकर दैवी प्रकाशना अथवा श्रुति है जो स्वयं ही प्रमाण है और जिसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। इसी कारण धर्मपरायण व्यक्ति इस ज्ञान की प्रामाणिकता में कभी किसी प्रकार का संदेह नहीं करते। उदाहरणार्थ, वेदों, गीता, गुरु,-ग्रंथ साहब, कुरान, बाइबल आदि धर्म-ग्रंथों में जो ज्ञान पाया जाता है उसे 'श्रुतिमूलक ज्ञान' की संज्ञा दी जाती है और इन धर्म-ग्रंथों में आस्था रखने वाले व्यक्ति इस ज्ञान को पूर्णतः प्रामाणिक तथा असंदिग्ध रूप से सत्य मानते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्मपरायण व्यक्तियों के जीवन में इस श्रुतिमूलक ज्ञान का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यह उनके विचारों तथा आचरण पर बहुत गहरा और स्थायी प्रभाव डालता है।

परन्तु उपर्युक्त श्रुतिमूलक ज्ञान के संबंध में अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयाँ हैं जिन पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। यह सत्य है कि भक्त या उपासक के लिए इन कठिनाइयों का कोई महत्त्व नहीं हैं, किंतु प्रत्येक समस्या अथवा विषय का निष्पक्ष मूल्यांकन करने वाला दार्शनिक निश्चय ही इन कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं कर सकता। श्रुतिमूलक ज्ञान की प्रथम समस्या यह है कि इसमें विश्वास करने वाले धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व को बिना किसी प्रमाण के केवल आस्था के

आधार पर स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में इस ज्ञान का मूल स्रोत ही दार्शनिक दृष्टि से संदिग्ध तथा विवादास्पद हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी भी अतिप्राकृतिक सत्ता में विश्वास नहीं करता तो उसके लिए श्रुतिमूलक ज्ञान का कोई अर्थ और महत्त्व नहीं हो सकता।

श्रुतिमूलक ज्ञान की दूसरी कठिनाई यह है कि इसके समर्थक इसे स्वतः प्रमाणित मान कर इसकी प्रामाणिकता के लिए किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। वे इसे अंतिम और पूर्णतः निश्चित मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इसे अभिव्यक्त करने वाला प्रत्येक शब्द वस्तुतः ईश्वर का ही शब्द है। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि हमारे पास उनके इस दावे की परीक्षा करने का कोई उपाय नहीं है। हम यह कभी नहीं जान सकते कि जिन शब्दों में श्रुतिमूलक ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है वे वास्तव में ईश्वर के शब्द हैं अथवा उसे अभिव्यक्त करने वाले मनुष्यों के। हम अपने अनुभव द्वारा केवल इतना ही जानते हैं कि सभी ग्रंथों के रचयिता मनुष्य ही हैं, अतः यह स्वीकार करने का हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है कि वेद, कुरान, बाइबल आदि धर्म-ग्रंथों की रचना ईश्वर द्वारा की गई है। इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कुछ विशेष व्यक्तियों—अर्थात संतों, पैगम्बरों या ऋषियों—के माध्यम से ईश्वर ने इन धर्म-ग्रंथों की रचना की है। परंतु हमारे पास ऐसी कोई तर्कसंगत कसौटी नहीं है जिसके आधार पर धर्म-ग्रंथों की रचना के विषय में इस दावे को सत्य प्रमाणित किया जा सके। जो धर्मपरायण व्यक्ति यह दावा करते हैं वे वास्तव में ईश्वर के अस्तित्व की भाँति इस दावे को भी अपनी आस्था के आधार पर सत्य मान लेते हैं। परंतु दार्शनिक दृष्टि से उनके इस आधार को पर्याप्त और विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

श्रुतिमूलक ज्ञान के विषय में तीसरी समस्या यह है कि जिन धर्म-ग्रंथों में इसके उपलब्ध होने का दावा किया जाता है स्वयं उनमें परस्पर विरोध अथवा गहरा मतभेद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, ईश्वर तथा आत्मा के स्वरूप और विश्व-रचना की प्रक्रिया के संबंध में विभिन्न धर्मों के ग्रंथों में भिन्न-भिन्न अथवा परस्पर विरोधी सिद्धांत पाए जाते हैं। इसी प्रकार मानव जीवन के अंतिम लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के उपायों के विषय में भी इन धर्म-ग्रंथों में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सभी ईश्वरवादी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म-ग्रंथों को ईश्वर की वाणी मानते हैं जिसकी प्रामाणिकता में कभी संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में निष्पक्ष विचारक के लिए यह निश्चित करना असंभव हो जाता है कि किस धर्म-ग्रंथ के सिद्धांतों को किस आधार पर सत्य एवं प्रामाणिक माना जाए। इसके अतिरिक्त एक ही धर्म के विभिन्न ग्रंथों में भी कभी-कभी परस्पर विरोधी विचार प्राप्त होते हैं। इसी कारण एक ही धर्म के अनुयायियों में भी ईश्वर, आत्मा तथा मानव-जीवन के अंतिम ध्येय के स्वरूप के विषय में वाद-विवाद होता रहता है। हिंदू-धर्म में इस प्रकार के वाद-विवाद को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कुछ हिंदू ईश्वर को सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसंपन्न मानते हैं, किंतु कुछ अन्य हिंदू उसे निर्गुण और निराकार शक्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप तथा ईश्वर के साथ उसके संबंध के विषय में भी हिंदू-धर्म के विभिन्न संप्रदायों में मतभेद है।

श्रुतिमूलक ज्ञान की अंतिम कठिनाई यह है कि इसके समर्थक तर्कबुद्धि को कोई महत्त्व नहीं देते। हम ऊपर देख चुके हैं कि इस ज्ञान को स्वतः प्रमाणित मान कर इसकी प्रामाणिकता के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया जाता। परंतु यहाँ मूल प्रश्न यह है कि श्रुतिमूलक ज्ञान के अंतर्गत जिन सिद्धांतों को प्रस्तुत किया जाता है उनका मानवीय तर्कबुद्धि के साथ क्या संबंध है। क्या ये सिद्धांत तर्कबुद्धि के अनुरूप हैं, अथवा क्या ये उसके विरुद्ध हैं? यदि ये सिद्धांत तर्कबुद्धि के अनुरूप हैं तो इन्हें ज्ञान की सामान्य बौद्धिक विधियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, अतः इनके लिए श्रुति या दैवी प्रकाशना की आवश्यकता नहीं है। यदि ये सिद्धांत तर्कबुद्धि के विरुद्ध हैं तो इन्हें सत्य नहीं माना जा सकता। वस्तुतः विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य उन्हीं सिद्धांतों को स्वीकार कर सकता है जिनका उसकी तर्कबुद्धि समर्थन करती है अथवा जो कम से कम उसकी तर्कबुद्धि के विरुद्ध नहीं हैं। अपने जीवन में विवेकशीलता को बनाए रखते हुए वह ऐसे किसी विचार या सिद्धांत का समर्थन नहीं कर सकता जो स्पष्टतः उसकी तर्कबुद्धि के प्रतिकूल है। इसका अर्थ यह है कि धर्म-ग्रंथों में पाए जाने वाले उन विचारों अथवा सिद्धांतों को स्वीकार नहीं किया जा सकता जो मानवीय तर्कबुद्धि के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ यदि यह मान लिया जाए कि हिंदू धर्म के कुछ ग्रंथों में सती-प्रथा का समर्थन किया गया है, जैसा कि कुछ कट्टर हिंदू दावा करते हैं, तो भी हमारी तर्कबुद्धि द्वारा स्थापित नारी की गरिमा के विरुद्ध होने के कारण हम वर्तमान युग में इस प्रथा को उचित और वांछनीय नहीं मान सकते। यही बात ऐसे अन्य सभी विचारों या सिद्धांतों के विषय में भी कही जा सकती है जो आज हमे अपनी तर्कबुद्धि के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। चाहे कोई भी धर्म-ग्रंथ ऐसे सिद्धांतों अथवा विचारों का समर्थन करता हो, विवेकशील मनुष्य उन्हें कभी स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि उन्हें स्वीकार करना मानव के विवेक की हत्या करना होगा। इस प्रकार श्रुतिमूलक ज्ञान को केवल उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है जिस सीमा तक वह मानवीय विवेक एवं तर्कबुद्धि के विरुद्ध नहीं है। परंतु कठिनाई यह है कि इस ज्ञान की प्रामाणिकता में विश्वास करने वाले धर्मपरायण व्यक्ति इस युक्तिसंगत निष्कर्ष को स्वीकार नहीं करते।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्रुतिमूलक ज्ञान की विश्वसनीयता का मूल आधार ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता में उन व्यक्तियों की आस्था ही है जो इस ज्ञान को पूर्णतः प्रामाणिक तथा असंदिग्ध रूप से सत्य मानते हैं। इसी कारण धर्मपरायण व्यक्तियों के जीवन में आस्था का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः किसी अतिप्राकृतिक सत्ता में आस्था के बिना मनुष्य के धर्मपरायण होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अस्थाहीन भक्त या उपासक का विचार स्वतो-व्याघाती ही प्रतीत होता है। उपासक अथवा भक्त के जीवन में आस्था का वही स्थान है जो विचारक ही दार्शनिक के जीवन में तर्कबुद्धि का है। धर्मपरायण व्यक्ति के जीवन मे आस्था के इसी विशेष महत्त्व के कारण धर्म-दार्शनिक के लिए आस्था के स्वरूप और तर्कबुद्धि के साथ उसके संबंध की विवेचना करना आवश्यक हो जाता है।

अन्य धार्मिक अवधारणाओं की भाँति आस्था की भी कोई स्पष्ट, सुनिश्चित तथा सर्वमान्य परिभाषा करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि विभिन्न विचारक प्रायः भिन्न-भिन्न अर्थों में 'आस्था' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त आस्था का संबंध मनुष्य के

धार्मिक जीवन सें ही नहीं है. अपितु हमारे सामान्य धर्मनिरपेक्ष जीवन में भी इसका बहुत महत्त्व है। आस्था के इस व्यापक अर्थ के कारण हमारे लिए इसके स्वरूप की ठीक-ठीक विवेचना करना और भी अधिक कठिन हो जाता है। परंतु इस कठिनाई के होते हुए भी हम यहाँ आस्था की कुछ ऐसी सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जो धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष दोनों प्रसंगों में 'आस्था' शब्द के सार्थक प्रयोग के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं। वस्तुतः आस्था की इन सामान्य विशेषताओं के आधार पर ही हम उसके स्वरूप को भलीभाँति समझ सकते हैं। आस्था की ये सामान्य विशेषताएँ उसकी निम्नलिखित परिभाषा द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती हैं :– **आस्था किसी विचार, आदर्श, मूल्य, व्यक्ति अथवा कथन में मनुष्य का वह दृढ़ विश्वास है जिसे वह पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाणों के न होते हुए भी पूर्णतः स्वीकार करता है और जिसमें कुछ अनिश्चयात्मकता अनिवार्यतः विद्यमान रहती है।** इस परिभाषा से सर्वप्रथम यह स्पष्ट है कि 'आस्था' और 'विश्वास' को प्रायः समानार्थक शब्दों के रूप में ग्रहण किया जाता है, अतः व्यावहारिक दृष्टि से सामान्यतः इन दोनों में कोई आधारभूत अंतर नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, हम यह कह सकते हैं कि "वह ईश्वर में विश्वास करता है" अथवा "वह ईश्वर में आस्था रखता है"। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि "मेरी आस्था है कि आत्मा अमर है" अथवा "मेरा विश्वास है कि आत्मा अमर है"। इन कथनों में कोई मूल भेद नहीं है, अतः इन्हें समानार्थक कथन माना जा सकता है।

परंतु उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि सभी प्रसंगों में 'विश्वास' और 'आस्था' इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में किया जा सकता है। सामान्य व्यावहारिक भाषा में इन दोनों शब्दों के अर्थ की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए हम यह कह सकते हैं कि 'विश्वास' शब्द का प्रयोग तथ्यपरक संदर्भों में भी किया जाता है, किंतु 'आस्था' शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसे संदर्भों में नहीं होता। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित कथनों में 'विश्वास' शब्द के स्थान पर सार्थकतापूर्वक'आस्था' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। "मेरा विश्वास है कि 'गोदान' के लेखक प्रेम चंद है"। "मैं यह विश्वास करता हूँ कि महात्मा गाँधी ने भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराया है"। "यह विश्वास मिथ्या है कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है"। "मुझे पूर्ण विश्वास है कि आज मेरा मित्र मुझसे मिलने अवश्य आएगा।" ऐसे तथ्यात्मक कथनों के संदर्भ में हम 'विश्वास' शब्द के स्थान पर सार्थक रूप से 'आस्था शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। इससे यह स्पष्ट है कि 'विश्वास' और 'आस्था' के अर्थ में प्रर्याप्त समानता के होते हुए भी सभी प्रसंगों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में हम प्रायः 'आस्था' के स्थान पर 'विश्वास' शब्द का ही प्रयोग करते हैं जिनका संबंध तथ्यों से होता है। इसी कारण हम विज्ञान, इतिहास, राजनीति आदि से संबंधित विश्वासों की ही बात करते हैं, आस्था की नहीं। ऐसी स्थिति में संभवतः यह कहना अनुचित न होगा कि तथ्यों अथवा तथ्यात्मक कथनों से आस्था का कोई संबंध नहीं है।

आस्था की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसके आधार पर हम जिस वस्तु, विचार मूल्य, आदर्श या कथन को स्वीकार करते हैं उसके लिए हमारे पास पर्याप्त एवं विश्वसनीय

तर्क अथवा प्रमाण नहीं होते। इस दृष्टि से आस्था को मनुष्य की 'निर्बौद्धिक मनोदशा' कहा जा सकता है। जिस बात को हम निश्चित प्रमाणों या तर्कों द्वारा प्रमाणित कर सकते हैं उसे स्वीकार करने के लिए हम आस्था की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। आस्था की यह निर्बौद्धिकता उसे ज्ञान से पृथक करती है जो अनिवार्यतः कुछ निश्चित वस्तुपरक प्रमाणों पर आधारित होता है। जिस तथ्य को हम अनुभव, निरीक्षण या तर्कबुद्धि द्वारा जानते हैं अथवा जान सकते हैं उसका आस्था से कोई संबंध नहीं है। यही कारण है कि हम तर्कबुद्धि, अनुभव तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त ज्ञान के विषय में आस्था की कभी बात नहीं करते। उदाहरणार्थ, ज्ञान संबंधी निम्नलिखित कथनों के विषय में हम यह नहीं कहते कि इनमें हमारी आस्था है:— "दो और दो चार होते है।" "प्रतिदिन प्रातः सूर्योदय होता है।" "मैं अपने सामने रखी हुई मेज़ को देख रहा हूँ।" "पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है।" "एक वर्ष में बारह महीने होते हैं।" वस्तुतः ऐसे ज्ञान विषयक कथनों के साथ आस्था का कोई संबंध नहीं है, क्योंकि ये कुछ निश्चित प्रमाणों पर आधारित होते हैं। हम केवल ऐसी वस्तु के विषय में ही आस्था की बात करते है जिसे हम विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा प्रमाणित नहीं कर सकते। ईश्वर, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म, मरणोत्तर जीवन आदि विषय ऐसे ही विषय हैं जिन्हें हम केवल अपनी आस्था के आधार पर स्वीकार कर सकते हैं, क्योकि इनके समर्थन में हमारे पास कोई निश्चित वस्तुपरक प्रमाण नहीं है, यदि कोई व्यक्ति इन धार्मिक विषयों में आस्था नहीं रखता तो हम तर्कों या प्रमाणों द्वारा उसे इन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जो हमारी आस्था का विषय है उसके संबंध में हमें कभी भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण कान्ट तथा कुछ अन्य महान दार्शनिकों ने ज्ञान और आस्था में स्पष्ट रूप से भेद किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न' में क़ान्ट ने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर, आत्मा और संकल्प-स्वातंत्र्य हमारे ज्ञान के विषय नहीं हो सकते, अतः इन्हें हम अपनी आस्था के आधार पर ही स्वीकार कर सकते हैं। उनके इस मत से यह स्पष्ट है कि वे भी आस्था को मूलतः निर्बौद्धिक ही मानते हैं।

परंतु आस्था की निर्बौद्धिकता का यह अर्थ नहीं है कि वह मानवीय तर्कबुद्धि के विरुद्ध होती है या हो सकती हैं। जो मनुष्य की तर्कबुद्धि-अर्थात स्पष्ट, निश्चित एवं वस्तुपरक प्रमाणों-के विरुद्ध है उसे 'आस्था' नहीं, अपितु 'अंधविश्वास' ही कहा ज़ा सकता है। जब कोई व्यक्ति किसी ऐसी बात को स्वीकार करता है जिसके विरुद्ध निश्चित तथा वस्तुपरक प्रमाण विद्यमान हैं तो हम उसे 'आस्थावान' न कह कर 'अंधविश्वासी' ही कह सकते हैं। ऐसे अंधविश्वासी व्यक्ति को विवेकशील मनुष्य नहीं माना जा सकता। वस्तुतः आस्था और अंधविश्वास में मूल अंतर यह है कि आस्था तर्कों द्वारा प्रमाणित न होते हुए भी मानवीय तर्कबुद्धि के विरुद्ध नहीं होती जबकि अंधविश्वास अनिवार्यतः तर्कबुद्धि के विरुद्ध होता है। उदाहरणार्थ, वर्तमान वैज्ञानिक युग में यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि "छींकने या बिल्ली द्वारा रास्ता काटे जाने से कार्य सिद्ध नहीं होता" तो हम उसके इस मत को केवल अंधविश्वास ही कह सकते हैं, आस्था नहीं। इसी आधार पर मनुष्य की ऐसी प्रत्येक मान्यता को केवल 'अंधविश्वास' की संज्ञा दी जा सकती है जो इस समय उपलब्ध निश्चित और विश्वसनीय प्रमाणों के विरुद्ध है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आस्था

एक ओर तो ज्ञान से भिन्न होती है जो अनुभव, निरीक्षण या तर्कबुद्धि पर आधारित रहता है और दूसरी ओर वह अंधविश्वास से भी भिन्न होती है जिसे निश्चित एवं वस्तुपरक प्रमाणों के विरुद्ध केवल पूर्वाग्रह के कारण स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः आस्था को ज्ञान तथा अंधविश्वास इन दोनों से भिन्न मान कर ही उसके वास्तविक स्वरूप को भलीभाँति समझा जा सकता है।

आस्था की तीसरी प्रमुख विशेषता यह है कि ज्ञान के विपरीत इसमें अनिश्चयात्मकता का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। हम ऐसी किसी वस्तु में आस्था रखने की बात नहीं करते जिसे हम निश्चित रूप से जानते हैं या जान सकते हैं। उदाहरणार्थ, हम यह नहीं कहते कि हम तर्कबुद्धि या इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा ज्ञात होने वाली वस्तुओं में आस्था रखते हैं। स्पष्ट और निश्चित रूप से ज्ञात होने वाली ऐसी वस्तुएँ हमारे ज्ञान का विषय हैं, आस्था का नहीं। हमारी आस्था का विषय केवल वे ही वस्तुएँ होती हैं जिन्हें हम ज्ञान की सामान्य विधियों द्वारा न तो जानते हैं और न जान सकते हैं। वस्तुपरक दृष्टि से ऐसी वस्तुओं के संबंध में कुछ अनिश्चयात्मकता सदैव बनी रहती है। हम ऊपर बता चुके हैं कि आस्था अनिवार्यतः निर्बौद्धिक होती है। आस्था की इसी निर्बौद्धिकता के कारण उसमें अनिश्चयात्मकता का तत्त्व विद्यमान रहता है।

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आस्था के विषय से संबंधित वस्तुपरक एवं सार्वजनिक ज्ञान की दृष्टि से ही उसमें यह अनिश्चयात्मकता पाई जाती है, स्वयं आस्थावान मनुष्य के व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान की दृष्टि से नहीं। आस्थावान व्यक्ति जिस वस्तु में आस्था रखता है उसे वह पूर्णतः निश्चित मानता है। वह अपनी आस्था के विषय की निश्चयात्मकता में कभी किसी प्रकार का संदेह नहीं करता। आस्थावान व्यक्ति की आस्था का विषय चाहे कुछ भी हो, वह उसमें दृढ़ विश्वास तथा पूर्ण निष्ठा रखता है। उदाहरणार्थ, ईश्वर की सत्ता तथा आत्मा की अमरता में आस्था रखने वाला धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर के अनस्तित्व और आत्मा की नश्वरता की कभी कल्पना भी नहीं करता। यही बात आस्थावान व्यक्ति की आस्था के अन्य सभी विषयों के संबंध में भी कही जा सकती है। परंतु अपनी आस्था से संबंधित आस्थावान व्यक्ति की यह निश्चयात्मकता वस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ ही होती है, क्योंकि यह केवल उसी तक सीमित रहती है। अन्य व्यक्तियों के द्वारा इस निश्चयात्मकता का अनुभव करना आवश्यक नहीं है। जो व्यक्ति आस्थावान नहीं हैं वे इसे अस्वीकार भी कर सकते हैं उदाहरण के लिए, ईश्वर में आस्था न रखने के कारण निरीश्वरवादी उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार शाश्वत अथवा नित्य आत्मा के अस्तित्व में विश्वास न करने के कारण बौद्ध धर्म के अनुयायी आत्मा की अमरता के विचार को अस्वीकार करते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अपनी आस्था के विषय से संबंधित आस्थावान व्यक्ति की निश्चयात्मकता केवल व्यक्तिनिष्ठ ही होती है, सार्वजनिक तथा वस्तुनिष्ठ नहीं। फिर भी कीर्केगार्ड जैसे कुछ दार्शनिक आस्थावान मनुष्य की इस व्यक्तिनिष्ठ निश्चयात्मकता को धर्म का अनिवार्य तत्त्व मान कर इसे विशेष महत्त्व देते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आस्था में अनिश्चयात्मकता का तत्त्व विद्यमान होते हुए भी स्वयं आस्थावान व्यक्ति के लिए अपनी आस्था से संबंधित विषय की निश्चयात्मकता में

पूर्ण विश्वास करना अनिवार्य है, क्योंकि ऐसा करके ही वह अपनी आस्था को बनाए रख सकता है।

आस्था की अंतिम मुख्य विशेषता यह है कि ज्ञान और तथ्यपरक सामान्य विश्वास के विपरीत वह आस्थावान मनुष्य के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है। मनुष्य अनुभव एवं तर्कबुद्धि द्वारा जिन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है उनके प्रति वह कोई व्यक्तिगत लगाव या प्रतिबद्धता नहीं रखता। अपने ज्ञान के विरुद्ध वस्तुपरक विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त होने पर वह उसमें संशोधन करने अथवा उसका परित्याग करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य का कोई सामान्य तथ्यपरक विश्वास समुचित वस्तुनिष्ठ प्रमाणों द्वारा मिथ्या सिद्ध हो जाता है तो वह तुरंत उसका परित्याग कर देता है और ऐसा करते हुए उसे कोई मानसिक कष्ट नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञान और सामान्य तथ्यपरक विश्वासों के प्रति मनुष्य वैयक्तिक दृष्टि से प्रायः उदासीन ही रहता है। परंतु अपनी आस्था के संबंध में मनुष्य की स्थिति इसके ठीक विपरीत होती है। आस्थावान व्यक्ति जिस वस्तु, विचार, आदर्श या मूल्य में आस्था रखता है उसके प्रति वह तटस्थ अथवा उदासीन कभी नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आस्था उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है जिसमें संशोधन करना अथवा जिसका परित्याग करना उसके लिए अत्यंत कठिन और कष्टदायक होता है। एक बार जब मनुष्य की आस्था दृढ़ हो जाती है तो वह उसके संबंध में अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति उसकी आस्था का खंडन करने का प्रयास करता है तो इसे वह स्वयं अपने व्यक्तित्व पर आक्रमण मान कर इसका तीव्र विरोध करता है। उसकी आस्था के विरुद्ध चाहे कितने ही प्रबल प्रमाण क्यों न दिए जाएँ, वह सामान्यतः इसका परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं होता। यदि किसी कारणवश उसे अपनी आस्था का परित्याग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है तो इससे उसे घोर मानसिक कष्ट होता है। यही कारण है कि अधिकतर व्यक्ति अपनी आस्था के समर्थन में पर्याप्त विश्वसनीय प्रमाणों के न होते हुए भी प्रायः उसे बनाए रखते हैं। वैसे तो यह दृढ़ता सभी विषयों से संबंधित आस्था में पाई जाती है, किंतु ईश्वर तथा अन्य अतिप्राकृतिक सत्ताओं के प्रति धार्मिक आस्था में यह प्रबलतम रूप में विद्यमान रहती है। सच्चा और समर्पित उपासक अपने आराध्य विषय में आस्था का कभी परित्याग नहीं करता, अतः धार्मिक आस्था को अटूट या अखंड माना जाता है। भक्त की आस्था के खंडित होने का अर्थ है स्वयं उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का खंडित होना। वस्तुतः आस्थावान व्यक्ति अपनी आस्था के विषय के प्रति विशेष लगाव अथवा प्रतिबद्धता का अनुभव करता है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, आस्था में विद्यमान आस्थावान व्यक्ति की प्रतिबद्धता का यह तत्त्व उसे ज्ञान और तथ्यपरक सामान्य विश्वासों से पृथक करता है जिनके संबंध में मनुष्य प्रायः तटस्थ या उदासीन रहता है।

धार्मिक आस्था का संबंध अनिवार्यतः किसी दैवी सत्ता तथा अन्य अतिप्राकृतिक विषयों से ही है। जब कोई व्यक्ति ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता, आत्मा, पुनर्जन्म, अवतार, परलोक, स्वर्ग, नरक आदि अतींद्रिय अथवा अनुभवातीत विषयों में आस्था रखता है तो हम उसकी इस आस्था को 'धार्मिक आस्था' की संज्ञा दे सकते हैं। यह अलौकिकता धार्मिक

आस्था का अनिवार्य तत्त्व है। धर्म तथा धार्मिक विषयों से अनिवार्यतः संबद्ध होने के कारण ही ऐसी आस्था को 'धार्मिक आस्था' कहा जाता है। प्रत्येक धर्मपरायण व्यक्ति-चाहे वह ईश्वर अथवा आत्मा में विश्वास करता हो या न करता हो-किसी न किसी रूप में इस धार्मिक आस्था का अनुभव अवश्य करता है। इसका कारण यह है कि अपने आराध्य विषय में अखंड आस्था के बिना वह उसके प्रति समर्पण तथा पूजा की भावना नहीं रख सकता जो धर्म का अनिवार्य तत्त्व है। वस्तुतः धार्मिक आस्था के अभाव में मानव-जीवन के लिए धर्म के अस्तित्व और उसकी सार्थकता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस प्रकार धार्मिक आस्था को धर्म का मूल आधार माना जा सकता है। परंतु यदि कोई व्यक्ति धर्मपरायण नहीं है-अर्थात यदि वह हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म अथवा अन्य किसी धर्म में विश्वास नहीं करता-तो उसके लिए धार्मिक आस्था का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति धार्मिक आस्था के बिना भी आनंदमय तथा नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है। उसके लिए धार्मिक आस्था की कोई सार्थकता और आवश्यकता नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह है कि धार्मिक आस्था मानव-जीवन के लिए अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि मानव-जीवन के लिए धार्मिक आस्था की भूमिका सीमित ही प्रतीत होती है।

प्रस्तुत अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि यदि ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता के पक्ष तथा विपक्ष में वस्तुपरक विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में उसके प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। इस प्रश्न का केवल दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी मानव-जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि मनुष्य के विश्वास अथवा उसकी आस्था का उसके विचार तथा आचरण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। उपर्युक्त प्रश्न पर विचार करते हुए इसके उत्तर में तीन विभिन्न विकल्प प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिन्हें ईश्वरवाद, निरीश्वरवाद तथा अज्ञेयवाद कहा जाता है।

(1) ईश्वर अथवा अन्य किसी दैवी सत्ता के पक्ष और विपक्ष में पर्याप्त वस्तुपरक प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी मनुष्य को उसमें विश्वास करना चाहिए। उपर्युक्त प्रश्न के संबंध में धर्मपरायण व्यक्तियों का यही दृष्टिकोण है जिसे सभी ईश्वरवादी स्वीकार करते हैं। पास्कल, विलियम जेम्स आदि कुछ दार्शनिकों ने भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। केवल आस्था पर आधारित होने के कारण इस दृष्टिकोण को 'आस्थापरक दृष्टिकोण' कहा जा सकता है। पास्कल ने इसी दृष्टिकोण के आधार पर मनुष्य के लिए ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना आवश्यक माना है। उनका कथन है कि यदि मनुष्य ईश्वर में विश्वास करता है और यदि उसका यह विश्वास सत्य प्रमाणित होता है तो उसे लाभ ही लाभ है, क्योंकि तब वह शाश्वत आनंद तथा पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर सकेगा। यदि उसका यह विश्वास मिथ्या सिद्ध हो जाता है तो भी इससे उसे कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि जब ईश्वर है ही नहीं तो उसके द्वारा मनुष्य को कोई कष्ट पहुँचाए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत ईश्वर में विश्वास न करने के फलस्वरूप मनुष्य को केवल हानि ही हो सकती है, लाभ नहीं। इसका कारण यह है कि यदि वह ईश्वर में विश्वास नहीं करता और यदि वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व है तो वह उसे अनंत काल तक घोर यातना दे सकता है। तब मनुष्य

के लिए इस अंतहीन दु:ख से मुक्ति का कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। अपने इसी तर्क के आधार पर पास्कल कहते हैं कि मनुष्य को ईश्वर में विश्वास करने का दाँव लगाना ही चाहिए। इसी कारण उनके इस तर्क को 'पास्कल का दाँव' कहा जाता है।

परंतु पास्कल का उपर्युक्त तर्क उचित और विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम इसके द्वारा ईश्वर में मनुष्य के विश्वास को सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी विश्वास के सत्य अथवा मिथ्या होने का निर्णय उसके सुखद या दुखद परिणामों के आधार पर करना निश्चय ही तार्किक दष्टि से उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त पास्कल की यह मान्यता तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है और मनुष्य उसमें विश्वास नहीं करता तो वह उसे अनंत काल तक घोर कष्ट पहुँचाएगा। उनकी इस मान्यता के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि न्यायशील माना जाने वाला ईश्वर अपने पक्ष तथा विपक्ष में पर्याप्त विश्वसनीय प्रमाण न होने के कारण किसी निर्दोष निरीश्वरवादी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता। इस प्रकार पास्कल के उपर्युक्त तर्क को न तो दार्शनिक दृष्टि से उचित माना जा सकता है और न व्यावहारिक दृष्टि से।

पास्कल की भाँति विलियम जेम्स भी यह मानते हैं कि ईश्वर के पक्ष और विपक्ष में पर्याप्त वस्तुपरक प्रमाणों के न होते हुए भी मनुष्य को उसमें विश्वास करना ही चाहिए। अपनी इस मान्यता के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि ईश्वर में विश्वास अथवा उसके प्रति आस्था एक ऐसा विषय है जिसके संबंध में मनुष्य अनिर्णीत स्थिति में नहीं रह सकता; उसे इस संबंध में कोई न कोई निर्णय करना ही पड़ता है। वह या तो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास कर सकता है अथवा इस विश्वास को मिथ्या मान कर इसे अस्वीकार कर सकता है। उसके पास इन दोनों विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। इस विश्वास के संबंध में अपने निर्णय को स्थगित करना भी जेम्स के मतानुसार इसे अस्वीकार करना ही है। उनकी इस मान्यता का कारण यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से अज्ञेयवाद और निरीश्वरवाद में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। इस प्रकार जेम्स के विचार में मनुष्य ईश्वर विषयक विश्वास को स्वीकार या अस्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। इन दोनों विकल्पों में से किसी भी विकल्प को स्वीकार करने में वह खतरा अवश्य उठाता है, क्योंकि किसी भी विकल्प के पक्ष में विश्वसनीय वस्तुपरक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि ईश्वर का अस्तित्व है अथवा नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें केवल वही विकल्प स्वीकार करना चाहिए जो हमारे संवेगात्मक स्वभाव के अनुरूप हो और हमारे जीवन की अनिवार्य आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना हमारे लिए ऐसा ही विकल्प है। ईश्वर विषयक विश्वास को हम अपनी तर्कबुद्धि द्वारा निश्चय ही सत्य प्रमाणित नहीं कर सकते, अतः इसे स्वीकार करने में हमारे द्वारा भूल किए जाने का खतरा अवश्य है। परंतु, जेम्स के अनुसार, मानव-जीवन पर इस विश्वास के महान वांछनीय प्रभाव को ध्यान में रखते हुए, हमें यह खतरा उठाने में संकोच नहीं करना चाहिए।इसके अतिरिक्त ईश्वरविषयक विश्वास को अस्वीकार करने में भी तो हमारे लिए एक शाश्वत सत्य से वंचित रह जाने का खतरा है जो पूर्वोल्लिखित खतरे की अपेक्षा कम गंभीर नहीं है। अब यदि हमें दोनों विकल्पों को स्वीकार करने में खतरा उठाना ही है तो हमें ईश्वर विषयक विश्वास के विकल्प को स्वीकार

करने का खतरा ही उठाना चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य के संवेगात्मक स्वभाव के अनुरूप है और उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार जेम्स अपने उपर्युक्त तर्क द्वारा मानव-जीवन के लिए ईश्वर संबंधी विश्वास की उपादेयता सिद्ध करते हैं।

परंतु विलियम जेम्स के इस सिद्धांत में भी वे ही कठिनाइयाँ हैं जिनका उल्लेख पास्कल के सिद्धांत के संदर्भ में ऊपर किया गया है। यदि जेम्स के मत को स्वीकार कर लिया जाए तो इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ईश्वर संबंधी विश्वास मनुष्य के लिए उपादेय हो सकता है। परंतु यहाँ मूल प्रश्न यह है कि विवेकशील मनुष्य के लिए किसी विश्वास को स्वीकार करने की कसौटी क्या होनी चाहिए? क्या वह प्रत्येक सुखद तथा लाभदायक विश्वास को स्वीकार कर ले-फिर चाहे वह भ्रामक और मिथ्या ही क्यों न हों: यदि किसी काल्पनिक वस्तु से मनुष्य को सुख मिलता है तो क्या केवल इसी आधार पर उसे उस वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए? मेरे विचार में दार्शनिक दृष्टि से इन प्रश्नों का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। काल्पनिक ईश्वर या अन्य देवी-देवताओं में विश्वास कर के सुख और संतोष प्राप्त करने के स्थान पर मनुष्य को अपने विवेक के आधार पर जीवन की कठोर वास्तविकताओं का सामना करना सीखना होगा। विवेकशील प्राणी होने के नाते मानव के लिए यही एकमात्र तर्कसंगत मार्ग प्रतीत होता है।

(2) ईश्वर विषयक विश्वास के संबंध में दूसरा विकल्प निरीश्वरवाद है जो उपर्युक्त प्रथम विकल्प के ठीक विपरीत है। इस विकल्प के समर्थकों के मतानुसार ईश्वर संबंधी विश्वास के पक्ष में विश्वसनीय वस्तुपरक प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण हमें इस विश्वास को स्वीकार नहीं करना चाहिए। सभी निरीश्वरवादी इसी विकल्प का पूर्णतः समर्थन करते हैं। उनका मत है कि जब तक किसी वस्तु के अस्तित्व के लिए पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध न हों तब तक उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि प्रमाणों के अभाव में किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करना मानवीय तर्कबुद्धि के विरुद्ध है। निरीश्वरवादी ईश्वर के समर्थन में दिए गए प्रमाणों को दोषपूर्ण सिद्ध करने के साथ-साथ उसके विरुद्ध भी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। संसार में दुःख तथा दुराचार के रूप में अशुभ की उपस्थिति एक ऐसा ही प्रमाण है जिसकी विस्तृत विवेचना हम छठे अध्याय में कर चुके हैं। इस प्रमाण के आधार पर निरीश्वरवादी यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि विश्व के रचयिता के रूप में सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अत्यंत दयालु ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार कुछ मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार अपने जीवन की कठिनाइयों से भयभीत होकर उनसे बचने तथा संकट-काल में किसी का सहारा प्राप्त करने के लिए स्वयं मनुष्य ने ही ईश्वर की कल्पना की है, अतः वास्तव में उसका कोई वस्तुपरक अस्तित्व नहीं है। इस सिद्धांत के प्रमुख प्रणेता महान मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रायड हैं जिनके मत पर हम इस पुस्तक में यथास्थान आगे विचार करेंगे। इस प्रकार निरीश्वरवादियों के विचार में ईश्वर कोई वास्तविक सत्ता न होकर स्वयं मनुष्य की अपनी कल्पना-सृष्टि है, अतः उसके अस्तित्व में विश्वास करना उचित एवं तर्कसंगत नहीं है।

(3) ईश्वर विषयक विश्वास के संबंध में तीसरा विकल्प अज्ञेयवाद है जिसके समर्थकों के अनुसार हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं है।

हमें ईश्वर के अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों के संबंध में कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, अतः इस विषय में कोई निश्चित निर्णय देना हमारे लिए उचित एवं तर्कसंगत नहीं होगा। अपनी इसी मान्यता के आधार पर ईश्वरवाद तथा निरीश्वरवाद इन दोनों विरोधी सिद्धांतों को अस्वीकार करते हुए अज्ञेयवादी यह कहते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में हमें अपना निर्णय तब तक स्थगित रखना चाहिए जब तक हमें उसके पक्ष या विपक्ष में निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाते। हम ईश्वर के अस्तित्व को केवल इसलिए स्वीकार नहीं कर सकते कि उसमें विश्वास करना हमारे लिए लाभदायक अथवा उपादेय है, क्योंकि किसी विश्वास की उपादेयता उसे सत्य प्रमाणित नहीं करती। इसी प्रकार अज्ञेयवादी निरीश्वरवादियों के इस मत का भी समर्थन नहीं करते कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। उनके मतानुसार निरीश्वरवाद के पक्ष में भी हमें विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, अतः तर्कसंगत रूप से इस सिद्धांत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उन्नीसवीं शताब्दी के महान विचारक, टी० एच० हक्स्ले को इस अज्ञेयवाद का प्रणेता माना जाता है, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम 'अज्ञेयवाद' शब्द का प्रयोग किया था और इस सिद्धांत की व्याख्या की थी। अज्ञेयवाद की आधारभूत मान्यता को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है :– "मनुष्य के लिए तब तक यह कहना अनुचित है कि वह किसी कथन के वस्तुपरक सत्य को निश्चित रूप से जानता है जब तक वह ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाता जो तार्किक दृष्टि से इस निश्चयात्मकता को उचित सिद्ध कर दे। अज्ञेयवाद केवल इतना ही कहता है, और मेरे विचार में अज्ञेयवाद के लिए केवल यही आवश्यक है"।[4] हक्स्ले का मत है कि मनुष्य अपनी सीमित तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर तथा अन्य अतिप्राकृतिक सत्ताओं को जानने में असमर्थ है, अतः उसे उनके संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहना चाहिए। इन सत्ताओं के विषय में अपने निर्णय को स्थगित रखना ही मनुष्य के लिए एकमात्र उचित और तर्कसंगत दृष्टिकोण है।

हक्स्ले के अतिरिक्त एक अन्य विचारक, डब्ल्यू० के० क्लिफ़ोर्ड भी इसी अज्ञेयवादी दृष्टिकोण का पूर्णतः समर्थन करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि विश्वसनीय तथा निश्चित प्रमाण के अभाव में मनुष्य के लिए किसी वस्तु अथवा कथन में विश्वास करना उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए क्लिफ़ोर्ड कहते हैं कि :– "किसी भी व्यक्ति के लिए अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर किसी वस्तु में विश्वास करना सर्वदा और सर्वत्र अनुचित है।.... संशय को दबाना कदापि उचित नहीं है, क्योंकि या तो पहले की गई जाँच द्वारा ईमानदारी से इसका उत्तर दिया जा सकता है अथवा इससे यह प्रमाणित होता है कि जाँच पूरी तरह से की ही नहीं गई ..."[5] इस प्रकार अज्ञेयवाद के अनुसार अतिप्राकृतिक सत्ताओं के विषय में कोई निश्चित मत व्यक्त करने के स्थान पर मनुष्य को अपना निर्णय स्थगित ही रखना चाहिए, क्योंकि इस संबंध में उसके लिए यही एकमात्र तर्कसंगत दृष्टिकोण प्रतीत होता है।

---

4. टी० एच० हक्स्ले, 'एसेज़ अपौन कन्ट्रोवरशियल क्वश्चन्ज़', पृ० 350
5. डब्ल्यू० के० क्लिफ़ोर्ड का लेख, 'दि ऐथिक्स ऑफ़ बिलीफ़', 'बी० ए० ब्रोडी द्वारा संपादित पुस्तक 'रीडिंग्ज़ इन दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन—ऐन ऐनालिटिक एप्रोच' में संकलित, पृ० 246-247

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईश्वर विषयक विश्वास के संबंध में दूसरे और तीसरे सिद्धांत में व्यावहारिक दृष्टि से कोई मूल भेद नहीं है, क्योंकि इन दोनों सिद्धांतों में इस विश्वास को स्वीकार नहीं किया गया है। हाँ, ये दोनों सिद्धांत प्रथम सिद्धांत ईश्वरवाद से अवश्य ही मूलतः भिन्न हैं। यही कारण है कि ईश्वरवादी निरीश्वरवाद और अज्ञेयवाद का समान रूप से खंडन करते हैं। परंतु दार्शनिक दृष्टि से ये दोनों सिद्धांत ईश्वरवाद की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद प्रतीत होते हैं।

9

धार्मिक भाषा

1. पृष्ठभूमि

पिछले अध्याय में धार्मिक ज्ञान की समस्या की विवेचना करते हुए हम बता चुके हैं कि कुछ दार्शनिक धार्मिक कथनों को ऐसे संज्ञानात्मक कथन मानते हैं जो हमें विशेष प्रकार का तथ्यपरक ज्ञान प्रदान करते हैं। इन धार्मिक कथनों के अनेक उदाहरणों का उल्लेख भी हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम इन कथनों के अर्थ, स्वरूप तथा कार्य पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। यह समस्या वस्तुतः धार्मिक भाषा की समस्या है जिस पर मध्य युग में तथा वर्तमान शताब्दी में वहुत-से पाश्चात्य धर्मदार्शनिकों ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। **भक्तों अथवा धर्मपरायण व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त धार्मिक कथनों, गीतों, कीर्तन, सत्संग, जप-तप, पूजा-पाठ, प्रार्थनाओं आदि में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसे सामान्यतः 'धार्मिक भाषा' की संज्ञा दी जाती है।** दूसरे शब्दों में, **धार्मिक भाषा वह भाषा है जिसका प्रयोग उपासक अपने आराध्य की उपासना और धार्मिक कर्मकांड के संदर्भ में करते हैं।** धार्मिक सिद्धांतों की विवेचना, धर्मोपदेशों और धार्मिक कहावियों के लिए धर्म-ग्रंथों में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसे भी हम 'धार्मिक भाषा' कह सकते हैं। इस प्रकार धार्मिक भाषा मनुष्य के धार्मिक जीवन से संबंधित सभी पक्षों की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह धार्मिक भाषा हमारी सामान्य भाषा से पूर्णतः भिन्न नहीं होती। वस्तुतः हम अपने दैनिक जीवन में जिन सामान्य शब्दों का प्रयोग करते हैं प्रायः वे ही शब्द कुछ भिन्न अर्थों में धार्मिक संदर्भों में भी प्रयुक्त होते हैं और तब इन शब्दों को 'धार्मिक भाषा' की संज्ञा दे दी जाती है। उदाहरणार्थ, ईश्वरोपासक प्रायः यह कहते हैं कि "ईश्वर ने ही इस जगत् की रचना की है," "हम सब ईश्वर की संतान हैं," "ईश्वर हम सबसे प्रेम करता है," "वह अत्यंत दयालु तथा पूर्णतः शुभ है," इत्यादि। इन धार्मिक कथनों में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है वे हमारे दैनिक जीवन की सामान्य भाषा के शब्द हैं। अन्य धार्मिक कथनों (जिनमें निरीश्वरवादी धर्मों से संबंधित कथन भी सम्मिलित हैं) में प्रयुक्त भाषा के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक भाषा कोई ऐसी भाषा नहीं है जो हमारे दैनिक जीवन की सामान्य भाषा से पूर्णतः पृथक और असंबद्ध हो।

पाश्चात्य दर्शन में इस धार्मिक भाषा की विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचना वर्तमान शताब्दी में ही आरंभ हुई। कुछ दार्शनिकों ने तत्वमीमांसीय तथा नैतिक भाषा की भाँति धार्मिक भाषा के स्वरूप और कार्य का भी सूक्ष्म विश्लेषण करना प्रारंभ किया। दर्शन की विभिन्न विधाओं में प्रयुक्त भाषा का यह विश्लेषण उस दार्शनिक विचारधारा का परिणाम था जिसे 'तर्कीय प्रत्यक्षवाद' कहा जाता है और जिसका सूत्रपात इस शताब्दी के चतुर्थ

दशक में आस्ट्रिया के 'वियाना' नामक नगर में हुआ था। मॉरिट्ज़, श्लिक, ए०जे० एयर, रुडॉल्फ़ कार्नैप आदि दार्शनिक इस तर्कीय प्रत्यक्षवाद के प्रमुख समर्थक थे। इस विचारधारा को स्वीकार करने वाले सभी दार्शनिक यह मानते थे कि दर्शन का एकमात्र कार्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली भाषा का समुचित विश्लेषण करके उसके अर्थ को भलीभाँति स्पष्ट करना ही है। इन दार्शनिकों ने दर्शन के स्वरूप तथा कार्य के संबंध में उस परम्परागत विचारधारा को पूर्णतः अस्वीकार किया जिसके अनुसार दर्शन का उद्देश्य जीवन और जगत् के विषय में मूल सत्यों का अनुसंधान एवं प्रतिपादन करना ही था। इस प्रकार तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने दर्शन के क्षेत्र को भाषा के विश्लेषण और अर्थ-निरूपण तक ही सीमित कर दिया। दर्शन के स्वरूप एवं कार्य के विषय में इन दार्शनिकों के विचारों पर लुडविग विटगिन्स्टाइन की प्रसिद्ध पुस्तक, 'ट्रैक्टेटस लॉजिको-फिलॉसॉफिकस' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा जो जर्मन भाषा में सर्वप्रथम 1921 में प्रकाशित हुई थी। इस दृष्टि से उक्त पुस्तक को भाषा-विश्लेषण विषयक विचारधारा का प्रथम प्रमुख ग्रंथ माना जा सकता है। वर्तमान शताब्दी के पाँचवें दशक के अंत तक पाश्चात्य दर्शन पर तर्कीय प्रत्यक्षवाद का पर्याप्त प्रभाव रहा, किंतु इसके पश्चात यह प्रभाव धीरे-धीरे क्षीण होने लगा और छठे दशक में लगभग समाप्त हो गया।

1953 में विटगिन्स्टाइन की दूसरी सुविख्यात पुस्तक, 'फ़िलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्ज़' के प्रकाशन के साथ ही भाषा के अर्थ-निरूपण के विषय में एक नवीन सिद्धांत का उदय हुआ जिसे 'उपयोग-सिद्धांत' की संज्ञा दी जाती है। जैसा कि इस सिद्धांत के नाम से ही स्पष्ट है, यह विभिन्न प्रसंगों में भाषा के उपयोग के आधार पर ही उसके अर्थ को निर्धारित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी शब्द या कथन के अर्थ को जानने के लिए किसी विशेष प्रसंग में उसके उपयोग को समझना आवश्यक है। हमें यह नहीं पूछना चाहिए कि किसी शब्द या कथन का अर्थ क्या है, अपितु हमें यह पूछना चाहिए कि किसी विशेष प्रसंग में उसका उपयोग किस प्रकार होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सभी प्रसंगों में भाषा के अर्थ-निरूपण के लिए कोई एक कसौटी निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में एक ही शब्द या कथन का उपयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हो सकता है। अपनी इसी मान्यता के कारण उपयोग-सिद्धांत के समर्थकों ने तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के सत्यापन-सिद्धांत को अस्वीकार किया है जिसकी विवेचना हम इस अध्याय के दूसरे खंड में करेंगे। विटगिन्स्टाइन के अतिरिक्त गिलबर्ट राइल, पी०एच० नॉवलस्मिथ, नॉरमन मैलकॉम, डी०ज़ेड० फ़िलिप्स, पीटर विंच आदि अनेक दार्शनिकों ने भाषा के अर्थ-निरूपण के लिए इस उपयोग-सिद्धांत का ही समर्थन किया है। इन दार्शनिकों का मत है कि किसी शब्द या कथन का सभी प्रसंगों में केवल एक ही अर्थ नहीं होता, विविध प्रसंगों में विभिन्न उपयोगों के अनुरूप उसके अर्थ में भी परिवर्तन हो सकता है। विविधार्थक होने के कारण भाषा का सभी प्रसंगों में कोई एक निश्चित अर्थ या कार्य नहीं होता। विभिन्न प्रसंगों में वह भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करती है, अतः विविध प्रसंगों में उसके प्रयोग के नियम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक कसौटी के आधार पर सभी प्रसंगों में भाषा के अर्थ को निर्धारित करना उचित और युक्तिसंगत नहीं है। हम आगे देखेंगे कि धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण की दृष्टि से इस उपयोग-सिद्धांत का विशेष महत्त्व है।

धार्मिक भाषा के अर्थ और स्वरूप के विषय में समकालीन दार्शनिकों के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना करने से पूर्व यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मध्य युग के कुछ दार्शनिकों ने भी इस भाषा की समस्या पर विचार किया था। इन दार्शनिकों में मोसिस मेमोनाइड्स तथा टॉमस ऐक्वाइनस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दार्शनिकों ने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया था कि जब हम ईश्वर के संबंध में 'प्रेम', 'शक्ति', 'ज्ञान' आदि वर्णनात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं तो इन शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है। क्या ईश्वर के संदर्भ में भी इन शब्दों का ठीक वही अर्थ होता है जो मानवीय संदर्भों में समझा जाता है? जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, मेमोनाइड्स यह मानते थे कि मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे समझे जाने वाले असीम ईश्वर के विषय में सार्थकतापूर्वक इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि मानवीय संदर्भों में प्रयुक्त शब्दों द्वारा ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करना उसे अनिवार्यतः सीमित करना होगा। परंतु ऐक्वाइनस के मतानुसार हम कुछ सीमा तक सार्थकतापूर्वक ईश्वर के संबंध में भी उन शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं जिनका प्रयोग हम मानवीय संदर्भों में करते हैं। इस तथ्य की व्याख्या करने के लिए उन्होंने एक विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे 'सादृश्य-सिद्धांत' कहा जाता है और जिसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस सादृश्य-सिद्धांत का प्रयोग करते हुए ऐक्वाइनस ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हम ईश्वर के संबंध में 'शक्ति,' 'ज्ञान,' 'शुभत्व,' 'प्रेम' आदि शब्दों का सार्थक प्रयोग कर सकते हैं। हमारे इस सार्थक प्रयोग का आधार इन शब्दों के अर्थ का वह ज्ञान है जिसे हमने मानवीय संदर्भों में प्राप्त किया है। परंतु ऐक्वाइनस भी यह स्वीकार करते हैं कि असीम ईश्वर के संदर्भ में इन शब्दों का ठीक वही अर्थ नहीं होता जो सीमित मनुष्य के संदर्भ में समझा जाता है। इसी कारण इन शब्दों के प्रयोग द्वारा मनुष्य के लिए ईश्वर के स्वरूप का संपूर्ण और सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। इस प्रकार धार्मिक भाषा की समस्या पर विचार करने वाले ये मध्य युगीन दार्शनिक इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि मानवीय भाषा अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे असीम ईश्वर के स्वरूप, गुणों, कार्यों तथा जगत् और मनुष्य के साथ उसके संबंध को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। इस अध्याय के दूसरे खंड में हम देखेंगे कि लुडविग विटगिन्स्टाइन, टॉमस मैकफर्सन आदि कुछ समकालीन दार्शनिक भी धार्मिक भाषा के संबंध में मूलतः इसी निष्कर्ष को स्वीकार करते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि ऐसी किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के विषय में मानवीय भाषा का सार्थकतापूर्वक प्रयोग नहीं किया जा सकता जिसे मनुष्य के अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि से परे समझा जाता है।

मध्य युग के पश्चात वर्तमान शताब्दी में ही धार्मिक भाषा का विस्तृत एवं गंभीर विवेचन तथा सूक्ष्म विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। अनेक समकालीन दार्शनिकों ने धर्म-ग्रंथों तथा धर्मपरायण व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त धार्मिक कथनों का विश्लेषण करते हुए उनके अर्थ, स्वरूप और कार्य को स्पष्ट करने का प्रयास आरम्भ किया। इन दार्शनिकों में लुडविग विटगिन्स्टाइन, ए०जे० एयर, जॉन विज़्डम, ऐन्टोनी फ़्ल्यू, आर०एम० हेयर, आर०बी० ब्रेथवेट, ए० सी० मैकिन्टायर, बेसिल मिचल, जॉन हिक, आइ० एम० क्रौम्बी, डी० ज़ेड० फिलिप्स. नॉरमन मैलकॉम, पीटर विंच आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी

दार्शनिकों तथा अन्य अनेक समकालीन दार्शनिकों ने धार्मिक भाषा के विषय में बहुत-से लेख एवं ग्रंथ लिख कर वर्तमान शताब्दी में एक नवीन दार्शनिक विधा को जन्म दिया जिसे 'अधि-धर्मशास्त्र' अथवा 'विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन' कहा जाता है।[1] आज इस नवीन दार्शनिक विधा पर अँग्रेज़ी भाषा में विपुल साहित्य विद्यमान है जिससे यह ज्ञात होता है कि इस विषय में पाश्चात्य दार्शनिकों की गहरी रुचि रही है। यह नवीन विधा परंपरागत धर्म-दर्शन से संबद्ध होते हुए भी उससे पर्याप्त सीमा तक भिन्न है। इसका उद्देश्य धर्म-दर्शन की मूल समस्याओं का विवेचन करना नहीं, अपितु धार्मिक भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण कर के उसके अर्थ, स्वरूप तथा कार्य को भली-भाँति स्पष्ट करना ही है। इस दृष्टि से यह विधा परंपरागत धर्म-दर्शन की पूरक अथवा सहायक है। यह धार्मिक भाषा का अर्थ-निरूपण तथा विश्लेषण कर के परंपरागत धर्म-दर्शन की मूल समस्याओं को समझने और उनका समुचित समाधान करने में बहुत सहायक सिद्ध होती है। यह विधा धर्म-दर्शन के किसी विशेष सिद्धांत का समर्थन या खंडन नहीं करती, अपितु उन शब्दों, कथनों तथा अवधारणाओं के अर्थ का विश्लेषण करती है जिनके माध्यम से धार्मिक विषयों और धर्म संबंधी समस्याओं की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण इस विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन को परम्परागत धर्म-दर्शन का सहायक अथवा पूरक मानना ही उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

धार्मिक भाषा के विश्लेषण तथा अर्थ-निरूपण के लिए समकालीन दार्शनिकों ने तीन प्रकार के विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जिन्हें 'असंज्ञानात्मक सिद्धांत', 'संज्ञानात्मक सिद्धांत' और 'उपयोग-सिद्धांत' कहा जा सकता है। ये सभी सिद्धांत अपने-अपने ढंग से इस मूल प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते हैं कि धार्मिक भाषा का अर्थ, स्वरूप तथा कार्य क्या है। धार्मिक भाषा की इस समस्या को निम्नलिखित तीन प्रश्नों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है :– (1) क्या धार्मिक कथन हमें विशेष प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करने वाले तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन हैं? (2) क्या ये कथन हमारी भावनाओं या अभिवृत्तियों को व्यक्त एवं जागृत करने वाले संवेगात्मक अथवा असंज्ञानात्मक कथन हैं? (3) क्या ये कथन संज्ञानात्मक तथा असंज्ञानात्मक सभी कथनों से भिन्न होने के कारण अनन्य या अद्वितीय हैं? धार्मिक भाषा के विश्लेषण एवं अर्थ-निरूपण के लिए जिन तीन प्रकार के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है वे सभी अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार इन्हीं तीन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करते हैं।

असंज्ञानात्मक सिद्धांतों के समर्थकों का मत है कि धार्मिक कथन हमें किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान न करके वस्तुतः हमारी कुछ विशेष अभिवृत्तियों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं, अतः इन्हें भावनात्मक या संवेगात्मक कथन ही माना जा सकता है, तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक कथन नहीं। एयर, फ़्ल्यू, हेयर, ब्रेथवेट आदि

---

[1] इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए मेरी एक अन्य पुस्तक, 'समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन', 'हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 1982, संशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय संस्करण, 1986

दार्शनिक इन्हीं असंज्ञानात्मक सिद्धांतों का समर्थन करते हैं। इन दार्शनिकों के विपरीत संज्ञानात्मक सिद्धांतों का समर्थन करने वाले दार्शनिकों का विचार है कि धार्मिक कथन हमें ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता से संबंधित कुछ विशेष प्रकार के अलौकिक तथ्यों—जिन्हें 'धार्मिक तथ्य' कहा जाता है—का ज्ञान प्रदान करते हैं और इसी कारण ये तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक कथन हैं। हिक, क्रोम्बी, मिचल आदि दार्शनिक इन संज्ञानात्मक सिद्धांतों के समर्थक हैं। परंतु कुछ अन्य दार्शनिक इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों को अस्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि धार्मिक कथनों का अर्थ-निरूपण धार्मिक प्रसंगों में उनके उपयोग के आधार पर ही किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि धार्मिक भाषा के विश्लेषण तथा अर्थ-निरूपण के लिए धार्मिक जीवन-पद्धति अथवा परम्परा से बाहर किसी कसौटी का प्रयोग नहीं किया जा सकता। विटगिन्स्टाइन, फ़िलिप्स, मैलकाम, विंच आदि दार्शनिक धार्मिक भाषा के संबंध में इसी उपयोग-सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वर्तमान शताब्दी में विभिन्न दार्शनिकों ने उपर्युक्त भिन्न-भिन्न तीनों सिद्धांतों के आधार पर धार्मिक भाषा के अर्थ, स्वरूप तथा कार्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत अध्याय के अगले खंडों में हम इन सभी सिद्धांतों की विवेचना करेंगे।

2. असंज्ञानात्मक सिद्धांत

जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, असंज्ञानात्मक सिद्धांतों का समर्थन करने वाले दार्शनिकों के मतानुसार ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता से संबंधित धार्मिक कथन तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक कथन नहीं हैं, क्योंकि ये कथन हमें किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान नहीं करते। जब धर्मपरायण व्यक्ति इन कथनों का प्रयोग करते हैं तो वे हमें इस जगत् की किसी वस्तु अथवा अलौकिक सत्ता के विषय में किसी प्रकार की तथ्यपरक सूचना नहीं देते, अतः इन कथनों को असंज्ञानात्मक कथन ही माना जा सकता है। परंतु धार्मिक कथनों को असंज्ञानात्मक कहने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये निरर्थक हैं अथवा मानव-जीवन के लिए इनका कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः असंज्ञानात्मक होते हुए भी ये कथन धर्मपरायण व्यक्ति के लिए सार्थक और बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये उसकी उन विशेष भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों को व्यक्त और जागृत करते हैं जिन्हें 'धार्मिक भावनाएँ' या 'धार्मिक अभिवृत्तियाँ' कहा जाता है। इन धार्मिक भावनाओं या अभिवृत्तियों की मूल विशेषता यह है कि ये सांसारिक विषयों से संबंधित न होकर अनिवार्यतः किसी अलौकिक अथवा दैवी सत्ता से ही संबंधित होती हैं। धर्मपरायण व्यक्ति जिस अलौकिक या दैवी सत्ता की आराधना अथवा उपासना करता है उसके प्रति वह पूजा और समर्पण की भावना अवश्य रखता है। सामान्यतः उसकी इसी भावना को 'धार्मिक भावना' की संज्ञा दी जाती है जो उसके धार्मिक कथनों तथा कर्मकांड में अभिव्यक्त होती है। उपासक की यह धार्मिक भावना ही धार्मिक कथनों को अन्य सभी प्रकार के कथनों से पृथक करती है। जो कथन इस धार्मिक भावना को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं केवल उन्हें ही 'धार्मिक कथन' कहा जा सकता है। इस प्रकार असंज्ञानात्मक सिद्धांतों के समर्थकों के विचार में धार्मिक भाषा असंज्ञानात्मक होते हुए भी धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए निश्चय ही सार्थक तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इन असंज्ञानात्मक दार्शनिकों ने धार्मिक भाषा की इस असंज्ञानात्मकता की व्याख्या

भिन्न-भिन्न प्रकार से की है जिसके कारण समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन में अनेक असंज्ञानात्मक सिद्धांतों का उदय हुआ है। इन असंज्ञानात्मक सिद्धांतों में से कुछ प्रमुख सिद्धांतों पर हम प्रस्तुत खंड में विचार करेंगे।

(1) ए०जे० एयर

हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि एयर तर्कीय प्रत्यक्षवाद का प्रतिपादन करने वाले प्रमुख दार्शनिकों में से एक थे। कथनों की सार्थकता को निर्धारित करने के लिए उन्होंने जो सिद्धांत प्रस्तुत किया है उसे 'सत्यापन-सिद्धांत' अथवा 'सत्यापनीयता-सिद्धांत' कहा जाता है। सर्वप्रथम 1936 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक' में उन्होंने इस सिद्धांत की विस्तृत विवेचना की है और इसे ही समस्त कथनों की सार्थकता का निर्णय करने के लिए एकमात्र कसौटी के रूप में स्वीकार किया है। इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि :–"सत्यापन-सिद्धांत" वह कसौटी प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा यह निर्धारित किया जा सकता है कि कोई वाक्य यथातथ्य रूप में सार्थक है या नहीं। इसे प्रतिपादित करने का एक सरल उपाय यह कहना है कि किसी वाक्य में यथातथ्य अर्थ केवल तभी सम्भव है जब उसके द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति या तो विश्लेषणात्मक हो अथवा अनुभव द्वारा सत्यापनीय हो।....... किसी कथन को यथातथ्य रूप में सार्थक केवल तभी कहा जा सकता है जब वह या तो विश्लेषणात्मक हो अथवा अनुभव द्वारा उसे सत्यापित किया जा सके"।[2]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि एयर अपने सत्यापन-सिद्धांत के अनुसार केवल दो प्रकार के कथनों को ही सार्थक मानते हैं-शब्दों की परिभाषाओं पर आधारित विश्लेषणात्मक कथन और अनुभव द्वारा सत्यापनीय संश्लेषणात्मक कथन। इन दोनों प्रकार के कथनों के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं, अतः यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि एयर के विचार में विश्लेषणात्मक कथनों के अतिरिक्त तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक कथन केवल वे ही हो सकते हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तथा कम से कम सिद्धांततः मानवीय अनुभव द्वारा सत्यापनीय हों। जिन कथनों को इन दोनों वर्गों में से किसी भी वर्ग में नहीं रखा जा सकता वे तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक अथवा संज्ञानात्मक कथन नहीं है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऐसे कथनों को एयर निरर्थक नहीं मानते, क्योंकि उनके विचार में ये कथन संवेगात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं–अर्थात, ये मानवीय भावनाओं या अभिवृत्तियों को अभिव्यक्त और जागृत कर सकते हैं। इस दृष्टि से ऐसे कथनों का मानव-जीवन के लिए बहुत महत्त्व है। एयर के मतानुसार सौंदर्यात्मक, नैतिक, तत्त्वमीमांसीय तथा धार्मिक कथन ऐसे ही संवेगात्मक कथन हैं जो अनुभव द्वारा सत्यापित न हो सकने के कारण तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हैं किंतु जो भावनात्मक दृष्टि से मनुष्य के लिए सार्थक और बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। ये कथन हमें किसी प्रकार का तथ्यपरक ज्ञान प्रदान नहीं करते, अतः ये न तो सत्य होते हैं और न मिथ्या। इस प्रकार एयर ने अपने उपर्युक्त सत्यापन-सिद्धांत के आधार पर ही समस्त कथनों की सार्थकता को निर्धारित करने का प्रयास किया है।

---

2. ए० जे० एयर, 'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक', द्वितीय संस्करण, पृ० 5, 8

तत्त्वमीमांसीय, नैतिक तथा सौंदर्यात्मक कथनों की भाँति धार्मिक कथनों की सार्थकता की परीक्षा के लिए भी एयर अपने इसी सत्यापन-सिद्धांत का प्रयोग करते हैं। अपनी उपर्युक्त पुस्तक, 'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक' के छठे अध्याय के अंत में उन्होंने इसी सिद्धांत के आधार पर धार्मिक भाषा की सार्थकता की समस्या का विवेचन किया है। हम देख चुके हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक कथनों में 'ईश्वर', 'आत्मा' आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो उनके अनुसार अतींद्रिय अथवा अनुभवातीत सत्ताओं का बोध कराते हैं। परंतु एयर का मत है कि इन अनुभवातीत सत्ताओं से संबंधित शब्दों के प्रयोग के कारण ये धार्मिक कथन मानवीय अनुभव द्वारा असत्यापनीय हो जाते हैं, अतः इन्हें तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक कथन नहीं माना जा सकता। इन कथनों को उन्होंने 'तत्त्वमीमांसीय कथन' कहा है जो न सत्य होते हैं और न मिथ्या। धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक कथनों को पुनरुक्तियाँ अथवा विश्लेषणात्मक कथन नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार ये कथन हमें अनुभवातीत सत्ताओं से संबंधित विशेष अलौकिक तथ्यों का ज्ञान प्रदान करते हैं। परंतु अनुभव द्वारा सत्यापित न हो सकने के कारण इन कथनों को एयर तथ्यपरक संश्लेषणात्मक कथन न मान कर ऐसे तत्त्वमीमांसीय कथन मानते हैं जो हमें किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान नहीं करते। धार्मिक कथनों के स्वरूप के विषय में अपने इसी मत की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि:—''यह कहना कि 'ईश्वर का अस्तित्व हैं' एक तत्त्वमीमांसीय वाक्य का प्रयोग करना है जो न सत्य हो सकता है और न मिथ्या। इसी कसौटी के आधार पर उस वाक्य का कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं हो सकता जो अनुभवातीत ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करने का दावा करता है।....... ऐसे व्यक्ति की अवधारणा जिसके अनिवार्य गुण अनुभवनिरपेक्ष हैं पूर्णतः अबोधगम्य अवधारणा है।..... 'ईश्वर' शब्द के विषय में यही कहा जा सकता हैं जिसका प्रयोग अनुभवातीत सत्ता के अर्थ में किया जाता है।......... यह कहना कि मनुष्य के भीतर कोई ऐसी अदृश्य वस्तु है जो उसकी आत्मा है और जो उसकी मृत्यु के पश्चात भी जीवित रहती है एक तत्त्वमीमांसीय वाक्य का प्रयोग करना है जिसका उसी प्रकार कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं है जिस प्रकार इस कथन का कि 'अनुभवातीत ईश्वर का अस्तित्व है'। जो बात हम सिद्ध करना चाहते हैं वह यह है कि धर्म के विषय में किसी प्रकार के अनुभवनिरपेक्ष सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसे सत्यों को अभिव्यक्त करने के लिए ईश्वरवादी जिन वाक्यों का प्रयोग करता है वे तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हैं।....... हमें प्रायः यह बताया जाता है कि ईश्वर का स्वरूप एक रहस्य है जो मनुष्य की समझ से परे है। परंतु यह कहना कि कोई वस्तु मनुष्य की समझ से परे हैं यह कहना है कि वह अबोधगम्य है और जो अबोधगम्य है उसका सार्थक रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता''।[3] एयर के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे अतींद्रिय सत्ताओं से संबंधित धार्मिक कथनों को पूर्णतः अबोधगम्य और तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं।

धार्मिक कथनों के स्वरूप के विषय में एयर ने ऊपर जो कुछ कहा है उससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि वे उस अर्थ में निरीश्वरवादी हैं जिस अर्थ में सामान्यतः कुछ दार्शनिकों को निरीश्वरवादी माना जाता हैं। जैसा कि हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं,

---

3. वही पुस्तक, पृ० 115-117

सामान्य अर्थ में निरीश्वरवादी वह है जो यह मानता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। वह "ईश्वर का अस्तित्व है" इस कथन की सार्थकता में संदेह नहीं करता, अपितु इसे मिथ्या मानता है। परंतु एयर के विचार में यह कथन अनुभव द्वारा असत्यापनीय एवं तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक होने के कारण न तो सत्य हो सकता है और न मिथ्या। यह ऐसा छद्म कथन है जो व्याकरण की दृष्टि से तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक प्रतीत होता हैं किंतु असत्यापनीय होने के कारण जो वास्तव में हमें किसी प्रकार का तथ्यपरक ज्ञान प्रदान नहीं करता। ऐसी स्थिति में इस कथन को मिथ्या मानना भी उतना ही निरर्थक है जितना इसे सत्य मानना। अपनी इसी मान्यता के आधार पर एयर ने ईश्वरवाद के समान ही निरीश्वरवाद तथा अज्ञेयवाद का भी खंडन किया है। इस दृष्टि से अपने सिद्धांत की व्याख्या करते हुए वे स्पष्ट कहते हैं कि "धार्मिक कथनों के संबंध में इस मत को उस मत के समान न समझना आवश्यक है जिसे निरीश्वरवादी अथवा अज्ञेयवादी स्वीकार करते हैं।.... हमारा यह मत कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में समस्त कथन निरर्थक हैं इन परिचित सिद्धांतों में से किसी के समान होने अथवा किसी का समर्थन करने के स्थान पर वास्तव में इनके विरुद्ध है। यदि 'ईश्वर है' यह कथन निरर्थक है तो निरीश्वरवादी का यह कथन कि 'ईश्वर नहीं है' समान रूप से निरर्थक है, क्योंकि केवल सार्थक प्रतिज्ञप्ति का ही सार्थक रूप से खंडन किया जा सकता है"।[4] इस प्रकार एयर के सत्यापन-सिद्धांत के अनुसार ईश्वर के विषय में ईश्वरवादी के कथनों के समान ही निरीश्वरवादी तथा अज्ञेयवादी के कथन भी तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धार्मिक कथनों के संबंध में एयर का उपर्युक्त सिद्धांत ईश्वरवाद के लिए अज्ञेयवाद तथा निरीश्वरवाद की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर चुनौती प्रस्तुत करता है। इसका कारण यह है कि निरीश्वरवादी तथा अज्ञेयवादी दोनों ही कम से कम यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर विषयक कथन सार्थक हैं, परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, एयर इन कथनों को 'छद्म कथन' कह कर संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं जिसके फलस्वरूप ईश्वरवाद का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार एयर का सत्यापन-सिद्धांत ईश्वरवादियों के समक्ष एक ऐसी जटिल समस्या उपस्थित करता है जिसका संतोषप्रद और युक्तिसंगत समाधान किए बिना ईश्वरवादी अपने सिद्धांत की रक्षा नहीं कर सकते।

अनेक समकालीन दार्शनिकों—विशेषतः ईश्वरवादी दार्शनिकों—ने एयर के उपर्युक्त सत्यापन-सिद्धांत की तीव्र आलोचना की है। इस सिद्धांत के विरुद्ध इन दार्शनिकों की मुख्य आपत्ति यह है कि भाषा के अर्थ के संबंध में इसके द्वारा प्रस्तुत कसौटी बहुत ही संकुचित है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, यह केवल उन्हीं कथनों को सार्थक मानता है जो या तो शब्दों की परिभाषाओं पर आधारित विश्लेषणात्मक कथन हैं अथवा अनुभव द्वारा सत्यापनीय संश्लेषणात्मक कथन। इसके अनुसार इन दोनों प्रकार के कथनों के अतिरिक्त अन्य सभी

---

4. वही पुस्तक, पृ० 115

कथन संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। परंतु अनेक दार्शनिकों का मत है कि इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने से भाषा का कार्य बहुत ही सीमित हो जाता है। हम भाषा का प्रयोग पुनरुक्तियों को व्यक्त करने वाले विश्लेषणात्मक कथनों तथा अनुभव द्वारा सत्यापनीय संश्लेषणात्मक कथनों के लिए ही नहीं करते। वस्तुतः हमारी भाषा के कार्य की परिधि इसकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। हम नैतिक निर्णयों, सौंदर्यात्मक कथनों, आदेशों अथवा आज्ञाओं, प्रेरणात्मक या उपदेशात्मक वाक्यों, तत्त्वमीमांसीय तथा धार्मिक कथनों के लिए भी भाषा का प्रयोग करते हैं। सत्यापन-सिद्धांत के आलोचकों का मत है कि ये सभी कथन तथ्यात्मक न होते हुए भी निश्चय ही सार्थक हैं। इन कथनों का प्रयोग करने वाला कोई भी व्यक्ति इन्हें निरर्थक नहीं मानता। ऐसी स्थिति में उस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जा सकता जो इन सभी कथनों को केवल तथ्यात्मक न होने के कारण निरर्थक मान लेता है। परंतु इस आपत्ति के उत्तर में एयर तथा सत्यापन-सिद्धात के अन्य समर्थक यह कह सकते हैं कि वे इन कथनों को केवल तथ्यात्मक दृष्टि से ही निरर्थक मानते हैं, संवेगात्मक दृष्टि से नहीं। जैसा, कि हम पहले ही बता चुके हैं, वे इन सभी कथनों का संवेगात्मक अर्थ स्वीकार करते हैं और इस दृष्टि से इन्हें मानव-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे केवल उन व्यक्तियों के मत का खंडन करते हैं जो यह दावा करते हैं कि ये कथन तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक कथन हैं।

कुछ समकालीन दार्शनिकों ने सत्यापन-सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई है कि इसके समर्थक 'तथ्य' शब्द को बहुत ही सीमित अर्थ में ग्रहण करते हैं। इन दार्शनिकों का कथन है कि एयर, कार्नैप, श्लिक आदि तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के अनुसार 'तथ्य' केवल वे ही हैं जो हमारे इंद्रियजन्य अनुभव का विषय हैं अथवा हो सकते हैं। परंतु सत्यापन-सिद्धांत के आलोचकों के विचार में अनुभवनिरपेक्ष तथ्यों का अस्तित्व भी सम्भव है। उदाहरणार्थ, हम नैतिक तथ्यों, गणित विषयक तथ्यों एवं तर्कशास्त्र संबंधी तथ्यों की सार्थकतापूर्वक बात कर सकते हैं और करते हैं। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति यह भी मानते हैं कि तत्त्वमीमांसा तथा धर्म से संबंधित अलौकिक या अतिप्राकृतिक तथ्यों का भी अस्तित्व है। स्पष्ट है कि ये सभी तथ्य वस्तुतः अनुभव-निरपेक्ष तथ्य ही हैं। ऐसी स्थिति में केवल इंद्रियजन्य अनुभव तक सीमित तथ्यों को ही तथ्य मानना 'तथ्य' शब्द के अर्थ के विषय में बहुत संकुचित दृष्टिकोण है। परंतु अनेक दार्शनिक सत्यापन-सिद्धांत के समर्थकों का यह मत स्वीकार करते हैं कि नैतिक, सौंदर्यात्मक तथा अतिप्राकृतिक तथ्यों का अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः इन सबका संबंध तथ्यों से न होकर मानवीय संवेगों, भावनाओं या अभिवृत्तियों से ही है। इसी प्रकार, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, गणित और तर्कशास्त्र के वाक्य केवल पुनरुक्तियां या विश्लेषणात्मक कथन होते हैं, तथ्यों को अभिव्यक्त करने वाले संश्लेषणात्मक कथन नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि वास्तविक अर्थ में तथ्यों का संबंध हमारे अनुभव से ही है, किंतु 'अनुभव' शब्द को इंद्रियजन्य अनुभव तक ही सीमित न मान कर व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए जिसमें सभी प्रकार का मानवीय अनुभव समाविष्ट है। यदि 'अनुभव' शब्द का यह व्यापक अर्थ स्वीकार किया जाए तो सत्यापन-सिद्धांत को पर्याप्त सीमा तक युक्तिसंगत माना जा सकता है। परंतु जिस रूप में तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने इस सिद्धांत को प्रस्तुत किया था उस रूप में सम्भवतः आज कोई भी दार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करता।

(2) एन्टोनी फ़्ल्यू

एयर की भाँति एक अन्य समकालीन दार्शनिक, ऐन्टोनी फ़्ल्यू, भी ईश्वर, आत्मा आदि अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता अथवा संज्ञानात्मकता का खंडन करते हैं। जिस सिद्धांत के आधार पर उन्होंने इन कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निषेध किया है उसे 'मिथ्यापनीयता-सिद्धांत' की संज्ञा दी जाती है। इस सिद्धांत का सत्यापन-सिद्धांत के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। कुछ दार्शनिक तो इसे सत्यापन-सिद्धांत का ही दूसरा रूप मानते हैं। इसका कारण यह है कि सत्यापन-सिद्धांत की भांति यह सिद्धांत भी कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के लिए मूलतः मानवीय अनुभव पर आधारित कसौटी ही प्रस्तुत करता है। इस मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के अनुसार केवल वही कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकता है जिसे मिथ्या प्रमाणित करना सम्भव हो—अर्थात कुछ तथ्यों द्वारा जिसके सत्य होने का निषेध किया जा सके। प्रत्येक तथ्यात्मक कथन किसी विशेष तथ्य अथवा कुछ विशेष तथ्यों का वर्णन करता है जिसका अर्थ यह है कि वह उस विशेष तथ्य या उन विशेष तथ्यों के अतिरिक्त अन्य सभी तथ्यों का निषेध करता है। उदाहरणार्थ, ''पुस्तक मेज़ पर है'' यह तथ्यात्मक कथन हमें इस तथ्य की सूचना देता है कि पुस्तक कहाँ है। स्पष्ट है कि यह कथन पुस्तक के मेज़ पर होने से संबंधित तथ्य के अतिरिक्त अन्य सभी तथ्यों का निषेध करता है—अर्थात, यह हमें बताता है कि पुस्तक पलंग पर नहीं है, कुर्सी पर नहीं है, अलमारी में नहीं है, धरती पर नहीं है, इत्यादि। यदि इनमें से किसी भी स्थान पर पुस्तक है तो उपर्युक्त कथन मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, मेज़ पर पुस्तक की उपस्थिति के अतिरिक्त अन्य सभी तथ्य इस कथन को मिथ्या प्रमाणित करते हैं। सभी तथ्यात्मक कथनों के विषय में यही बात कही जा सकती है। इस प्रकार मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक तथ्यात्मक कथन के विरुद्ध कुछ ऐसे तथ्यों का होना अनिवार्य है जो उसे मिथ्या प्रमाणित करते हैं। यदि कोई कथन इस अनिवार्य शर्त को पूरा नहीं करता तो उसे तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं माना जा सकता। जो कथन सभी प्रकार के तथ्यों के अनुरूप है और किसी तथ्य का निषेध नहीं करता वह वास्तव में किसी तथ्य का वर्णन भी नहीं करता। इसी कारण ऐसा कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हो जाता है। स्पष्ट है कि मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के समर्थकों के मतानुसार किसी तथ्यात्मक कथन की सार्थकता की परीक्षा के लिए एकमात्र कसौटी यही है कि उसके विरुद्ध विद्यमान कुछ तथ्यों द्वारा उसे मिथ्या प्रमाणित किया जा सके। इस मिथ्यापनीयता-सिद्धांत और पूर्ववर्णित सत्यापन-सिद्धांत में अनिवार्य संबंध है, क्योंकि केवल वही कथन मिथ्यापनीय हो सकता है जो अनुभव द्वारा सत्यापनीय हो। इसी कारण अनेक समकालीन दार्शनिक इन दोनों सिद्धांतों को एक-दूसरे से संबद्ध तथा परस्पर पूरक मानते हैं।

उपर्युक्त मिथ्यापनीयता-सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम कार्ल पॉपर ने अपनी पुस्तक 'दि लॉजिक ऑफ़ साइंटिफ़िक डिस्कवरी' में किया था। इस सिद्धांत के विषय में उन्होंने कहा था कि यह विज्ञान संबंधी अनुभवात्मक कथनों को अन्य कथनों से पृथक करने की एक महत्वपूर्ण कसौटी है। यह सिद्धांत हमें बताता है कि कोई कथन तथ्यात्मक दृष्टि से तभी सार्थक हो सकता है जब कुछ तथ्य उसके विरुद्ध हों और जब इसी आधार पर उसे अनुभव

द्वारा मिथ्या सिद्ध किया जा सके। किसी भी तथ्यात्मक कथन की निश्चयात्मकता की मात्रा उसे मिथ्या प्रमाणित करने वाले तथ्यों द्वारा ही निर्धारित होती है। जो कथन जितने अधिक तथ्यों का निषेध करता है वह हमें उतनी ही अधिक निश्चित सूचना देता है। पॉपर के शब्दों में, ''किसी कथन का तथ्यात्मक अर्थ उसकी मिथ्यापनीयता की मात्रा के अनुसार ही बढ़ता है—जो कथन जितने अधिक तथ्यों का खंडन करता है वह अनुभवमूलक जगत् के विषय में उतना ही अधिक कहता है''।[5] इसका अर्थ यह है कि यदि कोई कथन किसी तथ्य का निषेध नहीं करता और इसी कारण सभी तथ्यों के अनुरूप है तो वह जगत् के संबंध में हमें कोई तथ्यात्मक सूचना नहीं देता। ऐसा कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक होता है। पॉपर के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि वे अपने इस मिथ्यापनीयता-सिद्धांत को तथ्यात्मक कथनों की सार्थकता की कसौटी के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके पश्चात अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी तथ्यात्मक कथनों की सार्थकता की कसौटी के रूप में ही इस सिद्धांत का समर्थन किया है। इन दार्शनिकों में, फ़्ल्यू, हेयर, ब्रेथवेट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऐन्टोनी फ़्ल्यू ईश्वर, आत्मा आदि अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता की परीक्षा के लिए उपर्युक्त मिथ्यापनीयता-सिद्धांत को ही एकमात्र कसौटी मानते हैं। इस सिद्धांत को उन्होंने सर्वप्रथम दार्शनिकों की एक विचारगोष्ठी में प्रस्तुत किया था। जो धार्मिक भाषा के विषय में वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारम्भ में आयोजित की गई थी। इस विचारगोष्ठी में फ़्ल्यू के अतिरिक्त हेयर, मिचल, क्रौम्बी आदि दार्शनिकों ने भी भाग लिया था जिनके समक्ष प्रमुख विचारणीय समस्या यह थी कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हैं या नहीं। इस समस्या पर उक्त विचारगोष्ठी में जो विचार-विमर्श हुआ उसे 'न्यू एसेज़ इन फ़िलॉसॉफ़िकल थियॉलॉजी' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया गया जिसका सम्पादन ऐन्टोनी फ़्ल्यू तथा ए० मैकिन्टायर ने किया था और जो सर्वप्रथम 1955 में प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक में फ़्ल्यू ने अपने मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि आत्मा, ईश्वर आदि अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित धार्मिक कथन मिथ्यापनीय न होने के कारण तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। इस संबंध में उन्होंने अपनी विवेचना को ईश्वर विषयक कथनों तक ही सीमित रखा है जिनका प्रयोग ईश्वरोपासक तथा ईश्वरवादी दार्शनिक प्रायः करते हैं। उदाहरणार्थ, वे प्रायः यह कहते हैं कि ''ईश्वर का अस्तित्व है'', ''ईश्वर ने ही इस जगत् की रचना की है,'' ''ईश्वर हम सबसे उसी प्रकार प्रेम करता है जिस प्रकार पिता अपनी संतान से प्रेम करता है'', इत्यादि।

फ़्ल्यू का मत है कि ईश्वरवादी इन कथनों को अमिथ्यापनीय मानते हैं—अर्थात, वे ऐसे किसी तथ्य को स्वीकार नहीं करते जो इनका खंडन करता हो अथवा इन्हें मिथ्या प्रमाणित कर सके। ईश्वरवादी निश्चित रूप से यह मानते हैं कि ऐसा कोई तथ्य हो ही नहीं सकता जिसके द्वारा इन कथनों को मिथ्या सिद्ध करना सम्भव हो। इसका तात्पर्य यह है कि ये ईश्वर विषयक कथन सभी तथ्यों के अनुरूप हैं, क्योंकि ये किसी तथ्य का निषेध नहीं करते।

---

5. कार्ल पॉपर, 'दि लॉजिक ऑफ़ साईंटिफ़िक डिस्कवरी', पृ० 119

उदाहरण के लिए, ईश्वरवादियों के मतानुसार हम ऐसे किसी तथ्य की कल्पना भी नहीं कर सकते जिस के आधार पर हम यह कह सकें कि "ईश्वर का अस्तित्व नहीं है" "ईश्वर ने इस जगत् की रचना नहीं की" और "ईश्वर हम सबसे प्रेम नहीं करता।"। वे इन कथनों को सर्वत्र, सर्वदा और सभी परिस्थितियों में पूर्णतः सत्य मानते हैं जिसका अर्थ यही है कि ये कथन अमिथ्यापनीय हैं। ईश्वर विषयक कथनों के संबंध में ईश्वरवादियों की इसी मान्यता के कारण फ़्ल्यू इन कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि:—"यदि कोई कथन किसी तथ्य का निषेध नहीं करता तो वह किसी तथ्य का वर्णन भी नहीं करता, और इसलिए वास्तविक अर्थ में वह तथ्यात्मक कथन नहीं हैं।....... जो व्यक्ति धर्मपरायण नहीं हैं उन्हें प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी कोई घटना या घटनाओं की श्रृंखला हो ही नहीं सकती जिसके घटित होने को सुशिक्षित धर्मपरायण व्यक्ति यह स्वीकार करने का पर्याप्त कारण मान सकें कि 'ईश्वर नहीं है' अथवा 'ईश्वर वास्तव में हमसे प्रेम नहीं करता"।[6]

यह स्पष्ट है कि अपने मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के अनुसार फ़्ल्यू ऐसे अमिथ्यापनीय ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं मान सकते। उनका मत है कि सामान्यतः ये कथन संज्ञानात्मक वाक्य प्रतीत होते हैं और ईश्वरवादी इन्हें अत्यधिक महत्वपूर्ण भी मानते हैं। परंतु अमिथ्यापनीय होने के कारण वास्तव में ऐसे कथनों का कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं होता और हो भी नहीं सकता। अपनी इसी मान्यता के आधार पर ईश्वरवादियों को स्पष्ट रूप से चुनौती देते हुए फ़्ल्यू ने उनसे यह प्रश्न किया है कि "ऐसा क्या हो सकता है अथवा क्या होना चाहिए जिसे आप ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके प्रेम के विरुद्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार करने के लिए उद्यत होंगे" ?[7] ईश्वरवादियों के समक्ष प्रस्तुत इस मूल प्रश्न को समकालीन धर्म-दर्शन में 'फ़्ल्यू की चुनौती' कहा जाता है जिसका अनेक परवर्ती दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से उत्तर देने का प्रयास किया है। इन दार्शनिकों के मत पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि समकालीन धर्म-दर्शन पर फ़्ल्यू की उपर्युक्त चुनौती का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनके पश्चात धार्मिक भाषा की सार्थकता की समस्या पर विचार करने वाले दार्शनिक उनकी इस चुनौती की उपेक्षा नहीं कर सके। इनमें से कुछ दार्शनिकों ने फ़्ल्यू के मिथ्यापनीयता-सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन किया है, किंतु कुछ अन्य दार्शनिकों ने उसकी तीव्र आलोचना की है।

आर०एस० हीमबेक, फ़्ल्यू के मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के तीव्र आलोचक हैं। वे इस सिद्धांत को कथनों की सार्थकता की कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं करते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मिथ्यापनीयता न तो कथनों की सार्थकता की कसौटी है और न वैज्ञानिक सिद्धांतों को अन्य सिद्धांतों से पृथक करने की कसौटी। मिथ्यापनीयता को किसी कथन के संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थक होने की अनिवार्य शर्त नहीं माना जा सकता।[8] मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के विरुद्ध हीमबेक की मुख्य आपत्ति यह है कि यह सिद्धांत केवल अनुभव के आधार पर भाषा की

6. ए० फ़्ल्यू, 'थियॉलॉजी ऐंड फ़ाल्सिफ़िकेशन', 'ए० फ़्ल्यू तथा ए० मैकिन्टायर द्वारा सम्पादित पुस्तक, 'न्यू एसेज़ इन फ़िलॉसाफ़िकल थियॉलॉजी में संकलित, पृ० ९४
7. वही पुस्तक, पृ० ९९
8. आर० एस० हीमबेक, 'थियॉलॉजी ऐंड मीनिंग', पृ० ४४

सार्थकता का निर्णय करता है। परंतु उनके मतानुसार हम ऐसी वस्तुओं के संबंध में भी सार्थकतापूर्वक भाषा का प्रयोग करते हैं जो हमारे अनुभव का विषय नहीं है और न हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, हम ऐसी वस्तुओं के अस्तित्व की बात करते हैं जिनका हम अनुभव नहीं कर सकते। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए हीमबेक ने लिखा है कि:—"यह कहना निश्चय ही सार्थक है कि नागरिकों के हित के लिए राज्य का अस्तित्व है। परंतु राज्य अनुभवात्मक नहीं है।....... ऐसी स्थिति में हम ईश्वर के अस्तित्व के विषय में सार्थकतापूर्वक बात क्यों नहीं कर सकते"?[9]

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्वारा भी हीमबेक ने अपनी उपर्युक्त मान्यता को स्पष्ट किया है। इस कथन पर विचार कीजिए कि "इस तार में बिजली का करंट है"। हम बिजली के करंट की इस दृष्टि से ईश्वर के साथ तुलना कर सकते हैं कि ईश्वर के समान ही उसे भी न देखा जा सकता है और न छुआ जा सकता है, अतः इस अर्थ में ये दोनों ही हमारे अनुभव से परे हैं। इन दोनों का हम अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि ये दोनों ही भौतिक वस्तुएं नहीं हैं। बिजली की तार को काट कर हम अपनी आंखों से या किसी वैज्ञानिक उपकरण द्वारा करंट को नहीं देख सकते। करंट के होने पर हम बिजली की घंटी की ध्वनि सुन सकते हैं अथवा बिजली की तार को छूकर हम झटके का अनुभव कर सकते हैं। परंतु ये वस्तुएं वस्तुतः करंट नहीं हैं। ये तो करंट के प्रभाव मात्र हैं। इनके अभाव में भी करंट का अस्तित्व हो सकता है। बिजली का करंट जो प्रभाव उत्पन्न करता है उसके माध्यम से हम इसका ज्ञान प्राप्त करते हैं, किंतु यह स्वयं हमारे इंद्रियजन्य ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।[10] इन उदाहरणों द्वारा हीमबेक ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि हम ऐसी वस्तुओं की भी सार्थकतापूर्वक चर्चा कर सकते हैं जो हमारे अनुभव से परे हैं, अतः अनुभवातीत ईश्वर के विषय में बात करना भी निश्चय ही पूर्णतः सार्थक है।

परंतु मेरे विचार में हीमबेक के उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा उनकी यह मान्यता सत्य सिद्ध नहीं होती कि हम अनुभवातीत वस्तुओं के अस्तित्व के संबंध में भी सार्थकतापूर्वक बात कर सकते हैं। यह सत्य है कि हम अपनी भाषा में 'राज्य' शब्द का सार्थक प्रयोग करते हैं और राज्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो हमारे इंद्रियजन्य अनुभव का विषय हो सके। परंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले कुछ व्यक्तियों के सुसंगठित समुदाय का नाम ही 'राज्य' है जिसमें प्रभुसत्ता सम्पन्न सरकार होती है। नागरिकों से भिन्न और स्वतंत्र राज्य का कोई अस्तित्व नहीं है, अतः उसे अनुभवातीत वस्तु मान कर उसके अस्तित्व की बात करना भ्रामक है। इसी प्रकार बिजली के करंट को भी ईश्वर की भांति अनुभवातीत वस्तु मानना उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है कि हम करंट को देख या छू नहीं सकते, किंतु हम अपने अनुभव द्वारा कुछ ऐसे प्रभावों के साथ उसका अनिवार्य संबंध स्थापित कर सकते हैं जो उसके अभाव में असंभव

9. वही पुस्तक, पृ० 106

10. वही पुस्तक, पृ० 119-120

हैं। हम देख चुके हैं कि इस तथ्य को स्वयं हीमबेक ने भी स्पष्टतः स्वीकार किया है। इस दृष्टि से करंट निश्चय ही परोक्ष रूप से हमारे अनुभव का विषय हो जाता है। परंतु अनुभवातीत माने जाने वाले ईश्वर के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। करंट के विपरीत हम किसी ऐसे प्रभाव के साथ ईश्वर का अनिवार्य संबंध स्थापित नहीं कर सकते जिसका हम स्वयं अनुभव करते हैं। यह तथ्य ईश्वर को हमारे लिए करंट से पूर्णतः भिन्न प्रकार की वस्तु बना देता है। ईश्वरवादी स्वयं यह मानते हैं कि अनुभवातीत होने के कारण ईश्वर किसी भी रूप में हमारे अनुभव का विषय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में परोक्ष रूप से अनुभव किए जा सकने वाले बिजली के करंट की सभी दृष्टियों से अनुभवातीत ईश्वर के साथ तुलना निश्चय ही भ्रामक है। इस प्रकार हीमबेक ने फ़्ल्यू के मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के विरुद्ध जो आपत्ति उठाई है वह उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती।

(3) आर० एम० हेयर

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, हेयर ने भी उस विचारगोष्ठी में भाग लिया था जिसमें फ़्ल्यू ने अपने मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के आधार पर ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक सिद्ध करके ईश्वरवादियों को गम्भीर चुनौती दी थी। धार्मिक भाषा की सार्थकता के संबंध में हेयर के विचार प्रस्तुत करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वे कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता की कसौटी के रूप में मिथ्यापनीयता-सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करते हैं। इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि:–"फ़्ल्यू ने जो कसौटी प्रस्तुत की है उसके आधार पर वे मुझे पूर्णतः विजयी प्रतीत होते हैं"।[11] इसका तात्पर्य यही है कि फ़्ल्यू की भाँति हेयर भी केवल उन्हीं कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक मानते हैं जो मिथ्यापनीय हों। अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने धार्मिक कथनों की सार्थकता की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है। इन कथनों की सार्थकता की व्याख्या करने के लिए हेयर ने एक नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे 'ब्लिक-सिद्धांत' कहा जाता है। 'ब्लिक' शब्द से उनका तात्पर्य जीवन तथा जगत् के विषय में मनुष्य की एक ऐसी व्यापक एवं स्थायी अभिवृत्ति से है जो तथ्यों और तर्कों पर आधारित नहीं होती किंतु जिसका उसके विचारों तथा आचरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार ब्लिक मनुष्य की एक ऐसी निर्बौद्धिक मनोवृत्ति है जो उसे जीवन और जगत् की समस्याओं के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है। हेयर के विचार में यह ब्लिक तथ्यात्मक न होने के कारण न तो सत्य हो सकता है और न मिथ्या। ऐसी स्थिति में उस कथन को सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध करना व्यर्थ है जिसमें इस ब्लिक की अभिव्यक्ति होती है। ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों को हेयर ऐसे ही कथन मानते हैं जिनके माध्यम से हम अपने ब्लिक को अभिव्यक्त करते हैं। उनके मतानुसार ये कथन तथ्यपरक या संज्ञानात्मक नहीं होते, अतः इन्हें सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ये धार्मिक कथन जीवन और जगत् के संबंध में हमारे ऐसे ब्लिक को अभिव्यक्त करते हैं जिसे सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध करने के लिए बौद्धिक तर्क नहीं दिए जा सकते।

---

11. आर० एम० हेयर, 'न्यू एसेज़ इन फ़िलॉसॉफ़िकल थियॉलॉजी', पृ० 99

ब्लिक की अभिव्यक्ति करने वाले धार्मिक कथनों के इस निर्बौद्धिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हेयर ने एक उदाहरण दिया है जो इस प्रकार है। मान लीजिए एक पागल व्यक्ति निश्चित रूप से यह मानता है कि सभी स्नातक उसकी हत्या करना चाहते हैं। स्नातक उसके साथ चाहे कितना ही अच्छा व्यवहार करें, वह किसी भी स्थिति में अपनी इस मान्यता का परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं होता। उसके लिए स्नातकों द्वारा किए गए किसी भी सद्‌भावनापूर्ण कार्य को वह अपने उपर्युक्त मत के विरुद्ध नहीं मानता। स्पष्ट है कि फ़्ल्यू के मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के अनुसार उसका यह कथन कि "स्नातक मेरी हत्या करना चाहते हैं" वास्तव में तथ्यात्मक कथन नहीं है, अतः इसे सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता।[12] अपने इस उदाहरण द्वारा हेयर यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति के धार्मिक कथन भी ऐसे ही तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक या असंज्ञानात्मक कथन हैं जिन्हें सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध करना सम्भव नहीं है। ये कथन किसी प्रकार के तथ्य का वर्णन नहीं करते, अतः मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के आधार पर इनकी सार्थकता का निर्णय करना उचित नहीं है। हेयर के विचार में संज्ञानात्मक न होते हुए भी ये कथन धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये जीवन और जगत् के प्रति उनके मूल दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से इन कथनों की सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संक्षेप में इसी आधार पर हेयर ने धार्मिक कथनों की सार्थकता और उनके महत्त्व को फ़्ल्यू के मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के आक्रमण से बचने का प्रयास किया है।

परंतु धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के संबंध में हेयर का उपर्युक्त ब्लिक-सिद्धांत संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता। इस सिद्धांत की प्रथम मुख्य कठिनाई यह है कि इसके प्रणेता हेयर एक ओर तो ब्लिक को निर्बौद्धिक अभिवृत्ति मानते हैं जिसके कारण वह सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकता और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि कुछ ब्लिक उचित होते हैं और कुछ अनुचित। उदाहरणार्थ, उनका मत है कि उस पागल व्यक्ति का ब्लिक अनुचित है जो प्रबल विरोधी प्रमाणों के होते हुए भी यह मानता है कि सभी स्नातक उसकी हत्या करना चाहते हैं। यदि उसका यह ब्लिक अनुचित न होता तो हम उसे 'पागल' न कहते और उसकी तुलना में अपने आप को सामान्य तथा स्वस्थ व्यक्ति न मानते। इसका तात्पर्य यही है कि स्नातकों के विषय में हमारा ब्लिक उचित और उस पागल व्यक्ति का ब्लिक अनुचित है। इसी प्रकार हेयर धर्मपरायण व्यक्ति के ब्लिक को 'उचित ब्लिक' मानते हैं।[13] परंतु ब्लिकों के इस वर्गीकरण के संबंध में हेयर की यह मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। हम देख चुके हैं कि वे ब्लिक को केवल निर्बौद्धिक अभिवृत्ति मानते हैं जो न सत्य हो सकती है और न मिथ्या। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि ब्लिक को उचित या अनुचित सिद्ध करने के लिए किसी प्रकार के तर्क नहीं दिए जा सकते। ऐसी स्थिति में हेयर की इस मान्यता का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं रह जाता कि कुछ ब्लिक उचित होते हैं और कुछ अनुचित। यदि

---

12. वही पुस्तक, पृ० 99-100

13. वही पुस्तक, पृ० 100

स्नातकों के विषय में पागल व्यक्ति की अभिवृत्ति वास्तविक अर्थ में ब्लिक है तो उसके इस ब्लिक को अनुचित कहने का हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। इसके विपरीत यदि स्नातकों के संबंध में उसकी अभिवृत्ति वास्तव में अनुचित है जैसा कि हेयर मानते हैं तो उसकी इस अभिवृत्ति को उस अर्थ में 'ब्लिक' नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में वे 'ब्लिक' शब्द को ग्रहण करते हैं। यही बात जीवन तथा जगत् के विषय में धर्मपरायण व्यक्ति और धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के अपने-अपने ब्लिक के संबंध में भी कही जा सकती है। हम तर्कसंगत आधार पर यह नहीं कह सकते कि धर्मपरायण व्यक्ति का ब्लिक उचित है और धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति का ब्लिक अनुचित। यदि हम ऐसा कहते हैं तो हमें 'ब्लिक' शब्द का पूर्णतः भिन्न अर्थ स्वीकार करना होगा। तब हमें यह मानना पड़ेगा कि ब्लिक एक ऐसा तथ्यपरक कथन है जिसके पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं और जिसे इन तर्कों के आधार पर सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि हेयर 'ब्लिक' शब्द के इस अर्थ को स्वीकार नहीं करना चाहेंगे, क्योंकि ऐसा करना उनके ब्लिक-सिद्धांत के पूर्णतः विरुद्ध होगा। इस प्रकार उक्त कठिनाई के कारण हेयर का ब्लिक-सिद्धांत धार्मिक कथनों के अर्थ की संतोषप्रद एवं युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता।

उपर्युक्त कठिनाई के अतिरिक्त हेयर के ब्लिक-सिद्धांत की दूसरी समस्या यह है कि कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति इसका समर्थन नहीं करना चाहेगा। इसका कारण यह है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक कथनों को विशेष अतिप्राकृतिक तथ्यों का वर्णन करने वाले संज्ञानात्मक कथन ही मानते हैं, निर्बौद्धिक अभिवृत्तियों या ब्लिकों को अभिव्यक्त करने वाले असंज्ञानात्मक कथन नहीं। उदाहरणार्थ, जब कोई ईश्वर-भक्त यह कहता है कि "ईश्वर ने इस जगत् की रचना की है" अथवा "ईश्वर हम सबसे प्रेम करता है" तो वह निश्चित रूप से यह मानता है कि उसके ये कथन संवेगात्मक न होकर वास्तव में तथ्यपरक कथन हैं, क्योंकि ये ईश्वर विषयक कुछ विशेष तथ्यों का वर्णन करते हैं। स्पष्ट है कि उसके मतानुसार ये कथन निश्चय ही सत्य हैं। ऐसा धर्मपरायण व्यक्ति हेयर के इस मत को स्वीकार नहीं कर सकता कि उसके धार्मिक कथन निर्बौद्धिक अभिवृत्तियों की अभिव्यक्तियाँ मात्र होने के कारण न सत्य होते हैं और न मिथ्या। इसके विपरीत वह अपने इन कथनों को तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक कथन मानता है जिनका तर्कों द्वारा समर्थन किया जा सकता है। इस प्रकार धर्मपरायण व्यक्ति वस्तुतः हेयर के इस दावे को स्वीकार नहीं करना चाहेगा कि उन्होंने अपने ब्लिक-सिद्धांत द्वारा फ्ल्यू के मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के आक्रमण से धर्म की रक्षा की है।

(4) आर० बी० ब्रेथवेट

हेयर की भाँति ब्रेथवेट भी कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के संबंध में फ़्ल्यू के मिथ्यापनीयता-सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि जिस कथन को मिथ्या सिद्ध करना सम्भव नहीं है वह तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक अथवा संज्ञानात्मक कथन नहीं हो सकता। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि :—"जो प्राक्कल्पना प्रत्येक संभव अनुभवात्मक तथ्य के अनुरूप है वह अनुभवात्मक प्राक्कल्पना नहीं है।.............. यदि व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर है तो उसके न होने पर संसार किस प्रकार भिन्न होता ? जब तक

इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जाता तब तक ईश्वर के अस्तित्व को कोई अनुभवात्मक अर्थ प्रदान नहीं किया जा सकता"।[14] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फ़्ल्यू तथा हेयर के समान ही ब्रेथवेट भी तथ्यात्मक कथनों की सार्थकता के लिए मिथ्यापनीयता को अनिवार्य कसौटी मानते हैं।

अपने एक प्रसिद्ध भाषण, 'ऐन एम्पिरिसिस्ट्स व्यू ऑफ़ दि नेचर ऑफ़ रिलीजियस बिलीफ़' में ब्रेथवेट ने अनुभववाद के आधार पर ही धार्मिक कथनों की सार्थकता की व्याख्या की है। उनका यह भाषण 1955 में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि मिथ्यापनीय न होने के कारण ईश्वर विषयक धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक अथवा संज्ञानात्मक कथन नहीं हैं। उनका मत है कि धार्मिक कथनों को अनुभवाश्रित तथ्यपरक कथन नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये अनुभव पर आधारित न तो विशेष तथ्यों का वर्णन करते हैं और न ही सामान्य वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं का। हम देख चुके हैं कि उनके विचार में प्रत्येक अनुभवाश्रित तथ्यात्मक कथन का मिथ्यापनीय होना अनिवार्य है—फिर चाहे वह किसी विशेष तथ्य का वर्णन करे अथवा किसी सामान्य तथ्य का। परंतु ईश्वरवादी अपने ईश्वर विषयक कथनों को मिथ्यापनीय नहीं मानते, अतः इन कथनों को अनुभवात्मक तथ्यपरक कथन मानना निश्चय ही उचित नहीं होगा। ब्रेथवेट के मतानुसार धार्मिक कथनों को विश्लेषणात्मक कथन भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति इन कथनों को पुनरुक्तियाँ मात्र नहीं मानता। धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः यह दावा करते हैं कि उनके कथन अनुभवातीत सत्ताओं से संबंधित अतिप्राकृतिक तथ्यों का वर्णन करते हैं। ऐसी स्थिति में वे इन धार्मिक कथनों को उस प्रकार की विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं मान सकते जिस प्रकार की विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ गणित और तर्कशास्त्र में पाई जाती हैं। इस प्रकार ब्रेथवेट निश्चित रूप से यह मानते हैं कि ईश्वर विषयक धार्मिक कथन न तो अनुभवात्मक तथ्यपरक कथन हैं और न ही पुनरुक्तियों को अभिव्यक्त करने वाली विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ, अतः इन दोनों दृष्टियों से ये कथन सार्थक नहीं हैं।

परंतु धार्मिक कथनों के स्वरूप के विषय में ब्रेथवेट ने ऊपर जो कुछ कहा है उसका अर्थ यह नहीं है कि वे इन कथनों को निरर्थक और मानव-जीवन के लिए महत्त्वहीन मानते हैं। वस्तुतः हेयर की भाँति वे भी मनुष्य के लिए इन कथनों की सार्थकता एवं महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। जिस सिद्धांत के आधार पर ब्रेथवेट ने धार्मिक कथनों की सार्थकता की व्याख्या की है उसे 'प्रतिबद्धता-सिद्धांत' कहा जा सकता है। इन कथनों के अर्थ और मानव-जीवन के लिए इनके महत्त्व को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने नैतिक कथनों के साथ इनकी तुलना की है। उनका मत है कि नैतिक कथनों तथा धार्मिक कथनों का मूल उद्देश्य एक ही है और वह है आचरण के संबंध में वक्ता के निश्चय को अभिव्यक्त करना। नैतिक कथनों की भाँति धार्मिक कथनों का प्रमुख कार्य भी वक्ता की आचरण-नीति अथवा

---

14. आर० बी० ब्रेथवेट, 'ऐन एम्पिरिसिस्ट्स व्यू ऑफ़ दि नेचर ऑफ़ रिलीजियस बिलीफ़', पृ० 6.

जीवन-पद्धति के विषय में उसकी प्रतिबद्धता को घोषित करना ही होता है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर धार्मिक कथनों के स्वरूप की व्याख्या करते हुए ब्रेथवेट कहते हैं कि:—"जिस प्रकार नैतिक कथन का अर्थ कर्म करने के लिए वक्ता के इरादे को अभिव्यक्त करने में निहित रहता है उसी प्रकार धार्मिक कथन का अर्थ भी विशेष आचरणनीति का अनुसरण करने के संबंध में वक्ता के इरादे को व्यक्त करने में ही विद्यमान रहता है। .... जब तक धार्मिक नियम नैतिक नियम न हों तब तक उनके व्यावहारिक उपयोग की बात करना निरर्थक है। धार्मिक कथनों के अर्थ को खोजने का एक उपाय यह जानना है कि वक्ता इन कथनों में आचरण संबंधी किन नियमों को निहित मानता है। ...... इस प्रकार मेरा विचार यह है कि धार्मिक कथनों का मुख्य उपयोग नैतिक नियमों के समुच्चय के प्रति निष्ठा घोषित करना है। इस निष्ठा के अभाव में 'सच्चा धर्म' सम्भव नहीं है"।[15]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्रेथवेट नैतिक कथनों तथा धार्मिक कथनों में कोई आधारभूत अंतर स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे विशेष आचरण-नीति या जीवन-पद्धति के विषय में मनुष्य के निश्चय अथवा उसकी निष्ठा को अभिव्यक्त करना ही इन दोनों प्रकार के कथनों का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक कथन का प्रयोग करता है तो वह किसी तथ्य का वर्णन न करके वास्तव में यह घोषित करता है कि वह कौन-सी आचरण-नीति का अनुसरण करना चाहता है अथवा वह किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहता है। उदाहरणार्थ, जब कोई ईश्वरोपासक यह कहता है कि "ईश्वर प्रेममय है" तो अपने इस कथन द्वारा वह किसी प्रकार के तथ्य का वर्णन नहीं करता, अपितु अपने इस निश्चय की घोषणा करता है कि "मैं स्वयं प्रेममय जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।" अन्य धार्मिक कथनों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। ब्रेथवेट के विचार में ये कथन किन्हीं तथ्यों का वर्णन करने के स्थान पर वस्तुतः विशेष प्रकार की आचरण-नीति अथवा जीवन-पद्धति के विषय में वक्ता की प्रतिबद्धता या निष्ठा को ही घोषित करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वे धार्मिक कथनों को तथ्यों का वर्णन करने वाले संज्ञानात्मक कथनों से मूलतः भिन्न प्रकार के कथन मानते हैं।

ब्रेथवेट ने यह प्रश्न भी उठाया है कि यदि किन्हीं धर्मों की आचरण-नीति अथवा जीवन-पद्धति समान हो तो उनके कथनों में भेद किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि प्रत्येक धर्म के साथ कुछ विशेष कहानियाँ अनिवार्यतः संबद्ध रहती हैं जिनमें उसके अनुयायी प्रायः विश्वास करते हैं। जब कोई धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक कथनों का प्रयोग करता है तो वह अपने धर्म से संबद्ध कहानियों के विषय में सोचता है और इन कथनों के साथ प्रायः उन्हें जोड़ता है। इन कहानियों के आधार पर ही हम समान जीवन-पद्धति को स्वीकार करने वाले विभिन्न धर्मों के कथनों को एक-दूसरे से पृथक कर सकते हैं। ब्रेथवेट का विचार है कि धर्मों से संबद्ध इन कहानियों का सत्य अथवा वास्तविक

15. आर० बी० ब्रेथवेट, 'ऐन एम्पिरिसिस्ट्स व्यू ऑफ़ दि नेचर ऑफ़ रिलीजियस बिलीफ', जॉन हिक द्वारा सम्पादित 'क्लासिकल ऐंड कन्टेम्प्रेरी रीडिंग्ज़ इन दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन' नामक पुस्तक में संकलित, पृ० 431-433

होना अनिवार्य नहीं है; ये नितांत काल्पनिक कथाएँ भी हो सकती हैं। धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए इन कहानियों को सत्य मानना भी आवश्यक नहीं है। उनके लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि वे इन कहानियों के विषय में सोचें और इनका वास्तविक अर्थ समझें। धार्मिक कहानियों की भूमिका के विषय में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए ब्रेथवेट ने लिखा है कि: "मेरे विचार में धार्मिक कथन का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के लिए धार्मिक कथनों से संबद्ध कहानी की सत्यता में विश्वास करना अनिवार्य नहीं है; जो बात आवश्यक है वह यह है कि कहानी के संबंध में विचार किया जाए-अर्थात, कहानी में जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य समझा जाए"।[16] वस्तुत: ब्रेथवेट यह मानते हैं कि धार्मिक कहानियों का कार्य किसी तथ्य का वर्णन करना अथवा किसी सत्य को प्रमाणित करना नहीं है, अत: इस दृष्टि से ये कहानियाँ तथ्यात्मक नहीं होतीं। इन कहानियों का वास्तविक कार्य तो प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को उस आचरण-नीति या जीवन-पद्धति का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करना ही है जिसे उनके धर्म में स्वीकार किया गया है। ये कहानियाँ सामान्य धर्मपरायण व्यक्तियों को उनके धर्म में स्वीकृत जीवन-पद्धति के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करने के लिए निरंतर प्रोत्साहित करती हैं, अत: मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके लिए इनका बहुत महत्त्व है। इन कहानियों के कारण धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए अपने धर्म से संबंधित जीवन-पद्धति के अनुसार आचरण करना अपेक्षाकृत बहुत सरल हो जाता है। वस्तुत: यही इन कहानियों की प्रमुख उपादेयता है।[17] इसके अतिरिक्त ये कहानियाँ धार्मिक कथनों को नैतिक कथनों से भी पृथक करती हैं जिनके साथ कोई धार्मिक कहानी संबद्ध नहीं रहती। संक्षेप में ब्रेथवेट के मतानुसार इन धार्मिक कहानियों के आधार पर एक धर्म के कथनों को दूसरे धर्म के कथनों से तथा समस्त धार्मिक कथनों को नैतिक कथनों से पृथक किया जा सकता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के विषय में ब्रेथवेट का उपर्युक्त प्रतिबद्धता-सिद्धांत कहाँ तक संतोषप्रद तथा युक्तिसंगत है। इसमें संदेह नहीं है कि उनके इस सिद्धांत में आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, धर्म और नैतिकता में अनिवार्य संबंध है। प्रत्येक धर्म में कुछ नैतिक नियम अथवा सिद्धांत अवश्य पाए जाते हैं जो उसके अनुयाइयों को सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसी कारण धार्मिक कथनों और नैतिक कथनों में पर्याप्त समानता भी दिखाई देती है। ब्रेथवेट ने अपने प्रतिबद्धता-सिद्धांत द्वारा इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनका यह मत भी उचित है कि मनुष्य के लिए सदाचरण संबंधी नैतिक नियमों के अभाव में किसी धर्म को वास्तविक अर्थ में 'धर्म' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त उनकी यह मान्यता भी सत्य है कि प्रत्येक धर्म के साथ कुछ कहानियाँ अनिवार्यत: संबद्ध रहती हैं जो उसके अनुयायियों को सदाचरण करने के लिए प्रेरित करती हैं। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि ब्रेथवेट का उक्त सिद्धांत अंशत: निश्चय ही

---

16. वही पुस्तक, पृ० 436

17. वही पुस्तक, पृ० 437

सत्य है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका यह सिद्धांत कठिनाइयों तथा दोषों से पूर्णतः मुक्त है। वस्तुतः हेयर के ब्लिक-सिद्धांत की भाँति ब्रेथवेट के इस प्रतिबद्धता-सिद्धांत के विरुद्ध भी अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

हेयर के समान ब्रेथवेट भी यह दावा करते हैं कि उनका सिद्धांत अनुभववाद के आधार पर धार्मिक कथनों के अर्थ को उसी रूप में स्पष्ट करता है जिस रूप में स्वयं धर्मपरायण व्यक्ति अपने जीवन में इन कथनों का प्रयोग करते हैं।[18] परंतु वास्तव में ब्रेथवेट का यह दावा उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। जैसा कि हम हेयर के सिद्धांत की आलोचना करते हुए पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक कथनों को तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक कथन ही मानते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई ईश्वरोपासक यह कहता है कि "ईश्वर प्रेममय है" तो वह निश्चित रूप से यह मानता है कि अपने इस कथन द्वारा वह एक यथार्थ अतिप्राकृत्तिक सत्ता के वास्तविक गुण का वर्णन कर रहा है। ऐसी स्थिति में वह ब्रेथवेट के इस मत को निश्चय ही स्वीकार नहीं करेगा कि अपने इस कथन द्वारा वह किसी तथ्य का वर्णन न कर के केवल इतना ही कहना चाहता है कि "मैं प्रेममय जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।" इसका अर्थ यही है कि वह अपने ईश्वर विषयक कथनों को वास्तव में तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन ही मानता है, किसी विशेष आचरण-नीति अथवा जीवन-पद्धति के प्रति समर्थन अभिव्यक्त करने वाले असंज्ञानात्मक कथन नहीं। यदि ब्रेथवेट के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो धर्मपरायण व्यक्तियों के अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित उन आधारभूत विश्वासों का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता जिन्हें वे तथ्यपरक विश्वास मानते हैं। इसी कारण वे धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के संबंध में हेयर के सिद्धांत की भाँति ब्रेथवेट के सिद्धांत का भी समर्थन नहीं करना चाहेंगे।

ब्रेथवेट के सिद्धांत के विरुद्ध दूसरी मुख्य आपत्ति यह है कि वे धार्मिक कथनों तथा नैतिक कथनों में कोई मूल भेद स्वीकार नहीं करते। यह सत्य है कि उन्होंने इन दोनों प्रकार के कथनों में कुछ अंतर बताए हैं जो उनके विचार में महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, उनके अनुसार इन दोनों प्रकार के कथनों में पहला अंतर यह है कि आचरण-नीति को किसी एक धार्मिक कथन में अलग से स्पष्ट नहीं किया जाता जबकि नैतिक कथन में ऐसा किया जाता है। परंतु ब्रेथवेट का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मूल सिद्धांत या विचारधारा से पृथक किसी एक नैतिक कथन में आचरण-नीति को व्यक्त करना संभव नहीं है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के कथनों में दूसरा अतर स्पष्ट करते हुए ब्रेथवेट कहते हैं कि धार्मिक कथनों के माध्यम से आधारभूत नैतिक शिक्षा अमूर्त रूप में न दे कर व्यावहारिक उदाहरणों द्वारा ही दी जाती है। इसका अर्थ यह है कि नैतिक कथनों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। परंतु ब्रेथवेट की यह मान्यता भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि किसी सिद्धांत से संबंधित नैतिक कथनों के संदर्भ में भी व्यावहारिक उदाहरण दिए जा सकते हैं और दिए जाते हैं। सुखवाद, उपयोगितावाद आदि नैतिक सिद्धांतों के संबंध में दिए जाने वाले व्यावहारिक उदाहरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। धार्मिक तथा नैतिक कथनों मेंतीसरा अंतर बताते हुए

---

18. 'ऐन एम्पिरिसिस्ट्स व्यू ऑफ़ दि नेचर ऑफ़ रिलीजियस बिलीफ़', पृ० 11

ब्रेथवेट ने यह कहा है कि धार्मिक कथनों का संबंध केवल बाह्य आचरण से ही नहीं, अपितु मनुष्य की आंतरिक अनुभूति से भी है। इसका तात्पर्य यह है कि उनके मतानुसार नैतिक कथनों का संबंध केवल बाह्य आचरण से ही होता है। परंतु मेरे विचार में ब्रेथवेट का यह मत भी उचित नहीं हैं, क्योंकि वास्तव में नैतिक कथन मनुष्य के बाह्य आचरण और उसके आंतरिक चरित्र दोनों से ही अनिवार्यतः संबद्ध रहते हैं। अंत में ब्रेथवेट ने धार्मिक तथा नैतिक कथनों में एक अन्य अंतर भी बताया है जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं—अर्थात, धार्मिक कथनों के साथ कुछ कहानियां अनिवार्यतः संबद्ध रहती हैं जबकि नैतिक कथनों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। परंतु ब्रेथवेट के इस मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यह कोई मूलभूत अंतर नहीं है जिसके आधार पर धार्मिक कथनों को नैतिक कथनों से पृथक किया जा सके। वस्तुतः इन दोनों प्रकार के कथनों में मूल भेद यही है कि धार्मिक कथनों के साथ किसी दैवी या अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति मनुष्य की पूजा की भावना अनिवार्यतः संबद्ध रहती है जबकि नैतिक कथनों के साथ उसकी इस भावना का कोई संबंध नहीं होता। परंतु ब्रेथवेट ने इन दोनों प्रकार के कथनों में इस आधारभूत अंतर की उपेक्षा की है। वस्तुतः वे धार्मिक कथनों और नैतिक कथनों को लगभग समान ही मान लेते हैं जो निश्चय ही उचित नहीं है।

ब्रेथवेट के प्रतिबद्धता-सिद्धांत के विरुद्ध तीसरी प्रमुख आपत्ति यह है कि धार्मिक कथनों से संबद्ध कहानियों के स्वरूप के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। उनका यह कथन तो उचित है कि ये कहानियाँ धर्मपरायण व्यक्तियों को सदाचरण के लिए प्रेरित करती हैं, किंतु उनके इस मत का समर्थन करना अत्यंत कठिन है कि इसके लिए इन कहानियों की सत्यता में विश्वास करना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः जब तक कोई व्यक्ति किसी कहानी को वास्तविक अथवा सम्भावित रूप में सत्य नहीं मान लेता तब तक वह कहानी उसके आचरण को प्रभावित नहीं कर सकती। यह सत्य है कि किसी अच्छे उपन्यास की कहानी का हम पर गहरा प्रभाव पड़ता है, किंतु इसका कारण यही है कि हम उस कहानी को पूर्णतः काल्पनिक न मान कर उसके सम्भाव्य सत्य को स्वीकार करते हैं। जो कहानी हमें परियों की कथा जैसी पूर्णतः काल्पनिक प्रतीत होती है उसका निश्चय ही हमारे आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी कहानी को हम केवल असंभव कल्पना मान कर भूल जाते हैं या उसकी उपेक्षा करते हैं। स्पष्ट है कि यदि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धर्म से संबद्ध कहानियों को केवल काल्पनिक मानते हैं और उनकी सत्यता में विश्वास नहीं करते तो निश्चय ही उनके जीवन पर इन कहानियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस प्रकार ब्रेथवेट का यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता कि इन कहानियों की सत्यता में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में उपर्युक्त सभी आपत्तियों के कारण ब्रेथवेट का प्रतिबद्धता-सिद्धांत पूर्णतः संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता।

(5) टॉमस मेकफ़र्सन

एक अन्य दार्शनिक, टॉमस मैकफ़र्सन ने कुछ भिन्न प्रकार से धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के संबंध में फ़्ल्यू की चुनौती का उत्तर दिया है। वे एयर तथा फ़्ल्यू के इस मत को तो स्वीकार करते हैं कि किसी कथन के तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक होने के लिए

अनुभव द्वारा उसका सत्यापनीय और मिथ्यापनीय होना अनिवार्य है। इस दृष्टि से कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के विषय में उनका मत हेयर और ब्रेथवेट के मत से भिन्न नहीं है। परंतु धार्मिक कथनों की सार्थकता के संबंध में उनका दृष्टिकोण एयर, फ़्ल्यू, हेयर तथा ब्रेथवेट के दृष्टिकोण से निश्चय ही भिन्न है। जिस सिद्धांत के आधार पर मैकफ़र्सन ने धार्मिक कथनों की सार्थकता की व्याख्या की है उसे 'अवर्णनीयता-सिद्धांत' की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि वे धर्म संबंधी अलौकिक विषयों को अवर्णनीय मानते हैं। धार्मिक कथनों के संबंध में इस सिद्धांत का प्रतिपादन उन्होंने अपने एक लेख, 'रिलिजन ऐज़ दि इनऐक्सप्रेसिबल' में किया है जो पूर्वोल्लिखित पुस्तक, 'न्यू एसेज़ इन फिलॉसॉफिकल थियॉलॉजी' में संकलित है। जैसा कि इस लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इसमें उन्होंने धर्म को मूलतः अवर्णनीय सिद्ध करने का प्रयास किया है।

मैकफ़र्सन अपने उपर्युक्त लेख का आरंभ धार्मिक कथनों के संबंध में एक मूल समस्या से करते हैं जिसे 'विरोधाभास की समस्या' कहा जा सकता है। उनके मतानुसार धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः ऐसी बातें कहते हैं जो परस्पर विरोधी होने के कारण निरर्थक प्रतीत होती हैं। अपनी इस मान्यता को मैकफ़र्सन ने ईसाई धर्म के सिद्धांतों से संबंधित कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। इस धर्म के अनुयाई प्रायः यह कहते हैं कि "ईश्वर विश्वातीत है, किंतु फिर भी वह हम सब के भीतर है" "ईसा की मृत्यु हो गई थी, परंतु फिर भी वह जीवित है", "मनुष्य की रचना ईश्वर की आकृत्ति के अनुरूप ही की गई है, किंतु ईश्वर की कोई आकृत्ति नहीं है," इत्यादि। धर्मपरायण व्यक्तियों की ऐसी बातों को प्रायः निरर्थक माना जाता हैं।[19] इस समस्या के संबंध में मैकफ़र्सन ने अनेक प्रश्न उठाए हैं जिसमें से कुछ ये हैं :– ऐसे धार्मिक विश्वासों का क्या अर्थ है और हम इन्हें कैसे समझ सकते हैं? क्या इन्हें समझने का प्रयास करना अनुचित हैं? क्या ये धार्मिक विश्वास निरर्थक हैं? यदि ये निरर्थक नहीं हैं तो ऐसा क्यों है? यदि ये निरर्थक हैं तो इन्हें किस अर्थ में 'निरर्थक' कहा जा सकता है। क्या ये विश्वास केवल इसलिए निरर्थक हैं कि इनका कोई यथातथ्य अर्थ नहीं है? क्या यथातथ्य अर्थ से भिन्न इनका कोई अधिक गहरा अर्थ हैं? क्या इन विश्वासों का सामान्य यथातथ्य अर्थ से पूर्णतः भिन्न अर्थ होता है? मैकफ़र्सन का कथन है कि धार्मिक विश्वासों के संबंध में ये सभी तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्न हमारे समक्ष एक कठिन समस्या उपस्थित करते हैं। इस समस्या का संबंध हमारे लिए इन विश्वासों की सार्थकता और बोधगम्यता से है। अपने उपर्युक्त लेख में मैकफर्सन ने धार्मिक विश्वासों से संबंधित इसी जटिल समस्या का संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

एयर, फ़्ल्यू, हेयर तथा ब्रेथवेट की भाँति मैकफर्सन भी यह मानते हैं कि धार्मिक कथन तथ्यपरक अथवा सज्ञानात्मक नहीं होते–अर्थात, वे किसी प्रकार के तथ्यों का वर्णन नहीं करते। तथ्यों से संबंधित न होने के कारण ये कथन अनुभव द्वारा न तो सत्यापनीय होते हैं और न मिथ्यापनीय, अतः सत्यापनीयता-सिद्धांत अथवा मिथ्यापनीयता-सिद्धांत के आधार पर इन्हें सत्य या मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयास करना व्यर्थ है। मैकफ़र्सन के अनुसार

---

19. 'न्यू एसेज़ इन फ़िलॉसॉफिकल थियॉलॉजी', पृ० 131-132

इन धार्मिक कथनों के संबंध में तर्कीय प्रत्यक्षवादियों का यह मत उचित है कि ये कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। धर्मपरायण व्यक्तियों की भूल यह है कि वे इन्हें तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन मान लेते हैं जिसके फलस्वरूप उनके समक्ष इन कथनों की सार्थकता की समस्या उपस्थित हो जाती है। इस समस्या का एकमात्र समाधान यही है कि जिन अलौकिक विषयों के साथ इन धार्मिक कथनों का संबंध है उनके विषय में पूर्णतः मौन रहा जाए। वस्तुतः ये विषय मानवीय अनुभव तथा भाषा से परे होने के कारण अवर्णनीय हैं। इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए जब धर्मपरायण व्यक्ति इन अलौकिक विषयों का वर्णन करने का प्रयास करते हैं तो उन्हें बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस कठिनाई से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि इन विषयों के संबंध में कुछ भी न कहा जाए। धार्मिक विषयों की अवर्णनीयता के संबंध में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए मैकफर्सन ने लिखा है कि :– "कुछ ऐसी बातें हैं जो कही ही नहीं जा सकतीं। जब तक कोई व्यक्ति इन्हें कहने का प्रयास नहीं करता तब तक कोई कठिनाई नहीं होती। परंतु यदि कोई व्यक्ति इन्हें कहने का प्रयत्न करता है तो उसे परिणामों का सामना करना चाहिए। हमें उस बात को अभिव्यक्त करने का प्रयास नहीं करना चाहिए जो अवर्णनीय है। धर्मशास्त्री कुछ ऐसी बातें कहने का प्रयत्न करते हैं जो अवर्णनीय बातों की श्रेणी में आती हैं। केवल मौन रहना ही इस कठिनाई से बचने का उपाय है"।[20] मैकफ़र्सन के मतानुसार, धर्मशास्त्रियों की मूल समस्या यह है कि वे उनके द्वारा बताए गए उपर्युक्त उपाय को स्वीकार नहीं करते और जो प्रत्यक्षवादी दार्शनिक इसे स्वीकार करते हैं उन्हें वे अपने शत्रु मानते हैं। परंतु धर्मशास्त्रियों का यह दृष्टिकोण उचित और युक्तिसंगत नहीं है।

मैकफ़र्सन का कथन है कि उनसे पूर्व भी कुछ दार्शनिकों ने धर्म के अलौकिक विषयों की अवर्णनीयता के संबंध में उनके उपर्युक्त मत का पूर्णतः समर्थन किया है। इस संबंध में उन्होंने ऑटो तथा विटगिन्स्टाइन के विचारों का उल्लेख किया है जो इन विषयों को अवर्णनीय मानते हैं। सातवें अध्याय में धार्मिक अनुभव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए हम बता चुके हैं कि ऑटो के अनुसार धार्मिक अनुभव एक विशेष दिव्यानुभूति या दिव्य तत्त्व (न्यूमिनस) का अनुभव है जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी कारण वे धर्म को मूलतः निर्बौद्धिक विषय मानते हैं जो मानवीय तर्कबुद्धि से परे है और जिसे भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करना संभव नहीं है। मैकफ़र्सन धर्म के संबंध में ऑटो के इस मत को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि ऑटो की भाँति विटगिन्स्टाइन भी धर्म संबंधी अलौकिक विषयों को अवर्णनीय मानते हैं। विटगिन्स्टाइन के विचार में धर्म का मूल तत्त्व रहस्यमय है जिसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। हम सार्थक रूप से केवल उन्हीं विषयों की चर्चा कर सकते हैं। जिनका संबंध इस जगत् और प्राकृतिक विज्ञान से है। जो विषय इस जगत् तथा विज्ञान से परे होने के कारण रहस्यमय हैं उनके संबंध में हम सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। ऐसे विषयों की चर्चा करना और इनसे संबंधित प्रश्न उठा कर उनके उत्तर खोजना हमारे लिए नितांत व्यर्थ है। धर्म की रहस्यमयता के

---

20. वही पुस्तक, पृ० 132-133

विषय में अपना यह मत विटगिन्स्टाइन ने अपनी प्रथम पुस्तक 'ट्रैक्टेटस लॉजिको-फिलॉसॉफ़िकस' के अंतिम पृष्ठों में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। धर्म और उससे संबंधित विषयों को रहस्यमय तथा अवर्णनीय मानते हुए वे कहते हैं:– "रहस्यमय यह नहीं है कि संसार की वस्तुएँ कैसी हैं, अपितु यह है कि संसार का अस्तित्व है।........ संसार को सीमित समष्टि के रूप में अनुभव करना ही रहस्यपूर्ण है। जब उत्तर को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता तो प्रश्न को भी शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।......... संशयवाद अखंडनीय नहीं, अपितु स्पष्टतः निरर्थक है, जब वह वहाँ संशय उठाने का प्रयास करता है जहाँ प्रश्न पूछे ही नहीं जा सकते। इसका कारण यह है कि संशय केवल वहीं हो सकता है जहाँ प्रश्न सम्भव हो; प्रश्न केवल तभी किया जा सकता है जब उत्तर दिया जा सके, और उत्तर वहीं हो सकता है जहाँ कुछ कहना सम्भव हो। हम यह अनुभव करते हैं कि समस्त सम्भव वैज्ञानिक प्रश्नों के उत्तर दे दिए जाने के बाद भी जीवन की समस्याएँ अछूती ही रह जाती हैं।......... वस्तुतः कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें शब्दों में कहा ही नहीं जा सकता। वे स्वयं ही अपने आप को अभिव्यक्त करती हैं। ये बातें ही रहस्यमयी हैं। जिसके विषय में हम कुछ कह नहीं सकते उसके संबंध में हमें मौन ही रहना चाहिए।"[21] विटगिन्स्टाइन के उपर्युक्त विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे धर्म और उससे सबंधित विषयों को रहस्यपूर्ण तथा अवर्णनीय मानते हैं। इसी कारण मैकफ़र्सन ने अपने पूर्वोल्लिखित लेख में उनके इन विचारों का पूर्णतः समर्थन किया है।

मैकफ़र्सन के अनुसार, एयर, कार्नैप, शिलक आदि प्रत्यक्षवादी दार्शनिक भी धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक कह कर मूलतः इसी मत को स्वीकार करते हैं कि धर्म तथा उससे संबंधित विषय वास्तव में अवर्णनीय हैं। हम अपनी भाषा के माध्यम से इन विषयों के संबंध में सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। परंतु मैकफ़र्सन का कथन है कि प्रत्यक्षवादियों की इसी मान्यता के कारण धर्मशास्त्रियों ने उन्हें धर्म के शत्रु मान लिया है जो उन की बहुत बड़ी भूल है। वस्तुतः धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक बता कर प्रत्यक्षवादियों ने यही सिद्ध किया है कि हम धर्म के विषय में सार्थक चर्चा नहीं कर सकते, अतः इस संबंध में हमें मौन ही रहना चाहिए। अपने इस दृष्टिकोण द्वारा प्रत्यक्षवादियों ने धर्म की बहुत बड़ी सेवा की है। धर्म के संबंध में प्रत्यक्षवादियों के इसी योगदान की व्याख्या करते हुए मैकफर्सन कहते हैं कि:–"प्रत्यक्षवादी दर्शन को सामान्यतः धर्म का शत्रु माना जाता है। परंतु धार्मिक कथनों को 'निरर्थक' कहना धर्म का विरोधी होना नहीं है। इसे उन लोगों पर आक्रमण समझा जा सकता है जो धर्म के नाम पर उसे विकृत कर रहे हैं। इसे धर्म के विषय में सत्य की ओर वापसी के रूप में भी समझा जा सकता है।......... धर्म के संबंध में जो आवश्यक है वह है उसका निर्बौद्धिक पक्ष–वह पक्ष जिसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ऑटो तथा विटगिन्स्टाइन इसी दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। क्या हम ऑटो को धर्म का शत्रु मान लें? हम विटगिन्स्टाइन को इसका मित्र क्यों न मानें?....

21. विटगिन्स्टाइन के 'ट्रैक्टेटस लॉजिको-फ़िलॉसॉफ़िकस' से आई० टी० रैम्से द्वारा सम्पादित पुस्तक, 'वर्ड्स अबाउट गॉड–दि फिलॉसॉफ़ी आफ़ रिलिजन' में उद्धृत, पृ० 95-96

धर्मशास्त्रियों ने प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों को धर्म के शत्रु मान लिया है। परंतु इसका कारण यह हो सकता है कि धर्मशास्त्रियों ने यह सोचने की भूल की है कि प्रत्यक्षवादियों ने जो बिल्कुल सही बात कही है वह धर्म के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर आक्रमण करती है, जबकि यह जिस पर आक्रमण करती है उसका न्यूनतम महत्त्व है।........ शायद प्रत्यक्षवादी दर्शन ने धर्म की सेवा ही की है। धर्मशास्त्रियों के कथनों को अपने ढंग से निरर्थक सिद्ध कर के प्रत्यक्षवादियों ने यह समझने में हमारी सहायता की है कि धर्म अवर्णनीय क्षेत्र के अंतर्गत आता है। और यह सत्य हो सकता है।........ ऑटो भी अपने ढंग से यही कहना चाहते थे। प्रत्यक्षवादी धर्मशास्त्र के शत्रु हो सकते हैं, किंतु वे धर्म के मित्र हैं"।[22] मैकफ़र्सन के उपर्युक्त विस्तृत उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों को धर्म के प्रबल समर्थक मानते हैं और प्रत्यक्षवादी दर्शन को वास्तविक अर्थ में धर्म के सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं।

परंतु पूर्ववर्णित अन्य असंज्ञानात्मक सिद्धांतों की भांति मैकफ़र्सन के इस सिद्धांत में भी अनेक कठिनाइयां हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि एयर, फ़्ल्यू आदि के समान ही मैकफ़र्सन भी धार्मिक कथनों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन नहीं मानते। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्तियों के दृष्टिकोण से विचार करने पर मैकफर्सन के सिद्धांत के विरुद्ध भी वही आपत्ति उठाई जा सकती है जो अन्य असंज्ञानवादियों के सिद्धांतों के विरुद्ध उठाई गई हैं। धर्मपरायण व्यक्ति मैकफ़र्सन के इस मत को कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि उनके धार्मिक कथन तथ्यात्मक न होकर उन विषयों का वर्णन करने का विफल प्रयास मात्र हैं जो वास्तव में अवर्णनीय हैं। यदि वे इस मत को सत्य मान लें तो उनके धार्मिक कथनों की वह वस्तुनिष्ठता पूर्णतः समाप्त हो जाती है जिसका वे दावा करते हैं। इस कठिनाई का उल्लेख हम पूर्ववर्णित असंज्ञानात्मक सिद्धांतों के संदर्भ में पहले ही कर चुके हैं, अतः यहाँ इसके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

इस कठिनाई के अतिरिक्त मैकफ़र्सन के सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि इसे स्वीकार कर लेने पर धर्म के विषय में संपूर्ण वार्तालाप और विचार-विमर्श निरर्थक हो जाता है। यदि भाषा के माध्यम से धर्म के विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता तो उससे संबंधित किसी प्रकार की चर्चा का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसका अंतिम परिणाम यही हो सकता है कि सभी धर्मपरायण व्यक्ति, संस्थाएं तथा धर्म-दार्शनिक धर्म के संबंध में पूर्णतः मौन हो जाएँ और वास्तव में मैकफ़र्सन अपने सिद्धांत द्वारा यही कहना चाहते हैं। परंतु यह समझना कठिन नहीं है कि अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति और धर्म-दार्शनिक इस स्थिति को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहेंगे, क्योंकि ऐसा करने से वे धर्म के विषय में परस्पर किसी प्रकार का वार्तालाप अथवा विचार-विमर्श नहीं कर पाएंगे।

---

22. 'न्यू एसेज़ इन फ़िलॉसॉफ़िकल थियॉलॉजी', पृ० 139-140

मैकफ़र्सन के सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो धर्म संबंधी सत्यों तथा अंधविश्वासों में भेद करना असंभव हो जाएगा। जब हम धर्म के विषय में कुछ कह ही नहीं सकते तो हम यह कैसे बता सकते हैं कि उससे संबंधित कौन-सा विचार सत्य और कौन-सा केवल अंधविश्वास है। स्पष्ट है कि मैकफ़र्सन का सिद्धांत धार्मिक सिद्धांतों के तुलनात्मक विवेचन तथा मूल्यांकन को असंभव बना देता है। इसके अनुसार, धर्म संबंधी समस्त सिद्धांत समान रूप से निरर्थक हैं, क्योंकि ये सभी अवर्णनीय विषयों के वर्णन का प्रयास करते हैं।

अंत में मैकफ़र्सन की इस मान्यता को भी स्वीकार करना अत्यंत कठिन है कि प्रत्यक्षवादी दार्शनिक वस्तुतः धर्म के समर्थक हैं। हम देख चुके हैं कि ये दार्शनिक अतिप्राकृतिक सत्ताओं से संबंधित समस्त धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं। इन दार्शनिकों के विचार में ये कथन अनुभव द्वारा सत्यापनीय तथा मिथ्यापनीय न होने के कारण न तो सत्य हो सकते हैं और न मिथ्या। धर्म के संबंध में प्रत्यक्षवादियों की इस आधारभूत मान्यता को ध्यान में रखते हुए मैकफर्सन का यह कथन उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि वे वास्तविक अर्थ में धर्म का समर्थन करते हैं। एयर के सिद्धांत पर विचार करते हुए हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म के लिए प्रत्यक्षवादियों का सिद्धांत निरीश्वरवाद, अज्ञेयवाद तथा संशयवाद की अपेक्षा कहीं अधिक घातक है, क्योंकि यह सिद्धांत धार्मिक कथनों की संज्ञानात्मक सार्थकता को ही स्वीकार नहीं करता। इस सिद्धांत के संबंध में मैकफर्सन की यह व्याख्या युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि यह धार्मिक विषयों को अवर्णनीय मानता है। वास्तविक स्थिति यह है कि इस सिद्धांत के अनुसार अनुभवातीत होने के कारण धार्मिक विषय मनुष्य के लिए संज्ञानात्मक दृष्टि से पूर्णतः निरर्थक हैं। संक्षेप में उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के कारण धार्मिक भाषा की सार्थकता के संबंध में मैकफ़र्सन के अवर्णनीयता-सिद्धांत को भी पूर्णतः संतोषप्रद नहीं माना जा सकता।

3. संज्ञानात्मक सिद्धांत

अभी तक हमने धार्मिक भाषा के विषय में उन सिद्धांतों की विवेचना की है जो अलौकिक अथवा दैवी सत्ताओं से संबंधित कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक या असंज्ञानात्मक कथन मानते हैं और इसी कारण जिन्हें 'असंज्ञानात्मक सिद्धांत' कहा जाता है। हम देख चुके हैं कि मूलतः इसी विचारधारा को स्वीकार करते हुए फ्ल्यू ने ईश्वरवादियों को यह चुनौती दी है कि वे अपने ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक अथवा संज्ञानात्मक कथन सिद्ध करें—अर्थात, वे कुछ ऐसे तथ्य प्रस्तुत करें जिनके द्वारा इन कथनों को मिथ्या प्रमाणित किया जा सके। कुछ समकालीन ईश्वरवादी दार्शनिकों ने फ़्ल्यू की इस चुनौती का उत्तर देते हुए यह कहा है कि ईश्वर विषयक कथन वास्तव में तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन हैं, क्योंकि इन कथनों को कम से कम सिद्धांततः मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है। इन दार्शनिकों में बेसिल मिचल, आइ०एम० क्रौम्बी तथा जॉन हिक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी दार्शनिकों का निश्चित मत है कि ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक अथवा संज्ञानात्मक कथन हैं, क्योंकि ये कुछ अलौकिक

तथ्यों का वर्णन कर के हमें विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान करते हैं और इसी कारण इन्हें मिथ्या प्रमाणित करना संभव है। इन दार्शनिकों की इसी आधारभूत मान्यता को ध्यान में रखते हुए इनके सिद्धांतों को 'संज्ञानात्मक सिद्धांत' कहा जाता है। इस प्रकार **संज्ञानात्मक सिद्धांत वे सिद्धांत हैं जो यह मानते हैं कि धार्मिक कथन तथ्यपरक, सूचनात्मक तथा विशेष ज्ञान प्रदान करने वाले कथन होते हैं और इन्हें कम से कम सिद्धांततः सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है।** इन संज्ञानात्मक सिद्धांतों के समर्थक असंज्ञानवादियों की भाँति कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के लिए फ़्ल्यू द्वारा प्रस्तुत मिथ्यापनीयता की कसौटी को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। परंतु असंज्ञानवादियों के विपरीत उनका मत है कि इस कसौटी को स्वीकार करते हुए भी ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक कथन माना जा सकता है, क्योंकि ये कथन मिथ्यापनीय हैं। इस प्रकार संज्ञानवादी दार्शनिकों ने फ़्ल्यू की चुनौती का जो उत्तर दिया है वह असंज्ञानवादी दार्शनिकों के उत्तर के ठीक विपरीत है। अब हम धार्मिक भाषा की सार्थकता के संबंध में कुछ प्रमुख संज्ञानवादी दार्शनिकों के सिद्धांतों पर विचार करेंगे।

(1) बेसिल मिचल

जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, फ़्ल्यू तथा हेयर की भाँति बेसिल मिचल ने भी उस विचारगोष्ठी में भाग लिया था जिसमें फ़्ल्यू ने ईश्वरवादियों के समक्ष उपर्युक्त चुनौती प्रस्तुत की थी। परंतु मिचल ने इस चुनौती का जो उत्तर दिया है वह हेयर द्वारा दिए गए उत्तर से भिन्न है। सर्वप्रथम हेयर के विपरीत वे यह मानते हैं कि ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक या असंज्ञानात्मक न होकर वस्तुतः तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक होते हैं। कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के लिए फ़्ल्यू ने मिथ्यापनीयता की जो कसौटी प्रस्तुत की है उसी के आधार पर मिचल ने इन ईश्वर विषयक कथनों को संज्ञानात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया है। वे यह मानते हैं कि फ़्ल्यू की उक्त कसौटी द्वारा ईश्वर संबंधी कथनों को मिथ्या प्रमाणित करना संभव है, अतः ये कथन संज्ञानात्मक अथवा तथ्यपरक कथन हैं। अपनी इस मान्यता के समर्थन में एक उदाहरण देते हुए मिचल ने कहा है कि संसार में अनावश्यक तथा अकारण दुःख की उपस्थिति इस कथन को मिथ्या सिद्ध करती है कि "ईश्वर हम सबसे प्रेम करता है।" ऐसी स्थिति में फ़्ल्यू की कसौटी के अनुसार ईश्वर विषयक इस कथन को तथ्यपरक कथन माना जा सकता है। मिचल के शब्दों में:—"धर्मशास्त्री निश्चय ही इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि दुःख संबंधी तथ्य इस कथन के विरुद्ध हैं कि ईश्वर मनुष्यों से प्रेम करता है। इस प्रकार धर्म शास्त्री दुःख से संबंधित तथ्य को ईसाई धर्म के सिद्धांत के विरुद्ध मानता है"।[23] मिचल का कथन है कि इस तथ्य को स्वीकार करने के कारण ही ईश्वरवादियों के समक्ष वह समस्या उपस्थित होती है जिसे 'अशुभ की समस्या' कहा जाता है और जो ईश्वरवाद के लिए अत्यंत जटिल समस्या है।

---

23. वही पुस्तक, पृ० 103

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मिचल के मतानुसार ईश्वरवादी संसार में दु:ख की उपस्थिति से संबंधित तथ्य को पूर्णतः अथवा निश्चित रूप से उपर्युक्त ईश्वर विषयक कथन के विरुद्ध नहीं मान सकता, क्योंकि वह अपनी आस्था द्वारा ईश्वर में विश्वास करने के लिए प्रतिबद्ध है। वस्तुतः उसका दृष्टिकोण निष्पक्ष प्रेक्षक का न हो कर एक श्रद्धालु का दृष्टिकोण होता है, अतः वह किसी भी तथ्य को ईश्वर विषयक कथनों का निश्चित रूप से खंडन करने वाला तथ्य नहीं मानेगा।[24] इस प्रकार मिचल का विचार है कि ईश्वरवादी कुछ तथ्यों को ईश्वर संबंधी कथनों के विरुद्ध तो मान सकता है, किंतु वह ऐसे किसी तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकता जो निश्चित रूप से इन कथनों का खंडन करता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मिचल ईश्वरवादियों के समक्ष फ़्ल्यू द्वारा प्रस्तुत चुनौती का युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद उत्तर देने में कहाँ तक सफल हो पाए हैं। क्या वे मिथ्यापनीयता की कसौटी के अनुसार ईश्वर विषयक कथनों को वास्तव में तथ्यपरक या संज्ञानात्मक सिद्ध कर सके हैं? मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि मिचल ईश्वर संबंधी कथनों को वास्तविक अर्थ में मिथ्यापनीय नहीं मानते। एक ओर तो वे यह कहते हैं कि ईश्वरवादी कुछ तथ्यों को इन कथनों के विरुद्ध मानता है जिनके आधार पर इन्हें मिथ्या सिद्ध किया जा सकता हैं, परंतु दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि कोई भी ईश्वरवादी ईश्वर में अपनी आस्था के कारण किसी भी तथ्य को पूर्णतः अथवा निश्चित रूप से इन कथनों के विरुद्ध नहीं मान सकता। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि ईश्वरवादी के लिए ईश्वर विषयक कथन वास्तव में मिथ्यापनीय हो ही नहीं सकते। ईश्वर में अपनी आस्था के कारण उसके लिए इन कथनों को सर्वदा सत्य मानना अनिवार्य है। वस्तुतः मिचल ने ईश्वर संबंधी कथनों के 'मिथ्यापनीय होने' और 'पूर्णतः या निश्चित रूप से मिथ्यापनीय होने' में जो भेद किया है वह भ्रामक एवं निरर्थक है। कोई कथन या तो मिथ्यापनीय हो सकता है अथवा मिथ्यापनीय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में मिचल का यह कहना निरर्थक है कि ईश्वर विषयक कथन मिथ्यापनीय तो हैं, किंतु वे पूर्णतः अथवा निश्चित रूप से मिथ्यापनीय नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह भेद ईश्वरवाद के उन आलोचकों को अपने शब्द-जाल में उलझाने के लिए ही किया है जो मिथ्यापनीय न होने के कारण ईश्वर संबंधी कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक या असंज्ञानात्मक मानते हैं। परंतु इससे वास्तव में मिचल के मत की पुष्टि नहीं होती। जब वे यह कहते हैं कि ईश्वर विषयक कथन मिथ्यापनीय तो हैं किंतु निश्चित रूप से मिथ्यापनीय नहीं हैं तो इससे उनका तात्पर्य यही है कि ये कथन मिथ्यापनीय प्रतीत होते हैं, परंतु वस्तुतः ये मिथ्यापनीय नहीं हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि उनकी यह मान्यता इन कथनों को हेयर के ब्लिकों के समान ही निर्बौद्धिक तथा अमिथ्यापनीय बना देती है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि मिचल वास्तव में ईश्वर विषयक कथनों को अमिथ्यापनीय ही मानते हैं, अतः वे फ़्ल्यू की चुनौती का कोई तर्कसंगत और संतोषजनक उत्तर देने में सफल नहीं हो सके।

---

24 वही पुस्तक, पृ० 103.

(2) आइ० एम० क्रौम्बी

फ़्ल्यू, हेयर और मिचल की भाँति क्रौम्बी ने भी धार्मिक भाषा की सार्थकता के विषय में आयोजित उस विचारगोष्ठी में भाग लिया था जिसका उल्लेख हम पिछले खंड में कर चुके हैं। इस विचारगोष्ठी में भाग लेने के अतिरिक्त उन्होंने धार्मिक कथनों की सार्थकता के संबंध में एक विस्तृत लेख भी लिखा है जिसका शीर्षक है 'दि पॉसिबिलिटी ऑफ थियॉलॉजिकल स्टेटमैंट्स, और जो बेसिल मिचल द्वारा सम्पादित 'फ़ेथ ऐंड लॉजिक' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। अपने इस लेख में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ईश्वर विषयक धार्मिक कथन वास्तव में संज्ञानात्मक अथवा तथ्यपरक कथन हैं। धार्मिक कथनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इस लेख के प्रारम्भ में ही क्रौम्बी यह कहते हैं कि जिन कथनों में मूलभूत धार्मिक विश्वासों को अभिव्यक्त किया जाता है उन्हें ही 'धार्मिक कथन' कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, सभी ईश्वरवादी धर्म यह मानते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है, वही इस जगत् का रचयिता है, उसमें असीमित ज्ञान, शक्ति, प्रेम आदि गुण हैं, वह हम सबसे प्रेम करता है, इत्यादि। ये इन धर्मों के आधारभूत विश्वास हैं जो इनके ईश्वर विषयक कथनों में अभिव्यक्त होते हैं। इसी प्रकार निरीश्वरवादी धर्मों के भी कुछ मूल विश्वास हैं जिनकी अभिव्यक्ति इन धर्मों से संबंधित कथनों में होती है। ऐसे सभी कथनो को भी हम 'धार्मिक कथन' की संज्ञा दे सकते हैं। इस प्रकार क्रौम्बी के मतानुसार धार्मिक कथन वे हैं जो हमारे आधारभूत धार्मिक विश्वासों को अभिव्यक्त करते हैं।[25] परंतु मेरे विचार में धार्मिक भाषा की यह व्याख्या एकांगी और अपूर्ण है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, प्रार्थना, कीर्तन, सत्संग आदि में भक्त अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह भी धार्मिक भाषा है। वस्तुतः जो भाषा धर्म से संबंधित विश्वासों तथा भावनाओं को अभिव्यक्त करती है उसे हम 'धार्मिक भाषा' की संज्ञा दे सकते हैं। इस प्रकार धार्मिक भाषा का अर्थ उसकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है जो क्रौम्बी ने बताया है।

हेयर, ब्रेथवेट तथा मिचल की भाँति क्रौम्बी ने भी अपने उपर्युक्त लेख में उस चुनौती का उत्तर देने का प्रयास किया है जो फ़्ल्यू ने ईश्वरवादियों के समक्ष प्रस्तुत की थी। इस लेख के प्रारम्भ में ही वे स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि धार्मिक भाषा में कुछ विरोधाभास या असंगतियां हैं। इन विरोधाभासों का संबंध ईश्वर विषयक कथनों के उद्देश्य तथा विधेय से है। ईश्वरवादी ईश्वर के विषय में जिन कथनों का प्रयोग करते हैं वे सामान्यतः तथ्यपरक कथनों के समान ही प्रतीत होते हैं जिनमें अनिवार्यतः एक उद्देश्य तथा एक विधेय होता है। उदाहरणार्थ, ''ईश्वर ने इस जगत् की रचना की है'' इस कथन में 'ईश्वर' उद्देश्य तथा शेष वाक्यांश विधेय है। यह कथन इस कथन के समान ही तथ्यपरक प्रतीत होता है कि ''मोहन ने इस भवन का निर्माण किया है''। इसी प्रकार ''ईश्वर मनुष्यों से प्रेम करता है'' यह

---

25. आई० एम० क्रौम्बी, 'दि पॉसिबिलिटी ऑफ थियॉलॉजिकल स्टेटमैंट्स', बेसिल मिचल द्वारा सम्पादित 'फ़ेथ ऐंड लॉजिक' नामक-पुस्तक में संकलित, पृ० 31

कथन "मोहन राधा से प्रेम करता है" इस कथन की भाँति तथ्यपरक प्रतीत होता है। परंतु क्रौम्बी के मतानुसार ईश्वर संबंधी कथनों का विरोधाभास यह है कि इनका उद्देश्य और विधेय दोनों ही उन नियमों द्वारा शासित नहीं होते जो तथ्यात्मक कथनों के उद्देश्य तथा विधेय पर अनिवार्यतः लागू होते हैं। उदाहरणार्थ, मोहन से संबंधित उपर्युक्त कथनों के विषय में हम स्पष्टतः यह बता सकते हैं कि मोहन कौन-सा व्यक्ति है, अतः इन कथनों का उद्देश्य पूर्णतः स्पष्ट तथा बोधगम्य है। इसी प्रकार इन कथनों का विधेय भी पूर्णतया स्पष्ट है, क्योंकि हम यह भलीभाँति जान सकते हैं कि मोहन ने क्या किया है अथवा वह क्या करता है। यही कारण है कि मोहन संबंधी तथ्यात्मक कथनों के अर्थ को समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती।

परंतु इस दृष्टि से ईश्वर विषयक उपर्युक्त कथन पूर्णतः भिन्न प्रकार के हैं। हम न तो इन कथनों के उद्देश्य को समझ पाते हैं और न इनके विधेय को। हम देख चुके हैं कि ईश्वर ही इन कथनों का उद्देश्य है, किंतु, मोहन के विपरीत, हम यह नहीं बता सकते कि ईश्वर कौन-सा व्यक्ति है। अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर कोई ऐसा प्राणी नहीं है जिसकी ओर संकेत करके हम यह कह सकें कि "ईश्वर वह है"। ईश्वर को अभौतिक तथा अनुभवातीत माना जाता है, अतः हम किसी भी उपाय द्वारा यह नहीं दिखा सकते कि ईश्वर अमुक प्राणी है। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि ईश्वर विषयक कथनों के उद्देश्य (ईश्वर) पर भाषा संबंधी वे नियम लागू नहीं होते जो मोहन संबंधी तथ्यपरक कथनों के उद्देश्य (मोहन) पर अनिवार्यतः लागू होते हैं। यही बात ईश्वर विषयक कथनों तथा मोहन विषयक कथनों के विधेय के संबंध में भी कही जा सकती है। मोहन से संबंधित कथनों को पढ़-सुन कर हम निश्चित रूप से यह जान सकते हैं कि उसने क्या किया है और क्या नहीं किया है अथवा वह क्या करता है और क्या नहीं करता। दूसरे शब्दों में, कुछ तथ्यों के आधार पर इन कथनों को अनुभव द्वारा सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है। इसी कारण ये कथन सामान्य तथ्यपरक कथन हैं। परंतु ईश्वर विषयक कथनों के विधेय की स्थिति इससे पूर्णतः भिन्न है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, ईश्वरवादी ऐसे किसी तथ्य को स्वीकार नहीं करते जो इन कथनों के विधेय का खंडन करता हो। उनके अनुसार, ऐसा कोई तथ्य नहीं है और न हो सकता है जो यह प्रमाणित कर सके कि ईश्वर ने इस जगत् की रचना नहीं की अथवा वह मनुष्यों से प्रेम नहीं करता। इसी कारण इन कथनों को अमिथ्यापनीय माना जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि ईश्वर विषयक कथनों के विधेय पर भी भाषा संबंधी वे नियम लागू नहीं होते जो सामान्य तथ्यपरक कथनों के विधेय की सार्थकता के लिए अनिवार्य हैं। इस प्रकार क्रौम्बी यह मानते हैं कि ईश्वर संबंधी कथनों के उद्देश्य तथा विधेय दोनों में गंभीर विरोधाभास विद्यमान हैं जिनके कारण ये कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होते हैं[26]

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईश्वर विषयक कथनों में विद्यमान उपर्युक्त

---

26. वही पुस्तक., पृ० 39-55

विरोधाभासों के आधार पर इन कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के संबंध में क्रौम्बी वह निष्कर्ष नहीं निकालते जो फ्ल्यू तथा उनके समर्थकों ने निकाला है—अर्थात् क्रौम्बी इन कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक नहीं मानते। इसके विपरीत उनका निश्चित मत है कि ये कथन वास्तव में तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक और संज्ञानात्मक हैं। इन कथनों में जो विरोधाभास दिखाई देते हैं वे केवल इसी बात के प्रमाण हैं कि इनका संबंध किसी ऐसी वस्तु से नहीं है जो हमारे अनुभव का विषय है या हो सकती है। ये कथन ईश्वर से संबंधित हैं जो हमारे अनुभव का विषय नहीं है और न हो सकता है। इस दृष्टि से ये ईश्वर विषयक कथन सामान्य तथ्यपरक कथनों से भिन्न हैं। इन कथनों में विद्यमान विरोधाभास हमें यही बताते हैं कि इन्हें सामान्य तथ्यपरक कथनों के समान नहीं समझा जाना चाहिए। परंतु इन विरोधाभासों द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि ये कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक और संज्ञानात्मक नहीं हैं। वस्तुतः इन विरोधाभासों से केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि ईश्वर विषयक कथन जिन अतिप्राकृतिक तथ्यों का वर्णन करते हैं वे सामान्य तथ्यपरक कथनों द्वारा वर्णित तथ्यों से पूर्णतः भिन्न प्रकार के होते हैं।

धार्मिक कथनों में पाए जाने वाले विरोधाभासों के संबंध में अपने उपर्युक्त मत को स्पष्ट करते हुए क्रौम्बी ने लिखा है:—"इनकी विरोधाभास संबंधी विशेषताएँ यह स्पष्ट करती हैं कि ये कथन किसी ऐसी वस्तु के विषय में नहीं है जो हमारे सामान्य अनुभव अथवा उसकी किसी भी सम्भव परिधि के अंतर्गत रखी जा सके, और यह जान लेना धर्म के स्वरूप को जानना है।...... यह जानना कि ईश्वर को किसी ऐसी वस्तु के समान नहीं समझा जा सकता जिसका वर्णन करना सम्भव हो धर्मशास्त्र का केवल प्रथम सोपान है।..... ईश्वर विषयक कथनों की विरोधाभास संबंधी विशेषताओं से जिज्ञासु यह सीख सकता है कि यदि वे किसी वस्तु के विषय में हैं तो वे एक रहस्य के विषय में हैं।...... यह दिखा कर कि ईश्वर विषयक कथन किसके संबंध में हैं और वे हमें उसके संबंध में किस प्रकार सूचना देते हैं मैं यह दिखाने का प्रयास करूंगा कि ये कथन सार्थक हैं"।[27] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि क्रौम्बी धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक तथा संज्ञानात्मक कथन मानते हैं।

क्रौम्बी स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर विषयक कथन जिस ईश्वर के गुणों तथा कार्यों का वर्णन करते हैं वह अनुभवातीत होने के कारण हमारी समझ से परे है। हम इन कथनों को उस अर्थ में ग्रहण नहीं कर सकते जिस अर्थ में हम अनुभवात्मक भौतिक वस्तुओं से संबंधित कथनों को ग्रहण करते हैं। ईश्वर हमारे लिए नितांत रहस्यमय है, अतः कोई भी मनुष्य यह दावा नहीं कर सकता कि वह ईश्वर को जानता है या जान सकता है। ईश्वर हमारे अनुभव का विषय नहीं है और न हो सकता है। इसी कारण ईश्वर विषयक कथन हमें सामान्य तथ्यात्मक कथनों से पूर्णतः भिन्न प्रकार के प्रतीत होते हैं। ईश्वर के स्वरूप तथा उससे संबंधित कथनों के अर्थ के विषय में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए क्रौम्बी कहते हैं कि :"ईश्वर एक रहस्य है, और इसलिए आप यह आशा नहीं कर

---

27. वही पुस्तक, पृ० 34-35

सकते कि ईश्वर विषयक कथनों को जान कर आप उनके विषय—अर्थात:, ईश्वर के संबंध में कोई ठीक-ठीक अवधारणा बना सकते हैं।....... वह क्या है जो लोगों को ईश्वर विषयक कथनों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करता है? इसका संक्षिप्त उत्तर है दिव्यता की अवधारणा। परंतु आलोचक यह पूछता है कि वह अवधारणा क्या हैं .... हमें तुरंत यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि सामान्य अर्थ में दिव्यता के स्वरूप की कोई अवधारणा नहीं है। हम ईश्वर को नहीं जानते, और यह दावा करना मूर्खतापूर्ण होगा कि हम जानते हैं कि वह किस प्रकार का प्राणी है। उसके संबंध में हम 'सर्वज्ञ', 'नित्य' आदि जिन विशेषणों का प्रयोग करते हैं वे हमें यह जानने में समर्थ नहीं बनाते कि ईश्वर का स्वरूप क्या है। ...... हम यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जो हमारी अवधारणा से परे है।...... ईश्वर अचिंत्य है"।[28]

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि क्रौम्बी ईश्वर को रहस्यमय कह कर उसे मनुष्य के लिए पूर्णत: अज्ञेय मानते हैं। उनका कथन है कि साधारण लोगों के मन में ईश्वर की जो अवधारणा है वह केवल मानवत्वारोपी अवधारणा ही है जिसके अनुसार ईश्वर आकाश में कहीं निवास करने वाला एक महामानव है। परंतु क्रौम्बी ईश्वर के संबंध में इस प्राचीन मानवत्वारोपी अवधारणा को दार्शनिक दृष्टि से संतोषप्रद नहीं मानते। उनके मतानुसार आज कोई भी सभ्य व्यक्ति ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं करता जो आकाश में रहने वाला महामानव है।[29] स्पष्टत: इसका तात्पर्य यही है कि सामान्यत: ईश्वर को महा मानव मान कर उससे संबंधित कथनों का जो तथ्यात्मक अर्थ बताया जाता है वह क्रौम्बी को स्वीकार्य नहीं है। इसके विपरीत वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि यद्यपि ईश्वर अनुभवातीत और अज्ञेय है, फिर भी उससे संबंधित कथन तथ्यपरक या संज्ञानात्मक हैं।

ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक सिद्ध करने के लिए क्रौम्बी सादृश्य-सिद्धांत तथा दृष्टांत-कथाओं या रूपकों से संबंधित सिद्धांत का प्रयोग करते हैं। उनका मत है कि हम ईश्वर के गुणों तथा कार्यों को यथातथ्य रूप में तो नहीं जान सकते, किंतु मानवीय गुणों एवं कार्यों के सादृश्य के आधार पर हम उसके गुणों और कार्यों की कुछ झलक प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, मानवीय प्रेम के आधार पर हम ईश्वर के प्रेम के स्वरूप का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्म-ग्रंथों में ईश्वर-प्रेम की जो दृष्टांत-कथाएँ मिलती हैं वे भी हमारे इस अनुमान की कुछ पुष्टि करती हैं, क्योंकि हम इन धर्म-ग्रंथों की प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं। इन्हीं दो उपायों द्वारा हम ईश्वर के अन्य गुणों तथा कार्यों का भी कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं। जिन कथनों में ईश्वर के गुणों और कार्यों का वर्णन किया जाता है उन्हें तथ्यात्मक मानने के भी यही दो प्रमुख आधार हैं। हम केवल सादृश्य तथा दृष्टांत-कथाओं अथवा रूपकों की भाषा में ही ईश्वर के संबंध में सार्थकतापूर्वक बात कर सकते हैं।[30]

---

28. वही पुस्तक, पृ० 52, 54, 55, 65
29. वही पुस्तक, पृ० 55
30. वही पुस्तक, पृ० 70-73

क्रौम्बी का कथन है कि ईश्वर का विचार मनुष्य के जीवन की एक ऐसी कमी की पूर्ति करता है जो किसी अन्य उपाय द्वारा पूरी नहीं की जा सकती। मनुष्य अपने आपको दिक्-काल के अंतर्गत विचरण करने वाला एक भौतिक प्राणी मात्र मान कर संतुष्ट नहीं रह पाता। वह अपने आप को इससे कुछ भिन्न समझता है और जो तत्त्व उसे अन्य प्राणियों तथा वस्तुओं से अलग करता है वह आध्यात्मिकता का तत्त्व है। मन्ष्य का कोई भी अनुभव और वैज्ञानिक सिद्धांत इस आध्यात्मिक तत्त्व का स्थान नहीं ले सकता। आध्यात्मिक सत्ता, ईश्वर का विचार ही उसके जीवन के इस अभाव की पूर्ति कर सकता है। यही कारण है कि ईश्वर विषयक कथन उसके लिए सार्थक हो जाते हैं। अपने इस तर्क द्वारा भी क्रौम्बी ने इन कथनों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया है।[31] संक्षेप में उपर्युक्त सभी तर्कों के आधार पर ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक बताते हुए क्रौम्बी ने फ़्ल्यू की उस चुनौती का उत्तर दिया है जो उन्होंने ईश्वरवादियों के समक्ष प्रस्तुत की थी।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के संबंध में क्रौम्बी का सिद्धांत कहाँ तक उचित एवं संतोषप्रद है। हम देख चुके हैं कि वे इन कथनों को तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक सिद्ध करने का दावा करते हैं। परंतु मेरे विचार में उनका यह दावा युक्तिसंगत नहीं है। इसका कारण यह है कि उन्होंने ईश्वर का जो स्वरूप स्वीकार किया है, उसके विषय में तथ्यात्मक रूप से कुछ कहा ही नहीं जा सकता। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, क्रौम्बी ईश्वर को अनुभवातीत मानने के कारण मनुष्य के लिए उसे पूर्णतः अज्ञेय तथा अचिंत्य ही मानते हैं। ईश्वर के स्वरूप के विषय में क्रौम्बी के इस मत को ध्यान में रखते हुए तर्कसंगत रूप से हम केवल यही कह सकते हैं कि उसके संबंध में किसी प्रकार का तथ्यात्मक कथन संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उनका यह दावा अनुचित और अयुक्तिसंगत ही प्रतीत होता है कि ईश्वर विषयक कथन तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक हैं।

क्रौम्बी के सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि ईश्वर संबंधी कथनों को तथ्यात्मक सिद्ध करने के लिए उन्होंने जिस सादृश्य-सिद्धांत का प्रयोग किया है वह भी वास्तव में इन्हें तथ्यात्मक प्रमाणित नहीं करता। इसका कारण यह है कि मानवीय गुणों के सादृश्य के आधार पर ईश्वरीय गुणों का वास्तविक ज्ञान सम्भव नहीं है। क्रौम्बी तथा अन्य ईश्वरवादी यह मानते हैं कि मनुष्य के गुणों और ईश्वर के गुणों में केवल मात्रा का ही भेद नहीं है, अपितु मूलभूत अंतर है। ईश्वर में शक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि जो गुण पाए जाते हैं वे मनुष्य में विद्यमान इन गुणों की अपेक्षा केवल मात्रा में ही अधिक न होकर वस्तुतः असीमित हैं। परंतु मनुष्य को इन असीमित गुणों का न तो कोई अनुभव है और न हो ही सकता है, अतः ये गुण उसके लिए पूर्णतः अज्ञेय हैं। दूसरे शब्दों में, वह यह कभी नहीं जान सकता कि ईश्वर का असीमित ज्ञान या प्रेम किस प्रकार का होता है। इसी कारण वह ईश्वर के इन गुणों के विषय में सार्थकता पूर्वक कुछ भी नहीं कह सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सादृश्य-सिद्धांत के

---

31. वही पुस्तक, पृ० 56-58

आधार पर ईश्वर संबंधी कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता। सम्भवतः यही कारण है कि स्वयं क्रौम्बी ईश्वर के विषय में दृष्टांत-कथाओं तथा रूपकों की भाषा का प्रयोग करना अनिवार्य मानते हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसी रूपकात्मक भाषा में जो कुछ कहा जाता है उसे निश्चय ही वास्तविक अर्थ में संज्ञानात्मक नहीं माना जा सकता। संक्षेप में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम तर्कसंगत रूप से यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि क्रौम्बी का सिद्धांत भी ईश्वर विषयंक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक अथवा संज्ञानात्मक कथन सिद्ध करने में सफल नहीं हो सका।

(3) जॉन हिक

मिचल तथा क्रौम्बी की भाँति हिक भी ईश्वर संबंधी कथनों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक ही मानते हैं। 1960 में 'थियॉलॉजी टुडे' नामक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक विस्तृत लेख, 'थियॉलॉजी ऐंड वैरिफ़िकेशन' में हिक ने इन कथनों को तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक सिद्ध करने के लिए एक नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे वे 'मरणोत्तर सत्यापन का सिद्धांत' कहते हैं। अपनी एक पुस्तक, 'फ़ेथ ऐंड नॉलेज' में भी उन्होंने इन कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के लिए इसी सिद्धांत का प्रयोग किया है। इस सिद्धांत के अनुसार, ईश्वर विषयक कथनों का सत्यापन वर्तमान जीवन में हमारे सामान्य अनुभव द्वारा नहीं, अपितु मृत्यु के पश्चात हमें प्राप्त होने वाले विशेष अनुभव द्वारा ही हो सकता है। "ईश्वर का अस्तित्व है" इस कथन को हम अपने मरणोत्तर अनुभव द्वारा ही सत्यापित कर सकते हैं।

इस मरणोत्तर सत्यापन-सिद्धांत के अर्थ को स्पष्ट करने से पूर्व हिक ने सामान्य रूप से 'सत्यापन' शब्द के अर्थ की विस्तृत व्याख्या की है। इस संबंध में उनके समक्ष मूल प्रश्न यह है कि किसी कथन के सत्यापन का तात्पर्य क्या है और यह सत्यापन किस प्रकार होता है। 'सत्यापन' का अर्थ स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि किसी कथन के सत्य होने के विषय में अनभिज्ञता या अनिश्चितता का निराकरण करना ही सत्यापन है। जब यह कहा जाता है कि कोई कथन सत्यापित हो गया है तो इसका अर्थ यही होता है कि उस कथन के सत्य होने के संबंध में हमारे मन में कोई संशय या अनिश्चितता नहीं है। ऐसे सत्यापित कथन की सत्यता के विषय में तर्कसंगत संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। विभिन्न कथनों का सत्यापन उनकी अलग-अलग विषयवस्तु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है और होता है, किंतु सभी प्रकार के कथनों के सत्यापन की मूल विशेषता यही है कि सत्यापित कथन के सत्य होने के संबंध में तर्कसंगत संशय के समस्त कारणों का निराकरण हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसे कथन की सत्यता के विषय में हम युक्तिसंगत रूप से संदेह नहीं कर सकते। **इस प्रकार हिक के विचार में किसी कथन की सत्यता से संबंधित तर्कसंगत संशय अथवा अनिश्चितता के समस्त कारणों का निराकरण ही सत्यापन है।**[32]

---

32. जॉन हिक का लेख, 'थियॉलॉजी ऐंड वैरिफ़िकेशन'; बेसिल मिचल द्वारा सम्पादित पुस्तक, 'दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन' में संकलित, पृ० 53-54

यहाँ हिक ने यह प्रश्न उठाया है कि सत्यापन की यह अवधारणा विशुद्ध रूप से तर्कीय अवधारणा है अथवा यह मनोवैज्ञानिक अवधारणा भी है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि वस्तुतः सत्यापन की अवधारणा नर्कीय भी है और मनोवैज्ञानिक भी। जब हम किसी कथन के सत्यापित होने का केवल इतना ही अर्थ स्वीकार करते हैं कि वह उस वस्तु या स्थिति का वर्णन करता है जिसका अस्तित्व है तो सत्यापन की इस अवधारणा को 'तर्कीय अवधारणा' कहा जाता है। इस अवधारणा के अनुसार किसी कथन के सत्यापित होने का अर्थ केवल यही है कि वह यथातथ्य स्थिति अथवा वस्तु का उसी रूप में वर्णन करता है जिस रूप में वह हैं। परंतु जब हम किसी कथन के सत्यापित होने का यह अर्थ समझते हैं कि कोई व्यक्ति उस स्थिति या वस्तु का अनुभव करता है जिसका वह कथन वर्णन करता है तो सत्यापन की इस अवधारणा को 'मनोवैज्ञानिक अवधारणा' की संज्ञा दी जाती है। इस अवधारणा के अनुसार सत्यापन के लिए किसी कथन द्वारा वर्णित वस्तु अथवा स्थिति का अस्तित्व होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु किसी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों द्वारा उसका अनुभव किया जाना भी अनिवार्य है। किसी मनुष्य द्वारा उस वस्तु या स्थिति के अनुभव के अभाव में उस कथन का सत्यापन सम्भव नहीं है जो इस वस्तु अथवा स्थिति का वर्णन करता है। सत्यापन के संदर्भ में मानवीय अनुभव को विशेष महत्त्व देने के कारण ही इस अवधारणा को 'मनोवैज्ञानिक अवधारणा' कहा जाता है।

जहाँ तक धार्मिक कथनों के सत्यापन का संबंध है, हिक के मतानुसार सत्यापन की अवधारणा विशुद्ध रूप से तर्कीय न होकर वस्तुतः तर्कीय-मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। "कोई कथन सत्यापित हो गया है" इसका तात्पर्य यह है कि किसी ऐसे व्यक्ति ने उसे सत्यापित किया है जिसकी इस कथन संबंधी सूचना को सामान्यतः स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि से सत्यापन की अवधारणा मनोवैज्ञानिक है। इसके अनुसार, सत्यापन एक ऐसी घटना है जो मनुष्य की चेतना में घटित होती है। यह एक ऐसा अनुभव है जो यह सुनिश्चित करता है कि अमुक कथन सत्य है। परंतु मनुष्य के प्रत्येक अनुभव को 'सत्यापन का अनुभव' नहीं कहा जा सकता। इसके लिए उस वस्तु या स्थिति के अस्तित्व का होना भी अनिवार्य है जिसका अनुभव किया ज़ाता है और जिसका सत्यापित कथन वर्णन करता है। इस दृष्टि से सत्यापन का अनुभव किसी वस्तु को जानने के अनुभव के समान ही है जिसमें ज्ञात वस्तु और उसका अनुभव दोनों ही समाविष्ट रहतें हैं।[33] इस प्रकार हिक सत्यापन को विशुद्ध तर्कीय अवधारणा न मान कर तर्कीय-मनोवैज्ञानिक अवधारणा ही मानते हैं।

सत्यापन की अवधारणा की एक अन्य विशेषता का उल्लेख करते हुए हिक कहते हैं कि कथनों के तथ्यात्मक अर्थ की कसौटी के रूप में सत्यापन का भविष्यवाणी के साथ अनिवार्य संबंध है। किसी कथन के सत्यापन का अर्थ यह है कि अमुक शर्तो की पूर्ति होने पर मनुष्य को अमुकं अनुभव प्राप्त होंगे। उदाहरणार्थ, यदि मैं यह कहता हूँ कि "उस कमरे में मेज़ है" तो मेरे इस कथन के सत्यापन का अर्थ यह है कि यदि आप उस कमरे में जाएँ तो

33. वही पुस्तक, पृ० 54-55

आप मेज़ को देखने और छूने के अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। यदि आपको ये अनुभव प्राप्त होते हैं तो मेरा यह कथन सत्य है, अन्यथा इसे मिथ्या ही माना जाएगा। इस प्रकार प्रत्येक तथ्यात्मक कथन के सत्यापन के साथ कुछ विशेष अनुभवो के प्राप्त होने की सशर्त भविष्यवाणी अनिवार्यतः संबद्ध रहती है। परंतु हिक का मत है कि सभी प्रकार के तथ्यात्मक कथनों के सत्यापन के साथ केवल एक ही प्रकार के अनुभव संबंधित नहीं होते। वस्तुतः विभिन्न प्रकार के तथ्यात्मक कथनों के सत्यापन के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों का संबंध होता है। इसी कारण'सभी प्रकार के तथ्यात्मक कथनों का सत्यापन केवल एक ही उपाय अथवा विधि द्वारा नहीं किया जा सकता। अपनी इसी मान्यता को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए हिक कहते हैं कि ईश्वर विषयक कथनों का सत्यापन उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार मेज़ संबंधी कथनो का सत्यापन होता है। अणु संबंधी कथन को हम उसी विधि द्वारा सत्यापित नहीं कर सकते जिस विधि द्वारा हम मेज़ संबंधी कथन को सत्यापित करते हैं।[34] इसका तात्पर्य यही है कि हिक के मतानुसार विभिन्न प्रकार के तथ्यात्मक कथनों के सत्यापन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की विधियों का प्रयोग करना अनिवार्य है। एक ही उपाय अथवा विधि द्वारा सभी प्रकार के तथ्यपरक कथनों को सत्यापित करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता। अपनी इस मान्यता के आधार पर हिक ने तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के इस मत का खंडन करने का प्रयास किया है कि अनुभव द्वारा सत्यापित न हो सकने के कारण ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं।

सत्यापन की अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात हिक ने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि सत्यापन और मिथ्याकरण में परस्पर क्या संबंध है। वे यह स्वीकार करते हैं कि सामान्यतः इन दोनों में सममित संबंध होता है। इसका तात्पर्प यह है कि जिस कथन का सत्यापन हो सकता है उसका मिथ्याकरण भी सम्भव है। इसी प्रकार जिस कथन का मिथ्याकरण हो सकता है उसका सत्यापन भी किया जा सकता है। इस सममित संबंध के अनुसार सत्यापन और मिथ्याकरण दोनों परस्पर अनिवार्यतः संबद्ध रहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि किसी कथन का सत्यापन तो हो जाए किंतु मिथ्याकरण न हो सके अथवा मिथ्याकरण तो हो जाए परंतु सत्यापन त हो सके। एयर, फ़्ल्यू, हेयर, ब्रेथवेट आदि सभी असंज्ञानवादी दार्शनिक सत्यापन तथा मिथ्याकरण मेंयह सममित संबंध ही स्वीकार करते हैं। परंतु हिक का विचार है कि इन दोनों में सदैव केवल सममित संबंध नहीं होता। कुछ विशेष स्थितियों में सत्यापन तथा मिथ्याकरण में असममित संबंध भी हो सकता है—अर्थात, यह सम्भव है कि किसी कथन का सत्यापन तो हो जाए किंतु मिथ्याकरण न हो सके। अपने इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने आत्मा की अमरता से संबंधित प्राक्कल्पना का उदाहरण दिया है। उनके मतानुसार, यदि यह प्राक्कल्पना सत्य है तो इसका सत्यापन सम्भव है, किंतु यदि यह प्राक्कल्पना मिथ्या है तो इसका मिथ्याकरण नहीं हो सकता। यदि मृत्यु के पश्चात किसी व्यक्ति का अस्तित्व शेष रहता है तो वह अपने अनुभव द्वारा इस कथन को सत्यापित कर सकता है कि "आत्मा अमर है"। इसके विपरीत यदि मृत्यु के उपरांत उसका अस्तित्व

---

34. वही पुस्तक, पृ० 56

शेष नहीं रह जाता तो वह उपर्युक्त कथन का मिथ्याकरण नहीं कर सकता, क्योंकि इसके मिथ्याकरण के लिए वह बचेगा ही नहीं। वह यह कभी नहीं जान पाएगा कि यह कथन मिथ्या है।[35] इस प्रकार कुछ विशेष कथनों के संदर्भ में हिक ने सत्यापन तथा मिथ्याकरण इन दोनों में असममित संबंध को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, हिक यह मानते हैं कि ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक हैं, क्योंकि इन्हें सत्यापित किया जा सकता है। परंतु इन कथनों का सत्यापन इस जीवन में हमारे सामान्य अनुभव द्वारा नहीं, अपितु मरणोत्तर जीवन में विशेष प्रकार के अनुभव द्वारा ही संभव है। ईश्वर में विश्वास करने वाला व्यक्ति अपनी मृत्यु के पश्चात उसका विशेष अनुभव प्राप्त कर सकता है और अपने इस विशेष अनुभव के आधार पर वह इस कथन का सत्यापन कर सकता है कि "ईश्वर का अस्तित्व है"। ऐसी स्थिति में इस कथन को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक मानना अनिवार्य है। ईश्वर विषयक कथनों के ऐसे सत्यापन को ही हिक ने 'मरणोत्तर सत्यापन' की संज्ञा दी है और इसी आधार पर वे इन कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक कथन मानते हैं। परंतु उनका मत है कि केवल वे ही व्यक्ति इस मरणोत्तर सत्यापन द्वारा इन कथनों को सत्यापित कर सकते हैं जो अपने वर्तमान जीवन में ईश्वर में विश्वास करते रहे हैं। निरीश्वरवादियों के लिए ऐसा करना संभव नहीं है। हिक स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करता उसके लिए मरणोत्तर सत्यापन-सिद्धांत द्वारा ईश्वरवाद को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।[36] इस प्रकार उनका यह सिद्धांत केवल ईश्वरोपासकों के लिए ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक सिद्ध करने का दावा करता है। परंतु फिर भी हिक अपने इस मरणोत्तर सत्यापन-सिद्धांत को ईश्वरवाद की सार्थकता एवं प्रामाणिकता के लिए आवश्यक मानते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि हिक का उपर्युक्त सिद्धांत ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता की दृष्टि से कहाँ तक युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद है। वस्तुतः अन्य संज्ञानात्मक सिद्धांतो की भांति इस सिद्धांत में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस सिद्धांत की पहली कठिनाई यह है कि इसका मूल आधार आत्मा की अमरता से संबंधित धार्मिक विश्वास है जिसकी प्रामाणिकता अत्यंत संदेहास्पद है। हम देख चुके हैं कि हिक मनुष्य के मरणोत्तर जीवन की वास्तविकता को बिना किसी तर्क अथवा प्रमाण के स्वीकार कर लेते हैं। वे स्वयं यह मानते हैं कि उनका सिद्धांत आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास की सत्यता पर ही आधारित है। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि :"ईश्वरवाद के मरणोत्तर सत्यापन का विचार तभी सार्थक हो सकता है जब मृत्यु के पश्चात मनुष्य के वैयक्तिक अस्तित्व का विचार बोधगम्य हो"।[37] परतु मूल प्रश्न

---

35. वही पुस्तक, पृ० 57
36. वही पुस्तक, पृ० 70
37. वही पुस्तक, पृ० 60

यही है कि क्या मरणोत्तर जीवन का विचार वास्तव में बोधगम्य है। यह सर्वविदित तथ्य है कि अनेक महान दार्शनिकों ने इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया है। ये दार्शनिक शरीर से पृथक तथा स्वतंत्र किसी ऐसे द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते जिसे 'आत्मा' कहा जाता है और जो मनुष्य की मृत्यु के पश्चात भी बनी रहती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के मरणोत्तर जीवन और उसमें प्राप्त होने वाले अनुभवों की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि आत्मा की अमरता के विश्वास को स्वीकार न किया जाए तो हिक के मरणोत्तर सत्यापन-सिद्धांत का युक्तिसंगत रूप से समर्थन करना असम्भव हो जाता है। वस्तुतः यह उनके सिद्धांत की एक बहुत बड़ी दुर्बलता है कि कुछ धार्मिक विश्वासों की सार्थकता की व्याख्या करने के लिए यह एक विशेष धार्मिक विश्वास को बिना किसी प्रमाण के स्वीकार कर लेता है, अतः इसे तर्कसंगत सिद्धांत नहीं माना जा सकता।

हिक के सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि मरणोत्तर जीवन के विचार को युक्तिसंगत मान लेने पर भी यह ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक सिद्ध नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि हिक स्वयं ईश्वर को अत्यंत रहस्यमय तथा मानवीय तर्कबुद्धि और अनुभव से परे मानते हैं। इस संबंध में उनका स्पष्ट कथन है कि शक्ति, ज्ञान, नित्यता, प्रेम, शुभत्व आदि ईश्वर के असीम गुण मानवीय अनुभव का विषय नहीं हो सकते। इस दृष्टि से ईश्वर मनुष्य के लिए निश्चय ही अज्ञेय है। केवल ईश्वर ही स्वयं अपने असीम स्वरूप को जानता है, मनुष्य उसे कभी नहीं जान सकता।[38] ईश्वर के स्वरूप के विषय में हिक की इस मान्यता को ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि स्वयं उन्हीं के मतानुसार मनुष्य किसी भी रूप में और कभी भी ईश्वर का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में यदि यह मान भी लिया जाए कि मनुष्य के लिए मरणोत्तर जीवन संभव है और वह उसमें कुछ विशेष अनुभव प्राप्त कर सकता है तो भी यह निश्चित है कि रहस्यमय एवं अज्ञेय ईश्वर का साक्षात् अनुभव प्राप्त करना उसके लिए संभव नहीं है। अपने मरणोत्तर जीवन में भी मनुष्य यह कभी नहीं जान सकता कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं, अतः उसके स्वरूप का साक्षात् अनुभव प्राप्त करने का मनुष्य के लिए प्रश्न ही नहीं उठता। यदि अपने मरणोत्तर जीवन में मनुष्य किसी भी रूप में ईश्वर का कोई अनुभव प्राप्त कर ही नहीं सकता तो ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक मानने का वह मूल आधार ही समाप्त हो जाता है जो हिक ने प्रस्तुत किया है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, हिक के अनुसार मरणोत्तर जीवन के विचार द्वारा निरीश्वरवादियों के लिए इन कथनों को संज्ञानात्मक सिद्ध नहीं किया जा सकता। परंतु इस संबंध में ईश्वरोपासकों की स्थिति भी निरीश्वरवादियों की स्थिति से भिन्न नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही अपने मरणोत्तर जीवन में ईश्वर का साक्षात् अनुभव प्राप्त करने में समान रूप से असमर्थ हैं। इस प्रकार हिक के मरणोत्तर सत्यापन-सिद्धांत की उपर्युक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि अन्य संज्ञानवादियों की भाँति वे भी अपने इस सिद्धांत द्वारा ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के संबंध में फ़्ल्यू की चुनौती का वस्तुतः कोई तर्कसंगत एवं

---

38. वही पुस्तक, पृ० 68-69

संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। उनका यह सिद्धांत वास्तव में धर्म-दर्शन संबंधी न होकर धर्मशास्त्रीय ही प्रतीत होता है।

4. उपयोग-सिद्धांत

पिछले दो खंडों में हम देख चुके हैं कि धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के विषय में असंज्ञानात्मक तथा संज्ञानात्मक दोनों प्रकार के सिद्धांतों में अनेक दोष और कठिनाइयाँ विद्यमान हैं। यही कारण है कि कुछ समकालीन दार्शनिक इस संबंध में इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों को अस्वीकार करते हुए एक तीसरे सिद्धांत का समर्थन करते हैं जिसे 'उपयोग-सिद्धांत' कहा जाता है। जैसा कि इस सिद्धांत के नाम से ही स्पष्ट है, यह केवल उपयोग के आधार पर भाषा के अर्थ को निर्धारित करता है। धार्मिक भाषा की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए हम प्रथम खंड में बता चुके हैं कि इस सिद्धांत का प्रतिपादन विटगिन्स्टाइन ने अपनी पुस्तक, 'फ़िलॉसॉफ़िकल इन्वेस्टिगेशन्स' में किया था जो 1953 में प्रकाशित हुई थी। विज्ञान, राजनीति, नैतिकता, तत्त्वमीमांसा, धर्म आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसके अर्थ की व्याख्या अनेक समकालीन दार्शनिक इसी उपयोग-सिद्धांत के आधार पर करते हैं, अतः समकालीन दर्शन में इस सिद्धांत का विशेष महत्व हैं। प्रस्तुत खंड में हम उन प्रमुख दार्शनिकों के विचारों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे जिन्होंने उपयोग-सिद्धांत के आधार पर धार्मिक भाषा के अर्थ की व्याख्या की है। इन दार्शनिकों में लुडविग विटगिन्स्टाइन, डी० ज़ेड० फ़िलिप्स, नॉर्मन मैलकॉम, पीटर विंच आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(1) लुडविग विटगिन्स्टाइन

विटगिन्स्टाइन की प्रथम पुस्तक, 'ट्रैक्टेटस लॉजिको-फ़िलॉसॉफ़िकस' के आधार पर धर्म के विषय में उनके विचारों की संक्षिप्त चर्चा हम मैकफ़र्सन के अवर्णनीयता-सिद्धांत की विवेचना करते हुए इस अध्याय के दूसरे खंड में पहले ही कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि वे अपनी इस पुस्तक में धर्म को एक ऐसा रहस्यमय विषय मानते हैं जिसके संबंध में कुछ भी कहना सभव नहीं हैं। परंतु धर्म के प्रति विटगिन्स्टाइन के इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त उनका एक अन्य दृष्टिकोण भी है जिसे उन्होंने उपर्युक्त पुस्तक की रचना के लगभग सत्रह वर्ष पश्चात 1938 में दिए गए अपने भाषणों में अभिव्यक्त किया था। इन भाषणों में उन्होंने सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान तथा धार्मिक विश्वास के संबंध में अपने विचार स्पष्टतः व्यक्त किए हैं। उनके ये भाषण 1966 में 'लैक्चर्स ऐंड कन्वर्सेशन्ज़ ऑन ऐस्थेटिक्स,साइकॉलॉजी ऐंड रिलीजियस बिलीफ' नामक पुस्तक में आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किए गए थे। इस पुस्तक में उन्होंने अन्य विषयों के साथ-साथ धार्मिक विश्वास के स्वरूप के संबंध में भी स्पष्ट रूप से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जो मूलतः उपयोग-सिद्धांत पर ही आधारित है।

धार्मिक विश्वास के स्वरूप की व्याख्या करने से पूर्व विटगिन्स्टाइन यह कहते हैं कि इसके स्वरूप को ठीक-ठीक जानने के लिए इससे संबंधित धार्मिक कथनों के अर्थ को भलीभाँति समझने की आवश्यकता है। उनका मत है कि धार्मिक कथनों का वह अर्थ नहीं

होता जो अनुभवाश्रित तथ्यपरक कथनों का होता है, अतः धार्मिक कथनों को तथ्यपरक कथनं मान कर उनके स्वरूप की परीक्षा करना अनुचित और व्यर्थ है। वास्तव में धार्मिक कथनों का प्रयोग एक विशेष जीवन-पद्धति के अंतर्गत ही किया जाता है जिसे हम 'धार्मिक जीवन-पद्धति' कह सकते हैं। इसी जीवन-पद्धति के अंतर्गत ये कथन सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इन्हें वैज्ञानिक कथनों की भांति अनुभवाश्रित तथ्यपरक कथन मानना हमारे लिए बहुत भ्रामक हो सकता है। जो प्रश्न हम तथ्यपरक कथनों के विषय में उठा सकते हैं वे हम इन धार्मिक कथनों के संबंध में नहीं उठा सकते।

धार्मिक कथनों के स्वरूप से संबंधित अपनी उपर्युक्त मान्यता को विटगिन्स्टाइन ने निम्नलिखित दो उदाहरणों द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि "ईश्वर की आँखें सब कुछ देखती हैं" इस कथन के विषय में हम यह प्रश्न तो उठा सकते हैं कि क्या ईश्वर वर्तमान घटनाओं की भांति भावी घटनाओं को भी देख सकता है, परंतु इस कथन के संबंध में हम यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि ईश्वर की आँखों की भवें कैसी हैं? वस्तुतः ऐसा प्रश्न उठाना हमारे लिए मूर्खतापूर्ण होगा। इसका कारण यह है कि ईश्वर को प्रायः कोई ऐसा प्राणी नहीं माना जाता जिसके अंगों के विषय में सार्थकतापूर्वक बात की जा सके। वह हमारे समान कोई मनुष्य नहीं है जिसकी आँखों की भवों के संबंध में हम सार्थक बात कर सकें।[39] इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि "ईश्वर हम सब का पिता है" तो इस कथन का अर्थ केवल यही होता है कि पिता की भांति वह हम सब की देखभाल करता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर ने हमारे वास्तविक पिता के समान जैविक दृष्टि से हमें जन्म दिया है। उपर्युक्त कथन का यह तथ्यपरक अर्थ लगाना धार्मिक भाषा के वास्तविक उपयोग को न समझना ही होगा। इस प्रकार विटगिन्स्टाइन के मतानुसार, धार्मिक कथन अनुभवाश्रित तथ्यपरक कथन न होकर वस्तुतः एक विशेष धार्मिक जीवन-पद्धति के अंतर्गत ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण होते है। इन कथनों की सार्थकता की कसौटी हमें इस विशेष जीवन-पद्धति में ही उपलब्ध हो सकती है; इस जीवन-पद्धति के अतिरिक्त किसी अन्य कसौटी के आधार पर इन कथनों की सार्थकता की परीक्षा करना अनुचित एवं अयुक्तिसंगत ही होगा।

धार्मिक विश्वास के स्वरूप के संबंध में भी विटगिन्स्टाइन का यही मत है कि वह हमारे सामान्य तथ्यात्मक विश्वासों से भिन्न प्रकार का होता है। जब हम धार्मिक विश्वास की सार्थकता एवं सत्यता की बात करते हैं तो इस विश्वास की प्रामाणिकता के लिए तथ्यपरक प्रमाणों की खोज करना अनुचित और व्यर्थ है। वस्तुतः धार्मिक विश्वास किन्हीं तथ्यों का वर्णन नहीं करता जिनकी वस्तुपरक प्रमाणों द्वारा परीक्षा की जा सके। इस दृष्टि से यह विश्वास हमारे तथ्यपरक वैज्ञानिक विश्वासों से मूलतः भिन्न है। वैज्ञानिक विश्वास के विपरीत धार्मिक विश्वास का उद्देश्य व्यावहारिक जीवन में उस व्यक्ति या समुदाय के आचरण का नियमन करना ही होता है जो इसे निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है। इस धार्मिक विश्वास के आधार पर धर्मपरायण व्यक्ति स्वयं अपने तथा अन्य व्यक्तियों के आचरण के

---

39. लुडविग विटगिन्स्टाइन, 'लैक्चर्स ऐंड कन्वर्सेशन्स ऑन ऐस्थेटिक्स, साइकॉलॉजी ऐंड रिलीजियस बिलीफ़', पृ० 71।

संबंध में निर्णय देता है; इस विश्वास द्वारा वह अपना और दूसरों का मार्गदर्शन करता है। अपने इस विश्वास की सत्यता के लिए वह वस्तुपरक तर्कों या प्रमाणों की खोज करना आवश्यक नहीं समझता। इस प्रकार विटगिन्स्टाइन के मतानुसार, धार्मिक विश्वास में धर्मपरायण व्यक्ति की प्रतिबद्धता का होना अनिवार्य है जो सामान्य तथ्यात्मक विश्वासों में नहीं पाई जाती। मनुष्य की इस प्रतिबद्धता के अभाव में किसी भी विश्वास को 'धार्मिक विश्वास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दूसरे शब्दों में, जो विश्वास मनुष्य के आचरण को प्रभावित और नियमित नहीं करता वह वास्तव में धार्मिक विश्वास नहीं है।

धार्मिक विश्वास के स्वरूप के विषय में अपने उपर्युक्त विचारों को स्पष्ट करने के लिए विटगिन्स्टाइन ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। मान लीजिए ईसाई धर्म का कोई अनुयायी यह विश्वास करता है कि हम सभी के कर्मों के संबंध में ईश्वर द्वारा अंतिम निर्णय का दिन अवश्य आएगा। अपने इस विश्वास द्वारा वह दिक्-काल के अंतर्गत घटित होने वाली किसी ऐसी घटना की भविष्यवाणी नहीं करता जिसे तथ्यपरक प्रमाणों के आधार पर सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध किया जा सके। अपने इस विश्वास के लिए वह प्रमाणों की आवश्यकता का अनुभव भी नहीं करता। वास्तव में अपने उपर्युक्त विश्वास द्वारा वह स्वयं अपने और दूसरों के आचरण का नियमन एवं मार्गदर्शन करता है। वह अपने दैनिक जीवन में जब भी कोई कर्म करता है तो इसी धार्मिक विश्वास को उस कर्म के औचित्य की एकमात्र कसौटी मानता है। इस दृष्टि से यह विश्वास उसके संपूर्ण आचरण का निरंतर नियमन करता है। इस विश्वास में उसकी जो गहरी प्रतिबद्धता है उसी के कारण आचरण का यह नियमन सम्भव होता है। उक्त धार्मिक विश्वास वस्तुतः तथ्यपरक न होकर मानवीय आचरण का मार्गदर्शन करने वाला नियामक विश्वास है।[40] इस प्रकार विटगिन्स्टाइन का निश्चित मत है कि धार्मिक विश्वास और तथ्यात्मक विश्वास में आधारभूत अंतर होता है जिसे समझे बिना हम धार्मिक विश्वास की तर्कसंगत एवं संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते।

धार्मिक विश्वास के संबंध में विटगिन्स्टाइन ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि इस विश्वास को स्वीकार करने वाले तथा इसे अस्वीकार करने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण में क्या मूल भेद होता है। उनका मत है कि इन दोनों में अंतर यह नहीं है कि एक किसी तथ्यपरक कथन या घटना में विश्वास करता है और दूसरा नहीं करता। श्रद्धालु तथा अश्रद्धालु में जो विवाद अथवा मतभेद है उसका तथ्यों से कोई संबध नहीं है। उनका यह मतभेद तो जीवन और जगत् को पूर्णतः भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने में ही निहित है। श्रद्धालु जिस धार्मिक जीवन-पद्धति को सर्वाधिक महत्त्व देता है वह अश्रद्धालु के लिए निरर्थक है। वस्तुतः इन दोनों का विवाद तथ्यों के विषय में न होकर जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण के संबंध में ही है। अपनी इस मान्यता को भी विटगिन्स्टाइन ने ईसाई धर्म के अंतिम निर्णय के दिन से संबंधित विश्वास का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। मान लीजिए कोई नास्तिक यह प्रमाणित करने में सफल हो जाता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह विश्वास असत्य है। श्रद्धालु उसके इस मत को स्वीकार कर सकता है, किंतु फिर भी वह अपने संपूर्ण

---

40. वही पुस्तक, पृ० 53-59

आचरण का नियमन इसी विश्वास द्वारा करता रह सकता है। इस दृष्टि से उसके लिए यह विश्वास निश्चय ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण बना रहेगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विटगिन्स्टाइन ने धार्मिक विश्वास को स्वीकार करने और न करने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण में तीन आधारभूत अंतर बताए हैं जो इस प्रकार हैं। (क) धार्मिक विश्वास को स्वीकार करने वाला श्रद्धालु इस विश्वास में पूर्ण निष्ठा और प्रतिबद्धता रखता है जबकि अश्रद्धालु ऐसा नहीं करता। (ख) श्रद्धालु इस धार्मिक विश्वास द्वारा ही अपने संपूर्ण आचरण का नियमन तथा मार्गदर्शन करता है, किंतु अश्रद्धालु के जीवन में इस विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं होता। (ग) श्रद्धालु इस विश्वास से संबद्ध कुछ विशेष भावनाओं अथवा संवेगों का बड़ी तीव्रता से अनुभव करता है जबकि अश्रद्धालु इन संवेगों या भावनाओं से अपरिचित रहता है। इस प्रकार विटगिन्स्टाइन के मतानुसार, धार्मिक विश्वास श्रद्धालु के जीवन में जो विशेष भूमिका निभाता है उसका अश्रद्धालु के जीवन में कोई स्थान नहीं होता, यही इन दोनों में आधारभूत अंतर है।

(2) डी० ज़ेड० फ़िलिप्स

विटगिन्स्टाइन की भाँति फ़िलिप्स भी उपयोग-सिद्धांत के आधार पर ही धार्मिक भाषा की सार्थकता की व्याख्या करते हैं। उन्होंने ऐसे सभी सिद्धांतों का खंडन किया है जो धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक या असंज्ञानात्मक मानते हैं और जो इन कथनों के अर्थ-निरूपण के लिए सत्यापनीयता, मिथ्यापनीयता आदि किसी विशेष कसौटी को स्वीकार करते हैं। फ़िलिप्स का निश्चित मत है कि धार्मिक भाषा की सार्थकता को निर्धारित करने के लिए हम केवल उसी कसौटी का प्रयोग कर सकते हैं जो हमें धार्मिक जीवन-पद्धति में उपलब्ध होती हैं, इस जीवन-पद्धति से पृथक किसी भी बाह्य कसौटी के आधार पर धार्मिक कथनों की सार्थकता का निर्णय नहीं किया जा सकता। धर्मपरायण व्यक्ति इस जीवन-पद्धति से संबद्ध धार्मिक प्रसंगों में इन कथनों का जो उपयोग करते हैं वही इनकी सार्थकता का एकमात्र अंतिम आधार हो सकता है।

धार्मिक भाषा की सार्थकता के विषय में अपने उपर्युक्त मत की व्याख्या करते हुए फ़िलिप्स कहते हैं कि :– "ईश्वर के संबंध में सार्थकतापूर्वक क्या कहा जा सकता है इसकी कसौटियाँ धार्मिक परंपरा के अंतर्गत ही उपलब्ध हो सकती हैं।....... मेरे तर्क का तात्पर्य यह है कि बोधगम्यता की कसौटियाँ धर्म से बाहर प्राप्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि ये स्वयं धार्मिक भाषा द्वारा ही प्रदान की जाती हैं। धर्म में क्या सार्थक है यह दिखानें का तर्कसंगत दावा दर्शन तभी कर सकता है जब वह धार्मिक अवधारणाओं की व्याख्या उन्हीं प्रसंगों के अंतर्गत करने के लिए तैयार हो जिनसे ये अवधारणाएं अपना अर्थ ग्रहण करती हैं। उपयुर्क्त तथ्य पर ध्यान देने में असफल होने के कारण ही कुछ दार्शनिक धार्मिक भाषा से सार्थकता की उन कसौटियों को पूरा करने की मांग करने के लिए प्रेरित हुए हैं जो उसके लिए अपरिचित हैं।..... यह जानना कि ईश्वर है यह जानने के समान नहीं है कि किसी अतिरिक्त वस्तु या प्राणी का अस्तित्व है।........ ईश्वर को जानने का तात्पर्य है अपने जीवन में एक नया अर्थ देखना"।[41] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि फ़िलिप्स धार्मिक भाषा की सार्थकता के

41. डी० ज़ेड० फ़िलिप्स का लेख, 'फ़ेट, स्कैप्टिसिज़्म ऐंड रिलीजियस अन्डरस्टैंडिंग', स्वयं उन्हीं द्वारा सम्पादित 'रिलिजन ऐंड अन्डरस्टैंडिंग' नामक पुस्तक में संकलित, पृ० 68

विषय में विटगिन्स्टाइन के उपयोग—सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि विटगिन्स्टाइन के समान ही फ़िलिप्स भी धार्मिक विश्वास को सैद्धांतिक एवं तथ्यपरक विश्वास नहीं मानते। वे विटगिन्स्टाइन के इस मत को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं कि धार्मिक विश्वास का उद्देश्य मनुष्य को किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करना नहीं, अपितु उसके आचरण का नियमन तथा मार्गदर्शन करना ही है। अपनी इस मान्यता को फ़िलिप्स ने ईश्वर विषयक विश्वास के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी में जो मतभेद है उसका तथ्यों से कोई संबंध नहीं है; यह मतभेद वस्तुतः जीवन और जगत् के प्रति इन दोनों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को ही अभिव्यक्त करता है। जब ईश्वरवादी यह कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व है और निरीश्वरवादी उसके इस मत का खंडन करता है तो ये दोनों वास्तव में किसी तथ्य का वर्णन अथवा निषेध नहीं करते। इस विवाद के माध्यम से ये दोनों जीवन तथा जगत् के संबंध में अपने विभिन्न दृष्टिकोणों को ही व्यक्त करते हैं। ईश्वर विषयक विश्वास के स्वरूप के संबंध में अपनी इस मान्यता को फ़िलिप्स ने निम्नलिखित उद्धरण में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है:—"यह बड़ी सरलतापूर्वक मान लिया गया है कि ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी का विवाद किसी तथ्य के संबंध में है। ऐसी स्थिति में ईश्वर की सत्ता के विषय में दार्शनिक विचार-विमर्श तथ्य के विषय में दार्शनिक विचार-विमर्श हो जाता है। ईश्वर विषयक चर्चा के साथ तथ्य विषयक चर्चा की संक्षिप्त तुलना करने से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त विचार धार्मिक अवधारणा का मिथ्या प्रस्तुतीकरण है।...... यह कहना कि ईश्वर का अस्तित्व कोई तथ्य नहीं है उतना ही निरर्थक है जितना यह कहना कि ईश्वर का अस्तित्व कोई तथ्य है।.......... ईश्वर को जानना उससे प्रेम करना है। ईश्वर की सत्ता का सैद्धांतिक ज्ञान सम्भव नहीं है"।[42]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विटगिन्स्टाइन की भाँति फ़िलिप्स भी ईश्वर विषयक विश्वास को तथ्यपरक विश्वास के रूप में स्वीकार न करके उसे नियामक विश्वास ही मानते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य के लिए किसी विश्वास का वास्तविक महत्त्व उस भूमिका से ही जाना जा सकता है जो वह विश्वास उसके जीवन में निभाता है। यदि कोई विश्वास व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य के जीवन को प्रभावित नहीं करता तो उसके लिए इस विश्वास का कोई महत्त्व नहीं है। अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए फ़िलिप्स ने लिखा है कि:—"जिस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है वह है विशेष भूमिका जो कोई विश्वास व्यक्ति के जीवन में निभाता है, वह अंतर जो उस विश्वास के कारण उसके जीवन में आता है। इसी संदर्भ में विश्वास के अर्थ को सर्वोत्तम ढंग से खोजा जा सकता है"।[43] इस प्रकार फ़िलिप्स मनुष्य के जीवन में किसी विश्वास की सार्थकता का निर्णय उससे संबद्ध तथ्यपरक

---

42. वही पुस्तक, पृ० 65-66, 75
43. डी० ज़ेड० फ़िलिप्स, 'फ़ेथ ऐंड फ़िलॉसॉफ़िकल इन्क्वाएरी', पृ० 263

ज्ञान के आधार पर नहीं, अपितु उस प्रभाव के आधार पर ही करते हैं जो वह विश्वास वास्तव में उसके व्यावहारिक जीवन तथा आचरण पर डालता है।

(3) नॉर्मन मैलकॉम और पीटर विंच

विटगिन्स्टाइन तथा फ़िलिप्स के अतिरिक्त कुछ अन्य समकालीन दार्शनिकों ने भी धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के लिए उपयोग-सिद्धांत को ही स्वीकार किया है। इन दार्शनिकों में नॉर्मन मैलकॉम और पीटर विंच के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैलकॉम का मत है कि धार्मिक भाषा को किसी प्रकार की तथ्यपरक भाषा मान कर उसके अर्थ की व्याख्या करना बहुत बड़ी भूल है। धार्मिक कथनों का उद्देश्य हमें किन्हीं तथ्यों की जानकारी देना नहीं, अपितु उन विश्वासों को अभिव्यक्त करना है जो दैनिक जीवन में हमारे आचरण का नियमन तथा मार्गदर्शन करते हैं। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए मैलकॉम ने भी फ़िलिप्स की भाँति ईश्वर विषयक विश्वास का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है जो ईसाई धर्म और कुछ अन्य धर्मों का आधारभूत विश्वास है। इस संबंध में मैलकॉम ने ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित विश्वास की विवेचना की है जिस पर दार्शनिक बहुत प्राचीन काल से विचार करते रहे हैं। मैलकॉम का कथन है कि इस विश्वास को प्रायः तथ्यात्मक विश्वास ही माना जाता रहा है—अर्थात, दार्शनिक इस प्रश्न पर विचार करते रहे हैं कि एक तथ्य के रूप में ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। इसी रूप में ईश्वर का अस्तित्व शताब्दियों से दार्शनिकों के तीव्र विवाद का विषय रहा है। परंतु मैलकॉम के विचार में धर्मपरायण व्यक्ति के लिए एक तथ्य के रूप में ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित विश्वास का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उसके लिए इस विश्वास का वास्तविक महत्त्व उस प्रभाव में ही निहित है जो यह विश्वास उसके विचारों तथा आचरण पर डालता है। मुख्यतः इसी दृष्टि से ईश्वर विषयक विश्वास के स्वरूप की व्याख्या करते हुए मैलकॉम कहते हैं कि :— "ईश्वर संबंधी विश्वास में कोई मनोदशा या अभिवृत्ति समाविष्ट होगी जिसका विषय ईश्वर होगा और ये अभिवृत्तियाँ श्रद्धामय प्रेम से लेकर विद्रोहपूर्ण अस्वीकृति तक विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं।.......... वह मनुष्य जो यह विश्वास करता है कि यदि वह सच्चे हृदय से पश्चाताप करे तो उसके पापों को क्षमा कर दिया जाएगा अपने इस विश्वास द्वारा निराशा से बच सकता है। जिसमें वह विश्वास करता है उसका सत्यापन अथवा मिथ्याकरण सम्भव नहीं है; फिर भी इस विश्वास के कारण उसके कर्म और उसकी अनुभूति में महान अंतर आ जाता है"।[44] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विटगिन्स्टाइन तथा फ़िलिप्स की भाँति मैलकॉम भी ईश्वर विषयक विश्वास के महत्त्व का निर्णय मानव-जीवन पर पड़ने वाले इसके प्रभाव के आधार पर ही करते हैं।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, मैलकॉम के समान पीटर विंच ने भी धार्मिक भाषा के अर्थ की व्याख्या के लिए उपयोग-सिद्धांत का ही समर्थन किया है। विंच विटगिन्स्टाइन के इस मत को पूर्णतः स्वीकार करते हैं कि किसी भी कथन की सार्थकता का निर्णय उस विशेष

---

44 नॉर्मन मैलकॉम का लेख, "इज़ इट ए रिलीजियस बिलीफ़ दैट 'गॉड ऐक्ज़िस्ट्स' ?", जॉन हिक द्वारा सम्पादित 'फ़ेथ ऐंड दि फ़िलॉसॉफ़र्ज़' नामक पुस्तक में संकलित. पृ० 107-108

प्रसंग के अंतर्गत ही किया जा सकता है जिसमें उसका उपयोग होता है। इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना हम किसी शब्द या कथन के अर्थ की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते। अपनी इसी मान्यता के कारण विंच ने धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के लिए भी उपयोग-सिद्धांत का ही प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि 'सत्ता', 'विवेकशीलता', 'सत्य', बोधगम्यता' आदि सभी अवधारणाएँ किन्हीं विशेष प्रसंगों के उपयोग के कारण ही हमारे लिए सार्थक हो सकती हैं। इन विशेष प्रसंगों में उपयोग से पृथक इन अवधारणाओं का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता। यदि हम धार्मिक कथनों तथा अवधारणाओं का अर्थ जानना चाहते हैं तो यह अर्थ हमें धार्मिक जीवन-पद्धति और परंपरा के अंतर्गत ही उपलब्ध हो सकता है। धार्मिक भाषा को इस जीवन-पद्धति से पृथक करके हम कभी नहीं समझ सकते। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए विंच ने ईश्वर की अवधारणा का उदाहरण दिया है। वे कहते हैं कि:—"ईश्वर की सत्ता निश्चय ही किसी भी मनुष्य के विचार से स्वतंत्र हैं, किंतु इस सत्ता का अर्थ क्या है यह उस धार्मिक परंपरा से ही जाना जा सकता है जिसके अंतर्गत ईश्वर की अवधारणा का उपयोग होता है और यह उपयोग वैज्ञानिक अवधारणाओं से बहुत भिन्न है। बात यह है कि भाषा के धार्मिक उपयोग में अंतर्गत ही ईश्वर की सत्ता की अवधारणा का अपना स्थान है"।[45] विंच के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि विटगिन्स्टाइन, फ़िलिप्स और मैलकॉम की भांति वे भी समस्त धार्मिक कथनों तथा अवधारणाओं की सार्थकता एवं बोधगम्यता की व्यांख्या के लिए उपयोग-सिद्धांत को ही पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

(4) मूल्यांकन

प्रस्तुत खंड में अभी तक हमने धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के विषय में उपयोग-सिद्धांत का समर्थन करने वाले कुछ मुख्य प्रतिनिधि विचारकों के मत का उल्लेख किया है। अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि यह सिद्धांत धार्मिक कथनों के अर्थ की संतोषप्रद व्याख्या कर पाता है या नहीं। इस सिद्धांत के समर्थकों का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि हमारी भाषा विविधार्थक है, अतः विभिन्न प्रसंगों में किसी शब्द या कथन के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। हमें भाषा के अर्थ की व्याख्या करते समय विविध प्रसंगों में उसके उपयोग पर अवश्य ध्यान देना चाहिए, क्योंकि किसी भी शब्द अथवा कथन का सभी प्रसंगों में एक ही अर्थ नहीं होता। इस प्रकार उपयोग-सिद्धांत के समर्थकों ने भाषा के अर्थ-निरूपण के लिए विभिन्न प्रसंगों में इसके भिन्न-भिन्न उपयोग को जो महत्त्व दिया है वह निश्चय ही उचित है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि उपयोग-सिद्धांत में आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान है।

परंतु धार्मिक भाषा के अर्थ की व्याख्या से संबंधित पूर्ववर्णित अन्य सिद्धांतों की भाँति उपयोग-सिद्धांत में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं जिन पर यहाँ विचार करना आवश्यक है।

---

45. पीटर विंच का लेख, 'अंडरस्टैंडिंग ए प्रिमिटिव सोसाइटी', 'अमेरिकन फ़िलॉसॉफ़िकल क्वाटर्ली', 1964, पृ० 309

सर्वप्रथम इस सिद्धांत के समर्थकों की यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती कि धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के अपने विशेष नियम होते हैं और इसके अर्थ की कसौटी धार्मिक जीवन-पद्धति या परम्परा से ही प्राप्त हो सकती है। हम देख चुके हैं कि धार्मिक भाषा कोई ऐसी विशेष भाषा नहीं है जो हमारी सामान्य भाषा से पूर्णतः पृथक और स्वतंत्र हो। वस्तुतः जब हम सामान्य भाषा का धार्मिक प्रसंगों में उपयोग करते हैं तो उसे ही 'धार्मिक भाषा' की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादी यह कहते हैं कि "ईश्वर ने ही इस जगत् की रचना की है", "वह हम सब से पिता की भाँति प्रेम करता है", "वह अत्यंत दयालु तथा न्यायी है" इत्यादि। इन कथनों में प्रयुक्त 'रचना', 'पिता', 'प्रेम', 'दयालु', न्यायी आदि शब्द हमारी सामान्य भाषा के ही शब्द हैं जिनका धार्मिक प्रसंगों में उपयोग हुआ है। जब तक हम सामान्य भाषा में इन शब्दों के अर्थ को भलीभाँति नहीं समझते तब तक हम धार्मिक प्रसंगों में इनके विशेष अर्थ को नहीं समझ सकते। जो व्यक्ति इन शब्दों के सामान्य अर्थ से अनभिज्ञ है वह धार्मिक प्रसंगों में इनके विशेष अर्थ को कभी नहीं समझ सकता। इससे यही प्रमाणित होता है कि धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के अपने अलग नियम नहीं होते और इसके अर्थ की कसौटियां भी केवल धार्मिक जीवन-पद्धति अथवा परंम्परा से उपलब्ध नहीं होतीं जैसा कि उपयोग-सिद्धांत के समर्थक मानते हैं। वास्तव में धार्मिक भाषा के अर्थ-निरूपण के नियम और इसके अर्थ की कसौटियां मूलतः वे ही हैं जिनका प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन की सामान्य भाषा के अर्थ-निरूपण के लिए करते हैं। ऐसी स्थिति में विटगिन्स्टाइन, फ़िलिप्स, मैलकॉम आदि दार्शनिकों का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि धार्मिक भाषा के अपने ही विशेष नियम तथा उसके अर्थ की अपनी पृथक कसौटियाँ होती हैं।

उपयोग-सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि इसके समर्थक हमें उस 'धार्मिक जीवन-पद्धति' का ठीक-ठीक अर्थ नहीं बताते जिसके अंतर्गत वे धार्मिक भाषा को सार्थक मानते हैं। क्या मंदिर, मस्जिद आदि उपासना-स्थलों में जाना, वहाँ विशेष प्रकार से प्रार्थना या पूजा-पाठ करना तथा अन्य धार्मिक कृत्यों में भाग लेना ही धार्मिक जीवन-पद्धति हैं? यदि धार्मिक जीवन-पद्धति का यही अर्थ है और यदि इसके अंतर्गत प्रयुक्त धार्मिक भाषा को ही सार्थक माना जा सकता है तो इसी तर्क के आधार पर धार्मिक जीवन-पद्धति से भिन्न तथा इसकी विरोधी जीवन-पद्धतियों में प्रयुक्त होने वाली भाषा को भी समान रूप से सार्थक मानना अनिवार्य हो जाता है। जिस प्रकार धार्मिक जीवन-पद्धति को स्वीकार करने वाले बहुत-से व्यक्ति सार्थकतापूर्वक धार्मिक भाषा का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष जीवन-पद्धति को मानने वाले अनेक व्यक्ति भी धर्मनिरपेक्ष भाषा का सार्थक प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों की परस्पर विरोधी भाषा को समान रूप से सार्थक मानना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो शब्द और कथन धार्मिक जीवन-पद्धति का समर्थन करने वाले व्यक्तियों के लिए सार्थक हैं वे धर्मनिरपेक्ष जीवन-पद्धति को स्वीकार करने वाले मनुष्यों के लिए निरर्थक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादियों के लिए ईश्वर विषयक कथन बहुत महत्वपूर्ण तथा सार्थक हैं जबकि निरीश्वरवादियों के लिए इन कथनों का कोई महत्त्व और अर्थ नहीं है। इसी प्रकार एक ही

शब्द अथवा कथन कुछ व्यक्तियों के लिए सार्थक और कुछ अन्य व्यक्तियों के लिए निरर्थक हो जाता है। भाषा के समुचित अर्थ-निरूपण की दृष्टि से इस अराजकतापूर्ण स्थिति का तर्कसंगत समर्थन करना निश्चय ही बहुत कठिन है। वस्तुतः यदि भाषा की सार्थकता के विषय में उपयोग-सिद्धांत के समर्थकों का मत उचित है तो ऐसे सभी शब्दों तथा कथनों को सार्थक मानना अनिवार्य हो जाता है जिनका कुछ व्यक्ति सार्थकतापूर्वक प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से 'भूत', 'प्रेत', 'पिशाच' आदि शब्द उतने ही सार्थक हैं जितने 'ईश्वर', 'आत्मा', 'मोक्ष' आदि शब्द, क्योंकि कुछ व्यक्ति इन सभी शब्दों का विभिन्न प्रसंगों में सार्थक रूप से प्रयोग करते हैं। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि ऐसा कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है जिसे कुछ व्यक्ति सार्थक मानते हैं और जिसका वे किसी भी संदर्भ में सार्थकतापूर्वक प्रयोग करते हैं। यह उपयोग-सिद्धांत का अनिवार्य परिणाम है जो भाषा के समुचित अर्थ-निरूपण में निश्चय ही सहायक नहीं हो सकता।

धर्मपरायण व्यक्तियों की दृष्टि से उपयोग-सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य गम्भीर आपत्ति यह है कि इसके समर्थक समस्त धार्मिक कथनों तथा विश्वासों की तथ्यात्मकता अथवा संज्ञानात्मकता का पूर्णतः निषेध करते हैं। हम देख चुके हैं कि विटगिन्स्टाइन, फिलिप्स आदि दार्शनिक धार्मिक कथनों और विश्वासों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक नहीं मानते। उनके मतानुसार इन कथनों तथा विश्वासों की सार्थकता केवल उस प्रभाव में ही निहित है जो ये धर्मपरायण व्यक्तियों के जीवन पर डालते हैं। परंतु स्वयं धर्मपरायण व्यक्ति उनकी इस मान्यता का समर्थन नहीं करना चाहेंगे, क्योंकि ये व्यक्ति धार्मिक कथनों एवं विश्वासों को संज्ञानात्मक अथवा तथ्यपरक ही मानते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई ईश्वरोपासक ईश्वर विषयक कथनों का प्रयोग करता है तो वह निश्चय ही इन कथनों को वस्तुनिष्ठ एवं तथ्यपरक कथन मानता है। वह इन्हें केवल ऐसे कथन नहीं मानता जो उसके जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। ऐसी स्थिति में उपयोग-सिद्धांत के समर्थकों ने ईश्वर विषयक कथनों और विश्वासों का जो विश्लेषण किया है वह ईश्वरवादियों को स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह विश्लेषण इन कथनों तथा विश्वासों की संज्ञानात्मकता का पूर्ण रूप से निषेध करता है। वस्तुतः धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए धार्मिक कथनों तथा विश्वासों को तथ्यपरक या संज्ञानात्मक मानना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि यदि वे इन कथनों और विश्वासों को संज्ञानात्मक अथवा तथ्यपरक नहीं मानते तो उनके जीवन पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। उदाहरणार्थ, यदि मैं किसी धार्मिक कथन या विश्वास को तथ्यपरक न मान कर केवल काल्पनिक ही मानता हूँ तो यह निश्चित है कि वह मेरे आचरण और विचारों को प्रभावित नहीं कर सकता। यही कारण है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक कथनों और विश्वासों को वस्तुपरक एवं तथ्यात्मक ही मानते हैं। वे उपयोग-सिद्धांत के समर्थकों की इस मान्यता को स्वीकार नहीं कर सकते कि धार्मिक कथनों और विश्वासों का तथ्यों से कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के कारण उपयोग-सिद्धांत भी धार्मिक भाषा के अर्थ एवं स्वरूप की पूर्णतः संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता।

5. निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय के पिछले खंडों में हमने धार्मिक भाषा के स्वरूप तथा उसकी सार्थकता के विषय में कुछ प्रमुख सिद्धांतों की समीक्षा की है। हम देख चुके हैं कि इनमें से कोई भी सिद्धांत धार्मिक भाषा के अर्थ और स्वरूप की पूर्णतया संतोषजनक व्याख्या करने में सफल नहीं हो सका, क्योंकि प्रत्येक सिद्धांत में कुछ कठिनाइयां अथवा दोष विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष विचारणीय मूल प्रश्न यह है कि धार्मिक भाषा का वास्तविक स्वरूप क्या है और ऐसे कौन-से तत्त्व हैं जो इस भाषा को अन्य सभी प्रकार की भाषाओं से पृथक करते हैं। धार्मिक भाषा के स्वरूप का संक्षिप्त उल्लेख हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। हम बता चुके हैं कि धार्मिक भाषा हमारे दैनिक जीवन की सामान्य भाषा से पूर्णतः भिन्न नहीं है, क्योंकि धार्मिक भाषा में अधिकतर शब्द वे ही होते हैं जिनका हम अपनी सामान्य भाषा में प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से धार्मिक भाषा मूलतः हमारी सामान्य भाषा पर ही निर्भर है। परंतु हमारे इस कथन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि धार्मिक भाषा तथा सामान्य तथ्यपरक एवं वैज्ञानिक भाषा में कोई अंतर नहीं है। हम अपने दैनिक जीवन में भौतिक वस्तुओं और सामान्य कार्यों के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसे 'धार्मिक भाषा' नहीं कहा जाता। इसी प्रकार साहित्य , कला, राजनीति, गणित, विज्ञान, दर्शन आदि में जिस भाषा का प्रयोग होता है उसे भी 'धार्मिक भाषा' की संज्ञा नहीं दी जाती। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि धार्मिक भाषा की कुछ अपनी विशेषताएं हैं जो उसे अन्य सभी प्रकार की भाषाओं से पृथक करती हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक भाषा के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए उसकी इन मूल विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय के इस अंतिम खंड में धार्मिक भाषा की इन मूल विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख किया जाएगा।

प्रथम अध्याय में हम बता चुके हैं कि धर्म किसी अलौकिक सत्ता के प्रति उन्मुख मनुष्य की एक ऐसी व्यापक अभिवृत्ति है जो इस सत्ता में उसके विश्वास अथवा उसकी आस्था के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और जिसका उसके संपूर्ण जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म का संबंध मानव-जीवन के सभी महत्त्वपूर्णपक्षों से है। धर्म की यह व्यापक परिधि धार्मिक भाषा में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है और यह व्यापकता धार्मिक भाषा की एक अनिवार्य विशेषता है। धार्मिक भाषा के अंतर्गत अनेक प्रकार के वाक्य समाविष्ट रहते हैं जिनमें ऐतिहासिक, आदेशात्मक, उपदेशात्मक, नैतिक और तत्त्वमीमांसीय वाक्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि में इन धर्मों के प्रवर्तकों के जीवन एवं कार्यों से संबंधित अनेक ऐतिहासिक कथन पाए जाते हैं जो इन धर्मों की भाषा के अनिवार्य भाग हैं। इन धर्मों के अनुयायियों के लिए ऐसे ऐतिहासिक कथनों का बहुत महत्त्व है। इसी कारण इन ऐतिहासिक कथनों को धार्मिक भाषा में सम्मिलित किया जाता है। इन कथनों के अतिरिक्त सभी धर्मों में मनुष्यों को सदाचरण के लिए कुछ विशेष आदेश तथा उपदेश दिए जाते हैं। ये आदेश और उपदेश हमें सभी धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। जो वाक्य इन आदेशों एवं उपदेशों को अभिव्यक्त करते हैं

उन्हें भी धार्मिक भाषा के अंतर्गत ही रखा जाता है। इन वाक्यों में वे नैतिक कथन भी सम्मिलित हैं जिनमें मनुष्य को कुछ विशेष कर्म करने या न करने का परामर्श दिया जाता है। इसी कारण नैतिक भाषा धार्मिक भाषा का अनिवार्य अंग बन जाती है। इस नैतिक भाषा के अतिरिक्त, ईश्वर, आत्मा या किसी अन्य अलौकिक सत्ता से संबंधित तत्त्वमीमांसीय कथन भी धार्मिक भाषा में अनिवार्यतः समाविष्ट रहते हैं। ये कथन जीवन तथा जगत् के प्रति धर्मपरायण व्यक्तियों के मूल विश्वासों और उपास्य सत्ता के प्रति उनकी श्रद्धा एवं समर्पण-भावना को अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से धार्मिक भाषा में इन तत्त्वमीमांसीय कथनों का भी विशेष महत्त्व है। ईश्वर का अस्तित्व एवं स्वरूप, आत्मा का अस्तित्व, स्वरूप और उसकी अमरता, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि विषयों से संबंधित वाक्य ऐसे ही तत्त्वमीमांसीय कथन हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, कि धर्म के समान ही धार्मिक भाषा की परिधि भी अत्यधिक व्यापक है और यह व्यापकता धार्मिक भाषा की बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

धार्मिक भाषा की दूसरी मूल विशेषता यह है कि वह किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता से अनिवार्यतः संबद्ध रहती है। धर्मपरायण व्यक्ति इस अलौकिक सत्ता को ही उपास्य सत्ता मानते हैं और वे इसकी पूजा या उपासना के लिए जिन वाक्यों का प्रयोग करते हैं उन्हें 'धार्मिक कथन' माना जाता है। प्रार्थना, कीर्तन, सत्संग, जप-तप, पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्मकांड में ऐसे ही कथनों का प्रयोग होता है। इन कथनों के माध्यम से भक्त या उपासक अपने आराध्य विषय के प्रति अपनी गहन आस्था, श्रद्धा एवं पूर्ण समर्पण की भावना को अभिव्यक्त करते हैं। इसी कारण यह कहना अनुचित न होगा कि उपास्य अलौकिक या दैवी सत्ता संबंधी इन कथनों का धार्मिक भाषा में सर्वाधिक महत्त्व है। अलौकिक अथवा दैवी सत्ता की उपासना का यह तत्त्व धार्मिक भाषा में अनिवार्यतः पाया जाता है जो इसे अन्य सभी प्रकार की भाषाओं से पृथक करता है। धार्मिक भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की भाषा में यह तत्त्व विद्यमान नहीं रहता। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि यही तत्त्व किसी कथन को वास्तविक अर्थ में 'धार्मिक कथन' बनाता है। इस दृष्टि से उन धार्मिक कथनों का विशेष महत्त्व है जिनका संबंध अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता की उपासना के इस तत्त्व से होता है। समकालीन दार्शनिकों में धार्मिक भाषा की तथ्यात्मक सार्थकता अथवा संज्ञानात्मकता के विषय में जिस तीव्र मतभेद या विवाद की विवेचना पिछले खंडों में की गई है वह मुख्यतः इन्हीं धार्मिक कथनों से संबंधित हैं। हम देख चुके हैं कि कुछ दार्शनिक इन कथनों को अतिप्राकृतिक तथ्यों का वर्णन करने वाले संज्ञानात्मक कथन मानते हैं और कुछ अन्य दार्शनिक विशेष प्रकार की भावनाओं या अभिवृत्तियों को व्यक्त करने वाले असंज्ञानात्मक कथन। धार्मिक कथनों के स्वरूप के संबंध में अपनी इन्हीं परस्पर विरोधी मान्यताओं को युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिए ही इन दार्शनिकों ने विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जिनकी विस्तृत चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि इनमें से कोई भी सिद्धांत इन धार्मिक कथनों की पूर्णतः संतोषप्रद एवं तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर पाता।

वस्तुतः धार्मिक भाषा के अंतर्गत जिन ऐतिहासिक, आदेशात्मक, उपदेशात्मक तथा नैतिक वाक्यों का प्रयोग होता है उनके स्वरूप के संबंध में कोई विशेष समस्या नहीं है,

क्योंकि ऐतिहासिक वाक्य सामान्य तथ्यात्मक कथन हैं और शेष वाक्यों को तथ्यपरक कथन नहीं माना जाता। धार्मिक भाषा की वास्तविक समस्या उन कथनों के स्वरूप के विषय में है जिनका संबंध अलौकिक या दैवी उपास्य सत्ता से है। इन कथनों में इस सत्ता के अस्तित्व, स्वरूप तथा जगत् और मनुष्य के साथ इसके संबंध का वर्णन किया जाता है। धर्मपरायण व्यक्ति इन कथनों को तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक कथन मानते हैं और कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक भी उनके इस मत का समर्थन करते हैं। परंतु मेरे विचार में यह मत उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। इसका कारण यह है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने इन धार्मिक कथनों में जिस अतिप्राकृतिक या दैवी उपास्य सत्ता का वर्णन करते हैं उसे मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे माना जाता है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ऐसी सत्ता के विषय में मनुष्य के लिए सार्थक रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। वह इस दैवी या अतिप्राकृतिक उपास्य सत्ता के संबंध में ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता जो वास्तव में बोधगम्य हो। ऐसी स्थिति में उसके लिए इस सत्ता के विषय में मौन रहने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। जो कुछ मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे है वह कभी भी सार्थक रूप से भाषा द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता। भाषा के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति का प्रयास अनुचित और निरर्थक ही होगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि दैवी या अतिप्राकृतिक उपास्य सत्ता से संबंधित धार्मिक कथन वास्तव में तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक नहीं हैं।

परंतु उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि ये धार्मिक कथन मनुष्य के लिए निरर्थक और महत्त्वहीन हैं। वस्तुतः ये कथन तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक न होते हुए भी संवेगात्मक दृष्टि से धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए सार्थक तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन कथनों के माध्यम से ये व्यक्ति अलौकिक या दैवी उपास्य सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण तथा पूजा संबंधी अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं और अन्य व्यक्तियों में इन्हीं भावनाओं को जागृत करते हैं। यदि वे अपनी उपास्य सत्ता के प्रति वास्तविक निष्ठा रखते हैं तो उनके संपूर्ण जीवन पर इस सत्ता से संबंधित धार्मिक कथनों का गहरा प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से उनके लिए इन कथनों का विशेष महत्त्व है। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि दर्शन तथा विज्ञान के विपरीत धर्म भावनाप्रधान है और धर्मपरायण व्यक्ति के जीवन में धार्मिक अनुभूति का सर्वप्रथम स्थान होता है। धार्मिक कथनों के माध्यम से वह अपनी इसी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। उसका यह दावा उचित और तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि वह इन कथनों द्वारा अतिप्राकृतिक अथवा दैवी उपास्य सत्ता से संबंधित कुछ विशेष अलौकिक तथ्यों का वर्णन करता है, अतः उसके ये कथन तथ्यपरक या संज्ञानात्मक हैं। वस्तुतः उसके लिए इन कथनों की सार्थकता उस धार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति में ही निहित है जिसका वह अपने जीवन में बड़ी गहराई और तीव्रता से अनुभव करता है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि अलौकिक या दैवी उपास्य सत्ता संबंधी धार्मिक कथन तथ्यपरक अथवा संज्ञानात्मक न होते हुए भी धर्मपरायण व्यक्ति के लिए संवेगात्मक दृष्टि से निश्चय ही सार्थक तथा बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

10

धर्म और नैतिकता

1. नैतिकता का स्वरूप

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में धर्म के स्वरूप की विस्तृत विवेचना के साथ-साथ हम धर्म तथा नैतिकता के घनिष्ठ संबंध की संक्षिप्त चर्चा भी कर चुके हैं। इस अध्याय के अतिरिक्त दूसरे तथा छठे अध्याय में भी परोक्ष रूप से धर्म और नैतिकता के पारस्परिक संबंध पर संक्षेप में विचार किया गया है। परंतु धर्म-दर्शन में इस विषय के विशेष महत्त्व को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्याय में धर्म एवं नैतिकता के संबंध का सविस्तार विवेचन किया जाएगा। इस संदर्भ में हमारे समक्ष मूल समस्या यह है कि धर्म और नैतिकता में किस प्रकार का संबंध है। इस समस्या के स्वरूप को हम निम्नलिखित प्रश्नों द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं :—क्या धर्म नैतिकता का अनिवार्य आधार है— अर्थात्, क्या धर्म के अभाव में नैतिकता का कोई महत्त्व और अस्तित्व नहीं हो सकता ? क्या नैतिकता धर्म के लिए अनिवार्य है अथवा क्या नैतिकता के बिना धर्म का अस्तित्व असम्भव है ? क्या धर्म और नैतिकता एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं ? अथवा इसके विपरीत क्या इन दोनों को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक और स्वतंत्र माना जा सकता है ? क्या हम तर्कसंगत रूप से यह कह सकते हैं कि धर्म तो नैतिकता के लिए अनिवार्य है, किंतु नैतिकता धर्म के लिए अनिवार्य नहीं है ? इसके विपरीत क्या यह कहना युक्तिसंगत होगा कि नैतिकता तो धर्म के लिए अनिवार्य है, किंतु धर्म नैतिकता के लिए अनिवार्य नहीं है ? अंत में क्या हम तर्कसंगत रूप से इस मत का समर्थन कर सकते हैं कि भिन्न-भिन्न होते हुए भी धर्म तथा नैतिकता एक-दूसरे के लिए सहायक अथवा परस्पर पूरक हैं ? इन सभी प्रश्नों से यह स्पष्ट है कि धर्म और नैतिकता के संबंध की समस्या पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने इस समस्या की विवेचना करते हुए धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोणों में से कुछ दृष्टिकोणों का प्रबल समर्थन किया है जिन पर हम प्रस्तुत अध्याय के अगले खंड में विचार करेंगे। परंतु धर्म एवं नैतिकता के पारस्परिक संबंध का विवेचन करने से पूर्व इन दोनों के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। धर्म के स्वरूप को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। परंतु यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि धर्म और नैतिकता के संबंध की समस्या के संदर्भ में हम 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'कर्त्तव्य' अथवा 'स्वकर्त्तव्यपालन' के विशेष भारतीय अर्थ में न करके इसके सामान्य प्रचलित अर्थ में ही कर रहे हैं जिसका विवेचन इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में किया गया है। हम देख चुके हैं कि इस सामान्य अर्थ में धर्म मनुष्य की वह व्यापक अभिवृत्ति है जो उसके संपूर्ण जीवन को प्रभावित करती है और जो किसी दैवी या अतिप्राकृतिक सत्ता में उसके विश्वास के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इस प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म के साथ नैतिकता का क्या संबंध है इस प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिए धर्म के अतिरिक्त नैतिकता के अर्थ अथवा स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक है। हम अपने दैनिक जीवन में 'नैतिकता' और 'नैतिक' इन दोनों शब्दों का प्रायः प्रयोग करते हैं, किंतु अन्य अनेक दार्शनिक अवधारणाओं के लिए प्रयुक्त शब्दों की भाँति इन शब्दों की भी कोई सुनिश्चित एवं सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यंत कठिन है। इसका कारण यह है कि 'नैतिक' तथा 'नैतिकता' इन शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में प्रायः भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ प्रसंगों में इन शब्दों का प्रयोग मूल्यात्मक अर्थ में होता है। जब हम मनुष्य के किसी कर्म को 'नैतिक' या 'अनैतिक' कहते हैं तो इन शब्दों के प्रयोग द्वारा हम उस कर्म की प्रशंसा अथवा निंदा करके उसका मूल्यांकन करते हैं। इस मूल्यात्मक अर्थ में ये शब्द अनुमोदन तथा अननुमोदन संबंधी हमारी अभिवृत्तियों को व्यक्त करते हैं, अतः इस अर्थ में कुछ दार्शनिक इन्हें संवेगात्मक शब्द भी मानते हैं। परंतु मेरे विचार में 'नैतिक' और 'अनैतिक' इन शब्दों के इस अर्थ को संवेगात्मक अर्थ की अपेक्षा मूल्यात्मक अर्थ कहना सम्भवतः अधिक तर्कसंगत होगा, क्योंकि इस अर्थ में ये शब्द मानवीय चरित्र तथा कर्मों का मूल्याकन करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामान्यतः इन शब्दों का यह मूल्यात्मक अर्थ ही अधिक प्रचलित है। जब साधारण व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में किसी कर्म को नैतिक या अनैतिक कहते हैं अथवा किसी व्यक्ति या समुदाय की नैतिकता की प्रशंसा और उसकी अनैतिकता की निंदा करते हैं तो वे 'नैतिक' तथा 'नैतिकता' इन शब्दों का प्रयोग इसी मूल्यात्मक अर्थ में करते हैं। इस दृष्टि से इन शब्दों के इस मूल्यात्मक अर्थ का बहुत महत्त्व है।

परंतु उपर्युक्त अर्थ के अतिरिक्त इन शब्दों का एक अन्य अर्थ भी है जिसे 'वर्णनात्मक अर्थ' की संज्ञा दी जा सकती है। इस वर्णनात्मक अर्थ में 'नैतिक' और 'नैतिकता' ऐसे तटस्थ शब्द हैं जो हमारे कुछ विशेष कथनों या निर्णयों के स्वरूप का वर्णन मात्र करते हैं—अर्थात, जो हमें यह बताते हैं कि हमारे ये कथन अथवा निर्णय किस प्रकार के हैं। इस अर्थ में 'नैतिक' का विरोधी शब्द, 'अनैतिक' न हो कर 'निर्नैतिक' ही है। हम ऐसे कथन को 'निर्नैतिक कथन' कह सकते हैं जो न नैतिक है और न अनैतिक—अर्थात, जिसका नैतिकता से कोई संबंध नहीं है। "पुस्तक मेज़ पर है", "मैं वृक्ष को देख रहा हूँ" आदि तथ्यात्मक कथन निर्नैतिक कथन हैं। स्पष्ट है कि इस अर्थ में 'नैतिक' और 'नैतिकता' ये शब्द मूल्यांकन संबंधी कार्य नहीं करते, क्योंकि ऐसे प्रसंगों में इन शब्दों के प्रयोग का उद्देश्य किसी की प्रशंसा या निंदा करना नहीं होता। वस्तुतः इस प्रकार के प्रसंगों में ये शब्द कुछ अवधारणाओं या कथनों के स्वरूप का वर्णन मात्र करते हैं। इसी कारण इन शब्दों के इस मूल्यनिरपेक्ष अर्थ को 'वर्णनात्मक अर्थ' कहा जा सकता है। समकालीन पाश्चात्य नैतिक दर्शन में 'अधि—नीतिशास्त्र' नामक जिस नवीन विधा का विकास हुआ है उसमें 'नैतिक' और 'नैतिकता' इन शब्दों का प्रयोग इसी वर्णनात्मक अर्थ में किया जाता है। परंतु इन शब्दों का यह वर्णनात्मक अर्थ नैतिक भाषा के अध्ययन तक ही सीमित है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में इन शब्दों का इस अर्थ में प्रयोग नहीं करते। यही कारण है कि

सामान्यतः 'नैतिक' तथा 'नैतिकता' का यह वर्णनात्मक अर्थ प्रचलित नहीं है और साधारण व्यक्ति इन शब्दों के इस अर्थ से प्रायः अनभिज्ञ ही रहते हैं। वस्तुतः मनुष्य के सामाजिक जीवन की दृष्टि से इन शब्दों के उस मूल्यात्मक अर्थ का ही विशेष महत्त्व है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

जैसा कि हम पिछले कुछ अध्यायों में पहले ही संकेत कर चुके हैं, नैतिकता एक ऐसी सामाजिक संस्था अथवा व्यवस्था है जिसका उद्गम तथा विकास समाज में ही होता है और जिसकी सार्थकता एवं महत्ता मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण ही है। समाज से पृथक तथा स्वतंत्र नैतिकता की न तो कोई सम्भावना है और न आवश्यकता। हम सार्थकतापूर्वक ऐसे किसी मनुष्य के आचरण के नैतिक या अनैतिक होने की कल्पना नहीं कर सकते जो समाज से पूर्णतः पृथक जीवन व्यतीत कर रहा है। इसका कारण यह है कि ऐसे मनुष्य के कर्म किसी दूसरे व्यक्ति के जीवन को प्रभावित नहीं करते और न ही किसी अन्य व्यक्ति के कर्म उसके जीवन पर कोई प्रभाव डालते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में समाज से पूर्णतः पृथक जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य के आचरण को नैतिक या अनैतिक कहने का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इससे यह प्रमाणित होता है कि नैतिकता की सार्थकता अनिवार्यतः मनुष्य के सामाजिक जीवन में ही निहित है। वस्तुतः सामाजिक प्राणी होना मनुष्य की अपरिहार्य नियति है, क्योंकि समाज के अभाव में न तो उसका अस्तित्व सम्भव है और न विकास। यदि मानव स्वभावतः सामाजिक प्राणी न होता तो निश्चय ही उस रूप में नैतिकता का अस्तित्व भी न होता जिस रूप में आज हम उससे परिचित हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम नैतिकता की निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं:–

नैतिकता रीति-रिवाजों, प्रथाओं, नियमों, सिद्धांतों, मूल्यों एवं आदर्शों से संबंधित वह सामाजिक व्यवस्था है जिसका उद्देश्य मनुष्य के वैयक्तिक कल्याण तथा सामाजिक हित एवं समायोजन के लिए उसके आचरण का नियमन, नियंत्रण, मूल्यांकन तथा मार्गदर्शन करना है और जिसे वह सामाजिक दबाव अथवा स्वयं अपनी इच्छा के कारण स्वीकार करता है। सामान्य व्यक्ति तथा अधिकतर दार्शनिक 'नैतिकता' शब्द का प्रयोग मानवीय आचरण का नियमन, मार्गदर्शन एवं मूल्यांकन करने वाली सामाजिक व्यवस्था संबंधी इस अर्थ में करते हैं और मेरे विचार में इस शब्द का यही अर्थ उचित तथा युक्तिसंगत है। जब हम अपने व्यावहारिक जीवन में किसी व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से अच्छा अथवा बुरा और उसके किसी कर्म को उचित या अनुचित कहते हैं तो हम नैतिकता का यही अर्थ स्वीकार करते हैं। **इस प्रकार नैतिकता कुछ रीति-रिवाजों, प्रथाओं, नियमों एवं आदर्शों द्वारा मानवीय आचरण का नियमन, मार्गदर्शन तथा मूल्यांकन करने वाली सामाजिक व्यवस्था है जिसका लक्ष्य व्यक्ति और समाज दोनों का अधिकतम कल्याण ही है।**

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि नैतिकता का उपर्युक्त अर्थ स्वीकार किया जाए तो उसे धर्म और कानून से किस प्रकार भिन्न माना जा सकता है। नैतिकता की भाँति धर्म तथा कानून भी मनुष्य के आचरण का नियमन और मार्गदर्शन करते हैं। ऐसी स्थिति में क्या नैतिकता धर्म तथा कानून के पूर्णतः समान है? क्या नैतिकता और इन दोनों में कोई मूल भेद नहीं है? इन प्रश्नों पर विचार करने से नैतिकता के स्वरूप को निश्चय ही अधिक स्पष्ट

किया जा सकता है। यह सत्य है कि नैतिकता, धर्म तथा कानून ये तीनों ही मानवीय आचरण का नियमन और मार्गदर्शन करते हैं, किंतु इस समानता के होते हुए भी इन तीनों में पर्याप्त अंतर है जिसकी उपेक्षा करना उचित नहीं होगा। धर्म और नैतिकता में विद्यमान अंतर पर हम अगले खंड में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, अतः यहाँ कानून तथा नैतिकता में पाए जाने वाले अंतर की ही संक्षिप्त विवेचना की जाएगी। क़ानून और नैतिकता दोनों ही केवल सैद्धांतिक शास्त्र न हो कर व्यावहारिक शास्त्र भी हैं, क्योंकि इन दोनों का संबंध मनुष्य के व्यवहार अथवा आचरण से है। परंतु मानवीय आचरण के प्रति इन दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर है। कानून मानवीय आचरण के उस पक्ष को नियमित या नियंत्रित करता है जिसे 'बाह्य पक्ष' कहा जा सकता है और जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों में होती है। मानवीय आचरण का आंतरिक पक्ष कानून की परिधि से बाहर है—अर्थात्, वह मनुष्य की भावनाओं तथा अभिवृत्तियों को नियंत्रित अथवा नियमित नहीं कर सकता। परंतु नैतिकता का संबंध मानवीय आचरण के बाह्य तथा आंतरिक दोनों पक्षों से है; वह मनुष्य के बाह्य व्यवहार के साथ-साथ उसकी आंतरिक भावनाओं को भी नियंत्रित करती है। इस दृष्टि से नैतिकता का क्षेत्र कानून के क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है।

उपर्युक्त अंतर के अतिरिक्त कानून और नैतिकता में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर भी है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। कानून दंड के भय द्वारा मनुष्य पर बाहर से आरोपित किया जाता है, किंतु अपने विकसित रूप में नैतिकता आत्मारोपित ही होती है। अधिकतर व्यक्ति दंड से बचने के लिए ही अपने देश के कानूनों का पालन करते हैं, परंतु जो नैतिक नियम उनके जीवन का अभिन्न अंग बन जाते हैं उनका पालन वे प्रलोभन या भय के विना अपनी इच्छा से करते हैं। यही कारण है कि नैतिक नियम के उल्लंघन के फलस्वरूप मनुष्य के मन में अपराध-बोध उत्पन्न होता है, किंतु कानून के उल्लंघन के परिणामस्वरूप ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि क़ानून मनुष्य के बाह्य जीवन तक ही सीमित है, जबकि नैतिकता उसके बाह्य जीवन के साथ-साथ आंतरिक जीवन को भी बड़ी गहराई से प्रभावित करती है।

अंत में कानून तथा नैतिकता में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि कानून संबंधी नियम किसी एक व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा किसी विशेष समय में विशेष समुदाय के लिए हीं बनाए जातें हैं, किंतु नैतिक नियमों के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक देश के प्रत्येक कानून के विषय में हम यह जान सकते हैं कि वह कब, किसके द्वारा तथा किसके लिए बनाया गया, परंतु किसी भी नैतिक नियम के संबंध में इस प्रश्न का उत्तर देना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि नैतिक नियमों की एक दीर्घकालीन परम्परा होती है जिसमें निश्चित रूप से यह जानना असंभव हो जाता है कि कौन-सा नैतिक नियम कब और किसके द्वारा बनाया गया। अधिकतर व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन प्रायः परम्परा के प्रति सम्मान के कारण करते हैं, किंतु कानूनों के पालन के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कानून और नैतिकता में समानता के साथ-साथ कुछ महत्त्वपूर्ण आधारभूत अंतर भी हैं जो इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक करते हैं।

कानून तथा नैतिकता के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे हम कुछ सीमा तक यह जान सकते हैं कि नैतिक नियम किस प्रकार के होते हैं। परंतु नैतिकता के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिए इन नियमों की कुछ मूलभूत महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की विवेचना करना आवश्यक है। नैतिक नियमों की इन विशेषताओं द्वारा हम यह जान सकेंगे कि इन नियमों का वास्तविक स्वरूप क्या होता है और ये अन्य नियमों से किस प्रकार तथा कहाँ तक भिन्न होते हैं। अनेक दार्शनिकों ने नैतिक नियमों की निम्नलिखित आधारभूत विशेषताओं का वर्णन किया है :–

(1) सार्वजनीनता:– प्रत्येक नैतिक नियम अनिवार्यतः सार्वजनीन होता है–अर्थात्, वह समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है। उदाहरणार्थ, यदि मैं यह कहता हूँ कि अमुक व्यक्ति को अमुक कर्म करना चाहिए तो उक्त नियम के अनुसार इसका अर्थ यह है कि समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों–जिनमें मैं स्वयं भी सम्मिलित हूँ–को वह कर्म करना चाहिए। व्यक्तियों तथा परिस्थितियों में उपयुक्त अंतर बताए बिना मैं तर्कसंगत रूप से यह नहीं कह सकता कि अमुक व्यक्ति को वह कर्म करना चाहिए किंतु मुझे या किसी अन्य व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। यदि मैं ऐसा कहता हूँ तो नैतिक नियम की सार्वजनीनता का उल्लंघन करता हूँ। आर०एम० हेयर प्रत्येक नैतिक नियम के लिए इस सार्वजनीनता को अनिवार्य मानते हैं। उनका मत है कि यह सार्वजनीनता नैतिक शब्दों के अर्थ में ही निहित रहती है–अर्थात्, यह उनके अर्थ का अनिवार्य भाग है। इसे स्वीकार किए बिना हम किसी नैतिक शब्द या नियम के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सकते। हेयर यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि यह सार्वजनीनता नैतिक नियमों को अन्य नियमों से पृथक नहीं करती, क्योंकि यह सभी प्रकार के नियमों में पाई जाती है।

(2) परामर्शात्मकता:– सार्वजनीन होने के साथ-साथ प्रत्येक नैतिक नियम अनिवार्यतः परामर्शात्मक भी होता है। इसका अर्थ यह है कि वह वक्ता तथा अन्य सभी व्यक्तियों को कुछ करने या न करने का परामर्श देकर उनके आचरण का मार्गदर्शन करता है। उदाहरणार्थ, यदि मैं यह कहता हूँ कि "क उचित कर्म हैं" तो अनिवार्यतः इसका अर्थ यह है कि उपयुक्त अवसर पर मुझे तथा अन्य सभी व्यक्तियों को वह कर्म करना चाहिए। यदि उचित अवसर पर भी मैं वह कर्म नहीं करता तो इससे यही प्रमाणित होता है कि या तो मुझ में उस कर्म को करने की क्षमता नहीं है अथवा मैं वास्तव में यह नहीं मानता कि वह कर्म उचित है। इस प्रकार परामर्श देने या मार्गदर्शन करने के अर्थ में सभी नैतिक नियम अनिवार्यतः परामर्शात्मक होते हैं। सार्वजनीनता के साथ-साथ इस परामर्शात्मकता को भी हेयर प्रत्येक नैतिक नियम की अनिवार्य विशेषता मानते हैं। इस विशेषता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि प्रत्येक नैतिक नियम में आदेश अनिवार्यतः निहित रहता है जिसे स्वीकार किए बिना हम उसके स्वरूप भी ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकते। यह परामर्शात्मकता नैतिक शब्दों और कथनों को तथ्यात्मक शब्दों तथा कथनों से पृथक करती है। परंतु हेयर यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक नियमों के अतिरिक्त अन्य नियम भी परामर्शात्मक होते हैं, अतः यह परामर्शात्मकता भी नैतिक नियमों को अन्य सभी प्रकार के नियमों से पृथक नहीं करती।

(3) अपराध–बोध :– नैतिक नियमों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके उल्लंघन के साथ अपराध-बोध अनिवार्यतः संबद्ध रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब भी मनुष्य किसी ऐसे नैतिक नियम का उल्लंघन करता है जिसमें वह वास्तविक निष्ठा रखता है तो उसके मन में अपराध या पश्चाताप की भावना अवश्य उत्पन्न होती है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि नैतिक नियम का उल्लंघन करके उसने महान अपराध किया है जिसके लिए उसे प्रायश्चित करना चाहिए। यह भावना उसे नैतिक नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करने के लिए प्रेरित करती है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, यह अपराध–बोध नैतिक नियमों को कानूनों से पृथक करता है जिनका पालन करने के लिए मनुष्य दंड के भय द्वारा बाध्य होता है। नैतिक नियमों के अतिरिक्त धार्मिक नियमों का उल्लंघन करने के कारण भी धर्मपरायण व्यक्तियों के मन में यह अपराध-बोध उत्पन्न होता है। परंतु अन्य किसी प्रकार के नियम का उल्लंघन करने के फलस्वरूप हम अपराध की भावना का अनुभव नहीं करते, अतः यह कहना सम्भवतः अनुचित न होगा कि अपराध-बोध संबंधी यह विशेषता नैतिक नियमों तथा धार्मिक नियमों को अन्य सभी प्रकार के नियमों से पृथक करती है।

(4) सर्वाधिक महत्त्व :–मनुष्य जिन नैतिक नियमों को निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है उन्हें वह अपने जीवन में सदैव सर्वाधिक महत्त्व देता है। यदि उसके नैतिक नियम का किसी अन्य नियम के साथ संघर्ष हो तो वह उस नियम का परित्याग कर के केवल नैतिक नियम का ही पालन करता है। इतना ही नहीं, अपने नैतिक नियम का पालन करने के लिए वह प्रायः व्यक्तिगत हित अथवा स्वार्थ का भी परित्याग कर देता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य अपने जीवन में नैतिक नियमों को अन्य सभी प्रकार के नियमों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है, अतः वह किसी भी मूल्य पर इनका पालन करने के लिए उद्यत रहता है। नैतिक नियमों के प्रति मनुष्य का यह विशेष दृष्टिकोण भी उन्हें सभी प्रकार के नियमों से पृथक करता है।

(5) सामाजिक हितः– हम ऊपर बता चुके हैं कि नैतिकता अनिवार्यतः सामाजिक संस्था अथवा व्यवस्था है जो समाज के विभिन्न सदस्यों में सामंजस्य स्थापित करती है। इसी कारण समस्त नैतिक नियमों का अंतिम उद्देश्य संपूर्ण समाज का हित अथवा कल्याण ही होता है। यह समझना कठिन नहीं है कि संपूर्ण समाज के कल्याण में स्वयं व्यक्ति का कल्याण भी निहित है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के सुसंगठित समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। नैतिकता की यह अनिवार्य माँग है कि व्यक्ति अपने निजी हित की अपेक्षा समाज के कल्याण को अधिक महत्त्व दे। यदि किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति तथा समाज के हित में संघर्ष हो तो नैतिकता यह मांग करती है कि व्यक्ति समाज के कल्याण के लिए स्वयं अपने हित का परित्याग करे। यह परार्थवादी दृष्टिकोण ही नैतिकता का आधारभूत दृष्टिकोण है जिसे स्वीकार किए बिना व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अपने जीवन में आत्महित को ही सर्वोच्च स्थान देता है उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह नैतिकता के इस दृष्टिकोण के अनुरूप आचरण करेगा। व्यक्ति की स्वार्थ–सिद्धि का यह दृष्टिकोण नैतिकता के परार्थवादी दृष्टिकोण के ठीक विपरीत है। इसी कारण नैतिक नियम व्यक्ति से सामाजिक हित के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करने की माँग करते हैं। इस दृष्टि से नैतिक नियम कानून संबंधी नियमों के समान ही प्रतीत होते हैं जिनका पालन करना

अंततः समाज के हित के लिए अनिवार्य माना जाता है।

नैतिक नियमों की उपर्युक्त विशेषताओं से नैतिकता के स्वरूप को भलीभांति समझा जा सकता है। इन सभी विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि नैतिकता का उद्गम और विकास समाज द्वारा तथा समाज के कल्याण के लिए ही हुआ है। इस आधारभूत तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि नैतिकता का किसी दैवी या अतिप्राकृतिक सत्ता से कोई संबंध नहीं है। नैतिकता के लिए यह प्रश्न अप्रासंगिक है कि ऐसी कोई सत्ता है या नहीं अथवा मनुष्य को ऐसी सत्ता में विश्वास करना चाहिए या नहीं। वस्तुतः जब तक पृथ्वी पर मानव-समाज का अस्तित्व है तब तक मनुष्य के लिए नैतिकता की सार्थकता अथवा आवश्यकता बनी रहेगी—फिर चाहे वह किसी दैवी सत्ता में विश्वास करे या न करे। इसका कारण यह है कि नैतिक दृष्टि से किसी कर्म के उचित या अनुचित होने पर दैवी सत्ता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, कोई अतिप्राकृतिक अथवा दैवी सत्ता हो या न हो, किसी प्राणी को अनावश्यक तथा अकारण दुःख पहुंचाना नैतिक दृष्टि से अनुचित ही माना जाएगा। इसी प्रकार ऐसी सत्ता के न होने पर भी किसी दुःखी प्राणी के अनावश्यक दुःख का निराकरण करना नैतिक दृष्टि से निश्चय ही उचित कर्म कहा जाएगा। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सामाजिक संस्था अथवा व्यवस्था के रूप में नैतिकता किसी प्रकार की दैवी या अतिप्राकृतिक सत्ता पर आश्रित नहीं है। वस्तुतः नैतिकता का उद्देश्य समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य तथा उसके आचरण का मूल्यांकन, मार्गदर्शन एवं नियमन करना ही है जिसके लिए ऐसी किसी सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। नैतिकता सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने के लिए इसी संसार में मनुष्यों के पारस्परिक संबंध का नियमन करती है जिससे प्रत्येक व्यक्ति का हित हो और साथ ही संपूर्ण समाज में सुख, समृद्धि, शांति तथा व्यवस्था बनी रहे। नैतिकता के इस मूल उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि वह स्वतः साध्य न हो कर अंततः व्यक्ति और समाज के कल्याण का साधन है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नैतिकता का संबंध इसी संसार में मनुष्य के वर्तमान जीवन से ही है, किसी अतिप्राकृतिक या दैवी सत्ता और तथाकथित पारलौकिक विषयों से नहीं।

2. धर्म और नैतिकता का संबंध

नैतिकता के अर्थ और स्वरूप की विवेचना करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धर्म के साथ उसका क्या संबंध है। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है, यह प्रश्न अत्यधिक विवादास्पद है, क्योंकि विभिन्न दार्शनिकों ने पूर्णतः भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से धर्म तथा नैतिकता के पारस्परिक संबंध की व्याख्या की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस विषय का विस्तृत विवेचन पाश्चात्य दार्शनिकों ने ही किया है और उनके इस विवेचन का मूल आधार ईसाई धर्म है जो ईश्वरवाद अथवा एकेश्वरवाद में पूर्णतः विश्वास करता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारतीय दर्शन में धर्म और नैतिकता के संबंध की कोई विस्तृत एवं व्यवस्थित व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि अधिकतर भारतीय विचारकों ने इन दोनों में कोई मूल भेद स्वीकार नहीं किया। हम प्रथम अध्याय में मनु द्वारा

बताए गए धर्म के दस लक्षणों का उल्लेख कर चुके हैं जिनसे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे धर्म को नैतिकता से भिन्न नहीं मानते। वस्तुतः यदि धर्म को 'स्वकर्त्तव्य-पालन' के अर्थ में ही ग्रहण किया जाए तो धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में मनु का यह दृष्टिकोण निश्चय ही उचित तथा युक्तिसंगत है। परंतु जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, अधिकतर विचारक धर्म को इस विशेष अर्थ में ग्रहण न कर के प्रायः उसके सामान्य प्रचलित अर्थ में ही ग्रहण करते हैं और धर्म का यह अर्थ स्वकर्त्तव्य-पालन के अर्थ से भिन्न है। धर्म का यह प्रचलित सामान्य अर्थ हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, अतः यहाँ इसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत खंड में हम धर्म के इसी सामान्य अर्थ को स्वीकार करते हुए उसके साथ नैतिकता के संबंध पर विचार करेंगे। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में ही बताया गया है, इस संबंध में हमारे समक्ष मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म नैतिकता का एकमात्र अनिवार्य आधार है अथवा क्या वह स्वयं ही नैतिकता पर पूर्णतः निर्भर है। क्या हम इन दोनों को एक-दूसरे से भिन्न और स्वतंत्र मानते हुए भी परस्पर संबद्ध मान सकते हैं ? क्या धर्म और नैतिकता परस्पर पूरक तथा एक-दूसरे के लिए अनिवार्य हैं, विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों ने इन प्रश्नों के भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी उत्तर दिए हैं जिनकी प्रस्तुत खंड में समीक्षा की जाएगी।

जिन पाश्चात्य दार्शनिकों ने धर्म एवं नैतिकता के संबंध की विवेचना की है उनकी इस विवेचना का अंतिम आधार ईश्वर विषयक विश्वास ही है जिसे कुछ दार्शनिक पूर्णतः स्वीकार करते हैं और कुछ अन्य दार्शनिक निराधार तथा मिथ्या मानते हैं। इसी कारण जब ये दार्शनिक धर्म तथा नैतिकता के संबंध पर विचार करते हैं तो 'धर्म' से उनका तात्पर्य केवल ऐसा धर्म ही है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, शाश्वत, अत्यंत दयालु एवं न्यायशील ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है और जो उसे ही इस जगत् का रचयिता, पालनकर्ता तथा संरक्षक मानता है। यह स्पष्ट है कि ईश्वर की यह अवधारणा ऐसे व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर की अवधारणा है जो इच्छा करता है और आदेश देता है। वस्तुतः ईश्वरवादी धर्मों के समर्थक ऐसे ही व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यही विश्वास पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा किए गए धर्म और नैतिकता के संबंध के विवेचन का मूल आधार है। इसी ईश्वर विषयक विश्वास को ध्यान में रखते हुए कुछ दार्शनिक नैतिकता को धर्म पर पूर्णतः निर्भर मानते हैं, जबकि कुछ अन्य दार्शनिकों का मत है कि नैतिकता धर्म से भिन्न और स्वतंत्र है। कुछ दार्शनिक इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुए यह भी कहते हैं कि धर्म तथा नैतिकता एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी वास्तव में परस्पर पूरक हैं। यहाँ हम धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में इन सभी तथा कुछ अन्य दृष्टिकोणों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करेंगे।

अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिकों का विचार है कि नैतिकता का एकमात्र मूल आधार धर्म है जिसके अभाव में हम उसके अस्तित्व और उसकी सार्थकता की कल्पना भी नहीं कर सकते। धर्म के कारण ही हम समस्त नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों को स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति धर्म में विश्वास नहीं करता तो उसके लिए इन नैतिक मूल्यों, आदर्शों और नियमों का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि इन

दार्शनिकों के मतानुसार ऐसे धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के जीवन में नैतिकता के लिए कोई स्थान होना संभव नहीं है। वह केवल स्वार्थ से प्रेरित होकर ही समस्त कर्म करता है और इसी कारण उसके लिए नैतिक दृष्टि से उचित-अनुचित तथा शुभ-अशुभ या अच्छे-बुरे का कोई अर्थ नहीं हो सकता। धर्म के बिना नैतिकता उसी प्रकार निराधार है जिस प्रकार पतवार के बिना नदी में चलती हुई कोई नौका। केवल धर्म ही नैतिकता को उचित दिशा प्रदान कर के उसे पथभ्रष्ट होने से बचा सकता है। यदि नैतिकता को धर्म का सुदृढ़ आधार प्राप्त न हो तो वह निश्चय ही व्यक्तिगत स्वार्थ के दलदल में फंस कर नष्ट हो जाएगी। जब ईश्वरवादी दार्शनिक यह कहते हैं कि नैतिकता पूर्णतः धर्म पर ही निर्भर है तो इससे उनका तात्पर्य यह है कि समस्त नैतिक नियम अंततः ईश्वरीय नियम हैं और इन्हें ईश्वर के अनुल्लंघनीय आदेश मान कर ही मनुष्य को सदैव इनका पालन करना चाहिए। नैतिकता का मूल स्रोत ईश्वर ही है, मानव-समाज, समाज या कोई अन्य लौकिक वस्तु नहीं। इस दृष्टि से इन दार्शनिकों के विचार में नैतिकता मानवीय वस्तु न होकर वास्तव में अतिप्राकृतिक या दैवी वस्तु है।

धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में इसी ईश्वरवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए जे०ई० स्मिथ ने लिखा है:— "ईसाई धर्म तथा यहूदी धर्म में इस बात को स्वीकार करने में मतैक्य है कि धर्म के बिना नैतिकता अंततः अनैतिक है।........ अंततः अच्छे जीवन के विषय में कोई भी विचार, मनुष्य को क्या करना चाहिए इस संबंध में कोई भी महत्त्वपूर्ण सिद्धांत, मानव के अंतिम लक्ष्य से संबंधित किसी विचार के बिना संभव नहीं है, और यह विचार नैतिकता में धार्मिक तत्त्व का समावेश करता है। यह इस बात को सिद्ध करने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है कि नैतिकता धर्म के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है। ऐसी नैतिकता जो अपने से ऊपर किसी सत्ता पर आधारित नहीं है अनिवार्यतः भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाती है, क्योंकि वह अपने आदेशों से परे किसी निर्णायक को स्वीकार नहीं करती।......... परंतु जो नैतिकता धार्मिक स्वरूप वाले ईश्वरीय प्रेम पर वास्तव में आधारित है और जो ईश्वर की शक्ति को निर्णायक के रूप में स्वीकार करती है वह सिद्धांततः ऐसे भ्रष्टाचार से बची रहती है।........ धर्म पर आधारित न रहने वाली नैतिकता के पास आत्मालोचन का कोई सिद्धांत नहीं होता, क्योंकि इसके मूल में कोई विश्वातीत—अर्थात्, ईश्वरीय अथवा आध्यात्मिक-संदर्भ नहीं होता जिसके द्वारा यह शासित हो सके और जो इसके विषय में निर्णय दे सके। .... यह एक सच्चाई है कि नैतिकता की विषयवस्तु को निर्धारित करने के अतिरिक्त धर्म इसका अंतिम निर्णायक भी है।............ धर्म नैतिक जीवन के लिए प्रेरणा देता है तथा इसके साथ ही इससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु प्रदान करता है और वह है नैतिक प्रयास की सार्थकता एवं उसका उद्देश्य।........ धार्मिक आस्था के साथ सजीव संबंध के अभाव में नैतिकता अनिश्चित और अपूर्ण ही रहती है।...... जब यह धर्म पर आधारित नहीं होती, तो इसके नष्ट होने का भय निरंतर बना रहता है"।[1] स्मिथ के उपर्युक्त उद्धरण से धर्म तथा नैतिकता

1. जे० ई० स्मिथ, 'रीज़न ऐंड गॉड—ऐन्काउंटर्ज़ ऑफ़ फ़िलॉसॉफ़ी विद रिलिजन', 'पृ० 199-202

के संबंध के विषय में ईश्वरवादी दार्शनिकों का दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। स्मिथ के अतिरिक्त कार्ल बार्थ, ऐमिल ब्रूनर, रीनोल्ड नीबुर आदि अन्य अनेक दार्शनिक भी इसी ईश्वरवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। इस प्रकार इन दार्शनिकों के मतानुसार यदि नैतिकता धर्म पर आधारित नहीं है तो वह वास्तव में निराधार तथा मनुष्य के लिए निरर्थक और महत्त्वहीन है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में ईश्वरवादी दार्शनिकों का उपर्युक्त दृष्टिकोण कहाँ तक उचित एवं युक्तिसंगत है। यह सत्य है कि नैतिकता सदैव धर्म का अभिन्न अंग रही है, क्योंकि प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों के आचरण का नियमन और मार्गदर्शन करता है। धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए हम पहले अध्याय में ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि आचरण-पद्धति धर्म का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य पक्ष है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि नैतिकता धर्म का अनिवार्य मूल तत्त्व है जिसके बिना वह मानव-जीवन में अपनी सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता। परंत इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म नैतिकता का अनिवार्य आधार है जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं। इसके विपरीत वास्तविक स्थिति यह है कि प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म को स्वीकार किए बिना भी मनुष्य नैतिकता के अनुरूप भलीभांति आचरण कर सकता है। हम ऊपर यह बता चुके हैं कि नैतिकता एक सामाजिक संस्था अथवा व्यवस्था है जिसका उद्देश्य मानवीय आचरण का मूल्यांकन तथा मार्गदर्शन करना और समाज के सदस्यों के रूप में मनुष्यों के पारस्परिक संबंध का नियमन करना ही है। नैतिकता के इस उद्देश्य से यह स्पष्ट है कि इसकी पूर्ति के लिए धर्म का आधार लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा व्यक्ति जो किसी भी धर्म में विश्वास नहीं करता समाज के सदस्य के रूप में निश्चय ही नैतिकता के अनुरूप आचरण करता है, क्योंकि इसके बिना उसके लिए सुखमय एवं सम्मानपूर्ण सामाजिक जीवन व्यतीत करना संभव नहीं है। यदि कोई व्यक्ति धर्मपरायण नहीं है—अर्थात् यदि वह किसी दैवी सत्ता की उपासना नहीं करता तो इससे उसके सफल सामाजिक जीवन में कोई बाधा नहीं पड़ती, परंतु यदि वह आधारभूत नैतिक नियमों का पालन नहीं करता तो वह निश्चय ही समाज का सुखी और सम्मानित सदस्य नहीं हो सकता। उपर्युक्त तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि नैतिकता अवश्य ही धर्म के लिए अनिवार्य है, किंतु धर्म नैतिकता के लिए अनिवार्य नहीं है। धर्मपरायण न होते हुए भी मनुष्य नैतिक मूल्यों, आदर्शों एवं नियमों के अनुरूप भलीभांति आचरण कर सकता है और स्वयं अपने तथा अन्य व्यक्तियों के आचरण का समुचित मूल्यांकन भी कर सकता है। इसके लिए निश्चय ही उसे धर्म का सहारा लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार ईश्वरवादी दार्शनिकों का यह मत उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि धर्म ही नैतिकता का अनिवार्य आधार है जिसके बिना मनुष्य का नैतिक जीवन संभव नहीं है।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त धर्म को नैतिकता का अनिवार्य आधार मानने के कारण अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयाँ अथवा समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। सर्वप्रथम धर्म ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी सत्ता या शक्ति की अवधारणा पर ही अनिवार्यतः निर्भर है जिसे स्वीकार किए बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है। परंतु ऐसी दैवी सत्ता की संभावना प्राचीन काल से ही दार्शनिकों के विवाद का

विषय रही है। अनेक महान दार्शनिक किसी प्रकार की अतिप्राकृतिक या दैवी सत्ता में विश्वास नहीं करते। दर्शन के अध्येता इस तथ्य से भलीभाँति अवगत् हैं कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए अभी तक जो युक्तियाँ दी गई उनके द्वारा उसके अस्तित्व को निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सका, क्योंकि ये सभी युक्तियाँ दोषपूर्ण हैं। इसी प्रकार किसी अन्य दैवी सत्ता को भी प्रमाणों अथवा युक्तियों द्वारा असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करना संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में जो दार्शनिक नैतिकता को ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता पर ही अनिवार्यतः आश्रित मानते हैं उनके मत का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। यदि ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी सत्ता को निश्चित रूप से प्रमाणित ही नहीं किया जा सकता तो उस पर नैतिकता के आधारित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिकता को धर्म पर अनिवार्यतः निर्भर मानने वाले दार्शनिकों के मत का मूल आधार ही अत्यंत दुर्बल है।

फिर यदि यह मान भी लिया जाए कि ईश्वर का अस्तित्व है तो भी धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में ईश्वरवादी दार्शनिकों के मत की कठिनाइयाँ समाप्त नहीं हो जाती। इसके विपरीत नैतिकता को ईश्वर पर आधारित मानने के कारण अनेक ऐसी गंभीर समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका तर्कसंगत एवं संतोषप्रद समाधान संभव प्रतीत नहीं होता। उदाहरणार्थ, जो दार्शनिक नैतिक नियमों को ईश्वर के अनुल्लंघनीय आदेश मानते हैं उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि उनके इस मत का आधार क्या है—अर्थात्, वे यह कैसे जानते हैं कि ये नियम वास्तव में ईश्वर के ही आदेश हैं? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इन दार्शनिकों ने इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। वस्तुतः इस प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर देना संभव ही नहीं है, क्योंकि जिस ईश्वर को विश्वातीत और मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे माना जाता है उसके आदेशों को मनुष्य कभी नहीं जान सकता। इस प्रकार यदि इस विवादास्पद मत को स्वीकार कर भी लिया जाए कि ईश्वर व्यक्तित्वसंपन्न है और वह हमें कुछ विशेष आदेश देता है तो भी हमारे लिए उसके आदेशों को जानना असंम्भव है।

इस तर्क के उत्तर में ईश्वरवादी यह कह सकते हैं कि हम श्रुति द्वारा ईश्वर के आदेशों को जानते हैं। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि विभिन्न धर्मों के धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध श्रुति के आधार पर ईश्वरादेशों के विषय में जो दावे किए जाते हैं वे एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, अपितु कभी-कभी परस्पर विरोधी भी होते हैं। उदाहरणार्थ, सनातन धर्म के समर्थकों के मतानुसार मूर्ति-पूजा ईश्वरादेश के अनुरूप होने के कारण पुण्य अथवा उचित कर्म है, जबकि आर्य-समाज, इस्लाम तथा ईसाई धर्म के अनुयायी इसे केवल ढोंग और अनुचित मानते हैं। इसी प्रकार प्राचीन काल में वेदों को ईश्वरादेश के रूप में स्वीकार करने वाले हिंदू यज्ञों में पशुओं की बलि देना नैतिक दृष्टि से उचित समझते थे, किंतु अहिंसा के समर्थक ईश्वरवादी इसे घोर पाप तथा नैतिक दृष्टि से अत्यंत निंदनीय मानते हैं। वस्तुतः ऐसे कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें श्रुति के आधार पर ही परस्पर विरोधी कर्मों को ईश्वरादेशों के रूप में स्वीकार किया गया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति को ईश्वरादेशों के ज्ञान का प्रामाणिक आधार नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यदि हम यह मान भी लें कि व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर का अस्तित्व है और वह हमें कुछ विशेष

आदेश देता है तो भी नैतिकता को ईश्वर पर आधारित मानना उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि हमारे लिए अनुभवातीत ईश्वर के आदेशों को जानना असंभव है।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त आपत्ति की उपेक्षा करते हुए यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि हम ईश्वर के आदेशों को जानते हैं तो पुनः यह प्रश्न उठता है कि हमें उसके इन आदेशों का पालन क्यों करना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है—और कुछ धर्मपरायण विचारकों ने कहा भी है—कि ईश्वर के आदेशों का पालन करने के कारण हमें वर्तमान जीवन में सुख तथा मरणोत्तर जीवन में स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि हम उसके आदेशों का उल्लंघन करेंगे तो वह हमें इस जीवन में तथा आगामी जीवन में घोर यातना देगा। परन्तु ईश्वरादेशों के पालन के विषय में यह मत अत्यधिक आपत्तिजनक है, क्योंकि यह नैतिकता को प्रलोभन तथा भय जैसे स्वार्थमूलक बाह्य कारणों पर ही पूर्णतः आधारित मान लेता है। इस मत के विरुद्ध कान्ट तथा अन्य महान विचारकों ने ठीक ही कहा है कि स्वार्थपूर्ण अभिप्रेरणाओं और बाह्य कारणों पर आधारित ऐसी नैतिकता को वास्तविक अर्थ में 'नैतिकता' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मुख्यतया इसी आधार पर कान्ट ने नैतिकता के संबंध में ईश्वरवादियों के दृष्टिकोण को पूर्णतः अस्वीकार किया है जो उचित ही है।

ईश्वर के आदेशों का पालन करने के विषय में एक अन्य उत्तर भी दिया जा सकता है जो इस प्रकार है। हमें ईश्वरादेशों का पालन इसलिए करना चाहिए कि वह पूर्णतः शुभ है और इसी कारण वह जो आदेश देता है वे अनिवार्यतः उचित होते हैं। पूर्ण रूप से शुभ होने के कारण ईश्वर हमें ऐसा कोई आदेश दे ही नहीं सकता जो अशुभ या अनुचित हो। ऐसी स्थिति में उसके समस्त आदेशों का पालन करना नैतिक दृष्टि से हमारा अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है। परंतु उपर्युक्त प्रश्न का यह उत्तर भी कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। इसे स्वीकार करने का अर्थ यह है कि हम नैतिकता को वास्तव में ईश्वर से पूर्णतः स्वतंत्र मानते हैं और यह ईश्वरवादियों के मूल सिद्धांत के विरुद्ध होने के कारण उन्हें स्वीकार्य नहीं हो सकता। जब हम ईश्वर को पूर्णतः शुभ कहते हैं तो अनिवार्यतः इसका तात्पर्य यही है कि हम ईश्वर से भिन्न और स्वतंत्र रूप में नैतिकता की मूल अवधारणा को स्वीकार करते हैं, क्योंकि ऐसा किए विना हम सार्थकतापूर्वक ईश्वर को शुभ नहीं कह सकते। यदि हम 'उचित', 'शुभ' आदि नैतिक अवधारणाओं का अर्थ ही नहीं जानते तो हम ईश्वर के संबंध में सार्थक रूप से इन शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में हमारे लिए ईश्वर को 'पूर्णतः शुभ' कहना वास्तव में निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार यदि ईश्वर को पूर्णतः शुभ मानने के कारण ही उसके आदेशों का पालन करना हमारे लिए अनिवार्य है तो नैतिकता की अवधारणा ईश्वर से स्वतंत्र हो जाती है और स्वयं ईश्वर का शुभत्व नैतिकता की इस स्वतंत्र अवधारणा पर ही आधारित हो जाता है। यह समझना कठिन नहीं है कि ईश्वरवादी इस स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहेंगे, क्योंकि यह उनके मूल सिद्धांत के विरुद्ध है। परंतु इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त उनके समक्ष अन्य कोई तर्कसंगत विकल्प भी नहीं है। इस प्रकार यदि हम ईश्वर के भय के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं तो नैतिकता किसी बाह्य स्रोत या शक्ति पर आधारित होने के परिणामस्वरूप वास्तविक अर्थ में नैतिकता नहीं रह जाती और यदि हम ईश्वर को पूर्णतः शुभ मानने के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं तो नैतिकता उससे

स्वतंत्र हो जाती है और वह नैतिकता का आधार नहीं रह जाता। वस्तुतः ईश्वरवादियों के लिए यह एक ऐसी जटिल समस्या है जिसका कोई तर्कसंगत एवं संतोषप्रद समाधान संभव प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार ईश्वरवादी इस आधारभूत प्रश्न का कोई संतोषजनक तथा युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे पाते कि हमें ईश्वर के आदेशों का पालन क्यों करना चाहिए।

उपर्युक्त प्रश्न के अतिरिक्त ईश्वरवादियों से यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि ईश्वर हमें कुछ कर्म करने और कुछ कर्म न करने का आदेश क्यों देता है दूसरे शब्दों में, हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि ईश्वर के आदेशों का वास्तविक आधार क्या है। क्या यह आधार स्वयं कर्मों के स्वरूप में ही निहित है ? यदि ईश्वरवादी इस प्रश्न का उत्तर हाँ में देते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि कुछ कर्म स्वरूपतः शुभ तथा कुछ अन्य कर्म स्वरूपतः अशुभ होते हैं और इसी कारण ईश्वर हमें कुछ कर्म करने तथा कुछ अन्य कर्म न करने का आदेश देता है। यदि ईश्वरवादी दार्शनिक नैतिकता के विषय में इस मत को स्वीकार कर लेते हैं तो इससे उनके मूल सिद्धांत का खंडन होता है, क्योंकि इसके अनुसार कर्मों का शुभ या अशुभ होना ईश्वर के आदेशों पर आधारित नहीं, अपितु स्वयं ईश्वर के आदेश इन कर्मों के शुभ या अशुभ होने पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वरवादी नैतिकता के संबंध में उपर्युक्त मत को निश्चय ही स्वीकार नहीं करना चाहेंगे। इस मत के विरुद्ध वे यह कह सकते हैं कि कर्मों का शुभ या अशुभ होना स्वयं उनमें निहित न होकर वस्तुतः ईश्वर के आदेशों में ही निहित रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल ईश्वर का आदेश ही कर्मों को शुभ बनाता है। ईश्वर हमें जिस कर्म को करने का आदेश देता है वह अनिवार्यतः शुभ और जिस कर्म को न करने का आदेश देता है।वह अनिवार्यतः अशुभ हो जाता है। परंतु इस मत के विरुद्ध भी वही आपत्ति उठाई जा सकती है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है—अर्थात्, इसे स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप नैतिकता अनिवार्यतः किसी बाह्य शक्ति पर आधारित हो जाती है जो निश्चय ही अत्यंत आपत्तिजनक हैं। इस आपत्ति की विस्तृत व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं, अतः यहाँ इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त समस्या बहुत प्राचीन काल से दार्शनिकों को उलझन में डालती रही है। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि स्वयं प्लेटो ने 'यूथीफ्रो' में उक्त समस्या पर विचार किया था। उन्होंने इस संबंध में जो प्रश्न उठाया था उसे हम समकालीन दर्शन की शब्दावली में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं:— "क्या ईश्वर 'क' के शुभ होने के कारण उसकी इच्छा करता है या उसे करने का आदेश देता है ?" अथवा "क्या 'क' इसलिए शुभ है कि ईश्वर उसकी इच्छा करता है या उसे करने का आदेश देता है?" यदि हम यह कहते हैं कि 'क' के शुभ होने के कारण ही ईश्वर उसकी इच्छा करता है अथवा उसे करने का आदेश देता है तो नैतिकता उसकी इच्छा या उसके आदेश से पूर्णतः स्वतंत्र हो जाती है जिसके कारण उसे नैतिकता का आधार नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि यह विकल्प ईश्वरवादियों को स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह उनके मूल सिद्धांत के विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में वे दूसरे विकल्प को ही स्वीकार करना चाहेंगे। वे यही कहेंगे कि ईश्वर की इच्छा या उसके आदेश के कारण ही वास्तव में 'क' शुभ हो जाता है—अर्थात्,

ईश्वर की इच्छा अथवा उसका आदेश 'क' को अनिवार्यतः शुभ बना देता है। यह मत ईश्वरवादियों के सिद्धांत के अनुरू अवश्य है, परंतु इसे स्वीकार कर लेने पर हमारे समक्ष वे सभी प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है—हम ईश्वर की इच्छा या उसके आदेश को कैसे जानते हैं ? हम उसकी इच्छा अथवा उसके आदेश के अनुसार आचरण क्यों करें ? ईश्वर की इच्छा या उसके आदेश का वास्तविक आधार क्या है ? क्या यह नैतिकता को केवल बाह्य स्रोत या शक्ति पर पूर्णतः निर्भर नहीं बना देता ? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ईश्वरवादी इन आधारभूत प्रश्नों का कोई तर्कसंगत तथा संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके।

धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में ईश्वरवादियों के उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति यह है कि उनका यह सिद्धांत नैतिक निर्णयों को तथ्यपरक या वर्णनात्मक कथनों से निगमित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार, "अमुक कर्म ईश्वर का आदेश है" इस तथ्यात्मक कथन का अर्थ यह है कि "वह कर्म उचित है" अथवा "हमें वह कर्म करना चाहिए।" परंतु वास्तविक स्थिति यह है कि प्रथम तथ्यात्मक कथन से हम अन्य दो नैतिक कथनों को तर्कतः निगमित नहीं कर सकते, क्योंकि इन दोनों प्रकार के कथनों में आधारभूत अंतर है। यदि मैं यह जानता हूँ कि "'क' ईश्वर का आदेश है" तो अपने इस तथ्यात्मक ज्ञान से मैं इस नैतिक निर्णय को निगमित नहीं कर सकता कि "'क' उचित कर्म है" अथवा "मुझे 'क' को करना चाहिए"। अधिकतर दार्शनिक तथ्यात्मक कथनों और नैतिक निर्णयों में इस मूल भेद को स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक कथनों से निगमित करना संभव नहीं है। वस्तुतः इस संबंध में हेयर का यह मत उचित ही है कि किसी मूल नैतिक निर्णय को स्वीकार किए बिना हम केवल तथ्यात्मक कथनों से नैतिक निर्णयों को कभी प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार यदि हम इस तथ्यात्मक कथन को जान भी लें कि "अमुक कर्म करना ईश्वर का आदेश है" तो भी हम इससे तर्कसंगत रूप से यह नैतिक निष्कर्ष नहीं निकाल सकते है कि "वह कर्म उचित है" अथवा "हमें वह कर्म करना चाहिए"। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ईश्वरवादी दार्शनिकों ने इस समस्या का कोई युक्तिसंगत तथा संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं किया। ऐसी स्थिति में धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में उनके सिद्धांत को स्वीकार करना अत्यंत कठिन है।

उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में ईश्वरवादियों के सिद्धांत के विरुद्ध वह तर्क भी दिया जा सकता है जिसे मूर ने 'सार्थक प्रश्न संबंधी तर्क' कहा है और जो उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'प्रिंसिपिया ऐथिका' में प्रकृतिवादी सिद्धांतों के विरुद्ध प्रस्तुत किया है। इस तर्क के अनुसार, 'शुभ', 'उचित' या किसी अन्य नैतिक प्रत्यय की परिभाषा चाहे किसी भी तथ्य अथवा तत्त्व के आधार पर दी जाए, हम सदैव सार्थकतापूर्वक यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या वह तथ्य अथवा तत्त्व शुभ या उचित है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति सुख या इच्छा-तृप्ति के आधार पर शुभ की परिभाषा करता है तो हम उससे यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या सुख अथवा इच्छा-तृप्ति शुभ है और हमारा यह

---

2. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए मेरी एक अन्य पुस्तक, 'अधि-नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धांत' अलाइड पब्लिशर्ज, 1987, अध्याय 5 तथा तथा अध्याय 10

प्रश्न निश्चय ही सार्थक होगा। प्रकृतिवादी सिद्धांतों की भांति नैतिकता संबंधी ईश्वरवादी सिद्धांत के विरुद्ध भी यह तर्क दिया जा सकता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ईश्वरवादी ईश्वरादेश के आधार पर ही 'शुभ' 'उचित' आदि नैतिक शब्दों या प्रत्ययों की परिभाषा करते हैं। परंतु उनकी इस परिभाषा के विषय में हम सार्थक रूप से उनसे यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या ईश्वरादेश शुभ अथवा उचित है। हमारे इस प्रश्न की सार्थकता से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है, कि 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक प्रत्ययों का अर्थ ईश्वरादेश के अर्थ से निश्चय ही भिन्न है, अतः इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। यदि 'शुभ' और 'ईश्वरादेश' पूर्णतः समानार्थक हैं तो ईश्वरवादी सार्थकतापूर्वक यह नहीं कह सकते कि "ईश्वरादेश अनिवार्यतः शुभ होता है"। वस्तुतः यदि इन दोनों को पूर्णतः समानार्थक मान लिया जाए तो ईश्वरवादियों का उपर्युक्त कथन निरर्थक पुनरुक्ति मात्र रह जाता है जिसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है –"ईश्वरादेश अनिवार्यतः ईश्वरादेश है"। यह समझना कठिन नहीं है कि जब ईश्वरवादी ईश्वरादेश को शुभ कहते हैं तो वे इस प्रकार की निरर्थक पुनरुक्ति प्रस्तुत नहीं करना चाहते; वे अपने कथन को सार्थक संश्लेषणात्मक कथन ही मानते हैं। परंतु "ईश्वरादेश अनिवार्यतः शुभ होता है" उनका यह कथन तभी सार्थक हो सकता है जब 'शुभ' का अर्थ 'ईश्वरादेश' के अर्थ से भिन्न हो। इस प्रकार मूर के उपर्युक्त सार्थक प्रश्न संबंधी तर्क द्वारा भी यही प्रमाणित होता है कि 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक प्रत्ययों का अर्थ 'ईश्वरादेश' के अर्थ से अनिवार्यतः भिन्न है, अतः नैतिकता को ईश्वर पर आधारित नहीं माना जा सकता।

सम्भवतः धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में ईश्वरवादियों के सिद्धांत की उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण कुछ दार्शनिकों ने नैतिकता को धर्म पर आधारित न मान कर स्वयं धर्म को ही नैतिकता का अभिन्न अंग मान लिया है। इन दार्शनिकों में आर०बी० ब्रेथवेट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिनके प्रतिबद्धता-सिद्धांत पर हम पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि ब्रेथवेट के मतानुसार धार्मिक कथन वास्तव में नैतिक कथनों से मूलतः भिन्न नहीं हैं, क्योंकि दोनों का मूल उद्देश्य एक ही है और वह है आचरण-नीति अथवा जीवन-पद्धति के विषय में वक्ता की प्रतिबद्धता को अभिव्यक्त करना। इससे स्पष्ट है कि उनके विचार में धर्म वस्तुतः नैतिकता से भिन्न तथा स्वतंत्र न होकर उसी का एक अपरिहार्य भाग मात्र है। नैतिक मूल्यों, आदर्शों अथवा नियमों के बिना हम धर्म की कल्पना ही नहीं कर सकते। इसका तात्पर्य यही है कि नैतिकता से पृथक धर्म का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

परंतु धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में ब्रेथवेट ने जो कुछ कहा है वह केवल अंशतः ही सत्य है। इसमें संदेह नहीं है कि नैतिकता धर्म का अनिवार्य अंग है और उसके अभाव में मानव-जीवन के लिए धर्म का महत्त्व बहुत कम हो जाता है, किंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि धर्म नैतिकता का ही एक भाग मात्र है और नैतिकता से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। हम प्रथम अध्याय में ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि नैतिकता धर्म का एक अभिन्न अंग अवश्य है, परंतु प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म केवल नैतिकता ही नहीं है, वह नैतिकता के अतिरिक्त कुछ और भी है। किसी अलौकिक, अतिप्राकृतिक या दैवी सत्ता में मनुष्य की अखंड आस्था धर्म का अनिवार्य मूल तत्त्व है जिसका नैतिकता से कोई संबंध नहीं है। धर्म के अनुरूप आचरण करने वाला व्यक्ति किसी

न किसी रूप में इस दैवी सत्ता की उपासना अवश्य करता है, किंतु नैतिकता के अनुसार आचरण करने वाले मनुष्य के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। वह किसी प्रकार की अतिप्राकृतिक सत्ता में आस्था रखे बिना भी नैतिक मूल्यों, आदर्शों एवं नियमों के अनुरूप भलीभाँति आचरण कर सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और नैतिकता निश्चय ही एक-दूसरे से भिन्न हैं, अतः इन दोनों को एक ही मान लेना उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं; इन दोनों में से किसी एक को दूसरे का भाग या तत्त्व मात्र मान कर उसकी व्याख्या करना वास्तव में तथ्यों की उपेक्षा करना होगा। इन दोनों के वास्तविक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि धर्म के बिना नैतिकता का अस्तित्व संभव नहीं है अथवा नैतिकता के बिना धर्म का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। परंतु कुछ दार्शनिकों का मत है कि धर्म और नैतिकता एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी परस्पर पूरक हैं। ये दोनों एक-दूसरे की सहायता करते हैं, अतः एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। इन दार्शनिकों के अनुसार, इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि नैतिकता धर्म के लिए तथा धर्म नैतिकता के लिए समान रूप से अनिवार्य है। एच० डी० लेविस ने धर्म और नैतिकता के संबंध के विषय में मुख्यतः इसी मत का समर्थन किया है। वे यह मानते हैं कि ये दोनों परस्पर अनिवार्यतः संबद्ध तथा एक-दूसरे के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण और सहायक हैं, अतः इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। इसी दृष्टि से इन दोनों के संबंध की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है :—"यह माना जा सकता है कि धर्म और नीतिशास्त्र का एक-दूसरे के लिए बहुत महत्त्व है। मैं इसी विचार का समर्थन करता हूँ।......... "भूतकाल में मनुष्यों के जीवन में धर्म किसी न किसी रूप में प्रमुख तत्त्व रहा है, और यदि इसके दावों में कोई सार है तो हमें यह आशा करनी चाहिए कि यह हमारे आचरण पर बहुत अधिक तथा दूरगामी प्रभाव डालता रहेगा"।[3] लेविस की भाँति कुछ अन्य दार्शनिक भी धर्म और नैतिकता को परस्पर पूरक तथा एक-दूसरे के लिए अनिवार्य मानते हैं। इन दार्शनिकों के विचार में वस्तुतः एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में उपर्युक्त मत कहाँ तक उचित एवं युक्तिसंगत है। यह सत्य है कि नैतिकता धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग अथवा तत्त्व है जिसके बिना वह मानव-जीवन में अपनी वास्तविक सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता। इस दृष्टि से नैतिकता को धर्म के लिए अनिवार्य माना जा सकता है। इस तथ्य का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, अतः यहाँ इसकी अधिक विस्तृत व्याख्या करना आवश्यक नहीं है। इस संबंध में यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि यद्यपि नैतिकता के अभाव में धर्म का अस्तित्व संभव हैं, फिर भी इसके बिना मानवीय आचरण को प्रभावित करने में असमर्थ होने के कारण वह अपूर्ण ही रह जाता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या हम नैतिकता के विषय में भी यही बात कह सकते हैं। क्या धर्म भी नैतिकता के लिए अनिवार्य है—अर्थात्, क्या धर्म के बिना नैतिकता मानवीय आचरण का मूल्यांकन, नियमन

---

३. एच० डी० लेविस, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', 'पृ० 253, 257

और मार्गदर्शन करने में असमर्थ है? मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, धर्म के बिना भी नैतिकता अपना कार्य भलीभाँति संपन्न कर सकती है। यदि कोई व्यक्ति अथवा समुदाय धर्मपरायण नहीं है–अर्थात्, यदि वह किसी दैवी सत्ता में आस्था नहीं रखता और उसकी उपासना नहीं करता तो भी वह नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों के अनुरूप आचरण कर सकता है। धार्मिक आस्था या विश्वास का अभाव उसके इस कार्य में बाधक सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः जब कोई सामान्य व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में किसी अभिप्रेरणा को शुभ या अशुभ और किसी कर्म को उचित अथवा अनुचित कहता है तो उसका यह नैतिक निर्णय अनिवार्यतः उसके धार्मिक विश्वास द्वारा शासित नहीं होता। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति किसी निर्दोष प्राणी को घोर यातना दे रहा है तो किसी प्रकार के धार्मिक विश्वास को स्वीकार किए बिना भी हम उसके इस कर्म को नैतिक दृष्टि से अनुचित ही कहेंगे। इसके अतिरिक्त धर्मपरायण व्यक्तियों के समान ही धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति भी नैतिक नियमों का पालन करते हैं और एक-दूसरे के आचरण का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं। जब कोई धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति नैतिक दृष्टि से अनुचित कर्म करता है तो हम यह नहीं कहते कि वह धर्मनिरपेक्ष होने के कारण इसके अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता था। हम स्वयं अपने अथवा उसके धार्मिक विश्वास की चिंता किए बिना यह कहते हैं कि उसका वह कर्म अनुचित है। मानवीय आचरण के मूल्यांकन के विषय में धर्मपरायण तथा धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों में परस्पर सार्थक वार्तालाप हो सकता है और होता है। धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों के जीवन में धार्मिक विश्वास का अभाव इस नैतिक वार्तालाप में कोई बाधा नहीं डालता। उपर्युक्त सभी तथ्यों से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि धर्म वास्तव में नैतिकता के लिए अनिवार्य नहीं है। ऐसी स्थिति में यह मत पूर्णतः उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि धर्म तथा नैतिकता परस्पर पूरक और एक-दूसरे के लिए समान रूप से अनिवार्य हैं।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ दार्शनिकों का विचार है कि धर्म नैतिकता के लिए सहायक न होकर वास्तव में उसके लिए अत्यधिक हानिकारक तथा बाधक है, क्योंकि वह परलोकवाद और पलायनवाद को प्रश्रय देता है। हम देख चुके हैं कि नैतिकता का संबंध इसी संसार में मनुष्य के सामाजिक जीवन से है। वह समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य को स्वयं अपने प्रति तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति कुछ मूल कर्त्तव्यों का स्वेच्छया पालन करने के लिए प्रोत्साहित करती है जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण हो सके। इसका तात्पर्य यह है कि नैतिकता का मूल दृष्टिकोण इहलोकवादी अथवा सांसारिक है–अर्थात्, वह इसी जगत् में मानव के वर्तमान वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को सार्थक एवं सुखमय बनाना चाहती हैं। परंतु प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म नैतिकता के इस कार्य में प्रायः बाधा डालता है, क्योंकि वह मनुष्य को इस लोक के स्थान पर तथाकथित परलोक की चिंता करने की शिक्षा देता है। आज संसार में जो धर्म प्रचलित हैं उनमें से अधिकतर इस जगत् को नश्वर तथा मानव-जीवन को क्षणिक मानते हैं, अतः वे मनुष्य को इस संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं। इन धर्मों के अनुसार, मनुष्य यह मुक्ति ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता की उपासना करके ही प्राप्त कर सकता है। लगभग सभी धर्मों में किसी न किसी रूप

में मोक्ष या मुक्ति की यह अवधारणा अवश्य पाई जाती है। इससे स्पष्ट है कि धर्म का मूल दृष्टिकोण वस्तुतः परलोकोन्मुखी दृष्टिकोण है जिसके अनुसार इस जगत् और मनुष्य के वर्तमान जीवन का कोई विशेष महत्त्व तथा मूल्य नहीं है।

यह धार्मिक दृष्टिकोण मनुष्य को पलायनवादी बना देता है। इसे स्वीकार कर लेने पर मनुष्य स्वयं अपने तथा दूसरों के सुख-दुःख के प्रति प्रायः उदासीन हो जाता है। वह इस जगत् और जीवन की मूल समस्याओं का समाधान खोजने के स्थान पर उनकी उपेक्षा करने लगता है। वह यह सोचने लगता है कि जब इस संसार में सब कुछ क्षणिक तथा नश्वर है और जब उसे अंततः इस जगत् से मुक्ति ही प्राप्त करनी है तो इसे सुधारने का प्रयास करने की क्या आवश्यकता है। यह विचार मानव के सुखमय वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए अत्यंत घातक है, क्योंकि यह उसे निष्क्रिय तथा स्वार्थी बना देता है। इस संसार में मनुष्य के चारों ओर घोर दुःख तथा दुर्गुण के रूप में जो अशुभ या बुराई विद्यमान हैं उसके विरुद्ध संघर्ष करने के स्थान पर वह उसके प्रति उदासीन हो जाता है। वह मृत्यु के पश्चात काल्पनिक परलोक में मिथ्या सुख की प्राप्ति को ही अपने जीवन का एकमात्र परम लक्ष्य मान लेता है। विश्व के अधिकतर धर्मों में जीवन और जगत् के प्रति किसी न किसी रूप में इसी पारलौकिक दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है जो मनुष्य को पलायनवाद की ओर ले जाता है। यह समझना कठिन नहीं है कि इस दृष्टिकोण के अनुरूप आचरण करने वाले मनुष्य के लिए वास्तविक-अर्थ में नैतिकता का कोई महत्त्व तथा मूल्य नहीं रह जाता, क्योंकि नैतिकता तो इसी जगत् में मानव के वर्तमान जीवन की समस्याओं के समाधान का ही प्रयास करती है। इस प्रकार जीवन और जगत् की समस्याओं के प्रति मनुष्य में उदासीनता एवं उपेक्षा की भावना उत्पन्न करने के कारण यह परलोकोन्मुखी धार्मिक दृष्टिकोण अंततः नैतिकता के लिए अत्यंत घातक सिद्ध होता है।

प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म के विरुद्ध कुछ दार्शनिकों के उपर्युक्त आरोप में आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। यह ठीक है कि धर्म ने मनुष्यों में सेवा, स्नेह, करुणा, परोपकार, भ्रातृत्व आदि सद्गुणों को उत्पन्न करने का प्रयास किया है और इस दृष्टि से उसने नैतिकता की सहायता भी की है। परंतु इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत् से मुक्ति तथा परलोक के विचार को प्रश्रय देकर धर्म ने मानव को पलायनवादी भी बनाया है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में प्रायः यह देखते हैं कि मोक्ष की कामना करने वाले अधिकतर व्यक्ति स्वयं अपने तथा अन्य व्यक्तियों के सुख-दुःख के प्रति उदासीन हो जाते हैं। वे अपने आप को सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित के भेद से बहुत ऊपर उठे हुए समझने लगते हैं। जीवन और जगत् के प्रति उनका यह स्वार्थमूलक तथा पलायनवादी दृष्टिकोण नैतिकता के लिए निश्चय ही सहायक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम तर्कसंगत रूप से यही कह सकते हैं कि धर्म नैतिकता के लिए अनिवार्य नहीं है।

यदि हम नैतिकता के मूल में निहित शुभ और अशुभ या अच्छे और बुरे से संबंधित भेद की उत्पत्ति अथवा उसके उद्गम पर विचार करें तो धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में हमारे उपर्युक्त मत की भलीभाँति पुष्टि हो जाती है। अनेक दार्शनिक शुभ और

अशुभ के भेद को नैतिकता का ऐसा मूल आधार मानते हैं जिस पर उचित, कर्त्तव्य, न्याय आदि अन्य नैतिक प्रत्ययों की सार्थकता निर्भर है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि शुभ और अशुभ के इस भेद का उद्‌गम-स्रोत क्या है। क्या यह भेद प्राकृतिक है अथवा क्या इसे स्वयं मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए उत्पन्न किया है? संसार में कुछ भेद ऐसे हैं जो मानव-निर्मित न होकर मूलतः प्रकृति में ही निहित रहते हैं और इसी कारण जिन्हें समाप्त करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। इस प्रकार के अनिवार्य भेदों को हम 'प्राकृतिक भेद' कह सकते हैं, क्योंकि इनका मूल आधार स्वयं प्रकृति ही है। शीत और उष्ण का भेद, अंधकार तथा प्रकाश का भेद, स्त्री और पुरुष का भेद आदि ऐसे ही प्राकृतिक भेद हैं जो मूलतः प्रकृति में ही विद्यमान रहते हैं और जिन्हें मनुष्य स्वयं उत्पन्न नहीं करता। इन प्राकृतिक भेदों के विपरीत कुछ भेद ऐसे हैं जो पूर्णतः मानव-निर्मित हैं। इन भेदों को स्वयं मनुष्य ही अपनी सुविधा के लिए उत्पन्न करता है, अतः इन्हें 'कृत्रिम भेद' कहा जा सकता है। दास और स्वामी का भेद, अविवाहित तथा विवाहित का भेद, शासक एवं शासित का भेद आदि मानव-निर्मित कृत्रिम भेदों के स्पष्ट उदाहरण हैं। प्रकृति में इस प्रकार के कृत्रिम भेदों के लिए कोई स्थान नहीं है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नैतिकता संबंधी शुभ और अशुभ के भेद को उपर्युक्त दोनों वर्गों में से किसके अंतर्गत रखा जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि शुभ और अशुभ का यह भेद प्राकृतिक भेद नहीं है, क्योंकि प्रकृति के अंतर्गत अपने आप में कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं होता। प्रकृति में जो घटनाएँ घटित होती हैं उनका मूल आधार कारण-कार्य का नियम ही है जो इन सभी घटनाओं पर अनिवार्यतः लागू होता है। इनमें से कोई भी घटना प्राकृतिक दृष्टि से न तो शुभ होती है और न अशुभ। अपने जीवन पर पड़ने वाले इन प्राकृतिक घटनाओं के सुखद तथा दुखद प्रभाव के कारण केवल मुनष्य ही इनमें से कुछ घटनाओं को 'अच्छी' और कुछ अन्य घटनाओं को 'बुरी' कहता है। वस्तुतः यदि सुख-दुःख का अनुभव करने वाले प्राणियों का अस्तित्व न हो तो प्रकृति में कुछ भी अच्छा या बुरा नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिकता से संबंधित शुभ और अशुभ का भेद उस अर्थ में प्राकृतिक भेद नहीं है जिस अर्थ में हम अंधकार और प्रकाश तथा शीत एवं उष्ण के भेद को प्राकृतिक भेद मानते हैं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या शुभ और अशुभ का भेद स्वयं मनुष्य द्वारा निर्मित पूर्णतः कृत्रिम भेद है। क्या हम इस भेद की तुलना दास और स्वामी तथा विवाहित एवं अविवाहित संबंधी मानव-निर्मित कृत्रिम भेदों से कर सकते हैं? मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि वास्तव में शुभ और अशुभ का भेद इन कृत्रिम भेदों से भिन्न प्रकार का है। मनुष्य ने सभी कृत्रिम भेदों की सृष्टि स्वयं मनमाने ढंग से की है, किंतु शुभ और अशुभ के भेद के विषय में यह बात नहीं कही ज़ा सकती। कृत्रिम भेदों के विपरीत इस भेद का मूल आधार मानव की प्राकृतिक शरीर-रचना तथा उसका स्वभाव है। जिसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है। इसी कारण हम शुभ और अशुभ के भेद को उस अर्थ में कृत्रिम भेद भी नहीं मान सकते जिस अर्थ में हम विवाहित और अविवाहित तथा दास एवं स्वामी के भेद को कृत्रिम भेद मानते हैं। इस प्रकार नैतिकता संबंधी शुभ तथा अशुभ का भेद न तो

प्राकृतिक भेद है और न मानव द्वारा निर्मित पूर्णतः कृत्रिम भेद।

वस्तुतः शुभ और अशुभ या अच्छे और बुरे का यह भेद मूलतः मनुष्य को प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरीर तथा मन की रचना पर ही आधारित है। यह सर्वविदित तथ्य है कि अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य के शरीर की रचना भी इस प्रकार की है कि वह अनिवार्यतः सुख-दुःख का अनुभव करता है और उसके मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ, कामनाएँ, वासनाएँ एवं भावनाएँ उत्पन्न होती हैं जो उसके स्वभाव का अपरिहार्य अंग हैं। वह ऐसी प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने और अपने पास बनाए रखने का प्रयत्न करता है जो उसके लिए सुखद या आनंददायक है। इसके विपरीत वह ऐसी प्रत्येक वस्तु से दूर रहने का प्रयास करता है जो उसे पीड़ा या दुःख देती हैं। इस प्रकार सुख पाने और दुःख से बचने की इच्छा मनुष्य के मूल स्वभाव का अभिन्न अंग है और सामान्य परिस्थितियों में उसके अधिकतर कर्म उसकी इसी नैसर्गिक इच्छा द्वारा प्रेरित होते हैं। इस संसार में जो वस्तुएँ मनुष्य की इस मूल इच्छा की पूर्ति मे सहायक होती हैं उन्हें वह शुभ या अच्छी कहता है और जो वस्तुएँ उसकी इस इच्छा की तृप्ति में बाधा डालती हैं उन्हें वह अशुभ अथवा बुरी मानता है। इस प्रकार शुभ और अशुभ के भेद का अंतिम आधार मनुष्य की यही स्वाभाविक इच्छा है जो स्वयं प्रकृति ने उसके मन में उत्पन्न की है। यदि मानव सुख-दुःख का अनुभव करने में असमर्थ होता और यदि उसमें कुछ मूल नैसर्गिक इच्छाएँ, वासनाएँ तथा भावनाएँ न होतीं तो उसके लिए शुभ-अशुभ या अच्छे-बुरे के भेद का भी कोई अर्थ न होता। ऐसी स्थिति में उसके लिए समस्त प्राकृतिक घटनाए तथा वस्तुएं ठीक वैसी ही होतीं जैसी वे एक निर्जीव पत्थर के लिए होती हैं। तब वह किसी घटना या वस्तु को न अच्छी कहता और न बुरी। उदाहरणार्थ, जिन ग्रहों पर जीवन का अभाव है वहाँ निर्जीव वस्तुओं के लिए शुभ और अशुभ का भेद पूर्णतः निरर्थक है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों द्वारा यह निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि शुभ और अशुभ के भेद का मूल स्रोत अंततः प्रकृति द्वारा प्रदत्त मनुष्य के स्वभाव में ही निहित है, अतः अन्यत्र उसकी खोज करना व्यर्थ है। जो दार्शनिक किसी अतिप्राकृतिक या दैवी सत्ता को शुभ और अशुभ के भेद का एकमात्र आधार मान कर नैतिकता को धर्म पर ही निर्भर बताते हैं वे स्पष्ट रूप से इन सभी तथ्यों की पूर्णतः उपेक्षा करते हैं। वे नैतिकता को एक ऐसे काल्पनिक तत्त्व पर आधारित मान लेते हैं जिसके साथ उसका कोई संबंध नहीं है और जिसका अस्तित्व ही अत्यंत संदिग्ध है। इसी कारण इन दार्शनिकों द्वारा धर्म के आधार पर की गई नैतिकता की व्याख्या तथ्यों के विपरीत तथा अयुक्तिसंगत प्रतीत होती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि उनकी इस व्याख्या का तर्कसंगत रूप से समर्थन करना संभव नहीं है।

उपर्युक्त आपत्ति के उत्तर में ईश्वरवादी यह तर्क दे सकते हैं कि अन्य समस्त वस्तुओं तथा प्राणियों की भाँति मनुष्य भी ईश्वर की ही रचना है, अतः उसमें जो इच्छाएँ, कामनाएँ आवश्यकताएँ और भावनाएँ विद्यमान हैं उन्हें ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है। इसका अर्थ यह है कि नैतिकता का अंतिम आधार मनुष्य का स्वभाव न होकर वस्तुतः उसका रचयिता ईश्वर ही है। यदि ईश्वर मनुष्य में सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता उत्पन्न न करता तो मानव के लिए शुभ और अशुभ का भेद निरर्थक होता।

यह समझना कठिन नहीं है कि ईश्वरवादियों का उपर्युक्त तर्क ईश्वर द्वारा विश्व-रचना के सिद्धांत की सत्यता एवं प्रामाणिकता पर ही आधारित है। परंतु, जैसा कि हम चौथे अध्याय में देख चुके हैं, अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयों तथा समस्याओं के कारण यह सिद्धांत सत्य एवं प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। इस सिद्धांत के विरुद्ध भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनेक प्रबल तथा विश्वसनीय तर्क प्रस्तुत किए हैं। ऐसी स्थिति में उक्त अप्रामाणिक सिद्धांत पर आधारित ईश्वरवादियों के इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव-स्वभाव का रचयिता होने के कारण ईश्वर ही नैतिकता का अंतिम आधार है।

इस प्रकार धर्म तथा नैतिकता के संबंध के विषय में उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म वस्तुतः नैतिकता के लिए न तो अनिवार्य है और न ही वह उसका आधार है।

11

आत्मा की अमरता

1. आत्मा की अमरता का अर्थ और वर्गीकरण

ईश्वर विषयक विश्वास के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता और अमरता से संबंधित विश्वास भी बहुत महत्त्वपूर्ण धार्मिक विश्वास है जिसकी व्याख्या तथा विवेचना करना धर्म-दार्शनिक के लिए आवश्यक है। विश्व के अनेक धर्मों में आत्मा के अस्तित्व और उसकी अमरता से संबंधित इस धार्मिक विश्वास को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है उदाहरणार्थ, हिंदू धर्म, जैन धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म आदि शरीर तथा मन से भिन्न आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं और उसे अनश्वर भी मानते हैं। इन धर्मों के अनुसार प्राणी की मृत्यु के फलस्वरूप केवल उसके स्थूल शरीर का ही विनाश होता है, आत्मा का नहीं। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी किसी न किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। इसी धार्मिक विचार अथवा मान्यता को सामान्यतः आत्मा की अमरता' की संज्ञा दी जाती है। यह स्पष्ट है कि आत्मा की अमरता में विश्वास करने के लिए शरीर और मन से भिन्न एवं स्वतंत्र द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। यही कारण है कि जो दार्शनिक और धर्मपरायण व्यक्ति आत्मा की अमरता में विश्वास करते हैं वे शरीर तथा मन से पृथक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को भी अवश्य स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत स्वतंत्र द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करने वाले दार्शनिकों के लिए आत्मा की अमरता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, नैरात्म्यवाद के समर्थक बौद्ध धर्म तथा दर्शन के अनुयायी स्वतंत्र द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, इसी कारण वे आत्मा की अमरता में भी विश्वास नहीं करते। इसी प्रकार चार्वाक दर्शन के समर्थक भी आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास का खंडन करते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास शरीर से पृथक और स्वतंत्र द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व संबंधी विश्वास पर ही अनिवार्यतः आधारित है।

हिंदू धर्म के अधिकतर अनुयायी आत्मा की अमरता में दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं, क्योंकि चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों, उपनिषदों, भगवद्गीता, स्मृतियों, पुराणों और धर्मशास्त्रों में आत्मा की अमरता को स्वीकार किया गया है। उपनिषदों में हमें आत्मा के स्वरूप और उसकी अमरता के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अनेक कथाओं के माध्यम से इन उपनिषदों के ऋषियों ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मा शरीर, मन, बुद्धि तथा प्राण से संबद्ध होते हुए भी इन सबसे भिन्न और स्वतंत्र है। यह अभौतिक सत्ता है जो शरीर, मन आदि के नष्ट हो जाने के पश्चात भी बनी रहती है, अतः इसे अविनाशी तथा अजर-अमर कहा गया है। यह आत्मा सभी प्राणियों में व्याप्त है

और यही उन्हें सुख, दु:ख, इच्छा आदि का अनुभव करने वाले चैतन्ययुक्त प्राणी बनाती है। यह आत्मा ही इन चैतन्यपूर्ण प्राणियों को समस्त निर्जीव भौतिक वस्तुओं से पृथक करती है। यह शाश्वत अथवा नित्य है, क्योंकि इसका न आरम्भ होता है और न अंत। प्राणी के देहांत के पश्चात यह कर्मानुसार नया शरीर ग्रहण करती है।

आत्मा के स्वरूप तथा अमरत्व के विषय में उपनिषदों के इसी विचार की गीता में विस्तृत व्याख्या की गई है। 'महाभारत' के युद्ध से पूर्व अर्जुन इस आशंका से भयभीत हो गया था कि इस युद्ध में उसे अपने ही संबंधियों की हत्या करनी पड़ेगी। उसकी इस आशंका निराकरण करने के लिए भगवान कृष्ण ने उसे आत्मा के स्वरूप और उसकी अमरता का ज्ञान कराया था। गीता के अनेक अध्यायों में इस विषय की सविस्तार विवेचना की गई है। उदाहरणार्थ, आत्मा के स्वरूप तथा अमरत्व का वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि "यह अजन्मा, शाश्वत, नित्य तथा सनातन है; शरीर के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप इसका विनाश नहीं होता। शस्त्र इसे काट नहीं सकते; अग्नि इसे जला नहीं सकती; जल इसे गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नए वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार यह आत्मा भी जीर्ण शरीर का परित्याग करके नवीन शरीर को ग्रहण कर लेती है"।[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गीता के अनुसार मृत्यु के फलस्वरूप केवल शरीर का ही अंत होता है, आत्मा का नहीं। संभवत: इसी कारण मृत्यु के लिए 'देहांत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शन भी आत्मा के स्वरूप तथा उसकी अमरता के संबंध में उपनिषदों और गीता के उपर्युक्त मत को स्वीकार करते हैं। ये दर्शन भी आत्मा को ऐसी अभौतिक सत्ता मानते हैं जो समस्त प्राणियों में व्याप्त है और जो अनादि, नित्य तथा अविनाशी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिंदू धर्म और दर्शन में आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास का विशेष महत्त्व है।

आत्मा की अमरता के सामान्य प्रचलित उपर्युक्त अर्थ के अतिरिक्त इसके कुछ अन्य विशेष अर्थ भी स्वीकार किए गए हैं जिनका यहां संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। इन अर्थों की मूल विशेषता यह है कि इनमें आत्मा को शरीर से भिन्न तथा स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। उदाहरणार्थ, मनुष्य की अमरता के विषय में कुछ विचारकों का कथन है कि वह अपनी संतान के रूप में सदा जीवित रहता है। माता-पिता की मृत्यु हो जाती है, किंतु वे अपनी संतान की अविच्छिन्न परंपरा के रूप में सदा अमर रहते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की अमरता के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। इस प्रकार की अमरता को 'जैविक अमरता' की संज्ञा दी जाती है।

परंतु इस जैविक अमरता की अवधारणा में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण धर्मपरायण व्यक्ति इसे स्वीकार नहीं करते। इसकी पहली कठिनाई तो यह है कि इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है—अर्थात्, यह सबके लिए संभव नहीं है। अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो आजीवन अविवाहित रहते हैं अथवा विवाह करने पर भी संतान उत्पन्न नहीं करते। इसके

---

1. भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 20-24

अतिरिक्त समुचित उपचार करने पर भी कुछ विवाहित व्यक्तियों को संतान प्राप्त नहीं होती। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों के लिए जैविक अमरता प्राप्त करना संभव नहीं है। जैविक अमरता के सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि इसके अनुसार मनुष्य वास्तव में स्वयं अमरता प्राप्त नहीं करता; वह केवल संतान के रूप में ही जीवित रहता है। परंतु इससे मनुष्य को संतोष नहीं हो सकता, क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु के पश्चात उसका अपना व्यक्तित्व तो नष्ट ही हो जाएगा और उसकी संतान का व्यक्तित्व उसके व्यक्तित्व से भिन्न होगा। स्पष्ट है कि जैविक अमरता का यह सिद्धांत मनुष्य में विद्यमान मृत्यु के नैसर्गिक भय को समाप्त करने में असमर्थ है। संभवतः इन्हीं कठिनाइयों के कारण किसी भी धर्म में जैविक अमरता को धार्मिक विश्वास के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। धर्मपरायण व्यक्ति वस्तुतः अमरता का वही सामान्य अर्थ स्वीकार करते हैं जो शरीर से पृथक तथा स्वतंत्र आत्मा के विचार पर आधारित है और जिसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं।

कुछ विचारकों का मत है कि मनुष्य अपनी मृत्यु के उपरांत भी अपने क्रांतिकारी विचारों, महान् सिद्धांतों तथा कर्मों के कारण समाज में सदा अमर रहता है। वह अपनी पुस्तकों अथवा कला-कृतियों के माध्यम से समाज को जो नवीन एवं अमूल्य विचार देता है उनके कारण समाज उसे सदा याद रखता है और इस प्रकार वह अमर हो जाता है। उसके देहांत के पश्चात भी लोग उसकी रचनाओं को पढ़ या देखकर मार्गदर्शन तथा आनंद प्राप्त करते हैं और यह तथ्य उसे अमर बना देता है। मनुष्य की ऐसी अमरता को 'सामाजिक अमरता' कहा जाता है। गौतम बुद्ध, महावीर, कालीदास, महात्मा गाँधी, शैक्स्पियर, कार्ल मार्क्स आदि महान् व्यक्तियों को इसी सामाजिक अमरता के अर्थ में अमर माना जाता है। ये तथा ऐसे ही अन्य महान् व्यक्ति अपने अमूल्य एवं क्रांतिकारी विचारों के रूप में आज भी अमर हैं। सामाजिक अमरता के इस सिद्धांत के अनुसार मृत्यु केवल व्यक्ति की होती है, उसके विचार या सिद्धांत की नहीं। अपनी मृत्यु के पश्चात भी वह अपने महान् विचारों अथवा सिद्धांतों के रूप में सदा जीवित रहता है।

परंतु जैविक अमरता के सिद्धांत की भाँति सामाजिक अमरता के इस सिद्धांत में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं जिनका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस सिद्धांत की प्रथम कठिनाई यह है कि इसके अनुसार कुछ थोड़े-से व्यक्ति ही अमरता प्राप्त कर सकते हैं, सभी मनुष्य नहीं। इसका कारण यह है कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है जो समाज को अमूल्य तथा क्रांतिकारी विचार और सिद्धांत प्रदान कर सकते हैं। सामान्य व्यक्तियों के लिए ऐसा करना संभव नहीं है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि ये सामान्य व्यक्ति अमरता प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार सामाजिक अमरता का यह सिद्धांत भी अमरता के क्षेत्र को बहुत सीमित कर देता है। इस सिद्धांत की दूसरी कठिनाई यह है कि यह सिद्धांत भी मनुष्य में विद्यमान मृत्यु के भय को समाप्त नहीं कर पाता। साधारण व्यक्ति यह जानता है कि वह समाज को कोई नवीन विचार या सिद्धांत न दे सकने के कारण अमर नहीं हो सकता; अतः वह मृत्यु के पश्चात अपने पूर्ण विनाश के विचार से भयभीत रहता है। सामाजिक अमरता का सिद्धांत इस भय के निराकरण के संबंध में उसे कोई आश्वासन नहीं देता। ऐसी स्थिति में साधारण व्यक्ति के लिए इस सिद्धांत का कोई महत्त्व नहीं हो सकता।

संभवतः सामाजिक अमरता के सिद्धांत की इन्हीं कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए किसी धर्म ने इस सिद्धांत को भी धार्मिक विश्वास के रूप में स्वीकार नहीं किया।

अमरता के अर्थ अथवा स्वरूप को उसके वर्गीकरण द्वारा भी समझा जा सकता है। विचारकों ने अनेक दृष्टिकोणों से अमरता का वर्गीकरण किया है। व्यक्तित्व की दृष्टि से अमरता को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—व्यक्तित्वपूर्ण अमरता और व्यक्तित्वरहित अमरता। व्यक्तित्वपूर्ण अमरता वह है जिसमें मनुष्य की मृत्यु के पश्चात भी आत्म-चेतना से परिपूर्ण उसका व्यक्तित्व बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि मृत्यु के फलस्वरूप मनुष्य के आत्म-चेतनापूर्ण व्यक्तित्व का नाश नहीं होता और मोक्ष प्राप्त करने तक वही मनुष्य बार-बार जन्म ग्रहण करता है। अधिकतर भारतीय दर्शनों में इसी व्यक्तित्वपूर्ण अमरता को स्वीकार किया गया है। धार्मिक दृष्टि से इस प्रकार की अमरता का बहुत महत्त्व है, क्योंकि भक्त सदा ईश्वर के समीप रहने तथा उसकी उपासना करने के लिए अपना पृथक व्यक्तित्व बनाए रखना चाहता है। इस व्यक्तित्वपूर्ण अमरता के विपरीत व्यक्तित्वरहित अमरता में मनुष्य की मृत्य के उपरांत उसका आत्म-चेतनापर्ण व्यक्तित्व परम सत्ता में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार बूंद सागर में गिरकर लुप्त हो जाती है। इस प्रकार की अमरता के समर्थकों का कथन है कि मृत्यु के पश्चात मोक्ष प्राप्त होने पर मनुष्य का परम सत्ता के साथ तादात्म्य हो जाता है और इसी कारण वह अमरता प्राप्त कर लेता है। अद्वैत वेदांत में इसी प्रकार की व्यक्तित्वरहित अमरता को स्वीकार किया गया है। परंतु धार्मिक दृष्टि से इस प्रकार की अमरता का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें भक्त का अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसी अमरता को वास्तविक अर्थ में 'अमरता' नहीं कहा जा सकता जिसमें मनुष्य का अस्तित्व ही शेष नहीं रह जाता। इसी कारण किसी भी धर्म में इस प्रकार की व्यक्तित्वरहित अमरता को स्वीकार नहीं किया गया। वस्तुतः धर्मपरायण व्यक्ति मनुष्य की व्यक्तित्वपूर्ण अमरता में ही विश्वास करते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से अमरता को 'अशारीरिक' तथा 'शारीरिक' इन दो वर्गों में विभाजित किया गया है। अशारीरिक अमरता में मृत्यु के पश्चात मनुष्य के शरीर का तो नाश हो जाता है किंतु आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में उसकी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि अशारीरिक अमरता के अनुसार शरीर के नष्ट हो जाने के उपरांत भी मनुष्य अपनी आत्मा के रूप में अमर रहता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, भारतीय दर्शन में इसी प्रकार की अमरता को स्वीकार किया गया है। यह अमरता व्यक्तित्वपूर्ण भी हो सकती है और व्यक्तित्वरहित भी। यदि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात उसकी शरीर रहित आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है तो यह व्यक्तित्वपूर्ण अमरता होगी और यदि उसका अस्तित्व किसी परम सत्ता में विलीन हो जाता है तो इसे व्यक्तित्वरहित अमरता कहा जाएगा।

परंतु कुछ धर्म उपर्युक्त अशारीरिक अमरता के स्थान पर मनुष्य की शारीरिक अमरता में विश्वास करते हैं। इन धर्मों में इस्लाम, यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन धर्मों में मनुष्य के सदेह अमर होने की कल्पना की गई है। इनके अनुसार मृत्यु के पश्चात मनुष्य पुनर्जन्म तो नहीं लेता, किंतु वह 'अंतिम निर्णय' के

उस दिन की प्रतीक्षा करता है जब उसे सशरीर ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा और उसके शुभ या अशुभ कर्मों के आधार पर उसे स्वर्ग अथवा नरक में भेज दिया जाएगा। इन धर्मों का विश्वास है कि मृत्यु के उपरांत भी मनुष्य के शरीर का नाश नहीं होता, अतः उसे 'अंतिम निर्णय के दिवस' पर न्याय के लिए ईश्वर के समक्ष सशरीर ही उपस्थित होना पड़ता है। अपने-इसी विश्वास के कारण इन धर्मों के अनुयायी मृतकों का दाहसंस्कार न करके उन्हें कब्र में ही गाड़ देते हैं। इस प्रकार हिंदू धर्म के विपरीत ईसाई धर्म, इस्लाम और यहूदी धर्म में मनुष्य की शारीरिक अमरता को ही स्वीकार किया गया है जो व्यक्तित्वपूर्ण अमरता है।

अंत में व्यापकता के दृष्टिकोण से भी अमरता को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—व्यापक अमरता और सीमित अमरता। व्यापक अमरता के समर्थकों का विचार है कि सभी मनुष्य तथा अन्य प्राणी अमर हैं, क्योंकि किसी भी प्राणी में विद्यमान आत्मा का विनाश संभव नहीं है। अमरता प्राप्त करने के लिए न तो शुभ कर्म करना अनिवार्य है और न ईश्वर की कृपा। इसका अर्थ यह है कि किसी मनुष्य ने चाहे कैसे ही कर्म किए हों, मृत्यु के पश्चात उसकी आत्मा अमर ही रहती है; उसकी अमरता पर उसके कर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त केवल मनुष्य ही अमरता का अधिकारी नहीं है; अन्य सभी प्राणियों की आत्मा भी अमर है। हिंदू धर्म में इसी प्रकार की व्यापक अमरता को स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत ईसाई धर्म के कुछ विचारकों के मतानुसार केवल शुभ कर्म करने वाले व्यक्तियों को ही अमरता प्राप्त हो सकती है, सभी मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को नहीं। ऐसी अमरता को 'सीमित अमरता' कहा जाता है। इस अमरता के समर्थकों का कथन है कि मृत्यु के उपरांत केवल वे मनुष्य ही अमर रहते हैं जो अपने वर्तमान जीवन में शुभ कर्म करते हैं; पापियों की आत्मा को अंततः ईश्वर द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सीमित अमरता के समर्थकों के अनुसार केवल मनुष्य—अर्थात्, धर्मपरायण व्यक्ति—ही अमरता के अधिकारी हैं, अन्य प्राणी नहीं। इसका अर्थ यही है कि अन्य प्राणियों की आत्मा मनुष्य की आत्मा से भिन्न प्रकार की है और उसका नष्ट हो जाना अनिवार्य है। इस प्रकार सीमित अमरता का सिद्धांत कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के लिए ही अमरता की संभावना को स्वीकार करता है। परंतु इस सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि सभी प्राणियों की रचना ईश्वर ने ही की है और यदि उन सबमें एक ही प्रकार की आत्मा विद्यमान है तो किसी प्राणी को अमरता से वंचित कैसे किया जा सकता है? सीमित अमरता के सिद्धांत के समर्थकों के लिए इस आपत्ति का कोई युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद उत्तर देना संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में इस सिद्धांत की अपेक्षा व्यापक अमरता के सिद्धांत को धार्मिक दृष्टि से अधिक तर्कसंगत माना जा सकता है।

आत्मा की अमरता के अर्थ और वर्गीकरण के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म को छोड़कर अन्य सभी धर्मों में इसे किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया गया है। यहाँ संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि मानव समाज में आत्मा की अमरता के इस विचार का उदय क्यों और कैसे हुआ? मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक भयंकर घटना है मृत्यु जो पूर्णतः निश्चित और अत्यंत दुखद है। मृत्यु

मानव से उसके संबंधियों तथा प्रियजनों को छीन लेती है और स्वयं उसके जीवन को भी समाप्त कर देती है। यही कारण है कि मनुष्य मृत्यु से प्रायः अत्यधिक भयभीत रहता है। मृत्यु के इसी भय ने मानव को अमरता की कल्पना करने के लिए प्रेरित किया जिससे वह इस दुखद भय से मुक्त होने का आश्वासन प्राप्त कर सके। यदि मनुष्य को यह विश्वास हो जाए कि वह मृत्यु के पश्चात भी किसी न किसी रूप में जीवित रहेगा तो निश्चय ही वह इस भय से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसके लिए किसी ऐसी सत्ता की कल्पना करना आवश्यक था जो शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात भी बनी रहे और इस प्रकार जो मनुष्य को अमर बना दे। इसी कारण मानव ने शरीर से पृथक तथा स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व और उसकी अमरता की कल्पना की। इस कल्पना के फलस्वरूप उसे यह सुखद–किंतु मिथ्या–आश्वासन मिला कि मृत्यु के उपरांत भी उसके प्रियजनों तथा स्वयं उसका अस्तित्व बना रहता है। यह आश्वासन मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्त करने में सहायक सिद्ध हुआ। उसे विश्वास हो गया कि मृत्यु भी उसके अस्तित्व को मिटा नहीं सकती। यह समझना कठिन नहीं है कि इस विश्वास के कारण मनुष्य को गहरी सांत्वना और मृत्यु के भय से मुक्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार आत्मा की सत्ता और अमरता की कल्पना मनुष्य द्वारा मृत्यु के भय से मुक्त होने का प्रयास है जो उसने अपने जीवन के आदिकाल में ही आरंभ कर दिया था। यही कारण है कि आत्मा की अमरता की अवधारणा किसी न किसी रूप में आदिकालीन धर्मों में भी पाई जाती है। संसार में ऐसी कोई भी सभ्यता अथवा संस्कृति नहीं है जिसमें यह अवधारणा किसी भी रूप में विद्यमान न हो। ऐसी स्थिति में आत्मा की अमरता की इस अवधारणा को 'सार्वभौम अवधारणा' की संज्ञा देना उचित ही प्रतीत होता है।

कुछ विचारकों का मत है कि आत्मा की अमरता की यह अवधारणा मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त उसे निराशा से भी मुक्त करती है जो उसके मन में पूर्णतया निश्चित मृत्यु के फलस्वरूप अनिवार्यतः उत्पन्न होती है। इन विचारकों का कथन है कि मनुष्य अपने जीवन में अनेक महान लक्ष्यों की प्राप्ति तथा उच्चतम मूल्यों की उत्पत्ति एवं वृद्धि के लिए निरंतर प्रयास करता है, किंतु जब उसे यह ज्ञात होता है कि किसी दिन संपूर्ण मानवजाति का ही अंत हो जाएगा तो उसे अपना यह प्रयास निरर्थक प्रतीत होने लगता है और उसके मन में घोर निराशा उत्पन्न हो जाती है। वह यह सोचने लगता है कि मृत्यु उसके जीवन के साथ-साथ महान कार्यों के लिए किए जाने वाले उसके प्रयास को भी नष्ट कर देगी। इससे जीवन में महान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसका उत्साह बहुत कम हो जाता है। परंतु यदि मनुष्य को यह विश्वास हो जाए कि मृत्यु उसके जीवन का अंत नहीं है और मृत्यु के पश्चात भी किसी न किसी रूप में उसका अस्तित्व बना रहेगा तो वह इस निराशा से बच सकता है। इस मत के समर्थकों का दावा है कि आत्मा की अमरता का विश्वास मनुष्य में महान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने का उत्साह बनाए रखता है। संभवतः इसीलिए बहुत प्राचीन काल में मानव ने शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता और अमरता की कल्पना की होगी। उसकी इस कल्पना का आधार मृत पूर्वजों से संबंधित उसके स्वप्न ही रहे होंगे। जैसा कि हम दूसरे अध्याय में बता चुके हैं, आदिकालीन मानव जब स्वप्नों में अपने मृत पूर्वजों को देखता था तो वह यही सोचता था कि वे किसी अन्य जगत् में

निवास करते हैं जहां से वे उसके स्वप्नों में आते हैं। आदिकालीन मनुष्य के इसी विश्वास से कालांतर में आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास की उत्पत्ति हुई होगी। समय व्यतीत होने के साथ-साथ धीरे-धीरे यह विश्वास दृढ़ तथा व्यापक होता गया और अंत में सार्वभौम विश्वास के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

इस प्रकार उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कारणों के फलस्वरूप ही मानव-समाज में आत्मा की अमरता के विश्वास का उदय हुआ। परंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये मनोवैज्ञानिक कारण मनुष्य के इस विश्वास को तार्किक दृष्टि से सत्य प्रमाणित नहीं करते, ये हमें केवल इतना ही बताते हैं कि इस विश्वास की उत्पत्ति क्यों और किस प्रकार हुई। वस्तुतः आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास को युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिए मनोवैज्ञानिक कारणों के अतिरिक्त समुचित बौद्धिक तर्कों की आवश्यकता होगी जिन पर हम अगले खंड में विचार करेंगे।

2. आत्मा की अमरता की प्रामाणिकता

आत्मा की अमरता के अर्थ एवं वर्गीकरण का विवेचन करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि इसे युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिए कौन-से तर्क प्रस्तुत किए गए हैं और ये तर्क दार्शनिक दृष्टि से कहाँ तक प्रामाणिक हैं। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास बहुत प्राचीन तथा लगभग सार्वभौम विश्वास है। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आदिकालीन मनुष्य किसी न किसी रूप में मरणोत्तर जीवन में विश्वास करता था। परंतु इस विश्वास को सत्य सिद्ध करने के लिए वह न तो कोई तर्क देता था और न इसके लिए तर्कों की आवश्यकता का अनुभव ही करता था। वह केवल अपनी भावनाओं के आधार पर ही इसे स्वीकार कर लेता था। इसी कारण हमें आदिम धर्मों में मरणोत्तर जीवन-संबंधी विश्वास के लिए कोई बौद्धिक युक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। परंतु कालांतर में विभिन्न सभ्यताओं के विकास के साथ-साथ इस धार्मिक विश्वास के लिए भी कुछ युक्तियों अथवा तर्कों का विकास हुआ। अनेक दार्शनिकों तथा धर्मपरायण विचारकों ने आत्मा की सत्ता और अमरता से संबंधित विश्वास को सत्य प्रमाणित करने के लिए तर्क देना आरंभ किया। इस संबंध में प्लेटो, ऐक्वाइनस, कान्ट, डेकार्ट आदि दार्शनिकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अधिकतर भारतीय दार्शनिकों ने भी कर्म सिद्धांत तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत और कुछ अन्य तर्कों के आधार पर आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। अभी तक पाश्चात्य तथा भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा की अमरता के समर्थन में जो तर्क दिए हैं उनकी प्रामाणिकता की आलोचनात्मक परीक्षा करना आवश्यक है। यहाँ हम इस संबंध में दिए गए कुछ प्रमुख तर्कों पर इसी दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

(1) तत्त्वमीमांसीय तर्क

पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम प्लेटो ने कुछ तर्कों द्वारा आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने का प्रयास किया। प्लेटो के इन तर्कों को 'तत्त्वमीमांसीय तर्क' कहा जा सकता है,

क्योंकि इनका आधार उनकी कुछ तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताएँ ही हैं। आत्मा की अमरता के समर्थन में प्लेटो का प्रथम तर्क यह है कि आत्मा एक सरल द्रव्य है, अतः इसका विनाश संभव नहीं हैं। सरल द्रव्य अनिवार्यतः निरवयव होता है—अर्थात, इसके भाग या तत्त्व नहीं होते। ऐसी स्थिति में इसका विनाश कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तु के विनाश का अर्थ है विभिन्न भागों अथवा तत्त्वों में उसका विघटित हो जाना। अवयवरहित सरल द्रव्य होने के कारण आत्मा का विघटन अथवा विनाश असंभव है। भौतिक तत्त्वों से निर्मित शरीर ही विघटित या नष्ट होता है; उसमें निरवयव सरल द्रव्य के रूप में निवास करने वाली आत्मा कभी भी नष्ट नहीं हो सकती। इस प्रकार प्लेटो ने आत्मा को सरल द्रव्य मान कर उसकी अमरता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके इस तर्क से यह स्पष्ट है कि वे आत्मा को ऐसी अभौतिक सत्ता मानते हैं जिसका निर्माण भौतिक तत्त्वों द्वारा नहीं हुआ। मध्य युग में ऐक्वाइनस ने भी आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया था और उनके पश्चात अन्य अनेक ईसाई विचारकों ने भी इस तर्क को स्वीकार किया। परंतु प्लेटो के इस तर्क को तभी प्रामाणिक माना जा सकता है जब उनकी इस तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता को स्वीकार कर लिया जाए कि निरवयव सरल द्रव्य की सत्ता है और आत्मा ऐसा ही सरल द्रव्य है। जो दार्शनिक सरल द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उनके लिए यह तर्क प्रामाणिक तथा विश्वसनीय नहीं हो सकता। आधुनिक मनोविज्ञान भी प्लेटो की इस मान्यता का समर्थन नहीं करता कि आत्मा या मन एक सरल द्रव्य है।

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त प्लेटो ने ज्ञान-प्राप्ति के सिद्धांत के आधार पर भी आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि हमारा संपूर्ण ज्ञान वास्तव में स्मृति के रूप में ही होता है—अर्थात्, हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह पूर्वजन्म में प्राप्त हमारे ज्ञान की स्मृति मात्र है। हम कभी भी नया ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शीघ्र तथा सरलतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं जिसका अर्थ यह है कि उन्हें पूर्वजन्मों में प्राप्त ज्ञान का विशाल भंडार उपलब्ध है जो अन्य व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्वजन्मों में ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्मा अमर है; मृत्यु के पश्चात केवल शरीर का ही नाश होता है, आत्मा का नहीं।

परंतु तार्किक दृष्टि से प्लेटो की उपर्युक्त युक्ति भी प्रमाणिक नहीं है, क्योंकि इसमें आत्मा को अमर सिद्ध करने के स्थान पर उसे पहले से ही अमर मान लिया गया है। प्लेटो पहले ही यह मान लेते हैं कि आत्मा अमर है और फिर यह सिद्ध करते हैं कि वह पूर्वजन्मों में प्राप्त ज्ञान को स्मृति के रूप में संचित रखती है। यदि आत्मा अमर न होती तो वह पूर्वजन्मों में प्राप्त इस ज्ञान को स्मृति के रूप में संचित नहीं रख सकती थी, अतः प्लेटो के अनुसार इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा अमर है। परंतु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह तर्क वास्तव में आत्मा की अमरता को सिद्ध नहीं करता; यह उसे पहले से ही अमर मान लेता है। फिर प्लेटो ने इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का भी कोई उत्तर नहीं दिया है कि आत्मा सर्वप्रथम ज्ञान कैसे प्राप्त करती है, क्योंकि उस समय तो आत्मा का कोई पूर्वजन्म था ही नहीं। स्पष्ट है कि आत्मा का यह प्रारंभिक ज्ञान अनिवार्यतः नवीन ही होगा, किंतु प्लेटो तो नवीन ज्ञान की संभावना को ही स्वीकार नहीं करते। उन्होंने अपने सिद्धांत की इस समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं

किया। इसके अतिरिक्त प्लेटो की इस मान्यता के लिए भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि मनुष्य का संपूर्ण ज्ञान उसके पूर्वजन्मों की स्मृति मात्र है। वस्तुतः आधुनिक मनोविज्ञान तथा शरीर-रचना-विज्ञान दोनों ही उनकी इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। हमारी अन्य मानसिक क्रियाओं की भाँति सीखने या ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया भी अंततः हमारे मस्तिष्क की रचना पर ही निर्भर है। इसका प्रमाण यह है कि मस्तिष्क के ज्ञान क्रिया संबंधी विशेष भाग में विकृति उत्पन्न हो जाने के कारण हम ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हो जाते हैं। सीखने में असमर्थ मानसिक दृष्टि से पिछड़े हुए व्यक्तियों की वस्तुतः यही मूल समस्या है। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति से संबंधित प्लेटो का यह तर्क भी आत्मा की अमरता को युक्तिसंगत रूप से प्रमाणित नहीं कर पाता।

उपर्युक्त दोनों तर्कों के अतिरिक्त प्लेटो ने अपने आकार विषयक सिद्धांत द्वारा भी आत्मा को अमर सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनका मत है कि समस्त भौतिक वस्तुएं परिवर्तनशील तथा नश्वर हैं, किंतु पृथक जगत् में विद्यमान उनके अभौतिक आकार कभी भी परिवर्तित और नष्ट नहीं होते। भौतिक वस्तुओं के विपरीत ये आकार सदा अविकारी तथा अनश्वर ही बने रहते हैं। यह आकार-जगत् दृश्य भौतिक जगत् का आधार होते हुए भी उससे भिन्न है। आत्मा का संबंध इसी अभौतिक, अपरिवर्तनशील तथा अनश्वर आकार-जगत् से ही है, परिवर्तनशील और नाशवान भौतिक जगत् से नहीं। भौतिक जगत् में विद्यमान शरीर के साथ आत्मा का जो संबंध है वह केवल अस्थायी है। शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात उसके साथ आत्मा का यह संबंध समाप्त हो जाता है। वह पुनः अपने मूल स्रोत आकार-जगत् में प्रवेश कर लेती है। इस प्रकार प्लेटो के मतानुसार अविकारी तथा अनश्वर आकार-जगत् से संबद्ध होने के कारण आत्मा अमर है। परंतु प्लेटो का यह तर्क भी उनकी इस तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता पर ही आधारित है कि भौतिक जगत् से भिन्न एवं स्वतंत्र आकार-जगत् की सत्ता है और यह आकार-जगत् अविकारी तथा अनश्वर है। यदि उनके इस पूर्वमान्यता को स्वीकार न किया जाए तो उनका यह तर्क प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं रह जाता। प्रश्न यह है कि क्या प्लेटो की उपर्युक्त तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता को सत्य प्रमाणित करना संभव है। मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। इस प्रकार प्लेटो के अन्य दो तर्कों की भाँति उनका यह तर्क भी युक्तिसंगत रूप से आत्मा की अमरता को सिद्ध करने में असमर्थ है।

(2) ईश्वरवादी तर्क

जो विचारक ईश्वर में विश्वास करते हैं उन्होंने भी आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने के लिए अपना तर्क दिया है जो उनके मूल सिद्धांत ईश्वरवाद पर आधारित है। इन विचारकों का कथन है कि ईश्वर में अनिवार्यतः विद्यमान कुछ नैतिक गुणों के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध किया जा सकता है। ईश्वर में न्याय, प्रेम, दया आदि नैतिक गुण पाए जाते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि अपनी सृष्टि के साथ उसका एक विशेष संबंध हैं। ईश्वर ने ही हम सबकी रचना की है और उसी ने हमारे मन में अमरता की इच्छा को भी उत्पन्न किया है। न्यायशील होने के कारण वह हमारी अमरता की इस इच्छा को अपूर्ण नहीं रहने दे सकता जो उसने स्वयं उत्पन्न की है। यदि हमारी यह इच्छा अपूर्ण रह जाती है

तो ईश्वर को 'न्यायी' नहीं कहा जा सकता, अतः वह हमारी इस इच्छा की पूर्ति के लिए आत्मा को कभी नष्ट नहीं होने दे सकता। इसी प्रकार न्याय की भाँति प्रेम और दया भी ईश्वर के अनिवार्य नैतिक गुण हैं। ईश्वर अपने द्वारा रचित सभी जीवों से प्रेम करता है और वह उनके प्रति अत्यंत दयालु भी है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार अपनी संतान से प्रेम करने वाला पिता स्वयं उसकी हत्या नहीं कर सकता उसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं अपने द्वारा रचित आत्माओं को नष्ट नहीं कर सकता। प्रेममय तथा दयालु ईश्वर आत्माओं को नष्ट करने के स्थान पर उनकी रक्षा ही करना चाहेगा।

आत्मा की अमरता के समर्थन में इसी ईश्वरवादी तर्क को प्रस्तुत करते हुए ट्रूब्लड कहते हैं कि —"ईश्वरवाद अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य विश्वास के बिना अमरता के लिए प्लेटो तथा कान्ट के प्रमाणों की कोई प्रभावशीलता नहीं हो सकती।...हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमरता पर विचार करने का सर्वोत्तम दृष्टिकोण केवल वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं, अपितु धार्मिक दृष्टिकोण हैं।...अमरता के लिए व्यावहारिक दृष्टि से वैज्ञानिक प्रमाण व्यर्थ और दार्शनिक तर्क अपूर्ण हैं, किंतु धार्मिक तर्क लाभदायक अथवा उपयोगी है।...कालिक तथा तार्किक दृष्टि से अमरता संबंधी विश्वास ईश्वर विषयक विश्वास की अपेक्षा गौण है"।[2] ट्रूब्लड की भाँति एक अन्य ईश्वरवादी विचारक, टेलर भी आत्मा की अमरता के लिए इस तर्क को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका कथन है कि :— "ईश्वर विषयक समुचित सिद्धांत के अभाव में मानवीय अमरता संबंधी सिद्धांत के लिए कोई सुरक्षित आधार प्राप्त करना असंभव है"।[3] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वरवादियों के मतानुसार न्याय, प्रेम, दया आदि ईश्वर के नैतिक गुणों द्वारा आत्मा की अमरता प्रमाणित होती है।

परंतु यह ईश्वरवादी तर्क केवल उन्हीं विचारकों को स्वीकार्य हो सकता है जो नैतिक गुणों से परिपूर्ण साकार तथा सगुण ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। जैसा कि हम तीसरे अध्याय में देख चुके हैं, ईश्वर का अस्तित्व अत्यंत विवादास्पद है और तार्किक दृष्टि से उसे निश्चित रूप से कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में जो विचारक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनके लिए ईश्वरवादियों के उपर्युक्त तर्क का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया यह तर्क भी युक्तिसंगत रूप से आत्मा की अमरता को प्रमाणित नहीं करता।

(3) नैतिकता संबंधी तर्क

उपर्युक्त दो तर्कों के अतिरिक्त कुछ दार्शनिकों ने नैतिकता के आधार पर भी आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन दार्शनिकों में कान्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने नैतिकता की अनिवार्य माँग के रूप में आत्मा की अमरता को

---

2. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन , पृ० 302-304
3. ए० ई० टेलर, 'दि फ़ेथ ऑफ़ ए मॉरेलिस्ट', खंड 1, पृ० 256

स्वीकार करना आवश्यक माना है। उनका कथन है कि सैद्धांतिक दृष्टि से तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर के अस्तित्व और संकल्प-स्वातंत्र्य की भाँति आत्मा की अमरता को भी प्रमाणित करना संभव नहीं है। परंतु आचरण से संबद्ध हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की यह माँग है कि नैतिकता की पूर्वमान्यताओं के रूप में इन तीनों को स्वीकार किया जाए। नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में कान्ट ने जो कुछ कहा है उस पर हम तीसरे अध्याय में विचार कर चुके हैं। यहाँ हम आत्मा की अमरता के संबंध में उनके तर्क की विवेचना करेंगे। कान्ट के इस तर्क को 'नैतिकता संबंधी तर्क' कहा जाता है, क्योंकि उनके विचार में इसका आधार हमारी नैतिकता की अनिवार्य माँग ही है। इस तर्क को प्रस्तुत करते हुए वे स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि यह सैद्धांतिक दृष्टि से आत्मा की अमरता को प्रमाणित नहीं करता, क्योंकि ऐसा करना संभव ही नहीं है। यह तर्क केवल हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की माँग के रूप में आत्मा की अमरता से संबंधित पूर्वमान्यता की आवश्यकता को ही सिद्ध करता है। कान्ट का मत है कि आत्मारोपित नैतिक नियम के अनुरूप सदैव कर्म करना बौद्धिक प्राणी के रूप में मनुष्य का अनिवार्य कर्तव्य है जिसका पालन उसे कर्म के परिणामों की चिंता किए बिना ही करना चाहिए। जब वह कर्म के परिणामों पर विचार किए बिना केवल कर्तव्य के लिए कर्तव्य का पालन करता है तभी यह कहा जा सकता है कि उसका आचरण वास्तविक अर्थ में 'नैतिक आचरण' है। ऐसा नैतिक आचरण करने वाला मनुष्य दंड के भय या पुरस्कार के प्रलोभन से प्रेरित अथवा प्रभावित नहीं होता; वह तो केवल कर्तव्य की चेतना से प्रेरित होकर अपने कर्तव्य का पालन करता है, क्योंकि नैतिकता की यही मांग है। परंतु इसके साथ ही कान्ट यह भी मानते हैं कि इस प्रकार का नैतिक आचरण करने वाले मनुष्य को अपने इस आचरण के फलस्वरूप समुचित आनंद भी प्राप्त होना चाहिए। इतना ही नहीं, उनके मतानुसार अपने शुभाचरण के अनुपात में आनंद प्राप्त करना मनुष्य का अधिकार भी है। इसी कारण उन्होंने उस स्थिति को 'परम शुभ' अथवा 'उच्चतम शुभ' की संज्ञा दी है जिसमें शुभाचरण या सद्गुण के अनुपात में आनंद भी अनिवार्यतः समाविष्ट रहता है। सद्गुण तथा आनंद से परिपूर्ण इस परम शुभ की प्राप्ति ही नैतिकता का अंतिम लक्ष्य है जिसका समर्थन हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि करती है। केवल कर्तव्य के लिए कर्तव्य का पालन करने से उत्पन्न नैतिक पूर्णता तथा उसके अनुपात से प्राप्त आनंद के समुचित समावेश के फलस्वरूप ही इस परम शुभ संबंधी अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति संभव है।

परंतु कान्ट का विचार है कि उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करना अत्यंत कठिन कार्य है जिसके लिए मनुष्य का एक जीवन ही पर्याप्त नहीं है। इस परम शुभ की प्राप्ति के लिए उसे अनंत काल तक प्रयास करना होगा और यह उसके छोटे-से वर्तमान जीवन में संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में परम शुभ की प्राप्ति के लिए यह मानना आवश्यक है कि मृत्यु के पश्चात मनुष्य के जीवन का अंत नहीं हो जाता; वह इस संसार में बार-बार जीवन प्राप्त करता है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि परम शुभ की प्राप्ति के लिए नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में आत्मा की अमरता को स्वीकार करना आवश्यक है और यही हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की अनिवार्य माँग भी है। अपने इसी विचार को स्पष्ट करते हुए कान्ट कहते हैं कि:—
"आत्मा की अमरता से संबंधित मान्यता के आधार पर ही व्यावहारिक दृष्टि से परम शुभ

संभव है; परिणामतः यह अमरता, जो नैतिक नियम के साथ अभिन्न रूप से संबद्ध है, विशुद्ध व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता है"।[4] संक्षेप में अपने इसी तर्क द्वारा कान्ट ने नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में आत्मा की अमरता से संबंधित आवश्यकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

परंतु, जैसा कि कान्ट स्वयं स्वीकार करते हैं, उनका यह तर्क सैद्धांतिक दृष्टि से आत्मा की अमरता को प्रमाणित नहीं करता और ऐसा करना इस तर्क का उद्देश्य भी नहीं है। यह तर्क हमें केवल इतना ही बताता है कि नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में हमें आत्मा की अमरता में विश्वास करना चाहिए; यह इस विश्वास को सत्य प्रमाणित नहीं करता। ऐसी स्थिति में विशुद्ध तार्किक दृष्टि से इस तर्क को आत्मा की अमरता के लिए प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कान्ट से बहुत पहले भारतीय दार्शनिकों ने भी अपने कर्म सिद्धांत के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का प्रयास किया था। इस सिद्धांत पर हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, अतः यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है और इस संसार में उसे जो सुख या दुःख मिलता है वह स्वयं उसी के शुभ अथवा अशुभ कर्मों का ही अनिवार्य परिणाम होता है। परंतु मनुष्य को उसके सभी कर्मों का फल वर्तमान जीवन में ही प्राप्त नहीं हो जाता; उसके कुछ कर्मों का फल उसे अगले जन्म में ही प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में यह मानना आवश्यक हो जाता है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात भी किसी न किसी रूप में उसका अस्तित्व बना रहता है। दूसरे शब्दों में, कर्म-सिद्धांत की युक्तिसंगत व्याख्या के लिए किसी न किसी रूप में मनुष्य की अमरता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि अधिकतर भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार किया है। यदि आत्मा की अमरता को स्वीकार न किया जाए तो कर्म-सिद्धांत तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत की तर्कसंगत व्याख्या करना अत्यंत कठिन हो जाता है। आत्मा की अमरता के समर्थन में इस तर्क को भी 'नैतिकता संबंधी तर्क' ही कहा जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा भी कर्म-सिद्धांत और पुनर्जन्म के सिद्धांत की पूर्वमान्यता के रूप में आत्मा की अमरता की आवश्यकता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। कान्ट के तर्क की भाँति यह तर्क भी हमें केवल इतना ही बताता है कि इन सिद्धांतों को स्वीकार करने के लिए आत्मा की अमरता में विश्वास करना आवश्यक है, अतः यह भी तार्किक दृष्टि से इस विश्वास को सत्य प्रमाणित नहीं करता।

(4) परामनोविज्ञान संबंधी तर्क

उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त कुछ विचारकों ने परामनोविज्ञान के आधार पर भी आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। वर्तमान शताब्दी में मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में परामनोविज्ञान का विकास हुआ है जिसका संबंध अतींद्रिय

---

4. इमैनुअल कान्ट, 'सलैक्शन्ज', 'संपादक टी० एम० ग्रीन, पृ० 358

विषयों तथा आध्यात्मिक जगत् के प्राणियों के साथ बताया जाता है। इन अलौकिक विषयों के संबंध में अनेक परामनोवैज्ञानिकों ने क्रांतिकारी अनुसंधानों का दावा किया है जो कुछ दार्शनिकों के विचार में आत्मा की अमरता को सिद्ध करते हैं। वस्तुतः परामनोविज्ञान विषयक अनुसंधानों को मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत उन विषयों से संबंधित अनुसंधानों को रखा जा सकता है जिनका संबंध अतींद्रिय प्रत्यक्ष से है। इन विषयों में परचित्तज्ञान, अतींद्रिय दृष्टि, अतींद्रिय श्रवण आदि विषय सम्मिलित हैं जिनके द्वारा कुछ व्यक्ति अतींद्रिय प्रत्यक्ष के माध्यम से कुछ विशेष वस्तुओं का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने का दावा करते हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि पर-चित्त-ज्ञान अथवा 'टैलीपैथी' द्वारा एक व्यक्ति सामान्य इंद्रिय प्रत्यक्ष के साधनों के विना ही दूसरे व्यक्ति के विचारों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसे अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति में स्थान की दूरी किसी प्रकार की बाधा नहीं डालती। हाँ, इस प्रकार के ज्ञान के लिए दोनों व्यक्तियों में परस्पर गहन संवेगात्मक संबंध का होना अनिवार्य है। पर-चित-ज्ञान की भांति अतींद्रिय दृष्टि या 'क्लैयर-वाएंस' तथा अतींद्रिय श्रवण अथवा 'क्लेयर-आडिएंस' द्वारा व्यक्ति सामान्य दृष्टि एवं श्रवण के विना ही दूरवर्ती वस्तुओं तथा ध्वनियों को क्रमशः देख और सुन सकता है। ये सभी अतींद्रिय प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं जिनमें मनुष्य ज्ञान-प्राप्ति के लिए सामान्य इंद्रिय प्रत्यक्ष की सहायता नहीं लेता। कुछ विचारकों के मतानुसार इन उदाहरणों द्वारा यह प्रमाणित होता है कि हमारा मन शरीर पर पूर्णतः निर्भर नहीं है, वह ज्ञानेंद्रियों की सहायता के विना भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परंतु यदि इन विचारकों के इस दावे को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी इस प्रकार के अतींद्रिय प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा की अमरता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यह अतींद्रिय प्रत्यक्ष मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में ही प्राप्त करता है, मृत्यु के पश्चात नहीं।

परामनोविज्ञान विषयक अनुसंधानों के दूसरे वर्ग में उन विषयों को सम्मिलित किया जाता है जिनका संबंध मृत व्यक्तियों के साथ संपर्क से है। कुछ परामनोवैज्ञानिक यह दावा करते हैं कि मृत व्यक्तियों की आत्माओं के साथ संपर्क स्थापित किया जा सकता है। इसके लिए कुछ विशेष व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जिन्हें 'माध्यम' कहा जाता है और जो मृत व्यक्तियों की आत्माओं के साथ संपर्क स्थापित करने में सक्षम होते हैं। परामनोवैज्ञानिकों ने अनुसंधानों द्वारा अपनी पुस्तकों में इस प्रकार के संपर्क के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करने का दावा किया है। इन मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मृत व्यक्तियों की आत्माओं के साथ संपर्क स्थापित करने वाले व्यक्तियों ने इन आत्माओं से ऐसी अनेक गोपनीय सूचनाएँ प्राप्त की हैं जिनका ज्ञान किसी जीवित व्यक्ति को नहीं था और जो बाद में कुछ अन्य उपायों द्वारा सत्य प्रमाणित हुई हैं। इसी प्रकार मृत व्यक्तियों की आत्माओं के साथ संपर्क स्थापित करने वाले इन व्यक्तियों ने उस भाषा में बहुत-सी बातें कही और लिखी हैं जिसका स्वयं उन्हें बिलकुल ज्ञान नहीं था और जो मृत व्यक्तियों की मातृभाषा थी। कुछ विचारकों का मत है कि परामनोविज्ञान विषयक अनुसंधान के इन उदाहरणों द्वारा निश्चित रूप से आत्मा की अमरता प्रमाणित होती है। यदि मृत व्यक्तियों की आत्माओं का अस्तित्व न बना रहता तो उनके साथ किसी प्रकार का संपर्क स्थापित करना कभी भी संभव न होता।

ऐसे संपर्क से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात उसके शरीर का ही नाश होता है, उसकी आत्मा का नहीं। इस प्रकार मृत व्यक्तियों की आत्माओं से संबंधित परामनोविज्ञान के इन अनुसंधानों द्वारा कुछ विचारकों ने आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिकतर वैज्ञानिक इन अनुसंधानों को प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि इनके संबंध में प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक विधियों द्वारा परीक्षण करना संभव नहीं है। अभी तक ऐसी वैज्ञानिक विधियों तथा ऐसे उपकरणों का विकास नहीं किया जा सका है जिनके द्वारा कोई भी प्रशिक्षित वैज्ञानिक प्रयोगशाला की नियंत्रित परिस्थितियों में मृत व्यक्तियों की आत्माओं के साथ निश्चित रूप से संपर्क स्थापित कर सके। इसी कारण परामनोविज्ञान संबंधी उपर्युक्त अनुसंधानों की सत्यता प्रायः संदिग्ध ही मानी जाती है। वस्तुतः इन अनुसंधानों के समर्थन में निश्चित वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध होने तक इनकी प्रामाणिकता के विषय में निर्णय को स्थगित रखना ही तर्कसंगत दृष्टिकोण प्रतीत होता है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि परामनोविज्ञान विषयक अनुसंधानों के आधार पर भी अभी तक निश्चित रूप से आत्मा की अमरता को प्रमाणित नहीं किया जा सका है।

आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास के समर्थन में दिए गए उपर्युक्त सभी तर्कों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि तार्किक दृष्टि से इस विश्वास को सत्य प्रमाणित करना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि शरीर से भिन्न तथा स्वतंत्र अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को किसी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए अभी तक कोई स्पष्ट तथा निश्चित प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए जा सके हैं और ऐसा करना शायद संभव भी नहीं है। अपने अनुभव द्वारा हम केवल इतना ही जानते हैं कि मृत्यु के फलस्वरूप मनुष्य के शरीर का नाश हो जाने के पश्चात उसके व्यक्तित्व का ऐसा कोई अंश शेष नहीं रह जाता जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि देहांत के उपरांत भी व्यक्ति के रूप में उसका अस्तित्व बना हुआ है। यह सत्य है कि मृत्यु के पश्चात भी अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण कुछ महान व्यक्तियों का अस्तित्व समाज की स्मृति के रूप में चिरकाल तक बना रहता है। इसी प्रकार अधिकतर व्यक्ति अपनी मृत्यु के उपरांत भी संतान के रूप में जीवित रहते हैं। परंतु, जैसा कि हम पिछले खंड में देख चुके हैं, सामान्यतः आत्मा की अमरता को इन अर्थों में स्वीकार नहीं किया जाता। अधिकतर धर्मपरायण व्यक्तियों के अनुसार आत्मा की अमरता का अर्थ यही है कि मनुष्य के देहांत के पश्चात भी अभौतिक द्रव्य के रूप में उसकी आत्मा का अस्तित्व सदा बना रहता है। जो दार्शनिक आत्मा की अमरता में विश्वास करते हैं उन्होंने भी आत्मा की अमरता का यही सामान्य अर्थ स्वीकार किया है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इस सामान्य अर्थ में आत्मा की अमरता को युक्तिसंगत रूप से प्रमाणित करना संभव नहीं है, अतः इससे संबंधित विश्वास को सत्य और प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से आत्मा की अमरता की प्रामाणिकता अत्यंत संदिग्ध है।

3. क्या आत्मा की अमरता का विचार सार्थक है?

हम प्रथम खंड में देख चुके हैं कि अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति शरीर से भिन्न तथा स्वतंत्र अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता और अमरता के विचार को स्वीकार करते हैं। परंतु बहुत प्राचीन काल से अनुभववादी दार्शनिक इस विचार की सार्थकता में गंभीर संदेह व्यक्त करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, भारत में चार्वाक दार्शनिक यह मानते थे कि शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता नहीं है। अतः उसके अनश्वर या अमर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इन दार्शनिकों के मतानुसार मनुष्य के देहांत के साथ ही वह पूर्णतः नष्ट हो जाता है; मृत्यु के पश्चात ऐसा कोई द्रव्य शेष नहीं रह जाता जिसे 'आत्मा' की संज्ञा दी जाती है। ऐसी स्थिति में आत्मा की अमरता की बात करना निश्चय ही निरर्थक और अयुक्तिसंगत है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों ने भी शरीर से पृथक और स्वतंत्र द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है, अतः वे भी आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करते। विश्वव्यापी परिणामवाद अथवा क्षणिकवाद में विश्वास करने के कारण ये दार्शनिक किसी भी नित्य या शाश्वत सत्ता को स्वीकार नहीं करते। अपने इसी मूल सिद्धांत के आधार पर उन्होंने आत्मा की अमरता के विचार का खंडन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार विश्व में कोई भी वस्तु नित्य अथवा स्थाई नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रति क्षण निरंतर परिवर्तन होता रहता है। यह विश्व एक सतत गतिशील प्रवाह है जिसमें किसी प्रकार की नित्य या शाश्वत सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। अपने इसी क्षणिकवाद के आधार पर बौद्ध दार्शनिकों ने अमर अथवा शाश्वत आत्मा की सत्ता को अस्वीकार किया है। इन दार्शनिकों का कथन है कि मानसिक प्रवृत्तियों, भावनाओं तथा विचारों के संघात या समूह का नाम ही आत्मा है; इनसे भिन्न उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। आत्मा के संबंध में बुद्ध के इसी विचार को स्पष्ट करते हुए नागसेन ने राजा मिलिंद से कहा था कि जिस प्रकार एक रथ पहियों, रस्सियों, छत आदि वस्तुओं का समूह है और इनसे अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार आत्मा भी विभिन्न मानसिक भावनाओं, विचारों तथा प्रवृत्तियों का संघात मात्र है और उसकी इनसे पृथक एवं स्वतंत्र सत्ता नहीं है। बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार आत्मा कोई शाश्वत द्रव्य न होकर केवल नाम रूपात्मक है—अर्थात्, वह रूप, संज्ञा, वेदना या सुख-दुःख की अनुभूति, संस्कार अथवा पूर्व जन्म या भूतकालीन अनुभवों द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति तथा विज्ञान या चेतना इन पाँच स्कंधों का संघात अथवा समुच्चय मात्र है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चार्वाक दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन में भी आत्मा की अमरता के लिए कोई स्थान नहीं है।

उपर्युक्त भारतीय दार्शनिकों के समान ही अनेक पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिकों ने भी आत्मा की अमरता के सिद्धांत का खंडन किया है। उदाहरणार्थ, डेमोक्रेटस, ऐपिक्यूरस आदि भौतिकवादी यूनानी दार्शनिक शरीर तथा मन से भिन्न शाश्वत अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार ह्यूम ने भी स्वतंत्र एवं शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व का खंडन किया है। वस्तुतः आत्मा के स्वरूप के विषय में उनका मत बौद्ध दार्शनिकों के उपर्युक्त मत के समान ही है। अपनी अनुभववादी

ज्ञान-मीमांसा के आधार पर आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि हमें अनुभव द्वारा किसी स्थाई अथवा शाश्वत आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। हम जब आत्मा को जानने का प्रयास करते हैं तो हमें किसी स्थाई द्रव्य के स्थान पर शीत, उष्ण आदि इंद्रिय-संवेदनों तथा सुख, दुःख, प्रेम, घृणा आदि मानसिक अनुभूतियों का ही प्रत्यक्षतः ज्ञान प्राप्त होता है। इसका अर्थ यही है कि आत्मा इन इंद्रिय-संवेदनों तथा मानसिक अनुभूतियों के संघात या समुच्चय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[5] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ह्यूम आत्मा की अमरता का पूर्णतः निषेध करते हैं, क्योंकि बौद्ध दर्शन की भाँति उनके दर्शन में भी शरीर तथा मन से भिन्न एवं स्वतंत्र 'आत्मा' नामक शाश्वत द्रव्य के लिए कोई स्थान नहीं है। अन्य अनेक पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में आत्मा की सत्ता और अमरता के संबंध में ह्यूम के इस मत का समर्थन करते हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि इन अनुभववादी दार्शनिकों के मतानुसार हमारे लिए आत्मा की अमरता के विचार का कोई बोधगम्य अर्थ नहीं हो सकता।

कुछ समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने भाषा-विश्लेषण के आधार पर भी आत्मा की अमरता के विचार को स्वतोव्याघातपूर्ण तथा निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन दार्शनिकों में पी०टी० गीच तथा ऐन्टोनी फ़्ल्यू के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दार्शनिक हमारी भाषा में प्रचलित कुछ शब्दों के अर्थ के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वस्तुतः 'आत्मा की अमरता' का हमारे लिए कोई बोधगम्य अर्थ नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'मर जाना' तथा 'बच जाना' ये परस्पर विरोधी शब्द हैं, अतः किसी व्यक्ति के लिए एक ही साथ इन शब्दों का सार्थकतापूर्वक प्रयोग नहीं किया जा सकता। हम किसी व्यक्ति के संबंध में सार्थक रूप से यह नहीं कह सकते कि "वह मर गया, किंतु फिर भी वह बच गया"। तार्किक दृष्टि से यह वाक्य उतना ही निरर्थक है जितना यह वाक्य कि "वह कुंवारा पति है" अथवा "वह कुमारी पत्नी है"। यदि किसी व्यक्ति के विषय में यह कहा जाता है कि "वह बीमारी अथवा दुर्घटना से बच गया" तो यह वाक्य निश्चय ही सार्थक है और हम इसका अर्थ भली भाँति समझ सकते हैं। परंतु यदि किसी व्यक्ति के संबंध में यह कहा जाता है कि "वह मृत्यु के पश्चात भी बच गया" तो भाषा-प्रयोग के नियमों की दृष्टि से यह वाक्य निरर्थक है और हमारे लिए इसका कोई बोधगम्य अर्थ नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि 'मर जाना' और 'बच जाना' स्वतोव्याघाती शब्द हैं जिनका प्रयोग किसी व्यक्ति के संबंध में एक ही साथ सार्थकतापूर्वक नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति वास्तव में मर गया है तो हम सार्थक रूप से यह नहीं कह सकते कि "वह अब भी बचा हुआ है"। ऐसा कहना निरर्थक वाक्य का प्रयोग करना है। मुख्यतः इसी आधार पर गीच तथा फ़्ल्यू ने अमरता के विचार की सार्थकता का खंडन किया है।

इन दोनों दार्शनिकों का कथन है कि मृत्यु के पश्चात भी व्यक्ति का अस्तित्व बना रहना अमरता की अनिवार्य शर्त है। गीच के शब्दों में : "जब तक मनुष्य शारीरिक मृत्यु के पश्चात भी बच नहीं जाता तब तक अमरता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता; और मृत्यु के

5. डेविड ह्यूम, 'ए ट्रिटाइज़ ऑफ़ ह्यूमन नेचर', बुक 1, पृ० 252-253

पश्चात बच जाने के विषय में गंभीर कठिनाइयाँ हैं"।[6] इसी प्रकार फ़्ल्यू भी यह मानते हैं कि अमरता का सिद्धांत तथा मृत्यु के पश्चात मनुष्य का बचा रहना ये दोनों समानार्थक हैं और यही कारण है कि मनुष्यों की इनमें अत्यधिक रुचि रही है।[7] परंतु इन दोनों दार्शनिकों के मतानुसार मृत्यु के उपरांत भी मनुष्य के बचे रहने—अर्थात, अमरता—का विचार दार्शनिक दृष्टि से सार्थक नहीं है, क्योंकि किसी व्यक्ति की मृत्यु का अर्थ है उसके जीवन का सदा के लिए पूर्णतः समाप्त हो जाना। व्यक्ति के जीवन में मृत्यु कोई ऐसी घटना नहीं है जिसका वह अन्य घटनाओं की भाँति अनुभव कर सके। इसके विपरीत मृत्यु उसके जीवन तथा समस्त अनुभवों का अंत है, अतः वह स्वयं अपनी मृत्यु का अनुभव नहीं कर सकता। मृत्यु के साथ ही व्यक्ति के समस्त अनुभवों का अंत हो जाता है। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात उसकी अमरता की बात करना गीच तथा फ़्ल्यू के विचार में निश्चय ही निरर्थक है। इस प्रकार इन दार्शनिकों ने मुख्यतः भाषा-विश्लेषण के आधार पर अमरता के विचार को दार्शनिक दृष्टि से निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया है।

परंतु कुछ विचारकों का मत है कि आत्मा की अमरता के विषय में गीच तथा फ़्ल्यू ने ऊपर जो समस्या उठाई है उसका समाधान संभव है। इन विचारकों ने अपने-अपने ढंग से इस समस्या के कुछ समाधान भी प्रस्तुत किए हैं जिन पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि मनुष्य के भौतिक शरीर में एक अदृश्य तथा अभौतिक सूक्ष्म शरीर भी होता है जो उसकी मृत्यु के पश्चात भी नष्ट नहीं होता, अतः इस सूक्ष्म शरीर के रूप में मृत्यु के उपरांत उसका अस्तित्व बना रहता है। बहुत प्राचीन काल से अनेक देशों में इस अदृश्य एवं अभौतिक सूक्ष्म शरीर के विचार को स्वीकार किया जाता रहा है और इसके आधार पर मनुष्य की अमरता की व्याख्या भी की जाती रही है। परंतु कठिनाई यह है कि इस विचार को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं हैं। जो दार्शनिक सूक्ष्म शरीर के इस सिद्धांत में विश्वास करते हैं वे इसके समर्थन में अभी तक कोई युक्तिसंगत प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। इन दार्शनिकों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वास्तव में सूक्ष्म शरीरों का अस्तित्व है तो ये किसी वस्तु या व्यक्ति पर कभी भी कोई प्रभाव क्यों नहीं डालते ? ऐसे प्रभाव के अभाव में हम तर्कसंगत रूप से यह कैसे कह सकते हैं कि इन सूक्ष्म शरीरों का अस्तित्व है? इन शरीरों के अस्तित्व में विश्वास करने वाले दार्शनिक इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। वे हमें यह नहीं बताते कि इन सूक्ष्म शरीरों का अस्तित्व होने अथवा न होने से हमारे भौतिक जगत् के लिए क्या अंतर पड़ता है—अर्थात् इनका अस्तित्व या अनस्तित्व उसे किस प्रकार प्रभावित करता है। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म शरीरों के अस्तित्व से संबंधित इन दार्शनिकों के इस विश्वास को दार्शनिक दृष्टि से प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अमरता की समस्या का यह समाधान युक्तिसंगत तथा संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता।

---

6. पी० टी० गीच, 'गॉड ऐंड दि सोल', पृ० 17
7. ऐन्टोनी फ़्ल्यू का लेख 'डेथ', 'न्यू एसेज़ इन फ़िलॉसॉफ़िकल थियॉलॉजी', संपादक, ए० फ़्ल्यू तथा ए० मैकिन्टायर, पृ० 269

संभवतः उपर्युक्त समाधान के असंतोषजनक होने के कारण ही अधिकतर दार्शनिकों ने आत्मा को शरीररहित मानकर अमरता के सिद्धांत की व्याख्या की है। हम प्रथम खंड में देख चुके हैं कि भारतीय दार्शनिक आत्मा को शरीर तथा मन से भिन्न और स्वतंत्र मानते हैं। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी आत्मा के स्वरूप के संबंध में इसी मत को स्वीकार किया है। इन दार्शनिकों में प्लेटो, ऐक्वाइनस, डेकार्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। प्लेटो ने 'फ़ीडो' में शरीररहित आत्मा का सिद्धांत ही प्रस्तुत किया है। वे मन तथा आत्मा में कोई भेद नहीं करते। उनके मतानुसार हमारा मन अथवा हमारी आत्मा शरीर पर निर्भर न होकर उससे पूर्णतः भिन्न तथा स्वतंत्र है। आत्मा ही चिंतन, प्रयत्न, चयन, इच्छा आदि वे सभी मानसिक क्रियाएँ करती है जिन्हें चेतनापूर्ण क्रियाएं कहा जाता है। अपने आप में शरीर इन क्रियाओं को करने में असमर्थ है। आत्मा के लिए शरीर का केवल उतना ही महत्त्व है जितना मनुष्य के लिए उसके वस्त्रों का होता है। वह तो आत्मा का बाह्य आवरण मात्र है, अतः वह आत्मा के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है। हमारा वास्तविक व्यक्तित्व मन अथवा आत्मा में ही निहित रहता है। व्यक्ति होने का अर्थ है इच्छा, प्रयत्न, चिंतन आदि चेतनापूर्ण मानसिक क्रियाएँ करना। शरीर मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है। इसी कारण प्लेटो केवल आत्मा को ही मनुष्य के व्यक्तित्व का सारतत्त्व मानते हैं, शरीर को नहीं। शरीर तो आत्मा का अस्थायी निवास-स्थान मात्र है, अतः मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि शरीर के बिना भी आत्मा का अस्तित्व बना रह सकता है। वस्तुतः प्लेटो के विचार में शरीर के नष्ट होने का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शरीर से मुक्त होकर आत्मा अपना अस्तित्व पूर्ववत बनाए रखती है। इस प्रकार प्लेटो ने मृत्यु के पश्चात शरीररहित आत्मा की अमरता को ही सार्थक अमरता माना है। ऐक्वाइनस, डेकार्ट आदि कुछ अन्य पाश्चात्य दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में प्लेटो के इसी मत को स्वीकार करते हैं।

परंतु आत्मा की अमरता के विषय में प्लेटो के उपर्युक्त सिद्धांत में भी अनेक कठिनाइयां हैं जिनका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख कर देना आवश्यक है। सर्वप्रथम इस सिद्धांत की यह मान्यता अत्यंत संदिग्ध तथा अप्रामाणिक है कि मन या आत्मा शरीर से पूर्णतः स्वतंत्र है। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्लेटो ने चिंतन, प्रयत्न, इच्छा आदि मानसिक क्रियाओं के आधार पर ही इस मान्यता का समर्थन किया है जिन्हें वे शरीर पर निर्भर न मानकर उस से पूर्णतः स्वतंत्र मानते हैं। उन का मत है कि ये मानसिक क्रियाएँ पूर्ण रूप में केवल मन या आत्मा की क्रियाएँ हैं और शरीर का इनमें कोई योगदान नहीं है। परंतु आधुनिक मनोविज्ञान तथा शरीर-रचना-विज्ञान में जो अनुसंधान हुए हैं वे प्लेटो के इस मत को असत्य प्रमाणित करते हैं। इन अनुसंधानों द्वारा अब यह प्रमाणित हो गया है कि हमारी समस्त मानसिक क्रियाएँ हमारे मस्तिष्क की विभिन्न विशेष कोशिकाओं पर ही पूर्णतः निर्भर हैं जो निश्चय ही शरीर का एक अंग हैं। मस्तिष्क के कुछ विशेष भागों को क्षति पहुँचने के कारण विचार, स्मृति, कल्पना आदि मानसिक क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं। इस तथ्य से यही प्रमाणित होता है कि ये क्रियाएं तथाकथित आत्मा की स्वतंत्र क्रियाएँ न होकर वस्तुतः मस्तिष्क पर ही निर्भर हैं। मास्तिष्क के क्षतिग्रस्त हो जाने पर मनुष्य जीवित रहते

हुए भी इन क्रियाओं को संपन्न करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्लेटो तथा कुछ अन्य दार्शनिकों का यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि इन क्रियाओं को संपन्न करने वाला केवल मन या आत्मा है जो शरीर से पूर्णतः भिन्न और स्वतंत्र अभौतिक द्रव्य है।

इसके अतिरिक्त प्लेटो की यह मान्यता भी अत्यंत संदिग्ध है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का सारतत्त्व मन या आत्मा में ही निहित है और इस संबंध में उसके शरीर का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तविक स्थिति यह है कि शरीर तथा मन ये दोनों ही मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए समान रूप से अनिवार्य हैं। जिस प्रकार हम चेतनाशून्य शव को 'व्यक्ति' नहीं कह सकते उसी प्रकार हम शरीररहित मन अथवा आत्मा के रूप में भी 'व्यक्ति' की कल्पना नहीं कर सकते। हमारे लिए ऐसे व्यक्ति की अवधारणा बोधगम्य नहीं हो सकती जो केवल विशुद्ध मन या आत्मा है और जिसका शरीर है ही नहीं। प्लेटो तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने मृत्यु के पश्चात आत्मा के रूप में ऐसे ही अमर व्यक्ति की अवधारणा प्रस्तुत की है जो वस्तुतः अबोधगम्य और निरर्थक है। शरीररहित व्यक्ति की अवधारणा के निरर्थक होने का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि हम शरीर के बिना किसी मनुष्य के व्यक्तित्व की अनन्यता की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर सकते। जब हम किसी वृद्ध मनुष्य के संबंध में यह कहते हैं कि यह वही व्यक्ति है जिसका जन्म साठ वर्ष पूर्व हुआ था तो इससे हमारा तात्पर्य यही होता है कि अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी मूलतः इस मनुष्य का शरीर वही है जो आज से साठ वर्ष पूर्व था। गत साठ वर्षों से उस मनुष्य को 'एक ही व्यक्ति' कहने का अर्थ यही है कि इस अवधि में उसके रूप, अंग, आकार आदि में पर्याप्त परिवर्तन हो जाने पर भी उसके शरीर की अविच्छिन्नता या निरंतरता बनी हुई है और उसमें आमूल परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य के शरीर की अविच्छिन्नता अथवा निरंतरता ही उसे आजीवन 'एक ही व्यक्ति' बनाए रखती है। यह तथ्य भी प्लेटो के इस मत का खंडन करता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का सारतत्व उसके शरीर में निहित न होकर उसकी आत्मा में ही निहित रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्लेटो तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने शरीररहित आत्मा की अमरता का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया है वह युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद नहीं है, अतः इस सिद्धांत द्वारा भी उस समस्या का समाधान नहीं होता जो गीच तथा फ़्ल्यू ने आत्मा की अमरता के विचार की सार्थकता के संबंध में उठाई थी और जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

शरीररहित आत्मा की अमरता के सिद्धांत की जिन कठिनाइयों का उल्लेख ऊपर किया गया है उन्हें ध्यान में रखते हुए कुछ समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने आत्मा की अमरता के विचार को सार्थक सिद्ध करने के लिए एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया है जिस पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। इस सिद्धांत के प्रमुख प्रणेता डी० ज़ेड़० फिलिप्स हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक, 'डेथ ऐंड इम्मॉर्टैलिटी' में आत्मा की अमरता की समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और इसकी एक नई व्याख्या प्रस्तुत की है। वे यह पूर्णतः स्वीकार करते हैं कि मृत्यु के पश्चात शरीररहित आत्मा की अमरता के विचार को सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसी अमरता की अवधारणा हमारे लिए नितांत अबोधगम्य है। परंतु फ़िलिप्स के मतानुसार इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा की अमरता की अवधारणा

निरर्थक है और हमारे जीवन में इसकी कोई भूमिका हो ही नहीं सकती। मानव-जीवन में इस अवधारणा को महत्त्वपूर्ण और सार्थक सिद्ध करने के लिए फिलिप्स 'आत्मा' शब्द के अर्थ की एक नई व्याख्या करते हैं। उनका विचार है कि आत्मा कोई भौतिक या अभौतिक द्रव्य नहीं है, अपितु वह तो मनुष्य की नैतिक चेतना है जिसका संबंध उसके सदाचारपूर्ण जीवन से है। इस नए अर्थ में आत्मा को हम मनुष्य के नैतिक विश्वासों के साथ जोड़ सकते हैं।

आत्मा के अर्थ के विषय में अपनी इस नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करते हुए फ़िलिप्स कहते हैं कि – "किसी व्यक्ति के संबंध में यह कहना कि 'वह धन के लिए अपनी आत्मा बेच देगा' एक पूर्णतः स्वाभाविक कथन है।........ यह कथन एक व्यक्ति के विषय में नैतिक कथन है जो उस पतित अवस्था को व्यक्त करता है जिसमें वह व्यक्ति है। इस संदर्भ में मनुष्य की आत्मा उसकी निष्ठा अथवा ईमानदारी और उसके कर्मों तथा विश्वासों की जटिल अवस्था की ओर संकेत करती है।....... यदि हम अपने आप से यह पूछें कि हम यह कब कहेंगे कि किसी मनुष्य की आत्मा है या नहीं तो हम देखेंगे कि इसका किसी प्रकार के अनुभवात्मक प्रश्न से कोई संबंध नहीं है।...... मनुष्य की आत्मा की अमरता के विषय में प्रश्न उसके जीवन से संबंधित प्रश्न है जिसे वह जी रहा है। यदि आत्मा मनुष्य के भीतर कोई पूर्णतः भिन्न वस्तु होती तो इसका अर्थ यह होता कि मनुष्य के कर्मों का उस पर कोई प्रभाव न पड़ता। परंतु हम इस अर्थ में आत्मा के विषय में बात नहीं करते। आत्मा और मनुष्य के जीवन के बीच का संबंध आपातिक या अस्थायी नहीं है। जब मनुष्य पशु के स्तर पर पहुँच जाता है तब कोई यह कह सकता है कि उसने अपनी आत्मा खो दी है।......... इस प्रकार आत्मा के विषय में बात करना किसी विचित्र प्रकार की 'वस्तु' के संबंध में बात करना नहीं है। इसके विपरीत यह एक ऐसी बात है जिसका संबंध कुछ नैतिक अथवा धार्मिक निर्णयों से है जो मनुष्य अपने जीवन के विषय में करता है। यदि एक बार यह बात स्वीकार कर ली जाए, यदि आत्मा को कोई वस्तु अथवा किसी प्रकार का अभौतिक द्रव्य मानना छोड़ दिया जाए तो यह समझा जा सकता है कि कुछ प्रसंगों में आत्मा के विषय में बात करना मनुष्यों के संबंध में चर्चा करने का एक तरीक़ा है।....... मनुष्य की आत्मा की अवस्था के विषय में प्रश्न करना उसके जीवन की अवस्था के संबंध में प्रश्न करना है"।[8] इस प्रकार फ़िलिप्स के उपर्युक्त विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे आत्मा को किसी प्रकार का द्रव्य न मान कर मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक चेतना मात्र मानते हैं।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि आत्मा की इस नई व्याख्या के आधार पर फिलिप्स अमरता के विचार को मानव-जीवन के लिए किस प्रकार सार्थक सिद्ध करते हैं? इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि वे 'आत्मा' शब्द के उपर्युक्त नए अर्थ में शाश्वत ईश्वर के साथ उसका अनिवार्य संबंध स्थापित करते हैं। उनका कथन है कि भक्त अपने आराध्य अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत ईश्वर के साथ अपनी आत्मा का संबंध जोड़

8. डी० ज़ेड० फ़िलिप्स, 'डेथ ऐंड इम्मॉर्टेलिटी', पृ० 43-45

कर ही अमरता प्राप्त करता है। शाश्वत जीवन का अर्थ है ईश्वरीय जीवन और भक्त की आत्मा इसी जीवन की प्राप्ति की कामना करती है जिसके द्वारा उसे अमरत्व प्राप्त होता है। अमरता के स्वरूप के विषय में अपने इसी मत की व्याख्या करते हुए फिलिप्स ने लिखा है.– ''अब यह देखा जा सकता है कि आत्मा की अमरता से संबंधित दार्शनिक विवेचनाएँ मृत्यु के पश्चात हमारा अस्तित्व बना रहता है या नहीं यह जानने के प्रयासों के अतिरिक्त कुछ और ही हैं, ये उन प्रसंगों को समझने के प्रयास हो सकते हैं जिनमें शाश्वत जीवन की चर्चा का नैतिक तथा धार्मिक महत्त्व है। अब यह समस्या उस रूप में नहीं रहेगी जिस रूप में फ़्ल्यू ने इसका वर्णन किया है।........ आत्मा की अमरता से संबंधित प्रश्न मनुष्य के जीवन की अवधि–विशेषतः मृत्यु के पश्चात उसके जीवन की अवधि–से संबंधित प्रश्न नहीं है, अपितु इन प्रश्नों का संबंध इस बात से है कि मनुष्य किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा है।........ शाश्वतता और अमरता के जो धार्मिक विचार मेरे मन में हैं उनका मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के विचार के साथ घनिष्ठ संबंध है।........ कोई व्यक्ति यह सोच सकता है कि अमरत्व प्राप्त करने का एकमात्र उपाय इतिहास में अपने लिए स्थान बनाना अथवा अपनी कला–कृतियों के कारण याद किया जाना है।......शाश्वत जीवन का अर्थ ऐसे ढंग से जीना और ऐसे ढंग से मरना है कि मृत्यु उसे निरर्थक या व्यर्थ न बना सके।......... इस प्रकार मैं यह कह रहा हूँ कि भक्त के लिए शाश्वत जीवन ईश्वरीय जीवन में भाग लेना है।......... आत्मा की अमरता व्यक्ति की उस अवस्था की ओर संकेत करती है जिसका संबंध ईश्वर की अपरिवर्तनशील सत्ता से है। इस अर्थ में आत्मा की अमरता का विचार तथा शाश्वत जीवन का विचार परस्पर संबद्ध हैं''।[9] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि फिलिप्स मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक चेतना के आधार पर ही मानव-जीवन के लिए आत्मा की अमरता के विचार को सार्थक और वांछनीय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि आत्मा की अमरता की सार्थकता के विषय में फिलिप्स का उपर्युक्त सिद्धांत उचित एवं संतोषप्रद है अथवा नहीं। इस संबंध में यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उन्होंने आत्मा का जो नया अर्थ बताया है उसे अधिकतर दार्शनिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति स्वीकार नहीं करते। हम पिछले दो खंडों में देख चुके हैं कि जिन विचारकों ने आत्मा की अमरता के सिद्धांत का समर्थन किया है वे आत्मा को शरीर तथा मन से स्वतंत्र अभौतिक द्रव्य ही मानते हैं, नैतिक या धार्मिक चेतना नहीं। लगभग सभी भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक सामान्यतः आत्मा की इस द्रव्य विषयक अवधारणा को ही स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में इन दार्शनिकों को आत्मा की अमरता के संबंध में फिलिप्स का सिद्धांत निश्चय ही मान्य नहीं हो सकता। फिलिप्स के विपरीत ये सभी दार्शनिक आत्मा की अमरता के लिए मृत्यु के पश्चात अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व के विचार को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि इनके मतानुसार इसके बिना वास्तविक अर्थ में आत्मा की अमरता संभव नहीं है। इनमें से कुछ दार्शनिकों ने तो स्पष्ट रूप से यह कहा है कि मनुष्य की मृत्यु के उपरांत आत्मा के रूप में उसकी व्यक्तिगत अमरता ही ऐसी

---

9. वही पुस्तक, पृ० 48-50, 54-55

अमरता है जो धर्मपरायण व्यक्तियों को संतोष प्रदान कर सकती है; अन्य किसी प्रकार की अमरता से उन्हें वास्तविक संतोष प्राप्त नहीं हो सकता।

आत्मा की अमरता के विषय में उपर्युक्त मान्यता को स्पष्ट करते हुए ट्रूब्लड कहते हैं कि —''प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के लिए समस्या यह है : क्या हमारे पास यह मानने का कारण है कि मृत्यु आध्यात्मिक जीवन की जिस पराजय का प्रतिनिधित्व करती है उसका कोई विकल्प है ? इसका एकमात्र संभव विकल्प है अमरता के वास्तविक रूप को स्वीकार करना जिसका अर्थ है शरीर की मृत्यु तथा मनुष्य के निवास-स्थान के रूप में पृथ्वी के विनाश के बाद भी प्रेम और अन्य मूल्यों सहित आध्यात्मिक जीवन का निरंतर बना रहना।.......... यदि मृत्यु के पश्चात जीवन की कोई संभावना नहीं है तो कुछ लाख वर्षों तक पृथ्वी पर केवल सांस्कृतिक प्रभावों का बना रहना मूल समस्या का समाधान नहीं करता जो तत्त्वमीमांसीय समस्या है—अर्थात्, ईश्वर के प्रयोजन के अपूर्ण रह जाने की समस्या है।........ अमरता के सामान्य अर्थ में परिवर्तन करके उसे व्यक्तित्वरहित आत्मा के अस्तित्व के रूप में स्वीकार करना पूर्णतः व्यर्थ है।........ यह संदेहास्पद है कि व्यक्तित्वरहित आत्मा का कोई अर्थ होता भी है। हमारे लिए जिसका महत्त्व है वह सामान्य अमूर्त आत्मा न होकर व्यक्तित्वपूर्ण वास्तविक आत्माएँ हैं।.......... यदि व्यक्तित्वरहित अमरता का कोई अर्थ है भी तो यह निश्चय ही वांछनीय नहीं है और इसकी विवेचना का भी कोई लाभ नहीं है।........ अमरता के अनेक अर्थ हो सकते हैं, किंतु केवल एक ही अर्थ विचारणीय है और वह है शारीरिक मृत्यु के पश्चात भी व्यक्ति के अस्तित्व का बना रहना''।[10] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ट्रूब्लड के विचार में मनुष्य की मृत्यु के उपरांत भी व्यक्ति के रूप में उसके अस्तित्व का विद्यमान रहना आत्मा की अमरता के लिए अनिवार्य है।

आत्मा की अमरता को स्वीकार करने वाले अन्य अधिकतर दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में ट्रूब्लड के उपर्युक्त मत का समर्थन करते हैं। इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आत्मा की अमरता के विषय में फिलिप्स का सिद्धांत इन दार्शनिकों को स्वीकार्य नहीं हो सकता। वस्तुतः फिलिप्स ने आत्मा की अमरता की जो व्याख्या की है उसे धर्मपरायण व्यक्ति भी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार मृत्यु के पश्चात व्यक्ति के रूप में मनुष्य का अस्तित्व नहीं रह जाता। इस प्रकार फ़िलिप्स भी गीच तथा फ़्ल्यू द्वारा उठाई गई आत्मा की अमरता की सार्थकता से संबंधित समस्या का कोई समुचित और संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। हम देख चुके हैं कि इन दोनों दार्शनिकों तथा अन्य अनुभववादी दार्शनिकों के मतानुसार मनुष्य की मृत्यु के उपरांत भी व्यक्ति के रूप में उसके जीवित रहने का विचार स्वतोव्याघातपूर्ण होने के कारण निरर्थक और अबोधगम्य है, अतः इस विचार पर आधारित आत्मा की अमरता का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता। आत्मा की अमरता की सार्थकता के विषय में इन दार्शनिकों का यह मत तर्कसंगत ही प्रतीत होता है।

4. निष्कर्ष

पिछले खंड में आत्मा की अमरता की सार्थकता के संबंध में जो कुछ कहा गया है

---

10. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 293-294

उससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि तर्कों अथवा प्रमाणों द्वारा दार्शनिक दृष्टि से इसे सार्थक सिद्ध करना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि प्राचीन काल से अब तक बहुत-से विचारक तथा अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति मनुष्य के लिए आत्मा की अमरता में विश्वास करना क्यों आवश्यक मानते रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम प्रथम खंड में यह बता चुके हैं कि मनुष्य के मन में अनिवार्य मृत्यु का जो नैसर्गिक भय है वह उसे आत्मा की अमरता में विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है। आदिकाल से ही मानव यह सोच कर अत्यधिक भयभीत होता रहा है कि वह स्वयं तथा जिनसे वह प्रेम करता है वे सभी व्यक्ति मृत्यु के पश्चात सदा के लिए समाप्त हो जाएँगे। साधारण व्यक्ति ही नहीं, अपितु अधिकतर विचारक भी मृत्यु के इस भय से मुक्त नहीं हो सके। इस भय ने उनके मन में गहरी निराशा उत्पन्न की है जिसके कारण उन्हें स्वयं अपने तथा दूसरों के समस्त बौद्धिक और नैतिक प्रयास पूर्णतः व्यर्थ प्रतीत होते रहे हैं।

उदाहरणार्थ, मृत्यु के भय के फलस्वरूप मन में उत्पन्न होने वाली इसी गहन निराशा को अभिव्यक्त करते हुए ट्रूब्लड कहते हैं कि :– "वह मनुष्य जो कष्ट सहते हुए भी सम्मान अथवा निष्ठा के लिए प्रलोभन के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक संघर्ष करता है एक दिन सहसा समाप्त हो जाता है।...... उसका भी ठीक वही अंत होता है जो अत्यधिक स्वार्थी व्यक्ति का होता है।..... हम अपने बच्चों तथा उनके बच्चों के लिए प्रयास करते हैं, किंतु सुदूर भविष्य में अथवा, अपने आप को नष्ट करने की मनुष्य की भयंकर क्षमता के कारण शीघ्र ही, वह दिन भी आएगा जब बच्चे होंगे ही नहीं। एक दिन हमारी धरती हमारे संपूर्ण प्रयास के लिए पूर्णतः अनुपयुक्त हो जाएगी–यह भविष्यवाणी उतनी ही निश्चित है जितनी हमारी कोई भविष्यवाणी हो सकती है।.......यदि हमारे वर्तमान निर्णय सही हैं तो एक दिन मनुष्य की समस्त रचनाओं का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा–जैसे वे कभी थीं ही नहीं।....... यह पृथ्वी चंद्रमा के समान ही एकदम ठंडी तथा निर्जीव होकर स्वयं निष्प्राण होते हुए सूर्य की परिक्रमा करती रहेगी।......... तब इससे क्या अंतर पड़ेगा कि हम अपने पक्ष तथा विपक्ष में विद्यमान सभी प्रमाणों को समान रूप से स्वीकार करते हुए बौद्धिक दृष्टि से ईमानदार बनने और अपने इस संसार को न्यायपूर्ण शांति का स्थान बनाने के लिए प्रयास करें या न करें? जब कोई प्यार करने और याद करने के लिए रहेगा ही नहीं तो प्रेम तथा कर्तव्य भी निरर्थक हो जाएँगे।..... जीवन, मन तथा आत्मा की क्षणिकता से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं ईश्वर का प्रयोजन भी व्यर्थ हो जाएगा। जैसा कि विकास की दीर्घकालीन तथा कष्टसाध्य प्रक्रिया से ज्ञात होता है, यदि ईश्वर का प्रयोजन स्वतंत्र आत्माओं को उत्पन्न करना है तो यह और भी दुखद प्रतीत होता है कि अंततः यह प्रयोजन व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि शारीरिक मृत्यु संपूर्ण प्रयास को नष्ट कर देती है।....... यदि मृत्यु के पश्चात जीवन है तो हम उससे संबंधित विस्तृत बातों को नहीं जान सकते, अतः जिसे हम नहीं जानते उसके विषय में तर्क करना व्यर्थ है। जिसके संबंध में हम तर्क कर सकते हैं और हमें करना चाहिए वह यह मूल विश्वास है कि शरीर की मृत्यु उस आध्यात्मिक प्रक्रिया का दुखद अंत नहीं कर देती जिसकी चरम परिणति चेतनापूर्ण व्यक्तियों के विकास में होती है और जिसे समझना हमारी सीमित बुद्धि की क्षमता से परे है। यदि प्रेम करने तथा जानने की क्षमता सहित व्यक्ति की चेतना

मृत्यु के उपरांत नहीं बनी रहती तो यह बुरी बात है; और यदि यह चेतना बनी रहती है अथवा बनी रह सकती है तो यह बहुत अच्छी बात है"।[11] इस प्रकार टूब्लड के विचार में मृत्यु अथवा पूर्ण विनाश के भय से उत्पन्न मनुष्य की निराशा के निराकरण के लिए आत्मा की अमरता में विश्वास करना आवश्यक है। भारत तथा पाश्चात्य देशों में अन्य बहुत-से विचारक भी किसी न किसी रूप में उनके इसी मत का समर्थन करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं।

परंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास क विषय में धर्मपरायण विचारकों का उपर्युक्त मत दार्शनिक दृष्टि से उचित एवं युक्तिसंगत है। मेरे विचार में इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि किसी भी विचार अथवा विश्वास को केवल इसलिए सत्य तथा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि वह हमें संतोष और आनंद प्रदान करता है। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, दार्शनिक केवल उसी विचार, विश्वास, सिद्धांत या मान्यता को स्वीकार कर सकता है जिसके समर्थन में पर्याप्त विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हों। यदि किसी विचार अथवा सिद्धांत के पक्ष में निश्चित प्रमाण विद्यमान हैं तो क्या हमें उसको केवल इसलिए अस्वीकार कर देना चाहिए कि वह हमारे लिए अप्रिय तथा दुखद है? जीवन और जगत् के प्रति यह दृष्टिकोण निश्चय ही दार्शनिक का दृष्टिकोण नहीं हो सकता। यदि यह मान भी लिया जाए कि आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास मनुष्य को मृत्यु के भय से छुटकारा दिलाता है तो भी इस आधार पर यह विश्वास दार्शनिक दृष्टि से सत्य और प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो जाता। अधिकतर धर्मपरायण विचारक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि केवल तर्कों द्वारा शरीर तथा मन से स्वतंत्र अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता और उसकी अमरता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त उद्धरण में टूब्लड ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कुछ दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता और अमरता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिए हैं वे दोषपूर्ण होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं। ये दार्शनिक हमें यह नहीं बताते कि आत्मा का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है? आत्मा को 'शरीर तथा मन से भिन्न' और 'अभौतिक द्रव्य' कह देने मात्र से उसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के विषय में इन दार्शनिकों का मत बहुत अस्पष्ट तथा अनिश्चित है। ऐसी स्थिति में आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं रह जाता।

परंतु कुछ धर्मपरायण विचारक यह कह सकते हैं कि आत्मा की अमरता के विरुद्ध भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। मेरे विचार में इसका उत्तर यह है कि किसी विश्वास के विरुद्ध प्रमाणों का अभाव उसे सत्य प्रमाणित नहीं करता। यदि यह मान भी लिया जाए कि आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं है तो भी इससे यह

---

11. वही पुस्तक, पृ० 291-292, 296.

विश्वास सत्य सिद्ध नहीं हो जाता। किसी विश्वास, विचार या सिद्धांत को सत्य प्रमाणित करने के लिए उसके समर्थन में विश्वसनीय प्रमाण देना आवश्यक है, उसके विरुद्ध प्रमाणों के अभाव को सिद्ध करना नहीं।

ट्रूब्लड तथा कुछ अन्य विचारको ने आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास के समर्थन में जो तर्क दिया है वह बहुत भ्रामक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ट्रूब्लड के मतानुसार यदि मृत्यु के फलस्वरूप मनुष्य के जीवन का अंत हो जाता है तो स्वयं अपने नैतिक उत्थान, सामाजिक कल्याण तथा विश्व-शांति के लिए उसके द्वारा किए गए समस्त प्रयास व्यर्थ हैं, अतः इन प्रयासों की सार्थकता के लिए आत्मा की अमरता में विश्वास करना आवश्यक है। उनके इस तर्क के विरुद्ध प्रथम मुख्य आपत्ति तो यह है कि मनुष्य के नैतिक जीवन, सामाजिक कल्याण तथा विश्व-शांति के साथ आत्मा की अमरता का कोई संबंध नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाए कि मृत्यु के पश्चात व्यक्ति के जीवन का अंत हो जाता है और एक दिन संपूर्ण मानव-जाति सहित यह पृथ्वी नष्ट हो जाएगी तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य के उपर्युक्त समस्त प्रयास निरर्थक हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह भलीभाँति जानता है कि उसकी मृत्यु निश्चित है, किंतु फिर भी वह स्वयं अपनी, अपने परिवार, समुदाय तथा राष्ट्र की उन्नति के लिए यथासंभव प्रयास करता है और उसके इस प्रयास के सुखद परिणाम भी निकलते हैं। यदि मनुष्य मृत्यु की अनिवार्यता के कारण कभी कोई प्रयास न करता तो वह वर्तमान युग में सर्वोन्नत प्राणी होने के स्थान पर सदा पशु के स्तर पर ही बना रहता। तब मानव-समाज में न धर्म होता और न सदाचार, न आध्यात्मिकता होती और न नैतिकता, न दर्शन होता और न विज्ञान। तब मनुष्य भी पशुओं की भाँति वन-वन भटकता फिरता।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मनुष्य आत्मा की अमरता को ध्यान में रख कर स्वयं अपनी तथा समाज की उन्नति के लिए प्रयास नहीं करता। वास्तविक स्थिति तो यह है कि साधारण व्यक्ति अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए प्रयास करते समय आत्मा की अमरता के विषय में कभी सोचता ही नहीं। वह यही मानता है कि अपने प्रयास के फलस्वरूप यदि वह स्वयं तथा उसका परिवार एवं राष्ट्र सुखी हो सके तो उसका प्रयास सार्थक होगा और उसकी यह मान्यता निश्चय ही उचित है। करोड़ों वर्षों तक के सुदूर भविष्य की बात सोचना मनुष्य के लिए न तो संभव है और न आवश्यक। अपने छोटे-से वर्तमान जीवन में अनिवार्य मृत्यु की चिंता किए बिना वह स्वयं अपनी तथा अपने समाज की उन्नति के लिए जो प्रयास करता है उसके लिए वही पर्याप्त एवं सार्थक है। आत्मा की अमरता को स्वीकार न करने का उसके इस प्रयास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ट्रूब्लड के तर्क के विरुद्ध दूसरी प्रमुख आपत्ति यह है कि यह मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्त करने का केवल मिथ्या आश्वासन देता है। हम देख चुके हैं कि आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास को तर्कों द्वारा सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यही है कि यह विश्वास वास्तव में मिथ्या और निराधार है। अब यदि मान लिया जाए कि इस मिथ्या विश्वास को स्वीकार करने के कारण मनुष्य को संतोष तथा आनंद प्राप्त होता है तो उसके इस संतोष और आनंद को नैतिक दृष्टि से वांछनीय नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि किसी मिथ्या विश्वास के आधार पर संपूर्ण जीवन व्यतीत करना केवल आत्म-प्रवंचना है जो नैतिक दृष्टि से निंदनीय है। आत्मा की अमरता से संबंधित इस मिथ्या विश्वास को

स्वीकार करते हुए प्रवंचनापूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मनुष्य के लिए यह कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा कि वह मृत्यु की अनिवार्यता के कठोर सत्य को स्वीकार करना सीखे और इसी के अनुरूप अपने वर्तमान जीवन को यथासंभव सार्थक बनाने का प्रयास करे। यदि मानव इस कटु सत्य को जान ले कि उसका जीवन नश्वर है और उसके लिए अमरता की कोई संभावना नहीं है तो वह केवल आत्मा-प्रवंचना से ही मुक्त नहीं होगा, अपितु अपने इसी जीवन को स्वयं अपने लिए तथा दूसरों के लिए सार्थक बनाने का प्रयास भी कर सकेगा।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम किसी कठिन समस्या को उसकी संपूर्ण जटिलता के साथ भलीभाँति समझ लेते हैं तो हमारे लिए इस जटिल समस्या के समाधान का प्रयास करना अपेक्षाकृत अधिक सरल हो जाता है। यह संभव है कि हम अपने प्रयास द्वारा उस समस्या का संपूर्ण तथा समुचित समाधान न खोज सकें, किंतु फिर भी इसके लिए किया गया हमारा प्रयास निश्चय ही सार्थक होगा और हमें संतोष भी प्रदान करेगा। इसके विपरीत यदि हम केवल अपने मिथ्या विश्वास के कारण उस समस्या के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देंगे तो उसके समाधान की संभावना ही सदा के लिए समाप्त हो जाएगी, क्योंकि तब हम इसके लिए प्रयास ही नहीं करेंगे। हम सदा यही सोचते रहेंगे कि कोई अन्य शक्ति या सत्ता हमारी इस समस्या का समाधान कर देगी। प्रयासरहित परावलंबन की यह स्थिति हमारे लिए अंततः निश्चय ही घातक सिद्ध होगी। जो दार्शनिक मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्ति दिलाने के लिए आत्मा की अमरता से संबंधित मिथ्या विश्वास को स्वीकार करना आवश्यक मानते हैं वे उसे इसी घातक स्थिति की ओर धकेलते हैं जिसमें आत्म-प्रवंचना, प्रयास-शून्यता एवं परावलंबन के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं मिल सकता। यह स्पष्ट है कि ऐसी दुखद स्थिति में जीवन व्यतीत करना मनुष्य के लिए कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकता। उसके लिए सार्थक एवं मंगलमय जीवन का केवल एक ही उपाय है और वह है जीवन तथा मृत्यु से संबंधित सभी कठोर सत्यों को स्वीकार करते हुए स्वयं अपनी तथा अपने समाज की उन्नति के लिए सतत प्रयास करना। कोई भी मिथ्या विश्वास—चाहे वह ईश्वर के विषय में हो या आत्मा की अमरता के विषय में—न तो उसे वास्तविक संबल प्रदान कर सकता है और न उसके जीवन का मार्ग ही प्रशस्त कर सकता है। जीवन के इस कठिन मार्ग पर तो उसे अकेले ही चलना होगा और अपना संबल स्वयं ही बनना होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि **मनुष्य के लिए आत्मा की अमरता से संबंधित मिथ्या विश्वास को स्वीकार करने की अपेक्षा मृत्यु की कठोर वास्तविकता का सामना करते हुए अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की सार्थकता एवं उन्नति के लिए यथासंभव प्रयास करना कहीं अधिक वांछनीय और श्रेयस्कर होगा।**

12

कर्मवाद तथा पुनर्जन्म का सिद्धांत

1. कर्मवाद और पुनर्जन्म का अर्थ

पिछले अध्याय में आत्मा की अमरता की प्रामाणिकता के संदर्भ में हम कर्म-सिद्धांत का संक्षिप्त उल्लेख कर चुके हैं। परंतु हिंदू धर्म तथा दर्शन में इस सिद्धांत के विशेष महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इस पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में हम कर्मवाद के स्वरूप, उसके विभिन्न पक्षों, पुनर्जन्म के सिद्धांत और इन दोनों सिद्धांतों से संबंधित कुछ दार्शनिक समस्याओं की विस्तृत विवेचना करेंगे। इस संबंध में सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि कर्मवाद अथवा कर्म-सिद्धांत का ठीक-ठीक अर्थ और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। जैसा कि इस सिद्धांत के नाम से ही स्पष्ट है, इसका संबंध मानव द्वारा किए गए कर्मों तथा उनके परिणामों से है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य स्वेच्छया अथवा जान-बूझ कर जो कर्म करता है उनका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। वह अपने जीवन में जो सुख या दु:ख भोगता है उसका एकमात्र कारण स्वयं उसी के शुभ अथवा अशुभ कर्म ही होते हैं। मनुष्य अपने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले अनिवार्य परिणामों से कभी नहीं बच सकता। स्वयं उसके कर्म ही उन समस्त सुखद या दुखद पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को निर्धारित करते हैं जिनमें वह अपना जीवन व्यतीत करता है। इस जगत् में विभिन्न मनुष्यों में जो शारीरिक, बौद्धिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएँ पाई जाती हैं वे वस्तुत: उनके अपने कर्मों के कारण ही हैं। दूसरे शब्दों में, इन समस्त असमानताओं का संपूर्ण उत्तरदायित्व अपने कर्मों के रूप में स्वयं मनुष्यों पर ही है, किसी अन्य शक्ति पर नहीं। इस कर्म-सिद्धांत को 'कर्म का नियम' भी कहा जाता है जिसकी तुलना प्राय: अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियमों के साथ की जाती है। इस प्रकार कर्मवाद अथवा कर्म-सिद्धांत के समर्थकों के मतानुसार मनुष्य अपने शुभ या अशुभ कर्मों के कारण ही इस संसार में सुख अथवा दु:ख भोगता है और वह स्वयं ही अपने कर्मों द्वारा अपने भाग्य का भी निर्माण करता है।

कर्म-सिद्धांत के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि इस सिद्धांत के संदर्भ में 'कर्म' शब्द का अर्थ क्या है। सामान्यत: कर्म मनुष्य की वह शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया है जो बाह्य या आंतरिक जगत् में कोई परिवर्तन उत्पन्न करती है और जिसके फलस्वरूप स्वयं उसके लिए अथवा दूसरों के लिए कुछ दृश्य या अदृश्य परिणाम अनिवार्यत: उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की यह क्रिया अनैच्छिक भी हो सकती है और ऐच्छिक भी। अत: मानवीय कर्मों को भी सामान्यत: 'अनैच्छिक कर्म' तथा 'ऐच्छिक कर्म' इन दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है। अनैच्छिक कर्म वे हैं जिन्हें मनुष्य सोच-समझ कर अपनी इच्छानुसार किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं करता और जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। ये कर्म मनुष्य की अपनी इच्छा द्वारा प्रेरित या नियंत्रित नहीं होते, इसी कारण इन्हें 'अनैच्छिक कर्म' कहा जाता है। पलक झपकना, छींक

आना, सांस लेना, हृदय का धड़कना आदि कर्म अनैच्छिक कर्मों के उदाहरण हैं। यह स्पष्ट है कि नैतिकता की दृष्टि से इन कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि इन्हें करने या न करने के संबंध में स्वतंत्र न होने के कारण मनुष्य को इनके लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नहीं माना जा सकता।

परंतु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कर्म-सिद्धांत के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है, अतः इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस सिद्धांत के समर्थक 'कर्म' शब्द का प्रयोग अनैच्छिक कर्मों के अर्थ में नहीं करते। वस्तुतः जब वे मनुष्यों के कर्मों की बात करते हैं तो इससे उनका तात्पर्य उसके ऐच्छिक कर्मों से ही होता है। मनुष्य
के कर्मों की बात करते हैं तो इससे उनका तात्पर्य उसके ऐच्छिक कर्मों से ही होता है। मनुष्य
है, जिन पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता है और जिन्हें करने या न करने के लिए उसे स्वतंत्र माना जाता है। ऐसे ऐच्छिक कर्मों के लिए ही मनुष्य को नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी समझा जाता है और इनके लिए उसकी प्रशंसा या निंदा की जाती है। स्पष्ट है कि कर्म-सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के ये ऐच्छिक कर्म ही शुभ था अशुभ हो सकते हैं और उसे इन्हीं कर्मों का सुखद अथवा दुखद फल प्राप्त होता है। इन कर्मों के अनिवार्य परिणामों से कोई भी मनुष्य बच नहीं सकता। इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कर्म-सिद्धांत के समर्थक 'कर्म' शब्द का प्रयोग केवल ऐच्छिक कर्मों के अर्थ में ही करते हैं, अनैच्छिक कर्मों के अर्थ में नहीं।

कर्म-सिद्धांत के अर्थ को भलीभाँति समझने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि इस सिद्धांत की प्रमुख आधारभूत मान्यताएँ क्या है। इस सिद्धांत के स्वरूप के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इसे स्वीकार करने के लिए कम से कम इसकी दो आधारभूत मान्यताओं में विश्वास करना अनिवार्य है। कर्म-सिद्धांत की प्रथम आधारभूत मान्यता यह है कि संपूर्ण विश्व कारण-कार्य के नियम द्वारा ही शासित होता है। इस सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि कारण-कार्य का यह नियम केवल भौतिक जगत् की वस्तुओं पर ही नहीं, प्रत्युत मनुष्य के विचारों तथा कर्मों पर भी पूर्णतः लागू होता है। इस नियम के अनुसार मनुष्य अपने जीवन में जो कुछ सोचता और करता है उसके फलस्वरूप कुछ परिणाम अनिवार्यतः उत्पन्न होते हैं। भौतिक जगत् की भाँति मानव-जीवन में भी अकस्मात या अकारण कुछ भी नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति वर्तमान काल में जो सुख या दुःख भोग रहा है वह स्वयं उसी के भूतकालीन शुभ अथवा अशुभ कर्मों का अनिवार्य परिणाम है। इसके लिए कोई अन्य व्यक्ति अथवा शक्ति उत्तरदायी नहीं है। इसी प्रकार अपने भावी जीवन में भी वह जो सुख अथवा दुःख प्राप्त करेगा वह भी उसके वर्तमान जीवन के शुभ या अशुभ कर्मों का ही परिणाम होगा। इससे यह स्पष्ट है कि कर्म-सिद्धांत के समर्थकों के मतानुसार कर्मों और उनके फल की प्रक्रिया कारण-कार्य के अनिवार्य नियम द्वारा ही शासित होती है जिससे कोई भी मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता।

कर्म-सिद्धांत की दूसरी आधारभूत मान्यता है मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य में पूर्ण विश्वास। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के समर्थक 'कर्म' शब्द का प्रयोग ऐच्छिक कर्मों के अर्थ में ही करते हैं जिनके लिए संकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य

कर्म करने या न करने के लिए स्वतंत्र नहीं है तो उसे अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में हम यह भी नहीं कह सकते कि उसे अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। वस्तुतः मनुष्य को अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी तथा अपने भाग्य का निर्माता तभी माना जा सकता है जब उसके संकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार किया जाए। इसके अभाव में वह किसी बाह्य शक्ति के हाथों में एक अशक्त मोहरा मात्र बन कर रह जाएगा। ऐसे मनुष्य को हम वास्तविक अर्थ में 'कर्त्ता' नहीं कह सकते। इस प्रकार मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य का विचार कर्म-सिद्धांत का अनिवार्य मूल आधार है जिसके बिना इसकी युक्तिसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कारण-कार्य का नियम तथा संकल्प-स्वातंत्र्य का विचार ये दोनों ही कर्म-सिद्धांत की अनिवार्य आधारभूत मान्यताएँ हैं जिनके बिना इसे स्वीकार करना संभव नहीं है।

उपर्युक्त आधारभूत मान्यताओं के अतिरिक्त हिंदू धर्म में आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म से संबंधित विश्वास को भी कर्म-सिद्धांत के साथ अनिवार्यतः संबद्ध माना जाता है। चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन को छोड़ कर अन्य सभी भारतीय दर्शन कर्म-सिद्धांत की व्याख्या के लिए आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म संबंधी विश्वास को अनिवार्य मानते हैं। यद्यपि ये दर्शन आत्मा के स्वरूप की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करते हैं, फिर भी ये सभी इस मत का समर्थन करते हैं कि आत्मा अमर है और उसे अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इन दर्शनों के अनुसार मनुष्य को उसके समस्त कर्मों का फल केवल एक ही जन्म में प्राप्त नहीं हो जाता; वह इस संसार में बार-बार जन्म ले कर अपने कर्मों का फल भोगता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आत्मा की अमरता में विश्वास न करने वाले बौद्ध दार्शनिक भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार इस जगत् में बार-बार जन्म लेता है। इस प्रकार यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि अधिकतर भारतीय दार्शनिक आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म इन दोनों को कर्म-सिद्धांत के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध मानते हैं। परंतु इस संबंध में इस्लाम, ईसाई धर्म तथा यहूदी धर्म का मत कुछ भिन्न है। ये सभी धर्म किसी न किसी रूप में आत्मा की अमरता और कर्म-सिद्धांत का तो समर्थन करते हैं, किंतु ये पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। इन धर्मों के अनुयायी यह तो मानते हैं कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, परंतु उनका विचार है कि जिन कर्मों का फल उसे इस जीवन में प्राप्त नहीं होता उनका फल भोगने के लिए उसकी आत्मा को 'अंतिम निर्णय के दिन' तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। उस दिन सभी मनुष्यों की आत्माओं को न्याय के लिए ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा जो उन्हें उनके शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक में भेज देगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये तीनों धर्म पुनर्जन्म के विचार को स्वीकार न करते हुए भी आत्मा की अमरता और कर्म-सिद्धांत में अवश्य विश्वास करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि हिंदू धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की भाँति इस्लाम, ईसाई धर्म और यहूदी धर्म में भी कर्म-सिद्धांत का बहुत महत्त्व है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस रूप में भारतीय विचारकों ने कर्म-सिद्धांत की व्याख्या की है उस रूप में यह सिद्धांत यदृच्छावाद तथा नियतिवाद या

दैववाद इन दोनों सिद्धांतों से भिन्न है। यद्रिच्छावाद के अनुसार इस जगत् में घटित होने वाली समस्त घंटनाएँ केवल संयोग का ही परिणाम होती है; उनका कोई कारण नहीं होता। हम यह नहीं बता सकते कि कोई घटना जिस रूप में घटित हुई है वह उसी रूप में क्यों घटित हुई है। इसी प्रकार हम किसी घटना के घटित होने के विषय में कोई भविष्यवाणी भी नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि यद्रिच्छावाद जगत् में होने वाली समस्त घटनाओं को केवल संयोग का परिणाम मान कर कारण-कार्य के नियम को पूर्णतः अस्वीकार करता है। परंतु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कर्म-सिद्धांत मूलतः इसी नियम पर आधारित है, अतः वह यद्रिच्छावाद का खंडन करता है। कर्म-सिद्धांत के अनुसार इस विश्व में कोई भी घटना केवल संयोग के फलस्वरूप घटित नहीं होती; प्रत्येक घटना का कोई निश्चित कारण होना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में कर्म-सिद्धांत को यद्रिच्छावाद से मूलतः भिन्न मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार कर्म-सिद्धांत नियतिवाद अथवा दैववाद से भी भिन्न है। नियतिवाद के अनुसार इस विश्व में घटित होने वाली प्रत्येक घटना पूर्वनिश्चित होती है; उसे घटित होने से रोकना अथवा उसमें कोई परिवर्तन करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। हम इस जगत् में जो सुख या दुःख प्राप्त करते हैं वह सब पूर्वनिर्धारित है; हम इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकते। नियति द्वारा पूर्वनिर्धारित घटनाओं को परिवर्तित करने का संपूर्ण प्रयास नितांत व्यर्थ है। इस प्रकार नियतिवाद मनुष्य को कर्म करने में स्वतंत्र न मान कर नियति अथवा भाग्य के हाथों में एक मोहरा मात्र मानता है जो स्वयं अपने लिए तथा दूसरों के लिए कुछ भी करने में असमर्थ है। कर्म-सिद्धांत के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि यह सिद्धांत नियतिवाद की उपर्युक्त मान्यता को पूर्णतः अस्वीकार करता है। हम देख चुके हैं कि कर्म-सिद्धांत के अनुसार मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है; वह नियति के हाथों में कोई खिलौना मात्र नहीं है। इसी कारण अपने भाग्य के निर्माण के लिए किए गए उसके प्रयास का विशेष महत्त्व है। वह अपने कर्मों द्वारा अपने वर्तमान तथा भावी जीवन में मनोवांछित परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार कर्म-सिद्धांत यद्रिच्छावाद की भाँति नियतिवाद का भी खंडन करता है। वह कारण-कार्य के नियम को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य को अपने भाग्य-निर्माण के लिए कर्म करने में स्वतंत्र मानता है। संक्षेप में कर्म-सिद्धांत के समर्थकों का विचार है कि मनुष्य इस संसार में जो कुछ प्राप्त करता है वह न तो अकारण है और न नियति द्वारा पूर्वनिर्धारित; वस्तुतः वह तो स्वयं उसके अपने कर्मों का ही अनिवार्य परिणाम है।

भारतीय धर्मशास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों तथा दर्शनों में कर्मों का जो वर्गीकरण किया गया है उसकी विवेचना भी कर्म-सिद्धांत के स्वरूप को समझने में कुछ सहायक हो सकती है, अतः यहाँ हम इस वर्गीकरण पर संक्षेप में विचार करेंगे। सर्वप्रथम फलाकांक्षा की दृष्टि से कर्मों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—**काम्य कर्म** तथा **निष्काम कर्म**। काम्य कर्म वे हैं जिन्हें मनुष्य किसी विशेष कामना या इच्छा से प्रेरित होकर ही करता है। प्रत्येक काम्य कर्म द्वारा मनुष्य अपनी किसी व्यक्तिगत इच्छा अथवा आकांक्षा की पूर्ति करना चाहता है। यह इच्छा इसी जगत् में सुख प्राप्त करने से संबंधित सांसारिक इच्छा भी हो सकती है और

कल्पित स्वर्ग में सुख-प्राप्ति से संबंधित पारलौकिक इच्छा भी। इस प्रकार स्वयं अपने लाभ अथवा हित के लिए मनुष्य की कोई इच्छा या कामना ही समस्त काम्य कर्मों की मूल अभिप्रेरणा होती है।

इन काम्य कर्मों के विपरीत निष्काम कर्म वे हैं जिन्हें मनुष्य फलासक्तिरहित होकर करता है—अर्थात् जिन्हें करते हुए वह स्वयं अपने लिए किसी प्रकार के लाभ की इच्छा नहीं करता। केवल सामाजिक हित या लोक-कल्याण की इच्छा से प्रेरित होकर किए गए कर्म ऐसे ही निष्काम कर्म हैं। इससे स्पष्ट है कि 'निष्काम कर्म' का अर्थ ऐसे कर्म नहीं है जिन्हें करने के लिए मनुष्य के मन में कोई इच्छा होती ही नहीं। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के लिए ऐसे कर्म करना संभव ही नहीं है जिन्हें करने के लिए उसके मन में कोई इच्छा न हो। इसका कारण यह है कि प्रत्येक ऐच्छिक कर्म अनिवार्यतः किसी इच्छा द्वारा प्रेरित होता है और किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। ऐसी स्थिति में 'इच्छारहित ऐच्छिक कर्म' की बात करना निश्चय ही स्वतोव्याघाती होगा। यह स्पष्ट है कि निष्काम कर्म ऐच्छिक कर्म ही होते हैं, अनैच्छिक कर्म नहीं। इसी कारण इन कर्मों को इच्छारहित कर्म न मान कर फलासक्तिरहित कर्म ही माना जाता है, जिसका अर्थ यह है कि इन्हें करते समय मनुष्य के मन में स्वयं अपने लिए कुछ प्राप्त करने की कामना नहीं होती। इन कर्मों का एकमात्र लक्ष्य लोकसंग्रह अथवा सामाजिक कल्याण ही होता है। इस प्रकार ये निष्काम कर्म मनुष्य की अपनी स्वार्थसिद्धि से प्रेरित न होकर लोक-कल्याण की कामना से प्रेरित होते हैं। ये कर्म केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करने की इच्छा से प्रेरित होकर भी किए जा सकते हैं। भगवद्गीता तथा कुछ भारतीय दर्शनों में इन निष्काम कर्मों को विशेष महत्त्व दिया गया है और इन्हें मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। कान्ट ने भी अपने नैतिक दर्शन में स्वकर्तव्य-चेतना से प्रेरित इन कर्मों को सर्वाधिक महत्त्व दिया है और इन्हें ही वास्तविक अर्थ में 'नैतिक कर्म' माना है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्म-सिद्धांत के अनुसार काम्य कर्मों की अपेक्षा निष्काम कर्म मनुष्य के लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर हैं।

फलाकांक्षा के अतिरिक्त कर्म-फल-प्राप्ति की दृष्टि से भी कर्मों का वर्गीकरण किया गया है। इस दृष्टि से समस्त कर्मों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—**प्रारब्ध, संचित तथा संचीयमान कर्म**। प्रारब्ध' वे कर्म हैं जिन्हें मनुष्य पहले कर चुका है और जिनका फल वह इस समय भोग रहा है। इन कर्मों का फल मनुष्य को अनिवार्यतः भोगना पड़ता है, क्योंकि इनके फल में किसी प्रकार का परिवर्तन करना उसके लिए संभव नहीं है। दूसरे प्रकार के कर्म 'संचित कर्म' हैं। जो कर्म मनुष्य अपने पूर्व जन्म में कर चुका है और जिनके फल की प्राप्ति अभी आरंभ नहीं हुई है उन्हें ही 'संचित कर्म' कहा जाता है। कर्म-सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि साधना अथवा ईश्वर-भक्ति द्वारा इन संचित कर्मों के फल में मनोवांछित परिवर्तन करना मानव के लिए संभव है। स्पष्ट है कि इन कर्मों की दृष्टि से मनुष्य के लिए साधना का विशेष महत्त्व है। तीसरे प्रकार के कर्मों को 'संचीयमान कर्म' कहा जाता है। ये वे कर्म हैं जो मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में कर रहा है और जिनका फल उसे भविष्य में प्राप्त होगा। इन संचीयमान कर्मों को करने के संबंध में मनुष्य स्वतंत्र है और इन्हीं कर्मों के द्वारा वह अपने भावी जीवन अथवा भाग्य का निर्माण कर सकता है। इस दृष्टि

से इन कर्मों का मानव-जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्व है। कुछ दार्शनिकों के विचार में मनुष्य के ये कर्म अंततः उसके मोक्ष में भी सहायक हो सकते हैं।

उपर्युक्त दो वर्गीकरणों के अतिरिक्त मीमांसकों ने कर्मों का एक अन्य वर्गीकरण भी किया है। इस वर्गीकरण के अनुसार भी कर्म तीन प्रकार के माने गए हैं—**काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म** तथा **नित्य कर्म** और **नैमित्तिक कर्म**। काम्य कर्मों के स्वरूप की व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं अतः यहाँ इनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। निषिद्ध अथवा प्रतिशिद्ध कर्म वे हैं जो अनर्थ या दुःख उत्पन्न करते हैं और इसी कारण जिन्हें करना वेदों द्वारा वर्जित माना गया है। उदाहरणार्थ, विषदिग्ध शस्त्र द्वारा मारे गए पशु का मांस खाना वर्जित है। दुःख तथा नरक से बचने के लिए इन निषिद्ध कर्मों का परित्याग करना आवश्यक है। प्रति दिन किए जाने वाले संध्या, वंदन आदि कर्म नित्य कर्म हैं और विशिष्ट अवसरों पर किए जाने वाले श्राद्ध, दान आदि कर्म नैमित्तिक कर्म। इन नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को करने से मनुष्य को पुण्य प्राप्त होता हैं और उसके पापों का नाश हो जाता है, इन्हें न करने से पाप की उत्पत्ति होती है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए इन कर्मों को निष्कामभाव से किया जाना चाहिए। मीमांसकों का मत है कि काम्य कर्म इस जीवन में सांसारिक सुख तथा मृत्यु के पश्चात स्वर्ग-सुख-प्राप्ति के साधन हैं और नित्य एवं नैमित्तिक कर्म मोक्ष प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्म-सिद्धांत के समर्थकों के विचार में मनुष्य के समस्त कर्म उसकी आत्मा में कुछ विशेष सूक्ष्म संस्कार छोड़ जाते हैं जिनके कारण उसे कालांतर में इन कर्मों का समुचित फल प्राप्त होता है। कर्मों के इन सूक्ष्म संस्कारों से निर्मित विशेष प्रभाव या शक्ति को नैयायिकों ने 'अदृष्ट' तथा मीमांसकों ने 'अपूर्व' की संज्ञा दी है। यह अदृष्ट या अपूर्व मनुष्य की आत्मा में ही विद्यमान रहता है और इसी के कारण उसे उचित समय पर अपने कर्मों का समुचित फल प्राप्त होता है। इस दृष्टि से अदृष्ट अथवा अपूर्व का विशेष महत्त्व है जिसे स्वीकार किए बिना कर्म-सिद्धांत की युक्तिसंगत व्याख्या करना वहुत कठिन है। यही कारण है कि इस सिद्धांत के लगभग सभी समर्थकों ने मनुष्य की आत्मा में कर्मों द्वारा उत्पन्न किए गए विशेष सूक्ष्म संस्कारों के विचार को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है।

यहाँ संक्षेप में इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि कर्म-सिद्धांत के लिए ईश्वर विषयक विश्वास को स्वीकार करने की आवश्यकता है अथवा नहीं। इस प्रश्न के उत्तर के संबंध में कर्म-सिद्धांत के समर्थकों में तीव्र मतभेद है। कुछ ईश्वरवादी दार्शनिकों का मत है कि इस सिद्धांत की तर्कसंगत व्याख्या करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। न्याय, वैशेषिक, योग तथा वेदांत दर्शनों के समर्थक इसी मत को स्वीकार करते हैं। इन दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ धर्मपरायण व्यक्ति भी इसी विचार का समर्थन करते हैं। इन सभी ईश्वरवादी विचारकों का मत है कि मनुष्यों को उनके कर्मों का समुचित फल प्रदान करने के लिए कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना कर्म-सिद्धांत की युक्तिसंगत व्याख्या करना संभव नहीं है। केवल सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही इस संसार में सभी मनुष्यों को उनके कर्मों का उचित फल प्रदान करने की व्यवस्था कर सकता है। अपूर्व, अदृष्ट या कोई अन्य जड़ तत्त्व ऐसा करने में

असमर्थ है। इस प्रकार ईश्वरवादी विचारक कर्म-सिद्धांत के लिए सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य मानते हैं।

परंतु निरीश्वरवादी दार्शनिक ईश्वरवादियों के उपर्युक्त मत का समर्थन नहीं करते। ईश्वरवादी विचारकों के विपरीत इन दार्शनिकों का मत है कि कर्म-सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैन, बौद्ध, सांख्य तथा मीमांसा ये चारों निरीश्वरवादी दर्शन इसी मत का समर्थन करते हैं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करते हुए भी ये सभी दर्शन कर्म-सिद्धांत को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। इन दर्शनों के अनुसार कर्म-सिद्धांत ईश्वरवाद पर निर्भर नहीं है, अतः इसमें विश्वास करने के लिए कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनावश्यक है। उदाहरणार्थ, बौद्ध दर्शन कर्मों द्वारा उत्पन्न संस्कारों के आधार पर और मीमांसा दर्शन कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न अपूर्व के आधार पर कर्म-फल की व्याख्या करता है। इसी प्रकार जैन तथा सांख्य दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किए बिना ही मनुष्यों को प्राप्त होने वाले कर्मों के फल की व्याख्या करते हैं। इन तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि कर्म-सिद्धांत का ईश्वरवाद के साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। अतः ईश्वरवादी दार्शनिकों का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि इस सिद्धांत में विश्वास करने के लिए कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि कर्मवाद का पुनर्जन्म के सिद्धांत के साथ क्या संबंध है। क्या इन दोनों सिद्धांतों को एक ही साथ स्वीकार करना अनिवार्य है अथवा क्या इनमें से किसी एक सिद्धांत का समर्थन किए बिना भी दूसरे सिद्धांत को स्वीकार किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व यहाँ संक्षेप में पुनर्जन्म के अर्थ को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। शाब्दिक दृष्टि से पुनर्जन्म का अर्थ है 'फिर से जन्म लेना।' परंतु भारतीय विचारक जब पुनर्जन्म की बात करते हैं तो इससे उनका तात्पर्य होता है 'किसी व्यक्ति का इस संसार में बार-बार जन्म ग्रहण करना'। इस प्रकार पुनर्जन्म के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इस जगत् में बार-बार जन्म लेता है और उसके लिए जन्म-मरण का यह चक्र तब तक निरंतर चलता रहता है जब तक उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि अधिकतर भारतीय दार्शनिकों के विचार में आत्मा अमर है, अतः मृत्यु केवल शरीर की होती है, आत्मा की नहीं। आत्मा एक शरीर का परित्याग कर के दूसरा शरीर ग्रहण कर लेती है और इसे ही 'पुनर्जन्म' कहा जाता है। स्पष्ट है कि अधिकतर भारतीय विचारक पुनर्जन्म के सिद्धांत को आत्मा की अमरता के सिद्धांत पर ही आधारित मानते हैं। उनका विचार है कि प्रत्येक मनुष्य की आत्मा अपने कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है, अतः पुनर्जन्म के लिए वे आत्मा की अमरता के साथ-साथ कर्मवाद को भी आवश्यक मानते हैं। चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन को छोड़ कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों का यही मत है। इस प्रकार अधिकतर भारतीय दार्शनिक पुनर्जन्म का सिद्धांत, कर्मवाद तथा आत्मा की अमरता इन तीनों सिद्धांतों को एक ही साथ स्वीकार करते हैं।

परंतु बौद्ध दर्शन आत्मा की अमरता को स्वीकार न करते हुए भी कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास करता है। इस दर्शन के अनुसार मनुष्य के कर्मों द्वारा जो

सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते हैं उन्हीं के फलस्वरूप उसका पुनर्जन्म होता है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, बौद्ध दार्शनिक शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, अतः वे यह नहीं मानते कि एक ही आत्मा बार-बार जन्म ग्रहण करती है। उनके विचार में मनुष्य के कर्मों से उत्पन्न संस्कार ही उसके पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। इस प्रकार यद्यपि बौद्ध दर्शन आत्मा की अमरता को स्वीकार नहीं करता, फिर भी वह कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करता है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इस्लाम, ईसाई धर्म और यहूदी धर्म का मत इससे भिन्न है। ये तीनों धर्म किसी न किसी रूप में आत्मा की अमरता तथा कर्मवाद में तो विश्वास करते हैं, किंतु ये पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते। उपर्युक्त सभी तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि इन तीनों सिद्धांतों को एक ही साथ स्वीकार या अस्वीकार करना अनिवार्य नहीं है।

2. कर्मवाद की कुछ दार्शनिक समस्याएँ

कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांत के स्वरूप की विवेचना करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि कर्म-सिद्धांत दार्शनिक दृष्टि से कहाँ तक युक्तिसंगत तथा संतोषप्रद है। यह सत्य है कि प्राचीन काल से कर्मवाद बहुत लोकप्रिय सिद्धांत रहा है, क्योंकि विश्व के अनेक धर्म तथा चार्वाक दर्शन को छोड़ कर सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा सामान्य अनुभव भी कुछ सीमा तक इस सिद्धांत की पुष्टि करता है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः यह देखते हैं कि हमारे प्रत्येक ऐच्छिक कर्म के फलस्वरूप स्वयं हमारे लिए अथवा दूसरों के लिए कुछ परिणाम अनिवार्यतः उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम किसी मनुष्य की सहायता करते हैं तो इससे उसे सुख मिलता है अथवा उसका दुःख कम या समाप्त होता है।इसके विपरीत यदि हम किसी व्यक्ति को पीटते या अपशब्द कहते हैं तो इससे उसे शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट पहुँचता है। इसी प्रकार हमारे शुभ या अशुभ कर्म स्वयं हमारे लिए भी अच्छे अथवा बुरे परिणाम उत्पन्न करते हैं। यह स्पष्ट है कि हमारे व्यावहारिक जीवन से संबंधित इन सामान्य तथ्यों द्वारा किसी न किसी रूप में कर्म-सिद्धांत की पुष्टि होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर कर्मवाद को अंशतः सत्य माना जा सकता है। परंतु जिस रूप में भारतीय धर्मशास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों तथा दर्शनों में इस सिद्धांत को प्रस्तुत किया गया है उस रूप में इसे दार्शनिक दृष्टि से तर्कसंगत एवं संतोषप्रद मानना संभव प्रतीत नहीं होता। पिछले खंड में हम भारतीय विचारकों द्वारा प्रस्तुत कर्म-सिद्धांत के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट कर चुके हैं। इस रूप में कर्मवाद के विरुद्ध अनेक गंभीर दार्शनिक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैंः

(1) हम देख चुके हैं कि चार्वाक दर्शन को छोड़ कर अन्य सभी भारतीय दर्शन कर्मवाद का समर्थन करते हैं, किंतु कठिनाई यह है कि ये दर्शन अपने सिद्धांतों के अनुरूप इसकी कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ, बौद्ध दर्शन नित्य अथवा शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता और अमरता को स्वीकार न करते हुए भी कर्मवाद में विश्वास करता है जिसके फलस्वरूप इसके लिए उक्त सिद्धांत की संतोषप्रद व्याख्या

करना बहुत कठिन हो जाता है। इस दर्शन के समर्थकों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि विश्व की समस्त वस्तुएँ परिवर्तनशील तथा क्षणिक हैं और यदि नित्य द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता नहीं है तो कर्म कौन करता है और इन कर्मों का फल किसे प्राप्त होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, बौद्ध दर्शन इस जटिल समस्या का कोई युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। केवल संस्कारों की अविच्छिन्न शृंखला को मान लेने से इस समस्या का समाधान नहीं होता। इस संबंध में मूल प्रश्न यह है कि इन संस्कारों का अधिष्ठान या आधार क्या है जो इन्हें आश्रय देता है और संयोजित रखता है। किसी शाश्वत द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किए बिना इस प्रश्न का कोई तर्कसंगत उत्तर देना बहुत कठिन है। वस्तुतः यदि शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, जैसा कि बौद्ध दार्शनिक मानते हैं, तो तर्कसंगत रूप से कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांत का समर्थन नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि अनश्वर आत्मा के अभाव में हम युक्तिसंगत रूप से यह नहीं कह सकते कि एक ही आत्मा अपने कर्मों का फल भोगती है और इस संसार में बार-बार जन्म लेती हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन अपने मूल सिद्धांतों—क्षणिकवाद तथा नैरात्म्यवाद—को स्वीकार करते हुए कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांत का तर्कसंगत रूप से समर्थन नहीं कर सकता।

बौद्ध दर्शन की भाँति अन्य भारतीय दर्शनों के लिए भी अपने मूल सिद्धांतों में संगति बनाए रखते हुए कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करना अत्यंत कठिन है। उदाहरणार्थ, जो भारतीय दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं वे उसे एक ऐसी अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत सत्ता मानते हैं जो दिक्-काल से परे है और जो अनादि तथा अनंत होने के कारण सांसारिक परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होती। इसका अर्थ यही है कि आत्मा पर मनुष्य के कर्मों तथा उसके जन्म-मरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, इसी अर्थ में आत्मा को भगवद्गीता में अजर, अमर, नित्य, अजन्मा, आदि विशेषण दिए गए हैं। परंतु इस संबंध में कठिनाई यह है कि भारतीय दर्शनों द्वारा स्वीकृत आत्मा की इस अवधारणा के साथ कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत की संगति स्थापित करना संभव प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि जो आत्मा अनादि, अपरिवर्तनशील, शाश्वत तथा दिक्-काल से परे है वह न तो कोई कर्म कर सकती है और न ही कर्मों के परिणामों से प्रभावित हो सकती है। ऐसी आत्मा के कर्मों में लिप्त होने और संसार में बार-बार जन्म ले कर कर्म-फल-भोग करने की बात करना स्वतोव्याघातपूर्ण प्रतीत होता है। वास्तव में ऐसी आत्मा का कर्मों के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं हो सकता। संभवतः इसी कारण आत्मा की सत्ता का समर्थन करने वाले भारतीय विचारकों ने उसे शरीर, इंद्रियों, मन तथा बुद्धि से परे माना है। यह स्पष्ट है कि ऐसी आत्मा दिक्-काल में होने वाले परिवर्तनशील कर्मों तथा उनके फल-भोग में लिप्त नहीं हो सकती। ऐसी आत्मा के संबंध में यह कहना अयुक्तिसंगत है कि वह इस संसार में कर्म करती है और अपने कर्मों का फल भोगती है। यदि आत्मा के विषय में इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो निश्चय ही उसे दिक्-काल से परे, नित्य तथा अपरिवर्तनशील नहीं माना जा सकता। परंतु आत्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले भारतीय दार्शनिक उसे नित्य एवं अपरिवर्तनशील

मानते हुए भी यह कहते हैं कि वह कर्म करती है और अपने कर्मों का फल भी भोगती है। इन दोनों परस्पर विरोधी मान्यताओं को एक ही साथ स्वीकार करने के फलस्वरूप उनके विचारों में असंगति उत्पन्न हो जाती है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारतीय दार्शनिकों ने इस कठिन समस्या का कोई तर्कसंगत एवं संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। सांख्य, वेदांत, न्याय-वैशेषिक तथा जैन दर्शनों के अनुयायी यह अवश्य कहते हैं कि अविवेक, अविद्या अथवा अज्ञान के कारण आत्मा अपने आप को शरीर, इंद्रियों, मन आदि से संबद्ध कर लेती है जिसके फलस्वरूप वह जन्म-मरण के चक्र तथा कर्मों में आबद्ध हो जाती है। परंतु ये दार्शनिक इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाते कि इस अविवेक, अज्ञान अथवा अविद्या का वास्तविक स्वरूप क्या है और यह विशुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में कैसे तथा कहाँ से प्रवेश कर लेती है? ऐसी स्थिति में आत्मा तथा कर्मों के संबंध के विषय में इन दार्शनिकों की उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करना अत्यंत कठिन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा को नित्य, अपरिवर्तनशील, अजन्मा तथा दिक्-काल से परे मानने वाले दार्शनिक तर्कसंगत रूप से कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांत का समर्थन नहीं कर सकते।

(2) कर्म-सिद्धांत की व्याख्या करने के लिए शरीर तथा आत्मा को भिन्न मानते हुए भी इन दोनों के पारस्परिक संबंध को स्वीकार करना अनिवार्य है, क्योंकि इन दोनों में संबंध के विना कर्म संभव नहीं है। परंतु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि इस संबंध की व्याख्या कैसे की जा सकती है।' क्या कर्म को आत्मा के साथ शरीर के संबंध का कारण माना जा सकता है? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि आत्मा के साथ शरीर के संबंध के अभाव में कर्म असंभव है। दूसरे शब्दों में, कर्म से पूर्व ही शरीर और आत्मा का संबंध अनिवार्य है, अतः कर्म इस संबंध का कारण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में आत्मा तथा शरीर के इस संबंध का मूल कारण क्या है जिसके फलस्वरूप कर्म संभव हुआ है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारतीय दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। यह कहना निश्चय ही तर्कसंगत नहीं है कि आत्मा अपने कर्मों के कारण शरीर प्राप्त करती है और जन्म-मरण के सांसारिक चक्र में आवद्ध हो जाती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि शरीर के बिना आत्मा कर्मों में लिप्त हो ही नहीं सकती, अतः शरीर को आत्मा के कर्मों का परिणाम नहीं माना जा सकता। वास्तविक स्थिति यह है कि शरीर आत्मा के कर्मों में लिप्त होने का कारण है, परिणाम नहीं। शरीर तथा आत्मा के संबंध को अनादि एवं शाश्वत भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में आत्मा शरीर के संबंध से कभी मुक्त नहीं हो सकेगी और फलतः उसे मोक्ष कभी प्राप्त नहीं हो सकेगा। यदि आत्मा और शरीर का संबंध शाश्वत नहीं है तो इस संबंध का कारण बताना अनिवार्य है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कर्मवाद के समर्थक शरीर तथा आत्मा के संबंध का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं बता पाते। वस्तुतः कर्म-सिद्धांत की मूल समस्या यह है कि आत्मा को कर्मों के बिना शरीर प्राप्त नहीं हो सकता और शरीर के अभाव में वह कर्म नहीं कर सकती। मेरे विचार में यह एक ऐसी जटिल समस्या है जिसका तर्कसम्मत एवं संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत करना कर्मवाद के समर्थकों के लिए संभव प्रतीत नहीं होता।

(3) फिर यहाँ कर्म-सिद्धांत के संबंध में यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि काल की दृष्टि से जीवों तथा कर्मों में से किसका अस्तित्व पहले था। इस संबंध में हमारे समक्ष चार विकल्प हैं, किंतु इन सभी विकल्पों के विषय में अनेक गंभीर समस्याएँ हैं जिनका संतोषप्रद समाधान संभव नहीं है।

(क) प्रथम विकल्प यह है कि कर्मों का अस्तित्व जीवों के अस्तित्व से पहले था। परंतु इस विकल्प को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीवों के अस्तित्व के बिना कर्मों का अस्तित्व संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि कर्मों के अस्तित्व को जीवों के अस्तित्व से पहले मान लिया जाए तो किसी विशेष व्यक्ति के साथ कुछ विशेषकर्मों का संबंध स्थापित करना असंभव हो जाएगा। ऐसी स्थिति में सभी जीव पहले से विद्यमान कर्मों द्वारा समान रूप से प्रभावित होंगे जिसके फलस्वरूप उनमें पाई जाने वाली असमानताओं की व्याख्या करना संभव नहीं होगा जो कर्म-सिद्धांत का प्रमुख उद्देश्य है। इतना ही नहीं, कर्मों के अस्तित्व को जीवों के अस्तित्व से पहले मान लेने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवों द्वारा किए बिना ही कर्म उनसे संबद्ध हो जाते हैं, किंतु यह मान्यता कर्म-सिद्धांत के विरुद्ध है। इस प्रकार कर्मवाद के समर्थकों के लिए प्रथम विकल्प को स्वीकार करना संभव नहीं है।

(ख) दूसरा विकल्प यह है कि जीवों का अस्तित्व कर्मों के अस्तित्व से पहले था। परंतु कर्म-सिद्धांत के समर्थकों के लिए तर्कसंगत रूप से इस विकल्प को भी स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि इसे स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि कर्मों से पूर्व ही इस संसार में सभी जीव थे जिनमें असमानताएँ विद्यमान थीं। ऐसी स्थिति में जीवों में पाई जाने वाली असमानताओं की व्याख्या के लिए कर्म-सिद्धांत की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दूसरा विकल्प कर्मवाद को व्यर्थ और अनावश्यक बना देता है।

(ग) तीसरा विकल्प यह है कि जीवों और कर्मों की उत्पत्ति एक ही साथ हुई, अतः इन दोनों में से किसी एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व से पहले नहीं था। परंतु इस विकल्प को स्वीकार करने के फलस्वरूप कर्मवाद का स्पष्टतः खंडन होता है, क्योंकि इसके अनुसार जीवों को जो शरीर प्राप्त हुए हैं और उनमें जो असमानताएँ पाई जाती हैं वे उनके कर्मों के परिणाम नहीं हैं। जो कर्म जीवों के साथ ही उत्पन्न हुए हैं वे इन जीवों के विभिन्न शरीरों तथा इनमें पाए जाने वाले भेदों के कारण नहीं हो सकते। परंतु यह मान्यता कर्म-सिद्धांत के विरुद्ध है जो जीवों को प्राप्त होने वाले विभिन्न शरीरों तथा सुख-दुःख की दृष्टि से उनमें विद्यमान समस्त असमानताओं की व्याख्या केवल उनके कर्मों के आधार पर करने का दावा करता है। ऐसी स्थिति में कर्मवाद के समर्थक अपने सिद्धांत में संगति बनाए रखते हुए इस विकल्प को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

(घ) चौथा और अंतिम विकल्प यह है कि जीवों तथा कर्मों में शाश्वत संबंध है, अतः इन दोनों में से किसी एक के पृथक अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। परंतु यह विकल्प भी कर्मवाद के लिए घातक है। इसका कारण यह है कि तीसरे विकल्प की भाँति यह भी जीवों में पाई जाने वाली विषमताओं के लिए उनके कर्मों को उत्तरदायी नहीं मानता। इसके अनुसार कर्म तो जीवों के साथ शाश्वत रूप से सदैव संबद्ध रहते हैं, अतः वे जीवों की अपनी चेष्टाओं के परिणाम नहीं हो सकते। यह निश्चय ही कर्मवाद के विरुद्ध है जो यह

मानता है कि स्वयं मनुष्य ही अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विकल्प को स्वीकार कर लेने पर किसी विशेष व्यक्ति के साथ कुछ विशेष कर्मों को संबद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके अनुसार सभी जीवों के साथ कर्म शाश्वत रूप से अनिवार्यतः संबद्ध रहते हैं। इसका अर्थ यही है कि कर्मों के आधार पर जीवों के सुख-दुःख और जन्म-मरण की व्याख्या नहीं की जा सकती। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यह व्याख्या करना ही कर्म-सिद्धांत का मूल उद्देश्य है जिसे उपर्युक्त विकल्प व्यर्थ बना देता है। इस विकल्प के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति यह भी है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो मनुष्य के लिए मोक्ष प्राप्त करना असंभव हो जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आत्मा अपने साथ शाश्वत रूप से संबद्ध कर्मों से कभी मुक्त नहीं हो सकती जो उसे जन्म-मरण के सांसारिक चक्र में सदा आबद्ध रखते हैं। स्पष्ट है कि कर्मों से मुक्त हुए बिना मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार अंतिम विकल्प मनुष्य के लिए मोक्ष-प्राप्ति को असंभव बना देता है। इसके अतिरिक्त यह विकल्प मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य का भी निषेध करता है, क्योंकि यह मनुष्य को कर्मों के कर्ता के रूप में स्वीकार न कर के उसके साथ कर्मों को शाश्वत रूप से संबद्ध मानता है। यदि कर्म मानव की अपनी चेष्टा के परिणाम न होकर उसके साथ शाश्वत रूप से अनिवार्यतः संबद्ध रहते हैं तो निश्चय ही उन्हें करने के लिए उसे स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए नैतिक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। उक्त विकल्प का यह परिणाम कर्म-सिद्धांत के विपरीत है, क्योंकि यह सिद्धांत स्वयं मनुष्य को ही अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी मानता है। संक्षेप में उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के कारण कर्मवाद के समर्थक तर्कसंगत रूप से इस अंतिम विकल्प को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

इस प्रकार ऊपर जिन चार विकल्पों का उल्लेख किया गया है उनमें से कोई भी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाता कि जीवों और कर्मों में से किसका अस्तित्व पहले था। वस्तुतः कर्मवाद के लिए यह एक ऐसी जटिल समस्या है जिसका कोई तर्कसम्मत तथा संतोषजनक समाधान संभव प्रतीत नहीं होता। इस सिद्धांत के समर्थक कर्म को 'अनादि' कह कर उक्त समस्या से बचने का प्रयास करते हैं, किंतु यह वास्तव में इस समस्या का कोई समाधान नहीं है।

(4) कर्म-सिद्धांत के विषय में एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कर्मों के परिणामों का नियामक अथवा नियंता कौन है। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के समर्थकों के मतानुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इस संबंध में हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि इन कर्मों के परिणामों को कौन निर्धारित करता है। इस प्रश्न के उत्तर में तीन विकल्प प्रस्तुत किए जा सकते हैं, किंतु ये सभी विकल्प अयुक्तिसंगत और असंतोषप्रद हैं।

(क) प्रथम विकल्प यह है कि स्वयं मनुष्य ही अपने कर्मों के परिणामों का नियामक है। परंतु इस विकल्प को स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि सीमित ज्ञान तथा सीमित शक्ति के कारण मनुष्य अपने कर्मों के परिणामों को निर्धारित नहीं कर सकता। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे कर्मों के स्वरूप, निकट एवं सुदूर भविष्य में उत्पन्न होने वाले

उनके वास्तविक तथा संभावित परिणामों, इन परिणामों से प्रभावित होने वाले समस्त व्यक्तियों आदि का पूर्ण ज्ञान हो। परंतु मनुष्य की सीमित बुद्धि के कारण उसके लिए ऐसा व्यापक ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य स्वयं अपने कर्मों के परिणामों का नियामक होता तो वह इन कर्मों से ऐसे परिणाम कभी न उत्पन्न होने देता जो उसके लिए दुखद हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि मानव द्वारा किए गए कुछ कर्मों के परिणाम स्वयं उसके लिए बहुत कष्टदायक होते हैं। यदि उसमें इन परिणामों को नियंत्रित करने की क्षमता होती तो वह अवश्य ही इन्हें उत्पन्न होने से रोक लेता। परंतु मनुष्य ऐसा करने में असमर्थ है जिससे यही प्रमाणित होता है कि वह स्वयं अपने कर्मों के परिणामों का नियामक अथवा नियंता नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रथम विकल्प को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

(ख) कर्म-फल के नियमन की समस्या से संबंधित दूसरा विकल्प यह है कि स्वयं कर्म ही अपने परिणामों को निर्धारित अथवा नियंत्रित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि कर्मों के परिणाम उनसे स्वतः उत्पन्न होते हैं; कोई अन्य सत्ता इन परिणामों का नियमन नहीं करती। परंतु यह विकल्प भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कई बार समय की दृष्टि से कर्मों तथा उनके परिणामों में बहुत बड़ा अंतराल होता है। प्रत्येक कर्म किए जाने के पश्चात तुरंत समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से कर्म के अस्तित्व को क्षणिक ही माना जा सकता है। जब किसी कर्म के परिणाम उत्पन्न होते हैं तब निश्चय ही उसका अस्तित्व नहीं होता, वह तो बहुत पहले ही समाप्त हो चुका होता है। फिर कर्मवाद के समर्थक तो यह भी मानते हैं कि मनुष्य को उसके कुछ कर्मों के परिणाम वर्तमान जीवन में प्राप्त न होकर अगले जन्म में प्राप्त होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि काल की दृष्टि से कर्मों और उनके परिणामों में बहुत बड़ा अंतराल पाया जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि कर्म स्वयं ही अपने परिणामों को उत्पन्न तथा निर्धारित करते हैं। कारण-कार्य के नियम के अनुसार किसी भी कारण तथा उससे उत्पन्न होने वाले प्रभावों में अनिवार्य संबंध का होना आवश्यक है। परंतु आज किए गए किसी कर्म तथा दीर्घ काल के पश्चात अथवा अगले जन्म में उत्पन्न उसके परिणामों में यह अनिवार्य संबंध खोज पाना संभव नहीं है। इस समस्या को ध्यान में रखते हम यही कह सकते हैं कि स्वयं कर्म अपने परिणामों को उत्पन्न और निर्धारित नहीं कर सकते।

कर्मवाद की उपर्युक्त समस्या का समाधान करते हुए इस सिद्धांत के कुछ समर्थकों—विशेषतः मीमांसकों—ने यह कहा है कि कर्म प्रत्यक्षतः नहीं, अपितु परोक्ष रूप से ही अपने परिणामों को निर्धारित करते हैं। इस संबंध में मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत अपूर्व की अवधारणा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि मनुष्य जब कोई कर्म करता है तो उसके फलस्वरूप एक सूक्ष्म तथा अदृष्ट प्रभाव उत्पन्न होता है जिसे वे 'अपूर्व' की संज्ञा देते हैं। शाब्दिक दृष्टि से 'अपूर्व' का अर्थ है 'वह जो पहले नहीं था'। इस प्रकार मनुष्य के कर्मों द्वारा ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है जिसमें उसके शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुसार पुण्य और पाप दोनों निहित रहते हैं। यह अपूर्व ही कालांतर में मनुष्य के लिए उसके कर्मों के अनुरूप अच्छे या बुरे परिणामों को उत्पन्न करता है। इसके लिए ईश्वर या किसी अन्य दैवी

शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने कर्मों द्वारा उत्पन्न अपूर्व से बच नहीं सकता, अतः इस अपूर्व के कारण उसे कभी-न-कभी इन कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इस प्रकार मीमांसकों के मतानुसार मनुष्य के कर्म ही अपूर्व के माध्यम से उसके लिए अप्रत्यक्षतः अपने परिणामों को उत्पन्न अथवा निर्धारित करते हैं।

परंतु अपूर्व की उपर्युक्त अवधारणा के विषय में अनेक जटिल प्रश्न उठते हैं जिनका तर्कसंगत एवं संतोषप्रद उत्तर देना संभव प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि अपूर्व का वास्तविक स्वरूप क्या है। अपूर्व के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि यह कोई भौतिक वस्तु न होकर वास्तव में अलौकिक या अतिप्राकृतिक वस्तु ही है। अपूर्व को 'अदृश्य' कह कर मीमांसकों ने इस तथ्य को स्वयं स्पष्टतः स्वीकार किया है, परंतु अपूर्व को 'अदृश्य' कह देने मात्र से उसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। इस संबंध में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अपूर्व के अस्तित्व का प्रमाण क्या है। मीमांसकों के इस दावे का क्या आधार है कि कर्मों के फलस्वरूप 'अपूर्व' नामक किसी अदृश्य तत्त्व की उत्पत्ति होती है जो कालांतर में इन कर्मों के परिणामों को उत्पन्न करता है? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, मीमांसकों ने इस प्रश्न का कोई युक्तिसंगत तथा संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। वे कर्मों और उनके परिणामों में विद्यमान दीर्घकालीन अंतराल की व्याख्या करने के लिए इस अपूर्व की केवल कल्पना कर लेते हैं जिसका कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने के कारण उनके लिए किसी ऐसे तत्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य था जो कर्मों के परिणामों को निर्धारित कर सके। अपने सिद्धांत की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मीमांसकों ने अपूर्व की कल्पना की है। परंतु किसी काल्पनिक तत्त्व को वास्तविक सत्ता के रूप में स्वीकार करना निश्चय ही तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। फिर यदि अपूर्व के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाए तो यह प्रश्न उठता है कि वह कर्मों के परिणामों का नियमन अथवा निर्धारण कैसे कर सकता है। वस्तुतः मीमांसकों का यह 'अपूर्व' उतना ही काल्पनिक तथा निराधार है जितना ईश्वरवादियों का ईश्वर। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि कर्म-फल के निर्धारण की समस्या के विषय में दूसरा विकल्प भी युक्तिसंगत तथा संतोषप्रद नहीं है।

(ग) उपर्युक्त दोनों विकल्पों में विद्यमान इन कठिनाइयों के कारण कर्मवाद के कुछ समर्थकों ने कर्म-फल के नियमन की समस्या का समाधान करने के लिए एक अन्य विकल्प को स्वीकार किया है जिसके अनुसार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शाश्वत एवं अत्यंत दयालु, ईश्वर ही कर्मों के परिणामों को निर्धारित करता है। विश्व के रचयिता तथा संचालक के रूप में ईश्वर ही समस्त मानवीय कर्मों के परिणामों का भी नियामक है। परंतु इस विकल्प के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिन पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। इस विकल्प के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि कर्म-फल के निर्धारण के लिए इच्छा तथा प्रयास की आवश्यकता होती है जो शरीर रहित ईश्वर के लिए संभव नहीं है। हम अपने अनुभव से यह जानते हैं कि केवल शरीरवान प्राणी ही इच्छा और प्रयास कर सकता है, किंतु ईश्वर को अशरीरी माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना

युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि ईश्वर कर्म-फल-नियमन के लिए इच्छा एवं प्रयास कर सकता है। फिर यदि यह मान लिया जाए कि ईश्वर के लिए ऐसा करना संभव है तो इससे ईश्वर की नित्यता का खंडन होता है। कर्मों के परिणामों को निर्धारित करने के लिए ईश्वर द्वारा इच्छा तथा प्रयास करने का अर्थ यह है कि उसके स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है, किंतु यह ईश्वर की नित्यता के विरुद्ध है। इस प्रकार अशरीरी और अपरिवर्तनशील ईश्वर कर्म-फल का नियमन नहीं कर सकता, अतः ईश्वरवादियों की यह मान्यता असंगत है कि ईश्वर ही कर्मों के परिणामों को निर्धारित करता है।

फिर यदि उपर्युक्त विकल्प को स्वीकार कर लिया जाए तो यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर किस आधार पर कर्म-फल का निर्धारण करता है। इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह दिया जा सकता है कि ईश्वर मनमाने ढंग से अपनी इच्छानुसार कर्म-फल का नियमन करता है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर बिना कारण के ही किसी को सुख और किसी को दुःख देता है। परंतु ईश्वरवादी इस उत्तर को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि यदि वे ऐसा करते हैं तो ईश्वर पर स्वेच्छाचार, क्रूरता और पक्षपात के आरोप लगाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह कर्मवाद की आधारभूत मान्यता के विरुद्ध है जिसके अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के कारण ही सुख और दुःख प्राप्त करता है। उपर्युक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि मनुष्य अपने कर्मों के फलस्वरूप जो पुण्य अथवा पाप अर्जित करता है उसी के आधार पर ईश्वर उसे सुख या दुःख देता है। यह उत्तर निश्चय ही कर्म-सिद्धांत के अनुरूप है, किंतु इसकी कठिनाई यह है कि इसे स्वीकार कर लेने के कारण ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का खंडन होता है। इसके अनुसार ईश्वर मनुष्य को केवल वही दे सकता है जो स्वयं मनुष्य ने अपने कर्मों द्वारा अर्जित किया है, ईश्वर इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता। इस दृष्टि से ईश्वर उस न्यायाधीश के समान हो जाता है जो न्याय करने के लिए कुछ विशेष नियमों अथवा क़ानूनों से बँधा होने के कारण उनकी परिधि से बाहर नहीं जा सकता। ईश्वर की यह स्थिति निश्चय ही उसकी सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध है। इस प्रकार उपर्युक्त विकल्प ईश्वर की नित्यता के साथ-साथ उसकी सर्वशक्तिमत्ता का भी निषेध करता है, अतः इसे ईश्वरवाद के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

ईश्वर द्वारा कर्म-फल के निर्धारण के विषय में यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि मनुष्य जिन पारिवारिक, सामाजिक आर्थिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों में जन्म लेता है और जीवन व्यतीत करता है उन्हें ईश्वर किस आधार पर निर्धारित करता है। क्या ईश्वर इन परिस्थितियों को अपनी इच्छानुसार मनमाने ढंग से निश्चित कर देता है? ईश्वरवादी इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर नहीं दे सकते क्योंकि ऐसा करना स्वयं उनकी अपनी मान्यता के विरुद्ध होगा। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर मनुष्य की इन परिस्थितियों को उसके कर्मों के आधार पर ही निर्धारित करता है। परंतु ईश्वरवादियों की यह मान्यता भी ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का खंडन करती है, क्योंकि इसके अनुसार ईश्वर को मनुष्य की परिस्थितियों का निर्धारण करने के संबंध में स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। फिर यदि यह मान लिया जाए कि ईश्वर मनुष्यों के कर्मों के आधार पर ही उनके जीवन की परिस्थितियों को निर्धारित करता है तो भी वह उनके प्रति पक्षपात के

आरोप से बच नहीं सकता। इसका कारण यह है कि जगत् की रचना करते समय ईश्वर ने ही विभिन्न मनुष्यों को उनके कर्मों के बिना ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखा। ईश्वरवादी ईश्वर को ही इस विश्व का रचयिता मानते हैं। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि जगत् की रचना से पूर्व न तो मनुष्य थे और न उनके कर्म, किंतु फिर भी उनके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न थीं। इससे यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर ने मनुष्यों के कर्मों के बिना ही उनके जीवन के लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ निर्धारित कीं, अतः उस समय उन्हें जो सुख या दुःख प्राप्त हुआ उसका आधार स्वयं उनके कर्म नहीं थे। इस प्रकार ईश्वरवादियों का यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता कि ईश्वर मनुष्यों को उनके कर्मों के आधार पर ही सुख अथवा दुःख प्रदान करता है। वास्तविक स्थिति ठीक इसके विपरीत है। जगत् की रचना करते समय ईश्वर द्वारा मनुष्यों को विभिन्न परिस्थितियों में रखे जाने के कारण ही उनके कर्मों में अंतर आ गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यही कह सकते हैं कि संसार में मनुष्यों को जो सुख या दुःख प्राप्त होता है उसका अंतिम उत्तरदायित्व स्वयं ईश्वर पर ही-है, मनुष्यों के कर्मों पर नहीं। ऐसी स्थिति में ईश्वर को मनुष्यों के प्रति पक्षपात के आरोप से मुक्त नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर को ही कर्म-फल का नियामक माना जाए तो उसे 'पूर्णतः न्यायी' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संसार में हमारा व्यावहारिक अनुभव कर्मवाद के समर्थकों की इस मान्यता की पुष्टि नहीं करता कि शुभ कर्म करने वाले मनुष्यों को सदैव सुख तथा अशुभ कर्म करने वाले मनुष्यों को सदैव दुःख प्राप्त होता है। इसके विपरीत कभी-कभी यह देखा जाता है कि शुभ कर्म करने वाले सज्जन मनुष्य दुःख और अशुभ कर्म करने वाले दुर्जन व्यक्ति इस संसार में सुख भोगते हैं। कर्म-फल का नियामक जो ईश्वर अपने द्वारा रचित जगत् में ऐसा अन्याय होने देता है उसे न तो दयालु कहा जा सकता है और न न्यायी। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के कारण यह तीसरा विकल्प भी कर्म-फल-निर्धारण की जटिल समस्या का कोई समुचित एवं संतोषप्रद समाधान नहीं कर पाता।

(5) कर्म-फल के निर्धारण की समस्या के अतिरिक्त यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि हमारे जीवन का व्यावहारिक अनुभव एक अनिवार्य नियम के रूप में कर्मवाद की पुष्टि करता है अथवा नहीं। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है और उसके शुभ अथवा अशुभ कर्मों के कारण ही इस संसार में उसे सुख या दुःख प्राप्त होता है। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि हमारा व्यावहारिक अनुभव कर्मवाद की इस आधारभूत मान्यता की पुष्टि नहीं करता। हम अपने जीवन में कई बार यह देखते हैं कि छल, कपट तथा बेईमानी करने वाले व्यक्ति इस संसार में सुख, समृद्धि, धन, सम्मान, यश आदि सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं, जबकि निष्कपटता, सच्चाई एवं ईमानदारी से जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों को इनमें से कुछ भी नहीं मिलता और वे कष्ट तथा दरिद्रता से पीड़ित रहते हैं। इसके अतिरिक्त कई बार मनुष्य को अपने कर्मों का नहीं, अपितु दूसरों के कर्मों का फल भोगना पड़ता है। उदाहरणार्थ, महात्माओं के शुभ कर्मों के कारण दूसरों को सुख प्राप्त होता है। इसी प्रकार

दुष्टों के दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप बहुत-से निर्दोष व्यक्तियों को घोर कष्ट पहुँचता है। ये सभी तथ्य कर्मवाद का निश्चित रूप से खंडन करते हैं, क्योंकि इनसे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य के शुभ-अशुभ कर्मों तथा उनके फलस्वरूप उसे प्राप्त होने वाले सुख-दुःख में कोई अनिवार्य कारण-कार्य संबंध नहीं है। शुभ कर्मों के कारण मनुष्य को सदैव सुख और अशुभ कर्मों के कारण उसे सदैव दुःख प्राप्त नहीं होता। इतना ही नहीं, मनुष्य को दूसरों के शुभ अथवा अशुभ कर्मों के कारण भी सुख या दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि हमारे व्यावहारिक जीवन का अनुभव वास्तव में कर्म-सिद्धांत का समर्थन नहीं करता।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कर्म-सिद्धांत के समर्थक यह कह सकते हैं कि यदि इस सिद्धांत के साथ-साथ पुनर्जन्म के सिद्धांत को भी स्वीकार किया जाए तो उपर्युक्त सभी तथ्यों की व्याख्या कर्मवाद के अनुसार की जा सकती है। मनुष्य का वर्तमान जीवन ही एकमात्र तथा अंतिम जीवन नहीं है, इससे पूर्व उसके कई जन्म हो चुके हैं और इसके पश्चात भी उसके अनेक जन्म होंगे। मनुष्य के जन्मों की यह शृंखला अनंत काल तक चलती रहेगी। मनुष्य को अपने सभी कर्मों का फल एक ही जन्म में प्राप्त नहीं हो जाता। यदि वर्तमान जीवन में शुभ कर्म करने वाला मनुष्य दुखी तथा अशुभ कर्म करने वाला मनुष्य सुखी है तो इसका कारण इन दोनों मनुष्यों के पूर्व जन्म के अशुभ और शुभ कर्म हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि इन दोनों मनुष्यों को अपने वर्तमान जीवन के कर्मों का उचित फल आगामी जन्मों में प्राप्त होगा। उनके शुभ तथा अशुभ कार्य कभी भी निष्फल नहीं होंगे। इसी प्रकार जब किसी मनुष्य को दूसरों के शुभ या अशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख अथवा दुःख भोगना पड़ता है तो इसका कारण भी स्वयं उसके पूर्व जन्म के शुभ या अशुभ कर्म ही होते हैं। इन तर्कों द्वारा कर्मवाद के समर्थक अपने सिद्धांत को उपर्युक्त आपत्ति से बचाने का प्रयास करते हैं। परंतु उनके ये तर्क दोषपूर्ण हैं, क्योंकि ये उसी कर्म-सिद्धांत पर आधारित हैं जिसे ये प्रमाणित करना चाहते हैं। ये तर्क देने वाले दार्शनिक पहले से ही कर्मवाद को सत्य मान लेते हैं और फिर उन तथ्यों की व्याख्या करते हैं जो कर्मवाद के विरुद्ध हैं। कर्मवाद को स्वीकार किए बिना वे निश्चय ही मनुष्य के विभिन्न जन्मों के कर्मों की सार्थकतापूर्वक बात नहीं कर सकते। इस प्रकार ये दार्शनिक कर्मवाद के आधार पर ही कर्मवाद को सत्य प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं जो अत्यंत हास्यास्पद है। ऐसी स्थिति में अपने कर्म-सिद्धांत को उपर्युक्त आपत्ति से बचाने के लिए प्रस्तुत किए गए इन दार्शनिकों के तर्कों को निश्चय ही प्रामाणिक और संतोषप्रद नहीं माना जा सकता। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि हमारे व्यावहारिक जीवन का अनुभव कर्म-सिद्धांत की पुष्टि नहीं करता।

(6) जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कर्मवाद के समर्थक निश्चित रूप से यह मानते हैं कि मनुष्य द्वारा किए गए कुछ कर्म शुभ तथा कुछ अन्य कर्म अशुभ होते हैं। परंतु उनकी यह आधारभूत मान्यता भी अत्यंत विवादास्पद है। दीर्घकालीन विचार-विमर्श करने के पश्चात भी दार्शनिक अभी तक मानवीय कर्मों के शुभ या अशुभ होने का कोई स्पष्ट और सर्वमान्य मानदंड निश्चित नहीं कर सके हैं। इस समस्या का समाधान करने के लिए

विभिन्न विचारक भिन्न-भिन्न-और कभी-कभी परस्पर विरोधी-मानदंड प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादी विचारकों के अनुसार जो कर्म ईश्वर की आज्ञा के अनुरूप हैं अथवा जो हमें उसकी ओर ले जाते हैं वे शुभ हैं, इसके विपरीत जो कर्म ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध हैं अथवा जो हमें उससे दूर हटाते हैं वे अशुभ हैं। नैतिकता को ईश्वर पर आधारित मानने वाले सभी विचारक किसी न किसी रूप में इसी मत का समर्थन करते हैं। परंतु नैतिकता के विषय में ईश्वरवादियों की यह मान्यता पूर्णतः अनुचित एवं अयुक्तिसंगत है। इस मान्यता के विरुद्ध जो गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं उन पर हम दसवें अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं, अतः यहाँ इन आपत्तियों की पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इस संबंध में यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इन सभी गंभीर आपत्तियों के कारण निरीश्वरवादी दार्शनिक नैतिकता के विषय में ईश्वरवादियों की उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार नहीं करते। इन दार्शनिकों के मतानुसार नैतिकता का ईश्वर के साथ कोई संबंध नहीं है!

कुछ धर्मपरायण विचारकों का मत है कि मानवीय कर्मों के शुभ या अशुभ होने का एकमात्र मूल आधार श्रुति अथवा धर्म-ग्रंथ हैं। जिन कर्मों की धर्म-ग्रंथ में प्रशंसा की गई है वे शुभ और जिनकी उसमें निंदा की गई है वे अशुभ हैं। इसके लिए किसी अन्य प्रतिमान की आवश्यकता नहीं है। भारत में मीमांसकों तथा इस्लाम और ईसाई धर्म के समर्थकों का यही मत है। परंतु यह मत भी आपत्तियों और कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। इस मत के विरुद्ध सर्वाधिक गंभीर आपत्ति यह है कि विभिन्न धर्म-ग्रंथों में भिन्न-भिन्न कर्मों की ही नहीं, अपितु कभी-कभी परस्पर विरोधी कर्मों की भी प्रशंसा की गई है और उन्हें शुभ माना गया है। उदाहरणार्थ, वेदों में यज्ञों के लिए पशु-बलि संबंधी हिंसा को शुभ माना गया है, इसके विपरीत बौद्ध और जैन धर्म-ग्रंथों में इस प्रकार की हिंसा को महा पाप बताया गया है। विश्व के विभिन्न धर्म-ग्रंथों में ऐसे अन्य अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं। इन उदाहरणों से यही प्रमाणित होता है कि सभी धर्म-ग्रंथ मानवीय कर्मों के शुभत्व तथा अशुभत्व के विषय में परस्पर सहमत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में इन धर्म-ग्रंथों को कर्मों के शुभत्व और अशुभत्व का प्रामाणिक आधार नहीं माना जा सकता।

यही कारण है कि अनेक दार्शनिक कुछ अन्य प्रतिमानों द्वारा कर्मों के शुभत्व एवं अशुभत्व का निर्णय करते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ विचारकों का मत है कि मनुष्य की अंतःप्रज्ञा अथवा अंतश्चेतना ही उसे बता देती है कि उसके कौन-से कर्म शुभ और कौन-से कर्म अशुभ हैं। सभी अंतःप्रज्ञावादी किसी न किसी रूप में इसी मान्यता का समर्थन करते हैं। परंतु यह मान्यता भी सत्य प्रतीत नहीं होती, क्योंकि अनेक बार विभिन्न व्यक्तियों की अंतःप्रज्ञा या अंतश्चेतना भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी कर्मों को उचित या शुभ बताती है जिसके कारण यह निर्णय करना असंभव हो जाता है कि वास्तव में कौन-सा कर्म शुभ अथवा उचित है। इसी कारण अंतःप्रज्ञावाद को अस्वीकार करते हुए बहुत-से दार्शनिकों ने मानवीय कर्मों के शुभत्व तथा अशुभत्व का निर्णय करने के लिए सुख, विकास, उपयोगिता, आत्मपूर्णता, कर्तव्य—चेतना आदि अन्य अनेक नैतिक मानदंड प्रस्तुत किए हैं, किंतु इन सभी मानदंडों के विरुद्ध भी बहुत-सी गंभीर आपत्तियाँ उठाई गई हैं जो इन्हें असंतोषप्रद बना देती हैं। अभी तक ऐसा कोई नैतिक प्रतिमान निश्चित नहीं किया जा सका है जो सभी

परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के कर्मों के शुभत्व तथा अशुभत्व का ठीक-ठीक निर्णय कर सके। वस्तुतः मनुष्य के जीवन की जटिलता और उसकी परिस्थितियों की विविधता को ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि ऐसा कोई नैतिक प्रतिमान खोजना संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए निश्चित रूप से यह कहना असंभव है कि प्रत्येक परिस्थिति में सभी मनुष्यों का कोई कर्म शुभ या अशुभ है। कर्मवाद के लिए निश्चय ही यह बहुत गंभीर समस्या है, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के कुछ कर्म अनिवार्यतः शुभ और कुछ अन्य कर्म अनिवार्यतः अशुभ होते हैं जिनके कारण उसे सुख तथा दुःख भोगना पड़ता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, कर्मवाद का कोई भी समर्थक मानवीय कर्मों के शुभत्व तथा अशुभत्व का ठीक-ठीक निर्णय करने से संबंधित इस गंभीर समस्या का पूर्णतः संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका, अतः इस सिद्धांत को मानव-जीवन के लिए अनिवार्य नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(7) कर्मवाद के समर्थकों का यह दावा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुपात में ही सुख-दुःख भोगता है। परंतु संसार में जो सामूहिक दुःख पाया जाता है वह स्पष्ट रूप से उनके इस दावे का खंडन करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि भयंकर दुर्घटनाओं तथा भूकंप, बाढ़,तूफ़ान आदि के कारण सैकड़ों व्यक्ति मारे जाते हैं अथवा गंभीर रूप से घायल होते हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, कर्मवाद के समर्थक इस सामूहिक दुःख की कोई तर्कसंगत और संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाते। इस आपत्ति के उत्तर में संभवतः वे यह कह सकते हैं कि भयंकर दुर्घटनाओं और प्राकृतिक आपदाओं के कारण जिन व्यक्तियों को एक साथ यह दुःख भोगना पड़ता है वे सभी अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप ही उसे भोगते हैं, अतः इस प्रकार के सामूहिक दुःख से कर्मवाद का खंडन नहीं होता। परंतु कर्म-सिद्धात के समर्थकों का यह तर्क अत्यंत दुर्बल और दोषपूर्ण है। इसका कारण यह है कि भयंकर दुर्घटनाओं तथा प्राकृतिक विपत्तियों के परिणामस्वरूप जिन सहस्त्रों मनुष्यों को घोर कष्ट उठाना पड़ता है उनमें दुर्जनों के साथ-साथ अच्छे व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं। इतना ही नहीं, इन दुर्घटनाओं तथा प्राकृतिक विपत्तियों के कारण निरीह और निर्दोष पशु-पक्षियों को भी अत्यधिक कष्ट पहुँचता है।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि इन सब निर्दोष मनुष्यों और पशु-पक्षियों के सामूहिक दुःख का कारण क्या है। कर्म-सिद्धांत के समर्थक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे पाते। वे अपने सिद्धांत की इस समस्या के समाधान के लिए पुनर्जन्म के सिद्धांत का सहारा ले सकते हैं। वे यह कह सकते हैं कि भयंकर दुर्घटनाओं एवं प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरूप निर्दोष मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों को जो सामूहिक दुःख पहुँचता है वह उनके पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों का ही परिणाम है। परंतु उनकी इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि पुनर्जन्म का सिद्धांत स्वयं कर्मवाद पर आधारित है, अतः इस सिद्धांत द्वारा कर्मवाद की पुष्टि नहीं की जा सकती। स्पष्ट है कि पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों से संबंधित यह तर्क वास्तव में कर्मवाद की उपर्युक्त समस्या का समाधान नहीं करता। इस प्रकार भयंकर दुर्घटनाओं तथा प्राकृतिक विपत्तियों से उत्पन्न सामूहिक दुःख कर्मवाद के लिए एक ऐसी गंभीर चुनौती है

जिसका इस सिद्धांत के अनुयायी कोई संतोषजनक और युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे पाते।

(8) अंत में यहाँ कर्मवाद के उस अनिवार्य व्यावहारिक परिणाम का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है जो मेरे विचार में नैतिक दृष्टि से अत्यंत अवांछनीय है। इस सिद्धांत के समर्थक यह मानते हैं कि मनुष्य अपने जीवन में जो सुख या दुःख भोगता है वह स्वयं उसके अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मों का ही अपरिहार्य फल है। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य को यह सुख या दुःख मिलना ही चाहिए, क्योंकि वह इसका अधिकारी है। स्वयं उसी ने अपने शुभ या अशुभ कर्मों द्वारा इस सुख अथवा दुःख को अर्जित किया है। ऐसी स्थिति में न्याय की यही माँग है कि उसे यह सुख या दुःख अवश्य प्राप्त होना चाहिए। परंतु कर्मवाद के समर्थकों की इस मान्यता के अनुसार आचरण करने के सामाजिक परिणाम बहुत हानिकारक हो सकते हैं। यदि उनकी यह मान्यता उचित है तो स्पष्टतः इसका तात्पर्य यही है कि किसी व्यक्ति को न तो उसके सुख से वंचित किया जाना चाहिए और न ही उसे प्राप्त होने वाले दुःख से उसे मुक्त करना चाहिए। इस संसार में सभी मनुष्य तथा अन्य प्राणी स्वयं अपने शुभ-अशुभ कर्मों के कारण ही सुख-दुःख भोग रहे हैं, अतः उनकी इस स्थिति में परिवर्तन का प्रयास करना कर्मवाद के विरुद्ध और उनके प्रति अन्याय है। यदि कर्मवाद के इस अनिवार्य निष्कर्ष को स्वीकार कर लिया जाए तो सामाजिक न्याय की स्थापना तथा दुःखी मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों के दुःख-निवारण के लिए किए गए संपूर्ण मानवीय प्रयास को व्यर्थ, अनावश्यक और अवांछनीय ही मानना पड़ेगा।

कर्मवाद के उपर्युक्त हानिकारक परिणाम को कुछ उदाहरणों द्वारा भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कोई पूँजीपति अपनी धन-संपत्ति द्वारा भी सभी प्रकार के सुख भोग रहा है जो कर्मवाद के अनुसार उसे प्राप्त होने ही चाहिएं। ऐसी स्थिति में उसकी आय तथा अन्य संपत्ति पर कर लगा कर उसे उसके कुछ भाग से वंचित करना निश्चय ही उसके प्रति अन्याय है। इतना ही नहीं, ऐसा करना कर्म-सिद्धांत के विरुद्ध आचरण करना है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य या अन्य प्राणी किसी भी कारण से असहय दुःख भोग रहा है तो उसे उसके इस दुःख से बचाने का प्रयास करना कर्मवाद के विरुद्ध है क्योंकि वह स्वयं अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप ही यह दुःख भोग रहा है। उसने अपने ही अशुभ कर्मों द्वारा इस असह्य दुःख को अर्जित किया है, अतः वह इसका अधिकारी है। उसके इस दुःख को समाप्त या कम करने का प्रयास करना कर्म-सिद्धांत के नियम में अनावश्यक तथा अवांछनीय हस्तक्षेप है। अपने कर्मानुसार उसे यह असहय दुःख अवश्य भोगने देना चाहिए।

यह समझना कठिन नहीं है कि कर्मवाद का उपर्युक्त निष्कर्ष व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अत्यंत घातक तथा नैतिक दृष्टि से निंदनीय है। यह मानव-समाज के उस संपूर्ण प्रयास को व्यर्थ, अनावश्यक तथा अवांछनीय बना देता है जो वह असंख्य दलितों, शोषितों, विकलांगों एवं अन्य दुखी प्राणियों के दुःख को समाप्त अथवा कम करने के लिए करता है। कर्मवाद के अनुसार ये सभी अपने अशुभ कर्मों के कारण ही दुःख भोग रहे हैं जो उचित एवं न्यायसंगत है अतः इन्हें इनके दुःख से मुक्त करने का प्रयास कर्म-सिद्धांत के मूल नियम का स्पष्ट उल्लंघन है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कर्मवाद का यह परिणाम सम्पूर्ण मानव-समाज के अस्तित्व तथा विकास के लिए अत्यंत घातक है। इस तथ्य को ध्यान में

रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि कर्मवाद के समर्थकों ने जिस रूप में इस सिद्धांत को प्रस्तुत किया है उस रूप में इसे स्वीकार करना मानव-जीवन के लिए वांछनीय तथा श्रेयस्कर नहीं है। **वस्तुतः कर्मवाद के विरुद्ध ऊपर जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं वे सभी हमें यही निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य करती हैं कि यह सिद्धांत दार्शनिक दृष्टि से अयुक्तिसंगत तथा नैतिक दृष्टि से मानव-जीवन के लिए अवांछनीय है।**

3. पुनर्जन्म का सिद्धांत और उसकी कुछ दार्शनिक समस्याएँ

पिछले अध्याय में तथा इस अध्याय के प्रथम खंड में हम पुनर्जन्म के अर्थ और आत्मा की अमरता एवं कर्मवाद के साथ उसके संबंध की संक्षिप्त चर्चा कर चुके हैं। यहाँ पुनर्जन्म के सिद्धांत के स्वरूप और उसकी कुछ दार्शनिक समस्याओं का विवेचन किया जाएगा। जैसा कि हम प्रस्तुत अध्याय के प्रथम खंड में बता चुके हैं, पुनर्जन्म का सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक प्राणी इस संसार में अपने कर्मानुसार बार-बार जन्म ग्रहण करता है। जब किसी प्राणी की मृत्यु होती है तो उसके शरीर का ही अंत होता है, उसकी आत्मा का नहीं। अजर-अमर होने के कारण आत्मा प्राणी के देहांत के पश्चात भी पूर्ववत बनी रहती है। यही आत्मा पुराने शरीर का परित्याग कर के नए शरीर में प्रवेश करती है जिसे उसका 'पुनर्जन्म' कहा जाता है। इसी बात को भगवान कृष्ण ने भगवद्‌गीता में शरीरों की वस्त्रों के साथ तुलना के उदाहरण द्वारा समझाया है जिसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस प्रकार सामान्यतः पुनर्जन्म का सिद्धांत आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास पर ही आधारित है। बौद्ध दार्शनिकों को छोड़ कर इस सिद्धांत के अन्य सभी समर्थक आत्मा की अमरता के विचार को भी स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि अनश्वर होने के कारण आत्मा अपने कर्मों के अनुसार बार-बार जन्म लेती रहती है और उसके जन्म-मरण का यह चक्र मोक्ष-प्राप्ति तक निरंतर चलता रहता है। अधिकतर भारतीय दार्शनिक पुनर्जन्म के संबंध में इसी मत का समर्थन करते हैं। चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन को छोड़ कर अन्य सभी भारतीय दर्शन आत्मा की अमरता, कर्मवाद और पुनर्जन्म इन तीनों सिद्धांतों को एक ही साथ स्वीकार करते हैं। अतः यह कहना शायद अनुचित न होगा कि सामान्यतः ये तीनों सिद्धांत परस्पर संबद्ध हैं। परंतु, जैसा कि हम इस अध्याय के प्रथम खंड में स्पष्ट कर चुके हैं, इन तीनों सिद्धांतों को एक ही साथ स्वीकार या अस्वीकार करना अनिवार्य नहीं है।

पुनर्जन्म के सिद्धांत के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक प्राणी का इस जगत् में बार-बार जन्म होता रहता है; मृत्यु के फलस्वरूप उसका कभी भी विनाश नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि आज संसार में जो प्राणी हैं वे किसी न किसी रूप में पहले भी थे और भविष्य में भी सदा किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेंगे। केवल उनके शरीरों में ही परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। आत्मा के विपरीत शरीर नाशवान है, अतः जब किसी प्राणी का पुनर्जन्म होता है तो उसके पूर्व जन्म तथा वर्तमान जन्म में कोई शारीरिक निरंतरता या अविच्छिन्नता नहीं रहती। उसकी आत्मा प्रत्येक जन्म में नया शरीर ग्रहण करती है। इस प्रकार शारीरिक दृष्टि से प्रत्येक जन्म में प्राणी अपने पूर्व जन्म से पूर्णतः भिन्न होता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई

प्राणी प्रत्येक जन्म में वैसा ही शरीर ग्रहण करे जैसा उसके पूर्व जन्म में था। वह अपने कर्मानुसार मनुष्य, पशु, पक्षी या कीड़े का शरीर प्राप्त कर सकता है। किसी भी रूप में नया जन्म ग्रहण करने के पश्चात सामान्यतः प्राणी में अपने पूर्व जन्म की कोई स्मृति शेष नहीं रह जाती, अतः वह अपने सभी पूर्व जन्मों के संबंध में प्रायः अनभिज्ञ ही रहता है। परंतु पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करने वाले विचारक यह मानते हैं कि कभी-कभी किसी मनुष्य में अपने पूर्व जन्म की कुछ स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं और यह तथ्य इस सिद्धांत की निश्चित रूप से पुष्टि करता है। समय-समय पर पुस्तकों तथा समाचार पत्रों में ऐसे व्यक्तियों की जीवन-कथाएँ प्रकाशित होती रहती हैं जो अपने पूर्व जन्म में घटित घटनाओं का सही विवरण देते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धांत के समर्थकों का यह दावा है कि इन व्यक्तियों का यह विवरण इस सिद्धांत को सत्य प्रमाणित करता है। इस प्रकार अधिकतर भारतीय विचारक आत्मा की अमरता और कर्मवाद की भाँति इनसे संबद्ध पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी पूर्णतः विश्वास करते हैं।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि पुनर्जन्म का यह सिद्धांत दार्शनिक दृष्टि से युक्तिसंगत है अथवा नहीं। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, दार्शनिक केवल उसी सिद्धांत को स्वीकार कर सकता है जिसे विश्वसनीय तर्कों द्वारा सत्य प्रमाणित किया जा सके। जो विचारक पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास करते हैं क्या उन्होंने इसके समर्थन में प्रामाणिक तथा विश्वसनीय तर्क प्रस्तुत किए है? मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। पुनर्जन्म के सिद्धात के समर्थक अपनी आस्था के आधार पर ही इसे स्वीकार कर लेते हैं। वे इसकी पुष्टि के लिए कोई निश्चित एवं असंदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। हम देख चुके हैं कि आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास इस सिद्धांत का प्रमुख आधार है जो अत्यंत दुर्बल तथा अप्रामाणिक है। हमें पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इस विश्वास को तर्कों द्वारा सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके समर्थन में अभी तक जो युक्तियाँ दी गई हैं वे सभी दोषपूर्ण होने के कारण अविश्वसनीय हैं। ऐसी स्थिति में यदि आत्मा की अमरता के विचार को स्वीकार न किया जाए तो पुनर्जन्म के सिद्धांत का मुख्य आधार ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्धांत एक ऐसे विश्वास पर आधारित है जो अप्रमाणित होने के कारण स्वयं निराधार है, अतः दार्शनिक दृष्टि से इसका समर्थन करना संभव नहीं है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दार्शनिक आत्मा की अमरता को स्वीकार किए बिना ही पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास करते है। परंतु उन्होंने इस सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए मानवीय कर्मों से उत्पन्न संस्कारों की शृंखला का जो आधार प्रस्तुत किया है वह पूर्णतः संतोषप्रद तथा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः यह समझना अत्यंत कठिन है कि किसी शाश्वत द्रव्य के बिना ये संस्कार किस प्रकार नया शरीर ग्रहण करते हैं। यदि यह विश्व केवल सतत प्रवाह है और सब कुछ क्षणिक तथा निरंतर परिवर्तनशील है, जैसा कि बौद्ध दार्शनिक मानते है; तो मूल प्रश्न यह है कि बार-बार जन्म किसका होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, बौद्ध दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई संतोषप्रद एवं युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे सके संभवतः इसी कारण अधिकतर भारतीय दार्शनिक पुनर्जन्म के सिद्धांत

के संबंध में उनकी इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध दार्शनिक भी पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए कोई तर्कसंगत आधार प्रस्तुत नहीं कर पाते।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, पुनर्जन्म के सिद्धांत की यह आधारभूत मान्यता है कि प्रत्येक प्राणी इस संसार में बार-बार जन्म लेता रहता है। इसका अर्थ यह है कि हम किसी भी विशेष मनुष्य या अन्य प्राणी के विषय में यह कह सकते हैं कि उसका पुनर्जन्म हुआ है। परंतु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि हमारे इस कथन का आधार क्या है हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि आज हम जिस विशेष व्यक्ति को देख रहे हैं उसका पुनर्जन्म हुआ है? यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है जिसका कोई संतोषजनक उत्तर देना संभव प्रतीत नहीं होता। यह स्पष्ट है कि जिस विशेष व्यक्ति को आज हम देख रहे हैं उसका शरीर वह नहीं है जो उसके पूर्व जन्म में था। इस तथ्य को पुनर्जन्म के सिद्धांत के समर्थक भी स्वीकार करते हैं जिसका अर्थ यह है कि शारीरिक निरंतरता या अविच्छिन्नता पुनर्जन्म के सिद्धांत का आधार नहीं है। फिर हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि वर्तमान काल में 'ख' वही व्यक्ति है जो पूर्व जन्म में 'क' था? क्या इन दोनों व्यक्तियों में कोई ऐसी समानता खोजी जा सकती है जिसके आधार पर युक्तिसंगत रूप से यह कहा जा सके कि वस्तुतः 'क' का ही 'ख' के रूप में पुनर्जन्म हुआ है?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में पुनर्जन्म के सिद्धांत के समर्थक यह कहते हैं कि 'क' और 'ख' नामक इन दोनों व्यक्तियों में मानसिक तथा बौद्धिक गुणों की समानता पाई जाती है। उदाहरणार्थ, यदि 'क' पूर्व जन्म में सहनशील, उदार, विचारक तथा विद्वान था तो 'ख' भी इस जन्म में सहनशील, उदार, विचारक और विद्वान होगा। इसी प्रकार यदि 'क' पूर्व जन्म में क्रोधी, ईर्ष्यालु, लोभी तथा मंदबुद्धि था तो 'ख' भी इस जन्म में क्रोधी, ईर्ष्यालु, लोभी एवं मंदबुद्धि होगा। इसका तात्पर्य यह है कि इस जन्म में 'ख' का मानसिक व्यक्तित्व वैसा ही होगा जैसा 'क' का पूर्व जन्म में था। परंतु यह मान्यता अयुक्तिसंगत और निराधार है। सर्वप्रथम हम यह कभी नहीं जान सकते कि इस समय 'ख' नाम व्यक्ति में जो गुण हैं वे सैकड़ों वर्ष पूर्व 'क' नामक किसी अन्य व्यक्ति में थे। फिर यदि हम यह जान भी लें तो भी इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वास्तव में 'ख' वही व्यक्ति है जो सैंकड़ों वर्ष पूर्व 'क' था। किन्हीं दो व्यक्तियों में विद्यमान कुछ मानसिक गुणों की समानता के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों एक ही व्यक्ति हैं। संसार में समान मानसिक गुणों वाले बहुत-से व्यक्ति होते हैं। क्या इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वे सब एक ही व्यक्ति है? वस्तुतः ऐसा कहना अनर्गल कथन मात्र होगा। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि कुछ व्यक्तियों में विद्यमान मानसिक तथा बौद्धिक गुणों की समानता के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धांत को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

जो विचारक पुनर्जन्म के सिद्धांत का समर्थन करते हैं वे अपने इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए प्रायः पूर्व जन्म की स्मृतियों से संबंधित तर्क भी देते हैं जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इन विचारकों का कथन है कि बहुत-से व्यक्तियों ने अपने पूर्व जन्म में घटित घटनाओं का ठीक-ठीक विवरण प्रस्तुत किया है जो पुनर्जन्म के सिद्धांत को सत्य प्रमाणित करता है।

इन व्यक्तियों का यह विवरण समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में प्रकाशित होता रहता है जिससे यह सिद्ध होता है कि पुनर्जन्म की अवधारणा काल्पनिक न होकर सत्य और वास्तविक है। परंतु मेरे विचार में पुनर्जन्म के सिद्धांत के समर्थन में दिया गया यह तर्क विश्वसनीय तथा प्रामाणिक नहीं है। इसका कारण यह है कि अभी तक प्रयोग तथा निरीक्षण की वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों द्वारा ऐसे विवरणों की निष्पक्ष परीक्षा नहीं की जा सकी है जिन्हें 'पूर्व जन्म के विवरण' बताया जाता है। इतना ही नहीं, इस प्रकार के कुछ विवरण तो सामान्य परीक्षा द्वारा भी मिथ्या और निराधार सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि कुछ पत्र-पत्रिकाएँ अपने विक्रय की वृद्धि की संभावना को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर ऐसी जीवन-कथाएँ प्रकाशित करती रहती हैं जो पूर्व जन्म से संबंधित होने के कारण विचित्र एवं विलक्षण होती हैं और इस प्रकार जो पाठकों में विशेष उत्सुकता उत्पन्न करती हैं। इन कथाओं के पूर्णतः काल्पनिक होने की संभावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में इन कथाओं के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धांत को सत्य मान लेना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः जब तक ऐसी कथाओं की वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों द्वारा निष्पक्ष परीक्षा नहीं की जाती तब तक इनके आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धांत को सत्य मान लेना निश्चय ही उचित नहीं होगा। इस प्रकार पुनर्जन्म के सिद्धांत के समर्थन में दिया गया उपर्युक्त तर्क भी इसे असंदिग्ध रूप से सत्य प्रमाणित नहीं करता। अतः निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास की भाँति यह सिद्धांत भी विश्वसनीय तथा प्रामाणिक तर्कों पर आधारित नहीं है।

4. निष्कर्ष

पिछले खंडों में हमने कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत के स्वरूप और इन दोनों सिद्धांतों की कुछ दार्शनिक समस्याओं की विवेचना की है। इस विवेचना से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि जिस रूप में भारतीय विचारकों ने इन सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है उस रूप में ये दार्शनिक दृष्टि से युक्तिसंगत तथा संतोषप्रद प्रतीत नहीं होते। हम देख चुके हैं कि इन दोनों सिद्धांतों के विरुद्ध ऐसी अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिनका कोई तर्कसंगत और संतोषप्रद उत्तर देना संभव नहीं है। इसी कारण हम इन सिद्धांतों को इनके मूल रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।

परंतु यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत की कोई ऐसी नई व्याख्या की जा सकती है जो वर्तमान युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुरूप हो और जिसके आधार पर इन सिद्धांतों को स्वीकार किया जा सके। सर्वप्रथम इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि पुनर्जन्म के सिद्धांत की ऐसी कोई नवीन व्याख्या करना संभव प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः मानव-जीवन के लिए इस सिद्धांत की उपादेयता को प्रमाणित करना अत्यंत कठिन है। मनुष्य का पुनर्जन्म होता है या नहीं—इस प्रश्न का उसके सामाजिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में सामाजिक दृष्टि से पुनर्जन्म के सिद्धांत की कोई प्रासंगिकता अथवा उपादेयता दिखाई नहीं देती। परंतु इस सिद्धांत के समर्थक मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के लिए इसकी उपादेयता को सिद्ध करने का प्रयास कर

कते हैं। वे यह कह सकते हैं कि पुनर्जन्म के विचार के फलस्वरूप मनुष्य मृत्यु के भय से क्त हो सकता है और दुःखी व्यक्तियों को आगामी जीवन में आनंद का आश्वासन प्राप्त हो कता है। इस आधार पर वे मानव के वैयक्तिक जीवन के लिए पुनर्जन्म के सिद्धांत की पादेयता को प्रमाणित करने का प्रयास कर सकते हैं। परंतु इस सिद्धांत के समर्थन में उनका ह तर्क भी उचित और विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम यह मानने के लिए हमारे ास कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है कि पुनर्जन्म का सिद्धांत मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्त रता है और इस समय दुःख भोगने वाले व्यक्तियों को मरणोत्तर जीवन में सुख-प्राप्ति का ाश्वासन देता है। फिर यदि यह मान भी लिया जाए तो भी इससे मानव के व्यक्तिगत ीवन के लिए पुनर्जन्म के सिद्धांत की उपादेयता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि किसी मिथ्या ाश्वासन के आधार पर संपूर्ण जीवन व्यतीत करना नैतिक दृष्टि से निश्चय ही वांछनीय था श्रेयस्कर नहीं है। इस प्रकार **निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि पुनर्जन्म का सिद्धांत न तो मनुष्य के सामाजिक जीवन के लिए उपादेय एवं श्रेयस्कर है और न उसके ैयक्तिक जीवन के लिए।**

परंतु कर्मवाद के संबंध में उपर्युक्त निष्कर्ष को स्वीकार करना संभवतः उचित नहीं होगा। यह सत्य है कि भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत से संबद्ध कर्मवाद युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद नहीं है, किंतु इसकी ऐसी व्याख्या की जा सकती है जो आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म आदि अतिप्राकृतिक अवधारणाओं पर आधारित न हो और जिसका संबंध मानव के केवल वर्तमान वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन से ही हो। इस दृष्टि से विचार करने पर कर्म-सिद्धांत वर्तमान युग में मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए प्रासंगिक तथा उपादेय हो सकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ मानव-जीवन के लिए कर्मवाद की प्रासंगिकता एवं उपादेयता का विवेचन किया जाएगा।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि कर्म का जीवन के साथ अनिवार्य संबंध है, क्योंकि केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्राणी जन्म से मृत्यु पर्यंत किसी न किसी रूप में निरंतर कर्मशील रहता है। वस्तुतः यह कर्मशीलता समस्त प्राणियों की उन मूल विशेषताओं में से एक है जो उन्हें निर्जीव भौतिक वस्तुओं से पृथक करती हैं। कर्म के बिना कोई भी प्राणी इस संसार में जीवित नहीं रह सकता, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि संपूर्ण जीवन मूलतः कर्म पर ही आश्रित है। इस दृष्टि से जीवन के लिए कर्म की अनिवार्यता निर्विवाद है। फिर विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य के जीवन में तो कर्म का सर्वाधिक महत्त्व है। अपने जीवन को उन्नत एवं समृद्ध बनाने के लिए वह आजीवन सतत कर्म करता रहता है और उसकी इसी कर्मशीलता ने उसे वर्तमान उन्नत अवस्था तक पहुँचाया है। मानवीय सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि सभी उसकी इसी कर्मशीलता के परिणाम हैं। कर्म के अभाव में मनुष्य इस जगत् में अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता। वह केवल मृत्यु के पश्चात ही निष्क्रिय हो सकता है, अतः यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कर्म ही जीवन है और निष्क्रियता मृत्यु। इस प्रकार मानव-जीवन के लिए कर्म की महत्ता और अपरिहार्यता स्वतः सिद्ध है।

जीवन के लिए कर्म की अनिवार्यता का विवेचन करने के पश्चात अब संक्षेप में

कर्म-फल की समस्या पर भी विचार करना आवश्यक है। हम इस अध्याय के प्रथम खंड में ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कर्मवाद के समर्थक अपने सिद्धांत की व्याख्या करते हुए 'कर्म' शब्द का प्रयोग 'ऐच्छिक कर्म' के अर्थ में ही करते हैं। ऐच्छिक कर्म की मूल विशेषता यह है कि मनुष्य इसे अपनी इच्छानुसार किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही करता है, अतः ऐसे कर्मों का परिणामों के साथ अनिवार्य संबंध है। जब मनुष्य कोई ऐच्छिक कर्म करता है तो वह उसके द्वारा स्वयं अपने लिए अथवा दूसरों के लिए कुछ विशेष परिणाम उत्पन्न करना चाहता है। प्रत्येक ऐच्छिक कर्म बाह्य जगत् में अथवा स्वयं कर्त्ता के आंतरिक जगत् में कुछ परिवर्तन अवश्य उत्पन्न करता है जिसे 'कर्म-फल' की संज्ञा दी जा सकती है। यह कर्म-फल कर्म के स्वरूप तथा परिस्थितियों के अनुसार तुरंत या विलंब से उत्पन्न हो सकता है और यह स्वयं कर्त्ता एवं समाज के लिए शुभ अथवा अशुभ हो सकता है। परंतु इतना निश्चित है कि कोई भी ऐच्छिक कर्म निष्फल अथवा परिणामरहित नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्म-फल कर्म का अनिवार्य पक्ष है जिसके बिना कर्म की सार्थक व्याख्या नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य को किसी न किसी रूप में स्वयं अपने तथा दूसरों के कर्मों का फल कभी-न-कभी अवश्य भोगना पड़ता है। हम अपने व्यावहारिक अनुभव से यह जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके अच्छे अथवा बुरे कर्मों का शुभ या अशुभ फल प्रायः इसी जीवन में शीघ्र अथवा विलंब से प्राप्त हो जाता है। कर्म-सिद्धांत जीवन के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, अतः इसमें विद्यमान उक्त आंशिक सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह संभव है कि कभी-कभी कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण किसी व्यक्ति को उसके कुछ कर्मों का उचित फल प्राप्त न हो, किंतु हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसा प्रायः नहीं होता। सामान्यतः वर्तमान जीवन में ही मनुष्य को उसके कर्मों का फल प्राप्त हो ही जाता है। इस प्रकार कर्म-सिद्धांत की यह आधारभूत मान्यता पर्याप्त सीमा तक सत्य प्रतीत होती है कि मनुष्य को अपने समस्त कर्मों का फल कभी-न-कभी अवश्य भोगना पड़ता है।

अभी तक हमने मुख्यतः मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की दृष्टि से ही कर्म-फल की समस्या का विवेचन किया है, परंतु इस समस्या का सामाजिक पक्ष भी है जिस पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। हम दसवें अध्याय में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि मानव विवेकशील प्राणी होने के साथ-साथ अनिवार्यतः सामाजिक प्राणी भी है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के ऐच्छिक कर्मों का कुछ-न-कुछ प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरों के जीवन पर अवश्य पड़ता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण हम सब का जीवन एक-दूसरे से इस प्रकार संबद्ध है कि हमारा कोई भी कर्म किसी न किसी रूप में दूसरों के जीवन को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने कर्मों का फल ही नहीं भोगता, उसे कई बार दूसरों के कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। उदाहरणार्थ, परिवार में बच्चे प्रायः अपने माता-पिता के उचित या अनुचित निर्णयों के कारण भावी जीवन में सुख अथवा दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार शिक्षकों की सही अथवा गलत शिक्षा का भी उनके शिष्यों के भावी जीवन पर सुखद या दुखद प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त किसी समुदाय तथा राष्ट्र के नेताओं के उचित या अनुचित निर्णयों के फलस्वरूप लाखों-करोड़ों व्यक्ति शताब्दियों तक सुख अथवा दुःख भोगते हैं। किसी देश के शासक उसमें जो

सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था स्थापित करते हैं वह निश्चय ही दीर्घ काल तक उस देश के समस्त नागरिकों के सुख या दुःख का कारण बनती है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि हम सब केवल अपने कर्मों का ही नहीं, अपितु दूसरों के कर्मों का भी अनिवार्यतः फल भोगते हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के कर्मों का प्रभाव केवल उसी के जीवन तक सीमित नहीं रहता; उसके कर्म प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरों के जीवन को भी अनिवार्यतः प्रभावित करते हैं और यह प्रभाव सुखद अथवा दुःखद हो सकता है। इस प्रकार मानवीय कर्मों के वैयक्तिक पक्ष के साथ-साथ उनका यह सामाजिक पक्ष भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। परंतु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, कर्म-सिद्धांत मनुष्य के कर्मों के इस सामाजिक पक्ष की प्रायः उपेक्षा करता है। इस सिद्धांत के अधिकतर समर्थकों ने कर्मों के फल या प्रभाव को मानव के वैयक्तिक जीवन तक सीमित मान कर ही अपने सिद्धांत की व्याख्या की है।

परंतु कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध दर्शन में मानवीय कर्मों के उपर्युक्त सामाजिक पक्ष को भी समुचित महत्त्व दिया गया है। इन विद्वानों में जे० सी० जैनिंग्ज़ का नाम उल्लेखनीय है। जैनिंग्ज़ का मत है कि गौतम बुद्ध ने मानवीय कर्मों को मनुष्य के वैयक्तिक जीवन तक ही सीमित न मान कर उनके सामाजिक महत्त्व एवं प्रभाव को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "वैयक्तिक आत्मा के स्थायित्व में विश्वास न करने के कारण बुद्ध हिंदुओं के कर्मवाद को स्वीकार नहीं कर सके जिसके अनुसार आत्मा मृत्यु के पश्चात नए शरीर में प्रवेश करती है। परंतु नैतिक उत्तरदायित्व तथा समस्त कर्मों, शब्दों एवं विचारों के परिणामों में पूर्णतः विश्वास करने के कारण उन्होंने एक अन्य अर्थ में कर्म-सिद्धांत को पूर्ण रूप से स्वीकार किया जिसके अनुसार मनुष्यों की एक पीढ़ी के कर्म, आने वाली सभी पीढ़ियों को प्रभावित करते हैं। संपूर्ण जीवन के एक ही उद्गम स्रोत तथा उसकी मूलभूत एकता को स्वीकार करते हुए बुद्ध ने अखिल जगत् के जीवों पर प्रभाव डालने वाली कर्म-शक्ति की एकता को स्वीकार किया; उनके द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धांत वैयक्तिक न होकर सामूहिक ही है।"[1] इस प्रकार जैनिंग्ज़ के विचार में गौतम बुद्ध संसार के समस्त जीवों पर पड़ने वाले मानवीय कर्मों के व्यापक प्रभाव को विशेष महत्त्व देते हैं।

वस्तुतः मनुष्य के सामाजिक जीवन की दृष्टि से कर्म-सिद्धांत की उपर्युक्त व्याख्या बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके अनुसार कर्मों के कर्ता के रूप में प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने प्रति ही नहीं, अपितु समाज का अभिन्न अंग होने के कारण संपूर्ण समाज के प्रति भी उत्तरदायी है। जिस प्रकार दूसरों के कर्मों का उसके जीवन पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार स्वयं उसके कर्म भी अन्य व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करते हैं। अतः वह समाज के प्रति उदासीन होकर कर्म नहीं कर सकता। हम सब समाज के कर्मशील सदस्य के रूप में अतीत और भविष्य की पीढ़ियों के साथ अनिवार्यतः संबद्ध हैं। आज हम जो जीवन व्यतीत

---

1. जे० सी० जैनिंग्ज़, 'दि वेदांतिक बुद्धिज़्म ऑफ़ दि बुद्धा', पृ० 25.

कर रहे हैं वह पर्याप्त सीमा तक हमारे पूर्वजों के कर्मों का पारणाम है और भावी पीढ़ियों के व्यक्ति जो जीवन व्यतीत करेंगे वह वर्तमान काल में किए गए हमारे कर्मों का फल होगा। इस दृष्टि से विचार करने पर यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि हम सब किसी न किसी रूप में अतीत और भविष्य के साथ जुड़े हुए हैं। यह सत्य है कि हम अतीत में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, क्योंकि वह हमारे नियंत्रण से बाहर है, परंतु अतीत से शिक्षा लेकर हम अपने वर्तमान में सुधार और भविष्य का निर्माण अवश्य कर सकते हैं। इस प्रकार हमारा इतिहास वर्तमान तथा भविष्य के लिए उचित दिशा प्रदान कर सकता है और यही उसकी वास्तविक उपादेयता है।

यदि हम अपने पूर्वजों की गंभीर भूलों से शिक्षा लेकर उनकी पुनरावृत्ति न करें और यदि हम आने वाली पीढ़ियों के व्यापक कल्याण को ध्यान में रखते हुए अपनी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करें तो हम उनके प्रति अपने महान उत्तरदायित्व की पूर्ति कर सकेंगे। इसका अर्थ यह है कि संपूर्ण मानव-जाति के सुखद तथा सुरक्षित भविष्य के निर्माण के लिए हम सबका सामूहिक उत्तरदायित्व है। परंतु मूल प्रश्न यही है कि क्यां हम मानव जाति के प्रति अपने इस महान उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए वास्तव में समुचित प्रयास कर रहे हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करते समय इस प्रश्न पर विचार करना होगा, क्योंकि यह प्रश्न मानव-जाति के अस्तित्व से जुड़ा है। वह दीर्घ काल तक इस पृथ्वी पर बनी रहेगी अथवा शीघ्र ही नष्ट हो जाएगी, यह अंततः हमारे अपने कर्मों पर ही निर्भर है।

वर्तमान युग में सामाजिक दृष्टि से कर्म-सिद्धांत की उपर्युक्त व्याख्या का विशेष व्यावहारिक महत्त्व भी है। आज संपूर्ण विश्व के समक्ष ऐसी अनेक जटिल एवं गंभीर समस्याएँ उपस्थित हैं जिनका समुचित समाधान किए बिना मनुष्य इस धरती पर अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाएगा। इन समस्याओं में भयंकर परमाणु-युद्ध द्वारा विश्व के विनाश की आशंका, सभी राष्ट्रों में पारस्परिक भय और अविश्वास के कारण ध्वंसात्मक शस्त्रास्त्रों के निर्माण एवं संग्रह के लिए निरंतर बढ़ती हुई प्रतियोगिता, द्रुत गति से होने वाले उद्योगीकरण तथा तीव्रगामी यातायात के साधनों के फलस्वरूप पर्यावरण का प्रदूषण, प्रति वर्ष जन-संख्या में होने वाली अभूतपूर्व अनावश्यक वृद्धि, अधिकतर देशों में विद्यमान धार्मिक, जातीय तथा आर्थिक संघर्ष, शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों का राजनैतिक और आर्थिक शोषण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी समस्याओं के संतोषप्रद समाधान पर ही अंततः संपूर्ण मानव-जाति का अस्तित्व तथा विकास निर्भर है। वस्तुतः आज हमें इसी व्यापक संदर्भ में मानवीय कर्मों के महत्त्व और उनकी सार्थकता पर विचार करना है। इस दृष्टि से कर्मवाद को एक ऐसा नैतिक सिद्धांत माना जा सकता है जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक है। इस अर्थ में कर्मवाद के अनुरूप आचरण करने के लिए किसी तत्त्व-मीमांसीय सिद्धांत और अतिप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वस्ततु: वर्तमान काल में व्यक्ति तथा समाज दोनों के व्यापक कल्याण एवं विकास के लिए केवल इसी अर्थ में कर्मवाद की प्रासंगिकता और उपादेयता को स्वीकार किया जा सकता है।

13

मोक्ष और उसके साधन

1. मोक्ष का स्वरूप

पिछले कुछ अध्यायों में हम प्रसंगानुसार यथास्थान मोक्ष की चर्चा करते रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में मोक्ष के स्वरूप तथा उसे प्राप्त करने के प्रमुख साधनों अथवा उपायों पर कुछ विस्तार से विचार किया जाएगा। विश्व के सभी उन्नत धर्मों में किसी न किसी रूप में मोक्ष या मुक्ति की अवधारणा उपलब्ध होती है, अतः धर्म संबंधी समस्याओं पर विचार करने वाले दार्शनिक के लिए इस अवधारणा की तर्कसंगत विवेचना करना आवश्यक हो जाता है।

मोक्ष के विषय में दार्शनिक दृष्टि से निम्नलिखित प्रश्नों का विशेष महत्त्व है :—जब धर्मपरायण व्यक्ति 'मोक्ष' अथवा 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं तो वे इसका क्या अर्थ समझते हैं? जो व्यक्ति मोक्ष के लिए प्रयास करते हैं वे किस से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं? भारतीय दार्शनिकों ने किस अर्थ में मोक्ष को मानव-जीवन का उच्चतम पुरुषार्थ अथवा परम लक्ष्य माना है? क्या समस्त दुःखों अथवा कष्टों से मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष है? यदि मोक्ष का यही अर्थ है तो इसे किन साधनों या उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है? क्या मनुष्य के लिए अपने व्यावहारिक जीवन में इन उपायों के अनुरूप आचरण करना संभव है? क्या वर्तमान वैज्ञानिक युग में मोक्ष के परंपरागत विचार की कोई सार्थकता एवं उपादेयता हो सकती है? प्रस्तुत अध्याय में मोक्ष संबंधी इन सभी प्रश्नों पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए इनके तर्कसंगत उत्तर देने का प्रयास किया जाएगा।

हिंदू धर्म तथा संस्कृति में मोक्ष की अवधारणा का अत्यधिक महत्त्व है। भारतीय विचारकों ने मानव-जीवन के लिए जिन चार पुरुषार्थों को अनिवार्य माना है उनमें मोक्ष को ही सर्वोच्च स्थान दिया गया है; अन्य तीन पुरुषार्थों—काम, अर्थ तथा धर्म—को प्रायः मोक्ष-प्राप्ति के साधनों के रूप में स्वीकार किया जाता है। भौतिकवादी चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को ही मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। मोक्ष के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में मतभेद होते हुए भी ये सभी दर्शन निश्चित रूप से यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य को मोक्ष के लिए ही सतत प्रयास करना चाहिए,क्योंकि जन्म-मरण के सांसारिक चक्र से मुक्ति ही उसके जीवन का सर्वोच्च अंतिम ध्येय है। इसी अर्थ में मोक्ष को मानव जीवन का परम पुरुषार्थ माना गया है।

भारतीय दर्शनों के विकास से बहुत पहले ही हिंदू संस्कृति में मोक्ष के विचार को प्रस्तुत किया जा चुका था। उदाहरणार्थ, उपनिषदों में मोक्ष के स्वरूप तथा उसे प्राप्त करने के उपायों की विस्तृत विवेचना की गई है। कुछ उपनिषदें जीव तथा ब्रह्म की साम्यावस्था को मोक्ष मानती हैं, जबकि कुछ अन्य उपनिषदों के अनुसार जीव और ब्रह्म का पूर्ण तादात्म्य ही मोक्ष है। परंतु मोक्ष के वास्तविक स्वरूप के विषय में इस मतभेद के होते हुए भी सभी

उपनिषदों में मोक्ष को पूर्ण आनंदमयी अवस्था ही माना गया है। मोक्ष की इसी आनंदमयी अवस्था का वर्णन करते हुए 'मुंडक' उपनिषद में कहा गया है कि :– "जिस प्रकार प्रवाहशील नदियाँ अपने नाम और रूप को समाप्त करके सागर में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी अपने नाम और रूप के बंधन से मुक्त होकर सच्चिदानंद ब्रह्म में लय हो जाता है।" 'मुंडक' उपनिषद के अनुसार यही जीव का मोक्ष है। 'बृहदारण्यक' उपनिषद में याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को मोक्ष की अवस्था समझाते हुए कहा है कि मोक्ष के उपरांत जीव तथा ब्रह्म का भेद अथवा द्वैत पूर्णतया समाप्त हो जाता है और इस प्रकार जीव ब्रह्म के साथ पूर्ण रूप से एकाकार हो जाता है। इसी उपनिषद में एक अन्य स्थान पर मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि जो मनुष्य समस्त कामनाओं से मुक्त हो चुका है वह मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होकर अंततः ब्रह्म ही हो जाता है; यही जीव का मोक्ष है। इस प्रकार अधिकतर उपनिषदों में जीव तथा ब्रह्म के पूर्ण तादात्म्य की आनंदमयी अवस्था को 'मोक्ष' की संज्ञा दी गई है और इसे ही मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

यद्यपि मोक्ष के स्वरूप के विषय में भारतीय दर्शनों में परस्पर पर्याप्त मतभेद हैं, फिर भी मोक्ष से संबंधित कुछ मान्यताओं को ये सभी दर्शन समान रूप से स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, सभी दर्शन यह मानते हैं कि मोक्ष के फलस्वरूप जीव के समस्त दुःखों का आत्यंतिक विनाश हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात उसे शारीरिक तथा मानसिक किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं होता। आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति के अतिरिक्त सभी दर्शन यह भी स्वीकार करते हैं कि मोक्ष के परिणामस्वरूप जीव सांसारिक जन्म-मरण के चक्र से पूर्णतः मुक्त हो जाता है; उसे सुख-दुःख भोगने के लिए इस संसार में बार-बार जन्म नहीं लेना पड़ता। उपर्युक्त दोनों मान्यताओं के साथ-साथ बौद्ध दर्शन को छोड़कर अन्य सभी दर्शन इस मान्यता में भी विश्वास करते हैं कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए आत्मा का शरीर, इंद्रियों और मन से पूर्ण संबंध-विच्छेद अनिवार्य है। जो भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता और अमरता को स्वीकार करते हैं उनका यह निश्चित मत है कि शरीर तथा इंद्रियों से संबद्ध हो जाने के कारण ही आत्मा सांसारिक जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप उसे अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात वह इस बंधन तथा इससे उत्पन्न होने वाले समस्त दुःखों से पूर्णतः मुक्त हो जाती है। मोक्ष के लिए शरीर तथा इंद्रियों से आत्मा के पूर्ण संबंध-विच्छेद को अनिवार्य मानने के कारण अधिकतर भारतीय दर्शन विदेह-मुक्ति में ही विश्वास करते हैं। इन दर्शनों का मत है कि मृत्यु के उपरांत शरीर एवं इंद्रियों के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप ही आत्मा का उनसे पूर्ण संबंध विच्छेद संभव है, अतः विदेह-मुक्ति की अवस्था ही वास्तविक मोक्ष है। परंतु सांख्य तथा शंकर का अद्वैत वेदांत ये दोनों दर्शन विदेह-मुक्ति के साथ-साथ जीवन-मुक्ति में भी विश्वास करते हैं। इन दर्शनों के अनुसार मनुष्य इस संसार में जीवित रहते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है, अतः इसके लिए उसकी मृत्यु अनिवार्य नहीं है। इस जीवन-मुक्ति का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, इस प्रश्न पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि सांख्य और अद्वैत वेदांत विदेह-मुक्ति के अतिरिक्त जीवन-मुक्ति के

विचार को भी स्वीकार करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानने वाले सभी भारतीय दार्शनिक किसी न किसी रूप में अविद्या, अविवेक अथवा अज्ञान को ही जीव के बंधन तथा उससे उत्पन्न समस्त दुःखों का मूल कारण मानते हैं। अविद्या के स्वरूप की व्याख्या विभिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है, किंतु वे यह स्वीकार करते हैं कि इस अविद्या के कारण ही जीव सांसारिक जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में मोक्ष-प्राप्ति के लिए इस अविद्या अथवा अज्ञान का पूर्ण विनाश अनिवार्य है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मोक्ष के स्वरूप के विषय में तीव्र मतभेद के होते हुए भी सभी भारतीय दर्शन इससे संबंधित कुछ आधारभूत मान्यताओं में समान रूप से विश्वास करते हैं।

भारतीय दर्शनों द्वारा स्वीकृत मोक्ष विषयक कुछ आधारभूत मान्यताओं की विवेचना करने के पश्चात अब संक्षेप में मोक्ष के स्वरूप के संबंध में विभिन्न दर्शनों के मत पर विचार करना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को ही मनुष्य के जीवन का अंतिम ध्येय मानते हैं, परंतु मोक्ष के स्वरूप के विषय में वे परस्पर सहमत नहीं हैं। इस संबंध में इन दर्शनों में जो मतभेद है उसका कारण यह है कि वे आत्मा के स्वरूप की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। मोक्ष के विषय में अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अनश्वर आत्मा ही मोक्ष प्राप्त कर सकती है, नाशवान शरीर नहीं। इसी कारण प्रत्येक दर्शन मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या आत्मा के स्वरूप के संबंध में अपने सिद्धांत के आधार पर ही करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, मोक्ष के स्वरूप के विषय में प्रत्येक दर्शन का मत अंततः आत्मा के स्वरूप से संबंधित उसकी मान्यता द्वारा ही निर्धारित होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए अब हम मोक्ष के स्वरूप के संबंध में विभिन्न भारतीय दर्शनों की मान्यताओं का विवेचन करेंगे।

अन्य अधिकतर भारतीय दर्शनों की भाँति न्याय और वैशेषिक दर्शन भी अभौतिक तथा नित्य द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता एवं अमरता को स्वीकार करते हैं। ये दोनों दर्शन आत्मा को समस्त अनुभवों का मूल आधार तथा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता मानते हुए भी स्वभावतः चैतन्यस्वरूप नहीं मानते। इन दर्शनों के मतानुसार, चैतन्य अथवा चेतना आत्मा का स्वाभाविक तथा अनिवार्य लक्षण न होकर केवल आगंतुक या आकस्मिक धर्म है जो उसमें मनस एवं इंद्रियों के साथ संयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। आत्मा के विषय में अपनी इसी मान्यता के आधार पर न्याय-वैशेषिक ने मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या की है। उनका कथन है कि दुःख का आत्यंतिक विनाश—अर्थात, समस्त दुःखों से आत्मा की पूर्ण मुक्ति—ही मोक्ष अथवा अपवर्ग है। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात आत्मा के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं और वह जन्म-मरण के सांसारिक चक्र से पूर्णतया मुक्त हो जाती है। वस्तुतः न्याय-वैशेषिक ने मोक्ष की निषेधात्मक परिभाषा ही दी है, क्योंकि उनके अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के दुःखों का ही आत्यंतिक विनाश होता है; उसे किसी प्रकार के आनंद की उपलब्धि नहीं होती। मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात आत्मा में सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा, घृणा, प्रयत्न, धर्म-अधर्म, संस्कार अदि कोई भी अनुभव शेष नहीं रह जाता। इतना

ही नहीं, मुक्तावस्था में पहुँच कर आत्मा ज्ञान और चैतन्य से भी शून्य हो जाती है। वात्स्यायन तथा अन्य नैयायिकों ने मोक्ष के संबंध में शंकर के इस मत का खंडन किया है कि आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य की आनंदमयी अवस्था ही मोक्ष है। उनका कथन है कि आनंद भी आत्मा को बंधन में डालने वाला धर्म या गुण है, अतः मुक्तावस्था में दुःख के साथ-साथ आनंद की भी पूर्ण परिसमाप्ति अनिवार्य है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक के अनुसार, सुख, दुःख आदि समस्त अनुभवों तथा ज्ञान एवं चैतन्य से रहित आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही मोक्ष है जिसे प्राप्त करके वह जन्म-मरण के सांसारिक चक्र से पूर्णतः मुक्त हो जाती है। मोक्ष की इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि ये दोनों दर्शन विदेह-मुक्ति में ही विश्वास करते हैं। इन दर्शनों ने आत्मा की जिस मुक्तावस्था का वर्णन किया है उसे प्राप्त करने के लिए शरीर का विनाश अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना सुख, दुःख आदि समस्त अनुभवों का अत नहीं हो सकता।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या न्याय-वैशेषिक द्वारा वर्णित मोक्ष को मानव-जीवन के अंतिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अनेक दार्शनिकों ने इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया है जो उचित ही प्रतीत होता है। हम देख चुके हैं कि इन दर्शनों के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के फलस्वरूप आत्मा के केवल दुःखों का ही विनाश नहीं होता; अपितु उसमें अनुभव, ज्ञान, चैतन्य आदि कुछ भी शेष नहीं रह जाता। समस्त अनुभवों तथा चैतन्य से शून्य ऐसी मुक्तावस्था निश्चय ही मानव-जीवन का आदर्श नहीं हो सकती। इसी कारण अनेक दार्शनिकों ने न्याय-वैशेषिक द्वारा वर्णित मोक्ष के स्वरूप की तीव्र आलोचना करते हुए उसे पूर्णतः अस्वीकार किया है। उनका कथन है कि न्याय-वैशेषिक ने मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात जिस अनुभव रहित तथा चेतना-शून्य आत्मा की अवस्था का वर्णन किया है उसमें और लकड़ी, पत्थर आदि निर्जीव भौतिक वस्तुओं में कोई अंतर नहीं है। स्पष्ट है कि कोई भी मनुष्य ऐसी मुक्तावस्था को अपने जीवन का परम लक्ष्य नहीं मान सकता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक ने मानव-जीवन के उच्चतम ध्येय के रूप में मोक्ष के स्वरूप की जो व्याख्या की है वह पूर्णतः निषेधात्मक होने के कारण असंतोषप्रद है।

मोक्ष के स्वरूप के विषय में मीमांसा दर्शन—जिसे 'पूर्वमीमांसा' भी कहा जाता है—का मत भी न्याय-वैशेषिक के मत के समान ही है। इस संबंध में मीमांसा के मत पर विचार करने से पूर्व यहां इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस दर्शन के प्रारंभिक काल में मोक्ष को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं माना जाता था। मीमांसा दर्शन के प्रणेता, जैमिनी ने अपने 'मीमांसा-सूत्र' में तथा 'मीमांसा-सूत्र' के भाष्यकार, शबर स्वामी ने अपने 'भाष्य' में मोक्ष का उल्लेख नहीं किया है। मीमांसा के ये प्रारंभिक आचार्य स्वर्ग-सुख-प्राप्ति को ही मनुष्य के जीवन का अंतिम ध्येय मानते थे। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने मनुष्य के समस्त कर्तव्यों की विवेचना की है। उनके अनुसार, वेदों द्वारा वर्णित याग आदि कर्मों को विधिवत करना ही मनुष्य का धर्म है जिसके द्वारा वह स्वर्ग-सुख प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीमांसा के ये प्रारंभिक आचार्य मोक्ष या मुक्ति को मानव-जीवन का ध्येय नहीं मानते थे।

परंतु कालांतर में इस दर्शन के परवर्ती आचार्यों ने अन्य अधिकतर भारतीय विचारकों

की भाँति मोक्ष को ही मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया। प्रभाकर, कुमारिल, शालिक नाथ, पार्थसारथी मिश्र आदि परवर्ती मीमांसकों ने मोक्ष की समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इन दार्शनिकों ने मोक्ष के स्वरूप की जो व्याख्या की है वह न्याय-वैशेषिक द्वारा कृत मोक्ष की व्याख्या से भिन्न नहीं है। इसका कारण यह है कि आत्मा के स्वरूप के विषय में इन तीनों दर्शनों का मत लगभग समान ही है। मीमांसक भी आत्मा को समस्त अनुभवों तथा मानसिक क्रियाओं का मूल आधार मानते हुए भी उसे स्वभावत: चैतन्यस्वरूप नहीं मानते। नैयायिकों की भाँति उनका भी यही विचार है कि चैतन्य अथवा चेतना आत्मा का स्वाभाविक एवं अनिवार्य लक्षण नहीं है, मन तथा इंद्रियों द्वारा वाह्य वस्तुओं के साथ आत्मा के संयोग के परिणामस्वरूप ही उसमें चैतन्य का उदय होता है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के संबंध में न्याय-वैशेषिक से पूर्णत: सहमत होने के कारण मीमांसकों ने भी मोक्ष की निषेधात्मक परिभाषा की है उनका मत है कि जन्म-मरण संबंधी समस्त बंधनों एवं दु:खों का आत्यंतिक विनाश ही मोक्ष है। कुमारिल ने मोक्ष की परिभाषा करते हुए कहा है कि:–"प्रपंच–संबंधविलयो मोक्ष:"–अर्थात्, इस प्रपंचमय जगत् के साथ आत्मा के संबंध का आत्यंतिक विनाश ही मोक्ष या मुक्ति है। 'आत्यंतिक विनाश' का अर्थ है भूतकालीन कर्मों द्वारा उत्पन्न समस्त पूर्वसंचित संस्कारों का पूर्ण विनाश जिसके फलस्वरूप इस संसार में जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। भोगायतन (शरीर), भोग-साधन (इंद्रियाँ) और भोग-विषय (सांसारिक पदार्थ), इन तीनों ने आत्मा को बंधन में डाल रखा है, अत: इन तीनों के साथ आत्मा के संबंध का आमूल विच्छेद ही मोक्ष है। स्पष्ट है कि नैयायिकों की भाँति मीमांसक भी केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए शरीर, इंद्रियों तथा मन और समस्त सांसारिक वस्तुओं (प्रपंच) से पूर्ण संबंध-विच्छेद अनिवार्य है। मोक्ष प्राप्त कर लेने के उपरांत शरीर, इंद्रियों और मन से पूर्णतया पृथक हो जाने के कारण आत्मा में चैतन्य भी शेष नहीं रह जाता, अत: वह अनुभव-शून्य हो जाती है। मोक्ष के फलस्वरूप आत्मा के दु:खों का ही आत्यंतिक विनाश होता है; उसे किसी प्रकार आनंद प्राप्त नहीं होता। आत्मा की इसी मुक्तावस्था को कुमारिल ने नित्य अथवा शाश्वत अवस्था माना है। इस प्रकार नैयायिकों की भाँति मीमांसक भी मोक्ष की पूर्णत: निषेधात्मक परिभाषा देते हैं और मुक्तावस्था में आत्मा को आनंद, चैतन्य तथा समस्त अनुभवों से रहित मानते हैं, क्योंकि उनके विचार में यही आत्मा का विशुद्ध स्वरूप एवं मोक्ष है।

परंतु मोक्ष के स्वरूप के विषय में मीमांसकों के उपर्युक्त मत के विरुद्ध भी वही आपत्ति उठाई जा सकती है जो न्याय-वैशेषिक के मत के विरुद्ध उठाई गई है। हम इस आपत्ति पर पहले ही विचार कर चुके हैं, अत: यहाँ इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इस संबंध में यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि मीमांसा दर्शन का मोक्ष विषयक सिद्धांत उतना ही असंतोषप्रद है जितना न्याय-वैशेषिक का।

न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा की भाँति सांख्य और योग भी मोक्ष को ही मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। मोक्ष के स्वरूप के विषय में इन दोनों दर्शनों के विचार लगभग समान ही हैं, अत: यहाँ मोक्ष के संबंध में केवल सांख्य के मत का ही उल्लेख किया जाएगा

जिसे योग दर्शन भी स्वीकार करता है। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि वह पुरुष और प्रकृति इन दोनों को अंतिम सत्ताएँ मानता है। उसके अनुसार, ये दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे के ठीक विपरीत हैं—पुरुष चैतन्यस्वरूप, त्रिगुणातीत एवं निष्क्रिय है, जबकि प्रकृति जड़, त्रिगुणमयी तथा सतत क्रियाशीला है। शरीर इंद्रियाँ, मन तथा जगत् के समस्त जीव और पदार्थ प्रकृति में ही सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से प्रकृति का अर्थ बहुत व्यापक है। सांख्य में आत्मा के लिए 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया गया है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा के विपरीत सांख्य पुरुष अथवा आत्मा को स्वभावतः चैतन्यस्वरूप ही मानता है। अपने वास्तविक रूप में पुरुष या आत्मा विशुद्ध चैतन्य तत्त्व है जो द्रष्टा, भोक्ता और कर्त्ता नहीं है। परंतु अविवेक अथवा अविद्या के कारण वह अपने ऊपर जड़ प्रकृति के गुणों को आरोपित कर लेता है—अर्थात, वह अपने आपको प्रकृति से अभिन्न मानकर यह समझने लगता है कि "मैं ही द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता आदि हूँ।" प्रकृति के साथ पुरुष का अविवेकजनित यह तादात्म्य ही उसके बंधन तथा समस्त दुःखों का मूल कारण है, अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए इस अविवेक और इससे उत्पन्न प्रकृति के साथ पुरुष के तादात्म्य का विनाश अनिवार्य है। यह अविवेक तत्त्व-ज्ञान द्वारा ही नष्ट हो सकता है। तत्व-ज्ञान का अर्थ है पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना—अर्थात, यह जान लेना कि वह स्वयं कर्ता, द्रष्टा, भोक्ता आदि न होकर प्रकृति से पूर्णतः भिन्न, त्रिगुणातीत, निर्लिप्त तथा केवल विशुद्ध चैतन्य तत्त्व है। इसी तत्त्व ज्ञान को सांख्य में 'विवेक-ख्याति' की संज्ञा दी गई है और इसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है। इस विवेक-ख्याति के फलस्वरूप जब पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग समाप्त हो जाता है और वह कर्तृत्त्व, भोकतृत्त्व आदि से मुक्त होकर समस्त गुणों से रहित अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को जान लेता है तब वह समस्त बंधनों तथा दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है: यही मोक्ष है।

मोक्ष के स्वरूप के संबंध में सांख्य मूलतः न्याय-वैशेषिक से सहमत है, क्योंकि इन दोनों दर्शनों की भाँति वह भी आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति को ही मोक्ष मानता है, पूर्ण आनंद की अवस्था को नहीं। उसका मत है कि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात पुरुष में किसी प्रकार का आनंद विद्यमान नहीं रहता। आनंद भी प्रकृति का ही एक गुण है, अतः वह प्रकृति से भिन्न, त्रिगुणातीत पुरुष में नहीं रह सकता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक की भाँति सांख्य भी यह स्वीकार करता है कि समस्त बंधनों एवं दुःखों का पूर्ण विनाश ही मोक्ष है और मुक्तावस्था में पुरुष में आनंद सहित किसी प्रकार का अनुभव शेष नहीं रह जाता। परंतु सांख्य के अनुसार मुक्तावस्था में भी पुरुष चैतन्यस्वरूप ही बना रहता है, क्योंकि यही उसका वास्तविक स्वरूप है।

सांख्य में विदेह-मुक्ति के साथ-साथ जीवन-मुक्ति को भी स्वीकार किया गया है। शरीर के रहते हुए इसी जीवन में विवेक अथवा ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेना ही जीवनमुक्ति है। ऐसी मुक्ति प्राप्त करने वाला मनुष्य संसार में रहते हुए भी उसके बंधनों से ऊपर उठ जाता है, अतः वह सुख-दुःख से प्रभावित नहीं होता। शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात समस्त दुःखों तथा जन्म-मरण के सांसारिक चक्र से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही विदेहमुक्ति है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक सुविख्यात सांख्याचार्य, विज्ञान भिक्षु ने केवल

विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मोक्ष माना है, क्योंकि उनके मतानुसार शरीर के रहते हुए सभी प्रकार के दुःखों और प्रकृति के गुणों से मुक्त होना संभव नहीं है। परंतु मुक्ति के प्रकार के विषय में इस मतभेद के होते हुए भी सभी सांख्याचार्य यह स्वीकार करते हैं कि समस्त सांसारिक बंधनों एवं दुःखों का पूर्ण विनाश ही मोक्ष है जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात पुरुष अपने वास्तविक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को पहचान लेता है; पुरुष की इस मुक्तावस्था में सुख-दुःख सहित कोई भी अनुभव उसमें शेष नहीं रह जाता।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि सांख्य का उपर्युक्त मोक्ष संबंधी सिद्धांत कहाँ तक युक्तिसंगत तथा संतोषप्रद है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसा के मोक्ष विषयक सिद्धांत की भाँति सांख्य के इस सिद्धांत की भी अनेक दार्शनिकों ने तीव्र आलोचना की है। इस सिद्धांत के विरुद्ध प्रथम गंभीर आपत्ति यह है कि इसमें पुरुष या आत्मा के बंधन की जो व्याख्या की गई है वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। हम देख चुके हैं कि सांख्य पुरुष और प्रकृति इन दोनों को ऐसी अंतिम सत्ताएँ मानता है जो एक-दूसरे के ठीक विपरीत हैं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि पुरुष और प्रकृति में किसी प्रकार का संयोग कैसे संभव है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, सांख्याचार्यों ने इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। उनका विचार है कि पुरुष और प्रकृति के इस संयोग का मूल कारण है अविवेक अथवा अविद्या जिसके फलस्वरूप पुरुष अपने आपको प्रकृति से अभिन्न समझने लगता है। परंतु उनके इस उत्तर को संतोषप्रद नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें अनेक कठिनाइयाँ विद्यमान हैं। सर्वप्रथम सांख्याचार्य हमें यह नहीं बताते कि अविवेक का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है। फिर उनसे यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि पुरुष में इस अविवेक का उदय कैसे और क्यों होता है। इस प्रश्न का भी वे कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। वस्तुतः पुरुष और प्रकृति जैसी परस्पर पूर्णतया विरोधी सत्ताओं में किसी प्रकार के संयोग की कोई तर्कसंगत व्याख्या करना संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में पुरुष के अविवेक के परिणामस्वरूप प्रकृति के साथ उसके संयोग से उत्पन्न बंधन का जो सिद्धांत सांख्य ने प्रस्तुत किया वह निश्चय ही युक्तिसंगत और संतोषप्रद नहीं है।

सांख्य के मोक्ष विषयक सिद्धांत के विरुद्ध दूसरी प्रमुख आपत्ति यह है कि न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा की भाँति वह भी मोक्ष को मुख्यतः निषेधात्मक ही मानता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, उसका भी यही मत है कि मुक्तावस्था में पुरुष में सुख-दुःख सहित कोई भी अनुभव शेष नहीं रह जाता। क्या समस्त अनुभवों से शून्य ऐसे मुक्त पुरुष को वास्तव में 'चैतन्यस्वरूप' माना जा सकता है? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि 'चैतन्य' या 'चेतना' शब्द के सामान्य अर्थ में उसके अस्तित्व के लिए मनुष्य में किसी अनुभव अथवा अनुभूति की उपस्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब सांख्य मुक्त पुरुष को समस्त अनुभवों से शून्य मानते हुए भी उसे 'चैतन्यस्वरूप' कहता है तो वह 'चैतन्य' शब्द का प्रयोग इसके सामान्य अर्थ से पूर्णतः भिन्न तत्वमीमांसीय अर्थ में ही करता है जो साधारण मनुष्य के लिए अबोधगम्य है। ऐसी स्थिति में सांख्य द्वारा वर्णित मुक्त पुरुष को, सामान्य अर्थ में 'चैतन्यस्वरूप' मानना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त सांख्य द्वारा दी गई

मोक्ष की निषेधात्मक परिभाषा के विरुद्ध भी वही आपत्ति उठाई जा सकती है तो न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा द्वारा दी गई मोक्ष की परिभाषा के विरुद्ध उठाई गई है और जिस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक और मीमांसा की भाँति सांख्य द्वारा वर्णित निषेधात्मक मोक्ष भी मानव-जीवन का आदर्श नहीं हो सकता।

अंत में कुछ सांख्याचार्यों ने विदेह-मुक्ति के साथ-साथ जीवनमुक्ति का जो विचार प्रस्तुत किया है वह भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। सांख्य ने मोक्ष की जो निषेधात्मक परिभाषा दी है उसे ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि वह तर्कसंगत रूप से केवल विदेह-मुक्ति को ही स्वीकार कर सकता है, जीवन-मुक्ति को नहीं। इस संबंध में विज्ञान भिक्षु का यह मत उचित एवं युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है कि शरीर के नष्ट हो जाने के उपरांत ही मनुष्य के समस्त दुःखों तथा बंधनों का पूर्ण विनाश हो सकता है, अतः विदेह-मुक्ति ही वास्तविक मोक्ष है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा की भाँति सांख्य का मोक्ष संबंधी सिद्धांत भी युक्तिसंगत और संतोषप्रद नहीं है।

मोक्ष के स्वरूप के विषय में अद्वैत वेदांत का मत अभी तक वर्णित सभी दर्शनों के मत से कुछ भिन्न है। इस दर्शन के प्रणेता शंकर भी मोक्ष अथवा मुक्ति को ही मानव-जीवन का अंतिम ध्येय मानते हैं, किंतु उन्होंने मोक्ष की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है जो मूलतः उनके अद्वैतवाद पर आधारित है। वे समस्त भेदों से रहित, निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म को ही एकमात्र अंतिम सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार, यह संपूर्ण जगत् और इसमें विद्यमान सभी प्राणी तथा वस्तुएँ केवल माया अथवा अविद्या के कारण ही ब्रह्म से पृथक प्रतीत होती हैं। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म वास्तविक सत्ता है, जगत् की नहीं। मोक्ष के स्वरूप के संबंध में शंकर ने जो मत प्रस्तुत किया है उसका मूल आधार उनका यही अद्वैतवादी सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार अपने मूल रूप में आत्मा अथवा जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किंतु अविद्या के कारण वह अपने आप को उससे भिन्न समझने लगता है और इस प्रकार जन्म-मरण के सांसारिक बंधनों में बंध जाता है। इन्हीं बंधनों के फलस्वरूप जीव को संसार में अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार शंकर के विचार में आत्मा अथवा जीव के समस्त दुःखों का मूल कारण अविद्या ही है जो उसके वास्तविक स्वरूप को आवृत्त करके उसे बंधन में डाल देती है। ब्रह्म-ज्ञान के परिणामस्वरूप अविद्या के नष्ट हो जाने पर मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात जीव पुनः ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है और इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूप को फिर से प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म के साथ जीव का यह पूर्ण तादात्म्य ही मोक्ष है और यही उसका अंतिम ध्येय है।

शंकर यह मानते हैं कि मोक्ष प्राप्त कर लेने के उपरांत ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने के कारण आत्मा जन्म-मरण के समस्त सांसारिक बंधनों तथा दुःखों से पूर्णतः मुक्त हो जाती है। परंतु न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के विपरीत उनका मत है कि मोक्ष-प्राप्ति के फलस्वरूप आत्मा के केवल दुःखों का ही आत्यंतिक विनाश नहीं होता; उसे अखंड आनंद भी प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानंदस्वरूप है। ऐसे ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने

पर आत्मा को समस्त बंधनों एवं दु:खों से मुक्ति प्राप्त होने के साथ-साथ विशुद्ध आनंद की भी प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त शंकर के मतानुसार मुक्तावस्था में आत्मा चैतन्य रहित नहीं हो जाती जैसा कि नैयायिकों तथा मीमांसकों का विचार है। इस अवस्था में ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण आत्मा में सत्, चित् और आनंद ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार न्याय वैशेषिक तथा मीमांसा के विपरीत अद्वैत वेदांत में ब्रह्म के साथ आत्मा के तादात्म्य के फलस्वरूप उत्पन्न विशुद्ध चैतन्य-युक्त आनंदमयी अवस्था को ही मोक्ष' की संज्ञा दी गई है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में शंकर सांख्य के मत को भी स्वीकार नहीं करते। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सांख्य ने प्रकृति से पुरुष अथवा आत्मा के पूर्ण पार्थक्य को ही मोक्ष माना है; परंतु शंकर के विचार में जीव या आत्मा का ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाना ही मोक्ष है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि शंकर ब्रह्म से आत्मा के अविद्याजनित मिथ्या पार्थक्य को बंधन मानते हैं जो तत्त्व-ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है। इन तथ्यों से मोक्ष के स्वरूप के संबंध में सांख्य और शंकर का पारस्परिक मतभेद पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है।

परंतु मोक्ष के स्वरूप के विषय में यह मतभेद होते हुए भी उसके प्रकार के संबंध मे सांख्य तथा अद्वैत वेदांत इन दोनों दर्शनों का मत समान ही है। सांख्य की भाँति शंकर भी विदेहमुक्ति के साथ-साथ जीवन-मुक्ति को भी स्वीकार करते हैं। निरंतर आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप जब मनुष्य संसार में रहते हुए इसी जीवन में ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करके समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है तो उसकी इसी मुक्तावस्था को शंकर ने 'जीवन-मुक्ति' की संज्ञा दी है। इस अवस्था में मनुष्य सांसारिक कर्म करते हुए भी उनमें आसक्त न होने के कारण उनके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त रहता है। वह समस्त कर्म स्वार्थ-सिद्धि के लिए न करके केवल लोकसंग्रह अथवा लोक-कल्याण के लिए ही करता है। ऐसे निष्काम कर्म उसके पुनर्जन्म का कारण नहीं बनते। इसके अतिरिक्त ब्रह्म-ज्ञान के फलस्वरूप जीवन-मुक्त के पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, अतः भविष्य में उसके पुनर्जन्म की संभावना समाप्त हो जाती है। इस प्रकार वह जीवित रहते हुए ही जन्म-मरण के दु:खमय सांसारिक चक्र से मुक्त हो जाता है। इसी कारण उसे 'जीवन-मुक्त' की संज्ञा दी जाती है। ऐसा मनुष्य 'अपने-पराए' के भेद से ऊपर उठकर केवल लोकोपकार के लिए ही जीवित रहता है। वह इस संसार में रहते हुए भी सांसारिक विषयभोगों में लिप्त नहीं होता और सदैव निष्कामभाव से केवल लोक-कल्याणार्थ समस्त कर्म करता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि जीवन-मुक्त इस संसार में जीवन व्यतीत करते हुए भी उसमें आसक्ति न रखने के कारण उससे पृथक रहता है और उसकी इसी आसक्ति रहित अवस्था को 'जीवन-मुक्ति' कहा जाता है। शंकर के दर्शन में मनुष्य की इस जीवन-मुक्ति को बहुत महत्त्व दिया गया है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वे इसे मोक्ष का प्रथम सोपान ही मानते हैं, उसकी अंतिम अवस्था नहीं।

वस्तुतः शंकर के मतानुसार मोक्ष की अंतिम अवस्था विदेह-मुक्ति ही है। इस विदेह-मुक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि संचित, प्रारब्ध एवं संचीयमान इन सभी प्रकार के कर्मों तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात

जन्म-मरण के सांसारिक चक्र से मुक्त होकर सच्चिदानद अविनाशी ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाना ही विदेह-मुक्ति है। यह वह विशुद्ध चैतन्य-युक्त एवं आनंदमयी अवस्था है जिसमें किसी प्रकार का द्वैत शेष नहीं रह जाता और आत्मा तथा ब्रह्म में पूर्ण अभेद की सिद्धि हो जाती है। विदेह-मुक्ति के फलस्वरूप आत्मा संसार से पूर्णतया पृथक एवं मुक्त होकर ब्रह्म में लय हो जाती है, अतः इस अवस्था में उसके लिए किसी प्रकार के कर्म करना संभव नहीं है। इसी कारण शंकर ने विदेह-मुक्ति की उक्त अवस्था में आत्मा की क्रियाशीलता को स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार, मोक्ष की इस अंतिम अवस्था में आत्मा का ब्रह्म के साथ पूर्ण अभेद अथवा तादात्म्य हो जाता है। इस प्रकार शंकर के विचार में आत्मा अथवा जीव की यह विदेह-मुक्ति ही उसका वास्तविक मोक्ष है, जीवन-मुक्ति नहीं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि शंकर का उपर्युक्त मोक्ष संबंधी सिद्धांत कहाँ तक उचित एवं संतोषप्रद है। यह सत्य है कि उन्होंने मुक्तावस्था में आत्मा को विशुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा अखंड आनंद से परिपूर्ण माना है। इस दृष्टि से उनके मोक्ष विषयक सिद्धांत को न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के मोक्ष संबंधी सिद्धांत की अपेक्षा अधिक वांछनीय माना जा सकता है जो मुक्तावस्था में आत्मा को समस्त अनुभवों और चैतन्य से रहित मानते हैं। इस अंतर से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि न्याय-वैशेषिक और मीमांसा के विपरीत शंकर का मोक्ष संबंधी सिद्धांत निषेधात्मक न होकर सकारात्मक है। परंतु इस सिद्धांत का सूक्ष्म एवं गंभीर विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में शंकर ने जो कुछ कहा है उससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वास्तव में उनका सिद्धांत भी निषेधात्मक ही है। हम देख चुके हैं कि उनके मतानुसार मोक्ष-प्राप्ति के फलस्वरूप आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि मोक्ष प्राप्त कर लेने के उपरांत आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है और उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना निरर्थक है कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात आत्मा विशुद्ध चैतन्यस्वरूप और अखंड आनंद से परिपूर्ण हो जाती है। मोक्ष के फलस्वरूप ब्रह्म में पूर्णतः विलुप्त हो जाने के कारण जब आत्मा का अस्तित्व ही शेष नहीं रह जाता तो उसके विशुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा अखंड आनंद से परिपूर्ण हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः शंकर के मोक्ष विषयक सिद्धांत के संबंध में यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि विदेह-मुक्ति की अवस्था में आत्मा का सदा के लिए अंत हो जाता है। यह स्पष्ट है कि ऐसा मोक्ष मानव-जीवन का उच्चतम आदर्श तथा अंतिम ध्येय नहीं हो सकता। कोई भी मनुष्य ऐसी मुक्तावस्था को अपने जीवन का आदर्श अथवा लक्ष्य नहीं मानना चाहेगा जिसमें उसका अस्तित्व ही शेष न रह जाए। वास्तव में ऐसी मुक्तावस्था मृत्यु से भिन्न प्रतीत नहीं होती और कोई भी व्यक्ति मृत्यु को अपने जीवन का अंतिम ध्येय या आदर्श नहीं मान सकता। इस प्रकार मनुष्य के लिए विदेह-मुक्ति के रूप में शंकर के मोक्ष संबंधी सिद्धांत का भी अंतिम परिणाम वही होता है जो न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा सांख्य के मोक्ष विषयक सिद्धांत का है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि शंकर के जीवन-मुक्त संबंधी सिद्धांत के विरुद्ध उक्त आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, उनके

मतानुसार जीवन-मुक्ति मोक्ष का केवल प्रथम सोपान है अंतिम मुक्तावस्था नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि वे जीवन-मुक्ति को नहीं, अपितु विदेह-मुक्ति को ही मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि शंकर के मोक्ष-सिद्धांत में वस्तुतः जीवन-मुक्ति का उतना महत्त्व नहीं है जितना विदेह-मुक्ति का। परंतु हम देख चुके हैं कि विदेह-मुक्ति का वास्तविक अर्थ आत्मा की पूर्ण परिसमाप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि पूर्ववर्णित अन्य दर्शनों की भाँति शंकर के अद्वैत वेदांत का मोक्ष-सिद्धांत भी मानव-जीवन के उच्चतम आदर्श तथा अंतिम लक्ष्य की दृष्टि से संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता।

शंकर की भाँति विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक रामानुज तथा अन्य वैष्णव दार्शनिक भी मोक्ष या मुक्ति को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। यहाँ हम मोक्ष के स्वरूप के संबंध में केवल रामानुज के मत की विवेचना करेंगे जिन्हें प्रमुख वैष्णव दार्शनिक माना जाता है। शंकर के समान ही रामानुज भी यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या ही आत्मा अथवा जीव के समस्त बंधनों एवं दुःखों का मूल कारण है। इसी अविधा के फलस्वरूप जीव में अहंकार उत्पन्न होता है जो उसे जन्म-मरण के दुःखमय सांसारिक चक्र में आबद्ध कर देता है। सभी प्रकार के कर्मों तथा अविद्या के विनाश द्वारा जन्म-मरण के इस चक्र और समस्त सांसारिक बंधनों एवं दुःखों से मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष है। इस मोक्ष के स्वरूप के विषय में रामानुज का मत शंकर के मत से कुछ भिन्न है। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, शंकर के अनुसार ब्रह्म के साथ जीव का पूर्ण अभेद अथवा तादात्म्य ही मोक्ष है, किंतु रामानुज इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात जीव ईश्वर के स्वरूप और गुणों को प्राप्त करके उसके समान हो जाता है, परंतु वह ईश्वर में लय नहीं होता--अर्थात्, मोक्ष के फलस्वरूप जीव का ईश्वर के साथ तादात्म्य नहीं हो जाता। स्पष्ट है कि रामानुज के विचार में मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी जीव ईश्वर से भिन्न रहता है, किंतु समस्त कर्मों एवं इच्छाओं के नष्ट हो जाने के कारण वह पुनः संसार में जन्म लेकर दुःखों तथा बंधनों में नहीं पड़ता। मुक्तावस्था में जीव ईश्वर में विलीन न होकर उसके समकक्ष हो जाता है। उपर्युक्त अंतर के अतिरिक्त शंकर तथा रामानुज के मोक्ष विषयक सिद्धांतों में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर यह भी है कि रामानुज केवल विदेह-मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं, जीवन-मुक्ति को नहीं। उनका मत है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर ही जीव को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। मोक्ष प्राप्ति के फलस्वरूप जीव के समस्त बंधनों एवं दुःखों का आत्यंतिक विनाश हो जाता है और वह सदा के लिए ईश्वर के सानिध्य का महान आनंद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार नैयायिकों तथा मीमांसकों के विपरीत रामानुज मोक्ष को जीव की चैतन्य-युक्त एवं आनंदपूर्ण अवस्था मानते हैं। इस दृष्टि से मोक्ष के विषय में उनका मत शंकर के मत के समान ही है।

यह समझना कठिन नहीं हैं कि रामानुज द्वारा वर्णित मोक्ष की उपर्युक्त अवधारणा भी मूलतः निषेधात्मक है। हम देख चुके हैं कि वे केवल विदेह-मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं जिसका अर्थ यह है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य की मृत्यु अनिवार्य है। वह इस संसार में

रहते हुए कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि मोक्ष विषयक यह सिद्धांत मनुष्य को उसके वर्तमान जीवन में दुःख-निवृत्ति का कोई आश्वासन नहीं देता। ऐसी स्थिति में रामानुज द्वारा वर्णित मोक्ष भी मानव-जीवन का उच्चतम आदर्श और अंतिम ध्येय नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्य दार्शनिकों के मोक्ष संबंधी सिद्धांत की भाँति रामानुज का मोक्ष-सिद्धांत भी संतोषप्रद नहीं है।

अभी तक हमने मोक्ष के स्वरूप के विषय में उन दर्शनों के मत पर विचार किया है जिन्हें 'आस्तिक दर्शन' माना जाता है, क्योंकि ये सभी दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। अब संक्षेप में उन दर्शनों के मोक्ष विषयक सिद्धांत की विवेचना की जाएगी जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते और इसी कारण जिन्हें 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध ये तीनों दर्शन वेदों की प्रामाणिकता और ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, अतः इन्हें एक ही श्रेणी के अंतर्गत रखा जाता है। इनमें से भौतिकवादी चार्वाक दर्शन तो शरीर के अंत को ही 'मोक्ष' मानता है। इस दर्शन के समर्थकों ने स्पष्ट कहा है कि "मरण ही मोक्ष है।" वे न तो आत्मा की अमरता में विश्वास करते हैं और न पुनर्जन्म में, अतः उनके लिए जन्म-मरण के सांसारिक चक्र में आत्मा के आबद्ध हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार चार्वाक दर्शन उस अर्थ में मोक्ष का पूर्णत निषेध करता है जिस अर्थ में अन्य भारतीय दर्शनों ने इसे स्वीकार किया है। परंतु अध्यात्मवादी होने के कारण जैन और बौद्ध दर्शन इस संबंध में भौतिकवादी चार्वाक दर्शन से सहमत नहीं हैं। ये दोनों दर्शन जन्म-मरण के दुःखमय सांसारिक चक्र से मुक्ति या मोक्ष में पूर्णतः विश्वास करते हैं। यहाँ हम मोक्ष के स्वरूप के विषय में जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन के मत पर क्रमशः संक्षेप में विचार करेंगे।

अन्य अधिकतर भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन भी अभौतिक तथा नित्य द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता और अमरता को स्वीकार करता है। इस दर्शन में आत्मा को 'जीव' कहा गया है और न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के विपरीत उसे स्वभावतः चैतन्यस्वरूप माना गया है। इसका अर्थ यह है कि चेतना अथवा चैतन्य जीव का आगंतुक धर्म या बाह्य गुण न होकर अनिवार्य लक्षण है जिसके बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है। जैन दार्शनिकों का मत है कि जीव के समस्त बंधनों एवं दुःखों का मूल कारण उसके कर्म ही हैं जिन्हें ये दार्शनिक क्षिति, जल आदि की भाँति पौद्गलिक अथवा भौतिक मानते हैं। ये कर्म ही जीव में प्रवेश करके उसके समस्त स्वाभाविक गुणों को आच्छादित कर लेते हैं और इस प्रकार उसे सांसारिक बंधनों तथा दुःखमय प्रपंच में डाल देते हैं। जिस तत्त्व द्वारा कर्म जीव में प्रवेश करते हैं उसे जैन दर्शन में 'आस्रव' कहा गया है। इस आस्रव द्वारा जीव में प्रवेश करके जब कर्म उस पू-तया आवृत्त कर लेते हैं तो इस अवस्था को 'बंध' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार आस्रव तथा बंध के फलस्वरूप जीव कर्मों के बंधन में पूर्णतः आबद्ध हो जाता है जिससे मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष अथवा 'कैवल्य' है। जब तक जीव कर्मों के बंधन तथा प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाता तब तक उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जीव को कर्मों के प्रभाव एवं बंधन से मुक्त करने वाले तत्त्वों को जैन दार्शनिकों ने 'संवर' और 'निर्जरा' कहा है। जीव में कर्मों के प्रवेश के निरोध को 'संवर' और उसमें

पहले से विद्यमान कर्मों के पूर्ण विनाश को 'निर्जरा' की संज्ञा दी गई है। ये दोनों तत्त्व ही जीव की मुक्ति के मार्ग हैं, क्योंकि ये उसे कर्मों के प्रभाव तथा बंधन से मुक्त करते हैं

जैन दार्शनिकों का विचार है कि मोक्ष अथवा कैवल्य की प्राप्ति के फलस्वरूप जीव समस्त सांसारिक बंधनों तथा दुःखों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है और वह अपने स्वाभाविक गुणों—अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सामर्थ्य एवं अनंत सुख या शांति—को पुनः प्राप्त कर लेता है। यही जीव की अंतिम स्थिति तथा उसका चरम लक्ष्य है जिसे 'कैवल्य' कहा जाता है। इस कैवल्य को प्राप्त कर लेने के पश्चात सिद्ध अथवा मुक्त जीव लोकाकाश तथा अलोकाकाश के मध्य में स्थित 'सिद्ध-शिला' पर अनंत काल तक निवास करते हैं और उनका सांसारिक जीवों के साथ कोई संपर्क नहीं रहता, अतः वे न उनकी प्रार्थना सुनते हैं और न सहायता ही करते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष अथवा कैवल्य का अर्थ जीव का पूर्ण विनाश न होकर समस्त सांसारिक बंधनों, दुःखों तथा कर्मों के प्रभाव से मुक्ति है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जीव को ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति का आधार लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अपने नैतिक प्रयत्नों और कठोर संयम एवं तपस्या द्वारा स्वयं कैवल्य प्राप्त कर सकता है। संक्षेप में जैन दर्शन का मत है कि स्वयं अपने नैतिक प्रयास के परिणामस्वरूप समस्त कर्मों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो कर आत्मा अथवा जीव द्वारा अपने सभी स्वाभाविक गुणों को पुनः प्राप्त कर लेना ही मोक्ष या कैवल्य है।

मोक्ष के स्वरूप के संबंध में जैन दर्शन के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि अन्य अधिकतर भारतीय दर्शनों की भांति यह दर्शन भी केवल विदेह-मुक्ति में ही विश्वास करता है। जीव समस्त कर्मों से तभी मुक्त हो सकता है जब उसके शरीर का अंत हो जाए। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य के वर्तमान जीवन में मोक्ष की कोई संभावना नहीं है; मोक्ष-प्राप्ति के लिए उसकी मृत्यु अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत मोक्ष की अवधारणा भी मूलतः निषेधात्मक ही है। परंतु ऐसा निषेधात्मक मोक्ष मनुष्य के जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने मुक्त जीवों अथवा सिद्ध पुरुषों के स्वभाव का जो वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट है कि ये जीव सांसारिक जीवों के कल्याण के प्रति पूर्णतः उदासीन रहते हैं; उनका इस जगत् के जीवों से कोई संबंध नहीं रहता। यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसे आत्म-केंद्रित मुक्त जीव हमारे लिए आदर्श नहीं हो सकते। फिर जैन दार्शनिकों ने जिस सिद्ध-शिला पर अनंत काल तक इन मुक्त जीवों के निवास की बात कहीं है वह नितांत काल्पनिक है। इस प्रकार जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत मोक्ष की अवधारणा को भी मावन-जीवन के लिए संतोषजनक नहीं माना जा सकता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास न करने के कारण बौद्ध दर्शन को भी जैन दर्शन की भाँति 'नास्तिक' माना जाता है। इस समानता के अतिरिक्त इन दोनों दर्शनों में एक अन्य समानता यह भी है कि ये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। परंतु 'आत्मा' की सत्ता और अमरता के विषय में इन दोनों दर्शनों में तीव्र मतभेद है। जैन दर्शन के विपरीत बौद्ध दर्शन नित्य अथवा शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करता, अतः उसके लिए आत्मा की अमरता को स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम ग्यारहवें अध्याय में बता चुके हैं कि बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा

मानसिक प्रवृत्तियों, भावनाओं तथा विचारों के संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार आत्मा की सत्ता और अमरता के विषय में बौद्ध दर्शन का मत सभी आस्तिक दर्शनों तथा जैन दर्शन के मत से मूलतः भिन्न है। परंतु मानव-जीवन के अंतिम लक्ष्य के संबंध में बौद्ध दर्शन इन सभी दर्शनों से पूर्णतः सहमत है। वह भी मुक्ति अथवा मोक्ष को ही मनुष्य के जीवन का अंतिम ध्येय मानता है।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष को 'निर्वाण' कहा गया है जो उसके अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। इस निर्वाण का वास्तविक स्वरूप क्या है? यह प्रश्न बहुत विवादास्पद है। स्वयं गौतम बुद्ध ने निर्वाण की कोई स्पष्ट और निश्चित परिभाषा नहीं दी, क्योंकि वे ईश्वर, आत्मा, मोक्ष आदि तत्त्वमीमांसीय विषयों से संबंधित प्रश्नों को 'अव्याकृत' मानते थे जिसका अर्थ यह है कि इन प्रश्नों को उठाना और इनके विषय में वादविवाद करना अनुचित तथा व्यर्थ है। इन तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों में उलझ जाने से इस संसार में सर्वत्र दुःख की उपस्थिति और उसके निराकरण की समस्या उपेक्षित ही रह जाती है जो प्राणी मात्र के जीवन की मूल समस्या है। इसी कारण गौतम बुद्ध ने इन दार्शनिक प्रश्नों के विवाद में न उलझते हुए यही कहा था कि इस जगत् में दुःख की व्यापकता एक कठोर सत्य है, अतः मनुष्य को इस दुःख से सदा के लिए पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने का सतत प्रयास करना चाहिए। उन्होंने जिन चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है उनका मूल उद्देश्य दुःख से मुक्ति के लिए किए गए मनुष्य के इसी प्रयास में उसकी सहायता करना ही है।

बुद्ध द्वारा निर्वाण की कोई स्पष्ट एवं निश्चित परिभाषा न दिए जाने के कारण कालातर में उनके शिष्यों तथा अनुयायियों ने इसका भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण किया। यह कहा जाता है कि शाब्दिक दृष्टि से 'निर्वाण' का अर्थ है 'बुझ जाना' अथवा 'समाप्त हो जाना'। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने के पश्चात उसका प्रकाश समाप्त हो जाता है उसी प्रकार निर्वाण-प्राप्ति के उपरांत मनुष्य के अस्तित्व का भी अंत हो जाता है और उसे समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। निर्वाण के इसी शाब्दिक अर्थ को स्वीकार करते हुए कुछ विचारकों ने मनुष्य के पूर्ण विनाश को ही निर्वाण माना है। उदाहरणार्थ, ओल्डन बर्ग, पॉल दहलके आदि विद्वानों का विचार है कि निर्वाण अस्तित्व के अभाव की स्थिति है। इसका अर्थ यह है कि निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात मनुष्य पूर्णतया नष्ट हो जाता है और किसी भी रूप में उसका अस्तित्व शेष नहीं रह जाता। बौद्ध धर्म के 'हीनयान' नामक संप्रदाय के अनुयायी निर्वाण के अर्थ के विषय में मुख्यतः इसी मत का समर्थन करते हैं।

परंतु उपर्युक्त अर्थ में निर्वाण मृत्यु से भिन्न नहीं है और मृत्यु मनुष्य के जीवन का आदर्श तथा अंतिम ध्येय नहीं हो सकती। इसी कारण अनेक विचारक निर्वाण के इस निषेधात्मक अर्थ को स्वीकार नहीं करते। इन विचारकों का मत है कि निर्वाण केवल निषेधात्मक स्थिति न होकर सकारात्मक अवस्था भी है। बुद्ध ने यह कभी नहीं कहा था कि निर्वाण पूर्ण विनाश की स्थिति है और इसे प्राप्त करने के उपरांत मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत उनके उपदेशों में अनेक ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं जिनमें यह कहा गया है कि निर्वाण सभी दुःखों से रहित, पूर्ण शांति एवं आनंद की अवस्था है। यह वह स्थिति है जिसे प्राप्त करके मनुष्य जन्म-जरा-मरण के सांसारिक बंधनों तथा

दुःखों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है और अपार शांति एवं आनंद का अनुभव करता है। निर्वाण के इसी स्वरूप का वर्णन करते हुए 'धम्मपद' (202-203) में स्पष्टतः यह कहा गया है कि निर्वाण लोभ, घृणा तथा भ्रम से रहित, पूर्ण शांति एवं आनंद की अवस्था है। 'अंगुतरनिकाय' में भी निर्वाण के अर्थ के संबंध में इसी मत का समर्थन किया गया है। इस मत के समर्थकों के अनुसार, निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता जिसके फलस्वरूप वह समस्त दुःखों तथा बंधनों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। 'निर्वाण' शब्द का विश्लेषण करके उसके इस अर्थ को भलीभाँति समझा जा सकता है। 'निर' का अर्थ है 'नहीं' और 'वाण' का अर्थ है 'पुनर्जन्म-पथ', अतः समग्र रूप में 'निर्वाण' का अर्थ है 'पुनर्जन्म का अंत'। पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त हो जाने के फलस्वरूप मनुष्य के समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं और वह अखंड आनंद तथा पूर्ण शांति का अनुभव करता है। यही निर्वाण है जिसे मनुष्य अपने जीवन-काल में भी प्राप्त कर सकता है।

मैक्समूलर, चाइल्डर्स, राधाकृष्णन, पूसिन आदि अनेक विचारकों ने निर्वाण का उपर्युक्त व्यापक तथा सकारात्मक अर्थ ही स्वीकार किया है। इन विचारकों के मतानुसार, निर्वाण का अर्थ समस्त दुःखों से पूर्ण मुक्ति तक ही सीमित नहीं हैं; निर्वाण प्राप्त करने वाले मनुष्य को इस मुक्ति के साथ-साथ अखड शांति एवं आनंद की भी प्राप्ति होती है। इस प्रकार निर्वाण पूर्ण आनंद तथा शांति की वह अवस्था है जिसमें पहुँच कर मनुष्य सभी सांसारिक बंधनों एवं दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। अधिकतर विचारक निर्वाण का यही व्यापक अर्थ स्वीकार करते हैं जिसमें निषेधात्मक तथा सकारात्मक दोनों अर्थ समाविष्ट हैं। इसी व्यापक अर्थ में बुद्ध ने अपने जीवन-काल में ही निर्वाण प्राप्त कर लिया था—अर्थात, वे इस संसार में रहते हुए ही राग-द्वेष की द्वंदात्मक स्थिति से ऊपर उठकर समस्त दुःखों से मुक्ति तथा पूर्ण आनंद एवं अखंड शांति की अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। जो विचारक 'निर्वाण' का अर्थ 'अस्तित्व का समाप्त हो जाना' मानते हैं वे वस्तुतः 'निर्वाण' शब्द को 'परिनिर्वाण' के अर्थ में ग्रहण करते हैं। बौद्ध धर्म के कुछ अनयायियों ने 'निर्वाण' तथा 'परिनिर्वाण' में उसी प्रकार भेद किया है जिस प्रकार साख्य और अद्वैत वेदांत ने 'जीवन-मुक्ति' एवं 'विदेह-मुक्ति' में भेद किया है। उनके अनुसार, मनुष्य अपने जीवन-काल में निर्वाण प्राप्त कर सकता है, किंतु परिनिर्वाण की प्राप्ति उसे मृत्यु के पश्चात ही हो सकती है। परंतु अधिकतर बौद्ध विचारक इस भेद को अस्वीकार करते हुए दुःख से मुक्ति तथा पूर्ण आनंद की प्राप्ति के अर्थ में निर्वाण को ही मानव-जीवन का अंतिम ध्येय मानते हैं।

बौद्ध दार्शनिक यह मानते हैं कि मनुष्य को इस निर्वाण की प्राप्ति तभी हो सकती है जब वह बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों को भलीभाँति समझकर उनके अनुरूप सदैव निष्ठापूर्वक आचरण करे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन चार आर्य सत्यों का संबंध संसार में दुःख की उपस्थिति और उसके निरोध से है। ये चार आर्य सत्य निम्नलिखित हैं :— (1) संसार में सर्वत्र दुःख है। (2) इस व्यापक दुःख का कारण है। (3) दुःख का निरोध अथवा विनाश संभव है। (4) दुःख के निरोध का मार्ग है। इन चारों आर्य सत्यों का समुचित ज्ञान निर्वाणप्राप्ति का प्रथम सोपान है और इनके अनुरूप आचरण करके मनुष्य अपने जीवन-काल में ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

सर्वप्रथम मनुष्य को यह जानना चाहिए कि इस जगत् में सभी प्राणी दुःख का अनुभव

करते हैं। यह दुःख उन्हें विभिन्न प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा के रूप में भोगना पड़ता है। जन्म, जरा, मरण सभी दुःखमय हैं; इसी प्रकार किसी इच्छा की पूर्ति न होना उपलब्ध सुख के नष्ट हो जाने का भय, सुखद वस्तु का छिन जाना, प्रिय के साथ मिलन के पश्चात् वियोग आदि सभी दुःखपूर्ण हैं। इस प्रकार बुद्ध के अनुसार, संसार में सभी प्राणियों का जीवन मूलतः दुःखमय है और इस महान सत्य को जानना मनुष्य के लिए आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि इस व्यापक दुःख का कारण क्या है? अपने दूसरे आर्य सत्य के अंतर्गत बुद्ध ने इसी प्रश्न का उत्तर दिया है। उन्होंने दुःख के बारह कारण बताए हैं जिन्हें क्रमशः एक-दूसरे के पश्चात एक निश्चित श्रृंखला में रखा गया है। इस कारण-श्रृंखला में सर्वप्रथम स्थान अविद्या का है जिसे दुःख का मूल कारण माना गया है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार, अविद्या का अर्थ है आत्मा के स्वरूप का मिथ्या ज्ञान और चार आर्य सत्यों को न जानना। यह अविद्या ही जीवित रहने के संस्कारों को उत्पन्न करती है जिनके कारण प्राणी को संसार में बार-बार जन्म लेना पड़ता है। इन संस्कारों के कारण ही विज्ञान (चेतना) की उत्पत्ति होती है जिसके फलस्वरूप प्राणी जीवित रहते और सुख-दुःख भोगते हैं। इस विज्ञान द्वारा प्राणी का माता के गर्भ में विकास होता है और वह नाम तथा रूप (आकार) ग्रहण करता है। नाम-रूप के कारण षडायतन (मन तथा आँख, नाक, कान, रसना और त्वचा इन पाँच ज्ञानेंद्रियों) की उत्पत्ति होती है जिसके द्वारा प्राणी सांसारिक वस्तुओं के संपर्क में आता है। षडायतन के फलस्वरूप प्राणी स्पर्श-सुख का अनुभव करता है जो पुनः वेदना (इंद्रियजन्य सुखानुभूति) को जन्म देता है। वेदना के कारण प्राणी में तृष्णा (संसार में जीवित रहने और सुख भोगने की इच्छा) उत्पन्न होती है जिसके द्वारा उपादान (सांसारिक वस्तुओं तथा पत्नी, संतान आदि के प्रति आसक्ति) का जन्म होता है। उपादान के परिणामस्वरूप प्राणी में भाव (पुनर्जन्म की इच्छा) की उत्पत्ति होती है जिसके कारण उसे संसार में पुनः जन्म (जाति) लेना पड़ता है और जन्म के फलस्वरूप जरा-मरण संबंधी अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। इस **प्रकार बुद्ध के अनुसार, अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भाव, जाति और जरा-मरण—ये ही दुःख के बारह कारण हैं जो क्रमशः एक-दूसरे से उत्पन्न होते हैं।** बौद्ध दार्शनिकों ने इन बारह कारणों को ही 'भवचक्र' माना है और इन्हें 'द्वादश निदान' अथवा 'द्वादश निकाय' भी कहा है। बौद्ध दर्शन में दुःख के इन कारणों के इस विश्लेषण का बहुत महत्त्व है, क्योंकि यही अंततः निर्वाण के लिए मनुष्य का मार्ग प्रशस्त करता है।

तीसरा आर्य सत्य यह है कि संसार में सर्वत्र व्याप्त इस दुःख का निरोध या विनाश संभव है। बुद्ध का यह विश्वास था कि मनुष्य दुःख से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यदि दुःख के उपर्युक्त कारणों को भलीभाँति समझ कर उनका निराकरण कर दिया जाए तो वह स्वतः नष्ट हो जाएगा और मनुष्य सदा के लिए उससे मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर लेगा। वस्तुतः बुद्ध के अनुसार, संसार की अन्य सभी वस्तुओं की भाँति दुःख भी अनित्य है और समुचित उपायों द्वारा इसे नष्ट किया जा सकता है।

अपने चौथे और अंतिम आर्य सत्य में बुद्ध ने दुःख-निरोध के इन्हीं उपायों का विस्तृत वर्णन किया है। दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के इन उपायों को ही 'अष्टांगिक मार्ग' की संज्ञा दी

गई है, क्योंकि इसमें दुःख-निरोध के आठ उपाय बताए गए हैं। इस अष्टांगिक मार्ग के अनुसार दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में निम्नलिखित आठ नियमों का निष्ठापूर्वक अनिवार्यतः पालन करना चाहिए :—(1) सम्यक् ज्ञान अथवा सम्यक् दृष्टि—चार आर्य सत्यों का समुचित ज्ञान। (2) सम्यक् संकल्प—हिंसा, राग-द्वेष, मोह आदि दुर्गुणों तथा सांसारिक विषय-भोगों का परित्याग करने का दृढ़ निश्चय। (3) सम्यक् वचन—अनुचित और मिथ्या वचनों का त्याग करके सत्य के अनुसार आचरण करना। (4) सम्यक् कर्मांत-हिंसा, द्रोह, दुराचार, वासना-तुष्टि आदि से संबंधित दुष्कर्मों का परित्याग करते हुए सदैव शुभ कर्म करना। (5) सम्यक् आजीव—उचित एवं न्यायपूर्ण उपायों द्वारा जीविकोपार्जन करना। (6) सम्यक् व्यायाम—समस्त बुराइयों को नष्ट करने तथा सदैव सद्कर्म करने का सतत प्रयास करना। (7) सम्यक् स्मृति—लोभ, मोह, क्रोध आदि सभी दोषों से मुक्त होकर चित्त की शुद्धि करना। (8) सम्यक् समाधि—राग-द्वेष आदि द्वंदों के विनाश से उत्पन्न चित्त की पूर्ण एकाग्रता प्राप्त करना। इन सभी नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करने से प्रज्ञा का उदय होता है जिसके फलस्वरूप दुःख पूर्णतया नष्ट हो जाता है और मनुष्य इस भवचक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। बौद्ध दर्शन में इस अष्टांगिक मार्ग का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसमें मनुष्य को अतिशय भोगवाद तथा अत्यधिक कठोर संन्यासवाद इन तीनों अतिवादी दृष्टिकोणों का परित्याग करके मुक्ति के लिए संतुलित मध्यम मार्ग का उपदेश दिया गया है। यही कारण है कि इस अष्टांगिक मार्ग को 'मध्यम प्रतिपदा' भी कहा जाता है जो नैतिक आचरण की दृष्टि से निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है। इस मध्यम प्रतिपदा में मनुष्य के सदाचारपूर्ण वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन से संबंधित सभी आवश्यक नैतिक नियम सम्मिलित किए गए हैं। इस प्रकार मानव-जाति के व्यापक कल्याण के लिए यह मध्यम प्रतिपदा अथवा अष्टांगिक मार्ग बौद्ध दर्शन का अत्यधिक सराहनीय योगदान है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन में मुक्त पुरुष के उच्चतम आदर्श का विकास उसके 'महायान' नामक संप्रदाय के अंतर्गत हुआ है जिसमें ऐसे मुक्त पुरुष को 'बोधिसत्त्व' की संज्ञा दी गई है। यह बोधिसत्व संसार में रहते हुए भी बुद्धत्व प्राप्त कर लेने के कारण सांसारिक बंधनों तथा दुःखों से प्रभावित नहीं होता। वह केवल लोक-कल्याण के लिए अनासक्तभाव से कर्म करता है, अतः ये कर्म उसे बंधन में नहीं डालते। प्राणी मात्र के हित के लिए सदैव निष्कामभाव से कर्म करने के कारण बोधिसत्त्व अपने वर्तमान जीवन में ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। वह केवल अपनी मुक्ति के लिए ही नहीं, अपितु समस्त प्राणियों की दुःख-निवृत्ति के लिए निरंतर प्रयास करता है। इतना ही नहीं, वह सभी जीवों को दुःख से मुक्त करने के लिए स्वयं कष्ट सहता है और अपनी मुक्ति की तब तक कामना नहीं करता जब तक इस संसार में एक भी प्राणी दुःखी है। वह अपना संपूर्ण जीवन प्राणी मात्र के कल्याण के लिए समर्पित कर देता है और उसके समस्त कर्म दुःखी जीवों के प्रति अपार करुणा से प्रेरित होते हैं। यही कारण है कि वह कर्म करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता। इस प्रकार बोधिसत्त्व अहंकार, स्वार्थपरायणता तथा समस्त सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति से पूर्णतः मुक्त होकर सदा सभी प्राणियों के हित के लिए ही कर्म करता है,

अतः वह इस संसार में रहते हुए भी मुक्ति अथवा निर्वाण प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः महायान द्वारा प्रस्तुत बोधिसत्त्व का यह आदर्श भगवद्गीता के 'स्थितप्रज्ञ' तथा सांख्य और अद्वैत वेदांत के 'जीवनमुक्त' के समान ही है। ये सभी मुक्त व्यक्ति स्वार्थपरता, आसक्ति एवं अहंकार तथा सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानि, राग-द्वेष आदि समस्त द्वंद्वों से पूर्णतः मुक्त हो जाने और प्राणी मात्र के कल्याण के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देने के कारण अपने जीवन-काल में ही निर्वाण, मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि महायान द्वारा वर्णित बोधिसत्त्व के उपर्युक्त आदर्श को बौद्ध धर्म के एक अन्य संप्रदाय 'हीनयान' द्वारा प्रस्तुत 'अर्हत' के आदर्श की अपेक्षा अधिक महान एवं वांछनीय माना जाता है। अर्हत भी सदैव चार आर्य सत्यों के अनुरूप आचरण करने के कारण आसक्ति, अहंकार तथा समस्त बंधनों एवं दुःखों से मुक्त हो जाता है। किंतु बोधिसत्त्व के विपरीत वह दूसरों की दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति के प्रति उदासीन ही रहता है। हीनयान के अनुयायी यह मानते हैं कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य का अपना प्रयास अनिवार्य है: कोई अन्य व्यक्ति उसकी मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं कर सकता। वे बुद्ध के इस कथन में पूर्णतः विश्वास करते हैं कि "आत्म-दीपो भव"—अर्थात, "अपना दीपक अथवा प्रकाश स्वयं ही बनो"। इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए अर्हत दूसरों की मुक्ति की चिंता किए बिना स्वयं निर्वाण प्राप्त करता है। परंतु अनेक विचारकों का मत है कि हीनयान के अर्हत का यह आदर्श स्वार्थपरता से प्रेरित होने के कारण मनुष्य के सामाजिक जीवन के लिए अनुकरणीय नहीं है। यह व्यक्ति को आत्म-केंद्रित बने रहने के लिए प्रोत्साहित करके उसके आत्म-विस्तार में बाधक सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में अर्हत के इस आदर्श को उस महान सिद्धांत के अनुरूप नहीं माना जा सकता जिसमें यह कहा गया है कि "वसुधैव कुटुंबकं" —अर्थात, "यह संपूर्ण पृथ्वी एक ही परिवार है"। इस दृष्टि से बोधिसत्त्व का आदर्श अर्हत के आदर्श की अपेक्षा निश्चय ही अधिक वांछनीय है। यही कारण है कि अधिकतर विद्वान व्यापक सामाजिक कल्याण को ध्यान में रखते हुए महायान के बोधिसत्त्व संबंधी आदर्श को ही मानव-जाति के लिए अनुकरणीय मानते हैं।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि बौद्ध दर्शन द्वारा प्रस्तुत निर्वाण अथवा मुक्ति का उपर्युक्त सिद्धांत मानव-जीवन के लिए कहाँ तक उपादेय तथा संतोषप्रद है। इस संबंध में संभवतः यह कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध दर्शन का यह सिद्धांत—विशेषतः महायान का बोधिसत्त्व संबंधी आदर्श—अन्य भारतीय दर्शनों द्वारा प्रस्तुत मोक्ष विषयक सिद्धांतों की अपेक्षा मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए अधिक व्यावहारिक और वांछनीय है। परंतु अनेक विद्वानों ने इस सिद्धांत की भी कुछ कठिनाइयाँ बताई हैं जिनकी यहाँ संक्षिप्त विवेचना करना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार दुःख का मूल कारण अविद्या है: किंतु, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उन्होंने अविद्या के स्वरूप तथा उद्गम की कोई स्पष्ट और निश्चित व्याख्या नहीं की। अविद्या के स्वरूप के विषय में वे इतना ही कहते हैं कि चार आर्य सत्यों को न जानना तथा आत्मा के संबंध में मिथ्या ज्ञान ही अविद्या है। यदि अविद्या की इस परिभाषा को स्वीकार

कर लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति अविद्या द्वारा ग्रस्त हैं और वे केवल बौद्ध मत का समर्थन करके ही इस अविद्या से मुक्त हो सकते हैं। परंतु इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। फिर यहाँ बौद्ध दार्शनिकों से यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि अविद्या का मूल कारण या उद्गम स्रोत क्या है—अर्थात् वह मनुष्य में कैसे और क्यों प्रवेश करती है। अपने प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत द्वारा बौद्ध दार्शनिकों ने स्वयं यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि इस विश्व में अकस्मात या अकारण कुछ भी नहीं होता। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक वस्तु, घटना अथवा कार्य का कोई कारण होना अनिवार्य है। स्पष्ट है कि अविद्या भी इस अपरिहार्य विश्वव्यापी नियम का अपवाद नहीं हो सकती, अतः उसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। परंतु शंकर की भाँति बौद्ध दार्शनिक भी इस समस्या का समुचित समाधान नहीं कर पाते।

उपर्युक्त समस्या के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के निर्वाण संबंधी सिद्धांत की दूसरी प्रमुख समस्या यह है कि इसमें सर्वत्र दुःख की व्यापकता के विषय में जो मत प्रस्तुत किया गया है वह असंतुलित और एकांगी प्रतीत होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार दुःख इस विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। परंतु वास्तविक स्थिति यह है कि इस संसार में दुःख के साथ-साथ सुख अथवा आनंद भी है जिसकी ये दार्शनिक उपेक्षा करते हैं। यह सत्य है कि सभी प्राणियों को अपने जीवन में अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं जिनका वर्णन बौद्ध दर्शन में किया गया है, किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा करना भी उचित नहीं होगा कि प्रत्येक प्राणी दुःख के साथ-साथ कम अथवा अधिक मात्रा में सुख या आनंद का भी अनुभव करता है। अपने जीवन के प्रति प्रत्येक प्राणी में जो गहरी आसक्ति पाई जाती है उसका मूल कारण यह सुख अथवा आनंद ही है। यही आनंद उसे अपने जीवन को सुरक्षित रखने और उसकी अवधि में वृद्धि करने के लिए प्रेरित करता है। यदि प्राणियों के जीवन में केवल दुःख ही होता तो वे उसे नष्ट करने में कभी संकोच न करते। भविष्य में सुख की संभावना पूर्णतः नष्ट हो जाने पर असह्य दुःख से पीड़ित व्यक्तियों द्वारा आत्म-हत्या कर लेना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि प्राणी मात्र के जीवन में सुख की सत्ता भी उतनी ही यथार्थ है जितनी दुःख की। ऐसी स्थिति में सुख की उपेक्षा करते हुए केवल दुःख को ही सर्वव्यापी मानना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के इस मत को भी स्वीकार करना बहुत कठिन है कि निर्वाण अथवा 'दुःख से पूर्ण मुक्ति' संभव है। वस्तुतः कोई भी प्राणी अपने जीवन-काल में दुःख से पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि शरीर के अंगों की अपूर्णता तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक विपत्तियों के फलस्वरूप वह कभी न कभी अवश्य रोग-ग्रस्त होता है और पीड़ा का अनुभव करता है। वस्तुतः कुछ उपायों द्वारा प्राणियों के दुःख को कम तो किया जा सकता है, किंतु उसे पूर्णतः समाप्त करना संभव नहीं है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन द्वारा प्रस्तुत निर्वाण अथवा दुःख से पूर्ण मुक्ति की अवधारणा काल्पनिक ही प्रतीत होती है। हाँ, मृत्यु के पश्चात प्राणी को दुःख से पूर्ण मुक्ति अवश्य प्राप्त हो सकती है। परंतु बौद्ध दार्शनिक तो मनुष्य के जीवन-काल में ही दुःख से पूर्ण मुक्ति

के आदर्श को स्वीकार करते हैं जो संभव नहीं है।

बौद्ध दर्शन द्वारा प्रस्तुत निर्वाण संबंधी उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य आपत्ति यह भी उठाई गई है कि इस दर्शन द्वारा मान्य क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद के साथ इस सिद्धांत की संगति स्थापित करना संभव नहीं है। हम ग्यारहवें अध्याय में सविस्तार यह बता चुके हैं कि बौद्ध दार्शनिक संपूर्ण विश्व को केवल सतत प्रवाह मानते हुए किसी नित्य अथवा शाश्वत द्रव्य की सत्ता में विश्वास नहीं करते। इसी आधार पर उन्होंने नित्य एवं अजर-अमर आत्मा की सत्ता को पूर्णतः अस्वीकार किया है। परंतु यहाँ प्रश्न यह है कि यदि विश्व में कुछ भी स्थायीनहीं है तो निर्वाण के लिए प्रयास कौन करता है और यह निर्वाण किसे प्राप्त होता है। यह प्रश्न बौद्ध दर्शन के लिए निश्चय ही एक जटिल समस्या है जिसका तर्कसंगत एवं संतोषप्रद समाधान बहुत कठिन है। वस्तुतः यदि विश्व में सब कुछ प्रति क्षण निरंतर परिवर्तित होता रहता है, जैसा कि बौद्ध दार्शनिक मानते हैं तो व्यक्ति द्वारा निर्वाण-प्राप्ति के लिए साधना की बात करना निरर्थक हो जाता है। ऐसे सतत प्रवाहमय विश्व में न तो कोई निर्वाण-प्राप्ति के लिए साधना कर सकता है और न ही किसी को निर्वाण प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन द्वारा स्वीकृत क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद ये दोनों ही निर्वाण और उसकी प्राप्ति के लिए साधना का निषेध करते हैं।

उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए कुछ विद्वानों ने कहा है कि बौद्ध दर्शन द्वारा शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता का निषेध वास्तव में व्यक्ति के अहंकार का निषेध है जिसके कारण वह स्वार्थी होकर अपने आपको दूसरों से पृथक समझने लगता है और उनके सुख-दुःख के प्रति उदासीन हो जाता है। स्थायी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करने के फलस्वरूप उसका यह अहंकार नष्ट हो सकता है और वह अपने आपको संपूर्ण मानव-समाज का एक अभिन्न अंग मान सकता है। परंतु शाश्वत आत्मा की सत्ता के निषेध की इस व्याख्या को स्वीकार कर लेने पर भी क्षणिकवाद के कारण निर्वाण तथा उसे प्राप्त करने के लिए साधना की संभावना के संबंध में वह कठिनाई पूर्ववत ही बनी रहती है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन का निर्वाण विषयक सिद्धांत उसके क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद के अनुरूप प्रतीत नहीं होता। परंतु इस सिद्धांत में उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के होते हुए भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए यह सिद्धांत अन्य भारतीय दर्शनों द्वारा प्रस्तुत मोक्ष संबंधी सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक, उपादेय तथा वांछनीय प्रतीत होता है।

2. मोक्ष के साधन

मोक्ष के स्वरूप के विषय में प्रमुख भारतीय दर्शनों के सिद्धांतों की विवेचना करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि इन दर्शनों के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के साधन क्या हैं—अर्थात, मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए। इस प्रश्न का भारतीय दर्शन में विशेष महत्व है, क्योंकि, जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में समस्त सांसारिक बंधनों एवं दुःखों से पूर्ण मुक्ति अथवा मोक्ष को ही मानव-जीवन का परम

ध्येय मानते हैं। उपर्युक्त प्रश्न के इसी महत्त्व के कारण इन सभी भारतीय दर्शनों ने अपनी-अपनी दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप मोक्ष-प्राप्ति के साधनों अथवा उपायों का विस्तृत विवेचन किया है। मोक्ष के स्वरूप की भाँति उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में भी इन दर्शनों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ दर्शन आत्म-ज्ञान अथवा तत्त्व-ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख साधन मानते हैं, जबकि कुछ अन्य दर्शनों के अनुसार निष्काम कर्म द्वारा भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इन दो साधनों के अतिरिक्त कुछ दर्शन भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति के मुख्य साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए भारतीय दर्शन में मुख्यतः इन तीन साधनों का विवेचन किया गया है जिन्हें क्रमशः 'ज्ञान-मार्ग', 'कर्म-मार्ग' तथा 'भक्ति-मार्ग' अथवा 'ज्ञान-योग', 'कर्म-योग' और 'भक्ति—योग' कहा जाता है।

भगवद्गीता में मोक्ष-प्राप्ति के लिए उपर्युक्त तीनों साधनों को आवश्यक मानते हुए इन सब की विस्तृत विवेचना की गई है और इन्हें परस्पर पूरक माना गया है। इस दृष्टि से मोक्ष के साधनों के विषय में गीता के दृष्टिकोण को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और संतुलित माना जा सकता है। परंतु इस संबंध में यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने स्वभाव के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के इन साधनों का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति विचारप्रधान हैं और जिनमें बौद्धिक एवं तार्किक क्षमता है वे ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते हैं, जबकि संकल्पप्रधान और कर्मनिष्ठ व्यक्तियों को मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्म-मार्ग ही उपयुक्त प्रतीत होता है। परंतु साधारण तथा भावुक व्यक्ति भक्ति-मार्ग द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव तथा अपनी क्षमता के अनुसार ही उपर्युक्त तीनों मार्गों में से किसी एक मार्ग को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग ये तीनों ही महत्वपूर्ण हैं। अब संक्षेप में मोक्ष-प्राप्ति के इन तीनों मार्गों का क्रमशः विवेचन किया जाएगा।

(1) ज्ञानमार्ग

पिछले खंड में हम देख चुके हैं कि लगभग सभी भारतीय दर्शन अविद्या, अज्ञान अथवा अविवेक को ही समस्त बंधनों तथा दुःखों का मूल कारण मानते हैं जिसका नष्ट होना मोक्ष या मुक्ति के लिए अनिवार्य है। यह अविद्या केवल आत्म-ज्ञान अथवा तत्त्व-ज्ञान द्वारा ही नष्ट हो सकती है।, अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए भारतीय दर्शन में ज्ञान-मार्ग अथवा ज्ञान-योग का विशेष महत्त्व है। अनेक भारतीय दर्शनों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग को ही प्रमुख साधन माना है। इन दर्शनों में सांख्य, योग, अद्वैत वेदांत, न्याय, तथा वैशेषिक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी दर्शन किसी न किसी रूप में आत्म-ज्ञान या तत्त्व-ज्ञान को ही मोक्ष का मुख्य साधन अथवा मार्ग मानते हैं। हम पिछले खंड में बता चुके हैं कि सांख्य के अनुसार अपने वास्तविक रूप में पुरुष त्रिगुणातीत तथा विशुद्ध चैतन्य तत्त्व हैं, किंतु अविवेक के कारण जब वह प्रकृति एवं उसके गुणों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और इस प्रकार अपने आपको कर्त्ता, भोक्ता, द्रष्टा आदि मानने लगता है तो वह सांसारिक बंधनों में आबद्ध हो जाता है जिनसे समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। ऐसी

स्थिति में मोक्ष के लिए अविवेक का विनाश अनिवार्य है जो केवल ज्ञान द्वारा ही संभव है। सांख्य दर्शन में 'ज्ञान' का अर्थ है 'आत्म-अनात्म-विवेक'—अर्थात, आत्मा अथवा पुरुष को अनात्मा या प्रकृति से पूर्णतः पृथक समझना। इसी ज्ञान को सांख्याचार्यों ने 'विवेक-ख्याति' की संज्ञा दी है जो उनके विचार में मोक्ष का प्रमुख साधन है। इस विवेक-ख्याति के फलस्वरूप जब पुरुष अपने आपको प्रकृति तथा उसके समस्त गुणों से पूर्णतः भिन्न मानकर अपने वास्तविक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को पहचान लेता है तो वह मुक्त हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सांख्य में किसी प्रकार के कर्मों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, क्योंकि उसके अनुसार कर्म मनुष्य को बंधन में डालते हैं। परंतु योग दर्शन मनुष्य के आचरण की शुद्धि के लिए यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि उपायों को ज्ञान-प्राप्ति के साधनों के रूप में अवश्य स्वीकार करता है। ये सभी उपाय चित्त की एकाग्रता में सहायक होकर मनुष्य को तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाते हैं। इस दृष्टि से इन उपायों का बहुत महत्त्व है। परंतु इन उपायों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी सांख्य की भाँति योग दर्शन भी मोक्ष के लिए ज्ञान-मार्ग को ही मुख्य साधन मानता है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन के विषय में अद्वैत वेदांत भी सांख्य-योग से मूलतः सहमत है। इस दर्शन के प्रणेता शंकर भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान-मार्ग को ही प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि उनके मतानुसार जीव स्वभावतः विशुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा मुक्त है, किंतु अविद्या के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर सांसारिक बंधनों में आबद्ध हो जाता है और फलतः अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। इसी अविद्या के कारण वह सांसारिक भोगों में आसक्त होकर अपने आपको ब्रह्म से पृथक समझता है और स्वार्थ, घृणा, द्वेष आदि निम्नकोटि की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर निरंतर कर्म करते हुए संसार-चक्र में भटकता रहता है। इस प्रकार अविद्या अथवा अज्ञान ही जीव के समस्त बंधनों एवं दुःखों का मूल कारण है, अतः मुक्ति प्राप्त करने के लिए इस अविद्या का आमूल विनाश अनिवार्य है जो तत्त्व-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान द्वारा ही संभव है। ब्रह्म-ज्ञान के फलस्वरूप जब जीव यह जान लेता है कि वह स्वयं वास्तव में ब्रह्म ही है तो वह मुक्त हो जाता है। 'ब्रह्म-ज्ञान' का अर्थ है जीव द्वारा ब्रह्म के साथ पूर्ण तादात्म्य का अपरोक्ष या साक्षात् अनुभव करना। यही जीव की मुक्ति का मुख्य मार्ग है। शंकर का मत है कि इस ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि अनिवार्य है, अतः उन्होंने मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में वैराग्य, स्वार्थ-त्याग, मानसिक संयम, इंद्रिय-निग्रह, परोपकार आदि सद्गुणों को विशेष महत्त्व दिया है और इन्हें मुक्ति के प्रथम सोपान के रूप में आवश्यक माना है। इनके अतिरिक्त वे योग दर्शन द्वारा प्रतिपादित यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि साधनों को भी शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि के लिए बहुत आवश्यक मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि इन साधनों द्वारा मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकता है।

योग दर्शन के उपर्युक्त उपायों के साथ-साथ तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए शंकर ने विशेष रूप से चार साधनों का उल्लेख किया है जिन्हें 'साधन-चतुष्टय' कहा जाता है। ज्ञान के ये चार साधन निम्नलिखित हैं:— (1) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक—अर्थात, नित्य आत्मा तथा अनित्य सांसारिक वस्तुओं में भेद समझना। (2) इहामुत्रार्थ-फल-भोग-विराग—अर्थात,

लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना। (3) शम-दमादि षट् संपत्ति—ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, और तितिक्षा इन छह साधनों का प्रयोग करना चाहिए। 'शम' का अर्थ है मानसिक संयम और 'दम' का अर्थ है इंद्रिय-निग्रह। वेदों तथा गुरू के प्रति अटूट निष्ठा रखना ही 'श्रद्धा' है। 'समाधान' का अर्थ है चित्त को ज्ञान के साधनों में लगाना। मनोवृत्तियों का बहिर्मुखी न होना तथा दुष्कर्मों से सदा दूर रहना ही 'उपरति' है। 'तितिक्षा' का अर्थ है सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास करना। (4) मुमुक्षत्व—अर्थात, मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा। शंकर का विचार है कि ये सभी साधन ज्ञान की प्राप्ति में साधक के लिए बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। इन साधनों द्वारा साधक उस तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होता है जो उसकी मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त समस्त साधनों के अतिरिक्त शंकर के मतानुसार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीन विधियाँ भी बहुत सहायक सिद्ध होती हैं। 'श्रवण' का अर्थ है गुरू के ब्रह्म विषयक उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुनना और 'मनन' का अर्थ है इन उपदेशों पर गंभीरतापूर्वक विचार करना। अपने जीवन में इन उपदेशों के अनुरूप आचरण करना ही 'निदिध्यासन' कहलाता है। इन तीनों विधियों का पालन करके शिष्य ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के पश्चात वह यह अनुभव करने लगता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ"—अर्थात, ब्रह्म के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जीव की इसी स्थिति को 'मुक्ति' अथवा 'मोक्ष' की संज्ञा दी गई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शंकर के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेने के उपरांत जीव को किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत वह केवल अपने वास्तविक स्वरूप—ब्रह्म के साथ पूर्ण तादात्म्य—को पुनः प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शंकर का यह निश्चित मत है कि मनुष्य मुख्यतः ज्ञान-मार्ग द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन के विषय में न्याय और वैशेषिक भी शंकर के उपर्युक्त मत को स्वीकार करते हैं। जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, ये दोनों दर्शन भी अज्ञान को ही आत्मा के बंधन का मूल कारण मानते हैं। इन दर्शनों के अनुसार आत्मा स्वभावतः समस्त अनुभवों तथा चैतन्य से रहित है, किंतु अज्ञान के कारण वह अपने आपको शरीर, इंद्रियों और मन से संबद्ध कर लेती है; यही उसके बंधन का मूल कारण है। जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो वह समस्त सांसारिक बंधनों एवं दुःखों से मुक्त हो जाती है। मोक्ष के लिए आत्मा के इस मिथ्या ज्ञान का आमूल विनाश अनिवार्य है कि वह शरीर, इंद्रियों तथा मन से अभिन्न है। यह मिथ्या ज्ञान केवल तत्त्व-ज्ञान द्वारा ही नष्ट हो सकता है जिसका अर्थ है आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाना। इस तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए न्याय-वैशेषिक भी योग दर्शन द्वारा प्रतिपादित यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि उन साधनों का समर्थन करते हैं जिन्हें अन्य अधिकतर भारतीय दर्शनों ने ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। इन साधनों के अतिरिक्त अद्वैत वेदांत की भाँति न्याय-वैशेषिक भी तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रवण,

मनन तथा निदिध्यासन को आवश्यक मानते हैं। उन्होंने ज्ञान के साधन के रूप में नित्य और नैमित्तिक कर्मों तथा निष्कामभाव से किए जाने वाले अन्य कर्मों के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। परंतु वे इन कर्मों को तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होने के कारण ही महत्त्व देते हैं, मुक्ति के मार्ग के रूप में नहीं। उनके अनुसार मोक्ष प्राप्त करने का प्रमुख साधन तत्त्व-ज्ञान ही है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि सांख्य, अद्वैत वेदांत तथा न्याय-वैशेषिक ये सभी दर्शन आत्म-ज्ञान अथवा तत्त्व-ज्ञान को ही मोक्ष का मुख्य साधन मानते हैं, फिर भी इस ज्ञान के स्वरूप के विषय में वे परस्पर सहमत नहीं हैं। इन दर्शनों ने आत्मा के स्वरूप के संबंध में अपने-अपने विभिन्न सिद्धांतों के अनुसार आत्म-ज्ञान की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। उदाहरणार्थ, न्याय-वैशैषिक के विचार में आत्म-ज्ञान या तत्त्व-ज्ञान का अर्थ है आत्मा को शरीर, इंद्रियों तथा मन से भिन्न समझना और समस्त अनुभवों एवं चैतन्य से रहित उसके वास्तविक स्वरूप को जान लेना। परंतु सांख्य के मतानुसार आत्मा या पुरुष का अपने आपको प्रकृति तथा उसके समस्त गुणों से पृथक विशुद्ध चैतन्य तत्त्व के रूप में जान लेना ही तत्त्व-ज्ञान अथवा विवेक है। आत्म-ज्ञान के स्वरूप के विषय में अद्वैत वेदांत का मत इन तीनों दर्शनों के मत से पूर्णतः भिन्न है। वह आत्मा तथा ब्रह्म की अभिन्नता में विश्वास करता है, अतः उसके विचार में इन दोनों के पूर्ण तादात्म्य को जान लेना ही आत्म-ज्ञान है। जब साधक को यह अपरोक्षानुभूति होती है कि वह स्वयं ही ब्रह्म है—अर्थात, उसमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है तभी यह कहा जा सकता है कि उसने आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य के अनुसार, शरीर, मन, बुद्धि आदि से आत्मा के पूर्ण पार्थक्य को जान लेना ही 'आत्म-ज्ञान' है, किंतु अद्वैत वेदांत आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य की अपरोक्षानुभूति को 'आत्म-ज्ञान' या 'ब्रह्मज्ञान' की संज्ञा देता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि तत्त्व-ज्ञान या आत्म-ज्ञान को ही मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हुए भी ये सभी दर्शन इस ज्ञान के स्वरूप की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करते हैं।

(2) कर्म-मार्ग

ज्ञान-मार्ग के अतिरिक्त कर्म-मार्ग अथवा कर्म-योग को भी मुक्ति का साधन माना गया है। जो व्यक्ति संकल्पप्रधान तथा अधिक कर्मशील हैं वे मोक्ष के लिए प्रायः इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं। यह सत्य है कि अधिकतर भारतीय दर्शनों ने कर्मों को बंधन का कारण माना है, किंतु सभी कर्मों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्वयं अपने लाभ या हित से प्रेरित होकर किए जाने वाले आसक्तिपूर्ण काम्य कर्म अवश्य ही मनुष्य को बंधन में डालते हैं, क्योंकि ये राग, द्वेष, मोह आदि उसकी स्वार्थपूर्ण निकृष्ट प्रवृत्तियों की तुष्टि करते हैं। परंतु फलासक्ति रहित निष्काम कर्म मनुष्य के बंधन का कारण नहीं बनते। ये कर्म स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं, अपितु केवल लोक-कल्याण के लिए ही किए जाते हैं, अतः इनके कारण मनुष्य बंधन में आबद्ध नहीं होता। इसके विपरीत ये निष्काम कर्म मनुष्य को अहंकार एवं स्वार्थ की भावना से ऊपर उठाकर उसे मोक्ष के पथ पर अग्रसर करते हैं। यही कारण है कि फलाकांक्षा रहित ऐसे निष्काम कर्मों को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

गीता में ज्ञान तथा भक्ति के साथ-साथ निष्काम कर्म को भी मोक्ष का मार्ग माना गया है। भगवान कृष्ण का कथन है कि जो मनुष्य फलासक्ति का परित्याग करके केवल लोक-संग्रह के लिए स्वधर्म के अनुरूप निष्कामभाव से समस्त कर्म करता है उसे मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा मुक्त पुरुष सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, राग-द्वेष आदि समस्त द्वंद्वों से ऊपर उठकर अपने लिए फल की कामना किए विना केवल स्वधर्म अथवा अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही कर्म करता है। वह इस संसार में रहते हुए भी इसके बंधनों तथा दुःखों से मुक्त हो जाता है। स्वार्थ और अहंकार से मुक्त होकर वह अपना संपूर्ण जीवन लोक-कल्याण के लिए समर्पित कर देता है। ऐसे मुक्त पुरुष को ही गीता में 'कर्म-योगी' तथा 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है. और ऐसी मुक्तावस्था को प्राप्त करना मानव-जीवन का उच्चतम आदर्श अथवा परम लक्ष्य माना गया है। 'स्थितप्रज्ञ' के अर्थ और उसके प्रमुख लक्षणों की विस्तृत विवेचना हम इस अध्याय के अंतिम खंड में करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि गीता में मनुष्य की मुक्ति के लिए कर्म-मार्ग को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग को। गीता के अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, अद्वैत वेदांत आदि दर्शनों में भी निष्काम कर्म को मोक्ष-प्राप्ति में सहायक माना गया है। इस कर्म-मार्ग अथवा कर्म-योग की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह मनुष्य के वर्तमान जीवन में ही उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, अतः इस दृष्टि से आधुनिक युग के बुद्धिवादी कर्मशील मनुष्य के लिए इसका विशेष महत्त्व है।

(3) भक्ति-मार्ग

वैष्णव दर्शन में ज्ञान-मार्ग तथा कर्म-मार्ग के स्थान पर भक्ति-मार्ग अथवा भक्ति-योग को ही मोक्ष का प्रमुख साधन माना गया है। रामानुज, मध्व, निंबार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार, मनुष्य ईश्वर-भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इन सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धांतों के अनुरूप भक्ति के स्वरूप तथा उसके विभिन्न पक्षों का विस्तृत विवेचन किया है। यद्यपि भक्ति के स्वरूप के विषय में इन दार्शनिकों में मतभेद है, फिर भी वे यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर के प्रति पूर्ण प्रेममय आत्म-समर्पण ही भक्ति है। सच्चा भक्त वह है जो बिना किसी कामना के अपना संपूर्ण जीवन ईश्वर को समर्पित कर देता है और इसी आत्मसमर्पण में अपार आनंद का अनुभव करता है। वह निरंतर ईश्वर की आराधना करते हुए अपने समस्त कर्म उसके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से ही करता है और ईश्वर-कृपा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रखता। ईश्वर अथवा किसी अन्य आराध्य विषय के प्रति भक्त के पूर्ण आत्म-समर्पण की इसी भावना तथा पूजा या उपासना को ही 'भक्ति' की संज्ञा दी जाती है।

बहुत प्राचीन काल से हिंदू धर्म और संस्कृति में भक्ति का विशेष महत्त्व रहा है। वेदों में ऋषियों द्वारा इंद्र, अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देवताओं की जो स्तुति की गई है उसे भक्ति का ही प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। उपनिषदों में एक ही ईश्वर की उपासना के रूप में इसी भक्ति का विकास हुआ है। वेदों तथा उपनिषदों के अतिरिक्त 'रामायण' एवं 'महाभारत' नामक महा काव्यों और 'विष्णु-पुराण', 'भागवत्-पुराण' आदि अनेक पुराणों में भक्ति के विभिन्न रूपों की विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है। गीता में मोक्ष के लिए

ज्ञान-योग तथा कर्म-योग के अतिरिक्त भक्ति-योग को भी बहुत महत्त्व दिया गया है और भक्तों की अनेक श्रेणियों एवं भक्ति के विभिन्न रूपों का सविस्तार विवेचन किया गया है। परंतु भक्ति का चरम विकास वैष्णव दर्शन में ही हुआ है जो भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग मानता है।

भक्ति के स्वरूप के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इसमें भक्त तथा आराध्य के द्वैत का होना अनिवार्य है। भक्त अपने आराध्य की पूजा या उपासना करता है और सदा उसके अनुग्रह की कामना करता है, अतः भक्त और आराध्य इन दोनों में से किसी एक के अभाव में भक्ति संभव नहीं है। भक्त एवं आराध्य में इस द्वैत के अतिरिक्त भक्ति के लिए आराध्य का सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसंपन्न होना भी अनिवार्य है। भक्त ऐसे ही आराध्य की उपासना कर सकता है जो उसकी प्रार्थना सुनता है और संकट-काल में उसकी सहायता करता है। इसी कारण भक्त सगुण, साकार और व्यक्तित्वसंपन्न ईश्वर की सत्ता में ही विश्वास करता है। व्यक्तित्वरहित, निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म की पूजा करना उसके लिए संभव नहीं है, क्योंकि वह उपासना का विषय नहीं हो सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शंकर ने भी व्यावहारिक सत्ता के रूप में सगुण एवं साकार ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उसे ही पूजा या आराधना का विषय माना है। भक्ति के लिए उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के साथ-साथ भक्त के मन में अपने आराध्य के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना का होना भी आवश्यक है। इसी भावना से प्रेरित होकर वह अपने आराध्य को सर्वगुणसंपन्न तथा अत्यधिक महान और उसकी तुलना में अपने आपको अत्यंत तुच्छ मानता है। वह अपने आराध्य को स्वामी तथा संरक्षक मानकर अपने आपको उसकी शरण में डाल देता है और सदा उसकी कृपा पर ही निर्भर रहता है। आराध्य के प्रति भक्त की पूर्ण शरणागति की इसी अवस्था को 'प्रपत्ति' की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः यही भक्ति का गहनतम रूप है। ऐसी भक्ति के लिए भक्त में अपने आराध्य के प्रति अगाध श्रद्धा एवं आस्था का होना आवश्यक है। परंतु उसमें ऐसी श्रद्धा की उत्पत्ति तभी संभव है जब उसका अहंकार पूर्णतः नष्ट हो जाए और वह अपने आराध्य के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा आत्म-समर्पण की भावना का अनुभव करें।

भक्ति के कुछ अनिवार्य आधारभूत तत्त्वों की विवेचना करने के पश्चात अब संक्षेप में उसके वर्गीकरण पर विचार करना आवश्यक है। भक्त के प्रयोजन की दृष्टि से भक्ति मुख्यतः दो प्रकार की मानी जाती है—हैतुकी या गौणी तथा अहैतुकी अथवा मुख्या। हैतुकी भक्ति वह है जिसमें भक्त अपने आराध्य से स्वयं अपने लिए सुख, समृद्धि, यश, धन, संपत्ति आदि की याचना करता है। ऐसी भक्ति निष्काम न होकर मूलतः भक्त की स्वार्थ-सिद्धि द्वारा ही प्रेरित होती है, अतः इसे निम्नकोटि की भक्ति माना जाता है और इसे 'गौणी' की संज्ञा दी जाती है। अनेक व्यक्ति सांसारिक सुख-समृद्धि प्राप्त करने के लिए इसी प्रकार की भक्ति करते हैं। परंतु स्वार्थ द्वारा प्रेरित होने के कारण ऐसी भक्ति को गीता में निकृष्ट माना गया है और जो व्यक्ति यह भक्ति करते हैं उन्हें 'वास्तविक भक्त' के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। ये व्यक्ति भक्ति को स्वतः साध्य न मानकर उसे स्वार्थ-सिद्धि का साधन मात्र मान लेते हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्वार्थपूर्ण भक्ति मनुष्य के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त नहीं कर

सकती। वस्तुत सांसारिक विषय भोगों के प्रति आसक्ति से प्रेरित होने के कारण इस प्रकार की भक्ति मनुष्य को बंधन में ही डालती है। इसी कारण गीता में ऐसी निम्नकोटि की भक्ति को त्याज्य माना गया है।

उपर्युक्त हैतुकी भक्ति के विपरीत अहैतुकी भक्ति वह है जिसमें भक्त ईश्वर के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा से प्रेरित होकर निष्कामभाव से उसकी आराधना करता है और उसके प्रति सर्वस्व समर्पित कर देता है। वह आत्म-समर्पण तथा आराधना के प्रतिदान के रूप में ईश्वर से किसी वस्तु की याचना नहीं करता। वह अपनी भक्ति को किसी प्रकार के लाभ या स्वार्थ का साधन नहीं मानता। वह अपने आराध्य के प्रति अगाध श्रद्धा तथा पूर्ण समर्पण की भावना से प्रेरित होकर निस्स्वार्थभाव से सदा उसकी पूजा या उपासना करता है। इस प्रकार की निष्काम भक्ति को ही गीता में उच्चकोटि की तथा सच्ची भक्ति माना गया है और इसे 'अनन्या भक्ति' की संज्ञा दी गई है। इसी भक्ति को 'मुख्या' अथवा 'परा भक्ति' भी कहा जाता है। जो व्यक्ति अपने आराध्य की ऐसी निस्स्वार्थ उपासना करते हैं उन्हें ही गीता में उच्च श्रेणी के सच्चे भक्तों के रूप में स्वीकार किया गया है। यह निष्काम भक्ति ही मनुष्य की मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती है, अतः गीता में इसे विशेष महत्त्व दिया गया है। भगवान कृष्ण का कथन है कि मनुष्य ऐसी निस्स्वार्थ भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की निरंतर वंदना तथा अर्चना करना, सदैव उसके गुणों का स्मरण, कीर्तन एवं श्रवण करना, उसे ही अपना स्वामी मानकर सेवाभाव से अपने समस्त कर्मों को उसे समर्पित कर देना आदि इस भक्ति के मुख्य रूप हैं। इन सब रूपों का प्रयोग करते हुए भक्त सदा अपने आराध्य ईश्वर के सानिध्य में रहता है। इस प्रकार गीता के अनुसार मनुष्य इस निष्काम तथा अहैतुकी भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वैष्णव दर्शन में भक्ति का अधिकतम विकास हुआ है। रामानुज, मध्व, वल्लभ, निवार्क, चैतन्य आदि सभी वैष्णवाचार्य भक्ति को ही मोक्ष का प्रमुख साधन मानते हैं। इन दार्शनिकों का मत है कि मोक्ष के लिए ईश्वर-कृपा अनिवार्य है जिसे मनुष्य केवल भक्ति द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। आत्म-ज्ञान तथा निष्काम कर्म के माध्यम से वह केवल अपने प्रयास द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। भक्त की चित्त-शुद्धि के लिए ज्ञान और कर्म तो उसके मन में भक्ति के उदय तथा विकास के साधन मात्र हैं। ईश्वर की सतत आराधना करते हुए उसकी शरण में जाने पर ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो सकती है। रामानुज का कथन है कि निष्काम भक्ति अथवा प्रपत्ति द्वारा प्रसन्न होकर ईश्वर जीव के समस्त क्लेशों एवं बंधनों का नाश कर देता है और इस प्रकार ईश्वर-कृपा के फलस्वरूप जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अन्य वैष्णव दार्शनिक भी मूलतः इसी मत को स्वीकार करते हैं।

परंतु भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हुए भी सभी वैष्णव दार्शनिक उसके स्वरूप के विषय में परस्पर सहमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ, रामानुज तथा मध्व के अनुसार भक्ति के लिए दास्यभाव अनिवार्य है—अर्थात, भक्त अपने आपको ईश्वर का दास मानकर ही उसकी भक्ति करता है। ये दोनों दार्शनिक ईश्वर के ऐश्वर्य को विशेष महत्त्व देते हैं और भक्त एवं ईश्वर में सेवक तथा स्वामी का संबंध ही स्वीकार करते हैं। इसके

विपरीत चैतन्य, वल्लभ तथा निंबार्क भक्ति के लिए माधुर्यभाव, वात्सल्यभाव अथवा सख्यभाव को अनिवार्य मानते हैं। इन दार्शनिकों का विचार है कि भक्त ईश्वर को प्रियतम, बालक अथवा सखा के रूप में ही देखता है, अतः उसमें और ईश्वर में प्रेम तथा मैत्री का संबंध होता है। वे भक्त तथा ईश्वर में सेवक और स्वामी के संबंध को स्वीकार नहीं करते। परंतु भक्ति के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए इन दार्शनिकों के इस मत का समर्थन करना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि भक्त द्वारा ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण भक्ति के लिए अनिवार्य माना जाता है जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भक्त और ईश्वर में केवल सेवक-सेव्य-संबंध ही हो सकता है। सेवक ही अपने स्वामी के प्रति पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करता है। प्रेमी, मित्र अथवा सखा की ओर से इस प्रकार का एकपक्षीय आत्म-समर्पण संभव नहीं है। दो प्रेमियों अथवा मित्रों में समानता के स्तर पर पारस्परिक सौहार्द्र होता है; उनमें से किसी एक के द्वारा दूसरे के प्रति एकपक्षीय आत्म-समर्पण की आशा नहीं की जाती। इस प्रकार भक्ति के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए भक्त और ईश्वर के संबंध के विषय में रामानुज तथा मध्व का मत ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। जब भक्त आराध्य ईश्वर को अपना स्वामी मानकर उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण करता है तभी उसकी इस मानसिक अवस्था को 'भक्ति' की संज्ञा दी जाती है जो उसके मोक्ष में सहायक होती है।

वैष्णव दार्शनिकों का मत है कि मोक्ष-प्राप्ति का उपर्युक्त भक्ति-मार्ग अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा सुगम है। अत्यधिक प्रतिभासंपन्न तथा बुद्धिमान व्यक्ति ही मोक्ष के लिए ज्ञान-मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं जिनकी संख्या बहुत कम होती है। इसी प्रकार कर्म-मार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य में विशेष संकल्प-शक्ति तथा क्रियाशीलता का होना अनिवार्य है। ये गुण भी सभी व्यक्तियों में नहीं पाए जाते। परंतु भक्ति-मार्ग एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा साधारण व्यक्ति भी सुगमतापूर्वक मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस मार्ग के समर्थकों का कथन है कि इसका अनुसरण करने के लिए न विशेष बौद्धिक प्रतिभा की आवश्यकता है और न अत्यधिक क्रियाशीलता अथवा संकल्प-शक्ति की। यह मार्ग शिक्षित और अशिक्षित सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से खुला है। सच्चे हृदय से ईश्वर की निष्काम उपासना करने वाला प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के लिए इस भक्ति-मार्ग का अनुसरण कर सकता है। इसके लिए जाति, आयु, लिंग, वर्ग, धर्म आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है। वैष्णव दार्शनिकों के मतानुसार, उपर्युक्त सभी कारणों से यह भक्ति-मार्ग मोक्ष-प्राप्ति के लिए अन्य दोनों मार्गों की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय रहा है। भावुक तथा संवेदनशील व्यक्तियों के लिए तो यह मार्ग विशेष रूप से उपयुक्त है। ऐसे व्यक्ति इस भक्ति-मार्ग का अनुसरण करके ही मोक्ष प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। संभवतः इसी कारण मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में भक्ति-मार्ग जनसाधारण में जितना लोकप्रिय हुआ है उतना न तो ज्ञान-मार्ग हो सका है और न कर्म-मार्ग। इस दृष्टि से मोक्ष के लिए भक्ति-मार्ग को ज्ञान-मार्ग तथा कर्म-मार्ग की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समस्त भारतीय दर्शनों में केवल वैष्णव दर्शन ने ही मोक्ष के प्रमुख साधन के रूप में भक्ति-मार्ग को स्वीकार किया है।

अभी तक हमने मोक्ष-प्राप्ति के लिए भारतीय दर्शनों द्वारा मान्य विभिन्न तीन प्रमुख साधनों की संक्षिप्त विवेचना की है। इन साधनों के विषय में यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या मोक्ष प्राप्त करने के लिए इन तीनों का एक ही साथ प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रश्न के संबंध में भारतीय दर्शनों का मत पूर्णतः स्पष्ट है। हम देख चुके हैं कि अधिकतर भारतीय दर्शन मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग को ही स्वीकार करते हैं। न्याय, वैशेषिक, वेदांत आदि कुछ दर्शन चित्त-शुद्धि के लिए निष्काम कर्मों को महत्त्व अवश्य देते हैं, किंतु वे इन्हें ज्ञान-प्राप्ति में सहायक साधन मात्र ही मानते हैं। वे इन कर्मों को मोक्ष के प्रत्यक्ष साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते। सांख्य तो निष्काम कर्मों को भी ज्ञान की प्राप्ति में सहायक नहीं मानता। ऐसी स्थिति में यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि भारतीय दर्शनों के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का समन्वय संभव नहीं है।

परंतु इस समस्या के संबंध में गीता का मत कुछ भिन्न प्रतीत होता है। गीता में मोक्ष-प्राप्ति के साधनों के रूप में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनों का सविस्तार विवेचन किया गया है जिन्हें क्रमशः 'ज्ञान-योग', 'कर्म-योग' और 'भक्ति-योग' की संज्ञा दी गई है। इसी कारण विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धांतों के अनुसार इस समस्या के संबंध में गीता के मत की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, शंकर का मत है कि गीता ज्ञान-योग को ही मोक्ष का प्रमुख साधन मानती है। परंतु रामानुज के विचार में गीता केवल भक्ति-योग को ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए मुख्य साधन के रूप में स्वीकार करती है। इन दोनों दार्शनिकों के मत को अस्वीकार करते हुए बाल गंगाधर तिलक यह कहते हैं कि गीता के अनुसार कर्म-योग ही मोक्ष का मुख्य साधन है। ये सभी विचारक अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए गीता के श्लोकों को उद्धृत करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि गीता में ज्ञान-योग, कर्म-योग तथा भक्ति-योग इन तीनों की विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है। वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति के साधनों के रूप मे गीता इन तीनों को पर्याप्त महत्त्व देती है और इनका समुचित समन्वय करने का प्रयास करती है। उसके अनुसार, ये तीनों मनुष्य के लिए मोक्ष प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं। **जब मनुष्य तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात केवल लोक-संग्रह अथवा समाज-कल्याण के लिए निष्कामभाव से कर्म करता है और अपने समस्त कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है तभी वह वास्तव में मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी बनता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि गीता के मतानुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीनों ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ बनाते हैं, अतः इन तीनों में से किसी को भी व्यर्थ एवं त्याज्य नहीं माना जा सकता। इस समस्या के विषय में गीता का यही समन्वयात्मक दृष्टिकोण है।**

मोक्ष की प्राप्ति के साधनों के विषय में अभी तक हमने उन भारतीय दर्शनों के मत की विवेचना की है जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं और इसी कारण जिन्हें 'आस्तिक दर्शन' कहा जाता है। अब संक्षेप में मोक्ष के लिए उन साधनों या उपायों पर भी विचार करना आवश्यक है जिनका प्रतिपादन उन दो भारतीय दर्शनों में किया गया है जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार न करने के कारण 'नास्तिक दर्शन' माने जाते हैं। ये दो

दर्शन हैं बौद्ध दर्शन तथा जैन दर्शन। बौद्ध दर्शन में दुःख-निरोध-मार्ग संबंधी चतुर्थ आर्य सत्य के अंतर्गत निर्वाण अथवा मोक्ष के उपायों का सविस्तार विवेचन किया गया है जिनमें 'अष्टांगिक मार्ग' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस अष्टांगिक मार्ग की व्याख्या हम पिछले खंड में कर चुके हैं, अतः यहाँ इसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। इस संबंध में यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि बौद्ध दर्शन का यह अष्टांगिक मार्ग मनुष्य के दुःख-निवारण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उसे उन नैतिक नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करने का उपदेश देता है जो उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए अनिवार्य हैं और जिनके अनुरूप आचरण करके वह ऐसे दुःख से मुक्त हो सकता है जिसे वह दुराचरण द्वारा स्वयं अपने लिए तथा दूसरों के लिए प्रायः उत्पन्न करता है। बौद्ध दर्शन द्वारा वर्णित मनुष्य की दुःख-निवृत्ति के उक्त मार्ग की उपादेयता इस तथ्य में निहित है कि यह किसी देश एवं युग विशेष तक सीमित न होकर सार्वभौम तथा सार्वकालिक है।

जैन दर्शन ने मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति के लिए जो मार्ग बताया है वह बौद्ध दर्शन द्वारा प्रस्तुत अष्टांगिक मार्ग से मूलतः भिन्न नहीं है। बौद्ध दर्शन की भाँति जैन दर्शन के इस मार्ग को भी 'सदाचार संबंधी मार्ग' की संज्ञा दी जा सकती है। जैसा कि हम पिछले खंड में देख चुके हैं, जैन दर्शन के अनुसार जीव के बंधन का मूल कारण उसके कर्म ही हैं जो उसमें प्रवेश करके उसके समस्त स्वाभाविक गुणों—अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सामर्थ्य तथा अनंत सुख—को आवृत्त कर लेते हैं। शरीर की इच्छा के फलस्वरूप जीव का इन पौद्गलिक अथवा भौतिक कर्मों के साथ संयोग होता है जो उसे बंधन में डाल देते हैं और बंधन का अर्थ है इस संसार में बार-बार जन्म लेना तथा अनेक प्रकार के दुःख भोगना। जीव को इस सांसारिक बंधन और इससे उत्पन्न समस्त दुःखों से मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब वह इन कर्मों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो जाए। इसी कारण जैन दार्शनिकों ने कर्मों से मुक्ति के मार्ग को ही जीव के लिए मोक्ष अथवा कैवल्य का मार्ग माना है। जीव को इन कर्मों से मुक्त करने वाले दो तत्त्वों—संवर और निर्जरा—का संक्षिप्त उल्लेख हम पिछले खंड में कर चुके हैं। ये दोनों तत्त्व जीव में नवीन कर्मों के प्रवेश का निरोध और उसमें पूर्व प्रविष्ट कर्मों का आमूल विनाश करके उसे बंधन-मुक्त करते हैं। परंतु अपने भीतर इन मोक्षदायक तत्त्वों को उत्पन्न करने के लिए उसे निरंतर नैतिक प्रयास करना पड़ता है। जैन दार्शनिकों ने मुक्ति के लिए आवश्यक इस नैतिक प्रयास का सविस्तार विवेचन किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने कुछ ऐसे नैतिक उपायों का वर्णन किया है जो उनके विचार में कैवल्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं। इन उपायों में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र सर्वप्रमुख हैं। इन्हीं तीन उपायों को जैन दर्शन में 'रत्न-त्रय' अथवा 'त्रिरत्न' की संज्ञा दी गई है।

सम्यक् दर्शन का अर्थ है अखंड श्रद्धा। जैन दार्शनिकों का कथन है कि कैवल्य-प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य के मन में सर्वप्रथम तीर्थंकरों तथा उनके द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धांतों के प्रति अखंड एवं प्रगाढ़ श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि इसके बिना वह मोक्ष के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। इस प्रकार सम्यक् दर्शन या श्रद्धा मुक्ति का प्रथम सोपान है। मोक्ष प्राप्त करने का दूसरा साधन है सम्यक् ज्ञान। तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित समस्त सिद्धांतों एवं नियमों का अध्ययन तथा मनन करके उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना ही सम्यक् ज्ञान है। यह

ज्ञान भी साधक को कैवल्य की ओर अग्रसर करता है। मोक्ष-प्राप्ति का अंतिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है सम्यक् चरित्र। तीर्थंकरों द्वारा बताए गए समस्त नैतिक नियमों का अपने दैनिक जीवन में श्रद्धापूर्वक पालन करना ही सम्यक् चरित्र है। वस्तुतः श्रद्धा तथा ज्ञान का तब तक कोई महत्त्व नहीं है जब तक कोई मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में उनके अनुरूप आचरण नहीं करता, अतः मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य के लिए यह सम्यक् चरित्र अनिवार्य है। इसका निष्ठापूर्वक पालन करके ही वह अपने जीवन के इस चरम लक्ष्य (कैवल्य) को प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष-प्राप्ति के उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने कैवल्य के इच्छुक साधक के लिए पंच महा व्रतों, समितियों, गुप्तियों, अनुप्रेक्षाओं आदि अन्य अनेक नैतिक उपायों तथा नियमों के अनुसार आचरण करना भी अनिवार्य माना है। 'इनमें निम्नलिखित पंच महा व्रतों का विशेष महत्त्व है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। सामान्यत अहिंसा का अर्थ किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाता ही समझा जाता है, किंतु जैन दार्शनिक 'अहिंसा' शब्द को कहीं अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। उनके मतानुसार मन, वचन एवं कर्म से किसी प्राणी को किसी प्रकार का दुःख न पहुँचाता और सभी प्राणियों के प्रति प्रेम एवं सद्भाव रखते हुए उनकी यथाशक्ति सेवा तथा सहायता करना ही अहिंसा है। गाँधी जी भी अहिंसा का यही व्यापक अर्थ स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन में अहिंसा को 'परम धर्म' कहा गया है और इसका कठोरतापूर्वक पालन करने का उपदेश दिया गया है। योग दर्शन में भी यमों के अंतर्गत अहिंसा को प्रथम स्थान पर रखा गया है। 'सत्य' का अर्थ है मन, वचन और कर्म से किसी तथ्य को न छिपाना और किसी के साथ किसी प्रकार का छल या कपट न करना। इसके अतिरिक्त सबके साथ सदा प्रिय वचन बोलना भी सत्य में सम्मिलित है। चोरी का पूर्ण परित्याग—अर्थात, बिना आज्ञा किसी की कोई वस्तु न लेना और चोरी करने का कभी विचार भी न करना 'अस्तेय' है। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी प्रकार की वासना में लिप्त न होना। इसका पालन करने के लिए पूर्ण इंद्रिय-संयम अनिवार्य है। अंतिम महा व्रत है 'अपरिग्रह' जिसका अर्थ है सांसारिक वस्तुओं तथा भोगों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति न रखना और इन्हें प्राप्त करने के लिए धन, संपत्ति आदि का संचय न करना। जैन दर्शन में कैवल्य के इच्छुक प्रत्येक मनुष्य के लिए इन सभी पंच महा व्रतों के अनुसार आचरण करना आवश्यक माना गया है। बौद्ध दर्शन एवं योग दर्शन में भी मानव-जीवन के लिए इन पंच महा व्रतों के विशेष महत्त्व को स्वीकार किया गया है जिनमें इन्हें क्रमशः 'पंच शील' तथा 'यम' की संज्ञा दी गई है। गाँधी जी का तो संपूर्ण नैतिक दर्शन मुख्यतः इन्हीं पंच महा व्रतों पर आधारित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन तथा संस्कृति में इन सभी महा व्रतों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त त्रिरत्नों तथा पंच महा व्रतों के अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने शारीरिक और मानसिक संयम के लिए मनुष्य को कुछ समितियों एवं गुप्तियों का पालन करने का भी उपदेश दिया है। वे 'समिति' शब्द का प्रयोग इसके प्रचलित सामान्य अर्थ में न करके विशेष पारिभाषिक अर्थ में करते हैं जिसके अनुसार इसका अर्थ है 'सावधानी' अथवा 'संयम'। इस

विशेष अर्थ में उन्होंने मनुष्य के लिए निम्नलिखित पाँच समितियों का पालन करना आवश्यक माना है :–(1) ईर्यासमिति–हिंसा से बचने के लिए सावधानीपूर्वक चलना-फिरना। (2) भाषा-समिति–नम्र और मधुर वाणी बोलना। (3) एष्ण-समिति–नियमानुसार उचित उपायों द्वारा भिक्षा ग्रहण करना। (4) आदान-निक्षेपण-समिति–वस्तुओं को उठाने और रखने में सतर्क एवं सावधान रहना। (5) उत्सर्ग-समिति–केवल निर्जन स्थानों पर ही मल-मूत्र का विसर्जन करना। इन सभी समितियों के साथ-साथ जैन दर्शन में मानव के लिए कुछ गुप्तियों का पालन करना भी आवश्यक माना गया है। जैन दार्शनिक 'गुप्ति' शब्द का प्रयोग 'संयम' या 'नियंत्रण' के अर्थ में ही करते हैं। उनके मतानुसार समस्त नैसर्गिक प्रवृत्तियों का समुचित नियंत्रण अथवा निरोध ही 'गुप्ति' है। इस विशेष अर्थ में वे मनुष्य के लिए निम्नलिखित तीन गुप्तियों का पालन करना आवश्यक मानते हैं:– (1) काय-गुप्ति–शरीर का संयम। (2) वात्त-गुप्ति–वाणी का नियंत्रण। (3) मनोगुप्ति–मानसिक संयम।

उपर्युक्त समितियों और गुप्तियों के अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने सभी मनुष्यों के लिए सत्य, क्षमा, शौच, तप, संयम, त्याग, विरक्ति, मार्दव अथवा नम्रता, सरलता और ब्रह्मचर्य–इन दस धर्मों के अनुरूप करना भी अनिवार्य माना है। उनमा मत है कि ये सभ धर्म मोक्ष-प्राप्ति में मनुष्य के लिए सहायक होते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन दार्शनिकों द्वारा बताए गए उपर्युक्त धर्मों में से अनेक धर्म वे हैं जिन्हें मनु ने 'धर्म के लक्षण' बताया है और जिनकी विवेचना हम इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। इनमें से कुछ धर्मों का वर्णन योग दर्शन में 'यमों' तथा 'नियमों' के अंतर्गत भी किया गया है। इस दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को 'यम' और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्राणिधान को 'नियम' कहा गया है जो योग के आवश्यक अंग हैं। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने जिन दस धर्मों का पालन करना मनुष्य के लिए आवश्यक माना है उन्हें अन्य अनेक भारतीय दर्शनों ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। यही बात जैन दार्शनिकों द्वारा वर्णित पंच महा व्रतों के विषय में भी कही जा सकती है। संक्षेप में जैन दर्शन के मतानुसार उपर्युक्त त्रिरत्नों, पंच महा व्रतों, समितियों तथा गुप्तियों के अंतर्गत वर्णित समस्त नैतिक उपायों और नियमों के अनुरूप निष्ठापूर्वक आचरण करते हुए मनुष्य मृत्यु के पश्चात कैवल्य अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए इन सभी नैतिक साधनों में तत्त्व-ज्ञान तथा निष्काम कर्म दोनों को समुचित महत्त्व दिया गया है। निरीश्वरवादी होने के कारण जैन दर्शन में मोक्ष के साधन के रूप में ईश्वर-भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं हैं। हाँ मोक्ष-प्राप्ति के लिए तीर्थंकरों के प्रति श्रद्धा को अवश्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की भाँति जैन दर्शन भी मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य के अपने प्रयास को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है और मूलतः गौतम बुद्ध के इस कथन का समर्थन करता है कि "आत्म-दीपो भव"–अर्थात, "तुम अपने दीपक अथवा प्रकाश स्वयं बनो।"

3. वर्तमान युग में मोक्ष की उपादेयता

अभी तक हमने मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनों के संवंध में विभिन्न भारतीय दर्शनों के मत पर विचार किया है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वर्तमान युग के सामाजिक जीवन में मोक्ष की कोई उपादेयता है या नहीं। इस संवंध में मेरा अपना विचार यह है कि अधिकतर भारतीय दर्शनों ने मोक्ष का जो निषेधात्मक अर्थ स्वीकार किया है उस अर्थ में न तो वह आज के मनुष्य के लिए उपादेय है और न प्राचीन युग के मानव के लिए उपादेय था। अपने इस मत की पुष्टि के लिए मैं निम्नलिखित कारण अथवा तर्क प्रस्तुत करना चाहूँगा। सर्वप्रथम उस रूप में मोक्ष की अवधारणा का औचित्य ही संदिग्ध प्रतीत होता है जिस रूप में अधिकतर भारतीय दर्शनों ने इसे प्रस्तुत किया है। हम देख चुके हैं कि मोक्ष की अवधारणा कुछ विशेष तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं—आत्मा की अमरता, ईश्वर या ब्रह्म का अस्तित्व, अविद्या की सर्वव्यापकता आदि—पर ही आधारित है, किंतु इन सभी मान्यताओं की सत्यता एवं प्रामाणिकता में संदेह किया जा सकता है और किया भी गया है। अब यदि इन तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं को स्वीकार न किया जाए तो मोक्ष की संपूर्ण अवधारणा निरर्थक हो जाती है।

मनुष्य के लिए मोक्ष की परंपरागत अवधारणा की उपादेयता को अस्वीकार करने का दूसरा कारण यह है कि विदेह-मुक्ति के अर्थ में यह पूर्णतः निषेधात्मक है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अधिकतर भारतीय दर्शन विदेह-मुक्ति के अर्थ में ही मोक्ष को स्वीकार करते हैं जिसके लिए शरीर तथा समस्त अनुभवों का पूर्ण विनाश अनिवार्य है। यदि यही मनुष्य का वास्तविक मोक्ष है तो मृत्यु तथा मोक्ष में कोई अंतर नहीं रह जाता और चार्वाक दर्शन के इस कथन को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि "मरण ही मोक्ष है"। इस दृष्टि से मनुष्य के लिए मोक्ष की वही उपादेयता—यदि इसे 'उपादेयता' कहा जाए तो—रह जाती है जो उसके लिए मृत्यु की है। फिर यदि मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात आत्मा पूर्णतः अनुभव-रहित तथा चेतना-शून्य हो जाती है तो ऐसी मुक्त आत्मा और जड़ वस्तु में कोई अंतर नहीं रह जाता। इस प्रकार के निषेधात्मक मोक्ष को मानव-जीवन का अंतिम ध्येय मानना नितांत अयुक्तिसंगत एवं हास्यास्पद ही प्रतीत होता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि सांख्य, अद्वैत वेदांत और जैन दर्शन मुक्त आत्मा को अनुभव-शून्य नहीं मानते, अतः उनके द्वारा प्रस्तुत मोक्ष के स्वरूप के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। परंतु हम पहले ही देख चुके हैं कि ये तीनों दर्शन भी मुक्त आत्मा को सामान्य अर्थ में अनुभवयुक्त अथवा चेतनापूर्ण नहीं मानते। सांख्य के अनुसार, मुक्त आत्मा अथवा पुरुष प्रकृति-अर्थात, संपूर्ण भौतिक जगत्—से पूर्णतया पृथक हो जाता है और इस अवस्था में वह नितांत निष्क्रिय रहता है। ऐसे मुक्त—किंतु निष्क्रिय—पुरुष के चैतन्यस्वरूप बने रहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। शंकर ने तो मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म के साथ आत्मा के पूर्ण तादात्म्य को ही मोक्ष मानते हैं। दूसरे शब्दों में, मोक्ष प्राप्त कर लेने के उपरांत आत्मा ब्रह्म में विलीन होकर निर्गुण तथा निराकार हो जाती है। इस स्थिति में

आत्मा के चेतनायुक्त बने रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैन दर्शन ने भी कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात आत्मा को पूर्णतया निष्क्रिय ही माना है, क्योंकि उसके मतानुसार समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर ही उसे कैवल्य प्राप्त हो सकता है। स्पष्ट है कि ऐसी निष्क्रिय आत्मा में किसी प्रकार के अनुभव का शेष रहना संभव नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शन मुक्तावस्था में आत्मा को निष्क्रिय तथा अनुभव-शून्य ही मानते हैं, अतः ऐसे मोक्ष को मानव-जीवन के आदर्श के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के लिए मोक्ष की परंपरागत अवधारणा की उपादेयता को स्वीकार न करने का तीसरा कारण यह है कि जिस रूप में अधिकतर भारतीय दर्शनों ने इसे प्रस्तुत किया है उस रूप में यह नितांत व्यक्ति-केंद्रित प्रतीत होती है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा जैन दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति दूसरों के मोक्ष की चिंता किए बिना केवल अपनी मुक्ति के लिए ही प्रयास करता है। सांख्य और अद्वैत वेदांत की विदेह-मुक्ति की अवधारणा के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। मोक्ष के इच्छुक मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य स्वयं अपने लिए मुक्ति प्राप्त करना ही होता है। यदि वह दूसरों की दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति के लिए प्रयास करता है तो उसका यह प्रयास भी अंततः उसके अपने मोक्ष का साधन मात्र होता है। स्पष्ट है कि विदेह-मुक्ति के अंतर्गत सामाजिक तथा परोपकारात्मक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि विदेह-मुक्ति के अर्थ में मोक्ष की अवधारणा नितांत असामाजिक एवं व्यक्ति-केंद्रित अवधारणा है। ऐसी स्थिति में इस अवधारणा को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मान लेना नैतिक दृष्टि से उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

यह सत्य है कि सांख्य तथा अद्वैत वेदांत के 'जीवन-मुक्त' और महायान के 'बोधिसत्त्व' की अवधारणा के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि जीवन-मुक्त और बोधिसत्त्व ये दोनों ही दूसरों की दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति के लिए प्रयास करते हैं। परंतु इन महान आदर्शों के संबंध में भी एक समस्या है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह कहा जाता है कि जीवन-मुक्त तथा बोधिसत्त्व ये दोनों ही दूसरों की मुक्ति के लिए बार-बार जन्म लेते रहते हैं और वे तब तक अपनी मुक्ति की इच्छा नहीं करते जब तक अन्य सभी मनुष्य मुक्त न हो जाएँ। परंतु यह मान्यता अंततः पुनर्जन्म संबंधी विश्वास पर ही आधारित है जिसकी सत्यता अथवा प्रामाणिकता नितांत संदिग्ध ही प्रतीत होती है। इस प्रकार अवतारवाद पर आधारित जीवन-मुक्त और बोधिसत्त्व के आदर्शों को भी उसी रूप में स्वीकार करना कठिन है जिस रूप में इन्हें सांख्य, अद्वैत वेदांत तथा बौद्ध दर्शन में प्रस्तुत किया गया है। हाँ, यदि अवतारवाद अथवा पुनर्जन्म की अवधारणा का परित्याग करके इन आदर्शों को मनुष्य के वर्तमान जीवन तक ही सीमित कर दिया जाए तो इन्हें निश्चय ही मानव-कल्याण के लिए महान आदर्श माना जा सकता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं का आधार लिए बिना मोक्ष को मानव-जीवन के एक महान नैतिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। फिर यदि हम मोक्ष को एक ऐसा नैतिक आदर्श मान लें तो इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या होगा और वह काम, अर्थ तथा धर्म इन तीन पुरुषार्थों से

किस प्रकार भिन्न होगा। यद्यपि इन दोनों प्रश्नों का कोई स्पष्ट, निश्चित तथा सर्वमान्य उत्तर देना बहुत कठिन है, फिर भी मेरे विचार में वर्त्तमान मानव-जीवन के संदर्भ में मोक्ष की नई व्याख्या करके उसे ही जीवन का अंतिम ध्येय माना जा सकता है। हमें संपूर्ण भारतीय दर्शन द्वारा मान्य इस कठोर सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि समस्त प्राणी-जगत् में दुःख सर्वत्र व्याप्त है। इस संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो पीड़ा अथवा दुःख से पूर्णतया मुक्त हो। संवेदनशील होने के कारण मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता से दुःख का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में दुःख से मुक्ति प्राप्त करने की समस्या मानव-जाति की सबसे अधिक गंभीर समस्या है। वस्तुतः मनुष्य की इसी गंभीर समस्या का समाधान करने के लिए ही चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनों ने मोक्ष के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। प्रत्येक भारतीय दर्शन ने इस दुःख के मूल कारण की खोज करने तथा मनुष्य को इससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए उपाय बताने का प्रयास किया है। यहाँ हमें इस विवाद में उलझने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय दर्शनों द्वारा किया गया दुःख के मूल कारण का यह विश्लेषण तथा उससे मुक्त होने के लिए बताया गया मार्ग कहाँ तक उचित एवं मान्य है।

हमारे समक्ष यह निर्विवाद तथ्य विद्यमान है कि मनुष्य अपने जीवन में पीड़ा अथवा दुःख का अनुभव करता है। यह दुःख या तो भूकंप, बाढ़, सूखा, तूफान आदि प्राकृतिक विपदाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है अथवा ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, लोभ, अहंकार, कामेच्छा आदि मानवीय संवेगों के कारण। स्पष्ट है कि इस दुःख से पूर्ण अथवा आंशिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को इसके उपर्युक्त कारणों को समाप्त या नियंत्रित करना होगा। दुःख के समस्त प्राकृतिक कारणों को पूर्णतया समाप्त अथवा नियंत्रित करना मनुष्य के लिए संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरूप उत्पन्न दुःख से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने की आशा व्यर्थ ही प्रतीत होती है। हाँ, इसके लिए यथासंभव प्रयास करना आवश्यक है। परंतु मनुष्य के जीवन में अधिकांश, दुःख का मूल कारण प्राकृतिक विपत्तियाँ नहीं, अपितु ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, प्रतिशोध, घृणा, अनियंत्रित कामवासना आदि मानवीय संवेग ही हैं। इन्हीं संवेगों के कारण व्यक्ति स्वयं भी दुःख भोगता है और दूसरों को भी अनावश्यक कष्ट पहुँचाता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के अधिकांश दुःख का मूल कारण उसके ये विकृत संवेग ही हैं, अतः इन्हें समुचित रूप से नियंत्रित किए बिना वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए अपने वर्तमान जीवन में ही दुःख से मुक्ति प्राप्त करना मोक्ष है और इस मोक्ष का प्रमुख उपाय है अपने विकृत संवेगों को भलीभाँति नियंत्रित करना।

यदि मोक्ष का उपर्युक्त अर्थ स्वीकार कर लिया जाए तो इसके लिए आत्मा की अमरता, ईश्वर या ब्रह्म का अस्तित्व आदि किसी तत्त्वमीमांसीय मान्यता का आधार लेने की आवश्यकता नहीं है। इस नए अर्थ में ही मोक्ष को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना जा सकता है। यह सत्य है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अंततः व्यक्ति को स्वयं ही प्रयास करना होगा, किंतु सामाजिक प्राणी होने के नाते दूसरों की दुःख-निवृत्ति के लिए निरंतर प्रयत्न करना भी उसका अनिवार्य नैतिक कर्तव्य है। इस अनिवार्य कर्तव्य का

पालन करके ही व्यक्ति मोक्ष संबंधी अपने परम ध्येय को प्राप्त कर सकता है, अतः दूसरों की दुःख-निवृत्ति और अपनी मोक्ष-प्राप्ति के प्रयास में कोई विरोध या संघर्ष नहीं है। दूसरों को दुःख से मुक्त करने का प्रयास करके ही व्यक्ति आत्म-केंद्रित होने से बच सकता है और अपने उन संवेगों को भी नियंत्रित कर सकता है जो स्वयं उसके लिए तथा समाज के लिए हानिकारक हैं। **इस प्रकार अपने निकृष्ट संवेगों को नियंत्रित करके दूसरों के दुःख का निराकरण करने के सतत प्रयास में ही व्यक्ति का वास्तविक मोक्ष निहित है। मानव-जीवन के इसी महान आदर्श को गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय में समत्वभाव रखते हुए सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है।** अपनी भावनाओं तथा मनोवृत्तियों को नियंत्रित कर लेने के कारण ऐसा स्थितप्रज्ञ व्यक्ति हर्ष-विषाद से प्रभावित नहीं होता, अतः संसार में रहते हुए भी वह सांसारिक पदार्थों एवं विषय-भोगों में आसक्ति नहीं रखता और केवल लोक-संग्रह के लिए ही फलाकांक्षारहित कर्म करता है। मेरे विचार में स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था ही मनुष्य की वास्तविक मुक्ति है जिसे मानव-जीवन के लिए महान आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त नए अर्थ में मोक्ष अन्य तीन पुरुषार्थों से भिन्न है और उसके लिए किसी तत्त्वमीमांसीय मान्यता को भी स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। काम, अर्थ तथा धर्म क्रमशः संयमपूर्वक इच्छाओं की तृप्ति, धनोपार्जन और स्वकर्त्तव्य-पालन तक ही सीमित हैं, किंतु मोक्ष इसी जीवन में अहंकार एवं दुःख से मुक्त होने की अवस्था है जिसके लिए इन तीनों पुरुषार्थों को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से ये तीनों पुरुषार्थ मोक्ष के मार्ग में बाधक न होकर उसके लिए अंततः सहायक ही माने जा सकते हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि परंपरागत अर्थ में मोक्ष मनुष्य के लिए उपादेय प्रतीत नहीं होता, अतः उपर्युक्त नवीन अर्थ में ही मानव-जीवन के लिए नैतिक आदर्श के रूप में मोक्ष की उपादेयता को स्वीकार किया जा सकता है।

14

धर्म के विरुद्ध कुछ चुनौतियाँ

1. पृष्ठभूमि

पिछले अध्यायों में हम धर्म विषयक कुछ मूल समस्याओं की विस्तृत विवेचना कर चुके हैं। ये वे समस्याएँ हैं जिन पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करना और जिनके तर्कसंगत समाधान खोजने का प्रयास करना धर्म-दार्शनिक के लिए आवश्यक है। इन समस्याओं के अतिरिक्त गत कुछ शताब्दियों में द्रुत गति से हुए मानवीय ज्ञान के विकास के फलस्वरूप धर्म को कुछ विशेष चुनौतियों का सामना करना पड़ा हैं जिनके आधार पर बहुत-से विचारक धर्म की सार्थकता एवं उपादेयता के विषय में गंभीर संदेह व्यक्त करते रहे हैं। इनमें से कुछ चुनौतियाँ तो प्राचीन काल से ईश्वरवादी धर्मों के विरुद्ध प्रस्तुत की जाती रही हैं। उदाहरणार्थ, 'अशुभ की समस्या' उन सभी धर्मों के विरुद्ध एक गंभीर चुनौती है जो इस विश्व के रचयिता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, प्रेममय तथा अत्यंत दयालु ईश्वर की अवधारणा में विश्वास करते हैं। प्राचीन काल में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों ने इस समस्या के आधार पर ऐसे विश्व-रचयिता ईश्वर के अस्तित्व का खंडन किया है जो अत्यंत दयालु एवं सर्वशक्तिमान होते हुए भी विश्व में दुःख और दुर्गुण के रूप में विद्यमान अशुभ का निराकरण नहीं करता अथवा नहीं कर पाता। इस समस्या का विस्तृत विवेचन हम छठे अध्याय में कर चुके हैं, अतः यहाँ इसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। 'अशुभ की समस्या' के अतिरिक्त वर्तमान शताब्दी में कार्नैप, एयर आदि तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने भी अपने सत्यापन-सिद्धांत के आधार पर ईश्वरवाद के विरुद्ध अभूतंपूर्व गंभीर चुनौती प्रस्तुत की है जिस पर हम नौवें अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि इन तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के अनुसार ईश्वर विषयक कथन न तो सत्य हो सकते हैं और न मिथ्या, क्योंकि ये संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने निरीश्वरवाद तथा अज्ञेयवाद को भी उतना ही निरर्थक माना है जितना ईश्वरवाद को।

उपर्युक्त दो चुनौतियों के अतिरिक्त पिछली कुछ शताब्दियों में धर्म के विरुद्ध अन्य अनेक चुनौतियाँ भी प्रस्तुत की गई हैं जो मूलतः विज्ञान, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा मानवतावाद पर आधारित हैं। ये सभी चुनौतियाँ धर्म के मूल आधार-किसी अतिप्राकृतिक या अलौकिक सत्ता में आस्था-का पूर्णतः निषेध करती हैं। अतः ये ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी धर्मों के विरुद्ध समान रूप से लागू होती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये चुनौतियाँ किसी विशेष धर्म के विरुद्ध ही नहीं, अपितु उस मूल विश्वास अथवा दृष्टिकोण के भी विरुद्ध हैं जिसे 'धर्म' की संज्ञा दी जाती है और जिसके स्वरूप की विवेचना हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए इन चुनौतियों को 'धर्म विरुद्ध चुनौतियाँ' कहना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है। इनमें धर्म के विरुद्ध सर्वप्रथम चुनौती गत कुछ शताब्दियों में विज्ञान के उदय और विकास ने प्रस्तुत की है जिसने मनुष्य के विचार तथा व्यवहार में अभूतपूर्व क्रांतिकारी

परिवर्तन किए हैं। विभिन्न क्षेत्रों में वैज्ञानिक अन्वेषणों के अतिरिक्त मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा मानवतावाद इन तीन विचारधाराओं ने भी अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता अथवा सत्ताओं में आस्था से संबंधित धर्म की मूल मान्यता का निषेध कर के मानव-जीवन के लिए उसकी सार्थकता और उपादेयता को अस्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि विज्ञान की भाँति ये तीनों विचारधाराएँ भी मूलतः धर्म के विरुद्ध गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक धर्मपरायण विचारकों ने अपने-अपने ढंग से इन सभी चुनौतियों का उत्तर देने का प्रयास किया है। प्रस्तुत अध्याय में हम धर्म के विरुद्ध उपर्युक्त समस्त चुनौतियों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे और इन चुनौतियों का उत्तर देने के लिए धर्मपरायण दार्शनिकों ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं उनका भी मूल्यांकन करेंगे।

2. विज्ञान और धर्म

जैसा कि ऊपर कहा गया है, धर्म के विरुद्ध सर्वाधिक गभीर चुनौती विभिन्न क्षेत्रों में अनेक क्रांतिकारी वैज्ञानिक अनुसंधानों ने प्रस्तुत की है। पंद्रहवीं शताब्दी तक विज्ञान के उदय से पूर्व यूरोप तथा विश्व के अन्य सभी भागों में धर्म का अखंड साम्राज्य रहा है। इस संपूर्ण दीर्घ काल में मानव-जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जिसमें धार्मिक मान्यताओं, परंपराओं तथा विश्वासों का सुदृढ़ शासन न रहा हो। इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में वर्णित कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं के फलस्वरूप आदिकाल में जब से धर्म का जन्म हुआ है तभी से धर्मगुरु अपने अनुयायियों को बार-बार यह कठोर आदेश देते रहे हैं कि वे उनके कथनों तक धर्मग्रंथों में पूर्ण आस्था एवं श्रद्धा रखें और इनकी सत्यता के विषय में कभी किसी प्रकार का तर्क अथवा संदेह न करें। इतना ही नहीं, ये धर्म-गुरू अपने धर्म-ग्रंथों को सदैव 'ईश्वर की वाणी' घोषित करते रहे हैं जिससे इनमें प्रस्तुत कथनों को संशय और तर्क से पूर्णतः मुक्त रखा जा सके। धर्म-गुरूओं के इस रूढ़िवादी दृष्टिकोण ने मानव-जाति के दीर्घकालीन इतिहास में अनेक ऐसे युगों को जंन्म दिया है जिन्हें 'अंधकारमय युग' कहा जाता है, क्योंकि इन युगों में मनुष्य को उसकी तर्कबद्धि के आलोक से वंचित कर दिया गया था जिसे किसी भी युग का सबसे बड़ा दुर्भाग्य माना जा सकता है। सर्वप्रथम विज्ञान ने अंधश्रद्धा पर आधारित धर्म के इसी परंपरागत दृष्टिकोण के विरुद्ध गंभीर चुनौती प्रस्तुत की जिसने धर्म के मूल आधार को ही अत्यंत दुर्बल कर दिया।

पिछले पाँच सौ वर्षों में प्रकृति, ब्रह्मांड तथा मानव-जीवन से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में विज्ञान की सहायता से अनेक ऐसे क्रांतिकारी अनुसंधान हुए हैं जिन्होंने युगों से प्रचलित धार्मिक मान्यताओं,परंपराओं एवं विश्वासों को मिथ्या और निराधार प्रमाणित कर दिया है। इन वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिणामस्वरूप ही मनुष्य यह जान सका है कि ब्रह्मांड की रचना, उसके स्वरूप, पृथ्वी पर जीवन के उदय तथा विकास के विषय में विभिन्न धर्म-ग्रंथों में जो कुछ कहा गया है वह वस्तुतः अप्रामाणिक एवं निराधार है। उदाहरणार्थ, शताब्दियों से अनेक धर्म-ग्रंथों में यह घोषित किया जाता रहा है कि हमारी पृथ्वी ही संपूर्ण ब्रह्मांड का केंद्र है। सूर्य

सहित सभी ग्रह इसी की परिक्रमा करते हैं, समस्त भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों, मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को ईश्वर ने ही उनके वर्तमान रूप में उत्पन्न किया है, इन सब में मनुष्य का ही सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि ये सभी अंततः उसी के कल्याण एवं विकास के साधन मात्र हैं। परंतु गत पाँच शताब्दियों में भौतिकी, रसायन-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, जीव-विज्ञान, भूगर्भशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि के अंतर्गत वैज्ञानिकों द्वारा जो अनुसंधान किए गए हैं उन्होंने इन सभी धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों को मिथ्या सिद्ध कर दिया है।

पंद्रहवीं शताब्दी के महान वैज्ञानिक, कॉपरनिकस (1473-1543) ने यूरोप में सर्वप्रथम यह क्रांतिकारी सिद्धांत प्रस्तुत किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी सहित सौरमंडल के समस्त ग्रह उस की परिक्रमा करते हैं। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि हमारी पृथ्वी संपूर्ण ब्रह्मांड का केंद्र न होकर अन्य अनेक ग्रहों की भाँति केवल एक साधारण ग्रह है। आज हमें यह विचार बहुत साधारण प्रतीत होता है, किंतु उस युग में इसने यूरोप में बहुत बड़ी उथल-पुथल उत्पन्न कर दी थी। धर्मपरायण विचारकों ने तो इसे पूर्णतः अस्वीकार कर ही दिया था, तत्कालीन वैज्ञानिकों ने भी इसे सरलतापूर्वक स्वीकार नहीं किया। यह कहा जाता है कि स्वयं वैज्ञानिकों द्वारा इस क्रांतिकारी सिद्धांत को स्वीकार करने में सौ वर्ष से भी अधिक समय लग गया। इस विलंब का कारण यह था कि धर्मपरायण विचारकों की भाँति उस समय के वैज्ञानिक भी ब्रह्मांड के विषय में प्राचीन काल से प्रचलित धार्मिक विश्वास का परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं थे। परंतु विलंब से ही सही, अंततः वैज्ञानिकों को कॉपरनिकस का उपर्युक्त सिद्धांत स्वीकार करना पड़ा। यह विज्ञान के समक्ष धर्म की पहली बड़ी पराजय थी जिसने उस युग के कुछ विचारकों के मन में तत्कालीन धार्मिक विश्वासों के प्रति संदेह उत्पन्न कर दिया। परंतु संपूर्ण सत्ता अब भी धर्म-गुरुओं के हाथ में ही थी, अतः उन्होंने उन सभी वैज्ञानिकों को कठोर दंड देना और उन पर अत्याचार करना आरंभ कर दिया जो कॉपरनिकस के मत का समर्थन करते थे। इस सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए यूरोप के एक अन्य महान वैज्ञानिक, गैलीलियो (1564-1642) को भी कारावास का कठोर दंड दिया गया जिसके कारण उन्हें घोर यातना सहन करनी पड़ी। इस प्रकार विज्ञान तथा धर्म में वह संघर्ष आरंभ हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक स्पष्ट रूप से निरंतर चलता रहा और जो किसी न किसी रूप में आज भी चल रहा है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विज्ञान और धर्म के उपर्युक्त संघर्ष के प्रारंभिक युग में अधिकतर वैज्ञानिकों पर भी धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों का बहुत गहरा प्रभाव था। इसी कारण धर्मपरायण विचारकों की भाँति वे भी वैज्ञानिक अनुसंधानों के उन निष्कर्षों को स्वीकार करने में बहुत संकोच तथा कठिनाई का अनुभव करते थे जो इन धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों के विरुद्ध थे। यह कहा जाता है कि स्वयं गैलीलियो ने भी कॉपरनिकस के उक्त सिद्धांत को बड़ी कठिनाई से ही स्वीकार किया था। गैलीलियो के अतिरिक्त एक अन्य महान वैज्ञानिक, न्यूटन (1642-1727) भी कुछ वैज्ञानिक निष्कर्षों को स्वीकार करने में इसी कठिनाई का अनुभव करते थे। अपने युग के बहुत बड़े वैज्ञानिक होते हुए भी वे स्वभावतः धर्मपरायण व्यक्ति थे। ईसाई धर्म में उनकी गहरी तथा अटूट आस्था थी और वे विज्ञान की अपेक्षा ईसाई

धर्मशास्त्र को कहीं अधिक महत्त्व देते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि इस ब्रह्मांड की रचना ईश्वर ने की है और वही समस्त ग्रहों का संचालक तथा नियंता है। अपनी-अपनी कक्षाओं में भ्रमण करते हुए इन ग्रहों की स्थिति एवं गति में जो अनियमितताएँ आ जाती हैं उन्हें स्वयं ईश्वर ही समय-समय पर ठीक कर देता है। इस प्रकार अपने गुरुत्वाकर्षण के नियम के आधार पर न्यूटन ग्रहों की जिन अनियमितताओं की व्याख्या नहीं कर सके उनके निराकरण के लिए उन्होंने समय-समय पर ईश्वर के हस्तक्षेप का सहारा लिया। इसे उनके वैज्ञानिक चिंतन की सबसे बड़ी दुर्बलता माना जा सकता है। परंतु इस दुर्बलता को स्वीकार करते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि गुरुत्वाकर्षण के नियम से संबंधित अपने क्रांतिकारी अनुसंधान द्वारा न्यूटन ने ब्रह्मांड विषयक मिथ्या धार्मिक विश्वास का खंडन करने में पर्याप्त सीमा तक सहायता की। इस नियम ने ग्रहों के संचालन तथा नियंत्रण में ईश्वर की भूमिका को बहुत सीमित कर दिया।

आगे चल कर न्यूटन के इसी गुरुत्वाकर्षण के नियम में संशोधन कर के एक अन्य वैज्ञानिक, लाप्लास (1749-1827) ने ईश्वर के हस्तक्षेप के बिना ही ग्रहों के भ्रमण तथा उनकी अनियमितताओं के निराकरण की व्याख्या की। अपने अनुसंधानों द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया कि ग्रहों की अनियमितताएँ प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वतः ही दूर हो जाती है, इसके लिए ईश्वर के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती। न्यूटन के विपरीत वे यह भी मानते थे कि इन ग्रहों की रचना ईश्वर ने नहीं की और वह उनका संचालन भी नहीं करता। इस प्रकार न्यूटन ने विश्व-रचना तथा ग्रहों के संचालन में ईश्वर की जो भूमिका स्वीकार की थी उसे लाप्लास ने सदा के लिए समाप्त कर दिया। इसके पश्चात अन्य किसी महान वैज्ञानिक ने प्राकृतिक नियमों में ईश्वर के हस्तक्षेप को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार न्यूटन के वैज्ञानिक चिंतन पर धर्म का जो प्रभाव था उससे लाप्लास के अनुसंधान पूर्णतः मुक्त रहे। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि न्यूटन के विपरीत लाप्लास का चिंतन धर्म के प्रभाव से मुक्त होने के कारण विशुद्ध वैज्ञानिक चिंतन था। आधुनिक वैज्ञानिक भी समस्त प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या के लिए इसी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का अनुसरण करते हैं। किसी भी प्राकृतिक प्रक्रिया अथवा घटना के स्वरूप को समझने के लिए वे केवल प्राकृतिक कारणों की ही खोज करते हैं, अतिप्राकृतिक कारणों की नहीं। इस प्रकार गत कुछ शताब्दियों में विज्ञान ने धर्म को ब्रह्मांड के स्वरूप तथा विकास की व्याख्या के क्षेत्र से पूर्णतः बहिष्कृत कर दिया है जिसे विज्ञान के समक्ष धर्म की दूसरी बड़ी पराजय माना जा सकता है।

उपर्युक्त वैज्ञानिकों के ब्रह्मांड संबंधी अनुसंधानों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के एक अन्य महान वैज्ञानिक, चार्ल्स डार्विन (1809-1882) के क्रांतिकारी अनियमितताएँ अनुसंधानों ने भी धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों को भारी आघात पहुँचाया। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, धर्मपरायण विचारकों के अनुसार ईश्वर ने ही मनुष्य तथा अन्य सभी प्राणियों को उसी रूप में उत्पन्न किया है जिस रूप में वे आज हैं और इन सब में मनुष्य का ही सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि वही ईश्वर के प्रेम एवं अनुग्रह का केंद्र है। ईश्वर ने विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए विश्व की रचना की है, अतः इस विश्व में नैतिक व्यवस्था है। डार्विन से पूर्व सभी विचारक इन धार्मिक सिद्धांतों को स्वीकार करते थे जिन्हें 'रचनावाद' तथा

'प्रयोजनवाद' की संज्ञा दी जाती है। परंतु अपने विकासवादी सिद्धांत द्वारा डार्विन ने यह निश्चित रूप से प्रमाणित कर दिया कि ये दोनों धार्मिक सिद्धांत मिथ्या और निराधार हैं। जिस प्रकार कॉपरनिकस ने यह सिद्ध किया था कि हमारी पृथ्वी ब्रह्मांड का केंद्र नहीं है उसी प्रकार डार्विन ने भी यह प्रमाणित किया कि ईश्वर ने प्राणियों की रचना नहीं की और मनुष्य अन्य प्राणियों से मूलतः भिन्न कोई विशेष प्राणी नहीं है। तीस वर्षों से भी अधिक समय तक विभिन्न प्राणियों की जातियों के विकास का निरंतर अध्ययन करने के पश्चात डार्विन ने अपने विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो मुख्यतः 'प्राकृतिक चुनाव' तथा 'योग्यतम की उत्तरजीविता' इन दो अवधारणाओं पर आधारित है। अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों—'ओरिजन ऑफ़ स्पीशीज़' तथा 'डिसैंट ऑफ़ मैन'—में उन्होंने इस विकासवादी सिद्धांत की विस्तृत विवेचना की है जो क्रमशः 1859 और 1871 में प्रकाशित हुई थीं। इस विकासवादी सिद्धांत के अनुसार पृथ्वी पर जीवन का उद्‌गम कुछ विशेष प्राकृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ और फिर धीरे-धीरे करोड़ों वर्षों में अपने-अपने प्राकृतिक वातावरण के अंतर्गत भोजन तथा निवास के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध सतत संघर्ष के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के प्राणियों की जातियो का विकास हुआ जिसके मूल आधार थे 'प्राकृतिक चुनाव' तथा 'योग्यतम की उत्तरजीविता'।

जीव-विज्ञान संबंधी अपने व्यापक अनुसंधानों द्वारा डार्विन ने यह सिद्ध किया कि आज पृथ्वी पर प्राणियों की जो विभिन्न जातियाँ विद्यमान हैं वे ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति की रचना-क्रिया का परिणाम न होकर दीर्घकालीन प्राकृतिक प्रक्रिया का ही परिणाम है जिसमें 'प्राकृतिक चुनाव' तथा 'योग्यतम की उत्तरजीविता' की विशेष भूमिका रही है। 'प्राकृतिक चुनाव' प्राणियों के विकास की वह जैविक प्रक्रिया है जिसके अनुसार केवल उन्हीं प्राणियों की जातियाँ जीवित रहती हैं और विकसित होती हैं जो अपने आप को अपने प्राकृतिक परिवेश के अनुरूप समायोजित करने में सफल होते हैं। इस समायोजन में असफल होने वाले प्राणियों की जातियाँ प्रतिकूल प्राकृतिक परिवेश के दबाव के फलस्वरूप नष्ट हो जाती हैं। इस 'प्राकृतिक चुनाव' की प्रक्रिया के अनुसार पृथ्वी पर लाखों वर्ष पूर्व विद्यमान अनेक भीमकाय प्राणियों की जातियाँ नष्ट हो गई हैं, क्योंकि ये प्राणी परिवर्तित प्राकृतिक वातावरण के अनुरूप अपने आपको समायोजित नहीं कर सके। 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के विचार का उपर्युक्त 'प्राकृतिक चुनाव' की प्रक्रिया से बहुत घनिष्ठ संबंध है। इसके अनुसार उन प्राणियों की जातियों का अधिकतम विकास होता है जो अपने प्राकृतिक वातावरण में अन्य प्राणियों के साथ संघर्ष में विजय प्राप्त करते हैं। यह संघर्ष मुख्यतः भोजन तथा निवास स्थान के लिए होता है। जीवन के इस संघर्ष में विजयी होने वाली प्राणियों की जातियाँ जीवित रहती तथा विकसित होती हैं और इसमें पराजित होने वाले प्राणियों की जातियाँ नष्ट हो जाती हैं। प्राणियों के विकास की इस प्राकृतिक प्रक्रिया से संबंधित उपर्युक्त सभी तथ्यों द्वारा डार्विन ने यह प्रमाणित किया कि इस संपूर्ण प्रक्रिया में ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति की कोई भूमिका नही है। इसके साथ ही अपने विकासवादी सिद्धांत द्वारा उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि मनुष्य स्तनपायी प्राणियों से मूलतः भिन्न नहीं है। मानव-जाति का विकास भी उसी प्राकृतिक प्रक्रिया के अनुसार हुआ है जो अन्य सभी प्राणियों के विकास पर लागू होती है। इसका अर्थ यह है कि जैविक विकास की दृष्टि से अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य कोई विशेष प्राणी नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना

अयुक्तिसंगत है कि जगत् के समस्त प्राणियों में मनुष्य का ही सर्वाधिक महत्त्व है और अन्य सभी प्राणी तथा वस्तुएँ उसके कल्याण एवं विकास के साधन मात्र हैं। इस प्रकार डार्विन ने अपने विकासवादी सिद्धांत के आधार पर रचनावाद, प्रयोजनवाद तथा मनुष्य की सर्वोच्चता के विचार का खंडन कर के इनसे संबंधित प्राचीन धार्मिक विश्वासों की सत्यता के विषय में विचारशील व्यक्तियों के मन में गहरा संदेह उत्पन्न कर दिया जो धर्म के प्रति उनकी अंधश्रद्धा को समाप्त या कम करने में पर्याप्त सीमा तक सहायक सिद्ध हुआ।

यहाँ यह उल्लेखनीय हे कि ब्रह्मांड की रचना, उसके स्वरूप, ग्रहों की गति एवं स्थिति, ब्रह्मांड में पृथ्वी के स्थान, उस पर जीवन के उदय, मनुष्य के विकास और प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या के संबंध में कॉपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन, लाप्लास, डार्विन आदि महान वैज्ञानिकों द्वारा किए गए उपर्युक्त क्रांतिकारी अनुसंधानों के फलस्वरूप विचारकों तथा साधारण व्यक्तियों के समक्ष विश्व का जो चित्र उपस्थित हुआ वह विभिन्न धर्म-ग्रंथों में प्रस्तुत किए गए उसके चित्र से पूर्णतः भिन्न था। इन अनुसंधानों द्वारा मनुष्य यह जान सका कि इस ब्रह्मांड की रचना ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकतिक शक्ति ने नहीं की है: हमारी पृथ्वी स्थिर एवं ब्रह्मांड का केंद्र न होकर सतत गतिशील तथा सूर्य की परिक्रमा करने वाले अन्य बहुत-से ग्रहों की भाँति एक अति सामान्य ग्रह है समस्त घटनाएं कुछ अनिवार्य प्राकृतिक नियमों द्वारा ही शासित होती हैं जिनका किसी दैवी शक्ति से कोई संबंध नहीं है: अन्य सभी प्राणियों की भाँति मनुष्य का विकास भी कुछ विशेष प्राकृतिक परिस्थितियों में जैविक कारणों के परिणामस्वरूप ही हुआ है, अतः वह कोई ऐसा विशेष प्राणी नहीं है जिसका विश्व में सर्वाधिक महत्त्व हो। हम देख चुके हैं कि विज्ञान से प्राप्त ये सभी निष्कर्ष विभिन्न देशों में प्राचीन काल से प्रचलित धार्मिक मान्यताओं तथा विश्वासों के ठीक विपरीत थे। यही कारण है कि जब से विज्ञान का उदय हुआ है तभी से धर्म-गुरू तथा धर्मपरायण विचारक उसके विरुद्ध निरंतर संघर्ष करते रहे हैं।

वस्तुतः विज्ञान तथा धर्म के उपर्युक्त संघर्ष के मूल में जीवन और जगत् के प्रति इन दोनों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण ही हैं। इस पुस्तक के अनेक अध्यायों में हम यह बता चुके हैं कि किसी अलौकिक या दैवी शक्ति का अस्तित्व, उसमें अखंड श्रद्धा एवं आस्था, उसके प्रति पूर्ण समर्पण तथा उसकी पूजा अथवा उपासना धर्म के अनिवार्य तत्त्व हैं जिनके बिना उसका न तो जन्म संभव है और न विकास। इसके अतिरिक्त जिसे 'धार्मिक ज्ञान' कहा जाता है उसकी मुख्य विधि श्रुति है जो अनुभव, निरीक्षण तथा प्रयोग पर आधारित नहीं होती। धर्मपरायण व्यक्ति इस श्रुति को धार्मिक ज्ञान का एकमात्र प्रामाणिक और विश्वसनीय स्रोत मानते हैं। इसी कारण जीवन और जगत् के प्रति धर्म के दृष्टिकोण को 'आध्यात्मिक दृष्टिकोण' की संज्ञा दी जाती है जो किसी भौतिक सत्ता पर आधारित न होकर मूलतः अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति अथवा सत्ता पर ही आधारित होता है। परंतु विज्ञान धर्म के इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा इससे संबंधित धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों को स्वीकार नहीं करता। जीवन और जगत् के प्रति विज्ञान का दृष्टिकोण मूलतः भौतिकवादी दृष्टिकोण है जिसमें अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता अथवा सत्ताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि

विज्ञान धर्म के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समर्थन नहीं कर सकता। जीवन तथा जगत् को जानने के लिए उसकी विधि भी धर्म की विधि से मूलतः भिन्न है। विज्ञान का मूल आधार मनुष्य का अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि है, जबकि धर्म अनिवार्यतः उसकी आस्था पर ही आधारित रहता है जिसका विषय कोई दैवी शक्ति अथवा सत्ता होती है।

वास्तव में विज्ञान का स्वरूप धर्म के स्वरूप से मूलतः भिन्न है। व्यापक अर्थ में विज्ञान किसी भी विषय का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है जिसकी प्रमुख विधियाँ हैं निरीक्षण तथा प्रयोग। उसके अध्ययन का विषय भौतिक जगत् है जिसे वह अनुभव पर आधारित निरीक्षण तथा प्रयोग की विधियों द्वारा उसके यथार्थ रूप में जानने का प्रयास करता है। जो विषय विज्ञान की इन विधियों से परे समझे जाते हैं उनके संबंध में वह कोई निर्णय नहीं देता, क्योंकि ये विषय उसकी परिधि के अंतर्गत नहीं आते। साहित्य, कला, मूल्य, नैतिकता आदि ऐसे ही विषय हैं जो विज्ञान की परिधि से परे हैं। यह सत्य है कि इन विषयों का भी व्यवस्थित अध्ययन किया जा सकता है और किया जाता है, किंतु इनके अध्ययन के लिए निरीक्षण तथा प्रयोग संबंधी वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करना बहुत कठिन है। इसी कारण इन विषयों तथा ऐसे ही अन्य अनेक विषयों को सामान्यतः विज्ञान की परिधि से बाहर समझा जाता है। निरीक्षण और प्रयोग के आधार पर विज्ञान जिन प्राक्कल्पनाओं तथा सिद्धांतों को स्वीकार करता है उन्हें वह पवित्र, स्थायी तथा निश्चित न मान कर केवल प्रायिक ही मानता है। इस संबंध में उसका दृष्टिकोण धर्म के दृष्टिकोण के ठीक विपरीत है। धर्म आस्था के आधार पर कुछ ऐसे मूल सिद्धांतों को अनिवार्यतः स्वीकार करता है जिन्हें 'पवित्र' माना जाता है और इसी कारण जिनका परित्याग करना अथवा जिनकी सत्यता में संदेह करना भी उसके अनुयायियों के लिए 'पाप' समझा जाता है। वस्तुतः पवित्र समझे जाने वाले कुछ आधारभूत सिद्धांतों में अखंड आस्था रखना धर्म के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। परंतु विज्ञान द्वारा स्वीकृत कोई भी सिद्धांत इस अर्थ में पवित्र, स्थायी तथा निश्चित नहीं होता। उसके सभी सिद्धांत केवल प्रायिक ही होते हैं। विज्ञान के किसी भी सिद्धांत के विरुद्ध स्पष्ट तथा विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त होने पर वह उसमें संशोधन कर सकता है अथवा उसका परित्याग भी कर सकता है। आज तक विज्ञान की जो महान प्रगति हुई है उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण विज्ञान का यह तर्कसम्मत दृष्टिकोण भी है। विज्ञान के क्षेत्र में अंधविश्वास और निर्बौद्धिक आस्था के लिए कोई स्थान नहीं है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, धर्म का मूल आधार ही ऐसी आस्था है जो अनिवार्यतः निर्बौद्धिक होती है और जिसे तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। विज्ञान तथा धर्म के स्वरूप में यह एक ऐसा अंतर है जो इन दोनों को एक-दूसरे से अनिवार्यतः पृथक करता है। इन दोनों में इसी अनिवार्य भेद के कारण जीवन और जगत् के प्रति भी इनके दृष्टिकोण में वह आधारभूत अंतर आ जाता है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। वस्तुतः ये दोनों जीवन तथा जगत् के संबंध में पूर्णतः भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विज्ञान तथा धर्म में मूल भेद है जिसके कारण इन दोनों को एक-दूसरे का सहायक अथवा परस्पर पूरक मानना संभव प्रतीत नहीं होता।

परंतु कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक तथा धर्मपरायण विचारक विज्ञान और धर्म से संबंधित ऊपर प्रस्तुत किए गए सभी तथ्यों की उपेक्षा करते हुए इन दोनों को एक-दूसरे के लिए

सहायक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी मानते हैं। इन विचारकों का मत है कि विज्ञान धर्म के बिना और धर्म विज्ञान के बिना अपूर्ण है, अतः इन दोनों का समुचित समन्वय अनिवार्य है। इस समन्वय के अभाव में ये दोनों अपने-अपने कार्य भलीभाँति संपन्न नहीं कर सकते। विज्ञान तथा धर्म के विषय में इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए ईश्वरवादी दार्शनिक, ट्रूब्लड कहते हैं कि :—"धार्मिक अवधारणाओं को वैज्ञानिक अनुभव के साथ और वैज्ञानिक अवधारणाओं को धार्मिक अनुभव के साथ मिलकर शांतिपूर्वक रहना होगा, क्योंकि हमारा विश्व एक ही है। यह शांति दोनों के लिए अलग-अलग तथा स्वतंत्र क्षेत्र निश्चित कर देने के सतही समाधान से संभव नहीं हो सकती। यदि हम कुछ विचारों को अपने मन के एक भाग द्वारा स्वीकार करते हैं और उन्हीं विचारों को अपने मन के दूसरे भाग द्वारा अस्वीकार कर देते हैं तो जीवन अंततः असह्य हो जाएगा।...... विज्ञान और धर्म में समुचित संबंध परस्पर मिल कर कार्य करने का सौहार्द्रपूर्ण संबंध है। यदि धर्म विज्ञान द्वारा बताई गई जाँच या परीक्षा की कठोर विधियों को स्वीकार नहीं करता तो वह अंधविश्वास हो जाता है और यदि विज्ञान अपनी नैतिकता तथा धार्मिक जड़ों की ओर समुचित ध्यान नहीं देता तो वह छिछला अथवा खतरनाक हो जाता है। प्रकृतिवाद तथा अतिप्रकृतिवाद दोनों की आवश्यकता है और इनकी आवश्यकता एक ही साथ है।"[1] इस उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि ट्रूब्लड विज्ञान तथा धर्म को परस्पर पूरक और एक-दूसरे के लिए अनिवार्य मानते हैं।

परंतु जीवन तथा जगत् के प्रति विज्ञान और धर्म के दृष्टिकोण में पाए जाने वाले आधारभूत अंतर के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसे ध्यान में रखते हुए ट्रूब्लड के इस मत का तर्कसंगत रूप से समर्थन करना बहुत कठिन है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वास्तविक अर्थ में धर्म तथा विज्ञान का समन्वय संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि न तो धर्म विज्ञान के तर्कपूर्ण अनुभवाश्रित दृष्टिकोण को स्वीकार कर सकता है और न विज्ञान श्रुति, आस्था एवं श्रद्धा पर आधारित धर्म के अतिप्रकृतिवादी दृष्टिकोण को। कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति निरीक्षण तथा प्रयोग की वैज्ञानिक विधियों द्वारा अपने धार्मिक विश्वासों और सिद्धांतों की वस्तुपरक एवं निष्पक्ष परीक्षा करने के लिए कभी उद्यत नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करना उसके लिए पाप समझा जाता है। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति धर्म में अखंड आस्था के कारण अपने धर्म के मूल विश्वासों तथा सिद्धांतों की सत्यता एवं प्रामाणिकता में कभी भी संदेह नहीं करता। ऐसी स्थिति में उससे यह आशा करना व्यर्थ ही है कि वह इन विश्वासों और सिद्धांतों की वैज्ञानिक विधियों द्वारा निष्पक्ष परीक्षा करने के लिए उद्यत हो जाएगा। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि धर्म के मूल सिद्धांतों की इन विधियों द्वारा परीक्षा करना संभव ही नहीं है, क्योंकि ये सिद्धांत मूलतः कुछ अतिप्राकृतिक या दैवी शक्तियों के अस्तित्व में आस्था पर आधारित होते हैं जिसके संबंध में विज्ञान कोई निर्णय नहीं दे सकता। उदाहरणार्थ, हम वैज्ञानिक विधियों द्वारा इन धार्मिक विश्वासों की परीक्षा नहीं कर सकते कि "आत्मा अमर है", "ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति का अस्तित्व है", "ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, प्रेममय तथा अत्यंत दयालु है और वही इस जगत् का रचयिता, संचालक एवं संरक्षक है", "मोक्ष अथवा निर्वाण ही

1. डेविड़ ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 205. 218

मानव-जीवन का अंतिम ध्येय है" इत्यादि। ये तथा ऐसे ही अन्य सभी धार्मिक विश्वास विज्ञान की परिधि में नहीं आते, अतः इनकी परीक्षा के लिए वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ट्रूब्लड ने धर्म के मूल विश्वासों एवं सिद्धांतों की निष्पक्ष परीक्षा के लिए वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग का जो सुझाव दिया है वह न तो व्यावहारिक है और न धर्मपरायण व्यक्तियों को स्वीकार्य हो सकता है।

इस समस्या के संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि विज्ञान भी धर्म के आध्यात्मिक तथा अतिप्रकृतिवादी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकता। हम देख चुके हैं कि धर्म के विपरीत विज्ञान का क्षेत्र केवल भौतिक जगत् तक सीमित है और वह निरीक्षण तथा प्रयोग के आधार पर ही किसी प्राक्कल्पना या सिद्धांत को स्वीकार करता है। वह ऐसे किसी विश्वास अथवा सिद्धांत का समर्थन नहीं कर सकता जो श्रुति, श्रद्धा या आस्था पर आधारित है। इस संबंध में विज्ञान का दृष्टिकोण दर्शन के दृष्टिकोण के समान ही है। दर्शन की भाँति विज्ञान भी केवल उसी सिद्धांत को स्वीकार करता है जिसके समर्थन में पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हों। श्रद्धा या आस्था के स्थान पर तर्कबुद्धि ही इन दोनों का मूल आधार है और यह तथ्य इन्हें धर्म से पृथक करता है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, विज्ञान जगत् संबंध सभी तथ्यों की व्याख्या कुछ अनिवार्य प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही करता है जिनमें कारण-कार्य का नियम तथा प्रकृति की समरूपता का नियम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। कारण-कार्य के नियम के अनुसार विश्व में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का कोई प्राकृतिक कारण अवश्य होता है जिसे समझ या खोज कर उसकी समुचित व्याख्या की जा सकती है। प्रकृति की समरूपता का नियम हमें यह बताता है कि प्रकृति में सर्वत्र एक निश्चित व्यवस्था पाई जाती है जिसके फलस्वरूप सभी देशों तथा कालों में समस्त प्राकृतिक वस्तुओं एवं घटनाओं का प्रभाव पूर्णतः समान अथवा एक जैसा होता है और कहीं भी अराजकताया अव्यवस्था दिखाई नहीं देती। इन प्राकृतिक नियमों के आधार पर विज्ञान जगत् की वस्तुओं और घटनाओं की जो व्याख्या करता है वह पूर्णतः यांत्रिक होती है—अर्थात्, उसमें प्रयोजनशीलता, नैतिकता एवं चमत्कारों के लिए कोई स्थान नहीं होता। इस प्रकार की यांत्रिक व्याख्या करते हुए विज्ञान प्राकृतिक घटनाओं में किसी अतिप्राकृतिक या दैवी शक्ति के हस्तक्षेप की संभावना का भी पूर्णतः निषेध करता है। विज्ञान की यह निश्चित मान्यता है कि किसी प्राकृतिक घटना का कोई अतिप्राकृतिक कारण नहीं हो सकता। यदि आज हम किसी घटना का प्राकृतिक कारण नहीं जानते तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका कोई अतिप्राकृतिक कारण है: इसका अर्थ केवल इतना ही है कि हम उस घटना के प्राकृतिक कारण से अभी तक अनभिज्ञ है, अतः इस कारण की खोज की जानी चाहिए। विज्ञान विश्व में अतिप्राकृतिक कारणों की संभावना को अस्वीकार करने के साथ-साथ प्रकृति में प्रयोजनशीलता और नैतिक व्यवस्था का भी निषेध करता है। इसका अर्थ यह है कि प्राकृतिक वस्तुओं तथा घटनाओं के मूल में कोई विशेष प्रयोजन निहित नहीं है और उनमें किसी प्रकार के नैतिक मूल्य भी नहीं पाए जाते।

यह स्पष्ट है कि विज्ञान द्वारा की गई प्राकृतिक घटनाओं की उपर्युक्त यांत्रिक व्याख्या धर्म के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है जिनके अनुसार विश्व का एक निश्चित प्रयोजन है और इसमें अनिवार्यतः नैतिक 'व्यवस्था' पाई जाती है। विज्ञान से संबंधित इस अनिवार्य तथ्य और ऊपर

बताए गए अन्य सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ट्रूब्लड के इस दावे का तर्कसंगत रूप से समर्थन करना संभव नहीं है कि विज्ञान की जड़ें धर्म तथा नैतिकता में हैं। उनके इस दावे के विपरीत वास्तविक स्थिति यह है कि विज्ञान का नैतिकता और धर्म से कोई संबंध नहीं है। हाँ व्यावहारिक जीवन में विज्ञान का उपयोग नैतिक या अनैतिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। परंतु यह उपयोग स्वयं विज्ञान को नैतिक अथवा अनैतिक नहीं बना देता। इसी प्रकार अपने विशुद्ध रूप में विज्ञान न तो धर्म का विरोध करता है और न समर्थन। उसका उद्देश्य तो प्राकृतिक नियमों के आधार पर जगत् की यथातथ्य व्याख्या करना और उसके संबंध में सत्य की खोज करना है। वह इस बात की चिंता नहीं करता कि उसकी यह व्याख्या धर्म के पक्ष में है अथवा विपक्ष में। इस दृष्टि से विज्ञान धर्म के प्रति उदासीन है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, विभिन्न क्षेत्रों में विज्ञान के निष्कर्ष धर्म के मूल विश्वासों तथा सिद्धांतों का खंडन करते है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि विज्ञान एवं धर्म परस्पर पूरक तथा एक-दूसरे के लिए अनिवार्य नहीं हैं और वास्तविक अर्थ में इन दोनों के समन्वय की भी कोई संभावना नहीं है।

धर्म के विरुद्ध विज्ञान द्वारा प्रस्तुत की गई चुनौती की इस विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहाँ धर्मपरायण विचारकों के एक विशेष दावे पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। इस दावे का संबंध चमत्कारों की संभावना और धर्म के लिए उनके महत्त्व से है। लगभग सभी धर्मपरायण दार्शनिक यह मानते हैं कि विश्व में समय-समय पर अनेक ऐसी आश्चर्यजनक तथा अद्भुत घटनाएँ होती रहती हैं जिन्हें 'चमत्कार' कहा जा सकता है। इन दार्शनिकों का यह दावा है कि ये चमत्कार ईश्वर अथवा किसी अंन्य अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति की सत्ता को निश्चित रूप से प्रमाणित करते हैं। उनके इस दावे की प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहने से पूर्व चमत्कारों से संबंधित कुछ मूल प्रश्नों के उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है। ये प्रश्न इस प्रकार हैं। 'चमत्कार' शब्द का ठीक-ठीक अर्थ क्या हैं? क्या किसी घटना को 'चमत्कार' कह देने मात्र से उसकी समुचित व्याख्या हो जाती है? क्या हम वास्तव में यह जान सकते हैं कि ऐसी कोई घटना हुई है जिसे 'चमत्कार' की संज्ञा दी जाती है? क्या ऐसी घटना किसी अतिप्राकृतिक या अलौकिक शक्ति के अस्तित्व को प्रमाणित करती है? क्या वैज्ञानिक दृष्टि से उन चमत्कारों की संभावना को स्वीकार किया जा सकता है जिनमें अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति विश्वास करते हैं? चमत्कारों की समस्या पर युक्तिसंगत रूप से विचार करने के लिए इन सभी प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर खोजना आवश्यक है।

यद्यपि अधिकतर धर्मपरायण व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के चमत्कारों में विश्वास करते हैं, फिर भी 'चमत्कार' शब्द की कोई निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा देना बहुत कठिन हैं। परंतु इस संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः ऐसी घटना को 'चमत्कार' की संज्ञा देते हैं जो प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हैं और जो उनके विचार में ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति की इच्छा के फलस्वरूप घटित होती है। इस प्रकार किसी घटना को 'चमत्कार' की संज्ञा देने के लिए दो शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है—(1) प्राकृतिक नियमों के आधार पर उस घटना की व्याख्या करना संभव न हो; और (2) वह अनिवार्यतः ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति की इच्छा का परिणाम हो। धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः इसी अर्थ में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग करते हैं। ईश्वर-कृपा के

फलस्वरूप मृत व्यक्ति का जीवित हो जाना, किसी धर्म-गुरु या संत के स्पर्श मात्र से रोगी के गंभीर रोग का तुरंत समाप्त हो जाना अथवा विकलांग व्यक्ति का पूर्णतः ठीक हो जाना, केवल दैवी शक्ति के अनुग्रह के कारण जल, भोजन, वस्त्र, धन आदि किसी इच्छित वस्तु का अपने आप तुरंत उपलब्ध हो जाना चमत्कारों के उदाहरण हैं। धर्मपरायण विचारकों का विश्वास है कि संसार में ऐसे चमत्कार प्रायः होते रहते हैं जो ईश्वर अथवा किसी अन्य अलौकिक शक्ति की सत्ता को प्रमाणित करते हैं। इन चमत्कारों द्वारा अपनी आराध्य अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व में उन व्यक्तियों का विश्वास और अधिक दृढ़ हो जाता है जो उसमें पहले से ही आस्था रखते हैं। इस दृष्टि से धर्म के प्रचार तथा प्रसार के लिए इन चमत्कारों का विशेष महत्त्व है। यही कारण है कि विश्व के लगभग सभी धर्मों में किसी न किसी प्रकार के चमत्कारों को अवश्य स्वीकार किया जाता है और इनके आधार पर आस्थावान व्यक्तियों में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की जाती है। सामान्य धर्मपरायण व्यक्ति ही नहीं, अपितु ईश्वरवादी दार्शनिक भी इन चमत्कारों की संभावना और इनके महत्त्व में पूर्णतः विश्वास करते हैं।

चमत्कारों के विषय में अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए हम यहाँ एक ईश्वरवादी दार्शनिक, ट्रूब्लड के विचारों का उल्लेख करेंगे। वे निश्चित रूप से यह मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा के परिणामस्वरूप संसार में चमत्कार हो सकते हैं और होते हैं। इस संबंध में उनका स्पष्ट कथन है कि "यदि यह विश्व वास्तव में ईश्वर के वैयक्तिक कार्य का माध्यभ है तो चमत्कार पूर्णतः सामान्य बात है। जिसे हम 'चमत्कार' कहते हैं वह एक ऐसी स्थिति है जिसमें प्रयोजन की नियमितता अथवा निरंतरता के कारण साधनों का सुस्पष्ट समायोजन अनिवार्य हो जाता है।... संक्षेप में चमत्कार कोई रहस्यपूर्ण घटना नहीं है जैसा कि सामान्यतः माना जाता है।... यह वास्तव में ऐसी घटना है जिसे समझा जा सकता है। यह अवधारणा चमत्कारों को विश्व-व्यवस्था की युक्तिसंगत विशेषता बना देती है। यह एक विशेष बौद्धिक लाभ है, क्योंकि दीर्घ काल से चमत्कारों के होने का प्रमाण प्राप्त होता रहा है किंतु चमत्कारों में विश्वास को असंभव बना देने वाले प्राकृतिक नियम को मानने के कारण बहुत-से लोग इस प्रमाण की परीक्षा किए बिना ही इसे अस्वीकार करने के लिए बाध्य हुए हैं। विश्व के प्रयोजन का विचार मनुष्यों को इस पूर्वाग्रह के बंधन से मुक्त करता है।... यदि ईश्वरीय प्रयोजन की निरंतरता के आधार पर विश्व-व्यवस्था की व्याख्या की जाए तो उपासना तथा चमत्कार दोनों से संबंधित विश्वास में उपस्थित होने वाली बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं।" ट्रूब्लड के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे चमत्कारों के अस्तित्व को संभव ही नहीं, अपितु विश्व में विद्यमान व्यवस्था की समुचित व्याख्या के लिए अनिवार्य भी मानते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में इसी मत का समर्थन करते हैं।

परंतु चमत्कारों की संभावना तथा सत्यता के संबंध में धर्मपरायण व्यक्तियों और ईश्वरवादी दार्शनिकों का उपर्युक्त मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। उनके इस मत के विरुद्ध अनेक प्रबल तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:-

---

2. वही पुस्तक, पृ० 216-217

(1) सर्वप्रथम जिस अर्थ में धर्मपरायण व्यक्ति 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में वस्तुतः चमत्कार के होने की कोई संभावना नहीं है। हम ऊपर बता चुके हैं कि इस विश्व में समस्त घटनाएँ कारण-कार्य के नियम तथा कुछ अन्य अनिवार्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही घटित होती हैं। इन प्राकृतिक नियमों में किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति के हस्तक्षेप का विचार निश्चय ही युक्तिसंगत नहीं है। विज्ञान के फलस्वरूप आधुनिक मनुष्य में जिस तर्कपूर्ण बौद्धिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है उसमें चमत्कार जैसी काल्पनिक तथा अवैज्ञानिक अवधारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। आज कोई भी विचारशील व्यक्ति यह स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हो सकता कि किसी दैवी शक्ति की कृपा के कारण कोई मृत व्यक्ति पुनः जीवित हो सकता है, किसी धर्म-गुरु के स्पर्श मात्र से असाध्य रोग का अंत हो सकता है अथवा कोई उपचार किए बिना ही केवल ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप किसी बधिर या दृष्टिहीन व्यक्ति को श्रवण-शक्ति अथवा नेत्र-ज्योति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार की बातें आधुनिक युग के विवेकशील मनुष्य को परी-कथाओं की भाँति नितांत काल्पनिक तथा अयुक्तिसंगत ही प्रतीत होती हैं जिनमें विश्वास करने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। वस्तुतः इस विश्व में अनिवार्य प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध किसी अलौकिक शक्ति के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप कोई घटना घटित नहीं हो सकती। विश्व के धर्मों में विभिन्न प्रकार के चमत्कारों की जो कहानियाँ प्रचलित हैं वे मिथ्या तथा निराधार हैं और जनसाधारण के जीवन पर धर्म-गुरुओं के एकाधिपत्य को बनाए रखने के लिए जान-बूझ कर गढ़ी-गई हैं। इन कहानियों के कारण सामान्य व्यक्ति धर्म-गुरुओं द्वारा कही गई सभी बातों में सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप समाज पर इन धर्म-गुरुओं का पूर्ण वर्चस्व सदा बना रहता है। इसी दृष्टि से धर्म तथा उसके प्रचार के लिए चमत्कारों का विशेष महत्त्व है। परंतु मनुष्य की तर्कबुद्धि किसी भी रूप में इन चमत्कारों की संभावना का समर्थन नहीं करती। विभिन्न धर्मों में चमत्कारों से संबंधित जो कहानियाँ पाई जाती हैं उनकी सत्यता एवं प्रामाणिकता के लिए कोई ऐसे विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जो प्राकृतिक नियमों के अनुरूप हों और तार्किक दृष्टि से संतोषप्रद हों।

(2) यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी घटना को 'चमत्कार' कह देने मात्र से उसकी व्याख्या नहीं हो जाती। वास्तव में किसी घटना की व्याख्या का अर्थ है ऐसे सामान्य नियम की खोज करना जिसके अनुसार वह घटना घटित हुई है और उसी प्रकार की अन्य सभी घटनाओं के घटित होने की ठीक-ठीक भविष्यवाणी की जा सकती है। ऐसी व्याख्या के लिए निरीक्षण, प्रयोग आदि वैज्ञानिक विधियों का ही उपयोग किया जाता है जिनके द्वारा उस घटना के सही कारण अथवा कारणों की समुचित रूप से खोज की जाती है। संसार में घटित होने वाली किसी भी घटना की ठीक-ठीक व्याख्या करने के लिए यही उपयुक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया है। परंतु ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा दी गई चमत्कार की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि इस वैज्ञानिक प्रक्रिया का उन घटनाओं की व्याख्या के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता जिन्हें ये दार्शनिक 'चमत्कार' की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः धर्मपरायण व्यक्ति स्वयं यह स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध तथा अलौकिक शक्ति के हस्तक्षेप का परिणाम होने के कारण ये चमत्कार वैज्ञानिक व्याख्या से

परे हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि किसी घटना को 'चमत्कार' की संज्ञा देना उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करना नहीं है। इस प्रकार किसी काल्पनिक अलौकिक शक्ति की मनमानी इच्छा पर आधारित होने के कारण न तो चमत्कार की कोई वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है और न ही चमत्कार किसी घटना की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।

(3) धर्मपरायण विचारकों का यह दावा भी युक्तिसंगत नहीं है कि चमत्कार ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। धर्म-गुरु प्रायः अपने अनुयायियों को यह विश्वास दिलाते हैं कि चमत्कारों द्वारा उस अलौकिक शक्ति की सत्ता प्रमाणित होती है जिसमें वे आस्था रखते हैं। इसके लिए वे यह तर्क देते हैं कि केवल ऐसी अलौकिक शक्ति ही प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध समझे जाने वाले कार्य कर सकती है। परंतु चमत्कारों के आधार पर किसी अतिप्राकृतिक शक्ति की सत्ता के समर्थन में दिया गया धर्म-गुरुओं का उपर्युक्त तर्क पूर्णतः भ्रामक है। इसका कारण यह है कि इस तर्क में उस अलौकिक शक्ति के अस्तित्व को पहले से ही मान लिया गया है जिसे प्रमाणित करने के लिए यह तर्क दिया जाता है। यदि उस अलौकिक शक्ति की सत्ता न होती तो उसके द्वारा किए गए किसी प्रकार के चमत्कार का प्रश्न ही न उठता। इससे स्पष्ट है कि यदि चमत्कारों की संभावना को स्वीकार कर लिया जाए तो इन्हें किसी अतिप्राकृतिक शक्ति का परिणाम ही माना जा सकता है, उसके अस्तित्व का प्रमाण नहीं। धर्मपरायण विचारक पहले तो किसी अलौकिक शक्ति के आधार पर चमत्कारों के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और फिर इन चमत्कारों के आधार पर उस अलौकिक शक्ति की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं जिसके फलस्वरूप उनका तर्क दोषपूर्ण तथा अविश्वसनीय हो जाता है। वस्तुतः ऐसे भ्रामक तर्क द्वारा न तो किसी अतिप्राकृतिक शक्ति की सत्ता सिद्ध होती है और न चमत्कारों की संभावना। इस प्रकार धर्मपरायण विचारकों की यह मान्यता अयुक्तिसंगत है कि चमत्कार ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

(4) जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, चमत्कारों से संबंधित विश्वास मूलतः इस मान्यता पर आधारित हैं कि ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति का अस्तित्व है। इस धार्मिक मान्यता को स्वीकार किए बिना चमत्कारों की संभावना में विश्वास नहीं किया जा सकता। परंतु धर्मपरायण विचारकों की यह मान्यता अत्यंत विवादास्पद है। हम इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में सविस्तार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिए गए सभी प्रमाण दोषपूर्ण होने के कारण अविश्वसनीय हैं। इनमें से कोई भी प्रमाण युक्तिसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में समर्थ नहीं है। यही बात ऐसी किसी भी शक्ति की सत्ता के विषय में कही जा सकती है जिसे अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति माना जाता है। ऐसी अलौकिक शक्ति में विश्वास करने वाले विचारक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य तर्कबुद्धि तथा अनुभव द्वारा इसके अस्तित्व और स्वरूप को नहीं जान सकता। किसी भी वैज्ञानिक विधि द्वारा इस अतिप्राकृतिक शक्ति की व्याख्या तथा परीक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इसे मनुष्य के अनुभव से परे माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति के अस्तित्व में विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। अब यदि

अलौकिक शक्ति की सत्ता ही संदिग्ध है तो उस पर आधारित चमत्कारों की संभावना का युक्तिसंगत रूप से समर्थन करना असंभव हो जाता है। जो धर्मपरायण व्यक्ति चमत्कारों में विश्वास करते हैं वे बिना किसी प्रमाण के—केवल अपनी आस्था के आधार पर—इन्हें सत्य मान लेते हैं। परंतु विज्ञान निश्चय ही ऐसी निर्बौद्धिक आस्था को प्रामाणिक नहीं मान सकता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से चमत्कारों का मूल आधार ही अयुक्तिसंगत है,अतः तर्कसंगत रूप से इन चमत्कारों की संभावना में विश्वास करेना संभव नहीं है। चमत्कारों के अतिरिक्त धर्मपरायण व्यक्ति स्वर्ग, नरक आदि जिन तथाकथित पारलौकिक सत्ताओं में विश्वास करते हैं उनके संबंध में भी विज्ञान का यही निषेधात्मक दृष्टिकोण है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि 'धर्म' के प्रचलित सामान्य अर्थ में विज्ञान निश्चय ही उसके विरुद्ध गंभीर चुनौती प्रस्तुत करता है।

3. मार्क्सवाद और धर्म

कॉपरनिकस, लाप्लास, डार्विन आदि महान वैज्ञानिकों के अतिरिक्त सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों से संबद्ध कुछ क्रांतिकारी विचारकों ने भी धर्म के विरुद्ध गंभीर चुनौती प्रस्तुत की है। इन विचारकों में कार्ल मार्क्स (1818-1883) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो उन्नीसवीं शताब्दी के महान दार्शनिक थे और जिन्होंने मानव-समाज में एक नवीन क्रांतिकारी समाजवादी व्यवस्था को जन्म दिया। उनके परंपरा-विरोधी विचारों के फलस्वरूप मानव-जीवन के राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में अभूतपूर्व क्रांति हुई जिसके व्यापक परिणाम आज भी विश्व के अनेक देशों में स्पष्टतः विद्यमान हैं। यहाँ हम मानव-समाज पर धर्म के प्रभाव के विषय में मार्क्स के विचारों का उल्लेख करेंगे और यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि उन्होंने धर्म के विरुद्ध क्यों तथा किस प्रकार की चुनौती प्रस्तुत की। परंतु धर्म के संबंध में उनके मत की विवेचना करने से पूर्व उनके व्यक्तिगत जीवन, तत्कालीन यूरोपीय समाज तथा उस युग में प्रचलित मुख्य दार्शनिक विचारधाराओं की संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक है।

कार्ल मार्क्स का जन्म जर्मनी के नगर, 'राइनलैंड' में 1818 में हुआ था। उनका परिवार यहूदी धर्म में विश्वास करता था और आर्थिक दृष्टि से संपन्न था। उनके पिता वकील थे और अपने व्यवसाय के अतिरिक्त यूरोप की तत्कालीन राजनैतिक गतिविधि तथा दार्शनिक विचारधारा में भी रुचि रखते थे। वाल्टेयर तथा रूसो के क्रांतिकारी विचारों का उन पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा था। यद्यपि मार्क्स के माता-पिता यहूदी धर्म के अनुयायी थे,फिर भी उनके जीवन पर इस धर्म का अधिक प्रभाव नहीं था। इस प्रकार मार्क्स का परिवार धार्मिक रूढ़िवाद तथा अंधविश्वास से लगभग मुक्त था, अतः यह कहना उचित ही होगा कि उनका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में नहीं हुआ था। मार्क्स के शैशवकालीन जीवन से संबंधित इस तथ्य को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि बाद में उन्होंने धर्म का जो तीव्र विरोध किया वह उनके परिवार की धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं था। वस्तुतः धर्म का यह विरोध उनके अपने व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों तथा मौलिक चिंतन का ही परिणाम था। अपने अध्ययन-काल में ही उन्होंने धर्म का विरोध

करना आरंभ कर दिया था। पी-एच०डी० की परीक्षा के लिए मार्क्स ने 1841 में जे शोधप्रबंध लिखा था उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से धर्म के विरुद्ध अपने विचार अभिव्यक्त किए थे। इससे स्पष्ट है कि वे अपनी युवावस्था में ही धर्म की तीव्र आलोचना करने लगे थे।

धर्म की आलोचना के साथ-साथ मार्क्स जर्मनी की तत्कालीन सरकार के कार्यों की भी आलोचना करते थे जिसके फलस्वरूप उन्हें 1843 में अपना देश छोड़ कर फ्रांस की राजधानी, पैरिस जाना पड़ा। यहीं पर 1844 में उनकी भेंट फ्रैड्रिक ऐंजेल्स (1820-1895) से हुई जो आजीवन उनके अभिन्न मित्र तथा सहयोगी रहे। मार्क्स ने अपने जीवन में जो महान ख्याति और सफलताएँ प्राप्त कीं उनमें ऐंजेल्स का बहुत बड़ा योगदान था। ऐंजेल्स आर्थिक दृष्टि से संपन्न परिवार के व्यक्ति थे, अतः वे अपने मित्र मार्क्स की निरंतर आर्थिक सहायता करते रहे। वस्तुतः यदि मार्क्स को उनकी यह आर्थिक सहायता प्राप्त न होती तो वे विश्व को वह क्रांतिकारी दर्शन न दे पाते जो उन्होंने दिया। जर्मनी की तत्कालीन सरकार के दबाव के कारण मार्क्स को फ्रांस से भी निकाल दिया गया और तब वे ब्रुसेल्ज़ चले गए। यहीं पर उन्होंने तथा ऐंजेल्स ने 1848 में संयुक्त रूप से साम्यवाद का घोषणा–पत्र, 'दि कॉम्स्युनिस्ट मैनिफेस्टो' प्रकाशित किया जिसका आज भी साम्यवादी दर्शन के अध्ययन के लिए बहुत महत्त्व है। कुछ समय के पश्चात मार्क्स को ब्रुसेल्ज़ से भी निकाल दिया गया और वे पुनः अपने देश, जर्मनी लौट गए। परंतु यहाँ भी वे अधिक समय तक नहीं रह सके और 1849 में अपने देश की नागरिकता को सदा के लिए छोड़ कर लंदन चले गए जहाँ उन्होंने अपना शेष जीवन व्यतीत किया। यहीं पर पूँजीवादी व्यवस्था और अपने व्यक्तिगत जीवन के भयंकर अभावों के विरुद्ध सतत संघर्ष करते हुए घोर दरिद्रता की अवस्था में 1883 में उनका देहांत हुआ।

मार्क्स के लंदन में आने के लगभग एक वर्ष पश्चात 1850 में ऐंजेल्स भी वहाँ आ गए और उन दोनों ने अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास तथा दर्शन का अध्ययन आरंभ कर दिया। अध्ययन तथा अनुसंधान के साथ-साथ वे लेख लिखने और श्रमिकों के समक्ष भाषण देने का कार्य भी करते रहे। उन्होंने श्रमिकों को संगठित किया और उनमें एकता की भावना उत्पन्न की। 1864 में उन्होंने लंदन में 'अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ' की विधिवत स्थापना की। मार्क्स तथा ऐंजेल्स ने यह संपूर्ण प्रयास दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया था। उनका प्रथम लक्ष्य था पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था एवं समाज के तत्त्वों का आलोचनात्मक विश्लेषण करना जिससे इस व्यवस्था की दुर्बलताओं और कठिनाइयों को भलीभाँति समझा जा सके। उनका दूसरा उद्देश्य था पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को समाप्त कर के उसके स्थान पर सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से न्याय और समता पर आधारित साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए सुदृढ़ आधार–भूमि तैयार करना। साम्यवाद के घोषणा–पत्र, 'दि कॉम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में इस साम्यवादी समाज की रूपरेखा का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसमें यह कहा गया है कि साम्यवादी समाज वास्तविक अर्थ में लोकतंत्रात्मक होगा जिसमें अपना अधिकतम विकास करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को समुचित स्वतंत्रता प्राप्त होगी। यह वर्गहीन समाज होगा और इसमें उत्पादन तथा वितरण के समस्त साधनों पर केवल समाज का ही नियंत्रण होगा। व्यक्तिगत संपत्ति का इस वर्गहीन समाज में कोई स्थान नहीं होगा। केवल न्याय और समानता के आधार पर ही इस समाज में वस्तुओं तथा सेवाओं का वितरण किया जाएगा। इस वर्गहीन

साम्यवादी समाज में श्रमिकों तथा कृषकों का दमन करने के लिए पुलिस, न्यायालय तथा सेना की कोई आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि इसमें सर्वहारा वर्ग का अपना ही शासन होगा। साम्यवादी समाज की इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि मार्क्स तथा ऐंजेल्स ने संपूर्ण मानव-जाति के सर्वांगीण विकास के लिए एक ऐसे आदर्श समाज का सपना देखा था जिसमें शोषण, अन्याय एवं अत्याचार न हो और जो मनुष्य की प्रतिष्ठा, स्वतंत्रता, न्याय तथा समानता के महान सिद्धांतों पर आधारित हो। परंतु दुर्भाग्यपूर्ण कठोर वास्तविकता यही है कि स्वयं साम्यवादी जगत् में भी ऐसे आदर्श समाज की स्थापना से संबंधित उनका यह सपना साकार नहीं हो सका।

इसके विपरीत कम से कम राजनैतिक दृष्टि से साम्यवादी शासन—व्यवस्था आज असफल होती दिखाई दे रही है। पिछले कुछ समय में साम्यवादी शासन-प्रणाली को स्वीकार करने वाले चीन तथा पूर्वी यूरोप के सभी देशों में इस प्रणाली के विरुद्ध जो व्यापक जन-विद्रोह हुआ है उससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि साम्यवादी व्यवस्था जनता की उन आशाओं और आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकी जिनकी पूर्ति के लिए इस व्यवस्था की स्थापना की गई थी। हम देख चुके हैं कि मार्क्स तथा ऐंजेल्स सामाजिक न्याय एवं समता के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा को भी बहुत महत्त्व देते थे। परंतु वर्तमान शताब्दी में रूस, चीन तथा पूर्वी यूरोप के देशों में जो साम्यवादी शासन-प्रणाली स्थापित हुई इसमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं था। इन सभी देशों में एकमात्र साम्यवादी दल के अधिनायकवाद का उदय हुआ और संपूर्ण शासन-प्रणाली पर किसी एक नेता तथा उसके कुछ थोड़े-से समर्थकों की जकड़ इतनी कठोर हो गई कि इस व्यवस्था का जरा-सा विरोध करने वाले व्यक्तियों को भी बड़ी निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन देशों में जनता की स्वतंत्रता पूर्णतः समाप्त हो गई और प्रशासकों का जनसाधारण के साथ कोई संपर्क नहीं रहा। कुछ समय तक तो जनता ने परतंत्रतापूर्ण इस दुखद स्थिति को सहन किया, किंतु साम्यवादी नेता यह भूल गए कि यह स्थिति दीर्घ काल तक नहीं चल सकती थी। अंततः अधिकतर साम्यवादी देशों की जनता ने मनुष्य की प्रतिष्ठा एवं स्वतंत्रता को नष्ट करने वाली इस शासन-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अब स्थिति यह है कि विश्व में साम्यवादी व्यवस्था का भविष्य उज्ज्वल दिखाई नहीं दे रहा। इस प्रकार मार्क्स तथा ऐंजेल्स ने न्याय, समानता एवं स्वतंत्रता पर आधारित जिस आदर्श साम्यवादी समाज का स्वप्न देखा था वह अपूर्ण ही रह गया और भविष्य में भी उसके साकार होने की अधिक संभावना नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्याय, शोषण तथा अत्याचार से मुक्त आदर्श समाज संबंधी मार्क्स और ऐंजेल्स का उपर्युक्त सपना उस युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम था जिसमें इन महान क्रांतिकारी विचारकों का जन्म हुआ था। उस समय तक यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी और कृषि तथा पशु—पालन से संबंधित प्राचीन व्यवसायों के स्थान पर बड़े-बड़े नगरों में नए उद्योगों का आरंभ हो रहा था। इन उद्योगों की स्थापना के लिए बड़े-बड़े यंत्र-चालित कारखाने खोले जा रहे थे जिनमें सहस्रों श्रमिक दिन-रात निरंतर कार्य करते थे। इन कारखानों के स्वामी कुछ थोड़े-से पूँजीपति थे जिनका एकमात्र उद्देश्य स्वयं अपने लिए ही अधिकाधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। इन

पूँजीपतियों के अतिरिक्त व्यापारियों के एक नए वर्ग का भी उदय हो चुका था जो कारखानों में निर्मित वस्तुओं के विक्रय से भारी आर्थिक लाभ उठाता था। इस प्रकार औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप का तत्कालीन समाज दो मुख्य वर्गों में विभाजित हो चुका था जिनका मार्क्स और ऐंजेल्स ने अपनी कृतियों में विस्तृत वर्णन किया है। एक वर्ग में कुछ थोड़े-से पूँजीपति थे जो अपने कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का अधिक से अधिक शोषण करते थे और जो इस शोषण के कारण आर्थिक दृष्टि से संपन्न होते जाते थे। व्यापारी, प्रशासक, धर्म-गुरू तथा पुरोहित भी इस पूँजीपति वर्ग का ही समर्थन करते थे, अतः संपूर्ण सत्ता इसी वर्ग के हाथ में थी। उत्पादन और वितरण के समस्त साधनों पर इसी वर्ग का पूर्ण नियंत्रण था। केवल यही पूँजीपति वर्ग इस बात का निर्णय करता था कि देश की अर्थ-व्यवस्था किस प्रकार की होगी और उसके इस निर्णय का एकमात्र आधार उसका अपना आर्थिक लाभ ही होता था। इस प्रकार संपूर्ण शासन-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था पर इस पूँजीपति वर्ग का ही एकाधिकार था।

उपर्युक्त सर्वाधिकारसंपन्न वर्ग के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग भी था जिसमें खेतों और कारखानों में कार्य करने वाले सभी कृषक तथा श्रमिक सम्मिलित थे। इसे ही मार्क्स ने 'सर्वहारा वर्ग' की संज्ञा दी है। उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर इस वर्ग का कोई नियंत्रण नहीं था, क्योंकि इसके पास अपनी पूँजी नहीं थी। इस वर्ग के व्यक्ति केवल अपना श्रम बेच कर ही जीविकोपार्जन कर सकते थे। पूँजीपति वर्ग की तुलना में इस वर्ग के व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक थी, किंतु फिर भी उन्हें किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे और देश की अर्थ-व्यवस्था के निर्धारण में भी उनकी कोई भूमिका नहीं थी। वे पूँजीपतियों की मनमानी शर्तों पर ही उन्हें अपना श्रम बेचने के लिए बाध्य थे। यही कारण है कि सत्तासंपन्न पूँजीपति इन कृषकों तथा श्रमिकों का आर्थिक दृष्टि से अधिकाधिक शोषण करते थे। उनके कारखानों में श्रमिकों को अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रति दिन बहुत अधिक समय तक कार्य करना पड़ता था और उन्हें केवल इतना ही पारिश्रमिक दिया जाता था जिस पर वे किसी प्रकार जीवित रह सकें। इस आर्थिक शोषण के कारण ये श्रमिक तथा इनके परिवार अत्यधिक दरिद्रता की अवस्था में अपना जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य थे। भूमिपतियों के खेतों में कार्य करने वाले कृषकों की भी यही दयनीय स्थिति थी। प्रशासक, पूँजीपति, व्यापारी तथा पुरोहित सभी मिल कर कृषकों और श्रमिकों की इस दयनीय अवस्था को बनाए रखने के लिए अपने-अपने ढंग से यथासंभव प्रयास करते थे। मार्क्स और ऐंजेल्स को श्रमिकों तथा कृषकों की इस दुखद स्थिति का व्यक्तिगत अनुभव था, क्योंकि उन्होंने बहुत निकट से इसे देखा था। ऐंजेल्स के पिता का मेंचेस्टर में अपना कारखाना था जिसमें बहुत-से श्रमिक उन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों में निरंतर कार्य करते रहते थे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। ऐंजेल्स के कारण इन श्रमिकों के साथ मार्क्स का भी बहुत घनिष्ठ संबंध था। इस प्रकार मार्क्स तथा ऐंजेल्स के दर्शन का जन्म ऐसे यूरोपीय समाज की पृष्ठभूमि में हुआ था जो अन्याय एवं असमानता पर आधारित उपर्युक्त दो वर्गों में विभाजित हो चुका था और जिसमें थोड़े-से पूँजीपतियों का वर्ग विशाल सर्वहारा वर्ग का घोर शोषण कर रहा था।

तत्कालीन यूरोपीय समाज के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इसमें विद्यमान पूँजीपतियों के वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग में अत्यधिक आर्थिक असमानता थी जो मूलतः अन्याय में शोषण पर आधरित पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थी। मार्क्स तथा ऐंजेल्स के दर्शन का मुख्य उद्देश्य इसी अन्यायपूर्ण व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त कर के इसके स्थान पर एक ऐसी नई अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना था जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण न कर सके और जो न्याय, समता, स्वतंत्रता एवं मनुष्य की प्रतिष्ठा पर आधारित हो। ये दोनों विचारक अपने भाषणों तथा लेखों द्वारा समाज में ऐसी न्यायपूर्ण अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के लिए आजीवन सतत प्रयास करते रहे। इसके लिए उन्होंने श्रमिकों को संगठित किया और अपने अधिकारों के प्रति उनमें जागृति उत्पन्न की। अपनी पुस्तकों द्वारा उन्होंने कृषकों तथा श्रमिकों को उस घोर अन्याय से अवगत कराया जो उनके सांथ पूँजीपतियों द्वारा किया जा रहा था। साम्यवाद के घोषणापत्र में मार्क्स और ऐंजेल्स ने स्पष्ट रूप से संसार के सभी श्रमिकों को परस्पर संगठित हो जाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस संबंध में विश्वव्यापी क्रांति के लिए सभी देशों के श्रमिकों का आह्वान करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा कि :–"साम्यवादी क्रांति के समक्ष शासक वर्गों को कांपने दो। श्रमिकों को अपनी बेड़ियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खोना है। जीतने के लिए उनके सामने सारा संसार पड़ा है। सभी देशों के श्रमिको, संगठित हो जाओ।"[3] मार्क्स और ऐंजेल्स के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि वे संसार के सभी श्रमिकों तथा कृषकों को संगठित कर के अन्यायपूर्ण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर न्याय, समता एवं मानवीय प्रतिष्ठा को स्वीकार करने वाली नवीन साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। वस्तुतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने क्रांतिकारी साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया था जिसका विश्व पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

धर्म तथा मानव-समाज में उसकी नकारात्मक भूमिका के विषय में मार्क्स के मत की विवेचना करने से पूर्व यहाँ संक्षेप में उनकी साम्यवादी विचारधारा के दार्शनिक आधार का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। जिस समय मार्क्स अपने साम्यवाद का प्रतिपादन कर रहे थे उस समय यूरोप के अधिकतर विचारकों पर जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक जी० डब्ल्यू० एफ़० हीगेल (1770-1831) के अध्यात्मवादी दर्शन का बहुत गहरा प्रभाव था। मार्क्स ने भी हीगेल के दर्शन का अध्ययन किया था, किंतु भौतिकवादी विचारक होने के कारण उन्होंने हीगेल के प्रत्ययवाद अथवा अध्यात्मवाद को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। हीगेल के विपरीत वे निश्चित रूप से यह मानते थे कि जगत् की अंतिम सत्ता आध्यात्मिक परम तत्त्व नहीं, अपितु पुद्गल ही है। समस्त वस्तुओं तथा प्राणियों का विकास मूलतः इस पुद्गल से हुआ है। परंतु हीगेल के प्रत्ययवाद को अस्वीकार करते हुए भी मार्क्स ने उनकी द्वंद्वात्मक प्रणाली को पूर्णतः स्वीकार किया है जिसके अनुसार प्रत्येक नए विचार का विकास पुराने विचारों में द्वंद्व या संघर्ष के फलस्वरूप ही होता है। भौतिकवाद के साथ-साथ इस द्वंद्वात्मक प्रणाली को स्वीकार करने के कारण ही उनके सिद्धांत को 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' की संज्ञा दी जाती

---

3. मार्क्स और ऐंजेल्स, 'दि काम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो', एच० जे० लास्की द्वारा संपादित, पृ० 168

है। इस प्रकार भौतिकवाद तथा हीगेल की द्वंद्वात्मक प्रणाली को मिला कर मार्क्स ने एक नवीन भौतिकवादी समाज-दर्शन का प्रतिपादन किया है।

मार्क्स के इस नए दर्शन का मूल आधार है भौतिक वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण से संबंधित मनुष्य की आर्थिक क्रिया। उनका निश्चित मत है कि यह आर्थिक क्रिया ही मनुष्य के विचारों तथा उसकी अन्य सभी क्रियाओं को निर्धारित और नियंत्रित करती है। संपूर्ण मानव-जीवन मूलतः समाज की अर्थ-व्यवस्था पर ही आधारित रहता है। साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि समस्त मानवीय क्रियाओं का एकमात्र मूल आधार यह अर्थ-व्यवस्था ही है। अपने भौतिकवादी दर्शन के इसी मूल सिद्धांत की व्याख्या करते हुए मार्क्स कहते हैं कि :—"भौतिक जीवन से संबंधित उत्पादन-प्रणाली ही जीवन की सामाजिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती है। मनुष्यों के अस्तित्व को उनकी चेतना नहीं; अपितु उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करता है"।[4] इस प्रकार मार्क्स के मतानुसार मनुष्य के समस्त विचार तथा उसके जीवन की सभी क्रियाएँ अंततः समाज की अर्थ-व्यवस्था पर ही आधारित रहती हैं, अतः मानव-जीवन में इस अर्थ-व्यवस्था का सर्वाधिक महत्त्व है। परंतु उनकी इस मान्यता का यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य केवल शरीर मात्र है और उसके जीवन में स्वतंत्रता, सृजनशीलता, कल्पना, भावना विचारशीलता आदि का कोई महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत मार्क्स मानव-जीवन के लिए इन सब को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका विचार केवल यही है कि ये सब समाज के अर्थतंत्र द्वारा ही शासित होते हैं। हम जिन दार्शनिक सिद्धांतों, राजनैतिक विचारों तथा धार्मिक विश्वासों को स्वीकार करते हैं उनका निर्धारक तत्त्व समाज का यह अर्थतंत्र ही है ज़ो हमारी समस्त क्रियाओं का केंद्र बिंदु है। इन सबके महत्त्व को समझने और इनका मूल्यांकन करने के लिए इस आधारभूत तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस प्रकार मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद-जिस पर उनका संपूर्ण दर्शन आधारित है—मूलतः समाज की अर्थ-व्यवस्था से जुड़ा हुआ है।

मार्क्स की मृत्यु के पश्चात मानव-समाज के लिए उनके योगदान की चर्चा करते हुए ऐंजेल्स ने उनके साम्यवादी दर्शन के उपर्युक्त आर्थिक पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इस संबंध में ऐंजेल्स ने जो कुछ कहा है उसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि उन्हें मार्क्स के विचारों का पूर्णतः विश्वसनीय व्याख्याकार माना जाता है। मानव-जाति के प्रति मार्क्स के महान योगदान की प्रशंसा करते हुए ऐंजेल्स ने लंदन में उनकी समाधि पर उनके संपूर्ण दर्शन का सारांश निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है :—"जिस प्रकार डार्विन ने जैविक प्रकृति में विकास के नियम की खोज की थी, उसी प्रकार मार्क्स ने मानव-इतिहास में विकास के नियम की खोज की। मार्क्स से पूर्व विचारों के झाड़-झंकाड़ में छिपा वह नियम यह सीधा-सादा तथ्य है कि राजनीति, विज्ञान, कला तथा धर्म की ओर ध्यान देने से पूर्व मनुष्यों को भोजन, जल, मकान एवं वस्त्र की अनिवार्य आवश्यकता होती है; अतः जीवन के लिए आवश्यक भौतिक साधनों का उत्पादन वह मूल आधार है जिससे राज्य की संस्थाएँ, क़ानूनी सिद्धांत, कला तथा लोगों के धार्मिक विचार विकसित हुए हैं और जिसके द्वारा अनिवार्यतः इनकी

4. कार्ल मार्क्स, 'ए कंट्रिब्यूशन टु दि क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनामी', 1897 का द्वितीय जर्मन संस्करण, अनुवादक, एन० आई० स्टोन, पृ० 11

व्याख्या की जानी चाहिए"।[5] मार्क्स के योगदान के विषय में ऐंजेल्स के इन विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उनका संपूर्ण दर्शन मानव-जीवन के उस पुरुषार्थ पर ही आधारित है जिसे भारतीय दर्शन में 'अर्थ' की संज्ञा दी गई है। चार पुरुषार्थों में से केवल इसी एक पुरुषार्थ को केंद्रबिंदु मान कर मार्क्स ने मानव-जीवन की समस्त क्रियाओं तथा समस्याओं पर विचार किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उनके दर्शन को 'अर्थकेंद्रित दर्शन' कहा जा सकता है।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, अपने इस अर्थकेंद्रित दर्शन में मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की तीव्र आलोचना की है और उसके अनेक गंभीर दोषों का सविस्तार वर्णन किया है। इस अर्थ-व्यवस्था के फलस्वरूप सर्वाधिकारसंपन्न पूँजीपतियों तथा समस्त अधिकारों से वंचित निर्धन श्रमिकों में जो घोर आर्थिक विषमता उत्पन्न हुई है उसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। इस विषमता के अतिरिक्त पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कारण प्रत्येक श्रमिक के जीवन में एक अलगाव, परायापन या पृथकीकरण भी उत्पन्न हुआ है जो उसके लिए बहुत दुखद है। अपने आर्थिक जीवन से संबंधित सभी क्षेत्रों में वह निरतर इस अलगाव का अनुभव क़रता है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की किसी भी क्रिया के साथ उसका कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं रहता। श्रमिक के जीवन में इस दुखद अलगाव को अनेक रूपों में देखा जा सकता है। सर्वप्रथम वह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में स्वयं अपने आप से अलगाव का अनुभव करता है। उत्पादन के महा यंत्र में वह एक स्वतंत्र तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति न रह कर अन्य यंत्रों की भाँति स्वयं भी यंत्र मात्र रह जाता है। उत्पादन की संपूर्ण प्रक्रिया में श्रमिक का अपना कोई स्वतंत्र निर्णय नहीं होता, उसे केवल वही कार्य करना पड़ता है जो उसे करने के लिए कहा जाता है। व्यापारिक बाजार में केवल माँग और पूर्ति के आधार पर उसका भी उसी प्रकार क्रय-विक्रय होता है जिस प्रकार कारखानों में निर्मित भौतिक वस्तुओं का। वस्तुतः मार्क्स के मतानुसार इस पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था में एक स्वतंत्र और सम्मानित व्यक्ति के रूप में श्रमिक का अपना कोई महत्त्व नहीं रह जाता जिसके फलस्वरूप वह स्वयं अपने आप से निरंतर अलगाव का अनुभव करता है। इसी प्रकार उत्पादन-क्रिया के लक्ष्य से भी श्रमिक को अलगाव का अनुभव होता है, क्योंकि इस लक्ष्य और इसकी पूर्ति के साधनों के विषय में वह स्वयं कोई निर्णय नहीं कर पाता। उसे केवल दूसरों द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही कार्य करना पड़ता है, अतः उसकी अपनी सृजनशीलता समाप्त हो जाती है। वह पूँजीपति के आर्थिक लाभ का एक साधन मात्र बन कर रह जाता है।

उत्पादन-क्रिया के लक्ष्य की भाँति उसकी प्रक्रिया से भी श्रमिक अलगाव का अनुभव करता है, क्योंकि इस प्रक्रिया में उसका अपना कोई स्वतंत्र योगदान नहीं होता। अपने आर्थिक लाभ को ध्यान में रखते हुए केवल पूँजीपति, ही यह निर्णय करता है कि उत्पादन-कार्य किस प्रकार किया जाएगा। इसका कारण यह है कि उत्पादन के समस्त साधनों

---

5. फ्रांज़ मेहरिंग, 'कार्ल मार्क्स : दि स्टोरी ऑफ़ हिज़ लाइफ़', अनुवादक, ऐडवर्ड फ़िटजैराल्ड, पृ० 531

पर केवल उसी का स्वामित्व होता है। श्रमिक तो इस उत्पादन की प्रक्रिया में केवल निर्जीव यंत्र के समान वही कार्य करता रहता है जो उसे करने के लिए दिया जाता है। ऐसी स्थिति में वह एक स्वतंत्र व्यक्ति के स्थान पर उत्पादन के महा यंत्र का एक छोटा-सा नगण्य भाग मात्र बनकर रह जाता है। इस प्रकार उत्पादन की प्रक्रिया में अलगाव के परिणामस्वरूप उसका पूर्ण निर्व्यक्तिकरण हो जाता है—अर्थात् वह एक स्वतंत्र एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं रह जाता।

अंत में श्रमिक को उस वस्तु से भी अलगाव का अनुभव होता है जिसका वह स्वयं उत्पादन करता है। इसका कारण यह है कि उस वस्तु पर न तो श्रमिक का स्वामित्व होता है और न वह उसके उत्पादन के विषय में स्वयं कोई निर्णय करता है। स्पष्ट है कि वह इस निर्मित वस्तु को सृजनशीलता का परिणाम नहीं मानता, अत: इसके साथ उसका कोई व्यक्तिगत लगाव भी नहीं होता। वह इस निर्मित वस्तु को अपनी रचना के रूप में देख कर किसी प्रकार के आनंद का अनुभव नहीं कर पाता। इस प्रकार मार्क्स के विचार में उत्पादन-क्रिया के लक्ष्य, उसकी प्रक्रिया तथा निर्मित वस्तु इन सबसे श्रमिक का अलगाव हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह अपने सहयोगियों से और स्वयं अपने आप से भी अलगाव का अनुभव करने लगता है। इस अलगाव का मूल कारण है पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था जिसमें उत्पादन तथा वितरण के समस्त साधनों पर केवल पूँजीपतियों का ही स्वामित्व होता है और श्रमिक का इन साधनों पर कोई अधिकार नहीं होता। यह अलगाव श्रमिक के लिए अत्यंत दुखद होता है, क्योंकि यह उसे एक स्वतंत्र एवं सम्मानित व्यक्ति के स्थान पर केवल निर्जीव वस्तु बना देता है। इस प्रकार मार्क्स का यह निश्चित मत है कि श्रमिक का यह दुखद अलगाव प्रतियोगितामूलक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक गंभीर दोष है जिसके कारण यह अर्थ-व्यवस्था संपूर्ण मानव-समाज के लिए अत्यधिक हानिकारक सिद्ध होती है।

धर्म तथा मानव-समाज पर उसके दुष्प्रभाव के विषय में मार्क्स के मत को प्रस्तुत करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि उनके साम्यवादी दर्शन पर तत्कालीन जर्मन दार्शनिक विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस संबंध में हम मार्क्स के विचारों पर हीगेल की दार्शनिक प्रणाली के प्रभाव की संक्षिप्त चर्चा ऊपर कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि हीगेल के प्रत्ययवाद अथवा अध्यात्मवाद का खंडन करते हुए भी मार्क्स ने विचारों के विकास के लिए उनकी द्वंद्वात्मक दार्शनिक प्रणाली को स्वीकार किया है। हीगेल के अतिरिक्त एक अन्य जर्मन दार्शनिक, लुडविग फायरबाक (1804-1872) के धर्म विषयक विचारों का भी मार्क्स के धर्म संबंधी निषेधात्मक दृष्टिकोण पर कुछ प्रभाव पड़ा है जिस पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। हीगेल के विपरीत फ़ायरबाक प्रकृतिवादी अथवा भौतिकवादी विचारक थे। मार्क्स की भाँति उन्होंने भी हीगेल के प्रत्ययवाद की आलोचना की है जिसके अनुसार आध्यात्मिक अथवा चैतन्य परम तत्त्व ही ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता है। इसका अर्थ यही है कि ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता के विषय में वे भी मार्क्स के समान मूलत: भौतिकवादी विचारधारा को ही स्वीकार करते हैं। परंतु यहाँ हम फ़ायरबाक के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों की विवेचना न करके उनके धर्म संबंधी सिद्धांत पर ही विचार करेंगे।

धर्म के विषय में फ़ायरबाक ने अपना सिद्धांत 'दि एसेंस ऑफ़ क्रिश्चियेनिटी' नामक अपनी पुस्तक में सविस्तार प्रस्तुत किया है। उनके इस सिद्धांत को "प्रक्षेप सिद्धांत' की संज्ञा

दी जाती है, क्योंकि इसके अनुसार समस्त धार्मिक विषय—ईश्वर तथा अन्य सभी देवी-देवता-वास्तविक न होकर मनुष्य की अपनी इच्छाओं के अचेतन प्रक्षेपण मात्र हैं। फ़ायरवाक का कथन है कि मनुष्य ईश्वर को अपने से भिन्न सर्वोच्च अतिप्राकृतिक सत्ता समझता है, किंतु वास्तव में यह उसकी बहुत बड़ी भूल है। मनुष्य स्वयं अपनी इच्छाओं तथा अपने कुछ विशेष गुणों के आधार पर ही ईश्वर की कल्पना करता है जिसे वह अपने से पृथक वस्तुपरक अलौकिक सत्ता मान लेता है। परंतु वास्तविक स्थिति यह है कि ईश्वर मनुष्य से स्वतंत्र कोई पृथक सत्ता नहीं हैं: वह तो मानव की ऐसी काल्पनिक प्रक्षेपित प्रतिमा है जिसमें वे समस्त महान गुण एवं विशेषताएँ विद्यमान हैं जिन्हें वह अपने जीवन में सर्वाधिक महत्त्व देता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर मनुष्य से भिन्न कोई वस्तुपरक सत्ता न होकर स्वयं उसका अपना ही प्रक्षेपित रूप है। ईश्वर के संबंध में अपने इसी मत की व्याख्या करते हुए फ़ायरबाक कहते हैं कि:— "इंद्रियों का विषय मनुष्य से बाहर होता है, धार्मिक विषय उसके भीतर ही होता है और इसलिए उसकी आत्म-चेतना या अंतश्चेतना की भाँति उससे अलग नहीं होता।........ ईश्वर मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।...... उसके समस्त गुण मनुष्य के ही गुण हैं।...... मनुष्य को ऐसा प्रतीत होता है कि वह निम्नतम प्राणी है, किंतु वास्तव में वही उच्चतम है। इस प्रकार ईश्वर के माध्यम से मनुष्य स्वयं अपने आप को ही देखता है।....... ईश्वर में मनुष्य केवल अपनी ही क्रिया को पाता है।"[6] उपर्युक्त उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि फ़ायरबाक ईश्वर को मनुष्य के मन का प्रक्षेपण मात्र मानते हैं और मानव से पृथक उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। ईश्वर विषयक उनके इस मत का मार्क्स तथा फ्रायड के धर्म संबंधी विचारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। फ़ायरबाक की भाँति ये दोनों विचारक भी ईश्वर की स्वतंत्र एवं वस्तुपरक सत्ता को अस्वीकार करते हुए उसे मनुष्य की अपनी कल्पना का परिणाम मात्र मानते हैं जिससे मानव को मिथ्या सांत्वना प्राप्त होती है। इन दोनों विचारकों का निश्चित मत है कि मानव-जाति के कल्याण तथा विकास के लिए ईश्वर विषयक इस निराधार कल्पना का परित्याग करना आवश्यक है। इस प्रकार ईश्वर की अवधारणा की उत्पत्ति और मानव-जीवन में उसकी नकारात्मक भूमिका के विषय में मार्क्स तथा फ्रायड दोनों ही फ़ायरबाक के धर्म संबंधी प्रक्षेप-सिद्धांत से कुछ सीमा तक प्रभावित हुए हैं।

अभी तक हमने मार्क्स के युग की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों, तत्कालीन पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विरुद्ध उनकी कुछ प्रमुख आपत्तियों और उनके भौतिकवादी दर्शन की आधार-भूमि पर विचार किया है। मार्क्स के दर्शन की इस संपूर्ण पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए अब हम धर्म तथा समाज में उसकी भूमिका के संबंध में उनके मत की कुछ विस्तार से व्याख्या करेंगे। यहाँ सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मार्क्स अपनी कृतियों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसके सामान्य प्रचलित अर्थ में ही करते हैं जिसे स्वीकार करते हुए हम यह कहते हैं कि संसार में हिंदू धर्म, बौद्ध और जैन धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम आदि अनेक धर्म पाए जाते हैं। इसी अर्थ में प्रायः अंग्रेज़ी के 'रिलिजन'

---

6. लुडविग फ़ायरबाक, 'रिलिजन ऐज़ इल्यूयन', 'जॉन हिक द्वारा संपादित' क्लासिकल ऐंड कंटेम्परेरी रीडिंग्ज़ इन दि फ़िलॉसॉफ़ी' ऑफ़ रिलिजन' में संकलित, पृ० 175-176, 188

शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसे मार्क्स ने पूर्णतः स्वीकार किया है। 'धर्म' शब्द के इस प्रचलित अर्थ की एक सामान्य मूल विशेषता है किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व में मनुष्य की आस्था जो विश्व के सभी धर्मों में अनिवार्यतः पाई जाती है और जो वास्तव में धर्म का अनिवार्य आधारभूत तत्त्व है। अतिप्राकृतिक शक्ति की सत्ता में इस आस्था के अतिरिक्त परलोकोन्मुखता को भी सभी धर्मों की सामान्य मूल विशेषता माना जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स मुख्यतः ईसाई धर्म से ही अवगत थे, अतः उन्होंने इस धर्म के प्रमुख सिद्धांत, ईश्वरवाद को धर्म का मूल आधार मान कर उसकी तीव्र आलोचना की है। परंतु उनकी यह आलोचना निरीश्वरवादी धर्मों पर भी समान रूप से लागू होती है, क्योंकि किसी अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व में आस्था और परलोकोन्मुखता ये दोनों विशेषताएँ इन धर्मों में भी किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः पाई जाती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि मार्क्स जिस अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं उसमें ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी सभी धर्म समाविष्ट हैं। 'धर्म' शब्द के इस व्यापक अर्थ को ध्यान में रख कर ही उसके विरुद्ध मार्क्स के मत की समीक्षा करना आवश्यक है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि मार्क्स निरीश्वरवादी विचारक थे, क्योंकि वे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे और केवल पुद्गल को ही ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता मानते थे। परंतु उनका निरीश्वरवाद सामान्य दार्शनिक निरीश्वरवाद से कुछ भिन्न प्रकार का था। इस प्राचीन दार्शनिक विवाद में मार्क्स की कोई विशेष रूचि नहीं थी कि ईश्वर का अस्तित्व है अथवा नहीं। उनके समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि ईश्वर के विचार का मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है और यह विचार समाज की अर्थ-व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करता है। इसी कारण उनके निरीश्वरवाद को 'सामाजिक निरीश्वरवाद' कहा जा सकता है। मार्क्स की कृतियों में ईश्वर के अस्तित्व तथा अनस्तित्व से संबंधित दार्शनिकों के परंपरागत विवाद की कोई विशेष चर्चा, नहीं है। उन्होंने अपनी कृतियों में कहीं भी उन युक्तियों का खंडन नहीं किया जो ईश्वरवादी दार्शनिक प्राचीन काल से ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में प्रस्तुत करते रहे हैं। वस्तुतः इन युक्तियों का खंडन करके वे ईश्वर के अस्तित्व और अनस्तित्व संबंधी परंपरागत विवाद में उलझना व्यर्थ समझते थे, क्योंकि इस सैद्धांतिक विवाद का मनुष्य के व्यावहारिक जीवन पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता। वे तो समाज में ईश्वर के विचार की व्यापक नकारात्मक भूमिका के तीव्र आलोचक थे जो मनुष्य को उसके सामाजिक जीवन से दूर हटा कर उसे परलोकोन्मुखी बना देती है। ईश्वर के संबंध में मार्क्स का यह व्यावहारिक दृष्टिकोण गौतम बुद्ध के दृष्टिकोण के समान ही प्रतीत होता है जिन्होंने ईश्वर विषयक सभी प्रश्नों को 'अव्याकृत' कह कर उन प्रश्नों के संबंध में सैद्धांतिक वादविवाद करना पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था। इस प्रकार मार्क्स का निरीश्वरवाद सैद्धांतिक न होकर वस्तुतः 'सामाजिक निरीश्वरवाद' है।

धर्म के उपर्युक्त प्रचलित सामान्य अर्थ में उसके विरुद्ध मार्क्स का मुख्य आरोप यह है कि वह शोषित सर्वहारा वर्ग को अपनी दयनीय आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में संतुष्ट रहने के लिए प्रोत्साहित करता है और उसका शोषण करने वाले पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष तथा सामाजिक क्रांति में बाधा डालता है। वह काल्पनिक स्वर्ग में प्राप्त होने वाले

तथाकथित सुखों का मिथ्या आश्वासन देकर शोषित वर्ग को उन सांसारिक सुखों से स्वेच्छया वंचित रहने के लिए प्रेरित करता है जिन्हें प्राप्त करना उसका अधिकार है। धर्म श्रमिकों तथा किसानों को दरिद्रता की स्थिति में सदा संतुष्ट रहने और पूँजीपति वर्ग द्वारा किए गए शोषण एवं अन्याय को सहर्ष सहन करने के लिए उन्हें नशे की सुख-निद्रा में सुला कर पूर्णतः भाग्यवादी बना देता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मार्क्स ने यह कहा था कि "धर्म लोगों की अफ़ीम है।" समाज में धर्म की यह नकारात्मक भूमिका पूँजीपति वर्ग के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होती है, क्योंकि यह उसके आर्थिक हितों की रक्षा करती है और श्रमिक वर्ग पर उसका निर्विवाद वर्चस्व बनाए रखने में उसकी अत्यधिक सहायता करती है। यही कारण है कि पूंजीपति वर्ग समाज में धर्म का व्यापक प्रभाव बनाए रखने के लिए उसका निरंतर प्रचार तथा प्रसार करता रहता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स के मतानुसार धर्म श्रमिक वर्ग के शोषण तथा पूँजीपति वर्ग के आर्थिक हितों की रक्षा और वृद्धि का एक प्रमुख साधन है, अतः वर्गहीन साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए इसका अंत करना आवश्यक है।

मानव-समाज में धर्म की नकारात्मक भूमिका के विषय में मार्क्स ने ऊपर जो कुछ कहा है उसका आधार धर्मपरायण विचारकों का वह परलोकोन्मुखी दृष्टिकोण है जो तत्कालीन यूरोपीय समाज में सर्वत्र व्याप्त था और जो किसी न किस रूप में आज भी संपूर्ण विश्व में पाया जाता है। धर्म का प्रबल समर्थन करते हुए इन विचारकों ने वास्तव में वह सब कुछ कहा है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उदाहरण के रूप में यहाँ एक धर्मपरायण विचारक, विलबरफ़ोर्स के मत को प्रस्तुत किया जा सकता है। 1817 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, 'ए प्रैक्टिकल व्यू' में मानव-समाज पर ईसाई धर्म के प्रभाव के संबंध में उन्होंने निम्नलिखित विचार व्यक्त किए थे -- "ईसाई धर्म मनुष्य की नैसर्गिक स्वार्थवृत्ति को समाप्त कर के उसके स्थान पर मानव के मन में परोपकार की भावना उत्पन्न करता है। धन-लालसा तथा अधिकार-लिप्सा को संयमित कर के वह निर्धनों के लिए उस आर्थिक विषमता के दुःख को कम करता हैं जो समाज में पाई जाती है। वह निर्धन व्यक्तियों को परिश्रमी, विनम्र और धैर्यवान बने रहने के लिए प्रेरित करता है। वह उन्हें बताता है कि वे जिस दयनीय स्थिति में हैं उसे ईश्वर ने ही उनके लिए निर्धारित किया है। उन्हें निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए और संतोष तथा शांति के साथ सभी कष्टों को सहन करना चाहिए। उनकी वर्तमान दुखद स्थिति इसी संसार तक सीमित होने के कारण क्षणिक है। जिन सांसारिक वस्तुओं के लिए लोग इतनी तत्परतापूर्वक संघर्ष करते हैं वे वास्तव में व्यर्थ हैं। धर्म सभी मनुष्यों को बिना किसी भेदभाव के जो शांति प्रदान करता है वह उन सब मूल्यवान सासारिक वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक संतोषदायक है जिन्हें निर्धन व्यक्ति प्राप्त करने में असमर्थ हैं। यह स्थिति निर्धनों के लिए बहुत लाभदायक हैं, क्योंकि सांसारिक सुखों का पर्याप्त मात्रा में उपयोग करने के कारण धनवान व्यक्ति अनेक प्रलोभनों में फंस जाते हैं जिनसे निर्धन मनुष्य मुक्त रहते हैं। निर्धन व्यक्तियों को जो रूखा-सूखा भोजन मिलता है उसी से उन्हें पूर्णतः संतुष्ट रहना चाहिए, क्योंकि बहुत-से कष्टों के होते हुए भी ईश्वर की कृपा से उनके जीवन की ँथति उसकी

अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी है जिसके वे अधिकारी हैं। अंततः मनुष्यों में विद्यमान समस्त भेद शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगे और ईसा के सभी सच्चे अनुयायी एक ही पिता की संतान होने के कारण समान रूप से एक ही स्वर्ग में प्रवेश करेंगे। संक्षेप में मानव-समाज के कल्याण की दृष्टि से ईसाई धर्म के ये ही सद्प्रभाव हैं"।[7]

इस प्रकार समाज में ईसाई धर्म की भूमिका के संबंध में विलबरफोर्स के उपर्युक्त विचारों से मार्क्स के इस कथन की पूर्णतः पुष्टि होती है कि "धर्म लोगों की अफ़ीम है"—अर्थात्, वह साधारण लोगों को नशे की मिथ्या सुख-निद्रा में सुला कर पूँजीपतियों द्वारा उनके प्रति किए जाने वाले घोर अन्याय तथा अत्याचार को सहर्ष सहन करने के लिए उन्हें निरंतर प्रोत्साहित करता रहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानव-जीवन पर ईसाई धर्म के प्रभाव के विषय में विलबरफ़ोर्स ने जो कुछ कहा है वही अन्य धर्मों के विचारक भी समय-समय पर किसी न किसी रूप में प्रायः कहते रहे हैं। यूरोप का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वहाँ कुछ धर्म-गुरु साधारण कृषकों और श्रमिकों को स्वर्ग जाने के प्रमाण-पत्र बेच कर उनसे वह थोड़ा-सा धन भी छीनते रहे हैं जो उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि मार्क्स ने धर्म की जो तीव्र आलोचना की है वह निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत है। वस्तुतः आज भी धर्म संसार में वही नकारात्मक तथा हानिकारक भूमिका निभा रहा है जिसके कारण मार्क्स ने उसे 'लोगों की अफ़ीम' कह कर उसकी निंदा की थी।

धर्म से संबंधित मार्क्स के मत के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि वे इसके सामाजिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हैं। धर्म में उनकी रुचि केवल इसलिए है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। मार्क्स ने इसी दृष्टि से मानव-जीवन में धर्म की भूमिका का विश्लेषण किया है। सर्वप्रथम धर्म की उत्पत्ति के संबंध में उनका कथन है कि इसका उदय मनुष्य में विद्यमान दैवी प्रेरणा अथवा उसकी किसी नैसर्गिक मूल प्रवृत्ति के कारण नहीं, अपितु सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप ही हुआ है। अपने विकास की दीर्घकालीन प्रक्रिया में मनुष्य को कुछ ऐसी दुखद परिस्थितियों से गुजरना पड़ा है जिनके कारण धर्म की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य में ऐसी कोई नैसर्गिक प्रवृत्ति नहीं है जो उसे स्वभावतः 'धार्मिक प्राणी' बनाती है। इस मान्यता का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है कि मनुष्य स्वभावतः धार्मिक प्राणी है। वस्तुतः प्रतिकूल भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण मनुष्य को जो दुःख झेलने पड़ते हैं उन्हें सहने अथवा उनकी तीव्रता को कम करने के लिए उसने ईश्वर सहित अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की है जिनसे अंततः धर्म की उत्पत्ति हुई है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मार्क्स ने कहा है कि: "मनुष्य ही धर्म को बनाता है, धर्म मनुष्य को नहीं बनाता।....... यह धर्म लोगों की अफ़ीम है।"[8] मार्क्स ने समाज में धर्म की भूमिका पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया है जिनकी यहाँ कुछ विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है। सर्वप्रथम उन्होंने श्रमिकों तथा कृषकों के जीवन में धर्म की हानिकारक भूमिका का विस्तृत विवेचन किया है और इसके

7. विलबरफ़ोर्स, 'ए प्रैक्टिकल व्यू', पृ० 405

8. मार्क्स और ऐंजेल्स, 'ऑन रिलिजन', पृ० 41-42

पश्चात विस्तारपूर्वक यह स्पष्ट किया है कि पूँजीपतियों के वर्ग के लिए धर्म किस प्रकार लाभदायक सिद्ध होता है। हम यहाँ क्रमशः इन दोनों दृष्टिकोणों से धर्म के संबंध में मार्क्स के मत की विवेचना करेंगे।

हम ऊपर देख चुके हैं कि मार्क्स के मतानुसार पूँजीपति वर्ग श्रमिकों और कृषकों का आर्थिक शोषण करता है जिसके फलस्वरूप उनका जीवन अत्यधिक दुःखमय हो जाता है। इस आर्थिक शोषण के कारण उन्हें अपने जीवन में जो असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं उनकी क्षतिपूर्ति के लिए वे धर्म का सहारा लेते हैं। धर्म उन्हें यह आश्वासन देता है कि मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में उन्हें वे सभी सुख असीमित मात्रा में उपलब्ध होंगे जिनसे वे इस संसार में वंचित हैं। वहाँ उनके पास असीम धन होगा और जीवन में अधिकतम सुख भोगने के लिए उन्हें सभी प्रकार के साधन प्राप्त होंगे। स्वर्ग में उनका कोई शोषण नहीं कर सकेगा, क्योंकि वहाँ सभी मनुष्य समान होंगे। धर्मपरायण विचारक स्वर्ग के अनंत सुखों का जो आकर्षक वर्णन करते रहते हैं उससे श्रमिकों तथा कृषकों को बड़ी सांत्वना प्राप्त होती है जिसके कारण वे समस्त सांसारिक दुःखों को सहर्ष सहन कर लेते हैं। वे यह मान लेते हैं कि इस संसार में वे जो असह्य दुःख भोग रहे हैं स्वर्ग में उनकी क्षतिपूर्ति हो जाएगी जहाँ उन्हें सभी प्रकार के मनोवांछित सुख प्राप्त होंगे। स्वर्ग के इस मिथ्या आश्वासन के कारण वे वर्तमान सभी सांसारिक दुःखों को भूल कर एक प्रकार की सुख-निद्रा में सो जाते हैं जो उन्हें विशेष सांत्वना प्रदान करती है। मार्क्स का कथन है कि श्रमिक वर्ग के लिए वास्तव में यही धर्म की अफीम है जो उसे काल्पनिक स्वर्ग-सुख की निद्रा में सदा सुलाए रखती है।

परंतु धर्म की इस अफीम के लिए श्रमिकों और कृषकों को भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। यह मूल्य है पूँजीपति वर्ग द्वारा स्थापित उस अन्यायपूर्ण अर्थ-व्यवस्था को सहर्ष स्वीकार कर लेना जो उनके शोषण तथा समस्त दुःखों का मूल कारण है। सर्वहारा वर्ग यह मान लेता है कि यह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ईश्वर द्वारा स्थापित की गई है, अतः इसमें परिवर्तन करना न तो संभव है और न वांछनीय। स्वर्ग में उसके साथ पूर्ण न्याय होगा जहाँ शोषण पर आधारित यह अर्थ-व्यवस्था नहीं होगी। श्रमिक वर्ग धर्मपरायण विचारकों के इस मत को भी बिना किसी प्रतिवाद के स्वीकार कर लेता है कि वह इस संसार में जो अनेक दुःख भोग रहा है वे सब उसके अपने ही पापों के परिणाम हैं जिनके लिए ईश्वर ने उसे ये दुःख भोगने का दंड दिया है। जैसा कि हम बाहरवें अध्याय में देख चुके हैं, भारत में अनेक धर्मपरायण विचारक कर्म-सिद्धांत को इसी रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं। मार्क्स ने भी ईसाई धर्म के 'आदिम पाप' संबंधी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि इस धर्म के अनुसार शोषण तथा अत्याचार करने वाले शासक श्रमिकों को जो दुःख देते हैं वह वस्तुतः इन श्रमिकों के अपने ही पापों के लिए न्यायोचित दंड है।[9] धर्म के ऐसे विचार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विरुद्ध श्रमिकों के मन में उत्पन्न होने वाली क्रांति तथा विद्रोह की इच्छा को पूर्णतः समाप्त कर देते हैं जिसके कारण समाज में इस व्यवस्था के बने रहने में सहायता मिलती है। वे इस अन्यायपूर्ण अर्थ-व्यवस्था को अनिवार्य मान कर इससे उत्पन्न शोषण तथा अत्याचार को चुपचाप सहन करते रहते हैं।

9. वही पुस्तक, पृ० 84

सर्वहारा वर्ग के संबंध में धर्म की इस नकारात्मक भूमिका से यह स्पष्ट है कि मार्क्स के विचार में धर्म इस वर्ग के हितों की भारी क्षति पहुँचाता है। इसी आधार पर ईसाई धर्म की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि :— "ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांतों ने प्राचीन दास-प्रथा को न्यायसंगत सिद्ध किया, मध्य युगों की कृषि-दास-प्रथा को महिमा मंडित किया और वे श्रमिक वर्ग के दमन का भी समान रूप से समर्थन कर रहे हैं।.....ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांत शासक वर्ग तथा दमित वर्ग की अनिवार्यता का प्रचार करते हैं और वे शासक वर्ग से केवल यही सदिच्छा रखते हैं कि यह दमित वर्ग के प्रति उदार होगा"।[10]

धर्म के विरुद्ध मार्क्स की एक अन्य गंभीर आपत्ति यह भी है कि वह श्रमिकों तथा कृषकों में दासता संबंधी मूल्य उत्पन्न कर के उन्हें शोषक वर्ग की अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। इससे भी समाज में अन्यायपूर्ण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और सर्वहारा वर्ग की दयनीय स्थिति को पूर्ववत बनाए रखने में बहुत सहायता मिलती है। अपनी इस आपत्ति के संदर्भ में भी मार्क्स ने ईसाई धर्म की कटु आलोचना की है। उनका कथन है कि:—"ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धांत कायरता, आत्म-तिरस्कार, तुच्छता, अधीनता, निराशा—एक शब्द में कहें तो कुत्ते के सभी गुणों—का प्रचार करते हैं अपने साथ कुत्ते के समान व्यवहार की इच्छा न रखने वाले श्रमिक वर्ग को साहस, आत्म-सम्मान, गर्व तथा स्वतंत्रता की भावना की आवश्यकता है"।[11] इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के जीवन में धर्म की भूमिका के संबंध में मार्क्स का निष्कर्ष यह है कि मृत्यु के उपरात स्वर्ग-सुख के मिथ्या आश्वासन की अफीम चटा कर वह इस वर्ग को अत्यधिक हानि पहुँचाता है।

परंतु मार्क्स के मतानुसार श्रमिक वर्ग के विपरीत पूँजीपति वर्ग के लिए धर्म अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होता है, क्योंकि वह उसके हितों की रक्षा तथा वृद्धि करता है। पूँजीपति वर्ग के हाथ में धर्म एक ऐसा साधन है जिसकी सहायता से यह वर्ग समाज में अपना प्रभुत्व बनाए रखता है। अपने इस मत के समर्थन में मार्क्स ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

(1) सर्वप्रथम धर्म श्रमिकों को स्वर्ग में सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति का आश्वासन देकर पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध उसके मन में उत्पन्न होने वाले विद्रोह की अग्नि को शांत कर देता है। धर्म-गुरुओं के धर्मोपदेश सुन कर श्रमिक यह मान लेते हैं कि मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में तो उन्हें समस्त मनोवांछित सुख प्राप्त हो ही जाएँगे, अतः इस संसार में पूँजीपतियों द्वारा किए गए शोषण तथा अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करना व्यर्थ और अनावश्यक है। सांसारिक सुख-भोग तो क्षणिक हैं; वास्तविक सुख तो वह शाश्वत सुख है जो उन्हें स्वर्ग में प्राप्त होगा—यह सोच कर श्रमिक अपनी दयनीय स्थिति में भी पूर्णतः शांत और संतुष्ट रहते हैं। इससे पूजीपति वर्ग तथा उसकी अर्थ-व्यवस्था पर उनके आक्रमण की संभावना समाप्त हो जाती है और वह समाज में सरलतापूर्वक अपना वर्चस्व बनाए रखता है। धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप श्रमिकों के क्षोभ तथा उनकी निराशा के समाप्त हो जाने के कारण समाज में

---

10. वही पुस्तक, पृ० 83
11. वही पुस्तक, पृ० 84

यथास्थिति वनी रहती हैं जिसमें पूँजीपति वर्ग के हित पूर्णतः सुरक्षित रहते हैं। इस प्रकार मार्क्स के विचार में धर्म शोषित तथा पद्दलित श्रमिकों को क्रांति के मार्ग से दूर हटा कर उनका शोषण करने वाले पूँजीपति वर्ग के लिए सुदृढ़ सुरक्षा-कवच का कार्य करता है।

(2) मार्क्स के मतानुसार पूँजीपति वर्ग के हितों को सुरक्षित रखने के लिए धर्म दूसरा कार्य यह करता है कि इस वर्ग द्वारा स्थापित अन्यायपूर्ण अर्थ-व्यवस्था तथा समाज में उससे उत्पन्न उच्च एवं निम्न वर्ग के भेद को 'ईश्वरीय नियम' कह कर श्रमिकों को इस सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने से रोकता है। जब श्रमिक यह मान लेते हैं कि समाज में धनी तथा निर्धन का वर्ग-भेद स्वयं ईश्वर ने ही स्थापित किया है तो वे अपने मन में इस वर्ग-भेद को मिटाने का विचार भी नहीं लाते, क्योंकि ऐसा करना उन्हें महा पाप प्रतीत होता है। वे पूँजीपतियों पर सदा आश्रित बने रह कर अपनी असहाय तथा दयनीय अवस्था में पूर्णतः संतुष्ट रहते हैं। वे धर्म-गुरुओं तथा पुरोहितों के इस मिथ्या प्रचार को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेते हैं कि उनकी वर्तमान दयनीय स्थिति में परिवर्तन संभव ही नहीं है। अपने इस प्रचार के समर्थन में पुरोहित प्रायः यह कारण प्रस्तुत करते हैं कि इस संसार में श्रमिक जो दुःख भोग रहे हैं वह वास्तव में उनके अपने ही पापों के लिए उन्हें ईश्वर द्वारा दिया गया दंड है। इसके अतिरिक्त पुरोहितों द्वारा यह भी कहा जाता है कि श्रमिकों का वर्तमान दुःख ईश्वर में उनकी आस्था और निष्ठा की परीक्षा है जिसमें उन्हें यह दुःख सहर्ष सह कर उत्तीर्ण होना चाहिए। उन्हें सांसारिक सुखों के स्थान पर अपनी मुक्ति की कामना करनी चाहिए जिसके लिए दुःख सहना अनिवार्य है, क्योंकि यह ईश्वर का विधान है। शाश्वत आध्यात्मिक सुख तथा मुक्ति को छोड़ कर क्षणिक सांसारिक सुखों के पीछे भागना सबसे बड़ी मूर्खता है।

यह समझना कठिन नहीं है कि धर्म-गुरुओं के ऐसे उपदेश पूँजीपति वर्ग के लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं, क्योंकि इनके कारण श्रमिक न तो भौतिक वस्तुओं की इच्छा करते हैं और न शोषण तथा अन्याय का विरोध। इसका परिणाम यही होता है कि समाज पर पूँजीपति वर्ग का प्रभुत्व निर्विवाद रूप से सदा बना रहता है। उसके इस प्रभुत्व को अक्षुण बनाए रखने में धर्म के इस प्राचीन विचार से भी बहुत सहायता मिलती है कि राजा—अर्थात्, प्रशासक—ईश्वर का रूप होता है, अतः किसी भी स्थिति में उसका विरोध नहीं किया जाना चाहिए। सभी देशों में यह धार्मिक विचार किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है और प्रशासक वर्ग ने इसका अधिक से अधिक लाभ उठाया है। इसी कारण मार्क्स निश्चित रूप से यह मानते हैं कि प्राचीन काल से वर्तमान युग तक धर्म ने पूँजीपति वर्ग के हितों को सुरक्षित रखने में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। धर्म ने श्रमिक वर्ग से इस अनिवार्य तथ्य को सदैव छिपाए रखा है कि उसकी दुर्दशा का मूल कारण पूँजीपति वर्ग द्वारा किया गया उसका शोषण है जिसका वह विद्रोह तथा क्रांति द्वारा अंत कर सकता है। इस प्रकार मार्क्स के मतानुसार शाश्वत आध्यात्मिक सुख, मुक्ति, ईश्वर का विधान आदि विचारों का आधार लेकर धर्म ने सर्वहारा वर्ग के दमन तथा शोषण और पूँजीपति वर्ग के स्वार्थपूर्ण हितों का सदैव प्रबल समर्थन किया है, अतः उसे समाप्त करना आवश्यक है।

(3) अपनी उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि के लिए मार्क्स ने यह तर्क भी दिया है कि

श्रमिकों में दासतापरक गुणों को उत्पन्न करके धर्म ने उन्हें सदैव दुर्बल बनाए रखा है जिससे वे पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध कभी भी विद्रोह तथा सशस्त्र क्रांति न कर सकें। धर्म-गुरु प्राय: आत्म-तिरस्कार, तुच्छता, विनम्रता, शत्रु के प्रति क्षमा आदि मनोवृत्तियों को महान सद्‌गुणों के रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं और मनुष्य को अपने भीतर इन सब गुणों का अधिकतम विकास करने का निरंतर उपदेश देते रहे हैं। मार्क्स का कथन है कि यह धर्मोपदेश श्रमिक वर्ग के लिए अत्यंत घातक सिद्ध हुआ है, क्योंकि इसने उसे शक्तिहीन बना कर क्रांति के पथ से विचलित किया है। जब श्रमिक अपने जीवन में उपर्युक्त दुर्बलतापूर्ण गुणों के अनुरूप आचरण करने लगते हैं तो पूँजीपति वर्ग को उनके दमन और शोषण का निर्बाध अवसर मिल जाता है। इसी कारण मार्क्स यह कहते हैं कि श्रमिकों को अपने भीतर दुर्बलतासूचक गुणों के स्थान पर साहस, वीरता, आत्म-सम्मान, स्वतंत्रता, दृढ़ संकल्प आदि गुणों का यथासंभव अधिक से अधिक विकास करना चाहिए जिससे वे पूँजीपति वर्ग के अन्याय और शोषण का साहसपूर्ण सामना कर सकें। स्वाधीनता एवं शक्ति के प्रतीक ये गुण ही उन्हें पूँजीपति वर्ग की दासता और उसके शोषण तथा दमन से मुक्त कर सकते हैं। इन शक्तिवर्धक गुणों के अभाव में वे सदा दुर्बल तथा पूँजीपतियों की कृपा पर आश्रित बने रहेंगे। वस्तुत: उन्हें सदैव इसी दयनीय स्थिति में बनाए रखना ही धर्म का प्रमुख उद्देश्य रहा है।

(4) जब धर्म-गुरु यह कहते हैं कि राजा या प्रशासक ईश्वर का रूप है और प्रत्येक व्यक्ति इस-संसार में अपने ही पुण्य अथवा पाप के कारण सुख या दु:ख भोगता है तो उनके ऐसे धार्मिक विचार पूँजीपतियों को यह विश्वास दिला देते हैं कि वे सर्वहारा वर्ग का जो शोषण तथा दमन कर रहे हैं वह उचित एवं न्यायसंगत है। स्वयं ईश्वर ने ही उन्हें सुख भोगने तथा निम्न वर्ग पर शासन करने के लिए संसार में भेजा है, अत: उन्होंने जो सामाजिक व्यवस्था स्थापित की है वह ईश्वरीय विधान के अनुरूप है। इन धार्मिक विचारों के आधार पर प्रशासक और पूँजीपति उस अन्यायपूर्ण आचरण को भी उचित तथा ईश्वरादेश के अनुरूप मानने लगते हैं जो वे श्रमिक वर्ग के प्रति करते हैं। वस्तुत: ये धार्मिक विचार उनमें आत्म-विश्वास, सुरक्षा तथा संगठन की भावना उत्पन्न करते हैं जिनके कारण समाज में उनकी स्थिति सुदृढ़ हो जाती है। इससे उनका अपराध-बोध भी समाप्त हो जाता है और वे यह अनुभव ही नहीं करते कि श्रमिक वर्ग के प्रति वे कोई अन्याय कर रहे हैं। अपने इन्हीं सब तर्कों के आधार पर मार्क्स यह कहते हैं कि अन्यायपूर्ण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के औचित्य को सिद्ध कर के धर्म पूँजीपति वर्ग के हितों की रक्षा तथा वृद्धि करता है।

धर्म के विषय में मार्क्स के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे मुख्यत: इसके सामाजिक पक्ष को ही महत्त्व देते हैं। हम देख चुके हैं कि उनके मतानुसार धर्म समाज में पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के लिए भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभाता है। एक ओर तो वह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को न्यायसगत सिद्ध कर पूँजीपतियों का समर्थन करता है और दूसरी ओर श्रमिक वर्ग से उसके कष्टों का वास्तविक कारण छिपा कर शोषण तथा अन्याय के विरुद्ध उसके विद्रोह की इच्छा को समाप्त कर देता है जिससे वह अपनी वर्तमान दयनीय स्थिति में ही पूर्णत: संतुष्ट रहता है। धर्म की इस दोहरी सामाजिक भूमिका के फलस्वरूप श्रमिकों का शोषण करने वाली अन्यायपूर्ण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को समाज में स्थायी रूप

से बने रहने के लिए सुदृढ़ आधार मिल जाता है। इसी कारण मार्क्स धर्म की तीव्र आलोचना करते हैं और मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए उसका अंत करना आवश्यक मानते हैं। धर्म के विरुद्ध अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि:–"लोगों के वास्तविक सुख के लिए उनके भ्रामक सुख के रूप में धर्म की समाप्ति आवश्यक है।........ धर्म की आलोचना मानव को भ्रम से मुक्त करती है और उसे इस प्रकार से चिंतन तथा कार्य करने के लिए प्रेरित करती है कि वह भ्रम से मुक्त एक बुद्धिमान मनुष्य की भाँति अपनी वास्तविकता को स्वयं निर्धारित कर सके तथा अपने आप को और अपने वातावरण को ठीक-ठीक समझ सके"।[12] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि मार्क्स धर्म को एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो मनुष्य को भ्रम में डालती है और इसी कारण वे समाज पर उसके प्रभाव को समाप्त करना चाहते हैं।

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म के कटु आलोचक होते हुए भी मार्क्स धर्मपरायण व्यक्तियों पर अत्याचार का समर्थन नहीं करते, क्योंकि उनके मतानुसार ऐसा करने से धर्म का अंत नहीं हो सकता। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि केवल धर्म की आलोचना कर के उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। वस्तुत: उनका यह निश्चित मत है कि धर्म की उत्पत्ति कुछ विशेष सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप ही होती है, अत: यदि इन परिस्थितियों को समाप्त कर दिया जाए तो उसका स्वत: अंत हो जाएगा। धर्म को जन्म देने वाली ये परिस्थितियाँ तभी समाप्त हो सकती हैं जब पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना कर दी जाए। इस साम्यवादी व्यवस्था में धर्म की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी, अत: इसकी स्थापना के पश्चात वह अपने आप समाप्त हो जाएगा। अपनी इसी मान्यता के कारण मार्क्स धर्म की समाप्ति के लिए धार्मिक उत्पीड़न को अनावश्यक तथा अनुचित मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साम्यवादी देशों में धर्मपरायण व्यक्तियों पर जो अत्याचार किए गए हैं उनके लिए मार्क्स के दर्शन में कोई स्थान नहीं है। मार्क्स यह भलीभाँति जानते थे कि स्वयं श्रमिक तथा कृषक ही सर्वाधिक धर्मपरायण व्यक्ति होते हैं, अत: वे उनके उत्पीड़न का कभी भी समर्थन नहीं कर सकते थे। वास्तव में वे तो उस व्यवस्था को ही समाप्त करना चाहते थे जो धर्म को जन्म देती है और समाज में उसे बनाए रखती है। इस व्यवस्था के संदर्भ में ही उन्होंने धर्म की आलोचना की है, स्वयं उसके प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना के कारण नहीं। इस प्रकार धर्म के विषय में मार्क्स के सिद्धांत को मूलत: 'सामाजिक सिद्धांत' ही कहा जा सकता है जो एक विशेष सामाजिक शक्ति के रूप में धर्म के उद्भव, विकास तथा महत्त्व पर मानवीय दृष्टि से विचार करता है।

धर्म के विषय में मार्क्स ने जो कुछ कहा है वह सत्य है अथवा नहीं, यह प्रश्न बहुत विवादास्पद है। कुछ ईश्वरवादी विचारक मार्क्स के धर्म संबंधी सिद्धांत को मिथ्या और अयुक्तिसंगत मानते हैं। उदाहरणार्थ, ट्रूब्लड ने मार्क्स के धर्म विषयक विचारों की तीव्र आलोचना की है। मार्क्स के धर्म संबंधी सिद्धांत के विरुद्ध अपनी आपत्तियाँ स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि :– "जो व्यक्ति साम्यवादी धर्म में दीक्षित नहीं हो चुका है उसके लिए यह

12. वही पुस्तक, पृ० 42

देखना बहुत कठिन नहीं है कि इसमें बहुत-सी बौद्धिक भूलें हैं। इनमें सबसे बड़ी भूल यह है कि मार्क्सवादी स्वयं अपनी व्यवस्था के विषय में आलोचना का वह प्रतिमान लागू नहीं करते जो वे दूसरों के संबंध में निर्दयतापूर्वक लागू करते हैं।.......... साम्यवादी दर्शन की शक्ति तथा दुर्बलता दोनों ही मुख्यतः इस तथ्य में निहित हैं कि साम्यवाद एक धर्म है।........ साम्यवाद की शक्ति इस बात से उत्पन्न होती है कि प्रछन्न सामाजिक आदर्शवाद—जिसे ऊपरी तौर से अस्वीकार किया जाता है—के कारण समर्पण की प्रबल भावना को उत्पन्न किया जा सकता है और बढ़ाया जा सकता है। इसकी दुर्बलता केवल यही नहीं है कि यह ईश्वर की सत्ता के लिए विद्यमान प्रमाण की उपेक्षा करता है, अपितु यह भी है कि इसमें ईश्वर संबंधी विश्वास के मानवीय परिणामों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। यह न तो ईश्वर की संतान के रूप में मनुष्य की जन्मजात प्रतिष्ठा में विश्वास करता है और न ही मानव के आदिम पाप में जो उसके अहंकार का प्रतिरोधक है।... इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि धर्म के रूप में मार्क्स और लेनिन के सिद्धांत का अस्तित्व नहीं बना रहेगा। इसके समर्थन में पर्याप्त सत्य विद्यमान नहीं है। धर्म को अफ़ीम कह कर यह इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की पूर्णतः उपेक्षा करता है कि पैगंबरों द्वारा प्रतिपादित धर्म सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख साधनों में से एक रहा है। यह कहना बिल्कुल सत्य नहीं है कि ईश्वरवादी धर्म ने सदा परिवर्तन-विरोधी रूढ़िवादी शक्ति के रूप में ही कार्य किया है"।[13] ट्रूब्लड के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे मार्क्स के धर्म विषयक सिद्धांत के कटु आलोचक हैं। उनकी भाँति कुछ अन्य ईश्वरवादी विचारक भी इस सिद्धांत की ऐसी ही तीव्र आलोचना करते हैं।

परंतु ईश्वरवादियों ने मार्क्स के धर्म संबंधी सिद्धांत की जो आलोचना की है वह अनुचित, भ्रामक तथा अयुक्तिसंगत ही प्रतीत होती हैं। ये विचारक केवल अपनी आस्था के आधार पर पहले से ही यह मान लेते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है और फिर मार्क्सवाद पर यह आरोप लगाते हैं कि वह उसकी सत्ता के समर्थन में विद्यमान प्रमाण की उपेक्षा करता है। दर्शन का साधारण विद्यार्थी भी यह समझ सकता है कि मार्क्सवाद के विरुद्ध ईश्वरवादियों का यह आरोप तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व के लिए अभी तक प्रस्तुत किए गए सभी प्रमाण दोषपूर्ण होने के कारण अविश्वसनीय ही सिद्ध हुए हैं। ईश्वरवादी विचारकों का यह दावा भी उचित प्रतीत नहीं होता कि धर्म सामाजिक परिवर्तन का मुख्य साधन रहा है। इसके विपरीत वास्तविक स्थिति यह है कि धर्म ने सामाजिक परिवर्तन तथा क्रांति का सदा विरोध किया है। हम इस अध्याय के दूसरे खंड में सविस्तार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जीवन तथा जगत् के विषय में विज्ञान द्वारा खोजे गए सत्यों को स्वीकार करने और समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार में धर्म ने किस प्रकार तथा कितनी अधिक बाधा डाली है। वस्तुतः धर्मपरायण विचारकों ने ऐसे सभी नए विचारों का तीव्र विरोध किया है जो उनकी मूल आस्था और उस पर आधारित अवैज्ञानिक मान्यताओं का खंडन करते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म के विरुद्ध मार्क्स का यह आरोप भी सत्य प्रतीत

13. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 173, 175

होता है कि उसने मानव-समाज में परलोकोन्मुखी दृष्टिकोण का प्रचार कर के पलायनवाद को प्रश्रय दिया है और प्रशासक एवं शोषक वर्ग का साथ देकर सर्वहारा वर्ग के हितों को भारी क्षति पहुँचाई है। इस दृष्टि से धर्म ने वास्तव में एक ऐसी अफीम का कार्य किया है जो श्रमिकों तथा कृषकों को उनकी दयनीय स्थिति में पूर्णतः संतुष्ट रहने के लिए प्रेरित करती है जिस से वे कभी भी किसी प्रकार की सामाजिक क्रांति के लिए प्रयास न कर सकें। समाज में धर्म की इस नकारात्मक भूमिका से संबंधित मार्क्स का यह विश्लेषण उन कठोर तथ्यों के अनुरूप ही प्रतीत होता है जिनका सामना आज भी संपूर्ण मानव-जाति कर रही है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि समाज पर धर्म के व्यापक नकारात्मक प्रभाव के विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण ईश्वरवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा कहीं अधिक यथार्थवादी एवं तर्कसंगत है।

धर्म के विरुद्ध मार्क्सवाद की चुनौती से संबंधित विवेचन को समाप्त करने से पूर्व यहाँ सक्षेप में ईश्वरवादियों के इस दावे पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि मार्क्सवाद स्वयं एक धर्म है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ट्रूब्लड ने मार्क्सवाद को स्पष्ट रूप से 'धर्म' की संज्ञा दी है। जो विचारक मार्क्सवाद को धर्म मानते हैं उनका कथन है कि धर्मपरायण व्यक्तियों की भांति मार्क्सवादियों में भी अपने सिद्धांत, मार्क्सवाद के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना पाई जाती है और वे भी अपने सिद्धांत में अखंड आस्था रखने के कारण किसी भी रूप में उसकी आलोचना को सहन नहीं करते। मार्क्सवाद का भी अपना एक विशेष संगठन तथा निश्चित लक्ष्य है और इसके प्रति मार्क्सवादियों में वैसा ही उत्साह पाया जाता है जैसा कट्टर धर्मानुयायियों में होता है। सच्चे धर्मपरायण व्यक्तियों की भाँति मार्क्सवादी भी अपने सिद्धांत को स्वतः साध्य मानते हैं और उसके लिए जीवन सहित बड़े से बड़ा बलिदान करने में भी कोई संकोच नहीं करते। इन सब तर्कों के आधार पर कुछ विचारक मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद को निश्चित रूप से 'धर्म' की संज्ञा देते हैं।

परंतु मेरे विचार में मार्क्सवाद के संबंध में उपर्युक्त मत उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। इसका कारण यह है कि मार्क्सवाद में वे सब तत्त्व नहीं पाए जाते जो धर्म के लिए अनिवार्य हैं। यह सत्य है कि कुछ मार्क्सवादियों में अपने सिद्धांत के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना पाई जाती है, किंतु केवल यह भावना ही किसी सिद्धांत को धर्म नहीं बना देती। इसी प्रकार अपने सिद्धांत के प्रति कुछ मार्क्सवादियों का विशेष उत्साह भी यह सिद्ध नहीं करता कि वह धर्म है। कुछ व्यक्तियों अथवा समुदायों द्वारा किसी सिद्धांत या विश्वास का दृढ़तापूर्वक समर्थन करने मात्र से भी वह धर्म नहीं हो जाता। वस्तुतः धर्म के कुछ अनिवार्य लक्षण हैं जिनके अभाव में हम किसी विश्वास को धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते। इन लक्षणों में किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व में आस्था रखना, उसे तथा उससे संबंधित समस्त वस्तुओं को अति पावन या पवित्र मानना, उसके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखना, उसकी उपासना अथवा पूजा करना, विशेष कर्मकांड और आचरण-पद्धति का निष्ठापूर्वक अनुसरण करना आदि मुख्य हैं। 'धर्म' शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ में ये सभी लक्षण एक ही साथ उसमें अनिवार्यतः पाए जाते हैं। इन लक्षणों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि **धर्म मनुष्य का वह विश्वास है जो किसी अलौकिक या**

अतिप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व में आस्था के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, जिसके कारण वह इस शक्ति की उपासना अथवा पूजा करता है तथा उसके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है, जो मनुष्य को इस अतिप्राकृतिक शक्ति से संबंधित सभी वस्तुओं को अति पावन मानने के लिए प्रेरित करता है और जो विशेष आचरण-पद्धति एवं कर्मकांड के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

यदि धर्म की उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकार किया जाए तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद धर्म नहीं है। हम देख चुके हैं कि मार्क्सवाद भौतिकवादी विचारधारा में विश्वास करता है, अतः उसके अनुसार किसी ऐसी अतिप्राकृतिक शक्ति का अस्तित्व संभव नहीं है, जिसे 'आध्यात्मिक शक्ति' कहा जाता है और जो इस संसार से परे है। मार्क्स ने धर्मपरायण व्यक्तियों के कल्पित स्वर्ग अथवा परलोक का स्पष्ट रूप से खंडन किया है। ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार न करने के कारण मार्क्सवाद में उपासना अथवा पूजा के लिए भी कोई स्थान नहीं है। किसी अतिप्राकृतिक सत्ता और उसकी उपासना का निषेध करने का एक अनिवार्य परिणाम यह भी है कि मार्क्सवादी किन्हीं विशेष व्यक्तियों, स्थानों, वस्तुओं एवं पुस्तकों को उस अर्थ में अति पावन नहीं मानते जिस अर्थ में धर्मपरायण व्यक्ति मानते हैं। धर्मपरायण व्यक्तियों के विपरीत वे अपने विचारों तथा सिद्धांतों को सार्वकालिक, अपरिवर्तनीय और शाश्वत भी नहीं मानते। वे यह स्वीकार करते हैं कि इन विचारों और सिद्धांतों में समय, परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार उचित परिवर्तन या संशोधन किया जा सकता है। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद को सामान्य प्रचलित अर्थ में 'धर्म' की संज्ञा देना उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि **'धर्म' शब्द के सामान्य अर्थ में मार्क्सवाद न तो धर्म का समर्थन करता है और न ही वह स्वयं एक धर्म है। वस्तुतः मार्क्सवाद को 'धर्म' की संज्ञा देने के स्थान पर विज्ञान के समान ही उसे भी धर्म के विरुद्ध एक गंभीर चुनौती के रूप में ही देखा जा सकता है।**

4. मनोविश्लेषणवाद और धर्म

कार्ल मार्क्स की भाँति उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक, सिगमन्ड फ्रायड (1856-1939) ने भी अपने सिद्धांत, मनोविश्लेषणवाद के आधार पर धर्म के विरुद्ध गंभीर चुनौती प्रस्तुत की है जिस पर यहाँ कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। कॉपरनिकस, डार्विन तथा मार्क्स के समान ही फ्रायड ने भी अपने क्रांतिकारी मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा मनुष्य के विचारों और उसके व्यावहारिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है, अतः उनकी गणना भी विश्व के ऐसे विचारकों में की जाती है जिन्होंने मानव-जाति के वैचारिक इतिहास को एक नवीन दिशा दी है। फ्रायड ने अपना संपूर्ण जीवन मानव-मन की गहराइयों को समझने के लिए समर्पित कर दिया जिससे मनुष्य जगत् के साथ-साथ स्वयं अपने मन की कार्य-प्रणाली तथा उसमें छिपी अज्ञात इच्छाओं के व्यापक प्रभाव को जान सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने एक नए सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसे 'मनोविश्लेषणवाद' कहा जाता है और जिसका आज भी मनो-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत महत्त्व है। अपने इस सिद्धांत द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि

मनुष्य के समस्त विचारों तथा कार्यों पर उसकी उन अचेतन इच्छाओं, प्रवृत्तियों या वासनाओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है जिनका स्वयं उसे ज्ञान नहीं होता। जिसे हम अपना 'बौद्धिक व्यवहार' समझते हैं वह वस्तुतः इन अचेतन इच्छाओं द्वारा ही निर्धारित होता है जो मूलतः नितांत अबौद्धिक होती हैं। मनुष्य की दैनिक क्रियाओं के साथ-साथ साहित्य, कला, धर्म, नैतिकता आदि की व्याख्या भी फ्रायड ने अपने इसी मनोविश्लेषणवाद के आधार पर ही की है। यहाँ हम केवल धर्म से संबंधित उनके मत की विवेचना करेंगे। परंतु धर्म के विषय में फ्रायड के विचार प्रस्तुत करने से पूर्व उनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कुछ शब्द कह देना आवश्यक है।

फ्रायड का जन्म 6 मई 1856 में चेकोस्लोवाकिया के फ्रीबर्ग, मोराविया में हुआ था। जब वे तीन या चार वर्ष के थे तो उनके पिता अपने परिवार सहित वियाना चले गये जहाँ उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। मार्क्स की भाँति फ़्रायड के माता-पिता भी यहूदी धर्म के अनुयायी थे, किंतु मार्क्स के परिवार के समान ही उनके व्यावहारिक जीवन पर भी इस धर्म का अधिक प्रभाव नहीं था। इसका अर्थ यह है कि मार्क्स की भाँति फ्रायड का पालन-पोषण भी धार्मिक वातावरण में नहीं हुआ था। यहूदी धर्म के विचारों तथा विश्वासों को स्वीकार करने के लिए उन पर कोई विशेष दबाव नहीं डाला गया। हाँ, शैशव काल में उन्हें धार्मिक शिक्षा देने के लिए 'नैनी' नामक एक प्रौढ़ा स्त्री को अवश्य नियुक्त किया गया था जिसके संपर्क में वे कुछ समय तक रहे। रोमन कैथॉलिक मत का समर्थन करने वाली इसी स्त्री ने फ़्रायड को उन प्राचीन मूल धार्मिक विश्वासों से अवगत कराया जो उस समय ऑस्ट्रिया, के निम्न वर्ग में प्रचलित थे। इसी स्त्री ने उन्हें धार्मिक कहानियों के माध्यम से ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि से संबंधित धार्मिक विश्वासों की शिक्षा दी। वह उन्हें नियमित रूप से गिरजाघर में भी ले जाती थी। यद्यपि फ़्रायड की यह धार्मिक शिक्षा शीघ्र ही समाप्त हो गई थी, फिर भी इस शैशव कालीन शिक्षा का उनके भावी जीवन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। धर्म के संबद्ध अंधविश्वासों के प्रति उनके मन में जो घृणा उत्पन्न हुई उसे कुछ सीमा तक इसी धार्मिक शिक्षा की प्रतिक्रिया का परिणाम माना जा सकता है। परंतु निश्चित रूप से यह कहना बहुत कठिन है कि नैनी के धार्मिक विचारों का उनके जीवन पर कोई स्थायी प्रभाव पड़ा था। वस्तुतः फ़्रायड के मन में धर्म के प्रति कभी भी श्रद्धा नहीं रही, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वे अपने व्यक्तिगत जीवन में धर्म के संबंध में प्रायः उदासीन ही रहे।

फ्रायड ने प्राथमिक शिक्षा से ले कर चिकित्सा-विज्ञान की उच्च शिक्षा तक वियाना में ही प्राप्त की। वे कुशल चिकित्सक बनना चाहते थे और प्रारंभ में शरीर-विज्ञान में उनकी विशेष रुचि थी। उन्होंने विशेष रूप से स्नायु-विज्ञान का अध्ययन किया था और सर्वप्रथम वियाना विश्वविद्यालय में इसी विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति हुई थी। परंतु शीघ्र ही उनकी इस रुचि में परिवर्तन हुआ और वे मनुष्य के शरीर की अपेक्षा उसके मन को समझने के लिए अधिक प्रयास करने लगे। उनहोंने अपना संपूर्ण शेष जीवन मानव-मन के गहन रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए ही समर्पित कर दिया। वे काफी लंबे समय तक वियाना विश्वविद्यालय में मनोरोग-चिकित्सा के प्राध्यापक रहे। इसी अवधि में फ्रायड ने मनोविश्लेषण द्वारा उस विशेष चिकित्सा—प्रणाली की खोज की जिसका प्रयोग उन्होने

बहुत-से मानसिक रोगियों के उपचार के लिए सफलतापूर्वक किया। वे निश्चित रूप से यह मानते थे कि मनुष्य के समस्त मानसिक रोग उसकी उन दमित अचेतन इच्छाओं तथा वासनाओं के दुष्परिणाम हैं जिनका स्वयं उसे ज्ञान नहीं होता। इन रोगों का समुचित उपचार करने के लिए मनोविश्लेषण की प्रणाली द्वारा उसे इन दमित इच्छाओं का ज्ञान कराना आवश्यक है। फ्रायड अपनी इसी प्रणाली द्वारा आजीवन मानसिक रोगियों की सफलतापूर्वक चिकित्सा करते रहे। इन रोगियों के गहन एवं व्यापक मनोविश्लेषण के आधार पर उन्होंने अपनी इस विशेष चिकित्सा-प्रणाली के संबंध में अनेक पुस्तकें लिखीं जिनका आज भी बहुत महत्त्व है। इसी कारण उन्हें मनोविश्लेषणवाद का प्रवर्तक माना जाता है। मानव-मन के गहन रहस्यों को समझने के लिए उनके इस सिद्धांत का वही महत्त्व है जो ब्रह्मांड मे पृथ्वी के स्थान को समझने के लिए कॉपरनिकस के सिद्धांत का और प्राणी-जगत् में मनुष्य की स्थिति को समझने के लिए डार्विन के विकासवाद का। फ्रायड ने अपने जीवन का अधिकांश समय वियाना में ही व्यतीत किया, किंतु 1936 में इस नगर पर नाज़ियों का अधिकार हो जाने के कारण उन्हें यह नगर छोड़ कर लंदन जाना पड़ा। अपनी मातृभूमि से दूर लंदन में ही कैंसर के फलस्वरूप 23 सितम्बर 1939 में उनका देहांत हुआ। परंतु मनुष्य के मन की गहराइयों को समझने के लिए प्रतिपादित अपने मनोविश्लेषणवाद के कारण वे कॉपरनिकस, न्यूटन, डार्विन आदि महान वैज्ञानिकों की भाँति सदा अमर रहेंगे।

मनोविश्लेषण पर आधारित अपनी विशेष चिकित्सा-प्रणाली द्वारा मानसिक रोगियों का सफल उपचार करने के साथ-साथ फ्रायड ने धर्म की उत्पत्ति तथा मानव-जीवन पर उसके प्रभाव के विषय में भी विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त किए हैं। अपनी चार पुस्तकों—'दि फ्यूचर ऑफ़ ऐन इल्यूज़न', 'टोटेम टेंड टेबू', 'सिविलाइज़ेशन ऐंड इट्स डिसकंटेंट्स' तथा 'मॉसेस ऐंड मॉनॉथीइज्म' —में उन्होंने धर्म के विभिन्न पक्षों का विस्तृत विवेचन किया है। मार्क्स की भाँति वे धर्म का विरोध करते हैं और उसे मानव-जीवन के लिए बहुत हानिकारक मानते हैं। वे मार्क्स की इस मान्यता को भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्य स्वभावतः धार्मिक प्राणी नहीं हैं। परंतु इन समानताओं के साथ-साथ धर्म के विषय में मार्क्स तथा फ्रायड के दृष्टिकोण में एक आधारभूत अंतर भी है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि मार्क्स के मतानुसार धर्म की उत्पत्ति कुछ विशेष सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही होती है, किंतु फ्रायड इस मत को स्वीकार नहीं करते। वे बाह्य परिस्थितियों के स्थान पर मनुष्य की कुछ आंतरिक अचेतन इच्छाओं को ही धर्म का मूल स्रोत मानते हैं। उनके विचार में धर्म की उत्पत्ति मानव की उन शैशव कालीन आवश्यकताओं मे हुई है जिनसे प्रेरित होकर वह प्रौढ़ावस्था में भी ईश्वर या किसी अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति की सहायता, सुरक्षा तथा उसके अवलंब की कामना करता है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि मार्क्स के विपरीत फ्रायड के अनुसार धर्म का स्रोत किन्हीं बाह्य कारणों में निहित न होकर मनुष्य की मनोवृत्तियों में ही विद्यमान है। वस्तुतः फ्रायड ने धर्म के उद्गम तथा मानव-जीवन पर उसके प्रभाव की व्याख्या आर्थिक दृष्टि से नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही की है। परंतु इस अंतर के होते हुए भी फ्रायड और मार्क्स दोनों ही यह मानते हैं कि मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन पर धर्म का बहुत हानिकारक

प्रभाव पड़ता है। अपनी इसी मान्यता के कारण इन दोनों विचारकों ने धर्म का तीव्र विरोध किया है और अपने-अपने ढंग से उस के विरुद्ध गंभीर चुनौती प्रस्तुत की है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शैशव काल में ही फ्रायड ने अपने व्यक्तिगत जीवन में धर्म के हानिकारक प्रभाव का अनुभव किया था। वे जिस समाज में रहते थे उसमें यहूदियों के प्रति तीव्र घृणा पाई जाती थी। यहूदी होने के कारण उनके साथ रोमन कैथॉलिक ईसाइयों द्वारा प्रायः दुर्व्यवहार किया जाता था। उस समय ईसाइयों में यह विश्वास प्रचलित था कि यहूदियों ने ही ईसा की हत्या की थी। इसी कारण वे यहूदियों के प्रति शत्रुता की भावना रखते थे जो प्रायः उनके व्यवहार में अभिव्यक्त होती थी। बाल्यकाल से ही विद्यालय मे शिक्षा ग्रहण करते हुए फ्रायड को भी ईसाइयों की इस शत्रुतापूर्ण भावना का शिकार होना पड़ा। घर में भी उन्होंने अपने माता–पिता से ईसाइयों द्वारा यहूदियों पर किए गए अत्याचारों की कहानियाँ सुनी थीं। इन सभी अप्रिय अनुभवों के कारण शैशव काल से ही फ्रायड-के मन में धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई थी जो बाद में धर्म की तीव्र आलोचना के रूप में अभिव्यक्त हुई।

धर्म के प्रति फ्रायड के विरोध तथा निषधात्मक दृष्टिकोण का दूसरा कारण था विज्ञान में उनका अटूट विश्वास। वे विज्ञान को ही जीवन और जगत् को समझने का एकमात्र साधन मानते थे। उनका यह निश्चित मत था कि केवल विज्ञान द्वारा ही मनुष्य अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर सकता है। संसार में सर्वत्र विद्यमान दरिद्रता, रोग, अशिक्षा, बेकारी आदि का निराकरण विज्ञान की सहायता से ही किया जा सकता है। मनुष्य केवल विज्ञान द्वारा ही सत्य का अनुसंधान कर सकता है। विज्ञान में इस अखंड विश्वास के कारण भी फ्रायड धर्म के घोर विरोधी हो गए थे। वे उन सभी धार्मिक विश्वासो को मिथ्या मानते थे जिन्हें विज्ञान तथा बौद्धिक तर्कों द्वारा सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार ऐसे विश्वास कभी भी मनुष्य के कल्याण में सहायक नहीं हो सकते। धर्म ईश्वर या किसी अतिप्राकृतिक शक्ति, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि ऐसे ही अप्रमाणित विश्वासों पर आधारित हैं, अतः उसके सत्य होने की कोई संभावना नहीं हो सकती। इस प्रकार मानव-जीवन में विज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व देने के कारण भी फ्रायड ने अलौकिक सत्ता पर आधारित धर्म का विरोध किया है।

फ्रायड द्वारा धर्म का विरोध करने के कुछ मुख्य कारणों की विवेचना के पश्चात अब धर्म के उद्गम तथा मानव-जीवन पर उसके प्रभाव के विषय में उनकी प्रमुख मान्यताओ पर विचार करना आवश्यक है। मार्क्स की भाँति फ्रायड भी 'धर्म' शब्द को उसके प्रचलित सामान्य अर्थ में ही ग्रहण करते हैं और उन्होंने भी धर्म की आलोचना ईसाई धर्म के मूल सिद्धांतों को ध्यान में रख कर ही की है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, ईसाई धर्म मे विश्व के रचयिता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अत्यंत दयालु तथा प्रेममय ईश्वर, अजर-अमर आत्मा स्वर्ग, नरक और 'आदिम पाप' से संबंधित विश्वासों का विशेष महत्त्व है। इसी कारण फ्रायड ने इनमें से अधिकतर विश्वासों की विस्तृत विवेचना की है। ईसाई धर्म तथा अन्य ईश्वरवादी धर्मों में ईश्वर विषयक विश्वास का सर्वाधिक महत्त्व है, अतः फ्रायड धर्म संबंधी

अपनी अनेक कृतियों में इस विश्वास की उत्पत्ति और मनुष्य के जीवन पर इसके प्रभाव की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं। ईश्वर में विश्वास करने वाले सभी व्यक्ति यह मानते हैं कि अन्य वस्तुओं तथा प्राणियों की भाँति मनुष्य को भी ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है। परंतु फ्रायड के मतानुसार स्थिति इसके ठीक विपरीत है। फ़ायरबाक के मत का अनुसरण करते हुए वे यह कहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को नहीं, अपितु मनुष्य ने ही ईश्वर को जन्म दिया है।

ईश्वर विषयक विश्वास के उद्गम के संबंध में अपने उपर्युक्त मत की व्याख्या फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की है। उसकी इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या का आधार बालक की असहाय स्थिति और उसकी अनिवार्य मूल आवश्यकताएँ हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि अपने जन्म से लेकर कुछ वर्षों तक बालक नितांत असहाय, दुर्बल तथा माता-पिता पर पूर्णतः निर्भर रहता है। उस समय उसे सहायता, सुरक्षा तथा प्रेम की अत्यधिक आवश्यकता होती हैं जिसकी पूर्ति उसके माता-पिता और अन्य अभिभावक करते हैं। यह सत्य है कि प्रारंभ में बालक अपनी माता पर ही पूर्णतः आश्रित रहता है, किंतु आयु की वृद्धि के साथ-साथ धीरे-धीरे उसे अपने पिता के प्रेम तथा उसकी सहायता और सुरक्षा की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगता है। वह यह जान लेता है कि उसकी माता सहित संपूर्ण परिवार पर उसके पिता का ही प्रभुत्व है। स्वयं अपनी तुलना में पिता के बलिष्ठ शरीर और उसकी भारी आवाज़ तथा बुद्धिमत्ता के कारण वह उसे सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ मानने लगता हैं। वह यह सोचता हैं कि वास्तव में उसका पिता सब कुछ कर सकता हैं और सब कुछ जानता है। अपने पिता के प्यार-दुलार से वह यह भी जान लेता है कि उसका पिता उससे प्रेम करता है। पिता की इस संपूर्ण धारणा से बालक को संकट-काल में सहायता का बहुत बड़ा आश्वासन मिलता है और वह उसकी छत्र-छाया में अपने आप को पूर्णतः सुरक्षित समझता है। वह इस विचार से सदा आश्वस्त रहता है कि उसके जीवन में किसी भी समस्या के उत्पन्न होने पर उसका पिता तुरंत उसकी सहायता करेगा और उस समस्या का समुचित समाधान कर देगा। यह विचार उसे बहुत बड़ा संबल प्रदान करता है। इस प्रकार जीवन के कुछ प्रारंभिक वर्षों में असहाय, दुर्बल एवं पराश्रित होने के कारण बालक अपने पिता को ही सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा प्रेममय मानकर अपनी सुरक्षा और सहायता के लिए उसी पर पूर्णतः निर्भर रहता है, अतः इस समय उसके जीवन में पिता का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है। परंतु बड़ा होने पर उसे ज्ञात होता है कि उसका पिता वास्तव में सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं है; वह भी उसके समान केवल सीमित मनुष्य है। इस ज्ञान के फलस्वरूप बालक को मानसिक आघात पहुँचता है, क्योंकि अब वह अपने पिता से उस पूर्ण सुरक्षा की आशा नहीं कर पाता जिसका अनुभव उसे बाल्यकाल में होता था। वयस्क होकर भी वह संसार में पुनः अपने आप को नितांत असहाय, दुर्बल तथा असुरक्षित अनुभव करने लगता है। असहायता एवं असुरक्षा की यह स्थिति मनुष्य के लिए अत्यंत कष्टदायक होती है, अतः वह इससे मुक्त होना चाहता है और इससे मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग खोजता है।

फ्रायड का मत है कि ईश्वर की कल्पना वर्तमान जीवन के असह्य दुःखों से मुक्त होने के लिए मनुष्य की इसी बलवती इच्छा का परिणाम है। संसार में मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पडते हैं। उदाहरणार्थ, बाढ़, तूफ़ान, भूकंप, सूखा, अतिवृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाओं के कारण सहस्रों व्यक्ति मारे जाते हैं अथवा गंभीर रूप से घायल होते हैं। इसके

अतिरिक्त पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, प्रतिशोध आदि के फलस्वरूप भी अधिकतर मनुष्य एक-दूसरे को शारीरिक तथा मानसिक दुःख पहुँचाते हैं। फिर सभ्यता के विकास के कारण भी सभी व्यक्तियों को अपनी अनेक बलवती इच्छाओं—विशेषतः कामेच्छा तथा दूसरों पर आक्रमण करने की इच्छा—का दमन करना पड़ता है जो उनके लिए कष्टदायक सिद्ध होता है। अंत में अपनी अनिवार्य मृत्यु के विचार के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को अपने समस्त प्रयास तथा जीवन-मूल्य निरर्थक प्रतीत होते हैं। इन सभी दुःखों के परिणाम-स्वरूप मनुष्य का जीवन बहुत कठिन हो जाता है और वह संसार में अपने आप को नितांत अकेला, असहाय तथा असुरक्षित अनुभव करता है। मनुष्य की यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी बालक की स्थिति होती है। इसी कारण शारीरिक दृष्टि से वयस्क होकर भी मनुष्य बालक की भाँति किसी ऐसे सहारे की खोज करने लगता है जो दुःख की इस अवस्था में उसे आश्वासन, सहायता एवं सुरक्षा प्रदान कर सके और जिस पर वह पूर्णतः निर्भर रह सके। यह सहारा उसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अत्यंत दयालु तथा प्रेममय ईश्वर के रूप में प्राप्त होता है जिसे वह बालक के समान अपना परम पिता मान लेता है।

फ्रायड का कथन है कि ईश्वर की इस कल्पना के फलस्वरूप मनुष्य अपने आप को उसी प्रकार सुरक्षित समझने लगता है जिस प्रकार वह बाल्यकाल में पिता के कारण अपने आप को सुरक्षित समझता था। वह ईश्वर में उन सभी गुणों की असीमित मात्रा में होने की कल्पना करता है जिन्हें वह बाल्यकाल में अपने पिता में देखता था। इन समस्त गुणों से परिपूर्ण ईश्वर की इस कल्पना के परिणामस्वरूप उसे अपने जीवन में पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त होता है। ईश्वर की कल्पना कर के मनुष्य बालक की भाँति यह अनुभव करता है कि संकट-काल में उसकी सहायता करने तथा उसे सहारा देने के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और उससे प्रेम करने वाला परम पिता विद्यमान है जिस पर वह सदा पूर्णतः निर्भर रह सकता है। इस प्रकार फ्रायड के मतानुसार ईश्वर कोई वस्तुपरक सत्ता न होकर मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार के दुःखों के कारण उसकी नितांत असहाय तथा दयनीय अवस्था से उत्पन्न काल्पनिक विचार मात्र है जो उसकी सुरक्षा संबंधी आवश्यकता की पूर्ति का भ्रम उत्पन्न करता है और उसे मिथ्या सांत्वना देता है

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि फ़ायरबाक की भाँति फ्रायड भी ईश्वर की वस्तुपरक सत्ता का निषेध करते हुए उसे मानव की इच्छा-पूर्ति का परिणाम मानते हैं जिसकी कल्पना वह अपने वर्तमान जीवन के दुःखों तथा अपनी असहाय अवस्था से मुक्त होने के लिए ही करता है। ईश्वर के विचार की उत्पत्ति के विषय में अपने इसी मत की व्याख्या करते हुए वे स्पष्ट कहते हैं कि:—"अलग-अलग व्यक्तियों का मनोविश्लेषण हमें विशेष रूप से यह बताता है कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति का ईश्वर उसके पिता के समान है, ईश्वर के साथ उसका व्यक्तिगत संबंध अपने पिता के साथ व्यक्तिगत संबंध पर ही निर्भर है और इसी संबंध के अनुसार परिवर्तित होता रहता है; मूलतः ईश्वर उदात्त पिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है"।[14] इसी प्रकार अपनी एक अन्य कृति में ईश्वर सहित कुछ मूल धार्मिक विश्वासों की

14. सिगमंड फ्रायड, 'टोटेम ऐंड टेबू', 'ए० ए० ब्रिल द्वारा अनूदित, पृ० 190

उत्पत्ति के मनोवैज्ञानिक कारणों को स्पष्ट करते हुए फ़्रायड नें लिखा है कि :– "निर्विवाद रूप से अप्रामाणिक होते हुए भी धार्मिक विचारों ने मानव-जाति पर वहुत प्रवल प्रभाव डाला है।........ हम पहले से ही यह जानते हैं कि शैशव कालीन असहाय अवस्था के भयंकर प्रभाव ने प्रेम के माध्यम से संरक्षण की आवश्यकता को जन्म दिया जिसकी पूर्ति पिता ने की। जव मनुष्य को यह मालूम हुआ कि उसकी यह असहाय अवस्था आजीवन वनी रहेगी तो उसके लिए अधिक शक्तिशाली पिता के साथ संबंध रखना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार ईश्वर का परोपकारपूर्ण शासन जीवन के खतरों से उत्पन्न हमारी चिंता को दूर करता है: विश्व में नैतिक व्यवस्था की स्थापना न्याय संबंधी हमारी उन माँगों की पूर्ति का आश्वासन देती है जो मानवीय संस्कृति के अंतर्गत प्रायः पूरी नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त मरणोत्तर जीवन के विचार द्वारा इस संसार में चिरकाल तक जीवित रहने की हमारी इच्छा की पूर्ति होती है"।[15] उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि फ़्रायड मनुष्य की इच्छा–पूर्ति से संबंधित अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर ही ईश्वर सहित सभी महत्त्वपूर्ण धार्मिक विश्वासों की व्याख्या करते हैं जिसमें इन विश्वासों की वस्तुनिष्ठता एवं प्रामाणिकता को पूर्णतः अस्वीकार किया गया है।

फ़्रायड का कथन है कि आदिकाल से ही मनुष्य के समक्ष विभिन्न प्रकार के दुःखों से यथासंभव मुक्त होने की मूल समस्या वनी रही है। अपने विकास के प्रारंभिक काल में उसका जीवन पूर्णतः प्राकृतिक शक्तियों पर ही निर्भर था जिनके विषय में वह तव कुछ भी नहीं जानता था। आंधी, तूफ़ान, वाढ़ भूकंप आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण उसके जीवन को भारी क्षति पहुँचती थी। ऐसी स्थिति में मनुष्य के समक्ष मूल प्रश्न यह था कि वह इन प्राकृतिक आपदाओं का सामना किस प्रकार करे और इनसे कैसे वचे। अपनी इसी समस्या का समाधान करने के लिए उसने विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों से संबंधित अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की और उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी पूजा करना आरंभ किया जिसके फलस्वरूप मानव-समाज में धर्म का उदय हुआ। सूर्य, चंद्र, जल, वायु, अग्नि आदि को देवता मान कर मनुष्य ने उनसे प्रार्थना की कि वे प्राकृतिक विपत्तियों से उसकी रक्षा करें और उसके जीवन को सुखी तथा समृद्ध वनाएँ। फ़्रायड के मतानुसार मनुष्य के लिए इन सभी देवी-देवताओं को व्यक्तित्वसंपन्न मानना अनिवार्य था, क्योंकि ऐसा कर के ही वह उनके साथ व्यक्तिगत संवंध वनाए रख सकता था और उनसे सहायता की याचना कर सकता था। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हम व्यक्तित्व रहित किसी ऐसी वस्तु से प्रार्थना नहीं करते जिसमें हमारी प्रार्थना सुनने और हमारी सहायता करने की सामर्थ्य न हो। हम केवल उसी व्यक्ति से प्रार्थना करते हैं जो इसे सुनकर हमारी सहायता कर सके। इसी कारण आदिकाल में मानव ने प्राकृतिक शक्तियों की व्यक्तित्वसंपन्न देवी-देवताओं के रूप में कल्पना की थी। इस कल्पना के फलस्वरूप ही उसके लिए इन देवी-देवताओं के साथ व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करना और उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी पूजा करना संभव हुआ।

---

15. सिगमन्ड फ़्रायड दि फ्यूचर ऑफ़ ऐन इल्यूज़न पृ० 51-52

देवी-देवताओं के रूप में प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण की आवश्यकता के विषय में अपनी उपर्युक्त मान्यता को स्पष्ट करते हुए फ्रायड कहते हैं कि :–"निर्वैयक्तिक शक्तियों तथा सत्ताओं तक पहुँचा नहीं जा सकता; वे सदैव अत्यधिक दूर बनी रहती हैं। परंतु यदि प्राकृतिक शक्तियों में वे ही संवेग हों जो हमारे मन में उत्पन्न होते हैं, यदि मृत्यु अपने आप न होकर किसी दुष्ट शक्ति के हिंसापूर्ण कर्म के फलस्वरूप होती है, यदि हमारे चारों ओर प्रकृति में सर्वत्र उसी प्रकार के प्राणी हैं जिस प्रकार के प्राणियों को हम अपने समाज में जानते हैं तो हम मुक्त रूप से सांस ले सकते हैं, रहस्यमय जगत् में सहायता का अनुभव कर सकते हैं और मानसिक उपायों द्वारा अपनी निरर्थक चिंता को दूर कर सकते हैं।......... हम इन हिंसापूर्ण बाह्य अतिप्राकृतिक मनुष्यों के विरुद्ध भी उन्हीं विधियों का प्रयोग कर सकते हैं जिनका प्रयोग हम अपने समाज में करते है: हम उनसे अनुनय करने, उन्हें प्रसन्न करने, उन्हें घूस देने का प्रयत्न कर सकते हैं और इस प्रकार उन्हें प्रभावित कर के हम अशंतः उनकी शक्ति को क्षीण कर सकते हैं।........ जब वयस्क व्यक्ति को यह ज्ञात होता हैं कि सदा बालक बने रहना ही उसकी नियति हैं और अज्ञात महान शक्तियों के विरुद्ध किसी के द्वारा उसकी रक्षा के बिना उसका काम नहीं चल सकता तो वह इन शक्तियों में अपने पिता के गुणों को आरोपित कर देता है: वह स्वयं अपने लिए ऐसे देवता उत्पन्न कर लेता है जिनसे वह डरता है, जिन्हें वह प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है और जिन्हें वह अपनी रक्षा का भार सौंप देता है"।[16] इस प्रकार फ्रायड के अनुसार अपने जीवन की सुरक्षा संबंधी इच्छा की पूर्ति के लिए ही मुनष्य प्राकृतिक शक्तियों में व्यक्तित्व को आरोपित करता है और उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी पूजा या उपासना करता है।

फ्रायड का मत है कि इन प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के साथ-साथ मनुष्य में इनके प्रति कभी-कभी विद्रोह या विरोध की भावना भी उत्पन्न होती है। जब ये शक्तियां मनुष्य की प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए उसके लिए प्राकृतिक आपदाएँ उत्पन्न करती हैं तो वह इनके प्रति अपना रोष अथवा विरोध भी व्यक्त करता है फ्रायड यह मानते हैं कि धार्मिक कर्मकांड से संबंधित मनुष्य का यह संपूर्ण आचरण ठीक वैसा ही है जैसा अपने पिता के प्रति बालक का होता है। बालक अपने पिता से प्रेम करने के साथ-साथ उससे डरता भी है और उसके द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति न किए जाने के कारण उससे घृणा भी करता है। अपने काल्पनिक ईश्वर तथा देवी-देवताओं के प्रति वयस्क मनुष्य का आचरण भी ठीक इसी प्रकार का होता है। फ्रायड की मान्यता से यह स्पष्ट है कि वे सुख तथा सुरक्षा संबंधी मनुष्य की शैशव कालीन इच्छाओं को ही धर्म की उत्पत्ति का मूल स्रोत मानते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानव की अपनी इच्छाओं से उत्पन्न अथवा अभिप्रेरित होने के कारण धार्मिक विचारों तथा विश्वासों को फ्रायड ने 'भ्रम' की संज्ञा दी है। वे 'भ्रम' शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित सामान्य अर्थ में न कर के इसी विशेष अर्थ में करते हैं। वे धार्मिक विश्वासों को इस अर्थ में 'भ्रम' नहीं कहते कि ये हमारी भूल या ग़लती से उत्पन्न हुए हैं। उनके मतानुसार ये विश्वास इस अर्थ में 'भ्रम' हैं कि इन की उत्पत्ति के मूल कारण हमारी कुछ प्रबल इच्छाएँ हैं। इस विशेष अर्थ में प्रत्येक धार्मिक विश्वास भ्रम है, क्योंकि वह मनुष्य की

16. वही पुस्तक, पृ० 22-23, 35

किसी प्रबल इच्छा से ही उत्पन्न या अभिप्रेरित होता है। 'भ्रम' शब्द के इसी विशेष अर्थ के आधार पर भ्रमपूर्ण विश्वास की परिभाषा करते हुए फ़्रायड ने लिखा है कि:—"जब कोई विश्वास मुख्यतः इच्छा-पूर्ति से अभिप्रेरित होता है और वास्तविकता के साथ उसका कोई संबंध नहीं होता तो हम उस विश्वास को भ्रम कहते हैं"।[17] इसी विशेष अर्थ में उन्होंने उन सभी धार्मिक विश्वासों को भ्रम माना है जिनके लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। एक उदाहरण द्वारा फ़्रायड के मत को भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए युद्ध में जाते हुए कोई सैनिक यह कहता है कि वह अवश्य सकुशल घर लौटेगा, क्योंकि युद्ध में ईश्वर उसकी रक्षा करेगा। फ़्रायड के अनुसार, उसका यह विश्वास भ्रम है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति जीवित रहने से संबंधित उसकी इच्छा से ही हुई है और इसे सत्य सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। अन्य सभी धार्मिक विश्वासों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। समस्त धार्मिक विश्वासों के स्वरूप के संबंध में अपनी इसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए फ़्रायड ने यह कहा है कि वस्तुतः धर्म एक भ्रम है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति मानव-जाति की प्राचीनतम, प्रबलतम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इच्छाओं से ही हुई है।[18] इस प्रकार धर्म को 'भ्रम' की संज्ञा दे कर उन्होंने अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट किया है कि उसका जीवन और जगत् की वास्तविकता के साथ कोई संबंध नहीं है।

हम देख चुके है कि फ़्रायड के विचार में ईश्वर विषयक विश्वास मनुष्य की असहाय अवस्था में सुरक्षा तथा अवलंब प्राप्त करने की तीव्र इच्छा से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास की उत्पत्ति इस संसार में मनुष्य की चिरकाल तक जीवित रहने की प्रबल इच्छा से ही होती है। मृत्यु के पश्चात सदा के लिए समाप्त हो जाने का विचार उसे अत्यंत दुखद तथा भयंकर प्रतीत होता है, अतः वह किसी न किसी रूप में मरणोत्तर जीवन की कामना करता है। वस्तुतः मनुष्य की इसी कामना से आत्मा की अमरता संबंधी विश्वास का जन्म होता है। विश्व में नैतिक व्यवस्था के होनेका विश्वास मनुष्य की इस इच्छा का परिणाम है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ न्याय होना चाहिए—अर्थात, उसे अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुरूप ही सुख-दुःख प्राप्त होना चाहिए। परंतु वास्तविक जीवन में कभी-कभी ऐसा न्याय नहीं होता, अतः मनुष्य यह आशा करता है कि मरणोत्तर जीवन में ईश्वर द्वारा उसके साथ यह न्याय अवश्य किया जाएगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फ़्रायड के मतानुसार सभी महत्त्वपूर्ण धार्मिक विश्वास मूलतः मनुष्य की कुछ प्रबल इच्छाओं से उत्पन्न या अभिप्रेरित होते हैं और इसी कारण वे इन्हें 'भ्रम' की संज्ञा देते हैं।

फ़्रायड ने अपनी पुस्तक, 'टोटेम ऐंड टेबू' में उन तीव्र भावनाओं के मूल कारणों की व्याख्या की है जो उनके विचार में धर्म के साथ अनिवार्यतः संबद्ध रहती हैं। धार्मिक कर्मकांड में मनुष्य के अपराध-बोध, आज्ञा-पालन, आत्म-ग्लानि, तुच्छता आदि भावनाओं की प्रायः अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः धर्मपरायण व्यक्ति के जीवन में इन भावनाओं का बहुत महत्त्व है। इन धार्मिक भावनाओं के मूल कारण की व्याख्या फ़्रायड ने एक विशेष

---

17. वही पुस्तक, पृ० 54-55
18. वही पुस्तक, पृ० 47

मनोग्रंथि के आधार पर की है जिसे वे 'पितृमनोग्रंथि कहते हैं। इस मनोग्रंथि का नाम 'ईडियस कॉम्प्लेक्स' एक यूनानी पौराणिक कथा से लिया गया है जिसके अनुसार 'ईडियस' नामक एक राजा ने युद्ध में अनजाने ही अपने पिता की हत्या कर के अपनी माता से विवाह किया था। वास्तविकता के ज्ञात होने पर उसके मन में आत्म-ग्लानि और अपराध-बोध की तीव्र, भावना का जन्म हुआ जिसके कारण वह अपना राज्य छोड़ कर भिखारी हो गया। इस यूनानी पौराणिक कथा के आधार पर फ्रायड ने प्रत्येक मनुष्य में 'ईडिपस कॉम्प्लेक्स' नामक मनोग्रंथि के विद्यमान होने की कल्पना की है। उनके अनुसार, मनुष्य में इस ग्रंथि के उत्पन्न होने का कारण उसके प्रागैतिहासिक सामाजिक जीवन में खोजा जा सकता है।

फ्रायड का विचार है कि आदिकाल में सभी मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहते थे। प्रत्येक समुदाय का मुखिया एक पुरुष होता था जिसका उस समुदाय की सभी स्त्रियों तथा बच्चों पर पूर्ण प्रभुत्व रहता था। वह अपने उन सभी युवा पुत्रों को मार डालता था अथवा समुदाय से निकाल देता था जो अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए उस समुदाय की स्त्रियों को चाहते थे। पिता के इस क्रूर व्यवहार के कारण पुत्रों के मन में उसके प्रति अत्यधिक रोष तथा घृणा का जन्म होता था। इसी रोष और घृणा से प्रेरित होकर वे उसकी हत्या कर देते थे। परंतु इस हत्या के पश्चात उन्हें अपने पिता के प्रेम एवं संरक्षण की याद आती थी और अपने इस दुष्कर्म के लिए उनके मन में तीव्र अपराध-बोध उत्पन्न होता था। इसके अतिरिक्त अपने पिता की हत्या के उपरांत उन्हें इस बात का भी ज्ञान होता था कि समुदाय में वे सभी उसका स्थान नहीं ले सकते, क्योंकि समुदाय का मुखिया तो कोई एक ही व्यक्ति हो सकता था। तब उनके मन में गहरा पश्चाताप उत्पन्न होता था और उन्हें अपने पिता की सभी आज्ञाएँ ठीक मालूम होती थीं। इसी कारण वे अपने समुदाय की सभी स्त्रियों को पवित्र मान कर उनके प्रति काम-लिप्सा रखना अपराध मानते थे। इसी से समुदाय में अपने संबंधियों के साथ संभोग की वर्जना का जन्म हुआ जिसे आज भी स्वीकार किया जाता है। फ़्रायड का कथन है कि यही वर्जना प्रत्येक बालक में पितृमनोग्रंथि उत्पन्न करती है। बालक स्वभावतः अपनी माता के प्रति आकर्षित होता है, किंतु अपने इस आकर्षण में वह पिता को बाधक पाता है, क्योंकि माता पर पिता का ही पूर्ण अधिकार होता है। इससे बालक के मन में पिता के प्रति प्रेम के साथ-साथ घृणा भी उत्पन्न होती है जिसका उसे दमन करना पड़ता है। अपने पिता से घृणा करने के कारण उसके मन में आत्म-ग्लानि तथा अपराध-बोध की भी उत्पत्ति होती है। फ़्रायड के मतानुसार आदिकाल से संपूर्ण मानव-जाति में यही स्थिति चली आ रही है, अतः प्रत्येक पुरुष में पितृमनोग्रंथि अनिवार्यतः पाई जाती है जो आजीवन उसके आचरण को प्रभावित करती है। इस ग्रंथि के फलस्वरूप उसके मन में उत्पन्न अपराध-बोध तथा अन्य भावनाएँ ही धार्मिक कर्मकांड में अभिव्यक्त होती हैं।

फ़्रायड का कथन है कि जिस प्रकार बालक माता के प्रति आकृष्ट होता है उसी प्रकार बालिका पिता के प्रति आकर्षित होती है और इस आकर्षण के फलस्वरूप उस के मन में 'मातृमनोग्रंथि' अथवा 'इलैक्ट्रा कॉम्प्लेक्स' का जन्म होता है। परंतु धर्म के विश्लेषण की दृष्टि से उन्होंने इस ग्रंथि को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया। वस्तुतः वे पितृमनोग्रंथि के आधार पर ही धर्म से संबंधित तीव्र संवेगों तथा भावनाओं की व्याख्या करते हैं। उनका

विचार है कि इसी ग्रंथि के कारण धार्मिक कर्मकांड में वैसी ही बाध्यता पाई जाती है जैसी मनोरोग से ग्रस्त व्यक्तियों में दिखाई देती है। संभवत: अपनी इसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने धर्म को 'भ्रम' के साथ-साथ एक 'मानसिक रोग' भी माना है जिससे मुक्त होना मनुष्य के लिए आवश्यक है। इस प्रकार धर्म के विश्लेषण की दृष्टि से फ़्रायड के मनोविश्लेषणवाद में पितृमनोग्रंथि का विशेष महत्त्व है।

फ़्रायड का विचार है कि धर्म वास्तव में बाल्यावस्था की ओर मनुष्य के प्रतिगमन का परिणाम है। इसका अर्थ यह है कि वयस्क होकर भी मनुष्य अपने जीवन की कठिनाइयों तथा समस्याओं के कारण पुन: अपनी बाल्यावस्था में लौट जाता है और उसके इसी प्रतिगमन से धार्मिक विश्वासों एवं कर्मकांड का जन्म होता है। हम देख चुके हैं कि प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरूप मानव को अनेक भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ता है और कठोर सामाजिक प्रतिबंधों के कारण वह अपनी मूल प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए बाध्य होता है। ऐसी स्थिति में वह शारीरिक दृष्टि से वयस्क होकर भी मानसिक दृष्टि से अपने आप को बालक की भाँति नितांत असहाय और दुर्बल पाता है। यही कारण है कि मनुष्य ईश्वर तथा अन्य अतिमानवीय शक्तियों की कल्पना करता है और उनसे उसी प्रकार सहायता एवं सुरक्षा की याचना करने लगता है जिस प्रकार वह बाल्यावस्था में अपने पिता से करता था। अपनी बाल्यावस्था में मनुष्य के लौट जाने की इसी मानसिक स्थिति को फ़्रायड ने 'प्रतिगमन' की संज्ञा दी है जो उनके विचार में धर्म की उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण कारण है। इस प्रतिगमन के परिणामस्वरूप मनुष्य ईश्वर के प्रति ठीक वैसा ही व्यवहार करता है जैसा वह शैशव काल में अपने पिता के प्रति करता था। वह ईश्वर की पूजा तथा उससे प्रेम करता है, उसकी आज्ञा का पालन करता है, उससे भयभीत होता है और अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने पर कभी-कभी उसके प्रति विद्रोह भी करता है। धर्म के साथ मनुष्य की इन सभी भावनाओं का बहुत गहरा संबंध है। धार्मिक कर्मकांड का विश्लेषण करने से यह स्पष्टत: ज्ञात होता है कि उसके माध्यम से पूजा, समर्पण, प्रेम, भय, विद्रोह आदि मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण फ़्रायड ने धर्म को मनुष्य के प्रतिगमन से उत्पन्न मानव-जाति की शैशव कालीन अवस्था माना है। धार्मिक कर्मकांड का पालन करते हुए वयस्क व्यक्ति वैसा ही आचरण करता है जैसा वह अपनी बाल्यावस्था में करता था। इस प्रकार फ़्रायड के मतानुसार मनुष्य द्वारा जीवन की कठोर वास्तविकताओं का सामना न कर सकने के कारण बाल्यावस्था की ओर उसके प्रतिगमन के परिणामस्वरूप धर्म की उत्पत्ति होती है।

धर्म को मानवीय इच्छाओं से उत्पन्न भ्रम तथा शैशव काल की ओर प्रतिगमन का परिणाम मानने के साथ-साथ फ़्रायड ने उसके विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई है कि वह मनुष्य को अपनी मूल प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए बाध्य करता है। वे सामाजिक व्यवस्था के लिए नैतिक नियमों और प्रतिमानों की उपयोगिता एवं आवश्यकता को तो स्वीकार करते हैं, किंतु उनका कथन है कि धर्म द्वारा मान्य ये नियम तथा प्रतिमान अत्यंत कठोर हैं जिनके कारण मनुष्य को अपनी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। इस संबंध में फ़्रायड कामवासना तथा आक्रमण की इच्छा का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं जिन पर कठोर नैतिक नियमों द्वारा प्रतिबंध लगाए जाते हैं। इन इच्छाओं की पूर्ति करना ही नहीं, अपितु इन्हें अपने मन में

लाना भी मनुष्य के लिए अपराध या पाप माना जाता है। धर्मपरायण माता-पिता प्रारंभ से ही बालकों को इन मूल प्रवृत्तियों के विरुद्ध कठोर नैतिक नियमों का पालन करने के लिए बाध्य करते हैं। वे किसी भी रूप में इन प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करना पाप मानते हैं। फ्रायड का कथन है कि इस प्रकार के कठोर प्रतिबंधों के कारण बालकों को अपनी इच्छाओं का दमन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इस दमन में थोड़ी-सी भी असफलता मिलने पर उनके मन में गहरी अपराध-भावना उत्पन्न हो जाती है। यह अपराध-भावना उन्हें आजीवन अत्यधिक कष्ट पहुँचाती है और उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत घातक सिद्ध होती है। इसके कारण वे कभी भी सामान्य तथा स्वस्थ जीवन व्यतीत नहीं कर पाते। अत्यंत कठोर नैतिक नियमों तथा प्रतिमानों द्वारा धर्म मनुष्य को अपनी मूल प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए बाध्य करता है और उसके मन में इस अपराध-भावना को उत्पन्न करता है। धर्म की इस हानिकारक विशेषता को ध्यान में रखते हुए ही फ्रायड ने उसे 'मानव-जाति का सार्वभौम मनोरोग' कहा है। अनेक मानसिक रोगियों का उपचार करते हुए उन्होंने यह देखा था कि इन रोगियों में मनोरोग के जो लक्षण पाए जाते हैं वे कठोर नैतिक प्रतिबंधों के कारण अपनी मूल प्रवृत्तियों का दमन करने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों में भी विद्यमान हैं। ये व्यक्ति कभी भी संतोषपूर्ण एवं सुखमय जीवन व्यतीत नहीं कर पाते, क्योंकि वे कामवासना तथा आक्रामक प्रवृत्ति की थोड़ी-सी अभिव्यक्ति को भी पाप मानते हैं और इसी कारण सदा गहरी अपराध-भावना से ग्रस्त रहते हैं। इस प्रकार फ्रायड के विचार में धर्म मनुष्य को अपनी मूल प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए बाध्य कर के और इस दमन में असफलता के परिणामस्वरूप उसके मन में तीव्र अपराध-भावना को जन्म दे कर उसे अत्यधिक हानि पहुँचाता है।

धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः यह दावा करते रहे हैं कि धर्म मनुष्य को मानसिक शांति, दुःख सहने की शक्ति और संकट-काल में सांत्वना प्रदान करता है। परंतु फ्रायड ने उनके इस दावे का अनेक तर्कों द्वारा दृढ़तापूर्वक खंडन किया है। उनका कथन है कि धर्म के कारण मनुष्य को जिस मानसिक शांति अथवा सांत्वना के प्राप्त होने की बात कही जाती है वह वास्तव में नितांत मिथ्या है। यदि ईश्वर तथा अन्य देवी-देवता मानव की अपनी कल्पना के सुखद परिणाम मात्र हैं, जैसा कि फ्रायड मानते हैं, तो यह स्पष्ट हे कि वे संकट-काल में उसे कोई वास्तविक सहायता नहीं दे सकते। इसके विपरीत इन काल्पनिक देवी-देवताओं पर मनुष्य की निर्भरता उसे पूर्णतः अशक्त और निष्क्रिय बना देती है। धर्म के इसी अनिवार्य दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम को ध्यान में रखते हुए फ्रायड यह कहते हैं कि इसके कारण मनुष्य अपने जीवन की जटिल समस्याओं का संतोषजनक समाधान खोजने में असमर्थ हो जाता है। अपने शारीरिक तथा मानसिक कष्टों के वास्तविक कारणों का पता लगा कर उनके निराकरण के लिए यथासंभव प्रयास करने के स्थान पर वह ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता से प्रार्थना करने लगता है। इससे उसे मिथ्या सांत्वना तो प्राप्त हो जाती है, किंतु उसकी समस्या का कोई समाधान नहीं होता। वस्तुतः मनुष्य की इस निष्क्रियता के फलस्वरूप उसकी समस्या और अधिक जटिल हो जाती है। इसी कारण फ्रायड धर्म को मानव-जीवन की समस्याओं के समाधान में बाधक मानते हैं। उनका विचार है कि धर्म हमें ऐसी दुर्बल मानसिक बैसाखी देता है जिसका सहारा लेकर हम अपने जीवन में कभी आगे नहीं बढ़ सकते।

फ्रायड का मत है कि धर्म का एकमात्र आधार मनुष्य की अपनी कल्पना तथा इच्छा पूर्ति है जिसके द्वारा वह ईश्वर और अन्य सभी देवी-देवताओं का सृजन करता है। उस का यह धार्मिक दृष्टिकोण नितांत अपरिपक्व तथा अबौद्धिक है, अतः इसके अनुसार आचरण कर के वह अपने जीवन में कभी भी प्रगति नहीं कर सकता। वस्तुतः धर्म मनुष्य को अपनी समस्याएँ सुलझाने की क्षमता प्रदान करने के स्थान पर उसे सदा मानसिक दृष्टि से सुखद शैशवावस्था में ही बनाए रखता है। यह भ्रमपूर्ण स्थिति मानव-जीवन के लिए निश्चय ही अत्यंत दुखद और घातक है। इसके कारण मनुष्य अपनी अचेतन आंतरिक शक्तियों तथा बाह्य प्राकृतिक शक्तियों से उत्पन्न कठिन समस्याओं का सामना करने में असमर्थ हो जाता है और सदैव शिशु की भाँति अतिप्राकृतिक काल्पनिक सत्ताओं पर पूर्णतः आश्रित बना रहता है। उसकी इस मानसिक अवस्था को मनोरोग से ग्रस्त व्यक्तियों की अवस्था के समान ही माना जा सकता है। इसी कारण फ्रायड धर्म को 'मानवता का सार्वभौम मनोरोग' की संज्ञा देते हैं और यह कहते हैं कि जब मनुष्य अपनी परिपक्व बुद्धि द्वारा जीवन तथा जगत् के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेगा तब वह धर्म की इस भ्रमपूर्ण दुर्बल मानसिक बैसाखी का परित्याग कर के आत्म-निर्भर हो सकेगा।[19] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि फ्रायड धर्मपरायण विचारकों के इस दावे को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं कि धर्म मानव-जीवन के लिए हितकर तथा लाभदाक सिद्ध होता है।

धर्म के विषय में फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत की व्याख्या करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उनका यह सिद्धांत कहाँ तक उचित, सत्य एवं युक्तिसंगत है। मार्क्सवाद की भाँति फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद की भी अनेक धर्मपरायण विचारकों ने तीव्र आलोचना की है। इस सिद्धांत के विरुद्ध उनकी आपत्तियों की विवेचना करने से पूर्व यहाँ पुनः इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मार्क्स के समान ही फ्रायड भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित सामान्य अर्थ में ही करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने भी ईश्वरवादी ईसाई धर्म को ध्यान में रख कर ही धर्म की आलोचना की है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, उनकी इस आलोचना का मुख्य विषय ईश्वरवाद ही है जिसमें ईसाई धर्म तथा कुछ अन्य धर्म विश्वास करते हैं। इसी कारण कुछ ईश्वरवादी विचारकों ने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का खंडन करते हुए उसके विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं। उदाहरणार्थ, ट्रूब्लड इस सिद्धांत को पूर्णतः असत्य, अवैज्ञानिक तथा अयुक्तिसंगत मानते हैं। इस सिद्धांत के विरुद्ध उनकी मुख्य आपत्ति यह है कि इसमें धर्म को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत न कर केवल विकृत रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। धर्म के विरुद्ध अपने पूर्वमान्य निष्कर्षों को प्रमाणित करने के लिए फ्रायड ने केवल उन्हीं तथ्यों का संकलन किया है जिनका संबंध मानसिक रोगियों तथा मनुष्य के शैशव कालीन जीवन से है। ये एकांगी तथ्य धर्म के वास्तविक रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

---

19. सिगमंड फ्रायड, 'दि फ्यूचर ऑफ़ ऐन एल्यूज़न', 'जेम्स स्ट्रैची द्वारा संपादित तथा अनूदित पुस्तक, 'दि कंप्लीट साइकौलॉजीकल वर्क्स ऑफ़ सिगमंड फ़्रायड' में संकलित, खंड 2. पृ० 44

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के विरुद्ध अपनी उपर्युक्त आपत्ति को स्पष्ट करते हुए ट्रूब्लड कहते हैं कि :—"फ़ायड द्वारा किया गया धार्मिक प्रदत्तों का चुनाव लगभग उतना अन्यायपूर्ण है जितना किया जा सकता है। उनके सभी उदाहरण परस्पर संबद्ध तीन प्रकार के हैं—मानसिक रोगियों से संबंधित, आदिकालीन तथा शैशव काल संबंधी। पाश्चात्य जगत् की उस महान धार्मिक परंपरा का तो वर्णन तक नहीं किया गया जिसके अनुसार ईश्वरीय इच्छा के अधीन कार्य करते हुए मनुष्य अपनी मृत्यु की चिंता किए बिना प्रचलित परंपरागत नैतिकता का विरोध करते हैं।....... वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता की दृष्टि से फ्रायड की सब से बड़ी भूल उनकी यह मान्यता है कि संपूर्ण धार्मिक अनुभव में पाया जाने वाला विश्वास इच्छाओं के अनुरूप ही होता है। धार्मिक इतिहास का अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है कि यह बात पूर्णतः असत्य है।........ संतुलित सत्य यह है कि परिपक्व तथा विवेचनात्मक धार्मिक अनुभव से संबंधित विश्वास प्रायः इच्छाओं से भिन्न होता है।[20] इस प्रकार ट्रूब्लड के मतानुसार धर्म को विकृत रूप में प्रस्तुत करने के कारण फ़ायड का मनोविश्लेषणवाद असत्य और अयुक्तिसंगत है।

एक अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक, जॉन हिक ने भी फ़ायड के इस सिद्धांत की आलोचना की है। उनका कथन है कि फ्रायड की अनेक प्राक्कल्पनाएँ वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य और प्रामाणिक सिद्ध नहीं हुई हैं। उदाहरणार्थ, उनकी पितृमनोग्रंथि विषयक प्राक्कल्पना के संबंध में यही बात कही जा सकती है। इस दृष्टि से फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद की आलोचना करते हुए हिक ने लिखा है कि :—"आदिकालीन मानव के लघु समुदाय से संबंधित जिस प्राक्कल्पना को फ्रायड ने डार्विन तथा रॉबर्टसनंस्मिथ से प्राप्त किया था उसे अब नृविज्ञानी सामान्यतः अस्वीकार करते हैं और पितृमनोग्रंथि को भी फ़ायड के वहुत-से अनुयायी सभी समस्याओं के समाधान की कुंजी नहीं मानते"।[21]

आधुनिक मनोविश्लेषणवाद का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि फ़ायड के विषय में हिक का उपर्युक्त कथन पर्याप्त सीमा तक उचित एवं युक्तिसगत है। मनुष्य में फ्रायड द्वारा वर्णित पितृमनोग्रंथि के अस्तित्व का कोई वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, अतः इस ग्रंथि के आधार पर उन्होंने धर्म के संबंध में जो निष्कर्ष निकाले हैं उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध ही प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त आदिकाल में पुत्रों द्वारा पिता की हत्या से संबंधित फ़ायड की प्राक्कल्पना को भी नृविज्ञानी सत्य तथा वैज्ञानिक दृष्टि से प्रामणिक नहीं मानते। वस्तुतः फ्रायड की ये प्राक्कल्पनाएँ असंदिग्ध तथ्यात्मक प्रमाणों पर आधारित न होकर उनके अनुमान तथा मनोविश्लेषणवादी चिंतन का ही परिणाम हैं, अतः वैज्ञानिक दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। फ़ायड के दिरुद्ध ट्रूब्लड का यह आरोप भी कुछ सीमा तक सत्य प्रतीत होता है कि उन्होंने धर्म के संबंध में केवल अपने सिद्धांत की पुष्टि करने वाले एकांगी तथ्यों का संकलन कर के उनके आधार पर धर्म विषयक पूर्वाग्रहयुक्त निष्कर्ष निकाले हैं जिन्हें वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष नहीं माना जा सकता। केवल मानसिक रोगियों के मनोविश्लेषण के आधार पर धर्म के सभी पक्षों की निष्पक्ष और

---

20. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', पृ० 184. 186

21. जॉन हिक, 'फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', 'पृ० 35

वस्तुपरक परीक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे मनोविश्लेषण द्वारा जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उन्हें सामान्य और स्वस्थ धर्मपरायण व्यक्तियों पर लागू करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार फ्रायड के धर्म संबंधी सिद्धांत के विरुद्ध ट्रूब्लड तथा हिक द्वारा उठाई गई आपत्तियों को पर्याप्त सीमा तक उचित एवं युक्तिसंगत माना जा सकता है।

ईश्वरवादियों की उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के विरुद्ध एक अन्य आपत्ति यह भी उठाई जा सकती है कि उनके इस सिद्धांत द्वारा निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयायियों के आचरण की व्याख्या करना संभव नहीं है। इन धर्मों के अनुयायी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, अतः उनके द्वारा उसे परम पिता मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में ईश्वरवाद के आधार पर फ्रायड ने मनुष्य के आचरण के विषय में जो कुछ कहा है उसे निरीश्वरवादियों के आचरण के विषय में सत्य नहीं माना जा सकता। यह स्पष्ट है कि इस कठिनाई के कारण फ्रायड के धर्म संबंधी सिद्धांत का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित हो जाता है। परंतु उनके समर्थन में यह अवश्य कहा जा सकता है कि यदि निरीश्वरवादी धर्मों के अनुयायी ईश्वर के स्थान पर किसी अन्य अलौकिक शक्ति या सत्ता का अवलंब खोजते हैं तो वे भी ईश्वरवादियों के समान ही भ्रम में हैं। ईश्वरवादियों की भाँति वे भी किसी काल्पनिक अतिप्राकृतिक सत्ता से सांत्वना एवं सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त करना चाहते हैं जिसका कोई वास्तविक और वस्तुपरक आधार नहीं है। ऐसे निरीश्वरवादी धर्मपरायण व्यक्तियों का आचरण ईश्वरवादियों के आचरण से मूलतः भिन्न नहीं होता, अतः उन पर भी फ्रायड का धर्म संबंधी सिद्धांत समान रूप से लागू होता है।

फ्रायड के धर्म विषयक सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि इस में धर्म के उस रचनात्मक पक्ष की उपेक्षा की गई है जो मानव के लिए लाभदायक तथा हितकर सिद्ध होता है। यह सत्य है कि धर्म के कारण मनुष्य को अपनी कुछ मूल प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसके मन में अपराध-भावना उत्पन्न होती है, किंत इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि धर्म उसमें दया, परोपकार, नम्रता, क्षमा आदि नैतिक सद्गुणों के विकास में भी सहायता करता है। धर्म की सहायता से मनुष्य अपनी कुछ मूल प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करने में भी समर्थ होता है। परुंत फ्रायड धर्म के इस रचनात्मक पक्ष के विषय में कुछ भी नहीं कहते, अतः उनका धर्म संबंधी विश्लेषण एकांगी प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त फ्रायड ने मनुष्य के समस्त विचारों तथा कर्मों के कारणों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो विश्लेषण किया है वह भी अंशतः ही सत्य है। यह ठीक है कि मानव की अचेतन इच्छाएँ उसके विचारों और आचरण को प्रभावित करती हैं, किंतु फ्रायड इन इच्छाओं को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं। उनकी इस मान्यता को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि मनुष्य के सभी कर्म तथा विज्ञान, दर्शन, धर्म, नैतिकता आदि से संबंधित उसके समस्त विचार मूलतः उसकी कामेच्छा, आक्रमण-प्रवृत्ति और अन्य अचेतन इच्छाओं के ही परिणाम हैं। मानव की विशेष बौद्धिक क्षमता उनकी इस मान्यता का समर्थन नहीं करती। वस्तुतः यदि फ्रायड की उपर्युक्त मान्यता सत्य है तो मनुष्य की

विवेकशीलता और उसके संकल्प-स्वातंत्र्य का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। परंतु लगभग सभी महान विचारकों ने मानव के इन गुणों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है और यह कहा है कि ये गुण ही उसे अन्य प्राणियों से पृथक करते हैं। इस प्रकार फ्रायड ने मनुष्य के विचार और व्यवहार का जो मनोवैज्ञनिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है उसे पूर्णतः सत्य मानना बहुत कठिन है।

परंतु फ्रायड के धर्म संबंधी मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के होते हुए भी यह पर्याप्त सीमा तक सत्य और तर्कसंगत प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, फ्रायड ने धर्म की उत्पत्ति की जो मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है वह निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत है। उनका यह कथन सत्य है कि धर्म की उत्पत्ति मनुष्य की शैशवकालीन असहायावस्था से ही हुई है जो उसकी शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता के कारण उसके जीवन में सदा बनी रहती है। इस दुर्बलता एवं असहायावस्था से विवश होकर ही वह अपनी सहायता और सुरक्षा के लिए ईश्वर तथा अन्य अतिप्राकृतिक शक्तियों की कल्पना करता है जो धर्म का अनिवार्य मूल तत्त्व है। इस कल्पना से मनुष्य को यह सांत्वना प्राप्त होती है कि जब उसके सभी सांसारिक अवलब टूट जाते हैं तो ऐसे संकट-काल में उसकी सहायता करने वाली कोई दैवी शक्ति है जिस पर वह सदा पूर्णतः निर्भर रह सकता है। यद्यपि फ्रायड के अनुसार यह सांत्वना मिथ्या है, फिर भी इसके फलस्वरूप मनुष्य के लिए संकट-काल में अपना मनोबल बनाए रखना संभव होता है। शताब्दियों से मानव-जीवन पर धर्म का जो इतना अधिक प्रभाव रहा है उसका यही मूल कारण है। इस प्रकार फ्रायड ने धर्म के उद्गम तथा मानव-समाज में उसके बने रहने की जो व्याख्या की है उसे उचित और तर्कसंगत माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त फ्रायड का यह मत भी उचित प्रतीत होता है कि धर्म में मनुष्य की इच्छा-पूर्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह इच्छा-पूर्ति मानव-जीवन में धार्मिक विश्वासों तथा कर्मकांड को उत्पन्न करने और उन्हें बनाए रखने में बहुत सहायक सिद्ध होती है। इस दृष्टि से फ्रायड द्वारा किया गया धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण निश्चय ही युक्तिसंगत है। धर्म के विरुद्ध उनका यह आरोप भी कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होता है कि इसके कारण मनुष्य को अपनी कुछ मूल प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसके मन में अपराध-भावना उत्पन्न होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि अत्यधिक धर्मपरायण व्यक्ति अपने धर्म द्वारा मान्य नैतिक नियमों का विधिवत पालन करना अनिवार्य मानते हैं और इसमें थोड़ी-सी भूल हो जाने पर भी तीव्र अपराध-भावना का अनुभव करते हैं। इस अपराध-भावना के कारण वे मानसिक दृष्टि से पूर्णतः सामान्य व्यक्ति नहीं रह जाते और उनका जीवन कष्टदायक हो जाता है।

धर्म—विशेषतः ईश्वरवादी धर्म—के विरुद्ध फ्रायड की यह आपत्ति भी उचित है कि यह मनुष्य के स्वावलंबन तथा उसकी आत्म-निर्भरता को नष्ट कर के उसे पराश्रित बना देता है। धर्मपरायण व्यक्ति स्वयं अपने प्रयास द्वारा संकट का निराकरण करने के स्थान पर ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति का सहारा खोजते हैं, किंतु इस परावलंबन द्वारा वस्तुतः उनकी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। जीवन में पराश्रितता का यह दृष्टिकोण मनुष्य को दुर्बल और पंगु बना देता है। वह शारीरिक दृष्टि से वयस्क होकर भी मानसिक दृष्टि से

सदा दुर्बल और असहाय शिशु ही बना रहता है। आजीवन इस दयनीय स्थिति में रह कर मनुष्य न तो स्वावलंबी हो सकता है और न सर्वांगीण प्रगति कर सकता है, अतः इसे किसी भी रूप में मानव-जीवन के लिए वांछनीय नहीं माना जा सकता। इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए फ्रायड यह कहते हैं कि मनुष्य को ईश्वर तथा अन्य दैवी शक्तियों पर आश्रित रहने से संबंधित परावलंबन के दृष्टि कोण का परित्याग कर के पूर्णतः स्वावलंबी बनना होगा और जीवन की कठोर यथार्थ परिस्थितियों को स्वीकार करते हुए अपनी समस्त समस्याओं का स्वयं ही समाधान करना होगा। मानव-जीवन के प्रति फ्रायड का यह स्वावलंबन संबंधी यथार्थवादी दृष्टिकोण निश्चय ही उचित एवं तर्कसंगत है, क्योंकि मनुष्य के कल्याण तथा विकास के लिए यही एकमात्र वांछनीय मार्ग है।

5. मानवतावाद और धर्म

विज्ञान, मार्क्सवाद तथा मनोविश्लेषणवाद के अतिरिक्त मानवतावाद ने भी उस सामान्य प्रचलित अर्थ में धर्म के विरुद्ध गंभीर चुनौती प्रस्तुत की है जिसके अनुसार धर्म को ईश्वर अथवा किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति पर ही आधारित माना जाता है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके है कि यदि 'धर्म' शब्द को उसके प्रचलित सामान्य अर्थ में ग्रहण किया जाए तो अनिवार्य आधार के रूप में धर्म के लिए किसी अलौकिक शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यही कह सकते हैं कि अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति में आस्था धर्म का अनिवार्य मूल तत्त्व है जिसके बिना हम सामान्य अर्थ में उसे धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते। यदि धर्म के अर्थ के विषय में हमारी यह व्याख्या उचित है तो मानवतावाद को निश्चय ही धर्म के विरुद्ध एक गंभीर चुनौती माना जा सकता है, क्योंकि इस विचारधारा में ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। इस संसार में निवास करने वाले मनुष्य पर केंद्रित तथा उसी की सांसारिक समस्याओं के संबंधित मानवतावाद न तो किसी अलौकिक शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता है और न इस जगत् से पृथक परलोक के अस्तित्व को। उसके अनुसार अलौकिक सत्ताओं के रूप में ईश्वर, देवता, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि सभी काल्पनिक विचार मात्र हैं जिनका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि केवल मनुष्य तथा प्राकृतिक जगत् तक सीमित अपने इस दृष्टिकोण द्वारा मानवतावाद सामान्य अर्थ में धर्म का निषेध करता है। यहाँ इसी अर्थ में मानवतावाद को धर्म के विरुद्ध चुनौती के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दार्शनिक विचारधारा के स्वरूप की व्याख्या से हमारा यह कथन और अधिक स्पष्ट हो जाएगा। धर्म के सामान्य अर्थ में उसके विरुद्ध मानवतावाद क्यों और किस प्रकार चुनौती प्रस्तुत करता है—इस प्रश्न पर विचार करने के लिए मानवतावाद की ठीक-ठीक परिभाषा तथा उसके आधारभूत सिद्धांतों को जानना आवश्यक है।

जैसा कि 'मानवतावाद' शब्द से ही स्पष्ट है, यह वह दार्शनिक विचारधारा है जिसमें मानव तथा उसकी समस्याओं के विवेचन को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। इस विचारधारा का केंद्रबिंदु ईश्वर या कोई अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति न हो कर स्वयं मनुष्य ही

है जिससे संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों का इसके अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। 'ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी' के अनुसार, मानवतावाद ईश्वर से संबंधित न हो कर मनुष्य के हितों से संबंधित है। इसी प्रकार बाल्डविन की 'डिक्शनरी ऑफ फ़िलॉसॉफ़ी ऐंड साइकॉलॉजी' में मानवतावाद की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि :—"यह विचार, विश्वास अथवा कर्म संबंधी वह पद्धति है जो ईश्वर का परित्याग कर के मनुष्य तथा सांसारिक वस्तुओं पर ही केंद्रित रहती है।" मानवतावाद की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि इसका उद्देश्य ईश्वर अथवा किसी अन्य अलौकिक शक्ति के स्थान पर स्वयं मनुष्य तथा उसकी मूल समस्याओं का निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन करना है। इस दार्शनिक विचारधारा के अंतर्गत मनुष्य की उत्पत्ति, प्राकृतिक परिवेश में उसके विकास, ब्रह्मांड के साथ उसके संबंध, उसके व्यक्तित्व, स्वभाव तथा आचरण का निष्पक्ष एवं वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों द्वारा अध्ययन किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह मूलतः निरीश्वरवादी, धर्मनिरपेक्ष तथा मानव-केंद्रित विचारधारा है जो काल्पनिक अलौकिक शक्तियों के स्थान पर मनुष्य की वास्तविक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन को ही महत्त्व देती है, अतः इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व और उसके अनुभव का सर्वोच्च स्थान है।

मानवतावाद के अर्थ की संक्षिप्त विवेचना के पश्चात अब इसके कुछ मूल सिद्धांतों का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है जिन्हें जान लेने से इस दार्शनिक विचारधारा का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो जाएगा। जैसा कि दर्शनशास्त्र के अध्येता भलीभाँति जानते हैं, प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के आधारभूत सिद्धांतों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जिन्हें उसकी ज्ञान–मीमांसा, तत्त्व–मीमांसा तथा आचार–मीमांसा कहा जाता है। यहाँ हम मानवतावाद के मूल सिद्धांतों की विवेचना भी इन्हीं तीन वर्गों के आधार पर करेंगे।

मानवतावाद की ज्ञान-मीमांसा मूलतः मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि पर ही आधारित है। इस विचारधारा के अनुसार, जो कुछ मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे है वह मनुष्य के लिए अज्ञेय है, अतः उसके अस्तित्व तथा स्वरूप के विषय में वह निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकता। इसी आधार पर मानवतावादी ईश्वर, आत्मा आदि सभी अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व का निषेध करते हैं। उनका विचार है कि हम केवल उसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं जिसे हम अपने अनुभव अथवा अपनी तर्कबुद्धि द्वारा जानते हैं या जान सकते हैं। इसका अर्थ यही है कि मानवतावादी व्यापक अर्थ में प्रत्यक्ष को ही मनुष्य के ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय प्रमाण मानते हैं। वे अनुमान, शब्द आदि ज्ञान के अन्य प्रमाणों को केवल उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जिस सीमा तक ये प्रमाण मूलतः प्रत्यक्ष पर ही आधारित रहते हैं। इसी कारण मानवतावाद की ज्ञान-मीमांसा में मानवीय अनुभव, तर्कबुद्धि, विज्ञान तथा वैज्ञानिक विधियों का विशेष महत्त्व है। मानवतावादी ऐसी किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते जिसे मानवीय अनुभव, तर्कबुद्धि या वैज्ञानिक विधियों द्वारा सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मानवतावाद तर्कसंगत अनुभवमूलक ज्ञान–मीमांसा को ही स्वीकार करता है जिस पर संपूर्ण विज्ञान और उसकी विधियाँ आधारित हैं।

तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से मानवतावाद मूलतः प्रकृतिवाद, भौतिकवाद तथा निरीश्वरवाद को ही स्वीकार करता है। इसके अनुसार ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता ईश्वर या कोई अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति न होकर प्रकृति ही है जो निरंतर परिवर्तनशील है। पुद्गल तथा शक्ति इसी प्रकृति के रूप हैं जिन्हें हम समस्त भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों और प्राणियों में देख सकते हैं। यह प्रकृति कोई दैवी शक्ति नहीं, अपितु समस्त निर्जीव वस्तुओं तथा सजीव प्राणियों की महा समष्टि है। सभी भौतिक वस्तुएँ, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मनुष्य तथा अन्य प्राणी इसी प्रकृति में सम्मिलित हैं। अन्य सभी वस्तुओं तथा प्राणियों की भाँति मनुष्य भी इस प्रकृति का अभिन्न अंग है जिससे पृथक हम उसके अस्तित्व और विकास की कल्पना नहीं कर सकते। मानवतावाद के अनुसार, यह प्रकृति स्वयंभू तथा स्वचालित है, ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति ने इसकी रचना नहीं की और न ही वह इसका संचालन एवं नियमन करती है। अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा हम किसी अलौकिक या दैवी शक्ति का अस्तित्व प्रमाणित नहीं कर सकते, अतः ऐसी शक्ति में विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस दृष्टि से मानवतावाद पूर्णतः निरीश्वरवादी विचारधारा है।

ईश्वरवाद का खंडन करने के साथ-साथ मानवतावाद के समर्थक आत्मा की अमरता, अवतारवाद, पुनर्जन्म के सिद्धांत, चमत्कारों की संभावना तथा स्वर्ग और नरक के अस्तित्व को भी पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। इन सब के विरुद्ध उनका आधारभूत तर्क यही है कि हम इन्हें अनुभव, तर्कबुद्धि तथा वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों द्वारा सत्य प्रमाणित नहीं कर सकते, अतः इनमें विश्वास करना तर्कबुद्धि के विरुद्ध आचरण करना होगा। मनुष्य का आविर्भाव एवं विकास प्रकृति के अंतर्गत ही हुआ है और इसी आधार पर हम उसकी उत्पत्ति तथा उसके विकास की तर्कसंगत व्याख्या कर सकते हैं। इसके लिए ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति का आधार लेना अनुचित और अनावश्यक है। अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य का जन्म, विकास और उसकी मृत्यु प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होती हैं; इस संपूर्ण नैसर्गिक प्रक्रिया में ईश्वर अथवा किसी अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति के हस्तक्षेप की बात करना निरर्थक है।

मानवतावादियों का कथन है कि ब्रह्मांड का अंतिम तत्त्व कोई आध्यात्मिक सत्ता न होकर पुद्गल ही है। कुछ विशेष प्राकृतिक परिस्थितियों के संयोग के फलस्वरूप इसी पुद्गल से जीवन का उदय और विकास हुआ है। प्राकृतिक नियम समस्त प्राणियों तथा निर्जीव भौतिक वस्तुओं पर समान रूप से लागू होते हैं। जन्म और विकास की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों से मूलतः भिन्न नहीं है, किंतु उसकी विकसित बुद्धि उसे अन्य सभी प्राणियों से पृथक करती है। अपनी इसी बुद्धि के कारण उसने प्राणी-जगत् में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। मानवतावादियों का मत है कि मन और चेतना मूलतः मनुष्य के मस्तिष्क पर ही निर्भर है; उससे पृथक इनकी स्वतंत्र सत्ता संभव नहीं है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि शरीर से पृथक ऐसी कोई सत्ता नहीं हो सकती जिसे 'आध्यात्मिक सत्ता' कहा जाता है। इस प्रकार मानवतावाद की तत्त्व-मीमांसा मूलतः प्रकृतिवाद अथवा भौतिकवाद पर ही आधारित है।

ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा की भाँति मानवतावाद की आचार-मीमांसा में भी काल्पनिक अलौकिक शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। मानवतावाद इसी संसार में मानव-जीवन के लिए परम ध्येय के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपायों के विषय में विचार करता है। उसकी यह स्पष्ट और निश्चित मान्यता है कि इस संसार में मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं नहीं कर सकता है, ईश्वर या कोई अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति इसमें उसकी कोई सहायता नहीं कर सकती। अपने जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए मनुष्य को स्वयं अपनी तर्कबुद्धि पर ही निर्भर रहना चाहिए; इसके लिए काल्पनिक अलौकिक शक्तियों का मिथ्या अवलंब खोजना अनुचित और अवांछनीय है। प्राकृतिक नियमों के अंतर्गत वह अपने जीवन के परम ध्येय को निश्चित करने तथा उसे प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र है। भाग्यवाद का सहारा लेकर या किसी तथाकथित दैवी शक्ति पर निर्भर रह कर मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता। मानवतावाद के अनुसार, मनुष्य के जीवन का लक्ष्य स्वयं अपने कल्याण के साथ-साथ संपूर्ण मानव-जाति का कल्याण भी है जिसके लिए उसे यथासंभव प्रयास करना चाहिए। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करते समय मनुष्य को किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता, जाति, उसके लिंग और धर्म पर विचार नहीं करना चाहिए। इन संकुचित परिधियों से ऊपर उठ कर संपूर्ण मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति के लिए प्रयास करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है। उसे यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि संपूर्ण समाज के व्यापक हित में ही स्वय उसका अपना कल्याण निहित है। स्पष्ट है कि मानवतावादी आचार मीमांसा में व्यक्ति के संकुचित स्वार्थवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

वस्तुतः अंतराष्ट्रीयतावाद, मानव-भ्रातृत्व अथवा विश्व-बंधुत्व ही मानवतावाद का मूल आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए वह मनुष्य को प्रेरित करता है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' के इस प्राचीन भारतीय आदर्श पर आधारित मानवतावाद विश्व में प्रचलित सभी धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक उदार तथा व्यापक दृष्टि से मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार करता है। उसके अनुसार, स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और विश्व-शांति जैसे महान आदर्शों के अनुरूप आचरण कर के ही संपूर्ण मानव-जाति निरंतर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सकती है। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की अपनी तर्कबुद्धि ही उसका मार्ग प्रशस्त कर सकती है, कोई अलौकिक शक्ति नहीं। इसी कारण किसी काल्पनिक दैवी शक्ति पर आश्रित न रह कर अपने जीवन की सभी समस्याओं तथा कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य को स्वयं अपने ऊपर ही भरोसा करना होगा और अंधकार में अपने लिए स्वयं ही प्रकाश की खोज करनी होगी। मानवतावाद गौतम बुद्ध के इस उपदेश को पूर्णतः स्वीकार करता है कि "आत्मदीपो भव"—अर्थात्, "तुम अपने प्रकाश स्वयं बनो"। उसके अनुसार, मनुष्य के व्यक्तिगत आनंद तथा सामाजिक कल्याण के लिए यही एकमात्र तर्कसंगत मार्ग है। इस प्रकार मानवतावाद की आचारमीमांसा मनुष्य को निराश, भयभीत एवं परावलंबी न बना कर उसे जीवन के प्रति आशावादी, निर्भय तथा स्वावलंबी बनाती है और साथ ही संपूर्ण मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति के लिए भी उसे प्रेरित करती है।

मानवतावाद के स्वरूप तथा उसके आधारभूत सिद्धांतों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि यह मूलतः मानव-केंद्रित दर्शन है जो अलौकिक या

अतिप्राकृतिक शक्तियों के स्थान पर स्वयं मनुष्य के अनुभव एवं उसकी तर्कबुद्धि को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है और मानव-जाति के भाग्य के निर्माण के लिए केवल मनुष्य को ही उत्तरदायी मानता है। बहुत प्राचीन काल से अनेक महान दार्शनिक किसी न किसी रूप में इस मानवतावाद का समर्थन करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व यूनान के एक महान विचारक, प्रोटेगोरस ने मनुष्य तथा उसकी समस्याओं को ही अपने दर्शन का केंद्र माना था। उनका यह कथन सुविख्यात्त है कि "मनुष्य ही समस्त वस्तुओं का मापदंड है।" इस कथन का अर्थ यही है कि अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा मनुष्य का कहीं अधिक महत्त्व हैं, अतः हमें इसी दृष्टि से समस्त वस्तुओं पर विचार करना चाहिए। अज्ञेयवादी होने के कारण प्रोटेगोरस ईश्वर या अन्य किसी अलौकिक शक्ति में आस्था नहीं रखते थे। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा था कि :-"जहाँ तक देवताओं का संबंध है, मेरे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि उनका अस्तित्व है या नहीं। ऐसी अनेक बाधाएँ हैं जो हमारे ज्ञान को सीमित करती हैं; यह प्रश्न अत्यंत रहस्यपूर्ण तथा हमारा जीवन बहुत थोड़ा है"।[22] प्रोटेगोरस के इन परंपरा-विरोधी विचारों के कारण एथेन्स के प्रशासकों ने उन्हें 'धर्म-द्रोही' कह कर देश से निकाल दिया था और उनकी समस्त कृतियों को एकत्र कर के सार्वजनिक स्थानों पर जला दिया था। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल से ही मानवतावाद के समर्थक धर्मपरायण रूढ़िवादी प्रशासकों का कोप-भाजन बनते रहे हैं।

प्रोटेगोरस की भाँति अन्य बहुत-से प्राचीन यूनानी विचारक भी मानवतावादी विचारधारा का समर्थन करते थे जिन्हें 'सोफ़िस्ट्स' कहा जाता था। ये विचारक घूम-घूम कर मनुष्य की मूल समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते थे। इन विचारकों के अतिरिक्त यूनान के प्राचीन भौतिकवादी दार्शनिकों के विचारों में भी हमें मानवतावाद का पूर्वाभास प्राप्त होता है जो किसी भौतिक तत्त्व को ही ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता मानते थे। इन भौतिकवादी दार्शनिकों में थेल्स, ऐनेक्सिमैंडर, हिराक्लिटस, डेमोक्रिटस, ऐपिक्यूरस, ऐनैक्सागोरस आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी दार्शनिक किसी अलौकिक शक्ति में आस्था नहीं रखते थे और विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही मनुष्य की समस्याओं पर विचार करते थे।

प्राचीन यूनानी सभ्यता के पश्चात यूरोपीय इतिहास के मध्य युग में भौतिकवाद तथा प्रकृतिवाद के साथ-साथ मानवतावादी विचारधारा का भी ह्रास हुआ। इस युग में मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि के स्थान पर रूढ़िवादी धार्मिक परंपरा को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था जिसमें मनुष्य के स्वतंत्र चिंतन के लिए कोई स्थान नहीं था। इसी कारण विचारकों ने इसे 'अंधकार युग' की संज्ञा दी है जो उचित ही प्रतीत होती है। अनेक शताब्दियों तक यूरोप इसी अंधकारमय युग में पड़ा रहा जिससे मानवीय सभ्यता और संस्कृति को भारी क्षति पहुँची। परंतु चौदहवीं शताब्दी में यूरोप के पुनर्जागरण के साथ इस अंधकारपूर्ण मध्य युग का अंत हुआ और मनुष्य ने पुनः स्वतंत्र चिंतन एवं तर्क के महत्त्व को समझना आरंभ किया। इस पुनर्जागरण-काल के पश्चात कॉपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन, लाप्लास, डार्विन आदि महान वैज्ञानिकों के अनुसंधानों के फलस्वरूप यूरोप में जो वैचारिक क्रांति हुई उसका विस्तृत

22. डायोजिनीस लेरशियस, 'लाइव्ज़, ऑफ़ ऐमिनैंट फ़िलॉसॉफ़र्ज़', पृ० 51

उल्लेख हम इस अध्याय के द्वितीय खंड में पहले ही कर चुके हैं। यहाँ इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि इस अभूतपूर्व वैचारिक क्रांति के कारण मानवतावादी विचारधारा को प्रवल समर्थन प्राप्त हुआ। विशेषतः डार्विन तथा उनके अनुयायियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य का जन्म और विकास भी जैविक प्राकृतिक प्रक्रिया का ही परिणाम है; ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति ने उसकी रचना नहीं की। मनुष्य भी उसी प्रकार प्रकृति का एक अभिन्न अंग है जिस प्रकार अन्य सभी प्राणी हैं। इस विकासवादी सिद्धांत ने मानवतावाद के प्रचार और प्रसार में वहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

डार्विन के अतिरिक्त मार्क्स तथा ऐंजेल्स के साम्यवाद संवंधी क्रांतिकारी विचारों ने भी मानवतावादी दर्शन को विशेष प्रश्रय दिया। मार्क्सवाद की आधारभूत मान्यताओं तथा मानव-समाज पर उसके व्यापक प्रभाव की विस्तृत चर्चा हम इस अध्याय के तीसरे खंड में कर चुके हैं, अतः यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस सिद्धांत के अनुसार न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था द्वारा हमें इसी संसार में मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास करना चाहिए। इस दृष्टि से मार्क्सवाद को मानवतावादी दर्शन का एक अभिन्न अंग माना जा सकता है।

मार्क्स तथा ऐंजेल्स की भाँति उन्नीसवीं शताब्दी के एक अन्य महान फ्रांसीसी विचारक, ऑगस्ट कूम्ट भी मानवतावाद के प्रबल समर्थक थे। विज्ञान तथा अनुभववाद पर आधारित अपने दर्शन को उन्होंने 'प्रत्यक्षवाद' की संज्ञा दी है जिसके अनुसार हमारे संपूर्ण ज्ञान का मूल स्रोत मानवीय अनुभव है। उनके इस प्रत्यक्षवादी दर्शन का केंद्र स्वयं मनुष्य ही है और इसमें दैवी शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। मानवतावाद के प्रति कूम्ट का प्रवल समर्थन इस बात से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वे ईश्वर की पूजा के स्थान पर मानवता की पूजा को ही मनुष्य का उच्चतम आदर्श मानते हैं। कूम्ट के अतिरिक्त स्पैंसर, बैन्थम, मिल, सिजविक आदि महान विचारकों ने भी स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र पर आधारित मानवतावादी दर्शन का ही समर्थन किया है। इन विचारकों का दर्शन भी मूलतः मानव-केंद्रित है जिसमें अलौकिक शक्तियों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। ये विचारक वस्तुपरक बैज्ञानिक चिंतन एवं तर्कवुद्धि को विशेष महत्त्व देते हैं और न्याय, स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र आदि उन सभी मूल्यों का प्रवल समर्थन करते हैं जो मानवतावाद के आधारभूत मूल्य हैं।

वर्तमान शताब्दी में भी अनेक महान दार्शनिकों ने मानवतावादी विचारधारा को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया है। इन दार्शनिकों में बरट्रैन्ड रसल, जॉन ड्यूई, जॉर्ज सैन्टायना, जे०पी० सार्त्र, मानवेंद्र नाथ राय आदि प्रमुख हैं। ये सभी दार्शनिक ईश्वर या अन्य अलौकिक शक्तियों पर आधारित परंपरागत धर्म का निषेध करते हैं और मनुष्य के तथाकथित पारलौकिक जीवन के स्थान पर उसके वर्तमान जीवन को ही महत्त्व देते हैं। इन दार्शनिकों का विचार है कि मनुष्य किसी दैवी शक्ति का आश्रय लिए बिना स्वयं अपनी तर्कबुद्धि द्वारा अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर सकता है। इन समस्याओं के समाधान के लिए निष्पक्ष एवं वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करना आवश्यक है। परमाणु अस्त्रों द्वारा

महा विनाशकारी विश्व-युद्ध की विभीषिका को ध्यान में रखते हुए ये सभी दार्शनिक स्वतंत्रता, समानता, न्याय, लोकतंत्र आदि मूल्यों का समर्थन करने के साथ-साथ संपूर्ण मानव-जाति की एकता, विश्व-शांति तथा मानव-बंधुत्व का भी व्यापक रूप से प्रचार एवं प्रसार करते रहे हैं। इन दार्शनिकों के इस विश्वव्यापी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप मानवतावादी विचारधारा को प्रबल प्रश्रय प्राप्त हुआ है। इन दार्शनिकों का निश्चित मत है कि मानवीय अनुभव, विज्ञान एवं तर्कबुद्धि पर आधारित मानवतावाद ही ऐसा विश्वव्यापी दर्शन है जो संपूर्ण मानव-जाति के लिए उच्चतम आदर्श के रूप में अनुकरणीय हो सकता है। इस दृष्टि से कोई भी प्रचलित धर्म मानवतावाद का स्थान नहीं ले सकता। ऐसी स्थिति में समस्त संकीर्ण धर्मों का परित्याग कर के हमें अपने जीवन का मार्गदर्शन करने के लिए मानवतावादी दर्शन को ही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि मानवतावाद की एक दीर्घकालीन परपरा रही है जो आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है और जिसका पूर्ण समर्थन तथा अधिकाधिक विकास करना मानव-जाति के अस्तित्व एवं कल्याण के लिए अनिवार्य है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानवतावाद की उक्त दीर्घकालीन परंपरा के विकास में कुछ धर्मों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उदाहरणार्थ, बौद्ध धर्म ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता का निषेध करते हुए मनुष्य के कल्याण को सर्वाधिक महत्त्व देता है। इसके द्वारा वर्णित दुःख-निरोध के अष्टांगिक मार्ग का उद्देश्य इसी संसार में मानव का कल्याण है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, यह अष्टांगिक मार्ग मानव-कल्याण के लिए जीवन के सभी क्षेत्रों में आचरण की पवित्रता को अनिवार्य मानता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने अलौकिक शक्तियों में विश्वास तथा धार्मिक कर्मकांड का खंडन कर के मनुष्य को आत्म-निर्भर बनने का उपदेश दिया है जिसका मानवतावाद के लिए बहुत महत्त्व है। बौद्ध धर्म की भाँति कन्फूयूशियसवाद भी आत्मा की अमरता, ईश्वर की सत्ता तथा अन्य किसी दैवी शक्ति में आस्था नहीं रखता। गौतम बुद्ध के समान ही चीन के महान विचारक, कन्फ्यूशियस भी परलोक के स्थान पर इसी संसार में मनुष्य के कल्याण को सर्वाधिक महत्त्व देते थे और इसके लिए उसके आचरण की पवित्रता को बहुत आवश्यक मानते थे। उन्होंने भी मनुष्य को काल्पनिक दैवी शक्तियों पर निर्भर न रह कर स्वयं ही अपना तथा संपूर्ण समाज का कल्याण करने के लिए प्रोत्साहित किया है। इस दृष्टि से कन्फ्यूशियस का मत भी मूलतः मानवतावाद का ही समर्थन करता है। इन दोनों धर्मों के अतिरिक्त देवात्मा द्वारा स्थापित देवधर्म भी ईश्वर, आत्मा तथा अन्य सभी अलौकिक शक्तियों का खंडन करते हुए स्वयं मनुष्य को ही अपना भाग्य-निर्माता मानता है। इस धर्म में भी मानवतावादी मूल्यों एवं सिद्धांतों को स्वीकार किया गया है। यह धर्म भी इसी संसार में मनुष्य के कल्याण के लिए उसके आचरण की पवित्रता को विशेष महत्व देता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों धर्म मानवतावाद के प्रबल समर्थक हैं।

मानवतावादी दर्शन की इस विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहाँ संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि मानवतावाद को धर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है अथवा नहीं। यह प्रश्न बहुत विवादास्पद है, क्योंकि कुछ विचारक मानवतावाद को धर्म

मानते हैं, जबकि कुछ अन्य विचारकों का मत है कि मानवतावाद वास्तव में धर्म नहीं है। मानवतावाद के उपर्युक्त स्वरूप तथा उसके मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए हम इस प्रश्न के संबंध में अपना निश्चित मत अभिव्यक्त कर सकते हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया है, मानवतावाद उस सामान्य प्रचलित अर्थ में धर्म नहीं है जिसके अनुसार किसी अलौकिक शक्ति पर आधारित होना धर्म के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से मानवतावाद उन सभी धर्मों से मूलतः भिन्न है जो ईश्वर या किसी अन्य अतिप्राकृतिक शक्ति में आस्था रखते हैं और जो अभौतिक आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि अलौकिक सत्ताओं में विश्वास करते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मानवतावाद ऐसे सभी धर्मों को पूर्णतः अस्वीकार करता है, क्योंकि ये मनुष्य के इहलौकिक जीवन की अपेक्षा उसके तथाकथित पारलौकिक जीवन को कहीं अधिक महत्त्व देते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानवतावाद निश्चय ही उस अर्थ में धर्म नहीं है जिस अर्थ में हिंदू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम आदि को 'धर्म' माना जाता है।

परंतु यहाँ यह कहा जा सकता है कि कुछ धर्म न तो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं और न शाश्वत आत्मा के अस्तित्व तथा उसकी अमरता में। बौद्ध धर्म, कन्फ्यूशियसवाद आदि ऐसे ही धर्म हैं। प्रश्न यह है कि क्या मानवतावाद को इस प्रकार का धर्म माना जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि ऐसी किसी विचारधारा को 'धर्म' की संज्ञा दी जाती है जिसमें अलौकिकता का अभाव है, जो मनुष्य के इहलौकिक जीवन को ही महत्त्व देती है और मानवतावाद के समस्त आधारभूत सिद्धांतों को स्वीकार करती हैं तो ऐसी मानवतावादी विचारधारा को अवश्य ही 'धर्म' कहा जा सकता है। परंतु यह अत्यंत संदेहास्पद है कि विश्व में ऐसा कोई धर्म विद्यमान है जो मानवतावादी दर्शन के, उन सभी सिद्धांतों तथा मूल्यों को स्वीकार करता हो जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि ईश्वरवादी धर्मों की अपेक्षा निरीश्वरवादी धर्म मानवतावाद के अधिक निकट हैं। इसका कारण यह है कि ईश्वरवादी धर्मों की अपेक्षा इन निरीश्वरवादी धर्मों में मानवतावाद के सिद्धांतों एवं मूल्यों को कहीं अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि ये निरीश्वरवादी धर्म व्यापक मानवतावादी दर्शन के सहायक तथा पूरक हैं। परन्तु इन धर्मों में पाए जाने वाले कुछ अलौकिक तत्त्व इन्हें पूर्णतः इहलौकिक मानवतावाद से पृथक करते हैं। यदि इन निरीश्वरवादी धर्मों में मानवतावाद के सभी सिद्धांतों और मूल्यों को स्वीकार किया गया होता तो विचारकों को पृथक मानवतावादी दर्शन का प्रतिपादन करने की आवश्यकता न पड़ती। ऐसी स्थिति में मानवतावाद के सभी समर्थक इन निरीश्वरवादी धर्मों में से किसी एक धर्म के अनुयायी हो गए होते। परंतु मानवतावादी विचारधारा के पृथक अस्तित्व से यह स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हुआ। इस तथ्य से यही सिद्ध होता है कि मानवतावाद धर्म से भिन्न है, अतः उसे 'धर्म' की संज्ञा देना उचित नहीं होगा।

वस्तुतः मानवतावाद संसार में प्रचलित सभी धर्मों से भिन्न एक ऐसा विश्वव्यापी वैज्ञानिक दर्शन है जिसे संपूर्ण मानव-जाति के सर्वांगीण विकास एवं कल्याण के लिए एकमात्र उच्चतम अनुकरणीय आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मनुष्यों में पारस्परिक कलह तथा वैमनस्य उत्पन्न करने वाले परंपरागत प्रचलित धर्मों के स्थान पर

मानवीय अनुभव, तर्कबुद्धि एवं वैज्ञानिक विधि पर आधारित इस मानवतावादी दर्शन के अनुरूप निष्ठापूर्वक आचरण कर के ही मानव-जाति प्रगति के पथ पर निरंतर अग्रसर हो सकती है।

15

सर्व-धर्म-समन्वय तथा सार्वभौम धर्म की समस्या

1. सर्व-धर्म-समन्वय का अर्थ

यदि 'धर्म' शब्द को उसके प्रचलित सामान्य अर्थ में ग्रहण किया जाए तो यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि विश्व में अनेक धर्म हैं जिनमें कुछ समानताओं के साथ-साथ मूलभूत अंतर भी हैं जो इन धर्मों के अनुयायियों में तीव्र मतभेद तथा संघर्ष उत्पन्न करते हैं। दार्शनिक ही नहीं, साधारण व्यक्ति भी इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हैं कि संसार में हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, पारसीधर्म आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं जिनके कारण सभी मनुष्य परस्पर संघर्ष करने वाले विभिन्न संप्रदायों में विभाजित हो गए हैं। इतना ही नहीं, एक ही धर्म के अनुयायी भी कुछ धार्मिक विश्वासों तथा सिद्धांतों में भेद के कारण विभिन्न वर्गों या संप्रदायों में विभक्त हैं जिनमें प्रायः परस्पर संघर्ष होता रहता है। मनुष्यों में मतभेद, विग्रह और अशांति उत्पन्न करने वाली इस स्थिति को मानव-जाति के लिए निश्चय ही वांछनीय नहीं माना जा सकता। यदि सभी देशों के मनुष्यों में पारस्परिक सौहार्द्र उत्पन्न करना है तो विभिन्न धर्मावलंबियों में होने वाले कलह को समाप्त करना आवश्यक है। वस्तुतः मानव-समाज की इसी विश्वव्यापी आवश्यकता ने संसार के सभी धर्मों में समन्वय अथवा सार्वभौम धर्म की स्थापना की समस्या को जन्म दिया है। विचारकों के समक्ष समस्या यह है कि सभी धर्मों में समन्वय अथवा एक विश्व-धर्म का निर्माण किस प्रकार किया जाए जिससे धर्म के नाम पर विभिन्न धर्मावलंबियों में होने वाले संघर्ष का निराकरण किया जा सके। व्यावहारिक दृष्टि से इस समस्या का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसके संतोषप्रद समाधान के बिना मानव-समाज में पारस्परिक सद्भाव तथा विश्व-शांति की स्थापना संभव नहीं है।

इस व्यावहारिक पक्ष के अतिरिक्त उपर्युक्त समस्या का एक दार्शनिक पक्ष भी है और वह यह है कि क्या कुछ ऐसे सामान्य मूल तत्त्व हैं जो सभी धर्मों में समान रूप से पाए जाते हैं और जिनके आधार पर इन धर्मों में समन्वय द्वारा एक विश्व-धर्म की रचना की जा सकती है। यदि वास्तव में ऐसे कुछ तत्त्वों को खोजा जा सके तो कम से कम सैद्धांतिक दृष्टि से सभी धर्मों में समन्वय की संभावना हो सकती है जिसका हमारे व्यावहारिक जीवन में बहुत महत्त्व हैं। इस प्रकार **'सर्व-धर्म-समन्वय' का अर्थ है किसी सामान्य तत्त्व अथवा किन्हीं सामान्य तत्त्वों के आधार पर सभी धर्मों में मूलभूत एकता जो इन धर्मों की भिन्नता के होते हुए भी इन्हें मूलतः परस्पर संबद्ध करती है। यह एकता निश्चय ही तर्कसंगत होनी चाहिए, किसी बाह्य शक्ति द्वारा ऊपर से थोपी हुई नहीं।** परंतु मूल प्रश्न यह है कि क्या सभी धर्मों में आधारभूत एकता के अर्थ में सर्व-धर्म-समन्वय संभव है। धर्म-दार्शनिक के लिए इस प्रश्न पर तार्किक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है, क्योंकि पिछले कुछ दशकों में अनेक विचारक विश्व के सभी धर्मों में मूलभूत एकता या समन्वय का दावा करते रहे हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हम यथासंभव निष्पक्ष रूप से इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि सर्व-धर्म-समन्वय से संबंधित इन विचारकों का यह दावा कहाँ तक उचित और तर्कसंगत है। इस दावे के औचित्य के अतिरिक्त हम कुछ विस्तार से इस प्रश्न पर भी विचार करेंगे कि संसार के सभी धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए एक विश्व-धर्म अथवा सार्वभौम धर्म की स्थापना की कोई संभावना है या नहीं। इसी प्रश्न से संबद्ध एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि यदि सर्व-धर्म-समन्वय तथा सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव नहीं है तो विभिन्न धर्मावलंबियों में वैमनस्य को कैसे दूर किया जा सकता है। अंत में हम इस विवादास्पद प्रश्न की भी संक्षिप्त विवेचना करेंगे कि क्या मानव-जीवन के लिए धर्म वास्तव में अपरिहार्य है।

2. सार्वभौम धर्म की संभावना

कुछ दार्शनिक सभी धर्मों के समन्वय के स्थान पर एक ही सार्वभौम धर्म की स्थापना का दावा करते रहे हैं। उनका विचार है कि एक ऐसे विश्व-धर्म की स्थापना संभव है जिसे संसार के सभी धर्मपरायण व्यक्ति स्वेच्छया स्वीकार कर लें और जिसके अनुसार वे अपने व्यावहारिक जीवन में आचरण करें। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष मूल प्रश्न यह है कि क्या ऐसे किसी विश्व-धर्म की स्थापना की कोई संभावना है अथवा नहीं। जो दार्शनिक यह मानते हैं कि संपूर्ण मानव-जाति के लिए एक ऐसा सार्वभौम धर्म संभव है वे ऐसे धर्म की स्थापना के लिए निम्नलिखित तीन उपायों में से किसी एक उपाय को स्वीकार कर सकते हैं—(1) विश्व में प्रचलित धर्मों में से किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार कर लेना; (2) सभी प्रचलित धर्मों में विद्यमान कुछ सामान्य मूल तत्त्वों के आधार पर एक नवीन सार्वभौम धर्म की स्थापना करना; (3) वर्तमान प्रचलित सभी धर्मों से भिन्न एक नए सार्वभौम धर्म की स्थापना करना। अब हम कुछ विस्तार से इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि उपर्युक्त तीनों उपायों में से किसी उपाय द्वारा सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव है या नहीं। वस्तुतः इस प्रश्न पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—सैद्धांतिक दृष्टिकोण तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण। जहाँ तक सैद्धांतिक दृष्टिकोण का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि एक सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव है, क्योंकि इसमें कोई तार्किक बाधा अथवा व्याघात नहीं है। हम तार्किक दृष्टि से संपूर्ण विश्व में किसी एक धर्म को स्थापित करने की संभावना के विचार को बिना किसी व्याघात के स्वीकार कर सकते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि क्या व्यावहारिक दृष्टि से वास्तव में ऐसे किसी सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव है। किसी विचार को सिद्धांततः सत्य या संभव प्रमाणित करना और व्यावहारिक दृष्टि से उसे कार्यान्वित करना ये दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न बातें हैं। सार्वभौम धर्म को स्थापित करने की सैद्धांतिक संभावना से यह प्रमाणित नहीं होता कि व्यावहारिक दृष्टि से भी ऐसे धर्म की स्थापना संभव है। अब हम क्रमशः उपर्युक्त तीनों उपायों की विस्तृत विवेचना करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि सार्वभौम धर्म की स्थापना के लिए इन उपायों को स्वीकार करने में कौन-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिनका निराकरण करना संभव नहीं है।

(1) क्या विश्व में प्रचलित वर्तमान धर्मों में से किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है? अनेक विचारकों ने इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया है। स्वयं अपने को ही सर्वोत्तम धर्म मानते हुए इन विचारकों में से प्रत्येक विचारक ने यह दावा किया है कि केवल उसके धर्म में ही सार्वभौम धर्म अथवा विश्व-धर्म होने की क्षमता विद्यमान है। उनके इस दावे के औचित्य और इसे स्वीकार किए जाने की व्यावहारिक संभावना पर विचार करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संसार में प्रचलित धर्मों में से किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म मान लेने का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, 'सार्वभौम धर्म' केवल उसे ही कहा जा सकता है जिसे संसार के सभी धर्मपरायण व्यक्ति स्वेच्छया स्वीकार कर लें और जिसके अनुरूप वे अपने जीवन में आचरण करें। इसका तात्पर्य यही है कि सार्वभौम धर्म केवल वही हो सकता है जिसके समस्त सिद्धांतों, विश्वासों; नैतिक मूल्यों; उपासना-पद्धति तथा कर्मकांड को विश्व के सभी धर्मपरायण व्यक्ति अपनी इच्छा से स्वीकार करते हुए इनके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें। विश्व में प्रचलित किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म मान लेने का यही अर्थ हो सकता है।

सार्वभौम धर्म के उपर्युक्त अर्थ को हम एक उदाहरण द्वारा भलीभाँति स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए हिंदू धर्म को सार्वभौम धर्म अथवा विश्व-धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। इसका अर्थ यह होगा कि संसार के सभी धर्मपरायण मनुष्य उन समस्त धार्मिक सिद्धांतों, विश्वासों, नैतिक मान्यताओं और कर्मकांड को मान लें जिन्हें हिंदू धर्म में स्वीकार किया गया है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वे ईश्वर या ब्रह्म के अस्तित्व तथा उसके विशेष स्वरूप, आत्मा की अमरता, बंधन एवं मोक्ष के सिद्धांत, कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत और हिंदू आचारशास्त्र को पूर्णतः स्वीकार करते हुए सदैव इनके अनुसार आचरण करें। इतना ही नहीं, हिंदू धर्म के सार्वभौम धर्म हो जाने पर संसार में सभी मनुष्यों के लिए यह भी अनिवार्य होगा कि वे केवल इसी धर्म की उपासना-पद्धति के अनुरूप मंदिरों में पूजा या प्रार्थना करें और जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि विशेष अवसरों पर इसी धर्म के विभिन्न संस्कारों तथा संपूर्ण कर्मकांड का विधिवत पालन करें। वे विष्णु, ब्रह्मा, महेश, राम, कृष्ण आदि से संबंधित सभी धार्मिक कहानियों को भी श्रद्धापूर्वक पढ़ें तथा सुनें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिंदू धर्म को विश्व-धर्म के रूप में स्वीकार कर लेने पर संसार के सभी मनुष्यों के लिए हिंदू हो जाना अनिवार्य होगा। ठीक यही बात ऐसे प्रत्येक धर्म के विषय में कही जा सकती है जिसे सार्वभौम धर्म मानने या बनाने का दावा किया जाता है। परंतु विश्व की वर्तमान धार्मिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि संसार में प्रचलित किसी भी धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार किया जाना व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि किसी भी धर्म का सच्चा अनुयायी सामान्यतः अपने धर्म का परित्याग करके किसी अन्य धर्म को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होगा। उदाहरणार्थ, कोई भी सच्चा मुसलमान, ईसाई अथवा यहूदी अपने धर्म को छोड़कर हिंदू धर्म के अनुसार अपना जीवन व्यतीत नहीं करना चाहेगा। अन्य सभी धर्मों के अनुयायियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इससे यही निष्कर्ष

निकलता है कि संसार में प्रचलित वर्तमान धर्मों में से किसी भी धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार किए जाने की कोई व्यावहारिक संभावना नहीं है।

परंतु यह बहुत आश्चर्य की बात है कि कुछ विचारक इस स्पष्ट तथा सुनिश्चित तथ्य की उपेक्षा करते हुए केवल अपने-अपने धर्म को ही सार्वभौम धर्म या विश्व-धर्म बना दिए जाने का निष्फल आग्रह करते रहे हैं। इनमें ईसाई धर्म को स्वीकार करने वाले विचारकों की संख्या बहुत अधिक है, क्योंकि इस धर्म के अनुयायियों का संसार के बहुत-से देशों पर राजनैतिक प्रभुत्व रहा है और वे अन्य धर्मों के अनुयायियों को हीन तथा निकृष्ट मानकर उन्हें अपने ढंग से सभ्य बनाने के प्रयास का दंभपूर्ण दावा करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, एन०एफ०एस० फरे ईसाई धर्म को ही सर्वोच्च धर्म मानते हैं जिसका अर्थ यही है कि इस धर्म को ही सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि : "ईश्वर का प्रेम ही सर्वोच्च है जिसे ईसा ने अपने जीवन में साकार किया और जिसकी उन्होंने शिक्षा दी। मुझे ऐसी कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती जो उस सर्वांगपूर्ण, निरपेक्ष तथा शाश्वत प्रेम की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो जिसकी ओर ईसा के जीवन और उनकी शिक्षा ने निश्चयात्मक रूप से संकेत किया है"।[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि फ़रे के मतानुसार ईसाई धर्म ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है, अतः केवल वही सार्वभौम धर्म हो सकता है।

एक अन्य ईसाई विचारक, डब्ल्यू०ई० हॉकिंग भी इस मत का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं। उन्होंने स्पष्टतः ईसाई धर्म को ही संपूर्ण मानव-जाति का धर्म माना है। इस संबंध में वे यह प्रश्न पूछते हैं कि 'क्या ईसाई धर्म सार्वभौम धर्म है?' फिर स्वयं ही अपने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं :–"मेरा उत्तर यह है कि यह सार्वभौम धर्म बनने के मार्ग पर है, पाश्चात्य आधुनिक परीक्षणों पर खरा उतर कर यह इसका अधिकारी हुआ है और यह आशा की जाती है कि यह आने वाली सभ्यता की धार्मिक समस्याओं के समाधान में नेतृत्व करेगा"।[2]

इन दोनों विचारकों की भाँति फ्रेड्रिक हीलर भी ईसाई धर्म को ही सार्वभौम धर्म मानते हैं। उनका मत है कि इस धर्म में वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं जो सार्वभौम धर्म के लिए अनिवार्य माने जाते हैं। ईसाई धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हुए वे कहते हैं कि यह धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा उस अर्थ में अधिक उत्कृष्ट है जिस अर्थ में प्लेटो को अरस्तू की अपेक्षा और सबसे बड़े भाई को अन्य भाइयों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट माना जाता है।[3] इस प्रकार हीलर के विचार में अन्य सभी धर्मों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होने के कारण केवल ईसाई धर्म ही सार्वभौम धर्म होने का अधिकारी है। इसी धर्म को संपूर्ण मानव-जाति के धर्म के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

---

1. एन० एफ़० एस० फ़रे, 'रीज़न इन रिलिजन', पृ० 67
2. डब्ल्यू० ई० हॉकिंग, 'क्रिश्चियैनिटी ऐंड दि फ़ेथ ऑफ़ दि कमिंग सिविलाइज़ेशन', 'हिबर्ट जर्नल', वोल्यूम 54, 1955-56, पृ० 346
3. फ्रैड्रिक हीलर, 'हाउ कैन क्रिश्चियन ऐंड नॉन-क्रिश्चियन रिलिजन्स, कॉ-ऑपरेट ?', हिबर्ट जर्नल', वोल्यूम 52, 1953-54, पृ० 115

उपर्युक्त विचारकों के अतिरिक्त जॉर्ज गैलोवे भी यही मानते हैं कि केवल ईसाई धर्म ही सार्वभौम धर्म हो सकता है। उनके मतानुसार बौद्ध धर्म, इस्लाम तथा ईसाई धर्म इन तीन धर्मों में ही विश्व-धर्म होने की क्षमता है, किंतु ईसाई धर्म, इस्लाम और बौद्ध धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट है। इसी कारण ईसाई धर्म को ही सार्वभौम धर्म के रूप में प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि :—"मानव-स्वभाव तथा मानव-जीवन के संबंध में अपने व्यापक एवं समुचित दृष्टिकोण के कारण ईसाई धर्म ही सार्वभौम धर्म होने का अधिकतम दावा कर सकता है।... अपने आपमें ईसाई धर्म की महानता उसकी इस क्षमता से ज्ञात होती है कि वह मानवता के प्रगतिशील जीवन के साथ-साथ विकसित होता है और अपने प्रवर्तक की भावना के अनुरूप प्रगतिशील विश्व की निरंतर बढ़ती हुई तथा बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। केवल वही धर्म वास्तविक अर्थ में सार्वभौम धर्म हो सकता है जो विकसित होता रहता है"।[4] गैलोवे के इन विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उनके अनुसार केवल ईसाई धर्म को ही विश्व-धर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अन्य बहुत-से ईसाई विचारक भी किसी न किसी रूप में इसी मत का समर्थन करते हैं परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इन विचारकों का यह मत निष्पक्ष एवं तर्कसंगत न होकर अपने धर्म के प्रति पक्षपातपूर्ण आग्रह से ही प्रेरित हुआ है, अतः यह समझना कठिन नहीं है कि अन्य धर्मों के अनुयायी उनके इस दावे को स्वीकार करने के लिए कभी उद्यत नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ईसाई धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार कर लिए जाने की कोई व्यावहारिक संभावना नहीं है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार ईसाई धर्म के कुछ अनुयायी उसे ही विश्व-धर्म मानते हैं उसी प्रकार हिंदू धर्म का समर्थन करने वाले अनेक विचारक भी अपने धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। इन विचारकों में डॉ० राधा कृष्णन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कुछ कृतियों में यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि हिंदू धर्म—विशेषतः अद्वैत वेदांत—ही सार्वभौम धर्म हो सकता है, क्योंकि वही निरपेक्षतया सत्य है; अन्य सभी धर्म केवल अंशतः अथवा सापेक्ष रूप से ही सत्य हैं। वे शंकर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मवाद के दृढ़ समर्थक हैं और निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म को ही पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र परम सत्ता मानते हैं। इसी परम सत्ता को उन्होंने 'सर्वोच्च आत्मा' की संज्ञा दी है जो उनके मतानुसार सभी धर्मों का मूल तत्त्व है। अपनी पुस्तक, 'दि हिंदू व्यू ऑफ़ लाइफ़' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वेदांत ही संपूर्ण मानव-जाति के लिए गहनतम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सार्वभौम धर्म है।[5] इसी प्रकार अपनी एक अन्य कृति, 'ईस्टर्न रिलिजन्स ऐंड वेस्टर्न थॉट' में हिंदू धर्म की सहिष्णुता और उदारता के आधार पर राधा कृष्णन ने उसे ही विश्व-धर्म के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि सहिष्णुता हिंदू धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषता है और अपनी इसी सहिष्णुता के कारण वह अन्य सभी धर्मों के प्रति सदैव बहुत उदार रहा है। वह इस मान्यता में विश्वास करता है कि सभी धर्म

---

4. जॉर्ज गैलोवे, 'दि फ़िलॉसॉफ़ी ऑफ़ रिलिजन', 1948 का संस्करण, पृ० 146-147
5. डॉ० सर्वपल्ली राधा कृष्णन, 'दि हिंदू व्यू ऑफ़ लाइफ़', पृ० 23

मूलतः एक ही सत्ता को स्वीकार करते हैं और उनका मूल उद्देश्य भी एक ही है जिसे वे अपने-अपने ढंग से विभिन्न मार्गों द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। हिंदू धर्म अन्य सभी धर्मों की मूल विशेषताओं को अपने भीतर समाविष्ट करके विश्व-धर्म हो सकता है। राधा कृष्णन के मतानुसार, ब्रह्म अथवा सर्वोच्च आत्मा को स्वीकार करने वाला यही एकमात्र धर्म है, अन्य सभी इसी के अंश है।[6]

परंतु हिंदू धर्म के संबंध में राधा कृष्णन का उपर्युक्त मत उतना ही आपत्तिजनक है जितना ईसाई धर्म के विषय में ईसाई विचारकों का। जैसा कि हम पहले ही सविस्तार स्पष्ट कर चुके हैं, अन्य धर्मों केअनुयायी हिंदू धर्म के सभी सिद्धांतों, विश्वासों, कर्मकांड, उसकी समस्त मान्यताओं और उपासना-पद्धति को स्वीकार करने के लिए कभी उद्यत नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में किसी भी अन्य धर्म की भाँति हिंदू धर्म को भी सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार किए जाने की कोई व्यावहारिक संभावना दिखाई नहीं देती। इसके अतिरिक्त हिंदू धर्म की सहिष्णुता से यह प्रमाणित नहीं होता कि संसार के सभी धर्मपरायण व्यक्ति इसे अपनां धर्म मान लेंगे।

वस्तुतः प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धर्म को ही सर्वोत्तम मानते हैं, अतः वे सब यह दावा कर सकते हैं कि केवल उनका धर्म ही सार्वभौम धर्म हो सकता है। यह स्थिति संसार में एक सार्वभौम धर्म की स्थापना करने के स्थान पर विभिन्न धर्मों में पारस्परिक संघर्ष को ही उत्पन्न करेगी। हमारे पास ऐसा कोई तर्कसंगत उपाय नहीं है जिसके आधार पर सभी धर्मों द्वारा किए गए सार्वभौम धर्म संबंधी इस दावे के औचित्य का निष्पक्ष निर्णय किया जा सके। इसके अतिरिक्त कोई भी धर्म संसार के सभी मनुष्यों की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता, क्योंकि उनकी सांस्कृतिक परंपराओं तथा मान्यताओं और उनके विचारों एवं विश्वासों में मूलभूत अंतर पाया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विश्व में प्रचलित वर्तमान धर्मों में से कोई भी धर्म व्यावहारिक दृष्टि से वास्तविक अर्थ में सार्वभौम धर्म नहीं हो सकता।

(2) अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या किसी ऐसे विश्व-धर्म की रचना की जा सकती है जिसमें सभी महत्त्वपूर्ण प्रचलित धर्मों के सामान्य तथा मूल विश्वासों एवं सिद्धांतों का समावेश हो और जिसे संसार के सभी धर्मपरायण मनुष्य स्वेच्छया स्वीकार कर लें। धर्मों में विद्यमान कुछ समानताओं के आधार पर अनेक विचारक समय-समय पर ऐसे सार्वभौम धर्म की स्थापना का भी प्रयास करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, भारत में इस्लाम तथा हिंदू धर्म के अनुयायियों में होने वाले पारस्परिक संघर्ष को समाप्त करने के लिए मुग़ल सम्राट अकबर ने इन दोनों धर्मों के कुछ सामान्य और मूल सिद्धांतों एवं विश्वासों के समावेश के आधार पर एक नया धर्म स्थापित किया था जिसे उन्होंने 'दीन-ए-इलाही' की संज्ञा दी थी। उनका विचार था कि हिंदू तथा मुसलमान दोनों इस नए धर्म को स्वीकार कर लेंगे जिसके फलस्वरूप उनमें होने वाला संघर्ष समाप्त हो जाएगा। परंतु इतिहास इस बात का साक्षी है कि अकबर

---

6 डॉ० सर्वपल्ली राधा कृष्णन, 'ईस्टर्न रिलिजन्स ऐंड वेस्टर्न थॉट', पृ० 306-308, 319-320, 327

को अपने उक्त प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि अधिकतर हिंदुओं तथा मुसलमानों ने उनके इस नए धर्म को स्वीकार नहीं किया।

इसी प्रकार गुरु नानक, कबीर आदि अनेक संतों ने भी अपने उपदेशों द्वारा हिंदू धर्म तथा इस्लाम के अनुयायियों को यह समझाने का प्रयास किया कि इन दोनों धर्मों में वस्तुत: कोई मूल भेद नहीं है। वे यह मानते थे कि राम और रहीम एक ही ईश्वर के अलग-अलग नाम हैं, अत: धर्म के नाम पर संघर्ष करना बहुत बड़ी मूर्खता है। उन्होंने सभी प्रकार के धार्मिक आडंबर एवं पाखंड की निंदा करते हुए हिंदुओं तथा मुसलमानों को धर्म की मूल भावना को समझने और परस्पर शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने का बार-बार उपदेश दिया। परंतु पिछली कई शताब्दियों में हिंदुओं तथा मुसलमानों में समय-समय पर जो धार्मिक संघर्ष होता रहा है और केवल धर्म के आधार पर भारत का जो दुखद विभाजन हुआ है उसे ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि अकबर के प्रयास की भाँति इन संतों के ये सदुपदेश भी लगभग विफल एवं प्रभावहीन ही रहे। भारत के विभाजन के पश्चात भी यह धार्मिक संघर्ष पूर्ववत बना हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि किन्हीं धर्मों के सामान्य एवं मूल विश्वासों तथा सिद्धांतों का समावेश करके उसके आधार पर एक नए सार्वभौम धर्म की स्थापना और सभी धर्मपरायण मनुष्यों द्वारा उसे स्वेच्छया स्वीकार किए जाने की कोई व्यावहारिक संभावना नहीं है।

परंतु उपर्युक्त कटु सत्य की उपेक्षा करते हुए कुछ अन्य समाज-सुधारक कबीर, गुरु नानक आदि संतों की भाँति विभिन्न धर्मों में पाई जाने वाली कुछ समानताओं के आधार पर इन धर्मों में पूर्ण एकता या समन्वय का प्रयास करते रहे हैं। इन समाज-सुधारकों में राजा राम मोहन राय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे सभी धर्मों में किसी एक मूल तत्त्व की खोज करना चाहते थे जिसके द्वारा इनमें एकता स्थापित की जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिंदू धर्म, ईसाई धर्म तथा इस्लाम के धर्म-ग्रंथों का गंभीरतापूर्वक तुलनात्मक अध्ययन किया। अपने इस अध्ययन के आधार पर राजा राम मोहन राय ने यह निष्कर्ष निकाला कि सभी धर्म एक ही ईश्वर में विश्वास करते हैं और विभिन्न प्रकार से उसी की पूजा करते हैं। ईश्वर की पूजा के उपायों तथा उसकी पद्धतियों में जो अंतर पाया जाता है वह विभिन्न देशों के सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं में भेद के कारण है। वस्तुत: सभी धर्मों का मूल तत्त्व है एक ही ईश्वर में विश्वास और उसकी उपासना। अपनी इसी मान्यता के आधार पर सभी धर्मों में एकता अथवा समन्वय के लिए राजा राम मोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की थी।

परंतु समस्त धर्मों में एकता स्थापित करने के लिए राजा राम मोहन राय ने जो आधार प्रस्तुत किया है वह उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि संसार के सभी धर्म ईश्वरवादी धर्म नहीं हैं। यह ठीक है कि उन्होंने जिन तीन धर्मों का अध्ययन किया वे सभी किसी न किसी रूप में एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। परंतु, जैसा कि हम इस पुस्तक में अनेक बार स्पष्ट कर चुके हैं, कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उदाहरणार्थ, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, कन्फ्यूशियसवाद आदि निरीश्वरवादी धर्म हैं। इन सभी धर्मों के अनुयायी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में यह

कहना निश्चय ही उचित नहीं होगा कि एक ही ईश्वर में विश्वास सभी धर्मों का मूल तत्त्व है। यदि राजा राम मोहन राय ने ईश्वरवादी धर्मों के साथ-साथ इन निरीश्वरवादी धर्मों का भी अध्ययन किया होता तो वे धर्मों की एकता के संबंध में अपना उपर्युक्त मत प्रस्तुत न करते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक ही ईश्वर की सत्ता में विश्वास के आधार पर समस्त धर्मों में एकता अथवा सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव नहीं है।

राजा राम मोहन राय के अतिरिक्त एक अन्य विचारक, डॉ० भगवान दास भी विश्व में प्रचलित धर्मों में विद्यमान कुछ सामान्य तत्त्वों के आधार पर सार्वभौम धर्म की स्थापना को संभव तथा आवश्यक मानते हैं। अपनी पुस्तक, 'दि एसेंशयल युनिटी ऑफ़ ऑल रिलिजन्स' में उन्होंने ऐसे सार्वभौम धर्म की स्थापना के विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका उद्देश्य सभी धर्मों में सौहार्द्र उत्पन्न करके विश्व में मानव-भ्रातृत्व तथा शांति स्थापित करना था। वे यह जानते थे कि प्रचलित धर्मों में पारस्परिक संघर्ष के कारण मानव-जाति अनेक विरोधी संप्रदायों में विभाजित हो गई है जो एक-दूसरे के प्रति शत्रुता रखते हैं। परंतु उनका निश्चित विचार था कि धर्म ऐसी विभाजक शक्ति के रूप में कार्य करने के स्थान पर सभी मनुष्यों को परस्पर संबद्ध करने वाली रचनात्मक शक्ति के रूप में कार्य कर सकता है और उसे ऐसा ही करना चाहिए। वस्तुतः इसी महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सभी प्रचलित धर्मों में समन्वय अथवा एकता की स्थापना का प्रयास किया है।

भगवान दास का विचार है कि सभी धर्मों में भेदों अथवा असमानताओं के साथ-साथ कुछ समान तत्त्व भी अनिवार्यतः पाए जाते हैं जो उनकी एकता का आधार हो सकते हैं। इन तत्त्वों का संबंध कुछ मूल सत्यों से है जिन्हें किसी न किसी रूप में सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है। इन मूल सत्यों पर किसी एक वर्ग या जाति का एकाधिकार नहीं है, क्योंकि ये सभी मनुष्यों के लिए अनिवार्य हैं। स्वयं ईश्वर ने इन्हीं मूल सत्यों को विभिन्न धर्मों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। धर्मों में जो भेद पाए जाते हैं वे उनके लिए अनिवार्य न हो कर केवल बाह्य कर्मकांड से संबंधित हैं। सभी धर्मों की एकता के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए भगवान दास ने लिखा है कि :—"सत्य सार्वभौम होता है और उस पर किसी एक जाति या गुरु का एकाधिकार नहीं है; जो बातें अथवा तत्त्व आवश्यक नहीं हैं उनमें समय, स्थान तथा परिस्थितियों के अनुसार भेद पाया जाता है; विभिन्न धर्म-ग्रंथों, भाषाओं तथा भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में उत्पन्न विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से ईश्वर ने एक ही प्रकार के मूल सत्यों को अभिव्यक्त किया है।"[7] समस्त धर्मों की एकता से संबंधित अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए भगवान दास ने विभिन्न धर्म-ग्रंथों से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वे अपने इस प्रयास द्वारा यह प्रमाणित करना चाहते थे कि अनेक बाह्य भेदों के होते हुए भी सभी धर्मों में आधारभूत एकता विद्यमान है। इन धर्मों के आकस्मिक गुणों में भेद हो सकता है और होता है, किंतु इन सबके अनिवार्य गुणों अथवा मूल तत्त्वों में समानता पाई जाती है।

भगवान दास के मतानुसार, धर्म का मूल उद्देश्य मानव-कल्याण है जिसकी पूर्ति सभी

---

7. डॉ० भगवान दास, 'दि ऐसेंशयल युनिटी ऑफ़ ऑल रिलिजन्स' पंचम संस्करण पृ० 82

मनुष्यों में पारस्परिक सौहार्द्र उत्पन्न करके ही की जा सकती है। इसी आधार पर वे मनुष्य के लिए धर्म की उपादेयता को सिद्ध करते हैं। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि :—"सभी धर्मों के आवश्यक तत्त्वों की एकता को स्वीकार करना सभ्यता के उत्कर्ष में वृद्धि करना है।... अपना महत्त्व अथवा औचित्य सिद्ध करने के लिए धर्म को अनिवार्यतः प्रत्येक मनुष्य की सहायता और सेवा करनी चाहिए"।[8] मानव के लिए ऐसा कल्याणकारी धर्म ही सार्वभौम धर्म हो सकता है। भगवान दास के विचार में केवल बहुमत द्वारा ही यह निश्चित किया जा सकता है कि ऐसे सार्वभौम धर्म के लिए कौन-से तत्त्व अनिवार्य हैं। इसका अर्थ यही है कि जिन समान तत्त्वों को अधिकतर धर्मों के अनुयायी आवश्यक मानते हैं वे ही सार्वभौम धर्म के अनिवार्य तत्त्व हैं। इन तत्त्वों में भगवान दास ने एक ही ईश्वर तथा विश्वात्मा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनके अनुसार : "एक आधारभूत सत्य यह है कि मनुष्य का ईश्वर के साथ मूलतः तादात्म्य है।... समस्त धर्म मुख्यतः यह घोषित करते हैं कि एक ही विश्वात्मा है जो सभी परिस्थितियों में मनुष्य का निश्चित रूप से मार्ग दर्शन करती है।[9]

अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर भगवान दास यह कहते हैं कि वस्तुतः सार्वभौम धर्म एक ही है; सभी धर्म भिन्न-भिन्न प्रकार से इसी सार्वभौम धर्म के विभिन्न पक्षों, अंगों अथवा भागों को अभिव्यक्त करते हैं। इन सभी धर्मों में कोई मूलभूत अंतर नहीं है।[10] विभिन्न धर्मों में जो भेद दिखाई देते हैं वे वस्तुतः इन धर्मों के बाह्य कर्मकांड से ही संबंधित हैं, इनके अनिवार्य मूल तत्त्वों से नहीं। इस प्रकार भगवान दास सभी प्रचलित धर्मों में कुछ मूल तत्त्वों को समान रूप से विद्यमान मानते हैं और इन्हीं तत्त्वों के आधार पर एक सार्वभौम धर्म की कल्पना करते हैं जो उनके विचार में मनुष्य के लिए अनिवार्य है। उनका कथन है कि सभी धर्मों को समान रूप से स्वीकार करना तथा उन्हें अस्वीकार करना व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है, अतः हमारे समक्ष तीसरा विकल्प यही है कि हम सभी धर्मों के अनावश्यक तत्त्वों का परित्याग करके उनमें समान रूप से विद्यमान कुछ मूल तत्त्वों के आधार पर एक सार्वभौम धर्म की स्थापना करें। हमारे लिए यही एकमात्र व्यावहारिक तथा वांछनीय विकल्प है।[11] संक्षेप में भगवान दास के मतानुसार, सभी धर्मों के समान मूल तत्त्वों का समुचित समन्वय करके एक सार्वभौम धर्म की स्थापना केवल संभव ही नहीं, अपितु मानव-जाति के व्यापक कल्याण के लिए अनिवार्य भी है।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि सार्वभौम धर्म की स्थापना के विषय में भगवान दास का उपर्युक्त सिद्धांत कहाँ तक तर्कसंगत है और इसे स्वीकार करना व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक संभव है। हम देख चुके हैं कि उन्होंने सभी धर्मों की मूलभूत एकता का दावा किया है और यह कहा है कि इन धर्मों में पाए जाने वाले भेद वास्तविक न

---

8. वही पुस्तक, पृ० 16, 33
9. वही पुस्तक, पृ० 122, 449
10. वही पुस्तक, पृ० 92, 119
11. वही पुस्तक, पृ० 71

होकर केवल ऊपरी अथवा बाहरी ही हैं। परंतु विभिन्न धर्मों के स्वरूप तथा उनसे संबंधित तथ्यों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान दास का यह दावा वस्तुतः युक्तिसंगत नहीं है और तथ्यों द्वारा इसकी पुष्टि करना संभव प्रतीत नहीं होता। यह सत्य है कि वे भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों में सौहार्द्र तथा भ्रातृत्त्व उत्पन्न करना चाहते थे और उनका यह उद्देश्य निश्चय ही बहुत प्रशंसनीय है, किंतु वे विश्वसनीय तर्कों द्वारा अपने इस दावे को प्रमाणित नहीं कर सके कि सभी धर्म मूलतः एक ही हैं और उनमें कोई आधारभूत भेद नहीं हैं।

वास्तविक स्थिति यह है कि अधिकतर धर्मों में विद्यमान कुछ समान मूल नैतिक नियमों को छोड़कर अन्य सभी महत्त्वपूर्ण दृष्टियों से समस्त धर्म एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, अंतिम सत्ता के स्वरूप, विश्व तथा मनुष्य के साथ उसके संबंध और मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के विषय में विभिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न अथवा परस्पर विरोधी विश्वास हैं। कुछ धर्म—यथा, इस्लाम, हिंदू धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म आदि—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, नित्य, न्यायशील, अत्यंत दयालु, जगत् के रचयिता, संरक्षक तथा संहारक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं जो शरीररहित होते हुए भी व्यक्तित्वसंपन्न माना जाता है; किंतु कुछ अन्य धर्म—यथा, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, आदि—ऐसी किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इतना ही नहीं, स्वयं ईश्वरवादी धर्मों के अनुयायियों में भी ईश्वर के स्वरूप और जगत् के साथ उसके संबंध के विषय में तीव्र मतभेद है। कुछ ईश्वरवादी ईश्वर को सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसंपन्न मानते हैं, जबकि कुछ अन्य ईश्वरवादियों का विचार है कि वह वास्तव में निर्गुण, निराकार और व्यक्तित्वरहित सत्ता है। इसी प्रकार कुछ ईश्वरवादी ईश्वर को जगत् का रचयिता मानते हुए भी उसके द्वारा जगत् के संचालन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करते जिससे उपासना की उपादेयता एवं चमत्कारों की संभावना पूर्णतः समाप्त हो जाती है; किंतु कुछ अन्य ईश्वरवादियों का मत है कि ईश्वर मनुष्य की प्रार्थना सुन कर उसकी सहायता करता है और अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाकर समय-समय पर जगत् के संचालन में आवश्यक हस्तक्षेप करता है। फिर कुछ धर्मपरायण व्यक्ति केवल एक ही ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, जबकि कुछ अन्य धर्मपरायण व्यक्तियों के अनुसार अनेक देवी-देवताओं की सत्ता है।

इस प्रकार आत्मा की अमरता, कर्मवाद और पुनर्जन्म के संबंध में भी सभी धर्म परस्पर सहमत नहीं हैं। कुछ धर्म—यथा, हिंदू धर्म, जैन धर्म—शरीर से भिन्न शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता एवं अमरता को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य धर्मों—यथा, बौद्ध धर्म—के अनुसार शाश्वत अथवा नित्य द्रव्य के रूप में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, अतः उसके अमर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कुछ धर्म—यथा, हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म—कर्मवाद तथा पुनर्जन्म को पूर्णतः स्वीकार करते हुए उन्हीं के आधार पर मानव-जीवन की व्याख्या करते हैं; जबकि कुछ अन्य धर्म—यथा, इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म—पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी धार्मिक विश्वासों में कोई मूलभूत समानता नहीं है। सभी धर्मपरायण व्यक्ति अपने-अपने धार्मिक विश्वासों को अंतिम तथा असंदिग्ध रूप से

सत्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में इन परस्पर विरोधी धार्मिक विश्वासों के समन्वय के आधार पर सभी मनुष्यों के लिए एक सार्वभौम धर्म की स्थापना की बात करना निश्चय ही अयुक्तिसंगत है।

अंतिम सत्ता संबंधी विश्वासों की भाँति मानव-जीवन के उच्चतम ध्येय तथा उसकी प्राप्ति के उपायों के विषय में भी सभी धर्मों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ धर्म—यथा, हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म—मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य धर्मों—यथा, इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म—के अनुसार स्वर्ग ही मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। इन विभिन्न धर्मों द्वारा स्वीकृत मानव-जीवन के ये दोनों लक्ष्य एक दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। इन लक्ष्यों की भिन्नता के साथ-साथ इनकी प्राप्ति के उपायों के संबंध में भी सभी धर्म परस्पर सहमत नहीं हैं। कुछ धर्म ईश्वर की उपासना अथवा भक्ति को ही मानव-जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते हैं, किंतु कुछ अन्य धर्मों का मत है कि मनुष्य केवल अपने प्रयास द्वारा ही जीवन के सर्वोच्च ध्येय को स्वयं प्राप्त कर सकता है; इसके लिए उसे किसी अलौकिक शक्ति का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन के अंतिम ध्येय तथा उसकी प्राप्ति के साधनों अथवा उपायों के विषय में भी विभिन्न धर्मों में गहरा मतभेद है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि ऐसे किसी सार्वभौम धर्म की स्थापना की कोई संभावना नहीं है जिसमें विभिन्न धर्मों द्वारा मान्य मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न अंतिम लक्ष्यों तथा उनकी प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपायों का समुचित समन्वय किया जा सके और जिसे सभी मनुष्य स्वेच्छया स्वीकार कर लें।

मानव-जीवन के चरम लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के साधनों के अतिरिक्त धार्मिक अनुष्ठानों अथवा कर्मकांड के विषय में भी विभिन्न धर्मों में आधारभूत अंतर पाया जाता है। इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में हम सविस्तार यह बता चुके हैं कि प्रत्येक धर्म के साथ कुछ विशेष धार्मिक अनुष्ठान अथवा क्रियाकलाप अनिवार्यतः संबद्ध रहते हैं जिन्हें 'कर्मकांड' कहा जाता है और जिनकी अभिव्यक्ति मानव-जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों में होती है। वस्तुतः यह कर्मकांड धर्म का बाह्य तथा व्यावहारिक पक्ष है जिसके बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है। परंतु विभिन्न धर्मों में इस कर्मकांड के स्वरूप के संबंध में मूलभूत भिन्नता दिखाई देती हैं। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि धर्म-स्थानों में जिस प्रकार प्रार्थना या उपासना की जाती है उससे कर्मकांड संबंधी यह भिन्नता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर विभिन्न धर्मों द्वारा जो संस्कार अथवा धार्मिक अनुष्ठान संपन्न किए जाते हैं उनमें भी इस कर्मकांड की आधारभूत भिन्नता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह कर्मकांड बाह्य रूप में अथवा व्यावहारिक दृष्टि से एक धर्म को दूसरे धर्म से पृथक करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी भी धर्म का अनुयायी अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म के कर्मकांड को स्वीकार करने के लिए कभी उद्यत नहीं होता। वह केवल अपने धर्म के कर्मकांड को ही उचित और वांछनीय मानता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न कर्मकांड या धार्मिक अनुष्ठानों के समन्वय द्वारा सभी धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए एक सार्वभौम धर्म की स्थापना करना निश्चय ही संभव नहीं है।

इस कर्मकांड के अतिरिक्त प्रत्येक धर्म के साथ कुछ कहानियाँ भी अनिवार्यतः संबद्ध रहती हैं जो उस धर्म के अनुयायियों को सदाचरण के लिए विशेष प्रकार से प्रेरित करती हैं। परंतु विभिन्न धर्मों में पाई जाने वाली ये कहानियाँ भी कर्मकांड के समान ही भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म से संबद्ध कहानियाँ हिंदू धर्म की कहानियों से बहुत भिन्न हैं। इसी प्रकार इस्लाम में जो धार्मिक कहानियाँ पाई जाती हैं वे बौद्ध धर्म के साथ संबद्ध कहानियों से बिल्कुल अलग हैं। अन्य सभी धर्मों की कहानियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। वस्तुतः विभिन्न धर्मों की इन भिन्न-भिन्न कहानियों में कोई मूलभूत समानता खोजना बहुत कठिन है। प्रत्येक धर्म केअनुयायी को केवल अपने धर्म की कहानियों में ही विशेष आनंद का अनुभव होता है और वह उन्हीं से शुभाचरण की प्रेरणा ग्रहण करता है। किसी अन्य धर्म की कहानियाँ उसे रोचक तथा प्रेरणादायक प्रतीत नहीं होतीं। इसका अर्थ यही है कि किसी ऐसे सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव नहीं है जिसमें विभिन्न धर्मों की भिन्न-भिन्न प्रकार की कहानियों का समावेश किया जा सके और जो सभी मनुष्यों को स्वीकार्य हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि किसी भी धर्म का अनुयायी अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म के आधारभूत विश्वासों, उसके द्वारा मान्य मानव-जीवन के चरम लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के उपायों, उसके कर्मकांड और उससे संबद्ध धार्मिक कहानियों की उपादेयता में सच्चे हृदय से निष्ठा नहीं रख सकता, अतः भगवान दास का यह दावा तर्कसंगत एवं व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता कि विभिन्न धर्मों के समान मूल तत्त्वों का समन्वय करके विश्व के सभी धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए एक सार्वभौम धर्म की स्थापना की जा सकती है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि एक सार्वभौम धर्म की स्थापना के विषय में उनका सिद्धांत युक्तिसंगत तथा व्यावहारिक नहीं है।

परंतु अपने उपर्युक्त सिद्धांत के समर्थन में भगवान दास यह तर्क दे सकते हैं कि सभी धर्मों में कुछ मूल नैतिक नियम समान रूप से पाए जाते हैं जिनके आधार पर सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव है। अनेक विचारकों ने सार्वभौम धर्म की स्थापना के समर्थन में यह तर्क दिया है। उनका कथन है कि सभी धर्म मनुष्य को सत्यवादिता, वचन-पालन, कर्तव्य-निष्ठा, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, सहिष्णुता, दया, दूसरों की सहायता और सेवा की शिक्षा देते हैं, अतः इन सभी धर्मों में मूलभूत एकता विद्यमान है जो इनके समन्वय का सुदृढ़ आधार बन सकती है। समस्त धर्मों में पाए जाने वाले इन मूल नैतिक नियमों तथा सद्गुणों के आधार पर हम सभी मनुष्यों के लिए एक सार्वभौम धर्म की रचना कर सकते हैं। वस्तुतः साधारण लोगों को ही नहीं, अपितु बहुत-से विचारकों को भी सार्वभौम धर्म की स्थापना के समर्थन में दिया गया यह तर्क अत्यधिक प्रभावशाली तथा पूर्णतः विश्वसनीय प्रतीत होता है।

परंतु उपर्युक्त तर्क पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी विश्वसनीयता अत्यंत संदेहास्पद है। यह सत्य है कि सभी धर्मों में कुछ मूल नैतिक नियमों एवं सद्गुणों को मनुष्य के लिए समान रूप से आवश्यक माना गया है, किंतु ये नियम और सद्गुण वस्तुतः नैतिकता के अनिवार्य तत्त्व हैं जिन्हें धर्म के बिना भी स्वीकार किया जा सकता है। इनके अनुरूप आचरण करने के लिए किसी विशेष धर्म में विश्वास करना

अनिवार्य नहीं है। समाज का सदस्य होने के नाते धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति भी इन नैतिक नियमों तथा सद्‌गुणों के अनुसार निष्ठापूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। जैसा कि हम इस पुस्तक के दसवें अध्याय में सविस्तार स्पष्ट कर चुके हैं, इस संबंध में वास्तविक स्थिति यह है कि नैतिकता तो धर्म के लिए अनिवार्य है, किंतु प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म नैतिकता के लिए अनिवार्य नहीं है। किसी भी प्रचलित धर्म में विश्वास न करना मनुष्य को अनैतिक नहीं बना देता, क्योंकि परंपरागत सामान्य अर्थ में धर्म नैतिकता का अनिवार्य आधार नहीं है। इस प्रकार सभी धर्मों में जिन मूल नैतिक नियमों और सद्‌गुणों को समान रूप से स्वीकार किया गया है वे वास्तव में सार्वभौम नैतिक व्यवस्था का आधार हो सकते हैं, सार्वभौम धर्म की स्थापना का नहीं। केवल इन नैतिक नियमों एवं सद्‌गुणों के आधार पर सार्वभौम धर्म की स्थापना नहीं हो सकती, क्योंकि इसके लिए अलौकिक सत्ता संबंधी कुछ ऐसे विश्वासों तथा धार्मिक अनुष्ठानों की स्थापना करना अनिवार्य है जो विश्व के सभी धर्मपरायण व्यक्तियों को मान्य हों। परंतु हम देख चुके हैं कि ऐसा कोई धार्मिक विश्वास तथा कर्मकांड नहीं है जिसे संसार के समस्त धर्मपरायण मनुष्य स्वीकार करते हों और जो सबकी धार्मिक भावनाओं को संतुष्ट कर सके। इस संबंध में धर्मपरायण व्यक्तियों में गहरा मतभेद है। ऐसी स्थिति में सभी धर्मों में विद्यमान कुछ मूल नैतिक नियमों तथा सद्‌गुणों के आधार पर विश्व में सार्वभौम धर्म की स्थापना की बात करना न तो युक्तिसंगत प्रतीत होता है और न व्यावहारिक।

भगवान दास के सिद्धांत की उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त इसमें कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। सर्वप्रथम भगवान दास हमें स्पष्ट रूप से यह नहीं बताते कि वे कौन-से मूल तत्त्व हैं जो सभी धर्मों में अनिवार्यतः पाए जाते हैं। इस संबंध में वे ईश्वर तथा आत्मा का उल्लेख अवश्य करते हैं; किंतु, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, ये दोनों सभी धर्मों के अनिवार्य मूल तत्त्व नहीं हैं। बौद्ध धर्म शाश्वत अथवा नित्य द्रव्य के रूप में आत्मा तथा जगत् के रचयिता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान, ईश्वर इन दोनों की सत्ता को पूर्णतः अस्वीकार करता है। वस्तुतः ऐसे कोई मूल तत्त्व हैं ही नहीं जो सभी धर्मों में समान रूप से अनिवार्यतः विद्यमान हों। ऐसी स्थिति में धर्मों की मूलभूत एकता की बात करना अनुचित तथा निराधार ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त समस्या के अतिरिक्त भगवान दास का यह मत भी उचित और तर्कसंगत नहीं है कि सभी धर्मों के मूल तत्त्वों का निर्णय बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है। ऐसी गंभीर दार्शनिक समस्याओं का समाधान केवल मनुष्यों अथवा धर्मों की संख्या गिनकर करना निश्चय ही उचित नहीं है। हम किसी सिद्धांत की सत्यता अथवा प्रामाणिकता को उसके समर्थकों की संख्या गिन कर निश्चित नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि ऐसा सिद्धांत भी असत्य हो सकता है जिसे संसार के सभी मनुष्य स्वीकार करते हों। फिर इस प्रश्न का उत्तर देना भी अत्यंत कठिन है कि कितने धर्मों के अनुयायी किन मूल तत्त्वों को धर्म के अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। हम देख चुके हैं कि सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्मों के समस्त सिद्धांतों एवं विश्वासों को अनिवार्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना असंभव है कि कौन-से तत्त्व धर्म के आवश्यक मूल तत्त्व हैं।

फिर यदि भगवान दास के इस मत को स्वीकार कर लिया जाए कि सभी धर्म मूलतः
र्क ही हैं तो धर्म-परिवर्तन निष्प्रयोजन तथा निरर्थक हो जाता है। परंतु यह निर्विवाद तथ्य
कि धर्म-परिवर्तन के लिए प्रयास किया जाता है और अनेक व्यक्ति एक धर्म को छोड़कर
सरा धर्म ग्रहण करते हैं। यही नहीं, इस धर्म-परिवर्तन के कारण संसार में तीव्र संघर्ष होता
हा है। यदि सचमुच सभी धर्म मूलतः एक ही हैं, जैसा कि भगवान दास मानते हैं, तो
र्म-परिवर्तन तथा उसके पक्ष और विपक्ष में संघर्ष की कोई आवश्यकता ही नहीं रह
ाती। परंतु वास्तविक स्थिति यह है कि धर्म-परिवर्तन होता है और उसका समर्थन अथवा
वरोध भी किया जाता है।

उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त भगवान दास के सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी
उठाई जा सकती है कि वे सभी धर्मों की आधारभूत एकता को प्रमाणित करने के उत्साह में
त्येक धर्म की अपनी अनिवार्य मूल विशेषताओं की उपेक्षा करते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं
क प्रत्येक धर्म कुछ विशेष सिद्धांतों अथवा मान्यताओं, मानव-जीवन के लिए एक विशेष
वरम लक्ष्य, उसकी प्राप्ति के लिए कुछ विशेष साधनों तथा एक विशेष प्रकार के कर्मकांड
में विश्वास करता है और ये सभी तत्त्व उसे अन्य धर्मों से पृथक करते हैं। यदि उसके इन
विशेष तत्त्वों को हटा दिया जाए तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक
धर्म का अपना एक विशेष स्वरूप होता है जिसे अस्वीकार करने का अर्थ है स्वयं उस धर्म
को अस्वीकार करना। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि
सभी धर्मों की मूलभूत एकता का विचार तथ्यात्मक दृष्टि से सत्य प्रतीत नहीं होता।

अंत में भगवान दास के इस मत का भी तर्कसंगत रूप से समर्थन करना बहुत कठिन है
कि सभी धर्मों को स्वीकार करने तथा अस्वीकार करने से संबंधित दोनों विकल्प
अव्यावहारिक हैं। वस्तुतः सभी धर्मों को स्वीकार या अस्वीकार करने में कोई अनिवार्य
तार्किक और व्यावहारिक कठिनाई नहीं है। धर्म के संबंध में अपने-अपने दृष्टिकोण के
अनुसार विभिन्न व्यक्ति इन दोनों विकल्पों में से किसी भी विकल्प को स्वीकार कर सकते
हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सभी धर्मों का समान रूप से आदर करना संभव है अथवा
धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत के अनुसार कुछ मूल नैतिक नियमों एवं मूल्यों के आधार पर भी
जीवन व्यतीत किया जा सकता है। इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर हम प्रस्तुत अध्याय में आगे
यथास्थान कुछ विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि उपर्युक्त
सभी कठिनाइयों के कारण सार्वभौम धर्म की स्थापना से संबंधित भगवान दास के सिद्धांत
का तार्किक और व्यावहारिक दृष्टि से समर्थन करना संभव नहीं है।

भगवान दास के अतिरिक्त कुछ रहस्यवादी विचारक भी रहस्यात्मक अनुभव के स्तर
पर सार्वभौम धर्म के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इन विचारकों का कथन है कि विभिन्न
संस्कृतियों तथा राष्ट्रों के भिन्न-भिन्न रहस्यवादी जो विशेष रहस्यात्मक अनुभव प्राप्त
करते हैं उसमें सभी धर्मों की मूलभूत एकता दिखाई देती है। इसी मत का समर्थन करते हुए
डॉ० राधा कमल मुकर्जी ने लिखा है कि :—"सभी धर्म उस उच्चतम शिखर पर एक हो जाते
हैं जहाँ उनके रहस्यवादी रहना चाहते हैं। सिद्धांतों तथा कर्मकांड की बाधाओं का
अतिक्रमण करते हुए रहस्यवादी एक-दूसरे को मान्यता देते और प्रभावित करते हैं।..

रहस्यवादियों का मार्ग सार्वभौम धर्म का मार्ग है।... कल के एक संसार तथा कल की एक सभ्यता में मानव-जाति को संपूर्ण मानवता के इसी एक धर्म तक पहुँचना होगा"।[12] मुकर्जी की भाँति एक अन्य धर्मपरायण विचारक, श्री राम कृष्ण परमहंस भी इसी मत का समर्थन करते हैं। उनके मतानुसार, वस्तुतः अंतिम सत्ता एक ही है जिसे विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। अपने इसी मत को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि:—"जिस प्रकार एक ही पदार्थ, जल को विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं—एक उसे 'वाटर', दूसरा उसे 'वारि', तीसरा उसे 'एक्वा' और चौथा उसे 'पानी' कहता है— उसी प्रकार एक ही सच्चिदानंद को कुछ लोग 'गॉड', कुछ 'अल्लाह कुछ 'हरि' तथा कुछ 'ब्रह्म' कहते हैं।"[13] उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुछ विचारकों के मतानुसार रहस्यवादियों के रहस्यात्मक अनुभव में सभी धर्मों की मूलभूत एकता पाई जाती है जो सार्वभौम धर्म का आधार हो सकती है।

परंतु सार्वभौम धर्म की स्थापना के विषय में भगवान दास के सिद्धांत की भाति रहस्यवादी विचारकों के इस मत में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं जिन पर यहाँ संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम उस अनुभव का स्वरूप बहुत ही अस्पष्ट है जिसे 'रहस्यात्मक अनुभव' कहा जाता है। स्वयं रहस्यवादी यह कहते हैं कि उनका रहस्यात्मक अनुभव अवर्णनीय अथवा अनिर्वचनीय है जिसका अर्थ यही है कि हम इस अनुभव के स्वरूप को कभी भी ठीक-ठीक नहीं जान सकते। ऐसी स्थिति में यह कहना अत्यंत कठिन है कि इस अनुभव में वस्तुतः सभी धर्मों की आधारभूत एकता विद्यमान रहती है या नहीं। इसके लिए हमें कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यदि रहस्यात्मक अनुभव अनिर्वचनीय है तो इस दावे का कोई तर्कसंगत आधार नहीं रह जाता कि इस अनुभव में सभी धर्मों की एकता पाई जाती है। जिस रहस्यात्मक अनुभव को भाषा के माध्यम से दूसरों तक पहुँचना संभव नहीं है वह निश्चय ही सार्वभौम धर्म का आधार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त रहस्यात्मक अनुभव के स्वरूप के विषय में स्वयं रहस्यवादियों में भी तीव्र मतभेद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, निरीश्वरवादी धर्मों में विश्वास करने वाले रहस्यवादी जो रहस्यात्मक अनुभव प्राप्त करते हैं वह ईश्वरवादी धर्मों को स्वीकार करने वाले रहस्यवादियों के रहस्यात्मक अनुभव से बहुत भिन्न होता है। इतना ही नहीं, ईश्वरवादी धर्मों के समर्थको में हिंदू, मुसलमान तथा ईसाई रहस्यवादियों के रहस्यात्मक अनुभवों में भी बहुत भिन्नता पाई जाती है। यह स्पष्ट है कि ऐसे अनुभव को विभिन्न धर्मों की एकता का आधार नहीं माना जा सकता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि जो रहस्यात्मक अनुभव नितांत अस्पष्ट है और जिसमें इतनी भिन्नता पाई जाती है उसके आधार पर सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव नहीं है।

विभिन्न प्रचलित धर्मों के अनिवार्य समान तत्त्वों के आधार पर सार्वभौम धर्म की संभावना के विषय में अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे यह पूर्णत स्पष्ट है कि ऐसे धर्म

---

12. राधा कमल मुकर्जी, 'दि आर्यन पाथ', फ़रवरी 1967, पृ० 57
13. 'राम कृष्ण : हिज़ लाइफ़ ऐंड सेइंग्ज़', संपादक, एफ़, मैक्समूलर, पृ० 98

ी स्थापना का दावा करना न तो तर्कसंगत है और न व्यावहारिक। परंतु यदि यह मान भी लया जाए कि सभी धर्मों के कुछ समान मूल तत्त्वों के समावेश द्वारा सार्वभौम धर्म की थापना संभव है तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसा कृत्रिम धर्म धर्मपरायण यक्तियों के लिए कभी भी वास्तविक रूप में संतोषजनक नहीं होगा। हम इस पुस्तक में नेक बार यह बता चुके हैं कि धर्म मनुष्य की आस्था का विषय है जिसका जन्म उसके रंपरागत विशेष संस्कारों से होता है और जो उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है। अपनी इसी आस्था के कारण धर्मपरायण व्यक्ति के मन में अपने धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है और उसका निष्ठापूर्वक पालन करके वह वास्तविक संतोष, शांति एवं आनंद का अनुभव करता है। यह स्पष्ट है कि कृत्रिम उपायों द्वारा निर्मित तथाकथित सार्वभौम धर्म उसें कभी भी यह संतोष तथा आनंद प्रदान नहीं कर सकता, क्योंकि उसके जीवन से पूर्णतया पृथक और बाह्य वस्तु होने के कारण ऐसे धर्म के साथ उसका कोई मानसिक लगाव नहीं होगा। वस्तुत: धर्मपरायण व्यक्ति की भावनाओं के साथ धर्म का अनिवार्य संबंध होता है और इसी कारण वह उसके आंतरिक जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है। कोई भी धर्म उस पर बाहर से थोपा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में वह धर्म किसी भी धर्मपरायण व्यक्ति के लिए सार्थक एवं उपादेय नहीं हो सकता जिसका निर्माण केवल बाह्य प्रयासों तथा कृत्रिम साधनों द्वारा किया गया हो। ऐसा सार्वभौम धर्म प्रदर्शन की वस्तु बनकर ही रह जाएगा। उसे कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति अपने जीवन का मार्गदर्शन करने के लिए कभी स्वीकार नहीं करेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि प्रचलित धर्मों के समान मूल तत्त्वों को मिलाकर किसी सार्वभौम धर्म की रचना करना संभव भी हो तो वह निश्चय ही धार्मिक दृष्टि से मनुष्य के लिए निरर्थक तथा महत्त्वहीन होगा।

(3) हम ऊपर देख चुके हैं कि न तो प्रचलित धर्मों में से किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार करना संभव है और न ही इन धर्मों में कोई ऐसे समान मूल तत्त्व हैं जिनके आधार पर एक सार्वभौम धर्म की स्थापना की जा सके। अब अंत में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या सभी प्रचलित धर्मों से भिन्न किसी नए धर्म को व्यावहारिक दृष्टि से सार्वभौम धर्म के रूप में स्थापित किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सर्वप्रथम इसके अर्थ को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है। हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि क्या किसी ऐसे नवीन विश्वव्यापी धर्म की स्थापना संभव है जो सभी वर्तमान धर्मों से भिन्न हो और जिसके विश्वासों, आचरण संबंधी नियमों तथा कर्मकांड को संसार के समस्त धर्मपरायण व्यक्ति स्वेच्छया स्वीकार कर लें। व्यापारिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि विश्व के सभी धर्मपरायण व्यक्ति किसी नए धर्म को स्वीकार करने के लिए कभी उद्यत नहीं होंगे। यदि किसी नए सार्वभौम धर्म को स्थापित करना संभव भी हुआ तो उसका एकमात्र परिणाम यही होगा कि संसार के वर्तमान धर्मों की संख्या में एक अन्य धर्म की वृद्धि हो जाएगी जिसे शायद कुछ थोड़े-से लोग स्वीकार कर लेंगे।

विश्व के धर्मों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक धर्म की स्थापना कुछ थोड़े-से मनुष्यों के लिए नहीं, अपितु संसार के सभी मनुष्यों के लिए की गई थी। प्रत्येक धर्म

का संस्थापक यह दावा करता रहा है कि उसका धर्म किसी विशेष समुदाय तक सीमित न होकर सभी मनुष्यों के लिए है, अतः वह सार्वभौम धर्म है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कोई भी धर्म वास्तव में सार्वभौम धर्म नहीं बन सका। प्रत्येक धर्म को मनुष्यों के एक समुदाय ने स्वीकार किया, किंतु उस विशेष समुदाय को छोड़कर अन्य सभी मनुष्यों ने उसे अस्वीकार कर दिया। आज संसार में जो धर्म विद्यमान हैं उन सबके साथ यही हुआ है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि किसी नए सार्वभौम धर्म की स्थापना की गई तो उसे भी एक विशेष समुदाय के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति अस्वीकार कर देंगे। ऐसी स्थिति में वह तथाकथित सार्वभौम धर्म मनुष्यों में संघर्ष का एक नया कारण उत्पन्न कर देगा। वस्तुतः किसी धर्म को 'सार्वभौम धर्म' कह देने मात्र से वह सार्वभौम नहीं हो जाता। वह सार्वभौम तभी हो सकता है जब संसार के सभी धर्मपरायण व्यक्ति स्वेच्छया उसके अनुसार आचरण करें। परंतु यह संभव नहीं है, क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, धर्म मनुष्य की आस्था का विषय है और इसी कारण किसी भी धर्म को लोगों पर बाहर से नहीं थोपा जा सकता। मनुष्य ऐसे धर्म का कभी भी निष्ठापूर्वक पालन नहीं कर सकता जो उस पर किसी बाह्य शक्ति द्वारा बलपूर्वक लादा गया हो। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि सार्वभौम धर्म की संभावना से संबंधित पहले बताए गए अन्य दो विकल्पों की भाँति इस तीसरे विकल्प को स्वीकार करना भी व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है।

3. सर्व-धर्म-समभाव और धार्मिक सहिष्णुता

पिछले खंड में हम सविस्तार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कुछ अनिवार्य कठिनाइयों के कारण व्यावहारिक दृष्टि से न तो सभी धर्मों का समन्वय संभव है और न सार्वभौम धर्म की स्थापना। इसका अर्थ यह है कि संसार में इस समय जो धर्म हैं उनमें से किसी को भी निकट भविष्य में समाप्त नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, इन धर्मों में से किसी धर्म को उत्कृष्ट या निकृष्ट प्रमाणित करना भी संभव तथा वांछनीय नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय विश्व के विभिन्न धर्मों में जो संघर्ष दिखाई देता है उसे किस प्रकार समाप्त या कम किया जा सकता है और सभी धर्मावलंबियों में पारस्परिक सौहार्द्र की उत्पत्ति कैसे संभव है? संसार के अनेक भागों में विद्यमान व्यापक धार्मिक वैमनस्य को देखते हुए व्यावहारिक दृष्टि से इस समस्या का कोई संतोषप्रद समाधान खोजना बहुत आवश्यक है। यह समाधान ऐसा होना चाहिए जो सभी मनुष्यों के लिए हितकर हो और जिसे व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित किया जा सके। इस संबंध में सर्वप्रथम हमें यह स्वीकार करना होगा कि संसार में बहुत-से अलग-अलग धर्म हैं और इन धर्मों में समयानुसार कुछ परिवर्तन अथवा विकास के होते हुए भी पर्याप्त समय तक इन सबका अस्तित्व बना रहेगा। वस्तुतः इस अनिवार्य तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही हमें उपर्युक्त समस्या का कोई संतोषजनक समाधान खोजना पड़ेगा। मेरे विचार में इस समस्या के दो समाधान हो सकते हैं—सर्व-धर्म-समभाव का मार्ग तथा पूर्ण धर्म निरपेक्षता का मार्ग। अब हम क्रमशः इन दोनों समाधानों पर विचार करेंगे।

(1) यदि व्यावहारिक दृष्टि से सर्व-धर्म-समन्वय तथा सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव नहीं है और यदि इस संसार में बहुत-से अलग-अलग धर्मों का बना रहना अनिवार्य है तो उपर्युक्त समस्या के समाधान का एक उपाय यह हो सकता है कि हम अपने धर्म के साथ-साथ दूसरों के धर्मों का भी समान रूप से आदर करना सीखें। स्वयं अपने धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हुए हम सच्चे हृदय से यह स्वीकार करें कि जिस प्रकार हमें अपना धर्म उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय प्रतीत होता है उसी प्रकार अन्य सभी धर्मावलंबियों के लिए भी उनके अपने-अपने धर्म विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण तथा सम्माननीय हैं। समस्त धर्मों के विषय में इस दृष्टि से विचार करने पर हम अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों के प्रति भी आदर की भावना रखना सीख सकते हैं। धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता पर आधारित इसी विचारधारा को गाँधी जी ने 'सर्व-धर्म-समभाव' की संज्ञा दी है जिसे वे अपने एकादश व्रतों में से एक अनिवार्य व्रत के रूप में स्वीकार करते हैं और जिसका निष्ठापूर्वक पालन करना वे सभी मनुष्यों के लिए बहुत आवश्यक मानते हैं। गाँधी जी से पूर्व भी एक अन्य विचारक, स्वामी विवेकानंद जी ने इसी सर्व-धर्म-समभाव का समर्थन किया था, किंतु इसकी विस्तृत विवेचना गाँधी जी ने ही की है। उनका निश्चित मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में इस सर्व-धर्म-समभाव के सिद्धांत के अनुसार ही सदा आचरण करना चाहिए। यह सिद्धांत सभी धर्मों को उत्कृष्ट तथा सम्माननीय मानता है और हमें इन सबका समान रूप से आदर करने की शिक्षा देता है। सर्व-धर्म-समभाव संबंधी अपने इसी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए गाँधी जी ने लिखा है कि : "अपने-अपने धर्म के सिद्धांतों के अनुसार आचरण करते हुए हमें एक-दूसरे के उत्तम सिद्धांतों को स्वीकार करना चाहिए और इस प्रकार ईश्वर तक पहुँचने के मानव-प्रयास में अपना योगदान देना चाहिए।... मेरा अपना विचार यह है कि सभी महान धर्म मूलतः समान हैं। हमें दूसरे धर्मों का उसी प्रकार आदर करना चाहिए जिस प्रकार हम अपने धर्म का सम्मान करते हैं।... मेरे विचार में विभिन्न धर्म एक ही उद्यान के सुंदर फूल तथा एक ही महावृक्ष की शाखाएँ हैं, अतः वे समान रूप से सत्य हैं। परंतु वे समान रूप से अपूर्ण भी हैं, क्योंकि मनुष्य ही उन्हें ग्रहण करते हैं और उनकी व्याख्या करते हैं।[14]

सर्व-धर्म समभाव के विषय में गाँधी जी के उपर्युक्त विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उनके अनुसार यह सिद्धांत न तो सभी धर्मों के समन्वय का आग्रह करता है और न किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म मान लेने का। यह इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि संसार में अनेक अलग-अलग धर्म हैं और बने रहेंगे। इसी कारण यह सिद्धांत हमें बताता है कि इन सभी धर्मों को समुचित महत्त्व देते हुए हमें इन सबका समान रूप से आदर करना सीखना चाहिए। गाँधी जी का विचार है कि इस धार्मिक सहिष्णुता एवं उदार दृष्टिकोण द्वारा ही विभिन्न धर्मानुयायियों में विद्यमान वैमनस्य तथा उनमें होने वाले पारस्परिक कलह का निराकरण किया जा सकता है। यदि सभी मनुष्य अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी सम्मान करना सीख लें तो संसार से वह धार्मिक कट्टरता दूर हो सकती है जो विभिन्न धर्मावलंबियों में शत्रुता उत्पन्न करती है और जिसके कारण उनमें निरंतर रक्तरंजित संघर्ष

---

14. महात्मा गाँधी, 'हिंदू धर्म', सम्पादक, भारतन कुमारप्पा, पृ० 260 261

होता रहता है। इस दृष्टि से गाँधी जी के सर्व-धर्म-समभाव संबंधी सिद्धांत का संपूर्ण मानव-जाति के लिए विशेष व्यावहारिक महत्त्व है। यह सिद्धांत विभिन्न धर्मावलंबियों में परस्पर स्नेह एवं सौहार्द्र उत्पन्न कर सकता है, किंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि इसे सच्चे हृदय से स्वीकार किया जाए और सदा इसके अनुरूप आचरण किया जाए। इस सिद्धांत को कार्यान्वित करने में वे सब व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक कठिनाइयाँ भी नहीं हैं जो सर्व-धर्म-समन्वय एवं सार्वभौम धर्म की स्थापना में पाई जाती हैं और जिनकी विस्तृत चर्चा हम पिछले खंड में कर चुके हैं।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि गाँधी जी के सर्व-धर्म-समभाव संबंधी इस सिद्धांत को व्यावहारिक दृष्टि से कार्यान्वित करना किस प्रकार संभव है। इसके लिए सर्वप्रथम हमें धर्म के प्रति अधिक उदार तथा व्यापक दृष्टिकोण को स्वीकार करना होगा। हमें यह मानना पड़ेगा कि संसार में जो भिन्न-भिन्न धर्म पाए जाते हैं उनमें कुछ समानताओं के साथ-साथ मूलभूत अंतर भी हैं, किंतु इन धर्मों में से कोई भी निकृष्ट एवं निंदनीय नहीं है। इसके विपरीत ये सभी धर्म हमारे लिए उसी प्रकार श्रद्धा एवं सम्मान के पात्र हैं जिस प्रकार हमारा अपना धर्म। हमें इस तथ्य को भलीभाँति समझना होगा कि स्वयं अपने धर्म के प्रति हममें जो विशेष संवेदनशीलता पाई जाती है अन्य सभी धर्मावलंबी भी अपने-अपने धर्मों के प्रति वैसी ही संवेदनशीलता का अनुभव करते हैं, अतः उनकी धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचाना अनुचित और निंदनीय है। धर्म के प्रति यह उदार दृष्टिकोण ही हम में वह धार्मिक सहिष्णुता उत्पन्न कर सकता है जो सर्व-धर्म-समभाव को व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करने के लिए अनिवार्य है। हमें प्रत्येक व्यक्ति में बाल्यकाल से ही इस धार्मिक सहिष्णुता के विकास के लिए ईमानदारी से निरंतर प्रयास करना होगा। इसके लिए सभी बच्चों को प्रारंभ से ही अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों को भी जानने और समझने का पर्याप्त अवसर देना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब उन्हें विभिन्न धर्मों के उपासना-स्थलों में ले जा कर उनके धार्मिक क्रिया-कलापों में स्वयं भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। ऐसा करने से बच्चे अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के सिद्धांतों, विश्वासों तथा कर्मकांड को जान सकेंगे और यह ज्ञान धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण को अधिक उदार एवं व्यापक बनाने में सहायक सिद्ध होगा। इससे दूसरे धर्मों के प्रति उनकी उपेक्षा अथवा विरोध की भावना दूर हो सकेगी जो प्रायः अपरिचय या अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। वस्तुतः इसी तथ्य को ध्यान में रख कर गाँधी जी अपनी प्रार्थना में अनेक धर्मों के भजनों तथा प्रवचनों को सम्मिलित करते थे। इसी प्रकार वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने धर्म-ग्रंथों के अध्ययन के साथ साथ अन्य धर्मों के ग्रंथों का अध्ययन करना भी आवश्यक मानते थे, क्योंकि ऐसा करने से उसमें धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का विकास हो सकता है।

गाँधी जी के मतानुसार सर्व-धर्म-समभाव के लिए उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त धर्म-परिवर्तन के प्रयास तथा एक-दूसरे के धर्म के विरुद्ध सभी प्रकार के प्रचार को भी पूर्णतः समाप्त करना आवश्यक है। धर्म-परिवर्तन के प्रयास के मूल में यह अनुचित विचार निहित है कि एक धर्म उत्कृष्ट और दूसरा धर्म निकृष्ट है। हम देख चुके हैं कि यह विचार

सर्व-धर्म-समभाव के लिए घातक है। इसी कारण धर्म-परिवर्तन का विरोध करते हुए गाँधी जी कहते हैं कि: "धर्म-परिवर्तन के प्रयास द्वारा विश्व में अशांति ही उत्पन्न होगी। धर्म पूर्णतः व्यक्तिगत मामला है।"[15] वे प्रायः कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए· उसे किसी अन्य धर्म को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। धर्म-परिवर्तन की भाँति किसी भी रूप में एक-दूसरे के धर्म के विरुद्ध प्रचार भी सर्व-धर्म-समभाव में बाधक सिद्ध होता है, अतः इसे तुरंत समाप्त कर देना आवश्यक है। इसके स्थान पर विभिन्न धर्मावलंबियों में एक-दूसरे के धर्म के प्रति सद्भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे उनमें धार्मिक सहिष्णुता का विकास हो सके।

(2) विश्व के विभिन्न धर्मावलंबियों में विद्यमान पारस्परिक वैमनस्य एवं संघर्ष का निराकरण करने के लिए उपर्युक्त सर्व-धर्म-समभाव के अतिरिक्त एक अन्य मार्ग भी है और वह है जीवन में पूर्ण धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार करना। भौतिकवादी तथा प्रकृतिवादी दार्शनिक मुख्यतः इसी मार्ग का समर्थन करते हैं। इसके अनुसार धर्म के प्रचलित सामान्य अर्थ में उससे पूर्णतः मुक्त होकर मनुष्य को केवल वैज्ञानिक मानवतावादी दर्शन के अनुरूप ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। उसे उन समस्त धार्मिक सिद्धांतों, विश्वासों तथा मान्यताओं का परित्याग कर देना चाहिए जिन्हें स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। वस्तुतः मनुष्य के लिए सर्वोत्तम स्थिति यही होगी कि वह धर्म के प्रभाव एवं बंधन से मुक्त होकर केवल मानवतावाद के अनुसार आचरण करे जिसकी विस्तृत विवेचना हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या भविष्य में कभी ऐसी स्थिति आ सकती है जब मनुष्य धर्म के सामान्य प्रचलित अर्थ में उसके प्रभाव से मुक्त होकर जीवन तथा जगत् के प्रति केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर ले और मानवतावाद के मूल सिद्धांतों के अनुरूप ही अपना जीवन व्यतीत करे। कुछ विचारक इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देना चाहेंगे, क्योंकि उनके अनुसार मानव स्वभावतः 'धार्मिक प्राणी' है और धर्म उसके जीवन के लिए अनिवार्य है। परंतु मानव-स्वभाव के निष्पक्ष विश्लेषण के आधार पर इस मत का तर्कसंगत रूप से समर्थन करना संभव नहीं है। इस पुस्तक में अनेक स्थानों पर हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सामान्य परंपरागत अर्थ में धर्म मनुष्य के स्वभाव का अनिवार्य अंग नहीं है। वस्तुतः धर्म की उत्पत्ति मनुष्य की असहाय अवस्था, भय, अनभिज्ञता तथा उन प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप ही हुई है जिनमें उसे सहस्रों वर्षों तक अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा है। इसका अर्थ यह है कि यदि धर्म की उत्पत्ति के इन कारणों को दूर किया जा सके तो मनुष्य उसके प्रभाव से मुक्त हो सकता है।

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि गत कुछ शताब्दियों में विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति तथा मानव-जीवन पर उसके व्यापक प्रभाव के कारण धर्म की जकड़ कुछ शिथिल हुई है। आज मानव-जाति के अनेक क्षेत्रों में धर्म का उतना प्रभाव दिखाई नहीं देता जितना

---

15. वही पुस्तक, पृ० 260

प्राचीन काल में था। अब अधिकतर मनुष्य रोगों तथा प्राकृतिक आपदाओं से मुक्त होने के लिए ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति से प्रार्थना करने के स्थान पर चिकित्सा और वैज्ञानिक उपायों का प्रयोग करते हैं। इन तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि धर्म मानव-जीवन के लिए अनिवार्य नहीं है। किसी प्रकार की अलौकिक सत्ता में विश्वास किए बिना भी मनुष्य सुखमय तथा नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है। यदि समुचित शिक्षा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति में बाल्यकाल से ही संपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास किया जाए, यदि संपूर्ण संसार में परंपरागत धार्मिक शिक्षा को समाप्त कर दिया जाए, यदि जीविकोपार्जन तथा स्वार्थ-सिद्धि के लिए धर्म के प्रचार को रोका जा सके और यदि विज्ञान द्वारा मानव की अनभिज्ञता एवं असहाय अवस्था को समाप्त किया जा सके तो मनुष्य धर्म के अनावश्यक कठोर बंधन से मुक्त हो सकता है। तब वह उस तर्कपूर्ण मानवतावादी दर्शन के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत कर सकता है जो सभी प्रकार की अलौकिक सत्ताओं का निषेध करते हुए इसी जगत् में वैज्ञानिक विधियों द्वारा मानव-जाति के कल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। आज हमें यह आदर्श नितांत काल्पनिक प्रतीत हो सकता है, किंतु मनुष्य का उज्ज्वल भविष्य इसी आदर्श को कार्यान्वित करने पर निर्भर है, अतः मनुष्य होने के नाते हम सब का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि इस महान आदर्श को वास्तविकता में परिणत करने के लिए हम संगठित रूप से सतत प्रयास करते रहें। मानव-जाति के सर्वांगीण विकास एवं उत्कर्ष के लिए यही एकमात्र तर्कसंगत मार्ग है जिसकी ओर हम सबको निरंतर अग्रसर होना है।

परंतु जब तक हम संपूर्ण मानव-जाति के लिए मंगलकारी उपर्युक्त महान आदर्श को कार्यान्वित करने में सफल नहीं होते तब तक सर्व-धर्म-समभाव के सिद्धांत के अनुसार आचरण करना ही हमारे लिए उचित एवं वांछनीय होगा। इसका कारण यह है कि गाँधी जी का यह सिद्धांत सर्व-धर्म-समन्वय तथा सार्वभौम धर्म संबंधी सिद्धांतों की अपेक्षा वर्तमान युग में अधिक व्यावहारिक और तर्कसंगत प्रतीत होता है। इस तथ्य को हम पहले ही भलीभाँति स्पष्ट कर चुके हैं, अतः यहाँ इसकी विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता के सर्वोत्तम मार्ग के पश्चात सर्व-धर्म-समभाव का मार्ग ही मानव-जाति के लिये श्रेयस्कर तथा व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त है।

परिशिष्ट 1

धर्मनिरपेक्षवाद–कुछ भ्रांतियों का उन्मूलन

1. धर्मनिरपेक्षवाद की भ्रामक व्याख्या

भारतीय राजनीति में धर्मनिरपेक्षवाद की प्रायः चर्चा होती रही है। हमारे देश के अधिकतर राजनीतिज्ञ बड़े विश्वास के साथ यह दावा करते हैं कि वे स्वयं, उन का दल तथा भारत वास्तव में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। परंतु यदि उनके इस दावे पर तार्किक दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसका औचित्य अत्यंत संदेहास्पद है। वस्तुतः 'लोकतंत्र', 'समाजवाद' आदि शब्दों की भाँति 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग भी इसके वास्तविक अर्थ को भलीभाँति समझे बिना हमारे देश में प्रायः सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए किया जा रहा है। अपने आपको 'धर्मनिरपेक्ष' कहना आधुनिकता एवं प्रगतिशीलता का चिह्न समझा जाता है, अतः अधिकतर राजनैतिक तथा धार्मिक नेता स्वयं अपने लिए और अपने दल या संगठन के लिए 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग करके गर्व का अनुभव करते हैं। परंतु ये नेता इस शब्द के ठीक-ठीक अर्थ को समझने और उस पर विचार करने का प्रायः कष्ठ नहीं करते। इसी कारण हमारे देश में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द के अर्थ के विषय में अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित हैं जिनका निराकरण करके इसके अर्थ को भलीभाँति स्पष्ट करना बहुत आवश्यक है। प्रस्तुत परिशिष्ट में यही प्रयास किया गया है। इसका उद्देश्य कुछ तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर धर्मनिरपेक्षवाद से संबंधित कुछ प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण करते हुए इस सिद्धांत के वास्तविक अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करना तथा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन करना है। धर्मनिरपेक्षवाद के स्वरूप तथा इस सिद्धांत के उदय और विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की विवेचना करने के पश्चात परिशिष्ट के अंत में इस प्रश्न पर भी विचार किया जाएगा कि भारत वास्तव में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है अथवा नहीं।

अनेक भारतीय विचारक यह सिद्ध करने का प्रयास करते रहे हैं कि धर्मनिरपेक्षवाद वस्तुतः धर्म तथा अध्यात्मवाद के विरुद्ध या इनके प्रति उदासीन न होकर इन दोनों के अनुरूप ही है। इन विचारकों का मत है कि किसी व्यक्ति या राष्ट्र के धर्मनिरपेक्ष होने तथा उसके धर्मपरायण और अध्यात्मवादी होने में कोई विरोध नहीं है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए ये विचारक धर्मनिरपेक्षवाद का एक विशेष सकारात्मक अर्थ बताते हैं जिसका संबंध आध्यात्मिकता, धार्मिक सहिष्णुता तथा सभी धर्मों की समानता से है। इनके मतानुसार, भारतीय प्राचीन आध्यात्मिक परंपरा को स्वीकार करते हुए सभी धर्मों के प्रति सहनशील होना और उन सब का समान रूप से आदर करना ही धर्मनिरपेक्षवाद है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है

कि दैवी या अतिप्राकृतिक शक्ति अथवा सत्ता में विश्वास करने वाला धर्मपरायण व्यक्ति भी धर्मनिरपेक्षवादी हो सकता है। इस विशेष अर्थ में धर्मनिरपेक्षवाद धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता का निषेध करने के स्थान पर इन दोनों का पूर्णतः समर्थन करता है। जो भारतीय विचारक धर्मनिरपेक्षवाद का यह विशेष सकारात्मक अर्थ बताते हैं उनका कथन है कि भारत की सामाजिक परिस्थितियों में इसी अर्थ को स्वीकार करना आवश्यक है।

धर्मनिरपेक्षवाद के विषय में डॉ० राधा कृष्णन के विचारों को उपर्युक्त संपूर्ण विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले मत के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अपनी अनेक पुस्तकों में उन्होंने इस सिद्धांत का वही विशेष सकारात्मक अर्थ बताया है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। उदाहरणार्थ, इसी अध्यात्मवादी विचारधारा के आधार पर धर्मनिरपेक्षवाद की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि : "यहाँ धर्मनिरपेक्षवाद की जो परिभाषा दी जा रही है उसके अनुसार यह भारत की प्राचीन धार्मिक परंपरा के अनुरूप ही है। यह वैयक्तिक गुणों को समुदाय के सदस्यों के अधीन मानने के स्थान पर उन में परस्पर सामंजस्य स्थापित करके धर्मपरायण व्यक्तियों में एकता अथवा सौहार्द्र उत्पन्न करने का प्रयास करता है"।[1] इसी प्रकार डॉ० आबिद हुसैन की पुस्तक, 'दि नैशनल कल्चर ऑफ़ इंडिया' की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि : धर्मनिरपेक्षवाद का अर्थ अधार्मिकता या अनीश्वरवाद अथवा भौतिक सुखों पर बल देना नहीं है। ...यह आध्यात्मिक मूल्यों की सार्वभौमता पर बल देता है जिन्हें विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है"।[2] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि डॉ० राधा कृष्णन धर्मनिरपेक्षवाद को एक ऐसा सिद्धांत मानते हैं जो धार्मिकता और आध्यात्मिकता का पूर्ण रूप से समर्थन करता है। कुछ अन्य धर्मपरायण भारतीय विचारक भी धर्मनिरपेक्षवाद की ऐसी ही व्याख्या करते हैं। इन में से कुछ विचारक तो यह भी कहते हैं कि इस प्रकार का धर्मनिरपेक्षवाद वस्तुतः 'भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद' है जिसे भारत की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या धर्मनिरपेक्षवाद की उपर्युक्त व्याख्या तथ्यात्मक दृष्टि से उचित और युक्तिसंगत है। मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। इसका कारण यह है कि धर्मनिरपेक्षवाद को 'धार्मिक' अथवा 'आध्यात्मिक' कहना निश्चय ही स्वतोव्याघातपूर्ण है। धर्मनिरपेक्षवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—जिस पर हम आगे कुछ विस्तार से विचार करेंगे—को ध्यान में रखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस सिद्धांत का धार्मिकता या आध्यात्मिकता के साथ कोई सकारात्मक संबंध नहीं है। इसके विपरीत यह सिद्धांत अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्ति पर आधारित धर्म तथा अध्यात्मवाद का निषेध करता है। सामान्यतः जिस अर्थ में 'धार्मिकता' और 'आध्यात्मिकता' को ग्रहण किया जाता है उस अर्थ में यह सिद्धांत किसी भी रूप में इनका समर्थन नहीं करता। वस्तुतः

1. डॉ०, सर्वपल्ली राधा कृष्णन, 'रिकवरी ऑफ फेथ', पृ० 202.
2. डॉ० आबिद हुसैन, 'दि नैशनल कल्चर ऑफ़ इंडिया', पृ० 8.

किसी अलौकिक सत्ता या शक्ति पर अनिवार्यतः आधारित धर्म तथा अध्यात्मवाद के विपरीत इस सिद्धांत का मूल आधार यह भौतिक जगत् और इस में मनुष्य का वर्तमान जीवन ही है। यही कारण है कि इसे 'इहलौकिक सिद्धांत' माना जाता है और 'इहलोकवाद' की संज्ञा दी जाती है। ऐसी स्थिति में धर्मनिरपेक्षवाद को धर्म और अध्यात्मवाद का समर्थन करने वाला सिद्धांत मानना भ्रामक तथा अयुक्तिसंगत है। डॉ० राधा कृष्णन आदि कुछ अध्यात्मवादी विचारकों ने अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार धर्मनिरपेक्षवाद की जो उपर्युक्त मनमानी व्याख्या की है उसका कोई तथ्यात्मक और तर्कसंगत आधार नहीं है।

वस्तुतः जो सिद्धांत सामान्य अर्थ में धर्म का निषेध करता है उसे प्राचीन आध्यात्मिक परंपरा का समर्थक और सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने वाला सिद्धांत मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। संभवतः गाँधी जी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से भलीभाँति परिचित थे; इसी कारण उन्होंने सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने वाले अपने सिद्धांत को 'धर्मनिरपेक्षवाद' न कह कर 'सर्वधर्मसमभाव' की संज्ञा दी है जो पूर्णतः उचित है। वे यह जानते थे कि उनके इस सिद्धांत और धर्मनिरपेक्षवाद में आधारभूत अंतर है, अतः अपने सिद्धांत को धर्मनिरपेक्षवाद से (पृथक्) करने के लिए उन्होंने इसे 'सर्वधर्मसमभाव' की संज्ञा से अभिहित किया था। परंतु यह खेद की बात है कि कुछ अध्यात्मवादी विचारकों ने गाँधी जी के इस तर्कसंगत मत की उपेक्षा करते हुए धर्मनिरपेक्षवाद को ही सर्वधर्मसमभाव का सिद्धांत मान लिया जिससे इन दोनों सिद्धांतों के ठीक-ठीक अर्थ और इनमें विद्यमान मूलभूत अंतर को समझने में बहुत बड़ा भ्रम उत्पन्न हुआ। यह सत्य है कि सर्वधर्मसमभाव का सिद्धांत हमें सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने की शिक्षा देता है जिसके मूल में धार्मिक सहिष्णुता का विचार निहित है, किंतु धर्मनिरपेक्षवाद के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा कि हम आगे सविस्तार स्पष्ट करेंगे, सर्वधर्मसमभाव के सिद्धांत के विपरीत धर्मनिरपेक्षवाद सभी धर्मों का समान रूप से निषेध करने अथवा कम से कम उन सब के प्रति समान रूप से तटस्थ या उदासीन रहने का सिद्धांत है। ऐसी स्थिति में इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धांतों को एक ही मान लेना अत्यधिक भ्रामक होगा। इन दोनों सिद्धांतों के मूल भेद को भलीभाँति समझ कर इस भ्रम से मुक्त होना हमारे लिए बहुत आवश्यक है।

2. धर्मनिरपेक्षवाद का अर्थ

उपर्युक्त भ्रम से हम तभी मुक्त हो सकते हैं जब हम धर्मनिरपेक्षवाद के ठीक-ठीक अर्थ और इसकी आधारभूत मान्यताओं को स्पष्ट रूप से जान लें। इस संबंध में सर्वप्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि धर्मनिरपेक्षवाद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसके सामान्य प्रचलित अर्थ में ही किया जाता है जिसके अनुसार हम हिंदू धर्म, ईसाई धर्म, जैन, बौद्ध, इस्लाम आदि को 'धर्म' कहते हैं। यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ 'अभ्युदय' अथवा 'स्वकर्तव्य-पालन' नहीं है जिसे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्मनिरपेक्षवाद अभ्युदय अथवा स्वकर्तव्य-पालन के अर्थ में धर्म का निषेध नहीं करता। यह सिद्धांत 'धर्म' शब्द के उस अर्थ में इसका निषेध करता है जिस अर्थ में 'धर्म' के लिए 'मज़हब' तथा 'रिलिजन' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। धर्मनिरपेक्षवाद के समर्थकों के मतानुसार, इस सामान्य

प्रचलित अर्थ में धर्म का परित्याग करना अथवा कम से कम उसके प्रति तटस्थ या उदासीन रहना ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। इसका कारण यह है कि उक्त सामान्य अर्थ में धर्म अनिवार्यतः किसी अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ता अथवा शक्ति पर ही आधारित रहता है जिसे स्वीकार करने के फलस्वरूप मानव प्रायः इस जगत् और अपने वर्तमान जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है। वह अपने चतुर्दिक परिवेश तथा जीवन की कठिन समस्याओं का स्वयं अपने प्रयास द्वारा समाधान खोजने के स्थान पर इनके समाधान के लिए किसी अलौकिक शक्ति या सत्ता पर ही आश्रित रहने लगता है। जीवन तथा जगत् के प्रति धर्मपरायण मनुष्य के इस परलोकोन्मुखी दृष्टिकोण को धर्मनिरपेक्षवाद के समर्थक उसके लिए अत्यधिक हानिकारक मानते हैं और इसी कारण वे इसे पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। मूलतः मानवतावाद का समर्थन करते हुए वे यह कहते हैं कि यह संसार ही मनुष्य का एकमात्र निवास-स्थान है और उसके वर्तमान जीवन से परे किसी पारलौकिक जीवन की कोई संभावना नहीं है, अतः अपने इसी जीवन को स्वयं अपने प्रयास द्वारा सुखमय तथा सार्थक बनाना उसका अनिवार्य कर्तव्य है। धर्मनिरपेक्षवादियों की इस आधारभूत मान्यता के कारण ही उनके इस सिद्धांत को 'इहलौकिक सिद्धांत' अथवा 'इहलोकवाद' भी कहा जाता है।

धर्मनिरपेक्षवाद के स्वरूप के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इस सिद्धांत के दो पक्ष हैं—नकारात्मक तथा सकारात्मक। यहाँ हम इसके इन दोनों पक्षों पर क्रमशः विचार करेंगे। जैसाकि हम पहले ही बता चुके हैं, धर्मनिरपेक्षवाद 'धर्म' के प्रचलित सामान्य अर्थ में इसका निषेध करता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस सिद्धांत के अनुसार राजनीति, क़ानून, अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, नैतिकता, प्रशासन आदि में धर्म का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इन सभी क्षेत्रों से संबंधित समस्याओं पर धार्मिक दृष्टिकोण से नहीं, अपितु मानव-कल्याण की दृष्टि से ही विचार किया जाना चाहिए। परंतु यह तभी संभव है जब राष्ट्र की संपूर्ण प्रशासन-व्यवस्था, शिक्षा, नैतिकता, आर्थिक व्यवस्था, उसके द्वारा बनाए गए क़ानूनों तथा इन क़ानूनों के कार्यान्वयन को धर्मगुरुओं के अनावश्यक और अवांछनीय-हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाए। यही कारण है कि धर्मनिरपेक्षवाद के समर्थक मानव-जीवन के इन सभी क्षेत्रों को धर्म से पृथक तथा स्वतंत्र मानते हैं और इनमें धर्म के हस्तक्षेप को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि धर्म प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत मामला है, अतः उसे मानव के सामाजिक जीवन से पृथक रखना आवश्यक है। अपने सामाजिक जीवन से संबंधित समस्याओं के विषय में मनुष्य का कोई भी निर्णय किसी भी रूप में धार्मिक सिद्धांतों, मान्यताओं अथवा विश्वासों द्वारा प्रभावित नहीं होना चाहिए। इसी अर्थ में धर्मनिरपेक्षवाद मानव-जीवन में धर्म का पूर्णतः निषेध करता है और यही इस सिद्धांत का नकारात्मक पक्ष है।

परंतु यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्मनिरपेक्षवाद केवल नकारात्मक सिद्धांत नहीं है। इसका एक सकारात्मक पक्ष भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। यह सिद्धांत मनुष्य के जीवन में केवल धर्म का निषेध ही नहीं करता, अपितु बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उपायों द्वारा व्यापक अर्थ में मानव-कल्याण के लिए मार्ग भी प्रशस्त करता है। इसके समर्थकों का निश्चित मत है कि हमें अपने जीवन की प्रत्येक समस्या पर तर्कसंगत रूप से विचार करना चाहिए और केवल बौद्धिक उपायों तथा वैज्ञानिक विधियों द्वारा उसका समुचित समाधान

खोजने का प्रयास करना चाहिए। इस दृष्टि से धर्मनिरपेक्षवाद मनुष्य के स्वतंत्र बौद्धिक चिंतन तथा निष्पक्ष वैज्ञानिक अनुसंधान को विशेष महत्त्व देता है। इस सिद्धांत के समर्थकों का विचार है कि मानव का संपूर्ण ज्ञान मूलतः उसके अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि पर ही आधारित है: इन दोनों स्रोतों के अतिरिक्त जीवन तथा जगत् के विषय में वह किसी अलौकिक स्रोत से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अपनी इसी मान्यता के कारण वे उस धार्मिक ज्ञान की संभावना को अस्वीकार करते हैं जिसे 'श्रुतिमूलक ज्ञान' कहा जाता है और जो ईश्वर-प्रदत्त माना जाता है। लगभग सभी धर्मपरायण व्यक्ति यह दावा करते हैं कि उनके धर्मग्रंथों में इस प्रकार का श्रुतिमूलक ज्ञान उपलब्ध होता है। परंतु धर्मनिरपेक्षवादी उनके इस दावे को उचित एवं तर्कसंगत नहीं मानते, क्योंकि यह किसी विश्वसनीय प्रमाण पर आधारित नहीं है। इसी प्रकार धर्मपरायण व्यक्तियों के विपरीत उनका मत है कि विश्व की अंतिम सत्ता पुद्गल अथवा शक्ति है, कोई अलौकिक या अतिप्राकृतिक तत्त्व नहीं। हम अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा ऐसी किसी सत्ता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते जिसे अतिप्राकृतिक सत्ता माना जाता है, अतः ऐसी सत्ता को स्वीकार करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि धर्मनिरपेक्षवादी ईश्वर सहित सभी अलौकिक या अतिप्राकृतिक सत्ताओं को अस्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से धर्मनिरपेक्षवाद अध्यात्मवाद से मूलतः भिन्न है जो अनिवार्यतः किसी आध्यात्मिक या अलौकिक तत्त्व पर ही आधारित होता है।

अध्यात्मवाद को अस्वीकार करने के कारण धर्मनिरपेक्षवादी नैतिकता को धर्म से पूर्णतः पृथक और स्वतंत्र मानते हैं। उनका कथन है कि संपूर्ण नैतिक व्यवस्था और समस्त नैतिक नियमों का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य का वैयक्तिक तथा सामाजिक कल्याण है, अतः नैतिकता का मूल स्रोत स्वयं मानव-समाज ही है, ईश्वर या कोई अन्य दैवी सत्ता नहीं। मनुष्य अपने व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयास द्वारा ही अपने जीवन को सुखमय, समृद्ध और उन्नत बना सकता है: इस में ईश्वर या कोई अन्य दैवी शक्ति उसकी सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसी किसी शक्ति का अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार धर्म तथा अध्यात्मवाद के विपरीत धर्मनिरपेक्षवाद मनुष्य को अपनी सर्वांगीण प्रगति के लिए पूर्णतः स्वावलंबी बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस दृष्टि से यह सिद्धांत मानव को पराश्रित एवं पंगु बनाने वाले समस्त धार्मिक सिद्धांतों की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट तथा श्रेयस्कर है। संक्षेप में उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि **धर्मनिरपेक्षवाद एक विशेष प्रकार का मानवतावादी जीवन-दर्शन है जो धर्म तथा अध्यात्मवाद का निषेध करते हुए नैतिकता, शिक्षा, राजनीति, प्रशासन, क़ानून आदि को इन दोनों से पूर्णतः स्वतंत्र मानता है और जो मनुष्य को अलौकिक या दैवी शक्तियों पर आश्रित रहने के स्थान पर पूर्णतः आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देकर उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।**

3. धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की प्रमुख विशेषताएँ

धर्मनिरपेक्षवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस सिद्धांत के अनुसार धर्म, व्यक्ति तथा राष्ट्र इन तीनों के पारस्परिक संबंध पर विचार करना आवश्यक है। जब हम धर्मनिरपेक्षवाद की बात करते हैं तो प्रायः हमारा तात्पर्य 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' से ही होता है।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताएँ क्या हैं और धर्म तथा अमने नागरिक के रूप में व्यक्ति के साथ धर्म की दृष्टि से उसका क्या संबंध होता है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की अवधारणा वास्तव में एक नकारात्मक अवधारणा है। जब हम किसी राष्ट्र को 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' की संज्ञा देते हैं तो कम से कम हम यह अवश्य कहना चाहते हैं कि वह राष्ट्र संवैधानिक दृष्टि से किसी विशेष धर्म को 'राजकीय धर्म' के रूप में स्वीकार नहीं करता। परंतु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि धर्म, धर्मपरायण व्यक्ति तथा धार्मिक संगठनों के प्रति ऐसे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का दृष्टिकोण क्या होता है अथवा क्या होना चाहिए। यदि हम इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर खोज सकें तो हम धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेंगे। उपर्युक्त प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिए कुछ ऐसी विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है जो प्रत्येक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं। ऐसे राष्ट्र की प्रथम मुख्य विशेषता यह है कि वह धर्म को मनुष्य का व्यक्तिगत मामला मान कर व्यक्ति तथा समुदाय को धर्म के विषय में समुचित स्वतंत्रता प्रदान करता है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को स्वीकार कर सकता है और उसकी पूजन-पद्धति के अनुरूप उपासना कर सकता है। इसी प्रकार वह अपना धर्म-परिवर्तन करने अथवा किसी भी धर्म में विश्वास न करने के लिए भी स्वतंत्र है। वह स्वयं अपने तथा अन्य धर्मों के विषय में दूसरों के साथ शांतिपूर्वक विचार-विमर्श कर सकता है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में किसी व्यक्ति को धर्म में विश्वास करने, किसी विशेष धर्म को स्वीकार या अस्वीकार करने अथवा उसका प्रचार-प्रसार करने के लिए किसी भी रूप में आर्थिक सहायता देने के वास्ते बाध्य नहीं किया जा सकता। ऐसे राष्ट्र में धर्म के विषय में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ सामूहिक स्वतंत्रता भी प्रदान की जाती है। इसका अर्थ यह है कि अनेक व्यक्ति मिलकर अपनी इच्छानुसार धार्मिक संगठन बना सकते है; प्रशासनिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वयं इस संगठन का प्रबंध कर सकते हैं और धार्मिक शिक्षा भी दे सकते हैं। इन सब धार्मिक कार्यों में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र हस्तक्षेप नहीं करता। परंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस धार्मिक स्वतंत्रता की कुछ अनिवार्य सीमाएँ भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी भी व्यक्ति तथा समुदाय को यह धार्मिक स्वतंत्रता उसी सीमा तक दी जा सकती है जिस सीमा तक यह राष्ट्र में क़ानून, शांति एवं व्यवस्था, जन-स्वास्थ्य, राष्ट्रीय सुरक्षा, नैतिकता, अन्य व्यक्तियों के अधिकारों और उनकी धार्मिक स्वतंत्रता में बाधक सिद्ध न हो। यदि कोई धर्मपरायण व्यक्ति या समुदाय किसी भी रूप में अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का हनन करता है तो उसकी धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करना राष्ट्र का अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय को कुछ विशेष सीमाओं के अंतर्गत समुचित धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की जाती है।

धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव किए बिना सभी व्यक्तियों को राष्ट्र के नागरिक समझा जाता है। नागरिक के रूप में उनके कर्तव्य, उत्तरदायित्व तथा अधिकार किसी भी रूप में उनके धार्मिक विश्वासों द्वारा प्रभावित नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि नागरिकों के धार्मिक विश्वासों पर विचार किए बिना धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अपने समस्त कानून उन पर समान रूप में लागू करता है। धर्म के आधार पर विभिन्न नागरिकों के लिए भिन्न-भिन्न क़ानूनों को स्वीकार नहीं किया जाता।

इसके अतिरिक्त धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अपने सभी नागरिकों से यह भी आशा करता है कि वे केवल अपने राष्ट्र के प्रति ही पूर्ण निष्ठा एवं प्रतिबद्धता रखेंगे और इसमें धर्म को किसी भी रूप में बाधक़ नहीं बननें देंगे। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अपने भीतर निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को किसी विशेष धर्म के अनुयायी के रूप में नहीं, अपितु एक ऐसे नागरिक के रूप में देखता है जिसके कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों पर—उसके धार्मिक विश्वासों और विचारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उपर्युक्त दोनों विशेषताओं से संबद्ध धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की तीसरी प्रमुख विशेषता है अपने आपको धर्म से पूर्णतः पृथक रखना। इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्र तथा धर्म के कार्य-क्षेत्र एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न माने जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में धर्म को मनुष्य का व्यक्तिगत मामला समझा जाता है जिसमें राष्ट्र तब तक हस्तक्षेप नहीं करता जब तक ऐसा करना राष्ट्र की सुरक्षा, जन-स्वास्थ्य, शांति एवं व्यवस्था तथा नागरिकों के अधिकारों के लिए अनिवार्य न हो जाए। इस दृष्टि से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अपने आप को नागरिकों के धर्म से पूर्णतः पृथक रखता है। इसके साथ ही वह किसी धर्म को न तो संरक्षण देता है और न उसके विकास तथा प्रचार-प्रसार में अनावश्यक अवरोध उत्पन्न करता है। इसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अपने प्रशासन-प्रबंध में धर्म को भी हस्तक्षेप करने की आज्ञा नहीं देता। वह धर्मगुरुओं के परामर्श अथवा हस्तक्षेप के बिना ही अपने नागरिकों की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक तथा नैतिक समस्याओं का समाधान स्वयं आवश्यक क़ानून बनाकर ही करता है। वह अपने इन कानूनों को किसी भी रूप में धर्म द्वारा प्रभावित नहीं होने देता। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में राजनीति और धर्म को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक रखा जाता है। ऐसे राष्ट्र के प्रशासक धार्मिक अनुष्ठानों में भाग नहीं लेते और वे धर्म को राष्ट्र के प्रशासनिक कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की भी अनुमति नहीं देते। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में राजनैतिक दलों का निर्माण भी धर्म के आधार पर नहीं किया जाता और न ही नागरिकों से धार्मिक आधार पर मतदान करने के लिए कहा जाता है। इसमें धर्म को राष्ट्रीय नीतियों के प्रचार का साधन नहीं बनाया जाता और राष्ट्र को भी धर्म के प्रचार एवं विकास का साधन नहीं माना जाता। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में धार्मिक संगठनों के भी वे ही कर्त्तव्य तथा अधिकार होते हैं जो धर्मनिरपेक्ष संगठनों के माने जाते हैं; इस दृष्टि से इन दोनों प्रकार के संगठनों में कोई भेदभाव नहीं किया जाता। उन्हें समान रूप से सभी राष्ट्रीय कानूनों का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अपने आपको धर्म के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त रखता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ परस्पर संबद्ध हैं। जिस राष्ट्र में ये सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं उसे ही वास्तविक अर्थ में 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' की संज्ञा दी जा सकती है। इन तीनों विशेषताओं के आधार पर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की परिभाषा करते हुए डी०ई० स्मिथ कहते हैं कि : "धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र वह राष्ट्र है जो व्यक्ति तथा समुदाय को धर्म की स्वतंत्रता का आश्वासन देता है, जो व्यक्ति के धर्म पर विचार किए बिना नागरिक के रूप में उसके साथ व्यवहार करता है, जो संवैधानिक दृष्टि से किसी विशेष धर्म के साथ संबद्ध नहीं होता; जो धर्म को न तो प्रोत्साहन देता है और न उसमें हस्तक्षेप करता

है"[3] स्मिथ द्वारा दी गई धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की यह परिभाषा निश्चय ही उचित है, क्योंकि इसमें ऐसे राष्ट्र की सभी प्रमुख विशेषताओं को समाविष्ट किया गया है।

4. धर्मनिरपेक्षवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

धर्मनिरपेक्षवाद के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझने के लिए संक्षेप में इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी जान लेना आवश्यक है। इस संबंध में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि इस सिद्धांत या विचारधारा का उदय तथा विकास पाश्चात्य दर्शन में ही हुआ है। जो विचारक इसे भारत की प्राचीन आध्यात्मिक परंपरा से जोड़ते हैं वे इसकी विशेष ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा इससे संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा करते हैं। इस संबंध में कठोर सत्य यही है कि वास्तविक अर्थ में धर्मनिरपेक्षवाद का भारतीय दर्शन तथा संस्कृति में कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन में धर्मनिरपेक्षवाद का उदय उन्नीसवीं शताब्दी में उस वैचारिक संघर्ष के फलस्वरूप हुआ था जो यूरोप के धर्मगुरुओं और उसके देशों की सरकारों में पर्याप्त समय तक चलता रहा। हाँ, इसके उदय की पृष्ठभूमि लगभग चार सौ वर्ष पूर्व उस युग में अवश्य तैयार होने लगी थी जिसे यूरोप का 'पुनर्जागरण-काल' कहा जाता है और जिसका प्रारंभ पंद्रहवीं शताब्दी में हो गया था। इस पुनर्जागरण-काल से पूर्व संपूर्ण यूरोप के मानव-समाज पर धर्म का पूर्ण एकाधिकार था जो सैकड़ों वर्षों तक बना रहा। इसी युग को 'मध्य युग' की संज्ञा दी जाती है जिस में मनुष्य के स्वतंत्र चिंतन और तर्क के लिए कोई स्थान नहीं था। इस मध्य युग में मानव-जीवन के सभी पक्षों पर धर्म का कठोर शासन था और धर्मगुरुओं के आदेश को ही मनुष्य के लिए अंतिम आदेश माना जाता था। उस समय कोई भी व्यक्ति धर्म के विरुद्ध कुछ कहने या लिखने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। इस युग में मनुष्य के स्वतंत्र चिंतन एवं तर्क का आलोक पूर्णतः लुप्त हो गया था; यही कारण है कि इसे यूरोप का 'अंधकारमय युग' कहा जाता है। इस लंबे समय में अंधविश्वास से परिपूर्ण रूढ़िवाद यूरोप में सर्वत्र व्याप्त था।

परंतु पंद्रहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण के प्रारंभ के साथ ही यूरोप में इस अंधकारपूर्ण मध्य युग का अंत हुआ। इसी समय यूरोप का मनुष्य धीरे-धीरे धर्म की उन कठोर बेड़ियों से मुक्त होने लगा था जिन्होंने शताब्दियों से उसके मन-मस्तिष्क को जकड़ रखा था। अब वह व्यक्ति की स्वाधीनता और स्वतंत्र विचार एवं तर्क के महत्त्व को थोड़ा-थोड़ा समझने लगा था परंतु अभी उसकी स्थिति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ था। धर्म का कठोर शासन अब भी मनुष्य के जीवन पर बना हुआ था, अतः वह उसे खुली चुनौती देने की स्थिति में नहीं था। लगभग एक शताब्दी तक यही स्थिति बनी रही।

परंतु सोहलवीं शताब्दी में यूरोप में 'सुधारवाद का युग' आरंभ हुआ जिसके फलस्वरूप यूरोपीय समाज की उपर्युक्त स्थिति में परिवर्तन होने लगा। अब कुछ विचारकों ने धर्म का विरोध करना आरंभ कर दिया। उन्होंने शताब्दियों से चले आ रहे धर्म के एकाधिकार को

---

3. डी० ई० स्मिथ 'इंडियां ऐज़ ए सैक्यूलर स्टेट', पृ० 4.

चुनौती दी और धर्मगुरुओं के जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार की भी कटु आलोचना की। इन विचारकों नें पहली बार जनता के समक्ष यह तथ्य प्रस्तुत किया कि तथाकथित पवित्र धर्मगुरुओं का जीवन नैतिक दृष्टि से कितनी पतित अवस्था में है। ये धर्मगुरु जनता को तो त्याग, बलिदान तथा वैराग्य का निरंतर उपदेश देते थे, किंतु वे स्वयं इस संसार में सुख-समृद्धि और धन प्राप्त करने के लिए इतने अधिक लालायित रहते थे कि अंधविश्वासी अशिक्षित लोगों को स्वर्ग के प्रमाण-पत्र बेचकर उनसे वह थोड़ा-सा धन भी छीन लेते थे जो वे अपने जीवन की अनिवार्य मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़ी कठिनाई से अर्जित कर पाते थे। धर्मगुरुओं के ऐसे प्रवंचनापूर्ण आचरण के कारण कुछ तत्कालीन विचारक बहुत क्षुब्ध हुए और उन्होंने पोप के निरंकुश एकाधिकार को चुनौती देना प्रारंभ कर दिया। इस सुधारवादी युग में ईसाई धर्म के 'प्रोटैस्टैंट आंदोलन' ने लोगों को धर्म के विषय में स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने के लिए कुछ सीमा तक प्रोत्साहित किया। इस आंदोलन से प्रेरित होकर कुछ ईसाई विचारक धर्म के संबंध में पोप के एकमात्र वर्चस्व को अस्वीकार करने लगे। इस प्रकार ईसाई-समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया जो विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों में विश्वास करते थे। ऐसी स्थिति में यूरोपीय देशों की सरकारों के लिए किसी एक धार्मिक मत को स्वीकार करना बहुत कठिन हो गया जिसके फलस्वरूप धर्म और राष्ट्र में उस पार्थक्य का सूत्रपात हुआ जो धर्मनिरपेक्षवाद का मूल आधार है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यूरोप में पुनर्जागरण-काल तथा सुधारवादी युग ने धर्मनिरपेक्षवाद के उदय के विकास के लिए आवश्यक आधार-भूमि तैयार कर दी।

इस संदर्भ में यहाँ यह भी उल्लेखनाय है कि यूरोप में सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में विज्ञान की जो अभूतपूर्व प्रगति हुई उसने धर्मनिरपेक्षवाद के लिए सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कर दिया। इन दो शताब्दियों में भौतिकी, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, भूगर्भ-शास्त्र आदि विभिन्न प्राकृतिक विज्ञानों में जो क्रांतिकारी अनुसंधान हुए उन्होंने शताब्दियों से प्रचलित अनेक धार्मिक विश्वासों को मिथ्या और निराधार प्रमाणित कर दिया जिसके कारण मानव-जीवन में धर्म का प्रभाव कम होने लगा। बहुत-से शिक्षित व्यक्ति ईश्वर की सत्ता, उसके द्वारा जगत् की रचना, स्वर्ग, नरक, चमत्कारों आदि से संबंधित धार्मिक विश्वासों की सत्यता में गंभीर संदेह करने लगे। अब वे किसी धार्मिक विश्वास को केवल धर्मग्रंथों अथवा धर्मगुरुओं के प्रवचनों के आधार पर सत्य मानने के लिए उद्यत नहीं थे। इसके विपरीत किसी भी धार्मिक मान्यता या विश्वास को स्वीकार करने से पूर्व वे प्रयोग और निरीक्षण पर आधारित वैज्ञानिक विधि द्वारा उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा करना आवश्यक मानने लगे। विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप धर्म के प्रति विचारकों के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन निश्चय ही एक क्रांतिकारी परिवर्तन था जिसने मनुष्य के जीवन पर दीर्घ काल से चले आ रहे धर्म के कठोर शासन को शिथिल किया। वैज्ञानिक विधि तथा विभिन्न प्राकृतिक विज्ञानों में हुए इन क्रांतिकारी अनुसंधानों के अतिरिक्त यूरोप में औद्योगिक क्रांति, मार्क्सवाद, मानवतावाद और डार्विन के विकासवाद ने भी मानव-समाज में धर्म के प्रभाव एवं महत्त्व को काफ़ी कम कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत-से विचारक मनुष्य की समस्याओं को समझने और उनका समाधान करने के लिए धार्मिक विश्वासों एवं

सिद्धांतों के स्थान पर वैज्ञानिक विधियों तथा उपायों का प्रयोग करने लगे। ये विचारक आस्था अथवा श्रद्धा की अपेक्षा मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि को कहीं अधिक महत्त्व देते थे। इस प्रकार यूरोप में हुई वैज्ञानिक प्रगति तथा औद्योगिक क्रांति, और मार्क्सवाद, विकासवाद, मानवतावाद आदि सिद्धांतों के फलस्वरूप मानव-जीवन में धर्म की भूमिका बहुत सीमित हो गई।

पुनर्जागरण-काल से अठारहवीं शताब्दी तक की चार सौ वर्षों की दीर्घकालीन अवधि में धर्म के प्रति यूरोप में जिस नवीन बौद्धिक दृष्टिकोण का विकास हुआ उसी ने सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी में धर्मनिरपेक्षवाद को जन्म दिया। इंग्लैंड के निरीश्वरवादी विचारक, जॉर्ज जैकब होलियोक (1817-1906) को इस सिद्धांत का प्रमुख प्रणेता माना जाता है। उन्होंने ही इस सिद्धांत को निरीश्वरवाद से पृथक करने के लिए इसे 1851 में 'धर्मनिरपेक्षवाद' की संज्ञा से अभिहित किया था। ऐसा करने का एक विशेष कारण था। होलियोक यह मानते थे कि सामान्यतः निरीश्वरवाद को ईश्वर के साथ-साथ नैतिकता का भी निषेध करने वाला सिद्धांत समझा जाता है, किंतु मानव-समाज के लिए नैतिकता अनिवार्य है। उनका विचार था कि धर्मनिरपेक्षवाद ईश्वर तथा अन्य अलौकिक शक्तियों का ही निषेध करता है, नैतिकता का नहीं, अतः अपने इस सिद्धांत को निरीश्वरवाद से अलग रखने के लिए उन्होंने इसे 'धर्मनिरपेक्षवाद' का नाम दिया था। यद्यपि होलियोक तथा कुछ अन्य विचारकों का यह मत भ्रामक था कि निरीश्वरवाद नैतिकता को अस्वीकार करता है, फिर भी यह स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक था कि होलियोक ने अपने सिद्धांत को 'धर्मनिरपेक्षवाद' की संज्ञा क्यों दी थी।

होलियोक के अतिरिक्त एक अन्य निरीश्वरवादी अँग्रेज़ विचारक, चार्ल्स ब्रेडलॉफ़ भी धर्मनिरपेक्षवाद के प्रबल समर्थक थे। वस्तुतः इन्हीं दोनों विचारकों ने सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्षवाद की उन विशेष मान्यताओं का सविस्तार विवेचन किया था जिन्हें आज भी इस सिद्धांत की आधारभूत मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया जाता है। ये दोनों ही भौतिकवादी दार्शनिक थे, अतः वे यह मानते थे कि विश्व की अंतिम सत्ता पुद्गल ही है जो स्वयंभू तथा नित्य है और जिसकी रचना ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति ने नहीं की। अपनी इसी भौतिकतावादी तथा निरीश्वरवादी विचारधारा के अनुसार इन् दोनों दार्शनिकों ने धर्मनिरपेक्षवाद की प्रमुख आधारभूत मान्यताओं को स्पष्ट किया है जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है।

जैसा कि हम पिछले खंडों में बता चुके हैं, प्रचलित सामान्य अर्थ में धर्म की उपेक्षा अथवा उसका विरोध धर्मनिरपेक्षवाद की प्रथम अनिवार्य आधारभूत मान्यता है। इस मान्यता के संबंध में धर्मनिरपेक्षवाद के दो प्रमुख समर्थकों—होलियोक तथा ब्रैडलॉफ़—में कुछ मतभेद है। होलियोक का विचार है कि हमें इसी जगत् और मनुष्य के वर्तमान जीवन की समस्याओं का अध्ययन तथा समाधान करते समय धर्म की उपेक्षा करनी चाहिए—अर्थात्, उसके प्रति उदासीन रह कर उसे कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए। परंतु ब्रैडलॉफ़ यह मानते हैं कि इस संबंध में धर्म की उपेक्षा करना ही पर्याप्त नहीं है; उसका विरोध तथा खंडन करना भी आवश्यक है। इस मतभेद के होते हुए भी ये दोनों दार्शनिक निश्चित रूप से यह स्वीकार करते हैं कि हमारे

जगत् के अध्ययन तथा मानव-जीवन की समस्याओं के समाधान में धर्म की कोई भूमिका नहीं हो सकती, अतः इस संबंध में उसे अप्रासंगिक मानना ही उचित होगा।

धर्मनिरपेक्षवाद की दूसरी आवश्यक आधारभूत मान्यता यह है कि वह समस्त अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्तियों अथवा सत्ताओं का निषेध करते हुए केवल इहलौकिकता में ही विश्वास करता है। इस मान्यता के संबंध में सभी धर्मनिरपेक्षवादी परस्पर पूर्णतः सहमत हैं। वे ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति तथा स्वर्ग, नरक आदि किसी पारलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं करते, अतः उनके मतानुसार इनके विषय में अध्ययन एवं चिंतन करना व्यर्थ है। हम अपने इसी संसार तथा वर्तमान जीवन को ही जानते या जान सकते हैं और इसी कारण हमें केवल इन्हीं के संबंध में अध्ययन एवं विचार करना चाहिए। हमारे समस्त कर्तव्य केवल इसी जगत् तक सीमित हैं जिसमें हम स्वयं तथा अन्य सभी प्राणी निवास करते हैं। हम स्वयं अपने प्रयास द्वारा ही इस संसार तथा अपने वर्तमान जीवन को सुखमय और उन्नत बना सकते हैं; कोई दैवी शक्ति इसमें हमारी सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसी किसी शक्ति का अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षवाद का मूल संदेश यह है कि "**इसी संसार और मनुष्य के वर्तमान जीवन के विषय में ही विचार करो, दैवी शक्तियों तथा परलोक के संबंध में नहीं।**" इस दृष्टि से यह सिद्धांत मानवतावाद को ही पूर्णतः स्वीकार करता है।

धर्मनिरपेक्षवाद की तीसरी आधारभूत मान्यता है विज्ञान के महत्त्व और उसकी उपादेयता में पूर्ण विश्वास। इस सिद्धांत के समर्थक यह मानते हैं कि केवल विज्ञान ही मानव-जीवन को सुखमय, समृद्ध तथा उन्नत बना सकता है, अतः हमें इसके अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। वैज्ञानिक विधियों द्वारा प्राकृतिक नियमों का अध्ययन करके ही हम उन्हें भलीभाँति समझ सकते हैं और इस अध्ययन के फलस्वरूप उपलब्ध ज्ञान के आधार पर हम अपने जीवन में सुख तथा समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं। विज्ञान ही भयंकर प्राकृतिक विपत्तियों तथा रोगों से बचने में हमारी सहायता कर सकता है; इस संबंध में ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति से प्रार्थना करना व्यर्थ है। हमें अलौकिक शक्तियों के स्थान पर विज्ञान की प्रगति को ही विशेष महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि इसी में मानव-जीवन का उत्थान एवं कल्याण निहित है।

धर्मनिरपेक्षवाद की अंतिम मूलभूत अनिवार्य मान्यता यह है कि नैतिकता धर्म से पूर्णतः स्वतंत्र है। इस सिद्धांत के समर्थकों के मतानुसार, धर्म, ईश्वर, आत्मा की अमरता, स्वर्ग, नरक आदि पारलौकिक सत्ताओं में विश्वास किए बिना भी मनुष्य नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है, अतः नैतिकता को किसी भी रूप में धर्म पर आधारित अथवा उससे अनिवार्यतः संबद्ध मानना अनुचित और अयुक्तिसंगत है। वास्तविक स्थिति यह है कि स्वयं धर्म ही नैतिकता पर आधारित है, क्योंकि नैतिक अवधारणाओं अथवा प्रत्ययों का अर्थ समझे बिना धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को 'न्यायशील', 'दयालु', 'परम शुभ' आदि नहीं कह सकते। वे ईश्वर के लिए इन नैतिक अवधारणाओं का प्रयोग करते हैं जिससे यही सिद्ध होता है कि ये अवधारणाएँ ईश्वर पर निर्भर न होकर उससे स्वतंत्र हैं। इसी कारण धर्मनिरपेक्षवादी नैतिकता को धर्म पर आधारित न मानकर स्वयं धर्म को ही नैतिकता पर आधारित मानते हैं। उनका विचार है कि नैतिकता मनुष्य के कल्याण का साधन है, अतः वे उपयोगिता को ही

नैतिकता के एकमात्र तर्कसंगत मानदंड के रूप में स्वीकार करते हैं। संक्षेप में धमनिरपेक्षवादियों के मतानुसार, उपर्युक्त सभी मान्यताएँ धर्मनिरपेक्षवाद की अनिवार्य आधारभूत मान्यताएँ हैं।

5. क्या भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है?

धर्मनिरपेक्षवाद के अर्थ, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा कुछ आधारभूत मान्यताओं की विवेचना करने के पश्चात अब अंत में इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि क्या भारत को वास्तविक अर्थ में 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' कहा जा सकता है। यह सत्य है कि भारत का कोई राजकीय धर्म नहीं है और हमारा संविधान किसी विशेष धर्म को प्रश्रय देने तथा धर्म के आधार पर नागरिकों में भेदभाव करने का पूर्णतः निषेध करता है। इस दृष्टि से भारत, नेपाल, पाकिस्तान आदि उन राष्ट्रों से निश्चय हीं भिन्न है जो किसी विशेष धर्म को राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। परंतु केवल इन्हीं तथ्यों के आधार पर भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' कहना उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि भारत में उन विशेषताओं का अभाव है जो किसी राष्ट्र को वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाती हैं। हम पिछले खंडों में बता चुके हैं कि वास्तविक अर्थ में **धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र वह है जिसमें शिक्षा, नैतिकता, क़ानून, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन धर्म से पूर्णतः स्वतंत्र हैं—अर्थात् ये सब धार्मिक विश्वासों तथा सिद्धांतों द्वारा शासित नहीं होते**। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। हमारे देश में आज भी शिक्षा, क़ानून, राजनीति तथा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर धर्म का पर्याप्त प्रभाव है।

भारत में ऐसी बहुत-सी धार्मिक संस्थाएँ हैं जो 'नैतिक शिक्षा' के नाम पर किसी विशेष धर्म के सिद्धांतों, विश्वासों तथा कर्मकांड की शिक्षा देती हैं। यही नहीं, स्वयं भारत सरकार संविधान के अनुसार धार्मिक दृष्टि से अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा स्थापित धार्मिक शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। इस सहायता के समर्थन में प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि इसके बिना ये धार्मिक शिक्षा-संस्थाएँ अपना कार्य नहीं कर सकतीं। यह तर्क उचित हो या न हो, किंतु इतना स्पष्ट है कि इन संस्थाओं को दी गई यह सरकारी आर्थिक सहायता निश्चय ही धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की अवधारणा के विरुद्ध है, क्योंकि इसका अर्थ यही है कि स्वयं सरकार किसी विशेष धर्म को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन देती है।

धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ हमारे देश में विशेष धर्मों के अनुयायियों पर उनके परंपरागत धार्मिक क़ानूनों का भी बहुत गहरा तथा व्यापक प्रभाव है। धार्मिक दृष्टि से अल्पसंम्यक वर्गों के नागरिकों पर विवाह, उत्तराधिकार आदि से संबंधित उन के प्राचीन परंपरागत धार्मिक क़ानून लागू होते हैं। जीवन के इन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में हम आज भी देश के सभी नागरिकों के लिए एक समान क़ानून-संहिता का निर्माण नहीं कर सके, क्योंकि कुछ विशेष धर्मों के अनुयायी इसका तीव्र विरोध करते हैं। इसका परिणाम यही है कि इन क्षेत्रों में विभिन्न नागरिकों के लिए अलग-अलग धार्मिक क़ानूनों को स्वीकार किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में भारत को निश्चय ही 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त

हमारे देश में अनुसूचित जातियों के लिए संविधान द्वारा विशेष आरक्षण की जो व्यवस्था की गई है वह भी मूलतः धर्म पर ही आधारित है। कुछ विशेष धर्मों के अनुयायियों को अनुसूचित जातियों के अंतर्गत मान कर उन्हें यह आरक्षण दिया जा रहा है। इतना ही नहीं, अब कुछ अल्पसंख्यक वर्ग भी धर्म के आधार पर अपने लिए विशेष आरक्षण की माँग करने लगे हैं। ये सभी तथ्य भी यही सिद्ध करते हैं कि भारत वास्तव में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं है।

शिक्षा तथा क़ानूनों की भाँति हमारे देश का राजनैतिक जीवन भी मुख्यतः धर्म द्वारा ही शासित होता है। लगभग सभी राजनैतिक दल चुनावों में मत प्राप्त करने के लिए किसी न किसी रूप में धर्म का सहारा लेते हैं। चुनाव लड़ने के लिए अधिकतर मामलों में धर्म के आधार पर प्रत्याशियों का निर्णय किया जाता है और फिर ये प्रत्याशी भी प्रायः मतदाताओं से धर्म के नाम पर मत देंने का अनुरोध करते हैं। बहुत से मतदाता भी अपना मत देते समय प्रत्याशियों के धर्म का ध्यान रखते हैं। इस प्रकार संसद तथा विधान सभाओं के चुनावों में धर्म की बहुत महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका रहती है। सत्ता प्राप्त करने के पश्चात अधिकतर मंत्री, प्रशासक तथा राजनीतिज्ञ धार्मिक समारोहों में प्रायः सक्रिय भाग लेते हैं। विरोधी दलों के राजनीतिज्ञों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। हमारे देश में अनेक राजनैतिक दल ऐसे हैं जिनका निर्माण ही धर्म के आधार पर हुआ है और जो धर्म के बिना राजनीति की कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसे दलों के लिए धर्म तथा राजनीति परस्पर अनिवार्यतः संबद्ध हैं। वे अपने स्वार्थपूर्ण राजनैतिक उद्देश्यों के लिए उपासना-स्थलों का खुलकर प्रयोग करते हैं। उनके लिए धर्म राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने का अनिवार्य साधन है। इन सभी तथ्यों से भारत की राजनीति पर धर्म का व्यापक वर्चस्व पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' कहना वस्तुतः आत्म-प्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

अंत में यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि भारत के संपूर्ण सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर भी धर्म का बहुत गहरा और व्यापक प्रभुत्व है। यहाँ जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मुख्यतः धार्मिक संस्कारों, कर्मकांड तथा विश्वासों द्वारा ही शासित होता है। मनुष्य के जन्म, नामकरण, शिक्षारभ, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण अवसरों पर धर्म के प्रभुत्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शैशव-काल से ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के सभी सिद्धांतों तथा विश्वासों में अटूट निष्ठा रखने और उन्हीं के अनुसार आचरण करने की बार-बार निरंतर शिक्षा दी जाती है। यही कारण है कि वयस्क होने पर धर्म उसके जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है और वह उसके प्रभाव से मुक्त होने की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। वह अपने धर्म के समस्त विश्वासों और सिद्धांतों को बिना किसी प्रमाण के अनायास ही सहर्ष स्वीकार कर लेता है। उसके जीवन में धर्म का ठीक वही स्थान बन जाता है जो किसी भी प्राणी के जीवन में ऑक्सीजन या प्राण-वायु का होता है। जितने अधिक उपासना-स्थल हमारे देश में हैं उतने शायद ही संसार के किसी अन्य देश में होंगे। हम शिक्षा-संस्थाओं की अपेक्षा इन उपासना-स्थलों को कहीं अधिक महत्त्व देते हैं।

इसी प्रकार हमारे देश की संस्कृति और कला पर भी धर्म का पूर्ण प्रभुत्व है। यहाँ समस्त ललित कलाओं पर धर्म का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। भारत के सभी सांस्कृतिक तथा सामाजिक उत्सव मूलतः धार्मिक उत्सव हैं जिन में भाग लेना मनुष्य का

अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि हमारा संपूर्ण सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन धर्म के नियंत्रण में है जिसके अभाव में हम अपने इस जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि हमारे देश की शिक्षा, राजनीति और उसके क़ानूनों पर धर्म का इतना अधिक प्रभाव दिखाई देता है। आखिर राष्ट्र समाज से अलग कोई अमूर्त वस्तु न होकर उसका अभिन्न अंग ही तो है, अतः किसी भी राष्ट्र का स्वरूप अनिर्वायतः उसके समाज के अनरूप ही होता है। जब भारत का संपूर्ण समाज अत्यंत धर्मपरायण है तो उससे धर्मनिरपेक्ष होने की आशा कैसे की जा सकती है? वस्तुतः भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' कहना उसके संपूर्ण धर्मनिष्ठ जन-जीवन की पूर्णतः उपेक्षा करना है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर हम तर्कसंगत रूप से यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वास्तव में भारत न तो धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है और न ही निकट भविष्य में उसके धर्मनिरपेक्ष होने की कोई संभावना दिखाई देती है, अतः कुछ विचारकों द्वारा उसे धर्मनिरपेक्ष मानने का दावा भ्रामक ही प्रतीत होता है।

परिशिष्ट 2

धर्म-परिवर्तन—कुछ समस्याएँ और समाधान

1. धर्म-परिवर्तन का अर्थ

सामान्य व्यक्ति के लिए 'धर्म-परिवर्तन' एक ऐसा सुपरिचित शब्द है जिसका अर्थ समझने में वह प्रायः किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करता। परंतु यदि हम दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस शब्द पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसका अर्थ उतना सरल नहीं है जितना यह जनसाधारण को प्रतीत होता है। वस्तुतः धर्म-परिवर्तन के साथ ऐसी अनेक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ जुड़ी हुई हैं जो विचारक के लिए इसे एक जटिल तथा बहु-आयामी अवधारणा बना देती हैं। जब वह धर्म-परिवर्तन के अर्थ या स्वरूप पर विचार करता है तो उसके समक्ष अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं जिनका समुचित उत्तर खोजना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, धर्म-परिवर्तन के संबंध में निम्नलिखित प्रश्न प्रायः उठाए जाते हैं—धर्म-परिवर्तन का ठीक-ठीक अर्थ अथवा स्वरूप क्या है ? क्या कोई व्यक्ति या समुदाय सदा स्वेच्छया धर्म-परिवर्तन करता है अथवा क्या उसे इसके लिए प्रेरित या बाध्य किया जाता है ? वे कौन-से कारण हैं जो किसी व्यक्ति या समुदाय को धर्म-परिवर्तन के लिए प्रेरित अथवा बाध्य करते हैं ? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है और इसमें किस प्रकार की मानसिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं ? क्या कोई व्यक्ति अथवा समुदाय धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप सचमुच अधिक सुखी तथा संतुष्ट हो जाता है ? क्या व्यावहारिक दृष्टि से वास्तविक अर्थ में धर्म-परिवर्तन संभव है ? क्या नैतिक दृष्टि से धर्म-परिवर्तन का समर्थन किया जा सकता है ? प्रस्तुत परिशिष्ट में धर्म-परिवर्तन से संबंधित इन सभी तथा ऐसे ही कुछ अन्य प्रश्नों पर संक्षेप में विचार किया जाएगा।

जैसा कि 'धर्म-परिवर्तन' शब्द से स्पष्ट है, **सामान्यतः इसका अर्थ है अपने धर्म में परिवर्तन करना—अर्थात्, अभी तक स्वीकृत अपने धर्म का परित्याग करके किसी अन्य धर्म को स्वीकार कर लेना। जब कोई व्यक्ति या समुदाय अपने पूर्वस्वीकृत धार्मिक मत अथवा धर्म को छोड़ कर किसी भी कारण से दूसरे धार्मिक मत या धर्म को स्वीकार कर लेता है तो उसकी इस क्रिया को 'धर्म-परिवर्तन' की संज्ञा दी जाती है। इसे ही 'धर्मांतरण' भी कहा जाता है जिससे धर्म के अंतर का बोध होता है।** जो व्यक्ति अथवा समुदाय इस प्रकार अपने धर्म में परिवर्तन करता है उसे 'धर्मांतरित व्यक्ति' या 'धर्मांतरित समुदाय' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस धर्म-परिवर्तन अथवा धर्मांतरण के लिए एक से अधिक धर्मों का होना आवश्यक माना जाता है, क्योंकि अनेक धर्मों के होने पर ही कोई व्यक्ति या समुदाय एक धर्म का परित्याग करके किसी दूसरे धर्म को ग्रहण कर सकता है।

परंतु कुछ विचारक 'धर्म-परिवर्तन' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त सामान्य अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में भी करते हैं। इस व्यापक अर्थ में धर्म-परिवर्तन के ऊपर बताए गए अर्थ में अतिरिक्त अन्य दो अर्थ भी समाविष्ट किए जाते हैं—(1) एक ही धर्म में किसी एक मत या संप्रदाय को छोड़कर दूसरे मत अथवा संप्रदाय को स्वीकार करना और (2) अपने धर्म का

परित्याग करके किसी अन्य धर्म को ग्रहण करने के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेना। इन दोनों स्थितियों के लिए भी 'धर्म-परिवर्तन' अथवा 'धर्मांतरण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि धर्मांतरण एक धर्म के स्थान पर दूसरे धर्म को ग्रहण करने तक ही सीमित नहीं है; एक ही धर्म में मत या संप्रदाय का परिवर्तन तथा धार्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण की स्वीकृति भी इसमें सम्मिलित हैं। इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन को ध्यान में रखते हुए हम धर्म-परिवर्तन की निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं: **जब कोई व्यक्ति या समुदाय अपने पूर्वमान्य धर्म अथवा धार्मिक मत को छोड़ कर किसी अन्य धर्म, धार्मिक मत या धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेता है तो हम उसके इस कार्य को 'धर्म-परिवर्तन' अथवा 'धर्मांतरण' की संज्ञा दे सकते हैं।**

धर्म-परिवर्तन के अर्थ के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसे कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जब कोई हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध अथवा मुसलमान हिंदू हो जाता है तो इन व्यक्तियों के जीवन में हुए इस परिवर्तन को 'धर्म-परिवर्तन' अथवा 'धर्मांतरण' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार जब कोई सनातनी हिंदू, आर्यसमाजी, कैथालिक प्रोटैस्टैंट तथा शिया सुन्नी हो जाता है तो उनके इस परिवर्तन को भी 'धर्म-परिवर्तन' ही कहा जाता है, किंतु मेरे विचार में इसे 'मत-परिवर्तन' या 'मतांतरण' कहना अधिक तर्कसंगत होगा। कभी-कभी कोई धर्म-परायण व्यक्ति अपने धर्म का परित्याग करके किसी अन्य धर्म को ग्रहण करने के स्थान पर अपने जीवन में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेता है—अर्थात्, वह किसी भी धर्म में विश्वास नहीं करता। उसके जीवन में हुए इस परिवर्तन को भी 'धर्म-परिवर्तन' की संज्ञा ही दी जाती है, परंतु इस स्थिति को 'धर्म-निवृत्ति' कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण ही वास्तविक अर्थ में धर्म-परिवर्तन का उचित उदाहरण है; शेष दो उदाहरणों को शिथिल अथवा अति व्यापक अर्थ में ही धर्म-परिवर्तन के उदाहरण माना जा सकता है। अभी तक उपलब्ध धर्म-परिवर्तन के ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। सभी धर्मों में मनुष्य द्वारा एक धर्म को छोड़ कर किसी दूसरे धर्म को ग्रहण करना ही धर्म-परिवर्तन या धर्मांतरण माना जाता है। ऊपर धर्म-परिवर्तन के जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे इसके स्वरूप और क्षेत्र को भलीभाँति समझा जा सकता है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वेच्छया धर्म-परिवर्तन के लिए मनुष्य को समाज तथा राज्य द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान किया जाना आवश्यक है। इस स्वतंत्रता के अभाव में कोई भी व्यक्ति या समुदाय अपनी इच्छा से धर्म-परिंवर्तन नहीं कर सकता। हाँ, इसके लिए उसे बाध्य अवश्य किया जा सकता है।

धर्म-परिवर्तन संबंधी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस के मुख्य दो रूप हो सकते हैं—स्वेच्छया धर्म-परिवर्तन तथा बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन। इन्हें क्रमशः 'ऐच्छिक धर्म-परिवर्तन' और 'अनैच्छिक धर्म-परिवर्तन' भी कहा जा सकता है। सभी प्रमुख धर्मों के इतिहास में धर्म-परिवर्तन के ये दोनों रूप उपलब्ध होते हैं। इन दोनों रूपों में मूलभूत भिन्नता होने के कारण इन की प्रक्रिया तथा इनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जब कोई व्यक्ति भलीभाँति सोच-समझ कर अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन करता है तो इस क्रिया में उसे कोई

विशेष मानसिक कठिनाई नहीं होती। हाँ, उसे पूर्वमान्य ऐसे संस्कारों से मुक्त होने में कुछ समय लग सकता है और इसके लिए उसे कुछ प्रयास भी करना पड़ सकता है जो नए धर्म में स्वीकृत संस्कारों से मूलतः भिन्न थे। इस प्रक्रिया की पूर्ति में उसे कुछ मानसिक कठिनाई भी हो सकती है। परंतु इसमें सफल होने पर ऐसे व्यक्ति को अंततः पर्याप्त मानसिक संतोष भी प्राप्त हो सकता है जिसके फलस्वरूप वह अपने आपको अधिक सुखी अनुभव कर सकता है। इस दृष्टि से स्वेच्छया धर्म-परिवर्तन को कुछ सीमा तक वांछनीय माना जा सकता है।

परंतु जो धर्म-परिवर्तन व्यक्ति की अपनी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक कराया जाता है उसकी स्थिति स्वेच्छया किए गए धर्म-परिवर्तन के ठीक विपरीत होती है। ऐसे धर्म-परिवर्तन के लिए व्यक्ति मानसिक दृष्टि से न उद्यत होता है और न इच्छुक, अतः इसके कारण उसे प्रायः घोर मानसिक कष्ट भोगना पड़ता है। वस्तुतः मनुष्य इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन को स्वेच्छया अपने जीवन में कभी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह उस पर बाहर से बलपूर्वक थोपा जाता है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया भी धर्मांतरित व्यक्ति के लिए बड़ी दुखद होती है। इसके लिए उसे प्रायः भयंकर दुष्परिणाम भोगने की धमकी दी जाती है जिसमें उसकी हत्या भी सम्मिलित है। कभी-कभी व्यक्ति को प्रलोभन या लालच देकर भी ऐसा धर्म-परिवर्तन कराया जाता है। इस्लाम तथा ईसाई धर्म के इतिहास में ऐसे बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन के बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। संभवतः यह कहना अनुचित न होगा कि विश्व में इन दोनों धर्मों का विस्तार इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन द्वारा हुआ है। परंतु यह स्पष्ट है कि लालच देकर अथवा बलपूर्वक कराए गए ऐसे धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्य को कभी भी वास्तविक सुख, संतोष और शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि ऐसे धर्म-परिवर्तन को नैतिक दृष्टि से अनुचित एवं अवांछनीय ही कहा जा सकता है। इसके अनौचित्य की विस्तृत विवेचना हम प्रस्तुत परिशिष्ट के अंतिम खंड में करेंगे।

ऊपर धर्म-परिवर्तन के जिन दो रूपों का उल्लेख किया गया है उनके लिए अनेक विधियों अथवा उपायों का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से अपने वर्तमान धर्म को छोड़कर किसी अन्य धर्म को स्वीकार कर लेता है। यदि इसके लिए कोई बाह्य कारण नहीं है तो यह धर्म-परिवर्तन वह नए धर्म में अधिक आध्यात्मिक शांति प्राप्त करने के लिए ही करता है। परंतु इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन के उदाहरण अपेक्षाकृत बहुत कम ही होते हैं। प्रायः ऐच्छिक धर्म-परिवर्तन भी बाह्य कारणों से प्रेरित होकर किया जाता है। ये कारण सामाजिक भी हो सकते हैं और आर्थिक भी। उदाहरणार्थ, अपने धार्मिक समाज में यदि कोई व्यक्ति या समुदाय अपने आप को निरंतर तिरस्कृत तथा शोषित अनुभव करता है तो वह तिरस्कार एवं शोषण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए कोई ऐसा नया धर्म स्वीकार कर सकता है जो उसे ऐसी मुक्ति का आश्वासन देता हो। 'अछूत' या 'हरिजन' कहे जाने वाले बहुत-से हिंदुओं ने इसी कारण ईसाई धर्म, इस्लाम अथवा बौद्ध धर्म को स्वीकार किया है। इसी प्रकार आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने के लिए भी कोई निर्धन व्यक्ति अथवा समुदाय धर्म-परिवर्तन कर सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने धन और भौतिक समृद्धि का प्रलोभन देकर अन्य धर्मों के लाखों निर्धन व्यक्तियों को ईसाई बनाया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन ऐच्छिक होते हुए भी वास्तव में बाह्य कारणों से

प्रेरित होते रहे हैं। ऐसे धर्म-परिवर्तनों के लिए बल-प्रयोग के स्थान पर प्रायः प्रेरक विधियों अथवा उपायों का प्रयोग किया जाता रहा है। विश्व में ईसाई धर्म का प्रचार और विस्तार ऐसे ही प्रेरक उपायों द्वारा हुआ है।

परंतु, जैसा कि ऊपर बताया गया है, धर्म-परिवर्तन सदा ऐच्छिक ही नहीं रहा है। यह एक दुखद ऐतिहासिक तथ्य है कि कुछ धर्मों—विशेषतः इस्लाम—के प्रचारकों ने धर्म-परिवर्तन के लिए बल-प्रयोग का भी सहारा लिया है। उन्होंने अन्य धर्मों के अनुयायियों को हत्या सहित सभी प्रकार की धमकियों द्वारा धर्म-परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया है। स्पष्ट है कि ऐसे अनैच्छिक धर्म-परिवर्तन के लिए प्रेरक विधियों के स्थान पर अनैतिक तथा निंदनीय उपायों का प्रयोग किया जाता रहा है जिन में सभी प्रकार का बल-प्रयोग सम्मिलित है। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बलात् कराया गया इस प्रकार का धर्म-परिवर्तन नैतिक दृष्टि से नितांत अनुचित एवं निंदनीय है और कोई भी विचारशील व्यक्ति तर्कसंगत रूप से इसका समर्थन नहीं कर सकता।

2. धर्म-परिवर्तन के मुख्य कारण

धर्म-परिवर्तन अथवा धर्मांतरण के अर्थ या स्वरूप की विवेचना करने के पश्चात अब संक्षेप में इसके कुछ प्रमुख कारणों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि किसी भी धर्मपरायण व्यक्ति के लिए धर्म-परिवर्तन उसके जीवन में एक बहुत बड़ी और क्रांतिकारी घटना है, अतः वह इसके लिए तभी उद्यत होता है जब उसके समक्ष इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न हो। जो व्यक्ति अपने ही धर्म में पूर्णतः संतुष्ट है और जिसे अपने धर्म का परित्याग करने के लिए किसी भी रूप में प्रेरित या बाध्य नहीं किया जा रहा है वह अपना धर्म-परिवर्तन करने के विषय में विचार भी नहीं करता। इसका अर्थ यही है कि सामान्य परिस्थितियों में धर्मपरायण व्यक्ति धर्म-परिवर्तन को न तो उचित मानता है और न वह इसके लिए तैयार होता है। स्पष्ट है कि मनुष्य असामान्य परिस्थितियों में कुछ विशेष कारणों से प्रेरित अथवा बाध्य होकर ही धर्म-परिवर्तन करता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है कि धर्म-परिवर्तन के ये विशेष कारण क्या हैं। इस प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिए धर्म-परिवर्तन के कारणों को मुख्य चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक। यहाँ हम इन सभी कारणों की क्रमशः संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

(1) जैसा कि हम पिछले खंड में संकेत कर चुके हैं, कभी-कभी मनुष्य स्वयं अपने धर्म से असंतुष्ट हो जाता है। उसे अपने धर्म के सिद्धांत तथा विश्वास अनुचित और असतोषप्रद प्रतीत होने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह एक प्रकार की मानसिक अशांति का अनुभव करने लगता है और उसे अपने धर्म से विरक्ति हो जाती है। यह स्थिति उस व्यक्ति के जीवन में आ सकती है जिसने अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया हो और उन्हें भलीभाँति समझा हो। ऐसा व्यक्ति अपने धर्म के साथ किसी अन्य धर्म की तुलना करते हुए उसे अपने जीवन के लिए अधिक श्रेयस्कर मान सकता है और तब वह बिना किसी बाह्य कारण के अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन के

लिए मनुष्य का अपना मन ही उसे अभिप्रेरित करता है, कोई बाह्य तत्त्व नहीं। स्पष्ट है कि ऐसे धर्म-परिवर्तन का मूल कारण मनोवैज्ञानिक ही होता है—अर्थात्, वह उसके अपने मन में ही निहित रहता है। कभी कभी कुछ व्यक्ति ऐसे मनोवैज्ञानिक कारण से अभिप्रेरित होकर धर्म-परिवर्तन करते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें अपने पूर्वमान्य धर्म की अपेक्षा नए धर्म में अधिक मानसिक संतोष तथा आध्यात्मिक शांति का अनुभव होता है। उन्हें इस ऐच्छिक धर्म-परिवर्तन के कारण कोई कष्ट नहीं होता। परंतु, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, मनोवैज्ञानिक कारणों से अभिप्रेरित इस प्रकार का धर्म-परिवर्तन बहुत कम होता है। अधिकतर मामलों में यही देखा गया है कि मनुष्य कुछ विशेष बाह्य कारणों से अभिप्रेरित या बाध्य होकर ही धर्म-परिवर्तन करता है। ये बाह्य कारण प्रायः सांस्कृतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक होते हैं जो वास्तव में धर्म-परिवर्तन के प्रमुख कारण हैं।

(2) धर्म-परिवर्तन के उपर्युक्त बाह्य कारणों के संबंध में सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि जो व्यक्ति अपनी संस्कृति तथा अपने धर्म के मूल सिद्धांतों और विश्वासों से अनभिज्ञ है वह धर्म-परिवर्तन के लिए अपेक्षाकृत अधिक सरलता से उद्यत हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने धर्म की महानता और उत्कृष्टता को नहीं जानता, अतः वह अन्य धर्मों की तुलना में उसकी श्रेष्ठता को भी नहीं समझ पाता। वह केवल परंपरा के कारण ही अपने धर्म के बाह्य कर्मकांड का यंत्रवत पालन करता है। ऐसी स्थिति में किसी अन्य धर्म के प्रचारक द्वारा थोड़ा-सा भी प्रोत्साहित और प्रेरित किए जाने पर वह सरलतापूर्वक धर्म-परिवर्तन के लिए सहमत हो सकता है। उदाहरणार्थ, हमारे हिंदू धर्म में अपने धर्म के मूल दर्शन से अनभिज्ञ व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जिसके कारण अन्य धर्मों के प्रचारकों को उनका धर्म-परिवर्तन कराने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। हिंदू धर्म से संबंधित देवी-देवताओं तथा महा पुरुषों की निंदा और उनका उपहास करके इन धर्म-प्रचारकों ने बहुत-से हिंदुओं को अपना धर्म छोड़ कर अन्य धर्मों को स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया है जिसमें उन्हें मनोवांछित सफलता भी मिली है। इससे स्पष्ट है कि समुचित धार्मिक एवं सांस्कृतिक ज्ञान का अभाव भी धर्म-परिवर्तन में बहुत सहायक सिद्ध होता है। इस ज्ञान के अभाव के कारण व्यक्ति अपने धर्म के विरुद्ध अन्य धर्मों के प्रचारकों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता और स्वयं अपने धर्म को हीन तथा निकृष्ट समझ कर अन्य धर्म को स्वीकार करने के लिए शीघ्र ही उद्यत हो जाता है। इस प्रकार अपने धर्म के मूल सिद्धांतों विश्वासों तथा उसकी दार्शनिक मान्यताओं के विषय में समुचित ज्ञान का अभाव धर्म-परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है।

(3) परंतु उपर्युक्त दोनों कारणों की अपेक्षा सामाजिक और आर्थिक कारणों ने धर्म-परिवर्तन में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इन कारणों की संक्षिप्त चर्चा हम, पिछले खंड में कर चुके हैं, किंतु यहाँ इन पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज में सुखमय तथा सम्मानित जीवन व्यतीत करना चाहता है। उसकी इच्छा होती है कि अन्य सदस्यों की भाँति समाज में उसका भी उचित महत्त्व हो और सभी क्षेत्रों में उसे भी दूसरों के समान अधिकार प्राप्त हों। जब समाज के कुछ रीति-रिवाज, क़ानून तथा नियम व्यक्ति की इस स्वाभाविक इच्छा में बाधक सिद्ध होते हैं तो उसे अत्यधिक निराशा

होती है और वह अपने आपको अन्य सदस्यों की तुलना में बहुत निकृष्ट समझने लगता है। इस निराशा और आत्महीनता के फलस्वरूप अपने समाज के प्रति उसकी आस्था एवं प्रतिबद्धता लगभग समाप्त हो जाती है। जब धर्म भी समाज के इन अन्यायपूर्ण रीति-रिवाजों, नियमों और क़ानूनों का समर्थन करता है तो स्वभावतः व्यक्ति स्वयं अपने धर्म का भी घोर विरोधी हो जाता है। अपना धर्म उसे व्यर्थ ही नहीं, अपितु अपनी प्रगति में अत्यधिक बाधक भी प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने धर्म का परित्याग करके किसी ऐसे अन्य धर्म को स्वीकार करने के लिए सहर्ष उद्यत हो जाता है जो उसे समान अधिकारों, सुखी तथा सम्मानित जीवन का आश्वासन देता हो। किसी अन्य धर्म के प्रचारक द्वारा थोड़ा-सा प्रोत्साहित किए जाने पर भी वह तुरंत धर्म-परिवर्तन के लिए सहमत हो जाता है। हमारा हिंदू-समाज इस प्रकार के धर्म-परिवर्तन का ज्वलंत उदाहरण है। जैसा कि पहले संकेत किया गया है, हमारे समाज में अस्पृश्यता, ऊँच-नीच के भेद तथा कुछ वर्गों द्वारा अन्य वर्गों के अपमानजनक शोषण के कारण लाखों व्यक्तियों ने धर्म-परिवर्तन किया है। यह सत्य है कि उनके इस धर्म-परिवर्तन को ऐच्छिक ही माना जाएगा, किंतु इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त सामाजिक कारणों का इसमें बहुत बड़ा योगदान रहा है। इन सामाजिक कारणों के अतिरिक्त कभी-कभी दो विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों में पारस्परिक प्रेम के फलस्वरूप विवाह के लिए भी धर्म-परिवर्तन किया जाता है, परंतु ऐसे धर्म-परिवर्तन के उदाहरण अधिक नहीं हैं। इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि ऊपर जिन सामाजिक कारणों का उल्लेख किया गया है धर्म-परिवर्तन में उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

(4) अब अंत में धर्म-परिवर्तन के आर्थिक कारणों पर भी विचार करना आवश्यक है जिन का अन्य सभी कारणों की अपेक्षा धर्म-परिवर्तन के लिए कहीं अधिक महत्त्व रहा है। यह सर्वविदित तथ्य है कि आधुनिक युग में जीवन की समस्त सुख-सुविधाएँ, भौतिक समृद्धि, यश और सम्मान मनुष्य की आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर है। जो मनुष्य निर्धन है उसे इनमें से कुछ भी प्राप्त नहीं हो पाता। यही कारण है कि समृद्ध देशों के धनवान धर्म-प्रचारकों को उन व्यक्तियों का धर्म-परिवर्तन कराने में सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है जिनके जीवन में आर्थिक अभाव है और जिन्हें आर्थिक समृद्धि का प्रलोभन देकर सरलतापूर्वक खरीदा जा सकता है। संसार के अधिकतर देशों में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत बड़ी है जो घोर दरिद्रता एवं बेरोज़गारी से पीड़ित हैं और जिन का कुछ थोड़े-से पूँजीपतियों द्वारा शोषण किया जा रहा है। ये व्यक्ति धर्म-प्रचारकों द्वारा आर्थिक समृद्धि, शिक्षा तथा रोज़गार का आश्वासन पाकर धर्म-परिवर्तन के लिए प्रायः तुरंत सहमत हो जाते हैं। इसीं कारण समृद्ध देशों के धनवान ईसाई धर्म-प्रचारकों को संसार के निर्धन देशों के लाखों नागरिकों का धर्म-परिवर्तन कराने में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। एशिया और अफ्रीका के निर्धन देशों में ईसाई धर्म का व्यापक प्रसार इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है। इन देशों में ईसाई धर्म के प्रचारकों ने उच्च शिक्षा, समुचित रोज़गार तथा भौतिक समृद्धि का प्रलोभन देकर लाखों नागरिकों को ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया है और इसमें उन्हें पर्याप्त सीमा तक सफलता भी मिली है।

धर्म-परिवर्तन के इस कार्य में समृद्ध देशों की उन पूँजीवादी सरकारों ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है जिन्होंने अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर संसार में सर्वत्र

बड़े-बड़े उपनिवेश स्थापित कर लिए थे। इन भूतपूर्व उपनिवेशों में जो बहुत बड़ी संख्या ईसाइयों की है उनमें से अधिकतर वस्तुतः धर्मांतरित ही हैं। उन्हें आर्थिक समृद्धि का आश्वासन देकर ईसाई धर्म को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया गया था। ईसाई धर्म के अतिरिक्त कुछ अन्य धर्मों के अनुयायियों ने भी अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने के लिए इसी उपाय का प्रयोग किया है। आज भी सारे संसार में शोषित एवं निर्धन व्यक्तियों को शिक्षा, रोज़गार, तथा आर्थिक समृद्धि का प्रलोभन देकर उन्हें अपना धर्म-परिवर्तन करने के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित किया जा रहा है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि ये आर्थिक कारण धर्म-परिवर्तन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण हैं। **इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अधिकतर व्यक्ति प्रायः मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से अभिप्रेरित होकर धर्म-परिवर्तन करते हैं, अतः इस दृष्टि से इन सभी कारणों का बहुत महत्त्व है।**

3. धर्म-परिवर्तन का औचित्य

इस परिशिष्ट को समाप्त करने से पूर्व यहाँ इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि धर्म-परिवर्तन सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से कहाँ तक उचित और वांछनीय है। वस्तुतः धर्म-परिवर्तन संबंधी इस विषय का इतना अधिक महत्त्व है कि समाजशास्त्री, इतिहासज्ञ, मनोविज्ञानवेत्ता आदि सभी अपने-अपने ढंग से इस विषय पर विचार करते रहे हैं, परंतु उनकी विवेचना मूल्यात्मक न होकर इस विषय के वर्णनात्मक पक्षों तक ही सीमित रही है। उदाहरणार्थ, समाजशास्त्री धर्म-परिवर्तन के सामाजिक कारणों तथा उन सामाजिक परिस्थितियों पर विचार करता है जिनके अंतर्गत यह धर्म-परिवर्तन किया अथवा कराया जाता है। वह धर्म-परिवर्तन करने और कराने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सामाजिक संबंधों तथा उन सामाजिक संस्थाओं पर भी विचार करता है जो इसमें किसी भी रूप में सहायक सिद्ध होती हैं। इन बातों के अतिरिक्त समाजशास्त्री उस धर्म के अनुयायियों के स्वभाव की मूल विशेषताओं का भी विवचेन करता है जिसे स्वीकार करने के लिए अन्य धर्मानुयायियों को अभिप्रेरित किया जाता है। वह धर्म-परिवर्तन की विधियों, उसके सांस्कृतिक प्रभाव तथा उसमें सहायक या बाधक तत्त्वों की भी विवेचना करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्री का मुख्य उद्देश्य धर्म-परिवर्तन संबंधी सभी प्रमुख सामाजिक पक्षों पर तथ्यात्मक दृष्टि से विचार करना ही होता है।

परंतु इस संबंध में इतिहासज्ञ का दृष्टिकोण समाजशास्त्री के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न होता है। इतिहासज्ञ भूतकाल में हुए धर्म-परिवर्तन से संबंधित वास्तविक आँकड़ों और विशेष तथ्यों को एकत्र करता है। वह इस बात का अध्ययन करता है कि अतीत में किन व्यक्तियों अथवा समुदायों ने किस प्रकार तथा क्यों धर्म-परिवर्तन किया और उन्होंने किस धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार दृष्टिकोण की भिन्नता होते हुए भी समाजशास्त्री की भाँति इतिहासज्ञ भी धर्म-परिवर्तन की समस्या पर तथ्यात्मक दृष्टि से ही विचार करता है।

परंतु धर्म-परिवर्तन के विषय में मनोविज्ञानवेत्ता का दृष्टिकोण इन दोनों के दृष्टिकोण से

भिन्न होता है। मनोविज्ञानवेत्ता धर्म-परिवर्तन के मानसिक पक्ष की विवेचना करता है। वह इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करता है कि धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप धर्मांतरित व्यक्तियों के विचारों, संवेगों तथा कार्यों में क्या अंतर आता है। वह इस प्रश्न पर भी विचार करता है कि धर्म-परिवर्तन करते समय व्यक्ति को किस प्रकार की मानसिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है–अर्थात् उसके मन में किस प्रकार का भय, अपराध-बोध, नैराश्य, आतंक अथवा संघर्ष उत्पन्न होता है। वस्तुतः मनोविज्ञानवेत्ता के लिए धर्म-परिवर्तन के कारण मनुष्य में उत्पन्न इन मानसिक प्रतिक्रियाओं का विशेष महत्त्व है। परंतु वह इन मानसिक प्रतिक्रियाओं का केवल तथ्यपरक अध्ययन करता है, अतः समाजशास्त्री तथा इतिहासज्ञ की भाँति धर्म-परिवर्तन के संबंध में उसका दृष्टिकोण भी तथ्यात्मक ही होता है। इन तीनों में से कोई भी नैतिक दृष्टि से धर्म-परिवर्तन का मूल्यांकन या उसके औचित्य पर विचार नहीं करता। वस्तुतः यह कार्य दार्शनिक का है जो धर्म-परिवर्तन की समस्या पर नैतिक दृष्टि से विचार करता है।

यदि नैतिक दृष्टि से धर्म-परिवर्तन के औचित्य पर विचार किया जाए तो यही कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति या समुदाय को अपना धर्म-परिवर्तन करने के लिए किसी भी रूप में अभिप्रेरित अथवा बाध्य करना उचित और वांछनीय नहीं है। इसका प्रथम कारण यह है कि धर्म एक व्यक्तिगत मामला है जिसके विषय में प्रत्येक व्यक्ति को समुचित स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। उसे समाज द्वारा यह स्वतंत्रता अवश्य दी जानी चाहिए कि वह जिस धर्म में विश्वास करना चाहे उसमें विश्वास करे अथवा किसी भी धर्म को स्वीकार न करके धर्मनिरपेक्ष जीवन व्यतीत करे। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी व्यक्ति को धर्म-परिवर्तन करने के लिए अभिप्रेरित या बाध्य करना उसकी उक्त धार्मिक स्वतंत्रता में बहुत बड़ी बाधा डालना है जो नैतिक दृष्टि से निश्चय ही अनुचित है।

धर्म-परिवर्तन को अनुचित तथा अवांछनीय मानने का दूसरा कारण यह है कि इसके फलस्वरूप मनुष्य के सामान्य और स्वाभाविक जीवन में बहुत बड़ी उथल-पुथल उत्पन्न हो जाती है। जो व्यक्ति अपने जन्म से अब तक विशेष प्रकार के धार्मिक कर्मकांड, रीति-रिवाजों, नियमों तथा परंपराओं का निष्ठापूर्वक पालन करता रहा है उससे यह कहा जाता है कि वह धर्म-परिवर्तन के पश्चात इन सबको छोड़ कर इनसे पूर्णतः भिन्न धार्मिक कर्मकांड, रीति-रिवाज़ों, नियमों का पालन करे। इसके लिए उसे नए धर्म के अनुयायियों द्वारा प्रायः प्रेरित या बाध्य भी किया जाता है। यह समझना कठिन नहीं है कि इससे धर्मांतरित व्यक्ति के मन में तीव्र संघर्ष उत्पन्न होता है जो उसके जीवन को अत्यधिक अशांत बना देता है। इसके परिणामस्वरूप वह मानसिक दृष्टि से असामान्य तथा अस्वस्थ हो जाता है और नए धार्मिक समाज में अपने आपको भलीभाँति समायोजित नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी धर्म-परिवर्तन धर्मांतरित व्यक्ति के लिए उचित और वांछनीय नहीं है।

परंतु धर्म-परिवर्तन केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु सामाजिक दृष्टि से भी अनुचित एवं हानिकारक है। इसका कारण यह है कि धर्म-परिवर्तन–विशेषतः बलपूर्वक कराए गए धर्म-परिवर्तन–के फलस्वरूप समाज में व्यापक संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। जिस धर्म के अनुयायियों का धर्म-परिवर्तन कराया जाता है उसके अन्य अनुयायियों की भावनाओं को इससे आघात पहुँचता है, अतः वे उस धर्म के विरोधी हो जाते हैं जिसके प्रचारकों ने बलपूर्वक

यह धर्म-परिवर्तन कराया है। यही बात ऐसे धर्म-परिवर्तन के विषय में भी कही जा सकती है जो भौतिक समृद्धि का प्रलोभन अथवा आश्वासन देकर कराया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म-परिवर्तन के कारण विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में कटु संघर्ष उत्पन्न होने की प्रबल संभावना है; ऐसी स्थिति में सामाजिक दृष्टि से भी धर्म-परिवर्तन को अनुचित और अवांछनीय ही माना जा सकता है।

उपर्युक्त सभी आपत्तियों के अतिरिक्त धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध नैतिक दृष्टि से एक अन्य आपत्ति भी उठाई जा सकती है जो संभवतः अन्य सभी आपत्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर है। वह आपत्ति यह है कि धर्म-परिवर्तन कराने वाले धर्म-प्रचारक अपने धर्म की तुलना में अन्य सभी धर्मों को हीन तथा निकृष्ट समझते हैं। वे निश्चित रूप से यह मानते हैं कि संपूर्ण विश्व में उन्हीं का धर्म सर्वश्रेष्ठ है, अतः अन्य सभी धर्मावलंबियों को उनका धर्म ही स्वीकार कर लेना चाहिए। अपनी इसी दंभपूर्ण मान्यता के कारण वे दूसरे धर्मों के अनुयायियों को अनुचित उपायों द्वारा अपने धर्म में दीक्षित करने का निरंतर प्रयास करते रहते हैं। परंतु उनका यह प्रयास नैतिक दृष्टि से निश्चय ही अनुचित और निंदनीय है, क्योंकि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, यह मनुष्य की धार्मिक स्वतंत्रता का पूर्णतः निषेध करता है।

इसके अतिरिक्त धर्म-परिवर्तन का विचार उस मूल सिद्धांत के भी विरुद्ध है जिसे गाँधी जी ने 'सर्व-धर्म-समभाव' की संज्ञा दी है और जो सभी धर्मों की समान श्रेष्ठता को स्वीकार करता है। इस सिद्धांत के अनुसार सभी धर्म समान रूप से उत्कृष्ट हैं, अतः हमें अपने धर्म के साथ-साथ अन्य सब धर्मों का भी आदर करना चाहिए। सर्व-धर्म-समभाव के इसी सिद्धांत में विश्वास करने के कारण गाँधी जी प्रायः यह कहा करते थे कि अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है। वे यह मानते थे कि एक हिंदू को अच्छा हिंदू, मुसलमान को अच्छा मुसलमान, ईसाई को अच्छा ईसाई और पारसी को अच्छा पारसी होना चाहिए। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य को अन्य धर्मों का आदर करते हुए भी स्वयं अपने धर्म का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। गाँधी जी के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि वे किसी भी रूप में धर्म-परिवर्तन का समर्थन नहीं करते। इतना ही नहीं, वे धर्म-परिवर्तन को अनुचित और निंदनीय भी मानते हैं। इसका कारण यह है कि धर्म-परिवर्तन का विचार सर्व-धर्म-समभाव के सिद्धांत के विरुद्ध है। इस सिद्धांत का निषेध करते हुए धर्म-परिवर्तन के समर्थक यह मानते हैं कि एक धर्म किसी अन्य धर्म की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट या निकृष्ट होता है। ऐसी स्थिति में सभी धर्मों की समानता अथवा उनका समान रूप से आदर करने के विचार को वे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। वस्तुतः धर्म-परिवर्तन के मूल में निहित उनकी इसी दंभपूर्ण मान्यता के कारण धार्मिक कट्टरता अथवा असहिष्णुता का जन्म होता है जो समाज के लिए अत्यधिक हानिकारक है। इस धार्मिक कट्टरता से मुक्त होने के लिए सर्व-धर्म-समभाव के सिद्धांत के अनुसार निष्ठापूर्वक आचरण करते हुए धर्म-परिवर्तन के विचार को पूर्णतः अस्वीकार करना अनिवार्य है।

इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि मानव-समाज के लिए धर्म-परिवर्तन मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि से अनुचित और अवांछनीय है, अतः किसी भी रूप में इसे प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए।

परिशिष्ट 3

धार्मिक सहिष्णुता

1. सहिष्णुता और असहिष्णुता का अर्थ

सभ्यता के विकास के प्रारंभिक काल से ही विभिन्न मानव-समुदाय भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास करते रहे हैं। इतना ही नहीं, एक ही धर्म के अनुयाइयों का भी उस धर्म के अंतर्गत विकसित अलग-अलग धार्मिक संप्रदायों में प्राय: विभाजन होता रहा है। इन विभिन्न धार्मिक तथा सांप्रदायिक विश्वासों के फलस्वरूप सभ्यता के आदिकाल से ही विभिन्न मानव-समुदायों में दुखद एवं रक्तरंजित संघर्ष चलता रहा है जिसके कारण संपूर्ण मानव-जाति को व्यापक रूप से हानि पहुँची है। दु:ख की बात तो यह है कि उक्त धार्मिक एवं सांप्रदायिक संघर्ष आधुनिक युग में भी पूर्ववत विद्यमान हैं जब मनुष्य अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक उन्नत, सुसभ्य तथा सुसंस्कृत होने का दावा करता है। वस्तुत: मानव-जाति के लिए यह दुखद स्थिति उस कट्टरता और उन्माद का अनिवार्य दुष्परिणाम है जिसका जन्म धार्मिक असहिष्णुता से होता है। इस धार्मिक असहिष्णुता का स्वरूप क्या है? मानव-समाज में यह क्यों और कैसे उत्पन्न होती है? क्या इसे कम या समाप्त किया जा सकता है? यदि हाँ, तो इसे घटाने अथवा समाप्त करने के लिए कौन-से उपाय करना आवश्यक है? प्रस्तुत परिशिष्ट में मुख्यत: इन्हीं प्रश्नों पर कुछ विस्तार से विचार किया जाएगा।

परंतु धार्मिक असहिष्णुता से संबंधित उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व यहाँ 'सहिष्णुता' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। हम अपने दैनिक जीवन में प्राय: इस शब्द का प्रयोग करते हैं, किंतु फिर भी 'सहिष्णुता' की कोई स्पष्ट, सुनिश्चित तथा सर्वमान्य परिभाषा देना बहुत कठिन है, क्योंकि विभिन्न विचारक इस शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते रहे हैं। इन विचारकों द्वारा दी गई 'सहिष्णुता' की अलग-अलग परिभाषाओं में न उलझते हुए यहाँ हम सामान्य जीवन में इस शब्द के व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से इसका अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। जब हम किसी व्यक्ति, विचार, सिद्धांत, विश्वास या आदर्श के विषय में 'सहिष्णुता' की बात करते हैं तो इस से हमारा तात्पर्य यही होता है कि हम उसे केवल सहन कर रहे हैं। किसी भी वस्तु को सहन करने की इस क्रिया में यह तथ्य अनिवार्यत: निहित रहता है कि हम वास्तव में उसे पसंद नहीं करते, उसकी निंदा करते हैं अथवा उसके प्रति अननुमोदन की भावना रखते हैं। जिस वस्तु को हम केवल सहन करते हैं वह निश्चय ही हमारे लिए सुखद या आनंददायक नहीं होती। हम ऐसी किसी वस्तु को सहन करने की बात नहीं करते जिस से हमें सुख अथवा आनंद प्राप्त होता है। सुखद या आनंददायक वस्तु को हम अधिक से अधिक समय तक यथासंभव अपने पास बनाए रखना चाहते हैं, किंतु जिस वस्तु को हम केवल सहन करते हैं उस के प्रति हमारा यह आकर्षण नहीं होता। इसके विपरीत यदि संभव हो तो हम उस वस्तु को अपने से दूर रखना चाहेंगे, क्योंकि हम उसे वास्तव में पसंद नहीं करते अथवा उसका अनुमोदन नहीं करते; उसे तो

हम अपनी इच्छा से केवल सह लेते हैं। इस प्रकार 'सहिष्णुता' शब्द के अर्थ में सहन की जाने वाली वस्तु के प्रति निंदा, अननुमोदन या पसंद न करने की भावना अनिवार्यत: निहित रहती है।

'सहिष्णुता' के उपर्युक्त अर्थ को कुछ उदाहरणों द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है। बहुत-से ईश्वरवादी व्यक्ति निरीश्वरवाद के तीव्र विरोधी होते हुए भी निरीश्वरवादियों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण रखते हैं। इसी प्रकार यद्यपि अनेक व्यक्ति अन्य धर्मों अथवा संप्रदायों को पसंद नहीं करते, फिर भी व्यावहारिक जीवन में वे उन के प्रति सहिष्णु या सहनशील बने रहते हैं। अपने परिवार में भी कोई व्यक्ति किसी विशेष संबंधी से प्रेम न करते हुए भी उस के साथ रह सकता है और उस की उपस्थिति को सहन कर सकता है। हम समाज में द्यूत-क्रीड़ा, वेश्यावृत्ति, भ्रष्टाचार आदि बुराइयों को पसंद न करते हुए भी प्राय: उन्हें सहन कर लेते हैं। इन व्यावहारिक उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जिस वस्तु को हम सहन करते हैं वह हमारे अनुमोदन या आनन्द का विषय नहीं होती। उस के प्रति हमारी मूल मनोवृत्ति यह होती है कि यदि संभव हो तो हम उस से दूर अथवा मुक्त हो जाएँ, किंतु ऐसी संभावना न होने की स्थिति में हम उसे नष्ट करने या हानि पहुँचाने के स्थान पर केवल सहन कर लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'सहिष्णुता' अथवा 'सहनशीलता' शब्द के अर्थ में उस वस्तु के प्रति मनुष्य के विरोध या अननुमोदन की भावना अवश्य निहित रहती है जिसे वह सहन करता है। ऐसी स्थिति में सहिष्णुता को मानव-जीवन के अनुकरणीय आदर्श के रूप में स्वीकार करना नैतिक दृष्टि से सदैव उचित और वांछनीय नहीं माना जा सकता। सहिष्णुता की आवश्यकता तभी होती है जब इसे स्वीकार न करने के कारण व्यक्ति, परिवार अथवा समाज को किसी प्रकार की हानि पहुँचने की आशंका हो। इस हानि से बचने के लिए मनुष्य को उस व्यक्ति या समुदाय के प्रति सहिष्णुता की भावना रखना आवश्यक हो जाता है जिसे वह पसंद नहीं करता अथवा जिस का वह अनुमोदन नहीं करता। केवल ऐसी स्थिति में ही सहिष्णुता को नैतिक दृष्टि से वांछनीय एवं उचित माना जा सकता है। इस प्रकार सदैव अनुकरणीय आदर्श न होते हुए भी सहिष्णुता कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति, परिवार अथवा समुदाय के लिए बहुत आवश्यक हो जाती है।

यदि हम कुछ अन्य मनोवृत्तियों के साथ सहिष्णुता की तुलना करते हुए इन मनोवृत्तियों से उस की भिन्नता को स्पष्ट करें तो उस के अर्थ को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस संबंध में सर्वप्रथम सहिष्णुता और उदासीनता में अंतर समझ लेना आवश्यक है। कुछ व्यक्ति सहिष्णुता एवं उदासीनता को समानार्थक शब्द मानते हैं जो उचित नहीं है, क्योंकि इन दोनों शब्दों के अर्थ में पर्याप्त अंतर है। मनुष्य जिस वस्तु या व्यक्ति के संबंध में उदासीन होता है उस के प्रति उस की कोई सकारात्मक अथवा नकारात्मक भावना नहीं होती– अर्थात् वह उस का न तो अनुमोदन करता है और न अननुमोदन; उस के प्रति वह पूर्णत: तटस्थ रहता है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जिस वस्तु के प्रति मनुष्य सहिष्णुता रखता है उसे वह पसंद नहीं करता और यदि संभव हो तो वह उस से

दूर ही रहना चाहेगा। इस से स्पष्ट है कि ऐसी वस्तु के प्रति वह निश्चय ही तटस्थ या उदासीन नहीं होता। वह तो उस वस्तु को केवल सहन करता है और इसी तथ्य से यह ज्ञात होता है कि उस की उपस्थिति के कारण उसे कुछ मानसिक कष्ट अवश्य पहुँचता है। सहिष्णुता के साथ अनिवार्यत: संबद्ध अननुमोदन की यह भावना उसे उदासीनता से पृथक करती है जिसके साथ मनुष्य की कोई सकारात्मक या नकारात्मक भावना संबद्ध नहीं रहती।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सहिष्णुता केवल उदासीनता से ही नहीं, समानता, भ्रातृत्व, प्रेम मैत्री, परोपकार आदि सकारात्मक भावनाओं से भी भिन्न होती है। इन सकारात्मक भावनाओं की एक मूल-विशेषता यह है कि मनुष्य इन सब का सहर्ष अनुमोदन करता है और इन के कारण उसे कोई मानसिक कष्ट नहीं होता। इन भावनाओं की यह विशेषता इन्हें सहिष्णुता से पृथक करती है जिसमें मनुष्य के अननुमोदन की भावना अवश्य निहित रहती है और जिस के फलस्वरूप उसे कुछ मानसिक कष्ट भी होता है। जिस व्यक्ति के अस्तित्व को मनुष्य केवल सहन करता है उस के प्रति वह उपर्युक्त सकारात्मक भावनाओं का अनुभव नहीं करता। यदि उस के मन में किसी व्यक्ति के प्रति ये सकारात्मक भावनाएँ हैं तो इस का अर्थ यह है कि वह उस व्यक्ति को पसंद करता है और उस के आचरण का अनुमोदन करता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को उस व्यक्ति के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि उस की उपस्थिति उसे सुख प्रदान करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सहिष्णुता उपर्युक्त सकारात्मक भावनाओं से भिन्न है।

इन सकारात्मक भावनाओं के अतिरिक्त हिंसा, विरोध, ईर्ष्या, प्रतिशोध आदि कुछ नकारात्मक भावनाओं से भी सहिष्णुता भिन्न होती है। जिस व्यक्ति के प्रति हम इन नकारात्मक भावनाओं का अनुभव करते हैं उसे हम कष्ट या हानि पहुँचाना चाहते हैं उस व्यक्ति के प्रति हमारा दृष्टिकोण शत्रुता का ही होता है, सहिष्णुता का नहीं। हम उस के अस्तित्व को सहन न करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते; उसे हम यथासंभव अधिकतम दुःख पहुँचाने का भी प्रयास करते हैं। परंतु जिस व्यक्ति के प्रति हम इन नकारात्मक भावनाओं के स्थान पर केवल सहिष्णुता की भावना रखते हैं उसे हम कष्ट अथवा हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते उसे पसंद न करते हुए भी हम उस पर कोई अत्याचार नहीं करते और उसे किसी संकट में नहीं डालना चाहते। इस प्रकार सहिष्णुता एक ओर तो प्रेम, मैत्री, भ्रातृत्व, परोपकार आदि सकारात्मक भावनाओं से भिन्न होती है और दूसरी ओर हिंसा, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि नकारात्मक भावनाओं से, परंतु नकारात्मक भावनाओं के साथ उस का कुछ संबंध अवश्य प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि जिस व्यक्ति, विचार या सिद्धांत के प्रति मनुष्य केवल सहिष्णुता की भावना रखता है उसे वह वास्तव में पसंद नहीं करता। उसके प्रति मनुष्य की इस सहिष्णुता के अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें उस की विनम्रता, वैचारिक उदारता, दूसरों के लिए सम्मान की भावना, दमन अथवा शक्ति के प्रयोग की व्यर्थता, कुछ रियायतें दे कर दूसरों के साथ समझौता करने की इच्छा आदि प्रमुख हैं इनमें से कोई भी कारण मनुष्य में सहिष्णुता की भावना उत्पन्न कर सकता है।

सहिष्णुता के उपर्युक्त अर्थ को जान लेने के पश्चात अब यह समझना कठिन नहीं है कि असहिष्णुता का अर्थ क्या है। वस्तुत: 'असहिष्णुता' 'सहिष्णुता' का ठीक विपरीतार्थक शब्द है जिस से मनुष्य में सहनशीलता के अभाव का बोध होता है जब कोई व्यक्ति अभिमान या पूर्वाग्रहों के कारण किसी विचार, सिद्धांत अथवा व्यक्ति के अस्तित्व को सहन करने के लिए उद्यत नहीं होता तो उस की इस मनोवृत्ति को 'असहिष्णुता' की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसा असहिष्णु या असहनशील मनुष्य किसी विरोधी विचार, सिद्धांत अथवा व्यक्ति के अस्तित्व को बिल्कुल सहन नहीं करता। वह निश्चित रूप से यह मानता है कि उस का अपना विचार अथवा सिद्धांत ही पूर्णत: सत्य तथा सर्वोत्तम है और वह स्वयं अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। वह किसी भी स्थिति में अन्य व्यक्तियों को अपनी और अपने विचार या सिद्धांत की आलोचना करने का अधिकार नहीं देता। वह ऐसे किसी व्यक्ति के अस्तित्व को सहन करने के लिए उद्यत नहीं होता जिसके विचार उसके अपने विचारों से भिन्न अथवा विरोधी हैं। ऐसे असहनशील व्यक्ति की दुराग्रहयुक्त और अभिमानपूर्ण इस मनोवृत्ति को ही 'असहिष्णुता' कहा जाता है जो अपने आप में नैतिक दृष्टि से एक दुर्गुण है। ऐसा व्यक्ति दूसरों से अपने विचार मनवाने के लिए उन पर किसी भी प्रकार का अत्याचार करने में कोई संकोच नहीं करता, क्योंकि वह यह समझता है कि उसके अपने विचारों को छोड़ कर अन्य सभी व्यक्तियों के विचार दोषपूर्ण और मिथ्या हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि असहिष्णुता के साथ कट्टरता, दुराग्रह, अभिमान आदि दुर्गुण अनिवार्यत: संबद्ध रहते हैं। इसी कारण असहिष्णुता को नैतिक दृष्टि से अनुचित और निंदनीय माना जाता है। असहिष्णु या असहनशील व्यक्ति में उपुर्यक्त दुर्गुणों के अतिरिक्त हिंसा, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि नकारात्मक भावनाएँ भी विद्यमान रहती हैं, अत: उसका स्वभाव और आचरण दोनों ही बहुत निकृष्ट कोटि के होते हैं।

असहिष्णुता का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इसका क्षेत्र मानव-जीवन के किसी एक पक्ष तक ही सीमित नहीं है। धर्म के क्षेत्र में तो यह असहिष्णुता विशेष रूप से पाई जाती है जिस की विवेचना हम अगले खंड में करेंगे। परंतु धर्म के अतिरिक्त परिवार, समाज, राजनीति, दर्शन आदि अन्य क्षेत्रों में भी असहिष्णुता को स्पष्टत: देखा जा सकता है। आज भारत तथा अन्य अनेक देशों में द्रुत गति से पारिवारिक जीवन का जो विघटन हो रहा है उस का एक महत्वपूर्ण कारण परिवार के सदस्यों की असहिष्णुता है जो उनके वैयक्तिक अहम् के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हुए केवल अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करता है, अत: परिवार में सौहार्द्र एवं स्नेह के स्थान पर कटुता का जन्म होता है। पारिवारिक जीवन की भाँति हमारे सामाजिक जीवन में भी अब असहिष्णुता बढ़ती जा रही है जो विभिन्न व्यक्तियों और समुदायों में समय-समय पर होने वाले पारस्परिक संघर्ष में प्राय: व्यक्त होती है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में भी आज-कल असहिष्णुता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है जिस के कारण विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता एक-दूसरे के विरुद्ध हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करते

हैं। विश्व की राजनीति में बढ़ती हुई यह हिंसा राजनीतिज्ञों में सहिष्णुता के अभाव को ही व्यक्त करती है। इतना ही नहीं, भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं को स्वीकार करने वाले दर्शनशास्त्रियों में भी कभी-कभी पर्याप्त संघर्ष होता है जिस का एक कारण उन में परस्पर वैचारिक सहिष्णुता का अभाव माना जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि असहिष्णुता का क्षेत्र मानव-जीवन के किसी विशेष पक्ष तक सीमित न हो कर बहुत व्यापक है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि नैतिक दृष्टि से असहिष्णुता एक दुर्गुण है और सहिष्णुता भी कोई आदर्श स्थिति नहीं है। परंतु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सहिष्णुता और असहिष्णुता का नैतिक मूल्यांकन मुख्यत: उन के विषयों के आधार पर किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब हम सहिष्णुता की प्रशंसा और असहिष्णुता की निंदा करते हैं तो हमारे लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि वे कौन सी वस्तुएँ हैं जिन के प्रति मनुष्य सहिष्णुता या असहिष्णुता रखता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अन्याय, अत्याचार, शोषण, भ्रष्टाचार आदि बुराइयों के प्रति सहिष्णुता रखता है तो हम इसके लिए उसकी प्रशंसा करने के स्थान पर उसे 'कायर' कह कर उसकी निंदा ही करते हैं। इससे स्पष्ट है कि सहिष्णुता सभी प्रसंगों तथा स्थितियों में प्रशंसनीय, उचित और वांछनीय गुण नहीं है। सहिष्णुता तभी प्रशंसनीय होती है जब उस का विषय नैतिक दृष्टि से उचित और वांछनीय हो। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त बुराइयों के प्रति असहिष्णुता का अनुभव करता है तो इसके लिए हम उसकी प्रशंसा ही करते हैं, निंदा नहीं। इस तथ्य से यह ज्ञात होता है कि असहिष्णुता भी कुछ विशेष परिस्थितियों में निंदनीय न हो कर प्रशसंनीय हो जाती है। इन उदाहरणों से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सहिष्णुता और असहिष्णुता की वांछनीयता मुख्यत: उनके विषयों पर निर्भर है। सहिष्णुता एवं असहिष्णुता के संबंध में इसी महत्वपूर्ण तथ्य की व्याख्या करते हुए प्रीस्टन किंग ने लिखा है– "हम किसी व्यक्ति, समुदाय अथवा सरकार की केवल इसलिए प्रशंसा नहीं कर सकते कि वह सहिष्णु या सहनशील है। ये सब निर्दयता और जन-संहार के प्रति सहनशील हो सकते हैं। इसी प्रकार हम व्यक्तियों की केवल इसलिए निंदा भी नहीं कर सकते कि वे असहिष्णु या असहनशील हैं। वे क्रूरता तथा जन-संहार के प्रति असहनशील हो सकते हैं। इस अर्थ में सब कुछ सहिष्णुता और असहिष्णुता पर निर्भर न होकर उन के लिए उपयुक्त विषयों पर ही निर्भर होता है''।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सहिष्णुता और असहिष्णुता के नैतिक मूल्यांकन का प्रमुख आधार वे वस्तुएँ या विषय हैं जिनके प्रति मनुष्य इन भावनाओं का अनुभव करता है।

सहिष्णुता तथा असहिष्णुता के अर्थ की इस विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहां यह बता देना आवश्यक है कि इन दोनों के लिए मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य और उस की शक्ति अथवा सामर्थ्य को स्वीकार करना अनिवार्य है। यदि कोई व्यक्ति पराधीन होने के कारण अपनी इच्छानुसार कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं है तो वह वास्तविक अर्थ में सहिष्णु या असहिष्णु नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि वह जो कर्म करता है उस के विषय

1. प्रीस्टन किंग, 'टॉलरेशन', पृ. 68.

में वह स्वयं स्वतंत्रापूर्वक निर्णय न कर के उसे करने के लिए बाध्य होता है। ऐसा पराधीन व्यक्ति निश्चय ही सहिष्णु या असहिष्णु नहीं हो सकता। मनुष्य को वास्तविक अर्थ में सहिष्णु तभी कहा जा सकता है जब वह पर्याप्त शक्ति अथवा सामर्थ्य के होते हुए भी किसी विरोधी विचार, सिद्धांत या व्यक्ति को अपनी इच्छा से सहन करता है। इस से यह स्पष्ट है कि सहिष्णुता दुर्बलता से पूर्णतः भिन्न है। यदि कोई व्यक्ति दुर्बल या असमर्थ होने के कारण किसी अप्रिय स्थिति को सहन कर लेता है तो उसकी इस मनोवृत्ति को 'सहिष्णुता' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसके पास अप्रिय स्थिति को सहन करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं है। जिस व्यक्ति में क्षमा करने और दंड देने की शक्ति नहीं है उस के संबंध में सहिष्णुता की बात करना निरर्थक है। इस प्रकार सहिष्णुता और दुर्बलता में आधारभूत अंतर है जिसे भली-भाँति जान कर ही हम सहिष्णुता का ठीक-ठीक अर्थ समझ सकते हैं।

मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य तथा उस की सामर्थ्य के अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों एवं समुदायों में विचारों या विश्वासों की भिन्नता भी सहिष्णुता और असहिष्णुता के लिए आवश्यक है। यदि किसी समुदाय के सभी व्यक्तियों के विचार और विश्वास समान हैं तो उस समुदाय में किसी व्यक्ति के सहिष्णु या असहिष्णु होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम किसी व्यक्ति को सहिष्णु या असहिष्णु तभी कह कहते हैं जब वह अपने से भिन्न अथवा विरोधी विचारों को सहन करता है या नहीं करता। इससे यह स्पष्ट है कि सहिष्णुता और असहिष्णुता दोनों की सार्थकता के लिए मनुष्यों में विचारों तथा विश्वासों की भिन्नता का होना अनिवार्य है। यदि मानव-समाज में विचारों तथा विश्वासों की यह भिन्नता न होती तो वास्तव में सहिष्णुता और 'असहिष्णुता' ये दोनों शब्द हमारे लिए निरर्थक होते। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि सहिष्णुता तथा असहिष्णुता की सार्थक संभावना के लिए मनुष्य का संकल्प-स्वातंत्र्य, उसकी सामर्थ्य और समाज में वैचारिक भिन्नता का होना आवश्यक है जिन के अभाव में इन दोनों शब्दों का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

2. धार्मिक असहिष्णुता और उसके कुछ मुख्य कारण

सहिष्णुता एवं असहिष्णुता का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धार्मिक सहिष्णुता तथा असहिष्णुता से क्या तात्पर्य है और धार्मिक असहिष्णुता के मुख्य कारण कौन-कौन से हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि आदिकाल से ही संसार में विभिन्न मानव-समुदायों के धार्मिक सिद्धांत, विश्वास, विचार तथा कर्मकांड भिन्न-भिन्न रहे हैं। जब से मानव-समाज में धर्म का उदय हुआ है तभी से भिन्न-भिन्न देशों के लोगों ने अलग-अलग धर्मों को स्वीकार किया है जिसके परिणामस्वरूप उनके धार्मिक विश्वासों, विचारों और अनुष्ठानों में भिन्नता उत्पन्न हुई है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ धीरे-धीरे धर्मों की संख्या भी बढ़ती रही है और कालांतर में प्रत्येक विकसित धर्म के अंतर्गत अनेक अलग-अलग धार्मिक संप्रदायों का भी जन्म हुआ है। ऐसी स्थिति में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राचीन काल से ही विभिन्न धर्मों में विश्वास करने वाले मानव समुदायों

में प्रायः संघर्ष होता रहा है जिसे 'धर्म-युद्ध' अथवा 'धार्मिक संघर्ष' की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः यह धार्मिक संघर्ष मनुष्य की उस संकुचित मनोवृत्ति का परिणाम है जिसे 'धार्मिक असहिष्णुता' कहा जाता है और जिसने भिन्न-भिन्न धर्मों को स्वीकार करने वाले मनुष्यों में परस्पर द्वेष तथा शत्रुता की भावना को जन्म दिया है। धार्मिक असहिष्णुता से उत्पन्न इस दुखद संघर्ष को समाप्त करने के लिए ही धार्मिक सहिष्णुता के विचार का जन्म हुआ है जिसकी आवश्यकता बहुत प्राचीन काल से अनुभव की जाती रही है। इस प्रकार यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि धार्मिक सहिष्णुता और असहिष्णुता दोनों का संबंध भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास करने वाले मानव-समुदायों से है।

जब विभिन्न धर्मों अथवा एक ही धर्म के अलग-अलग संप्रदायों के अनुयाई परस्पर मिल कर शांतिपूर्वक रहते हैं और एक-दूसरे के धार्मिक सिद्धांतों, विचारों, विश्वासों तथा अनुष्ठानों के महत्व को स्वीकार करते हुए पारस्परिक विरोध या शत्रुता की भावना नहीं रखते तो उनकी इस उदारतापूर्ण मनोवृत्ति को 'धार्मिक सहिष्णुता' की संज्ञा दी जा सकती है। इस धार्मिक सहिष्णुता के लिए उन सभी तत्वों की उपस्थिति का होना आवश्यक है जिन की विवेचना सहिष्णुता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए पिछले खंड में की गई है। उदाहरणार्थ, धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता तभी होती है जब किसी समुदाय या देश में अलग-अलग धर्मों अथवा धार्मिक संप्रदायों को स्वीकार करने वाले लोग रहते हों। इन लोगों के धार्मिक विचारों, विश्वासों और अनुष्ठानों का भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। इस वैचारिक और कर्मकांड संबंधी भिन्नता के कारण इन लोगों में धार्मिक संघर्ष की संभावना सदा बनी रहती है जिसे धार्मिक सहिष्णुता द्वारा समाप्त या कम किया जा सकता है। यह धार्मिक सहिष्णुता रखने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के धर्म का अनुमोदन तथा आदर न करते हुए भी परस्पर मिल कर शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यह ठीक है कि वे एक-दूसरे के धार्मिक विश्वासों, विचारों और कर्मकांड का समर्थन नहीं करेंगे, किंतु इस के साथ ही वे इस धार्मिक मतभेद के कारण एक-दूसरे को कष्ट या हानि भी नहीं पहुँचाएँगे। उन सभी व्यक्तियों से ऐसे ही आचरण की आशा की जाती है जो धार्मिक सहिष्णुता रखते हैं अथवा इस सहिष्णुता का दावा करते हैं। यदि वे अपने धर्म से भिन्न धर्मों के अनुयाइयों को हानि अथवा दुःख पहुँचा कर इस के विपरीत आचरण करते हैं तो स्पष्टतः इस का अर्थ यही है कि धार्मिक सहिष्णुता के संबंध में उनका दावा मिथ्या है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न धर्मावलंबियों द्वारा अपने अलग-अलग धार्मिक विश्वासों के कारण परस्पर संघर्ष न करना और एक-दूसरे को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाना धार्मिक सहिष्णुता की अनिवार्य माँग है जिसकी पूर्ति किए बिना कोई भी व्यक्ति अथवा समुदाय वास्तविक अर्थ में इस सहिष्णुता का दावा नहीं कर सकता।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यह धार्मिक सहिष्णुता गाँधी जी के 'सर्वधर्म-समभाव' से भिन्न है। जब गाँधी जी विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों को सर्वधर्म-समभाव के अनुसार आचरण करने की शिक्षा देते हैं तो इस से उन का तात्पर्य यह

है कि उन्हें एक-दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए और परस्पर स्नेह तथा सौहार्द्र की भावना रखनी चाहिए। इस से स्पष्ट है कि गाँधी जी का सर्वधर्म-समभाव सकारात्मक सिद्धांत है जिसके अनुसार भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयाइयों को अपने धर्म के साथ-साथ अन्य सभी धर्मों का भी अनुमोदन तथा आदर करना चाहिए और उन्हें समान रूप से मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण मानना चाहिए। शाब्दिक दृष्टि से भी 'सर्वधर्म-समभाव' का अर्थ है सभी धर्मों का सम्मान करते हुए उन्हें समान समझना– अर्थात् किसी भी धर्म को अन्य धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट या निकृष्ट न मानना।

सर्वधर्म-समभाव के उपर्युक्त अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह सिद्धांत धार्मिक सहिष्णुता से भिन्न है, क्योंकि धार्मिक सहिष्णुता रखने वाला व्यक्ति अपने धर्म से भिन्न अन्य सभी धर्मों के अस्तित्व को केवल सहन करता है; वह उन का समान रूप से अनुमोदन तथा आदर नहीं करता। इतना ही नहीं, वह अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को सत्य तथा श्रेष्ठ भी नहीं मानता, किंतु फिर भी वह दूसरे धर्मों के अनुयाइयों के साथ मिल कर शांतिपूर्वक रहता है और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता। अन्य धर्मों के प्रति उसका यह सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण निश्चय ही उन के प्रति समानता का दृष्टिकोण नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना संभवत: अनुचित न होगा कि सर्वधर्म-समभाव को स्वीकार करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण केवल धार्मिक सहिष्णुता रखने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से अधिक वांछनीय और प्रशंसनीय है। वस्तुत: धार्मिक सहिष्णुता सर्वधर्म-समभाव का वह प्रथम सोपान है जिस के बिना सर्वधर्म-समभाव को स्वीकार करना और उस के अनुरूप आचरण करना संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य सर्वधर्म-समभाव को स्वीकार करता है उस के लिए धार्मिक सहिष्णुता अनिवार्य है, किंतु जो मनुष्य केवल धार्मिक सहिष्णुता रखता है वह सर्वधर्म-समभाव को स्वीकार करने की स्थिति तक नहीं पहुँच सका है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म-समभाव ये दोनों भिन्न-भिन्न सिद्धांत हैं, अत: उन्हें एक ही मान लेना उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

विश्व के विभिन्न धर्मों के इतिहास से यह ज्ञात होना है कि धार्मिक सहिष्णुता के विकास में बहुदेववाद एकेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक सहायक सिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि बहुदेववाद में अनेक देवताओं की सत्ता को स्वीकार किया जाता है, अत: इस सिद्धांत के समर्थक किसी एक देवता के प्रति संपूर्ण निष्ठा रखने का आग्रह नहीं करते। वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग देवताओं की उपासना को उचित मानते हैं। यही कारण है कि अपने उपास्य देवता से भिन्न देवता की उपासना करने वाले मनुष्यों के प्रति उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार और सहिष्णुतापूर्ण होता है। परंतु बहुदेववाद के विपरीत एकेश्वरवाद एक ही ईश्वर की उपासना को अनिवार्य मान कर सभी मनुष्यों के लिए केवल उसी के प्रति पूर्ण निष्ठा रखने का आग्रह करता है जिस के कारण इस सिद्धांत के समर्थकों का दृष्टिकोण प्राय: बहुत संकुचित हो जाता है। वे उन सभी मनुष्यों को धर्म-द्रोही मान लेते हैं जो उन

के उपास्य ईश्वर की पूजा नहीं करते। यह समझना कठिन नहीं है कि एकेश्वरवादियों का यह संकुचित दृष्टिकोण अन्य धर्मावलंबियों के प्रति उनकी धार्मिक सहिष्णुता को समाप्त या बहुत कम कर देता है। संसार के धर्मों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुदेववादी धर्मों के अनुयाइयों में एकेश्वरवादी धर्मों के समर्थकों की अपेक्षा प्रायः अधिक धार्मिक सहिष्णुता रही है। इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए मॉरिस क्रैंस्टन, डब्ल्यू०एफ० ऐडेने आदि कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि बहुदेववाद को स्वीकार करने वाले प्राचीन यूनानी लोगों में एकेश्वरवाद के समर्थक ईसाइयों, यहूदियों, तथा मुसलमानों की अपेक्षा अधिक धार्मिक सहिष्णुता पाई जाती थी।[2] इन विद्वानों का यह मत उचित और युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि एकेश्वरवादी धर्मों में उपास्य देवताओं की विविधता के लिए कोई स्थान नहीं है।

यहाँ उपर्युक्त मत के विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि प्राचीन यूनान में भी सुकरात और कुछ अन्य विचारकों को दंडित किया गया था जो उस युग में धार्मिक सहिष्णुता के अभाव का द्योतक है। इस तर्क का उत्तर देते हुए मॉरिस क्रैंस्टन कहते हैं– "यद्यपि सुकरात और पाएथागोरस के समर्थकों पर अत्याचार किए गए थे, इन अत्याचारों के कारण धार्मिक नहीं थे, अपितु उन पर समाज की नैतिकता और राजनीतिक सुरक्षा को खतरे में डालने का आरोप लगाया गया था।[3] इसी प्रकार एक अन्य विद्वान, डब्ल्यू०एफ० ऐडेने भी क्रैंस्टन के उपर्युक्त मत का समर्थन करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, इस्लाम आदि एकेश्वरवादी धर्मों की अपेक्षा बहुदेववादी धर्मों में अधिक सहिष्णुता पाई जाती है। अपनी इस मान्यता के समर्थन में उन्होंने भी प्राचीन यूनानी बहुदेववाद का उदाहरण दिया है।[4] इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से बहुदेववाद एकेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक उपादेय तथा वांछनीय प्रतीत होता है।

मानव-जाति के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि प्राचीन काल से अधिकतर धर्मपरायण व्यक्तियों में धार्मिक सहिष्णुता के स्थान पर प्रायः धार्मिक असहिष्णुता ही पाई जाती रही है। विभिन्न देशों में समय-समय पर भिन्न-भिन्न धर्मावलंबियों में जो धर्म-युद्ध होते रहे हैं वे इस धार्मिक असहिष्णुता के स्पष्ट प्रमाण हैं। सभी धर्मों का रक्तरंजित संघर्ष से परिपूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है कि केवल धार्मिक सिद्धांतों, विश्वासों तथा अनुष्ठानों की भिन्नता के कारण एक धर्म के अनुयाई दूसरे धर्मों के अनुयाइयों पर घोर अत्याचार करते रहे हैं जिन में हत्या और मृत्यु-दंड भी सम्मिलित हैं। वस्तुतः संसार का कोई भी प्रचलित धर्म धार्मिक असहिष्णुता के इस कलंक से मुक्त नहीं है। सिद्धांत रूप से प्रत्येक धर्म के अनुयाई यह दावा करते हैं कि उनका धर्म प्रेम, करुणा, मैत्री, परोपकार, अहिंसा आदि महान नैतिक

---

2. देखिए मॉरिस क्रैंस्टन का लेख 'टॉलरेशन', ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ फ़िलॉसॉफी', खंड 8, पृ. 143-144.
3. वही पुस्तक, पृ. 144.
4. देखिए डब्ल्यू.एफ़., ऐडेने का लेख, 'टॉलरेशन', ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन ऐंड ऐथिक्स', खंड 12, पृ. 360-361.

मूल्यों की शिक्षा देता है, किंतु अपने व्यावहारिक जीवन में वे इन मूल्यों के अनुसार प्राय: आचरण नहीं करते। विश्व के सभी प्रचलित धर्मों के समर्थक इस व्यापक आत्म-प्रवंचना से ग्रस्त हैं जो उनके समस्त सैद्धांतिक दावों को मिथ्या प्रमाणित करती है। उन के सभी महान नैतिक आदर्श केवल धर्म-ग्रंथों तक ही सीमित रहते हैं जिन्हें वे व्यावहारिक जीवन में कभी कार्यान्वित नहीं करते। यह आत्म-प्रवंचना अंततः उस धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता को जन्म देती है जिसके कारण एक धर्म के अनुयाई दूसरे धर्मों के अनुयाइयों के अस्तित्व को भी सहन नहीं करते। ऐसी स्थिति में भिन्न-भिन्न धार्मिक विचारों, विश्वासों तथा कर्मकांड को स्वीकार करने वाले विभिन्न धर्मपरायण समुदायों का शांतिपूर्वक एक साथ मिल कर रहना बहुत कठिन हो जाता है। पारस्परिक संघर्ष तथा हिंसा को जन्म देने वाली यह धार्मिक असहिष्णुता केवल हिंदू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम, यहूदी धर्म आदि को स्वीकार करने वाले धर्मपरायण समुदायों में ही नहीं, अपितु उन देशों में भी स्पष्टत: देखी जा सकती है जो अहिंसा, करुणा और मैत्री की विशेष रूप से शिक्षा देने वाले बौद्ध धर्म के अनुयाई होने का दावा करते हैं। श्रीलंका, थाईलैंड, बर्मा, चीन आदि बौद्ध धर्मानुयाई देश इस धार्मिक असहिष्णुता के ज्वलंत उदाहरण हैं।

वस्तुत: यह बहुत आश्चर्य तथा दु:ख की बात है कि वर्तमान युग में भी– जब मनुष्य अपने आदिकालीन पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत होने का दावा करता है– यह धार्मिक असहिष्णुता और इस से उत्पन्न कट्टरता निरंतर बढ़ती ही जा रही है। ऐसी स्थिति में यह कहना बहुत कठिन है कि धार्मिक असहिष्णुता की दृष्टि से आधुनिक युग उस युग से मूलत: भिन्न है जब केवल धर्म संबंधी सिद्धांतों, विश्वासों तथा कर्मकांड की भिन्नता के कारण एक धर्म के अनुयाई अन्य धर्मावलंबियों पर अत्याचार करते थे। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मध्य युग की भाँति आज भी यह धार्मिक असहिष्णुता भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयाइयों में ही नहीं, अपितु एक ही धर्म के विभिन्न संप्रदायों में भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ, अब भी आर्यसमाजी तथा सनातनी हिंदुओं, सुन्नी एवं शिया मुसलमानों और कैथॉलिक तथा प्रोटेस्टैंट ईसाइयों में प्राय: संघर्ष होता रहता है। यह संघर्ष इन धर्मों से संबंधित संप्रदायों के कुछ व्यक्तियों– विशेषत: नेताओं–में पाई जाने वाली धार्मिक असहिष्णुता से उत्पन्न उन्माद और कट्टरता का ही दुष्परिणाम है। इस प्रकार उपुर्यक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धार्मिक असहिष्णुता किसी एक धर्म, युग तथा देश तक सीमित न होकर सभी धर्मों, युगों और देशों में व्यापक रूप से दिखाई देती है।

यह आश्चर्य की बात है कि कुछ विचारक धार्मिक असहिष्णुता को आवश्यक और वांछनीय मानते हैं, अत: उन्होंने इस के समर्थन में अपने तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म को मानने वाले कुछ विचारकों ने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर धार्मिक असहिष्णुता को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके पक्ष में उनका प्रथम तर्क यह है कि धर्म की निंदा करने अथवा उस के विरुद्ध कार्य करने से ईश्वर बहुत रुष्ट होता है जिसके कारण वह संपूर्ण समाज को घोर विपत्ति में डालकर उसे कठोर दंड दे सकता है। ऐसी स्थिति

में धर्म-द्रोहियों का दमन करना आवश्यक हो जाता है। धार्मिक असहिष्णुता के समर्थन में इन ईसाई विचारकों ने दूसरा तर्क यह दिया है कि राष्ट्रद्रोह की भाँति धर्मद्रोह भी एक गंभीर अपराध है जिसे सहन नहीं किया जा सकता और इसी कारण उन धर्म-द्रोहियों को कठोर दंड देना उचित तथा आवश्यक है जो यह अपराध करते हैं। धार्मिक असहिष्णुता को उचित सिद्ध करने के लिए इन विचारकों का तीसरा तर्क यह है कि राज्य के कानून तथा प्रशासन के समान धर्म का शासन भी समाज की सुरक्षा और शांति के लिए आवश्यक है, अतः धर्म-द्रोहियों को धर्म के विरुद्ध कार्य करने से रोकने के लिए कठोर दंड अवश्य दिया जाना चाहिए। अंत में ये ईसाई विचारक धार्मिक असहिष्णुता के पक्ष में चौथा तर्क यह देते हैं कि कठोर दंड वस्तुतः स्वयं धर्म-द्रोही के लिए भी लाभदायक तथा वांछनीय है, क्योंकि यदि उसे धर्म-द्रोह से न रोका गया तो ईश्वर उसे सदा के लिए घोर नरक में डाल देगा जहाँ वह अनंत काल तक भयंकर यातनाएँ भोगता रहेगा। इससे यह स्पष्ट है कि स्वयं धर्म-द्रोही को इन भयंकर यातनाओं से बचाने के लिए सभी प्रकार का कठोर दंड देना उचित और वांछनीय है जिसमें मृत्यु-दंड भी सम्मिलित है। अपने इस अंतिम तर्क द्वारा इन विचारकों ने स्वयं धर्म-द्रोही के अपने हित में उसे कठोर दंड देने की आवश्यकता और वांछनीयता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार कुछ ईसाई विचारकों के मतानुसार अधिकतम कठोर दंड द्वारा धर्म-द्रोहियों का दमन करना संपूर्ण समाज तथा स्वयं इन धर्म-द्रोहियों दोनों के हित के लिए उचित और आवश्यक है।[5]

वस्तुतः अपने उपर्युक्त सभी तर्कों का सहारा लेकर ही ईसाई धर्म-गुरुओं ने उन दार्शनिकों तथा विज्ञानवेत्ताओं पर घोर अत्याचार किए थे जो निष्पक्ष रूप से सत्य का अनुसंधान करने के लिए उन के पूर्वाग्रहयुक्त मिथ्या विश्वासों एवं सिद्धांतों का विरोध करते थे।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धार्मिक असहिष्णुता के समर्थन में प्रस्तुत किए गए इन ईसाई धर्म-गुरुओं के ये तर्क कहाँ तक उचित और विश्वसनीय हैं। यदि इन तर्कों का निष्पक्ष रूप से मूल्यांकन किया जाए तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इनका एकमात्र उद्देश्य कुछ धर्म-गुरुओं की धार्मिक कट्टरता और उनके उन्माद को उचित सिद्ध करना ही है। इन भ्रामक तर्कों द्वारा वे समाज तथा प्रशासन पर अपना पूर्ण वर्चस्व बनाए रखना चाहते हैं। इन तर्कों को 'भ्रामक' कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें से कोई भी तर्क विश्वसनीय और तार्किक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं है। उदाहरणार्थ, ईसाई विचारकों का प्रथम तर्क नितांत अप्रामाणिक है, क्योंकि पहले तो ईश्वर का अस्तित्व ही अत्यंत संदिग्ध है और फिर यदि यह मान भी लिया जाए कि उस का अस्तित्व है तो इस बात पर विश्वास करना संभव नहीं है कि पूर्णतः शुभ तथा करुणा-सागर माना जाने वाला ईश्वर अपने विरुद्ध विचार व्यक्त करने वाले कुछ मनुष्यों के कारण संपूर्ण समाज को घोर विपत्तियों में डाल कर उसे कठोर दंड देगा। वास्तव में धर्म-गुरुओं ने यह तर्क समाज को भयत्रस्त करने के लिए ही दिया

5. धार्मिक असहिष्णुता के समर्थन में दिए गए इन तर्कों के लिए देखिए मॉरिस क्रैंस्टन का लेख 'टॉलरेशन', ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िलॉसॉफ़ी', खंड 8, पृ. 144.

है जिससे वे उस पर अपना एकाधिकार बनाए रख सकें। प्रथम तर्क की भाँति उनका दूसरा तर्क भी अनुचित और अविश्वसनीय है, क्योंकि धर्म के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त करना राष्ट्र-द्रोह के समान नहीं माना जा सकता। यदि कोई विचारक किसी धर्म के सिद्धांतों और विश्वासों का निष्पक्ष मूल्यांकन करता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह राष्ट्र-द्रोही है। इन दो तर्कों के समान ईसाई धर्म-गुरुओं का तीसरा तर्क भी उचित एवं विश्वसनीय नहीं है। इसका कारण यह है कि राज्य के शासन के साथ धर्म के शासन की तुलना करना भ्रामक है। राज्य का शासन समाज की सुरक्षा तथा शांति के लिए अनिवार्य है, किंतु धर्म के शासन के विषय में यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धर्म का संबंध मूलत: मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से है।

इसी प्रकार उपर्युक्त तीनों तर्कों की भाँति धार्मिक असहिष्णुता के पक्ष में ईसाई विचारकों का अंतिम तर्क भी नितांत अप्रामाणिक तथा बहुत हास्यास्पद है। इस तर्क में वे यह मान लेते हैं कि ईश्वर तथा नरक इन दोनों का अस्तित्व है, किंतु उनकी इस मान्यता के लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने तर्कत: यह सिद्ध किया है कि ईश्वर की सत्ता के समर्थन में दिए गए सभी प्रमाण अपर्याप्त और दोषपूर्ण हैं। ईश्वर की भाँति नरक का विचार भी धर्म-गुरुओं की अपनी कल्पना मात्र है जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। धर्म-गुरुओं ने इस नरक के विचार की कल्पना सामान्य धर्मपरायण व्यक्तियों को भयभीत करके उन्हें सदा अपने अधिकार में रखने के लिए ही की है। फिर यदि यह मान लिया जाए कि ईश्वर तथा नरक दोनों का अस्तित्व है तो भी तर्कसंगत रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्णत: शुभ, अत्यंत दयालु और करुणा-सागर माना जाने वाला ईश्वर अपने विरुद्ध विचार व्यक्त करने वाले किसी मनुष्य को घोर नरक में डालकर उसे भयंकर यातनाएँ देगा। जो ईश्वरवादी विचारक ईश्वर के विषय में यह बात कहते हैं वे उसकी करुणा का निषेध करके स्वयं अपने ही सिद्धांत का खंडन करते हैं, क्योंकि जो ईश्वर एक साधारण मनुष्य की भाँति अपने विरोधियों से प्रतिशोध लेता है उसे दयालु नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त धर्म का विरोध करने वाले व्यक्तियों पर किए गए भयंकर अत्याचारों को उन्हीं के हित में घोषित करना और इस आधार पर अत्याचारों को स्वयं उनके लिए उचित तथा वांछनीय बताना अत्यंत हास्यास्पद है। वस्तुत: धर्म-गुरुओं के ऐसे मूर्खतापूर्ण तर्क पर कोई भी विचारशील व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि धार्मिक असहिष्णुता के समर्थन में ईसाई विचारकों ने जो तर्क दिए हैं वे सभी भ्रामक, अप्रामाणिक और अविश्वसनीय हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, अपने उपर्युक्त भ्रामक तर्कों के आधार पर ही गत कुछ शताब्दियों में ईसाई धर्म-गुरुओं ने उन सभी दार्शनिकों तथा विज्ञानवेत्ताओं पर घोर अत्याचार किए थे जो उनके पूर्वाग्रहयुक्त एवं तर्कहीन सिद्धांतों का विरोध करते हुए निष्पक्ष रूप से सत्य का अनुसंधान करना चाहते थे। उदाहरणार्थ, इन धर्म-गुरुओं ने ब्रूनो को जीवित ही जला दिया और गैलीलियो को भी बंदी-गृह में डालकर अनेक वर्षों तक तड़पा-तड़पा के

मार डाला। इसी प्रकार उन्होंने कॉपरनिकस, डार्विन, फ्रॉएड, मार्क्स आदि सभी महान विचारकों की तीव्र निंदा की और उनके वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सिद्धांतों को निराधार एवं मिथ्या घोषित किया। वास्तव में ये धर्म-गुरु प्रबल और विश्वसनीय प्रमाणों के होते हुए भी ऐसे किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं करना चाहते थे जो उनके धर्म का समर्थन नहीं करता था। इतना ही नहीं, वे अपने धर्म-विरोधी सिद्धांतों को मिथ्या घोषित करवाने और उनका परित्याग करने के लिए उन सभी विज्ञानवेत्ताओं पर असह्य अत्याचार करते थे जिन्होंने सत्य का अनुसंधान करने के उद्देश्य से इन तर्कसंगत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था। गत चार-पाँच शताब्दियों का यूरोपीय वैचारिक इतिहास इस दुखद तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है।

इसी प्रकार प्राचीन काल में भारतीय धर्म-गुरुओं अथवा ब्राह्मणों ने भी महान विचारक, बृहस्पति के अनुयाई उन भौतिकवादी दार्शनिकों की समस्त कृतियों को नष्ट कर दिया था जिन्हें 'लोकायत' या 'चार्वाक' की संज्ञा दी जाती है और जो ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक, परलोक, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य, कर्मवाद, मोक्ष आदि से संबंधित सभी धार्मिक एवं तत्वमीमांसीय सिद्धांतों का विरोध करते थे। अधिकतर भारतीय दर्शनों तथा धर्म-ग्रंथों में इन भौतिकवादी दार्शनिकों की तीव्र निंदा की गई है।[6]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म-गुरुओं की इस धार्मिक असहिष्णुता में अब भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी संसार के सभी देशों में ये धर्म-गुरु ऐसे किसी विचार या सिद्धांत को सहन करने के लिए उद्यत नहीं हैं जो उनके धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध है। ईरान और बंगला देश में कुछ कट्टर धर्मांध मुल्लाओं द्वारा सलमान रुशदी तथा तस्लीमा नसरीन को मृत्यु-दंड दिए जाने के लिए जो आंदोलन किया गया है वह इस तथ्य को निश्चित रूप से प्रमाणित करता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धार्मिक कट्टरता और उन्माद की यह स्थिति सत्य के अनुसंधान तथा वैज्ञानिक प्रगति के लिए बहुत घातक है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक विश्व में बढ़ती हुई यह धार्मिक असहिष्णुता सभी विचारशील व्यक्तियों के लिए गंभीर चिंता का विषय है, क्योंकि यह एक ऐसी बुराई है जिसका निराकरण किए बिना सत्य की खोज, वैज्ञानिक प्रगति और सामाजिक शांति संभव नहीं है।

अब यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धार्मिक असहिष्णुता के मुख्य कारण क्या हैं। इस का प्रथम प्रमुख कारण तो स्वयं मानव-स्वभाव में ही निहित है। मनुष्य की यह नैसर्गिक मनोवृत्ति है कि वह अपनी प्रत्येक वस्तु को अधिक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण समझता है। जिस वस्तु से मनुष्य का जितना अधिक लगाव होता है वह उसे उतनी ही प्रिय तथा श्रेष्ठ प्रतीत होती है और यदि कोई अन्य व्यक्ति उसे क्षति पहुँचाने का प्रयत्न करता है तो वह स्वभावतः उस से बहुत रुष्ट होता है। मानव-स्वभाव से संबंधित यह मनोवैज्ञानिक नियम धर्म पर विशेष रूप से लागू होता है, क्योंकि वह मनुष्य के व्यक्तित्व का अभिन्न

---

6. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए लेखक की एक अन्य पुस्तक, 'नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत', चतुर्थ संस्करण, अलाइड पब्लिशर्स, 1994, परिशिष्ट 3.

अंग बन जाता है। ऐसी स्थिति में अपने धर्म को सत्य एवं श्रेष्ठ मानना मनुष्य के लिए स्वाभाविक ही है। इसी कारण वह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपने धर्म का विरोध और अपमान सहन नहीं कर पाता। धर्म के प्रति मनुष्य की यह स्वाभाविक संवेदनशीलता जब एक सीमा से बहुत अधिक बढ़ जाती है जो वह धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता और उन्माद का रूप ग्रहण कर लेती है। इस उन्माद तथा कट्टरता के फलस्वरूप वह अपना संपूर्ण विवेक खो देता है और समाज एवं स्वयं अपने लिए भयंकर परिणामों की चिंता किए बिना धर्म-युद्ध में मरने-मारने को उद्यत हो जाता है। अपनी इस विवेकहीनता में मनुष्य यह भूल जाता है कि इसके कारण अंततः सभी को हानि पहुँचती है जिसमें वह स्वयं भी सम्मिलित है।

धार्मिक असहिष्णुता का दूसरा प्रमुख कारण है अधिकतर धर्मपरायण परिवारों द्वारा बच्चों का गलत पालन-पोषण और उन की गलत धार्मिक शिक्षा। इन परिवारों में बच्चों को प्रायः यह सिखाया जाता है कि उनका अपना धर्म ही सत्य तथा सर्वश्रेष्ठ है जिसका अर्थ यह होता है कि अन्य सभी धर्म मिथ्या और निकृष्ट हैं। ऐसी गलत शिक्षा के कारण बच्चों के मन में प्रारंभ से ही अपने धर्म के पक्ष में तथा अन्य धर्मों के विरुद्ध दृढ़ पूर्वाग्रह उत्पन्न हो जाता है जो अंततः धार्मिक असहिष्णुता एवं कट्टरता को जन्म देता है। इस पूर्वाग्रह के परिणामस्वरूप वे अपने धर्म सहित सभी धर्मों के गुण-दोषों पर निष्पक्ष रूप से विचार करने में प्रायः असमर्थ हो जाते हैं और उनका धार्मिक दृष्टिकोण बहुत संकुचित हो जाता है। ऐसे बच्चों से वयस्क होने पर धर्म के प्रति निष्पक्षता और उदारता की आशा नहीं की जा सकती।

धार्मिक असहिष्णुता का तीसरा मुख्य कारण यह है कि लगभग सभी धर्मपरायण परिवारों में बच्चों को अपने धर्म की शिक्षा तक ही सीमित रखा जाता है। अन्य धर्मों को जानने और समझने का उन्हें कभी अवसर ही नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, हिंदू परिवारों के बच्चे प्रायः केवल मंदिरों में जाते हैं और अपने हिंदू देवी-देवताओं के विषय में ही जानते हैं। वे कभी भी मस्जिद या गिरजाघर में जा कर मुसलमानों की नमाज़ अथवा ईसाइयों की सामूहिक प्रार्थना में भाग नहीं ले पाते। यही बात अन्य सभी धर्मों के बच्चों के विषय में भी कही जा सकती है। वस्तुतः धर्मपरायण परिवार बच्चों को केवल अपने धर्म की शिक्षा के अतिरिक्त अन्य धर्मों की शिक्षा देने के संबंध में प्रायः सोचते ही नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चों का धार्मिक दृष्टिकोण बहुत सीमित और संकुचित हो जाता है। वे स्वयं अपने धर्म को छोड़ कर अन्य धर्मों के सिद्धांतों, विश्वासों तथा अनुष्ठानों का आदर नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, अनभिज्ञता के कारण ये सिद्धांत, विश्वास और अनुष्ठान उन्हें मिथ्या एवं निरर्थक प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में वयस्क होने पर अपने संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप वे अन्य धर्मों के अनुयाइयों के साथ मैत्री-संबंध स्थापित करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं। इस प्रकार अन्य धर्मों के विषय में मनुष्यों की अनभिज्ञता भी अंततः उनके मन में धार्मिक असहिष्णुता को जन्म देती है।

उपर्युक्त तीसरे कारण से घनिष्ठतः संबद्ध धार्मिक असहिष्णुता का चौथा और अंतिम कारण है समाज में विभिन्न धर्मावलंबियों का एक-दूसरे से प्रायः अलग-अलग रहना। जिन देशों में भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं वे एक-दूसरे के धार्मिक त्योहारों

और समारोहों में बहुत कम सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयाई अपने-अपने धर्म के अनुसार अलग-अलग त्योहार मनाते हैं और अपने ही धर्म के अन्य अनुष्ठानों में भाग लेते हैं। उन्हें अन्य धर्मावलंबियों के धार्मिक संस्कारों, अनुष्ठानों और त्योहारों में कोई विशेष रुचि नहीं होती। पारस्परिक संपर्क की इस कमी के कारण उन के मन में एक-दूसरे के धर्म के प्रति दूरी या अलगाव की भावना प्रायः बनी रहती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस स्थिति का सामना केवल जनसाधारण को ही नहीं, अपितु सुशिक्षित समुदाय को भी करना पड़ता है, क्योंकि बहुत कम विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था की गई है। इस तुलनात्मक अध्ययन की कमी के कारण बहुत कम विद्यार्थियों को भिन्न-भिन्न धर्मों की समुचित जानकारी मिल पाती है। सामान्यतः इसका परिणाम यह होता है कि अधिकतर विद्यार्थी एक-दूसरे के धर्म के सिद्धान्तों, विश्वासों तथा कर्मकांड से प्रायः अपरिचित ही रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनसे यह आशा करना व्यर्थ है कि वे अपने धर्म के साथ-साथ अन्य सभी धर्मों का भी आदर करेंगे अथवा उनके प्रति सहिष्णुता की भावना रखेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनसाधारण तथा सुशिक्षित व्यक्तियों में एक-दूसरे के धर्म से संबंधित पर्याप्त एवं समुचित जानकारी का अभाव भी उनके मन में प्रायः धार्मिक असहिष्णुता उत्पन्न करता है।

3. धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता और उसके कुछ प्रमुख उपाय

पिछले खंड में धार्मिक सहिष्णुता का अर्थ स्पष्ट करते हुए हम यह बता चुके हैं कि वह सर्वधर्म-समभाव से भिन्न और उस का आवश्यक प्रथम सोपान है। जिन देशों में बहुत-से धर्मों अथवा एक ही धर्म के अनेक संप्रदायों के अनुयाई निवास करते हैं उनमें धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म-समभाव इन दोनों की विशेष आवश्यकता अनुभव की जाती है, क्योंकि इनके अभाव में वहाँ लोग सुरक्षित तथा शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। यदि इन देशों के लोगों में धार्मिक असहिष्णुता पाई जाती है तो उनमें पारस्परिक संघर्ष तथा धर्म-युद्ध के कारण सामाजिक अशांति की संभावना सदा बनी रहती है। इसके अतिरिक्त धार्मिक असहिष्णुता निष्पक्ष चिंतन, सत्य की खोज, नवीन विचारों तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों में भी बाधक सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, समाज में धार्मिक असहिष्णुता के कारण सर्वधर्म-समभाव की संभावना भी समाप्त हो जाती है। गाँधी जी ने मानव-जाति को इस सिद्धांत की जो शिक्षा दी थी उस पर आचरण करना धार्मिक सहिष्णुता के बिना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। सभी धर्मों का समान रूप से आदर वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों के प्रति पहले से ही सहिष्णुता की भावना विद्यमान हो। जो मनुष्य अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के अस्तित्व को ही सहन नहीं करता उसके लिए उन्हें समान रूप से महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक सहिष्णुता मनुष्य को सर्वधर्म-समभाव की ओर अग्रसर करती है जिससे अंततः संपूर्ण मानव-जाति को एक ही परिवार मानने के महान आदर्श की संभावना का मार्ग प्रशस्त होता है। ऐसी स्थिति में सभी बहुधर्मी समुदायों तथा देशों के निवासियों के लिए धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता

स्वतः सिद्ध और निर्विवाद है।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि समाज में धार्मिक सहिष्णुता को उत्पन्न करने और बनाए रखने के लिए कौन–से उपाय किए जा सकते हैं। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें उन कारणों पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा जो मानव–समाज में धार्मिक असहिष्णुता को जन्म देते हैं और जिनकी विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं। वस्तुतः इन सब कारणों का निराकरण करके ही हम धार्मिक सहिष्णुता की ओर अग्रसर हो सकते हैं। जैसा कि पिछले खंड में बताया गया है, धार्मिक असहिष्णुता का प्रथम कारण है केवल अपने ही धर्म को सत्य और सर्वश्रेष्ठ मानने की मनोवृत्ति। इस संकुचित मनोवृत्ति को दूर करने के लिए परिवार में प्रारंभ से ही बच्चों को दूसरों के प्रति मैत्री का और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे वयस्क हो कर उदार तथा सहिष्णु नागरिक बन सकें।

हम देख चुके हैं कि धार्मिक असहिष्णुता का दूसरा मुख्य कारण है अपने धर्म के संबंध में धर्मपरायण परिवारों का पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण जो बच्चों के मन में बाल्यकाल से ही अन्य धर्मों के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न कर देता है। बच्चों में धार्मिक सहिष्णुता के विकास के लिए यह आवश्यक है कि धर्मपरायण परिवार अपने धर्म के प्रति इस पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण का परित्याग करें और उन्हें अपने धर्म के साथ–साथ अन्य धर्मों का भी सम्मान करने की शिक्षा दें। बाल्यावस्था से ही बच्चों के मन में धार्मिक कट्टरता उत्पन्न करना वस्तुतः स्वयं उनके प्रति और संपूर्ण समाज के प्रति बहुत बड़ा अपराध है।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हें, धार्मिक असहिष्णुता का एक अन्य प्रमुख कारण है एक–दूसरे के धर्म के विषय में मनुष्यों की अनभिज्ञता। इस अनभिज्ञता को दूर करने के लिए बाल्यकाल से ही बच्चों को अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के संपर्क में आने का भी पर्याप्त अवसर दिया जाना चाहिए। यदि माता–पिता अपने बच्चों को कभी–कभी दूसरे धर्मों के उपासना–स्थलों में ले जाएँ और उन्हें इन धर्मो के सिद्धांतों, विश्वासों तथा अनुष्ठानों की कुछ जानकारी दें तो इससे अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण अधिक सहानुभूतिपूर्ण एवं उदार हो सकेगा। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था करने और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में विद्यार्थियों को सभी महत्वपूर्ण धर्मों की जानकारी देने से भी इन धर्मों के संबंध में लोगों की अनभिज्ञता को दूर किया जा सकता है जिससे धार्मिक सहिष्णुता के विकास में पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है। समाचार–पत्र, आकाश–वाणी, दूर–दर्शन आदि जन–संपर्क के साधन भी इस कार्य में अपना महत्वूपर्ण योगदान कर सकते हैं। यदि शिक्षा तथा जन–संपर्क के इन साधनों द्वारा अधिकतर व्यक्तियों को सभी धर्मों की समुचित जानकारी मिल जाए तो संभवतः इन धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार और सहानुभूतिपूर्ण हो सकता है। इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि ऊपर जिन सुझावों का उल्लेख किया गया है उन सबको भली–भाँति कार्यान्वित करके बहुधर्मी समुदायों तथा देशों में धार्मिक सहिष्णुता का विकास करना संभव है।

उपुर्यक्त सुझावों अथवा उपायों के अतिरिक्त धार्मिक सहिष्णुता के समर्थन में कुछ दार्शनिक या बौद्धिक तर्क भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनकी हम यहाँ संक्षिप्त विवेचना करेंगे। उदाहरणार्थ, भारतीय दर्शन के कुछ सिद्धांतों के आधार पर धार्मिक सहिष्णुता सहित सभी प्रकार की सहिष्णुता को उचित और आवश्यक सिद्ध किया जा सकता है। इन सिद्धांतों में सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' का यह सिद्धांत विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि "सत्ता वास्तव में एक ही है, किंतु विद्वान लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं। "एकंसत्, विप्राः बहुधा वदंति"।[7] इस वैदिक सिद्धांत का तात्पर्य यही है कि ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता के विषय में विभिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं, अतः कोई भी व्यक्ति अथवा समुदाय यह दावा नहीं कर सकता कि केवल उसी का दृष्टिकोण पूर्णतः सत्य और मान्य है। इसी प्रकार जैन दर्शन का प्रसिद्ध सिद्धांत, 'अनेकांतवाद' भी मूलतः उपर्युक्त वैदिक सिद्धांत का ही समर्थन करता है। इस सिद्धांत के अनुसार भी प्रत्येक समस्या पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है, ऐसी स्थिति में किसी एक व्यक्ति या समुदाय का यह दावा करना उचित नहीं है कि केवल उसी के दृष्टिकोण को सभी व्यक्तियों द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन के ये दोनों सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय के लिए सभी प्रकार की सहिष्णुता को वांछनीय तथा आवश्यक मानते हैं जिसमें धार्मिक सहिष्णुता भी सम्मिलित है, किंतु दुःख की बात यह है कि आज भारत में ऐसे बहुत कम लोग हैं जो इन दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार आचरण करते हैं।

भारतीय दार्शनिकों की भाँति कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी धार्मिक सहिष्णुता के समर्थन में अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं। इनमें सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अंग्रेज़ अनुभववादी दार्शनिक, जॉन लॉक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 1688 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, 'ऐपिस्टोला डी टॉलरंशिया' में उन्होंने अनेक तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि धार्मिक सहिष्णुता केवल उचित ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। इस संबंध में लॉक का प्रथम तर्क यह है कि अपने विरोधियों का दमन करना अंततः लाभदायक सिद्ध नहीं होता, अतः धार्मिक असहिष्णुता प्रभावहीन और व्यर्थ है। उनका यह मत उचित एवं युक्तिसंगत है, क्योंकि भिन्न या विरोधी विचार रखने के कारण किसी व्यक्ति का दमन करके उसे तो कष्ट पहुँचाया जा सकता है अथवा उस की हत्या भी की जा सकती है, किंतु इससे उसका विचार नष्ट नहीं हो जाता। कॉपरनिकस, गैलीलियो, ब्रूनो आदि के क्रांतिकारी विचार इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं।

धार्मिक असहिष्णुता के विरुद्ध लॉक का दूसरा तर्क यह है कि समाज की सुरक्षा के नाम पर बल-प्रयोग के लिए धर्म की राज्य के साथ तुलना करना अनुचित है। इसका कारण यह है कि धर्म का उद्देश्य राज्य के उद्देश्य से बिल्कुल भिन्न है। राज्य को नागरिकों के जीवन तथा उनकी स्वतंत्रता और संपत्ति की रक्षा के लिए बल-प्रयोग का अधिकार है, परंतु धर्म-गुरुओं को यह अधिकार नहीं है, क्योंकि उनका कार्य मनुष्य का भौतिक हित न हो कर आध्यात्मिक कल्याण ही है जो केवल प्रेम एवं अहिंसात्मक उपायों द्वारा संभव है; लॉक

7. 'ऋग्वेद', 1, 164.

धर्म-गुरुओं के इस परंपरागत तर्क को अस्वीकार करते हैं कि यदि धर्म के विरोधी विचारों को सहन किया गया तो समाज में विद्रोह उत्पन्न हो जाएगा जो उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। उनका विचार है कि नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करना और समाज में सुरक्षा एवं शांति बनाए रखना केवल राज्य का ही कार्य है, अत: राज्य के प्रशासक ही इसके लिए बल का प्रयोग कर सकते हैं; मनुष्य के आध्यात्मिक कल्याण के लिए कार्य करने वाले धर्म-गुरुओं को बल-प्रयोग का यह अधिकार नहीं है।

धार्मिक असहिष्णुता के विरुद्ध लॉक का तीसरा तर्क लगभग वही है जो भारतीय दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया है और जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अपने इस तर्क की व्याख्या करते हुए लॉक कहते हैं कि सभी राज्य तथा व्यक्ति केवल अपने ही धर्म को पूर्णत: सत्य मानते हैं, किंतु वास्तव में कोई भी व्यक्ति अथवा राज्य धर्म से संबंधित संपूर्ण सत्य को नहीं जानता। जब सभी व्यक्ति अथवा राज्य केवल अपने ही धर्म को पूर्णत: सत्य मानने का दावा करते हैं तो यह स्पष्ट है कि उन सब का दावा तार्किक दृष्टि से उचित नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में किसी भी व्यक्ति या राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह केवल अपने ही धर्म को सत्य और अन्य सभी धर्मों को मिथ्या घोषित करके दूसरों को कोई एक धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य करे। इसका तात्पर्य यही है कि सभी मनुष्यों को अपनी आस्था के अनुसार अपने धर्म को मानने का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार अपने उपर्युक्त तर्कों द्वारा लॉक ने धार्मिक असहिष्णुता को अनुचित और अवांछनीय सिद्ध करते हुए धार्मिक सहिष्णुता का स्पष्टत: समर्थन किया है।

लॉक की भाँति उन्नीसवीं शताब्दी के सुविख्यात अंग्रेज़ विचारक, जॉन स्टुअर्ट मिल भी धार्मिक सहिष्णुता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता के पक्ष में दिए गए लॉक के सभी तर्कों को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, इस संबंध में उनके विचार लॉक के विचारों की अपेक्षा भी कहीं अधिक उदार थे जो निरीश्वरवाद को समाज के लिए अत्यधिक हानिकारक मानते हुए निरीश्वरवादियों को कठोर दंड देने का समर्थन करते थे। परंतु मिल के दर्शन में निरीश्वरवादियों के विरुद्ध ऐसा शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण दिखाई नहीं देता। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से मिल का मत लॉक के मत की अपेक्षा अधिक उदार तथा अनुकरणीय प्रतीत होता है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये दोनों दार्शनिक धार्मिक सहिष्णुता को सभी मनुष्यों के लिए बहुत आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन की भाँति पाश्चात्य दर्शन में भी धार्मिक सहिष्णुता को पर्याप्त महत्व दिया गया है।[8] वस्तुत: जब तक विश्व में धर्म का अस्तित्व बना रहेगा और भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले समुदाय विद्यमान रहेंगे तब तक धार्मिक सहिष्णुता तथा सर्वधर्म-समभाव का मार्ग ही मानव-जाति के लिए श्रेयस्कर मार्ग कहा जा सकता है। आशा है भारत और अन्य सभी बहुधर्मी देशों के निवासी इसी कल्याणकारी मार्ग पर चलते हुए इन दोनों सिद्धांतों के अनुरूप आचरण कर सकेंगे।

8. धार्मिक सहिष्णुता के समर्थन में लॉक और मिल के तर्कों के लिए देखिए मॉरिस क्रैंस्टन का लेख, 'टॉलरेशन', 'ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िलॉसॉफ़ी', खंड 8, पृ. 144-145

परिशिष्ट 4

धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

1. धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अर्थ

क्या धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई सम्बंध है? क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार धर्म को समझा जा सकता है अथवा क्या धर्म के विषय में इस दृष्टिकोण के आधार पर विचार किया जा सकता है? क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा विश्व में प्रचलित धार्मिक संघर्ष का निराकरण करना सम्भव है? इन प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों का कोई सुनिश्चित एवं सर्वमान्य उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि ये प्रश्न विवादास्पद हैं। इस संक्षिप्त परिशिष्ट में इन प्रश्नों के संबंध में मैं अपने विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मैं यह आशा नहीं करता कि सभी प्रबुद्ध विचारक मेरे इन विचारों से सहमत होंगे, किन्तु यदि ये विचार कुछ विद्वानों को इस गम्भीर विषय पर स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चिंतन के लिए अभिप्रेरित कर सकें तो मैं अपने इस लघु प्रयास को सफल तथा सार्थक समझूंगा।

परंतु धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विषय में कुछ कहने से पूर्व यहाँ इन दोनों के अर्थ, स्वरूप तथा उद्देश्य को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग उस नैतिक अर्थ में नहीं किया जा रहा है जो वेदों, उपनिषदों, 'महाभारत', कुछ भारतीय दर्शनों तथा 'मनुस्मृति' में भारत के प्राचीन मनीषियों ने स्वीकार किया है और जिसके अनुसार इस शब्द को मनुष्य के मूल कर्तव्यों, सदाचार, सत्य एवं जीवन के नियामक पुरुषार्थ के साथ संबद्ध किया गया है। मेरे विचार में धर्म का यह व्यापक नैतिक अर्थ सार्वभौम, सार्वकालिक तथा निर्विवाद है। इस अर्थ में धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में न तो कोई संघर्ष है और न ही इस की कोई संभावना है। यहाँ मैं 'धर्म' शब्द का प्रयोग उस सामान्य प्रचलित अर्थ में कर रहा हूँ 'जिसे 'मज़हब', 'पंथ' आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है और जिसके साथ कुछ अलौकिक सिद्धांत एवं अनेक प्रकार के कर्मकांड अनिवार्यतः संबद्ध रहते हैं। यहाँ जनसाधारण में प्रचलित 'धर्म' शब्द के इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए उसके साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण के संबंध पर विचार किया जाएगा।

उपर्युक्त सामान्य प्रचलित अर्थ के अनुसार धर्म मनुष्य की एक विशेष अभिवृत्ति, मनोदशा या जीवन-पद्धति है जिस का मूल आधार किसी अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता में उसकी आस्था है और अपनी इस आस्था के कारण वह अति पवित्र समझे जाने वाले कुछ विशेष धर्म-स्थलों में इस शक्ति या सत्ता की पूजा अथवा उपासना करता है तथा इस उपासना के परिणामस्वरूप वह वर्तमान जीवन एवं पारलौकिक जीवन में समस्त दुःखों से मुक्ति या अखंड आनंद की प्राप्ति की आशा करता है। इस प्रकार किसी अति-प्राकृतिक शक्ति या सत्ता में आस्था, पवित्र माने जाने वाले धर्म-स्थलों में उस की पूजा, दुःख से मुक्ति की आशा तथा इसके लिए विशेष सदाचरण द्वारा प्रयास धर्म के कुछ अनिवार्य मूल तत्त्व हैं जिन के बिना उसके स्वरूप को भली-भांति नहीं समझा जा सकता और जो उसे विज्ञान, दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला, नैतिकता आदि से पृथक करते हैं। धर्म के इसी

अर्थ में उसके साथ कुछ मूल सिद्धांत एवं कर्मकांड अनिवार्यतः सम्बद्ध रहते हैं जिन के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब कोई साधारण व्यक्ति 'धर्म' शब्द का प्रयोग करता है तो वह प्रायः उसका यही अर्थ समझता है। इसी अर्थ में हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम आदि की सार्थक रूप से चर्चा की जाती है जिनके अनुयाइयों में समय-समय पर संघर्ष होता रहता है अथवा कम से कम इस संघर्ष की संभावना बनी रहती है।

'धर्म' के अर्थ की व्याख्या के पश्चात् अब संक्षेप में 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' के स्वरूप और अर्थ पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह समझना कठिन नहीं है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विज्ञान के साथ अनिवार्य संबंध है, क्योंकि इसका मूल आधार विज्ञान तथा उसकी अपनी विशेष विधि है। ऐसी स्थिति में इस दृष्टिकोण के स्वरूप की व्याख्या के लिए 'विज्ञान' और उसकी विशेष विधि के स्वरूप को भली-भांति स्पष्ट कर देना आवश्यक हो जाता है। मेरे विचार में अनुभव, निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा उपलब्ध तथ्यों के आधार पर किसी विषय अथवा समस्या का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन, विश्लेषण और चिंतन ही 'विज्ञान' है। विज्ञान की इस संक्षिप्त परिभाषा में उसकी विशिष्ट विधि का स्वरूप भी अंतर्निहित है जो अनिवार्यतः अनुभव तथा प्रयोग द्वारा प्राप्त तथ्यों के निष्पक्ष निरीक्षण पर आधारित रहती है। दूसरे शब्दों में, जब हम किसी समस्या अथवा विषय से संबंधित उन तथ्यों के आधार पर उसका क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन एवं विश्लेषण करते हैं जो हमें अनुभव, प्रयोग और निष्पक्ष निरीक्षण से प्राप्त होते हैं तो उसे 'विज्ञान' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

विज्ञान की उपर्युक्त विधि का मूल आधार किसी समस्या से संबद्ध समस्त तथ्यों का यथासंभव निष्पक्ष निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा उस समस्या से संबंधित प्राक्कल्पना का कम से कम सैद्धांतिक सत्यापन है जिसका उद्देश्य उस समस्या का संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत करना होता है अथवा जिसके द्वारा पूर्व प्रस्तुत समाधानों की पुनः परीक्षा की जाती है। विज्ञान में निरीक्षण, प्रयोग तथा सत्यापन पर आधारित सदैव इस अनुभव मूलक विशिष्ट विधि का उपयोग किया जाता है और इसी कारण इसे 'वैज्ञानिक विधि' की संज्ञा दी जाती है। यह स्पष्ट है कि इस वैज्ञानिक विधि में किसी विशेष व्यक्ति के कथन या मत और किसी अलौकिक सत्ता अथवा शक्ति से संबंधित विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। इस विधि में अनुभव, निरीक्षण तथा प्रयोग पर आधारित किसी प्राक्कल्पना अथवा सिद्धांत के व्यावहारिक या सैद्धांतिक सत्यापन को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है। जब कोई विज्ञानी इस वैज्ञानिक विधि द्वारा किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है तो वह इस ज्ञान को पूर्णतः निश्चित एवं निरपेक्ष रूप से सत्य न मान कर केवल प्रायिक अथवा संभावित ही मानता है जिसका अधिक प्रामाणिक ज्ञान द्वारा कभी भी खंडन किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञान के क्षेत्र में कोई भी विश्वास या सिद्धांत इतना निर्विवाद और ऐसा पवित्र नहीं होता कि उस पर कभी संदेह न किया जा सके अथवा उसे कभी कोई चुनौती न दी जा सके। वस्तुतः विज्ञान द्वारा प्राप्त संपूर्ण ज्ञान का मूल आधार मानवीय

अनुभव एवं तर्क है, अतः इस ज्ञान में निकट या सुदूर भविष्य में अधिक प्रबल प्रमाणों के आधार पर आवश्यक सुधार, परिवर्तन अथवा संशोधन का स्थान सदैव बना रहता है। इस प्रकार अनुभव, तर्क, निरीक्षण, प्रयोग, सत्यापन, लौकिकता, ज्ञान की प्रायिकता अथवा संभाव्यता आदि विज्ञान के कुछ अनिवार्य तत्व हैं जो उसे साहित्य, कला, नैतिकता और धर्म से पृथक करते हैं।

जब कोई व्यक्ति 'विज्ञान' के उपर्युक्त अर्थ में केवल उसी के आधार पर किसी विषय अथवा समस्या के संबंध में अपना कोई मत निश्चित करता है तो उसकी इस अनुभवमूलक एवं तर्कपूर्ण मनोवृत्ति को 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की संज्ञा दी जाती है। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण मनुष्य की वह तर्कयुक्त अभिवृत्ति है जिसके परिणामस्वरूप वह प्रत्येक प्राकृतिक तथा सामाजिक घटना की व्याख्या कारण-कार्य के नियम के अनुसार किसी अन्य प्राकृतिक एवं सामाजिक घटना के आधार पर वैज्ञानिक विधि द्वारा ही करता है। स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण का मूल आधार विज्ञान तथा उसकी विशिष्ट विधि है जिसमें किसी प्रकार की अलौकिकता या अति-प्राकृतिक तत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। उदाहरणार्थ, जब कोई चिकित्सक किसी रोग का उपचार आरंभ करता है तो वह केवल प्राकृतिक जगत् में उसके मूल कारणों को खोजता है और इसके पश्चात् कुछ विशेष औषधियों द्वारा उन कारणों का निराकरण करने का प्रयास करता है। केवल वैज्ञानिक विधि को स्वीकार करने के कारण वह इस रोग के संबंध में किसी तथाकथित दैवी सत्ता के प्रकोप और इस प्रकोप को शांत करने के लिए जप-तप एवं प्रार्थना पर विचार नहीं करता। यही बात व्यापक अर्थ में अन्य समस्त प्राकृतिक घटनाओं के विषय में भी कही जा सकती है जिनमें ऐसी सभी लौकिक घटनाएँ सम्मिलित हैं जो केवल प्राकृतिक कारणों के परिणामस्वरूप घटित होती हैं और इसी कारण जिनके संदर्भ में किसी अलौकिक या दैवी सत्ता पर विचार करना अप्रासंगिक तथा निरर्थक है। जब कोई व्यक्ति केवल इसी अनुभवमूलक एवं तर्कपूर्ण अभिवृत्ति के आधार पर किसी विषय, घटना अथवा समस्या की व्याख्या करता है और उसका समाधान खोजता है तो उसकी इस मानसिक अभिवृत्ति को ही 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' का अर्थ है जगत् विषयक प्रत्येक घटना अथवा समस्या को केवल अनुभवमूलक वैज्ञानिक विधि द्वारा समझने का प्रयत्न करना और फिर इसी विधि के आधार पर उसकी व्याख्या तथा उसके समाधान का प्रयास करना। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण में विज्ञान तथा उसकी विशिष्ट विधि के पूर्वोल्लिखित सभी तत्त्व अनिवार्यतः समाविष्ट रहते हैं जिनके आधार पर ही इसकी ठीक-ठीक व्याख्या की जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य का सम्पूर्ण इंद्रिय-ज्ञान, उससे प्राप्त व्यापक अनुभव, तर्क एवं विवेक इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कुछ आवश्यक मूल तत्त्व हैं जो इसे किसी अलौकिक शक्ति या सत्ता पर अनिवार्यतः आधारित धार्मिक दृष्टिकोण से पृथक करते हैं।

2. धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण में आधारभूत अंतर

धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह

स्पष्ट है कि इन दोनों में न तो कोई संवंध है और न हो सकता है। यह सत्य है कि धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वयं मनुष्य ने ही जन्म दिया है, किंतु फिर भी इन दोनों में इतनी अधिक भिन्नता है कि इनमें कोई अनिवार्य संवंध स्थापित कर पाना संभव प्रतीत नहीं होता। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि वे कौन-से आधारभूत तत्व हैं जो धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक करते हैं। इन दोनों के भिन्न-भिन्न स्वरूप को निर्धारित करने वाले उपर्युक्त मूल तत्त्वों के अतिरिक्त इनके उद्गम, उद्देश्य, क्षेत्र तथा विधि के आधार पर भी इनकी पूर्ण भिन्नता को भली-भांति स्पष्ट किया जा सकता है। अधिकतर विद्वानों का मत है कि धर्म का उद्गम आदिकाल में मानव को भयत्रस्त कर देने वाली अत्यंत प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों तथा जगत् और प्रकृति से संबंधित नियमों के विषय में उसकी अनभिज्ञता के परिणामस्वरूप ही हुआ था। उस समय मनुष्य वन में अनेक प्रकार के भयानक पशुओं तथा आंधी, तूफान, बाढ़, अकाल आदि प्राकृतिक आपदाओं से घिरा रहता था जिनके कारण वह अपने जीवन को सदैव संकटग्रस्त और असुरक्षित अनुभव करता था। इन्हीं प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में उसने अपने जीवन की सुरक्षा, सुख-समृद्धि तथा शांति के लिए विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना की थी जिन्हें प्रसन्न रखने के उद्देश्य से वह उनकी पूजा करता था। यद्यपि मनुष्य इन देवी-देवताओं को देख न सकने के कारण अदृश्य मानता था, फिर भी उसने स्वयं अपने स्वभाव तथा स्वरूप के अनुसार ही उनकी कल्पना की थी और इसी कारण उन्हें प्रसन्न करने के लिए वह अनेक प्रकार के पदार्थ भेंटस्वरूप उन्हें अर्पित किया करता था। इन सब काल्पनिक एवं अति-प्राकृतिक देवी-देवताओं तथा इनकी पूजा या उपासना के परिणामस्वरूप ही प्राचीन काल में धर्म की उत्पत्ति हुई थी और उसका यह अलौकिक आधार आज भी पूर्ववत् बना हुआ है, क्योंकि इसके विना उसका अस्तित्व संभव नहीं है।

धर्म के विपरीत वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पूर्वोल्लिखित मूल आधार, विज्ञान का उद्गम मनुष्य की उस नैसर्गिक तीव्र जिज्ञासा के फलस्वरूप हुआ है जिसके कारण वह इस जगत् और इससे सम्वंधित प्राकृतिक नियमों के विषय में अधिकाधिक जानने का प्रयास करता है। मानव के मन में अपने चारों ओर फैली सभी वस्तुओं तथा अपने समक्ष घटित होने वाली समस्त घटनाओं को जानने की प्रवल इच्छा उत्पन्न होती है और उसकी यही स्वाभाविक इच्छा विज्ञान की उत्पत्ति का मूल स्रोत है। इस नैसर्गिक प्रबल इच्छा अथवा जिज्ञासा से अभिप्रेरित होकर जब कोई विज्ञानी जगत् विषयक ज्ञान प्राप्त करता है तो वह इस ज्ञान को उपयोगिता या किसी अन्य प्रकार के लाभ का साधन न मानकर इसे स्वतः साध्य ही मानता है। उसका एकमात्र उद्देश्य जगत् की वस्तुओं और उसकी कार्यप्रणाली के मूल में निहित प्राकृतिक नियमों को समझना ही होता है, उनसे कोई लाभ प्राप्त करना नहीं। वस्तुतः संपूर्ण विशुद्ध सैद्धांतिक विज्ञान का विकास ऐसे ही स्वतःसाध्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए हुआ है। बाद में इसी विशुद्ध सैद्धांतिक विज्ञान के परिणामस्वरूप प्रौद्योगिकी का जन्म तथा विकास होता है जिसका उद्देश्य अनेक प्रकार के आविष्कारों द्वारा मनुष्य के जीवन को सुखमय, समृद्ध और सुरक्षित बनाना है। परंतु जगत् को जानने और समझने के लिए उत्सुक विज्ञानी

केवल सत्य की खोज के उद्देश्य से ही ज्ञान प्राप्त करता है, किसी अन्य लक्ष्य से प्रेरित हो कर नहीं। इसके विपरीत धर्म के माध्यम से जों ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह स्वतः साध्य न होकर मनुष्य की दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति का साधन मात्र होता है। लगभग सभी धर्माचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में इस दुःख-निवृत्ति या मुक्ति को ही धार्मिक ज्ञान का अंतिम लक्ष्य माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ज्ञान-प्राप्ति के मूल उद्देश्य के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा धार्मिक दृष्टिकोण में आधारभूत अंतर है जो इन दोनों को पूर्णतः पृथक करता है।

धर्म तथा विज्ञान में दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर है जीवन और जगत् के प्रति इन दोनों का पूर्ण रूप से भिन्न दृष्टिकोण। धर्म का दृष्टिकोण अनिवार्यतः आस्थापरक होता है जिसके कारण वह किसी विशेष अलौकिक सत्ता की पूजा या उपासना को सर्वाधिक महत्त्व देता है जिसकी अभिव्यक्ति प्रायः बाह्य कर्मकांड के माध्यम से होती है। किसी विशेष आराध्य अलौकिक सत्ता में अखंड आस्था और उसकी पूजा धर्म का अनिवार्य तत्व है जिसके बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है। संसार में 'धर्म' शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ में ऐसा कोई धर्म नहीं है जिस में ऐसी आस्था और पूजा को अनिवार्य न माना जाता हो। इसी कारण धर्म से संबंधित सभी उपासना-स्थलों, कर्मों, व्यक्तियों तथा ग्रंथों को अत्यंत पवित्र माना जाता है और उनके विषय में कोई अनादरसूचक बात कहना 'पाप' समझा जाता है। धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध संपूर्ण ज्ञान को ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता की वाणी मानकर उसके संबंध में यह दावा किया जाता है कि वह पूर्णतः निश्चित एवं निरपेक्ष रूप से सत्य है और इसी कारण उसमें किसी प्रकार के सुधार, परिवर्तन अथवा संशोधन के लिए कोई स्थान नहीं है। परंतु धर्म के आस्थापरक दृष्टिकोण के विपरीत विज्ञान का दृष्टिकोण तर्कपूर्ण, शोधपरक तथा आलोचनात्मक होता है। विज्ञान के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे केवल अनुभव, तर्क, निरीक्षण, प्रयोग तथा सत्यापन की कसौटियों द्वारा ही परखा जाता है। ऐसे ज्ञान के लिए किसी अलौकिक सत्ता में आस्था और उसकी पूजा पूर्णतः अप्रासंगिक तथा निरर्थक है। यही कारण है कि ऐसा ज्ञान पूर्णतः निश्चित एवं सर्वदा सत्य न होकर सदैव केवल प्रायिक अथवा संभावित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भविष्य में अधिक प्रबल एवं विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा ऐसे ज्ञान में कभी भी आवश्यक सुधार, परिवर्तन या संशोधन किया जा सकता है। इस प्रकार हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि जीवन, जगत् और ज्ञान के स्वरूप के विषय में धर्म तथा विज्ञान का दृष्टिकोण एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न है, अतः इन दोनों में किसी प्रकार की समानता खोजना व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

दृष्टिकोण के अतिरिक्त विषयवस्तु अथवा अध्ययन-क्षेत्र की दृष्टि से भी धर्म और विज्ञान में आधारभूत अंतर है। इन दोनों के अध्ययन-क्षेत्र एक-दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग हैं। धर्म का संबंध अनिवार्यतः मूल्यों से है जबकि विज्ञान मूल्यों के स्थान पर केवल तथ्यों को ही महत्त्व देता है। धर्म मनुष्य के आचरण से संबंधित कुछ विशेष विधि-निषेधों द्वारा मूल्यात्मक दृष्टि से उसके जीवन का मार्गदर्शन करता है। सभी विकसित धर्मों के मूल ग्रंथों

में मानव को कुछ विशेष कर्म करने या न करने के आदेश दिए जाते हैं जिनसे उसका कल्याण हो और उसे इस संसार में अथवा परलोक में दुःख से मुक्ति प्राप्त हो सके। वेदों, भगवद्गीता, कुरान, बाइबल आदि धर्म-ग्रंथों में ऐसे आदेशात्मक विधि-निषेध स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। मानव-जीवन के परम लक्ष्य के रूप में विभिन्न धर्म-ग्रंथों में वर्णित स्वर्ग, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि धार्मिक अवधारणाएं निश्चित रूप से मूल्यात्मक अवधारणाएं हैं। इन अवधारणाओं से यह स्पष्ट है कि धर्म के लिए विश्व में मनुष्य का ही विशेष और सर्वाधिक महत्त्व है। इसी कारण धर्म मानव को केंद्र मानकर केवल उसी के कल्याण की दृष्टि से इस संपूर्ण जगत् और इसमें घटित होने वाली समस्त घटनाओं का अध्ययन तथा मूल्यांकन करता है।

परंतु धर्म के विपरीत विज्ञान का दृष्टिकोण मूल्यात्मक न होकर तथ्यपरक ही होता है। वह प्रत्येक वस्तु या घटना का उससे संबंधित कुछ तथ्यों के आधार पर ही उसके स्वरूप तथा कारणों को समझने का प्रयास करता है। वह इस वस्तु अथवा घटना को 'अच्छी' या 'बुरी', 'उचित' या 'अनुचित' कह कर इसके विषय में कोई मूल्यात्मक निर्णय नहीं देता। यही कारण है कि इस दृष्टि में सभी प्राकृतिक विज्ञानों तथा अधिकतर सामाजिक विज्ञानों को वर्णनात्मक अथवा तथ्यपरक ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान मनुष्य को केंद्र मानकर इस जगत् और इसमें होने वाली घटनाओं का अध्ययन नहीं करता। विज्ञान की दृष्टि से अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य भी एक सामान्य प्राणी है जो उन्हीं प्राकृतिक नियमों द्वारा शासित होता है जो अन्य सभी प्राणियों पर लागू होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञान के लिए इस जगत् में मनुष्य का विशेष महत्त्व अथवा सर्वोच्च स्थान नहीं है। धर्म के विपरीत विज्ञान किसी विशेष उद्देश्य या लक्ष्य की दृष्टि से भी इस जगत् और मनुष्य का अध्ययन नहीं करता। विज्ञान के अनुसार, समस्त प्राकृतिक नियम मनुष्य सहित सभी प्राणियों तथा वस्तुओं पर समान रूप से लागू होते हैं और इन्हीं नियमों द्वारा उनका जन्म, विकास एवं विनाश होता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विषयवस्तु अथवा अध्ययन-क्षेत्र की दृष्टि से भी धर्म तथा विज्ञान में मूलभूत अंतर है जो इन्हें एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक करता है।

धर्म और विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र या विषयवस्तु की भांति ज्ञान-प्राप्ति के लिए इन दोनों की विधियां भी एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्म प्रायः आस्था, शब्द-प्रमाण तथा दैवी प्रकाशना अथवा श्रुति को सर्वाधिक महत्त्व देता है। धर्मपरायण व्यक्ति ऐसे कथनों, विश्वासों और सिद्धांतों को पूर्णतः निश्चित एवं निरपेक्ष रूप से सत्य मानता है जो किसी महान संत या पैगंबर द्वारा कहे गए हैं अथवा जो उसके धर्मग्रंथ में उपलब्ध होते हैं। अपनी अखंड आस्था के कारण वह ऐसे कथनों, विश्वासों तथा सिद्धांतों की सत्यता में किसी प्रकार का संदेह नहीं करता और उनके विषय में कभी कोई प्रश्न नहीं उठाता। धर्मपरायण व्यक्ति का यह आस्थापरक दृष्टिकोण ही उसके लिए धार्मिक ज्ञान को ऐसा निश्चित ज्ञान बना देता है जिसमें सुधार, परिवर्तन या संशोधन के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, विज्ञान द्वारा

संसार के विषय में जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसकी विधि उपर्युक्त धार्मिक विधि से पूर्णतः भिन्न है। इस वैज्ञानिक विधि में आस्था और शब्द-प्रमाण के स्थान पर निरीक्षण, प्रयोग तथा सत्यापन को ही अनिवार्य माना जाता है। यही कारण है कि इस विधि द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह निरपेक्ष रूप से सत्य न होकर केवल प्रायिक अथवा संभावित ही होता है। वैज्ञानिक विधि के इन मूल तत्त्वों की विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं, अतः यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि ये सभी तत्त्व इस विधि को आस्था पर आधारित धार्मिक विधि से पूर्णतः पृथक करते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना बहुत कठिन है कि धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई समानता है अथवा हो सकती है।

3. निष्कर्ष

धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर इन दोनों के संबंध में हम तार्किक दृष्टि से कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं। हम देख चुके हैं कि धर्म का उद्‌गम, जीवन और जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण, उसकी विषयवस्तु तथा विधि, विज्ञान के उद्‌गम, जीवन तथा जगत् के प्रति दृष्टिकोण और उसकी विषयवस्तु एवं विधि से पूर्णतः भिन्न है जिस पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्यतः आधारित रहता है। भय असहायता एवं अनभिज्ञता से उत्पन्न धर्म का मूल आधार किसी अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता में मनुष्य की अखंड आस्था है जिसकी वह पूजा या उपासना करता है और इसी कारण जिसके अस्तित्व में वह कभी संदेह नहीं करता। वह उन सभी कथनों, विश्वासों तथा सिद्धांतों को निरपेक्ष रूप से सत्य मानता है जो उसके धर्म-प्रवर्तक द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं अथवा उसके धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। ऐसे धर्मपरायण व्यक्ति का संपूर्ण जीवन उन धार्मिक विश्वासों द्वारा शासित होता है जिनकी सत्यता उसके लिए असंदिग्ध है और जिनके ज्ञान का एकमात्र साधन श्रुतिमूलक शब्द-प्रमाण है। वह सदा इन्हीं विश्वासों के अनुरूप आचरण करता है और इनका कभी भी परित्याग नहीं कर सकता। उसके लिए धर्म द्वारा निर्धारित मानव-जीवन के परम लक्ष्य का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है। वह अपने इसी धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। संक्षेप में धर्मपरायण व्यक्ति के समस्त विचार, जीवन तथा जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण और उसका संपूर्ण आचरण उसके धार्मिक विश्वासों द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि यही उसके धर्म की अनिवार्य मांग है। यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसा व्यक्ति उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकता जिसकी चर्चा ऊपर की गई है और जिसमें उसके धार्मिक विश्वासों तथा पूजा या उपासना के लिए कोई स्थान नहीं है।

परंतु जो व्यक्ति धर्म के स्थान पर केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण को महत्त्व देता है उसका जीवनदर्शन तथा आचरण धर्मपरायण व्यक्ति के जीवनदर्शन और आचरण से पूर्णतः भिन्न होता है। धार्मिक व्यक्ति के विपरीत वह केवल उन्हीं विचारों, विश्वासों तथा सिद्धांतों को स्वीकार करता है जो विज्ञान द्वारा प्रमाणित हो चुके हैं अथवा जिनकी व्याख्या तार्किक या वैज्ञानिक नियमों द्वारा की जा सकती है। वह प्रत्येक वस्तु अथवा घटना को समझने

के लिए वैज्ञानिक विधि का ही प्रयोग करता है और उसकी व्याख्या भी विज्ञान द्वारा स्वीकृत प्राकृतिक नियमों के आधार पर करता है जिनमें कारण-कार्य का नियम सर्वप्रमुख है। केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुरूप विचार और आचरण करने वाले ऐसे व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार की अलौकिक आस्था, अंधविश्वासों तथा परंपरागत धार्मिक कर्मकांड या अनुष्ठानों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। वह किसी विचार, विश्वास या सिद्धांत को केवल इसलिए नहीं मान लेता कि उसे किसी महान धर्म-प्रवर्तक ने प्रस्तुत किया है अथवा कोई विशेष धर्म-ग्रंथ उसे मानने का आदेश देता है। इसका कारण यह है कि जीवन और जगत् के प्रति ऐसे व्यक्ति का दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से तार्किक या बौद्धिक होता है। किसी विचार या सिद्धांत के समर्थन में वह केवल ऐसे प्रमाण को ही विश्वसनीय मानता है जिसका मूल आधार अनुभव अथवा तर्क है और जिसकी पुष्टि कुछ प्राकृतिक तथ्यों द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्मपरायण व्यक्ति के विपरीत वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले मनुष्य की प्रतिबद्धता केवल अनुभव, तर्क, वैज्ञानिक विधि तथा विज्ञान द्वारा प्रमाणित सिद्धांतों के प्रति ही होती है, किसी विशेष धर्म-प्रवर्तक, संत या अलौकिक सिद्धांत के प्रति नहीं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के लिए कोई विशेष वैज्ञानिक उपाधि प्राप्त करना अथवा विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत होना अनिवाय नहीं है। यह संभव है कि विज्ञान की शिक्षा देने वाला अथवा प्रयोगशाला में कार्य करने वाला कोई विज्ञानी अपने व्यावहारिक जीवन में धर्मपरायण व्यक्ति हो। ऐसी स्थिति में जीवन और जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर धार्मिक ही होगा। इसका तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के लिए एक विशेष प्रकार की तर्कपूर्ण मानसिक अभिवृत्ति की आवश्यकता होती है जिसे समुचित शिक्षा और प्रयास द्वारा कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। परंतु इतना निश्चित है कि वास्तविक अर्थ में इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाला व्यक्ति किसी अलौकिक सत्ता में आस्था रखने वाला धर्मपरायण मनुष्य नहीं हो सकता।

धर्मपरायण व्यक्ति एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले व्यक्ति के विचारों तथा आचरण में उपर्युक्त आधारभूत अंतर से यह स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार का व्यक्ति केवल आस्था के आधार पर अपने विशेष धार्मिक विश्वासों तथा सिद्धांतों को पूर्णतः सत्य मानकर संतुष्ट हो जाता है जबकि दूसरे प्रकार का व्यक्ति अनुभव, तर्क और वैज्ञानिक विधि द्वारा निरंतर सत्य का अनुसंधान करता रहता है। एक का दृष्टिकोण मूलतः आस्थापरक एवं अलौकिक होता है और दूसरे का तार्किक, आलोचनात्मक, इहलौकिक तथा शोधपरक। यही कारण है कि धर्मपरायण व्यक्तियों और वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों में प्रायः संघर्ष होता रहता है जो अनिवार्य तथा नितांत स्वाभाविक है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इसी वैचारिक संघर्ष के परिणामस्वरूप धर्म—विशेषतः पाश्चात्य ईश्वरवादी धर्मों— ने विज्ञान के उदय तथा विकास में निरंतर बाधा डालने का प्रयास किया है और अपने इस निंदनीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्मपरायण प्रशासकों ने सत्य की

खोज करने वाले महान विज्ञानियों पर घोर अमानवीय अत्याचार किए हैं। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्तियों से यह आशा करना अवास्तविक और निरर्थक है कि वे किसी भी मानवीय समस्या पर—चाहे वह धार्मिक हो या धर्मनिरपेक्ष-वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करेंगे अथवा कर सकते हैं। इसके विपरीत दुखद एवं कटु सत्य यह है कि वे जनसाधारण में सतत धार्मिक प्रचार द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरुद्ध अपना अभियान निरंतर चलाते रहेंगे जैसा कि वे आज भी चला रहे हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है और न हो सकता है। वस्तुतः धर्म पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करना और इस दृष्टिकोण के अनुरूप उसकी कोई संतोषप्रद वैज्ञानिक व्याख्या करना संभव प्रतीत नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर उस व्यापक दुखद संघर्ष को समाप्त या कम किया जा सकता है जो संपूर्ण विश्व में भिन्न-भिन्न धर्मों तथा एक ही धर्म के विभिन्न संप्रदायों में परस्पर प्रायः होता रहता है। आजकल अनेक प्रबुद्ध विचारक अपने-अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। इस प्रश्न के संबंध में मेरा अपना मत यह है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा विभिन्न धर्मानुयाइयों में धार्मिक सहिष्णुता उत्पन्न करके इस संघर्ष को कुछ सीमा तक कम किया जा सकता है। इसका एक उपाय यह है कि यदि अलग-अलग धर्मों में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को उनके अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों की भी आवश्यक तथ्यपरक जानकारी प्रदान की जाए तो अन्य धर्मों के विरुद्ध उनके निराधार पूर्वाग्रहों का निराकरण करना शायद संभव है। वस्तुतः आज विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों में जो धार्मिक संघर्ष दिखाई देता है उसका एक बहुत बड़ा कारण एक-दसरे के धर्म के विषय में उनकी पूर्ण अनभिज्ञता है जो अनावश्यक निराधार पूर्वाग्रहों को जन्म देती है और अंततः ये पूर्वाग्रह उनमें धार्मिक असहिष्णुता उत्पन्न करते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न धर्मों के संबंध में समुचित तथ्यात्मक जानकारी द्वारा धर्मपरायण व्यक्तियों की इस धार्मिक असहिष्णुता को समाप्त अथवा कम किया जा सके तो संभवतः वर्तमान धार्मिक संघर्ष भी समाप्त या कम हो सकता है। परंतु मूल प्रश्न यह है कि क्या हम जनसाधारण को यह आवश्यक तथ्यपरक जानकारी देने के लिए तैयार हैं।

परिशिष्ट-5

तर्कबुद्धि और धर्म

1. तर्कबुद्धि का स्वरूप

इस पुस्तक के आठवें अध्याय में धार्मिक ज्ञान, श्रुति और आस्था का विवेचन करते हुए हम इन सबके संदर्भ में तर्कबुद्धि की संक्षिप्त चर्चा कर चुके हैं। प्रस्तुत परिशिष्ट में तर्कबुद्धि के अर्थ या स्वरूप तथा मनुष्य के धार्मिक जीवन में इसके स्थान की कुछ विस्तारपूर्वक विवेचना की जाएगी। इस विवेचना के संदर्भ में हम मुख्यतः निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करेंगे और उनके युक्तिसंगत उत्तर खोजने का प्रयास करेंगे। तर्कबुद्धि का अर्थ या स्वरूप क्या है और मानवीय ज्ञान की दृष्टि से अनुभववाद तथा बुद्धिवाद इन प्रमुख पाश्चात्य विचारधाराओं में इसकी क्या भूमिका रही है? प्रचलित सामान्य अर्थ में 'धर्म' के साथ तर्कबुद्धि का क्या संबंध है? क्या श्रुतिमूलक ज्ञान तथा धार्मिक विश्वासों की प्रामाणिकता के लिए सार्थकतापूर्वक तर्कबुद्धि का प्रयोग किया जा सकता है? क्या मानव के धार्मिक जीवन में वस्तुतः तर्कबुद्धि की कोई भूमिका है अथवा हो सकती है? इस संपूर्ण समस्या पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने वाले धर्म-दर्शन के अध्येयता के लिए इन सभी प्रश्नों का निश्चय ही बहुत महत्त्व है, अतः इनके तर्कसंगत उत्तर खोजना उसके लिए आवश्यक हो जाता है।

तर्कबुद्धि के स्वरूप तथा मानव-जीवन में उसकी भूमिका पर बहुत प्राचीन काल से विचार किया जाता रहा है। उदाहरणार्थ, प्लेटो तथा अरस्तू इन दो महान यूनानी दार्शनिकों ने तर्कबुद्धि के अर्थ की सविस्तार विवेचना की है और मनुष्य के जीवन में इसे विशेष महत्त्व दिया है। अरस्तू मनुष्य में विद्यमान तर्कबुद्धि की शक्ति के कारण ही उसे विवेकशील प्राणी मानते हैं। उनका स्पष्ट एवं निश्चित मत है कि यह तर्कबुद्धि ही मनुष्य को अन्य सभी प्राणियों से पृथक करती है और उसे उनकी अपेक्षा बौद्धिक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट बनाती है। यही कारण है कि उनका संपूर्ण नीति-दर्शन मूलतः इसी तर्कबुद्धि पर आधारित है। उनके मतानुसार, मनुष्य के अंदर तर्कबुद्धि वह शक्ति है जिसके द्वारा वह जीवन और जगत् की समस्याओं पर बौद्धिक दृष्टि से विचार करने में समर्थ होता है। यूनानी दर्शन की इसी प्राचीन परंपरा का अनुसरण करते हुए महान जर्मन दार्शनिक कान्ट भी मानव-जीवन में तर्कबुद्धि को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हैं। उन्होंने अपनी दो सुविख्यात पुस्तकों- 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न' तथा 'क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीज़न'—में तर्कबुद्धि के स्वरूप और मनुष्य के जीवन में इसकी विशेष भूमिका पर सविस्तार विचार किया है। अरस्तू की भाँति उनके संपूर्ण नीति-दर्शन का मूल आधार भी यह तर्कबुद्धि ही है।

तर्कबुद्धि का अर्थ स्पष्ट करते हुए कान्ट कहते हैं कि यह मनुष्य में विद्यमान उच्च स्तरीय एक विशेष संज्ञानात्मक शक्ति है जो इंद्रिय-संवेदनों का अनुभव करने तथा कल्पना करने की शक्तियों से पूर्णतः भिन्न है। मनुष्य में अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा बाह्य जगत् की विभिन्न वस्तुओं का प्रत्यक्षतः अनुभव करने और इस अनुभव के आधार पर अनुपस्थित

या असंभव वस्तुओं की कल्पना करने की क्षमता होती है। इसी प्रकार वह अपनी अंतर्निरीक्षण की क्षमता द्वारा स्वयं अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख तथा अन्य सभी संवेगों का भी प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सकता है। परंतु मनुष्य की तर्कबुद्धि उसकी इन सब क्षमताओं से बिल्कुल भिन्न प्रकार की है, क्योंकि उसका प्रमुख कार्य जीवन और जगत् पर केवल बौद्धिक दृष्टि से विचार करना है। कान्ट 'तर्कबुद्धि' शब्द का प्रयोग मानवीय विचार-शक्ति के व्यापक अर्थ में करते हैं। उनका मत है कि 'तर्कबुद्धि' के इस व्यापक अर्थ में मनुष्य की तीन विशेष बौद्धिक शक्तियां सम्मिलित हैं—(1) प्रत्ययों या अवधारणाओं को समझने की शक्ति, (2) इन अवधारणाओं का वस्तुओं के संबंध में प्रयोग करने की शक्ति, (3) कुछ विशेष आधार-वाक्यों द्वारा सही अनुमान अथवा उचित निष्कर्ष पर पहुँचने की शक्ति। मनुष्य की इन समस्त बौद्धिक शक्तियों को ही कान्ट ने सम्मिलित रूप में 'तर्कबुद्धि' की संज्ञा दी है। इस तर्कबुद्धि के स्वरूप को भली-भांति स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इसे मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया है—(1) सैद्धांतिक तर्कबुद्धि और (2) व्यावहारिक तर्कबुद्धि। सैद्धांतिक तर्कबुद्धि का संबंध जीवन तथा जगत् को समझने और उसके विषय में विचार करने से है, किंतु व्यावहारिक तर्कबुद्धि मानवीय कर्मों के लिए नैतिक नियमों के निर्माण तथा इन कर्मों के समुचित मार्गदर्शन से संबंधित है। इस प्रकार कान्ट के अनुसार, हमारी सैद्धांतिक तर्कबुद्धि केवल बौद्धिक दृष्टि से विचार करती है और व्यावहारिक तर्कबुद्धि इस विचार के आधार पर हमारे कर्मों का नैतिक दृष्टि से मार्गदर्शन करती है, परंतु वास्तव में यह मूलतः एक ही बौद्धिक शक्ति है जिसका मनुष्य इन दो विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग करता है।

कान्ट द्वारा किए गए तर्कबुद्धि के उपर्युक्त वर्गीकरण के स्वरूप तथा महत्त्व को एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा भली-भांति समझा जा सकता है। मनुष्य जब भी कोई स्वैच्छिक कर्म करता है तो यह कर्म सदैव एक विशेष परिस्थिति के अंतर्गत किया जाता है। इस परिस्थिति में तीन तत्व अनिवार्यतः समाविष्ट रहते हैं—(1) भौतिक वातावरण जिसमें रहते हुए मनुष्य अपना यह कर्म संपन्न करता है; (2) इस वातावरण में रहने वाले दूसरे व्यक्ति तथा अन्य प्राणी जो उसके इस कर्म द्वारा प्रभावित होते हैं या हो सकते हैं; (3) स्वयं मनुष्य का अपना स्वभाव जिसमें उसकी इच्छाएं, भावनाएं, आवश्यकताएं एवं लक्ष्य सम्मिलित हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह उक्त कर्म करता है। मानव को इन सभी तत्वों सहित संपूर्ण परिस्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान प्रदान करना सैद्धांतिक तर्कबुद्धि का कार्य है और यह ज्ञान प्रत्येक स्वैच्छिक कर्म को भली-भांति संपन्न करने के लिए नितांत आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना वह न तो कोई स्वैच्छिक कर्म ठीक प्रकार से संपन्न कर सकता है और न ही इस कर्म द्वारा अपने किसी वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से मनुष्य के लिए सैद्धांतिक तर्कबुद्धि का विशेष महत्त्व है।

परंतु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्वैच्छिक कर्म की प्रक्रिया के लिए संपूर्ण परिस्थिति का सैद्धांतिक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अपने कर्म को परिस्थिति के अनुरूप समायोजित करे और उसके द्वारा अपने

इच्छित लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपलब्ध सभी सर्वोत्तम साधनों का ठीक-ठाक उपयोग करे। ये दोनों कार्य वह अपनी संकल्प-शक्ति द्वारा कर सकता है और इसी शक्ति को कान्ट ने 'व्यावहारिक तर्कबुद्धि' की संज्ञा दी है। मानव की यह संकल्प-शक्ति ही कर्म से पूर्व उसके मन में विद्यमान कर्म विषयक विचार को वास्तविक और व्यावहारिक रूप में परिणत करती है। कान्ट इस संकल्प-शक्ति को भी विचार के समान ही बौद्धिक शक्ति मानते हैं और इसी कारण उन्होंने इसे 'व्यावहारिक तर्कबुद्धि' कहा है। इस प्रकार व्यावहारिक तर्कबुद्धि मनुष्य की वह बौद्धिक शक्ति है जो वास्तव में उसके कर्म को प्रभावित एवं निर्धारित करती है। इसी शक्ति के परिणामस्वरूप वह अपने कर्म-विषयक विचार को वास्तविक और व्यावहारिक रूप प्रदान करने में समर्थ होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, सैद्धांतिक तर्कबुद्धि तथा व्यावहारिक तर्कबुद्धि वास्तव में मनुष्य की एक ही बौद्धिक शक्ति है और इन दोनों रूपों में वह उसके लिए कर्म में सहायक सिद्ध होती है। मानव अपने जीवन में बहुत-सी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं का अनुभव करता है और वह विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहता है; परंतु संतुलित आनंदमय जीवन के लिए इन सबमें पूर्ण सामंजस्य का होना आवश्यक है और यह महत्त्वपूर्ण क़ार्य उसकी व्यावहारिक तर्कबुद्धि संपन्न कर सकती है। इस दृष्टि से मनुष्य के जीवन में व्यावहारिक तर्कबुद्धि का भी उतना ही महत्त्व है जितना सैद्धांतिक तर्कबुद्धि का। यही कारण है कि कान्ट तर्कबुद्धि के इन दोनों रूपों को समान महत्त्व देते हैं और इन्हें मानव-जीवन के लिए बहुत आवश्यक मानते हैं।

तर्कबुद्धि के स्वरूप तथा वर्गीकरण के विषय में उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह मनुष्य की एक विशेष बौद्धिक शक्ति है जिसका संबंध इंद्रिय-संवेदन, भावना, इच्छा, मूल प्रवृत्ति, कल्पना आदि से न होकर विचार, तर्क, विवेक, संकल्प आदि उसकी बौद्धिक क्रियाओं से है। अपनी इसी शक्ति द्वारा वह अनेक वैचारिक, तर्कीय अथवा बौद्धिक क्रियाएं संपन्न करने में समर्थ होता है जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—तर्कसंगत रूप से विचार करना, कुछ प्रतिज्ञप्तियों अथवा पूर्वमान्यताओं के आधार पर सही अनुमान करना, अवधारणाओं या प्रत्ययों में तार्किक संबंध स्थापित करना; किन्हीं तथ्यों अथवा आधार-वाक्यों से सही एवं तर्कपूर्ण निष्कर्ष निकालना; युक्तिसंगत एवं विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धांतों को प्रमाणित करना; किसी विषय पर तर्कपूर्ण वाद-विवाद करना; पूर्वज्ञात अथवा पूर्वमान्य किन्हीं प्रतिज्ञप्तियों के आधार पर अनिवार्यतः प्राप्त होने वाले सही निष्कर्ष पर पहुँचना; अपने किसी मत, प्रस्ताव या विचार को सत्य सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक युक्तियां अथवा तर्क देना; इत्यादि। मनुष्य की ये तथा इसी प्रकार की अन्य सभी बौद्धिक क्रियाएं उसकी तर्कबुद्धि के अंतर्गत समाविष्ट की जाती हैं। इन सब बौद्धिक क्रियाओं से यह स्पष्ट है कि तर्कबुद्धि का क्षेत्र मानवीय ज्ञान, अनुभव, विवेक तथा विचार तक ही सीमित है, अतः इसमें किसी प्रकार की अलौकिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। जैसा कि हम इस परिशिष्ट के अगले खंड में देखेंगे, इसी कारण मूलतः अलौकिकता पर आधारित श्रुति, धार्मिक विश्वासों एवं आस्था को तर्कबुद्धि द्वारा सत्य प्रमाणित करना असंभव हो जाता है। ह्यूम, कान्ट, रसल आदि अनेक महान दार्शनिकों ने तर्कबुद्धि के संबंध में इसी

मत को विश्वसनीय युक्तियों द्वारा सत्य प्रमाणित किया है।

तर्कबुद्धि के विषय में अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य की यह विशेष बौद्धिक शक्ति ही उसके विचारों, सिद्धांतों, विश्वासों तथा कर्मों को विवेकपूर्ण एवं युक्तिसंगत बनाती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जो विचार, सिद्धांत, विश्वास और कर्म तर्कबुद्धि द्वारा शासित एवं नियंत्रित होते हैं वे ही विवेकपूर्ण तथा युक्तिसंगत माने जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि तर्कबुद्धि मनुष्य के विचारों, विश्वासों एवं कर्मों को किस प्रकार नियंत्रित करती है—अर्थात्, वे कौन-सी कसौटियां हैं जिनके आधार पर हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि उसके विचार, विश्वास तथा कर्म वास्तव में विवेकपूर्ण और तर्कसंगत हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कुछ दार्शनिकों ने तर्कबुद्धि की प्रमुख तीन कसौटियां प्रस्तुत की हैं—(1) बोधगम्यता, (2) संगति और (3) प्रामाणिकता।

सर्वप्रथम जब किसी विचार, विश्वास अथवा सिद्धांत को प्रस्तुत किया जाता है तो उसे ऐसी भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाना चाहिए जो स्पष्ट तथा बोधगम्य हो—जिसके अर्थ या तात्पर्य को भली-भांति समझा जा सके। यदि हम किसी विचार, विश्वास या सिद्धांत का ठीक-ठीक अर्थ नहीं जान पाते तो वह हमारे लिए अबोधगम्य होगा और इसी कारण उसे निरर्थक मानना हमारे लिए अनिवार्य हो जाएगा। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित कथन पर विचार कीजिए—"ईश्वर पूर्णतः अभौतिक, अनुभवातीत एवं तर्कबुद्धि से परे होते हुए भी ज्ञान, शक्ति, प्रेम, करुणा, न्यायशीलता आदि असीम गुणों से परिपूर्ण व्यक्तित्व-संपन्न सत्ता है।" ईश्वरवादियों का यह कथन हमारे लिए अबोधगम्य है, क्योंकि कोई भी अभौतिक, अनुभवातीत और तर्कबुद्धि से परे मानी जाने वाली सत्ता मानवीय गुणों से परिपूर्ण तथा व्यक्तित्वसंपन्न एक ही साथ नहीं हो सकती। ऐसी सत्ता के विचार को समझ पाना मनुष्य के लिए असंभव है। यही बात ऐसे अन्य सभी कथनों के संबंध में भी कही जा सकती है जिनका कोई अर्थ समझ पाना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जो कथन या विचार हमारे लिए अबोधगम्य हैं वे संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक होने के कारण हमारी तर्कबुद्धि द्वारा शासित नहीं हो सकते, अतः तर्कबुद्धि उनका किसी भी रूप में समर्थन नहीं कर सकती।

बोधगम्यता के अतिरिक्त तर्कबुद्धि का समर्थन प्राप्त करने के लिए किसी विश्वास, विचार या सिद्धांत में पूर्ण संगति का होना भी आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि हम किसी सिद्धांत, विश्वास अथवा विचार को तर्कसंगत तभी मान सकते हैं जब उसमें किसी प्रकार का स्वतोव्याघात न हो। यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष सिद्धांत को स्वीकार करने का दृढ़तापूर्वक दावा करते हुए अपने आपको उसका प्रबल समर्थक मानता है किंतु अपने व्यावहारिक जीवन में ठीक उसके विपरीत आचरण करता है तो उसके सिद्धांत और आचरण संबंधी विचारों में असंगति या स्वतोव्याघात को स्पष्टतः देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि उसे किसी विशेष देवी या देवता की पूजा से ही संतान की प्राप्ति हो सकती है, परंतु इस पूजा के साथ-साथ वह संतान-प्राप्ति के लिए योग्य

चिकित्सक से उपचार भी करवाता है तो उसके विचारों को हम असंगत और स्वतोव्याघातपूर्ण ही मान सकते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्मा की सत्ता एवं अमरता में दृढ़तापूर्वक विश्वास करने का दावा करता है और इसके साथ ही स्वयं अपनी तथा अपने प्रियजनों की मृत्यु से सदा भयभीत रहता है तो उसके विश्वास एवं आचरण में भी यही असंगति या स्वतोव्याघात विद्यमान है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐसा असंगत विचार अथवा विश्वास तार्किक दृष्टि से निरर्थक है, क्योंकि इसे मानने वाला व्यक्ति एक ही साथ ऐसी दो परस्पर विरोधी बातों को स्वीकार करता है जो अनिवार्यतः एक-दूसरे का खंडन करती हैं। यही कारण है कि ऐसे सभी असंगत या स्वतोव्याघातपूर्ण निरर्थक विचारों, विश्वासों अथवा सिद्धांतों का मानवीय तर्कबुद्धि कभी समर्थन नहीं कर सकती। इस प्रकार केवल उसी विश्वास, विचार अथवा सिद्धांत को विवेकपूर्ण एवं तर्कसंगत माना जा सकता है जिसमें कोई असंगति या स्वतोव्याघात विद्यमान न हो।

किसी विचार या विश्वास को तर्कसंगत मानने के लिए तीसरी आवश्यक कसौटी यह है कि उसके पक्ष में कोई निश्चित और विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध होना चाहिए, क्योंकि ऐसा प्रमाण ही उसे तार्किक दृष्टि से सत्य सिद्ध कर सकता है। इसके विपरीत यदि उस विचार अथवा विश्वास के विरुद्ध कोई स्पष्ट तथा विश्वसनीय प्रमाण विद्यमान है तो उसे मिथ्या मानना अनिवार्य हो जाता है। तर्कबुद्धि के विरुद्ध होने के कारण ऐसा मिथ्या विश्वास निश्चय ही अबौद्धिक तथा अयुक्तिसंगत है, अतः उसे केवल 'अंधविश्वास' ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि वर्तमान युग में कोई धर्मपरायण व्यक्ति यह कहता है कि सूर्य-ग्रहण अथवा चंद्र-ग्रहण का कारण 'राहु' और 'केतु' नामक राक्षस हैं तो उसके इस विश्वास को हम केवल 'अंधविश्वास' की संज्ञा ही दे सकते हैं। इसी प्रकार यदि आज भी कोई व्यक्ति यह मानता है कि पृथ्वी शेषनाग पर टिकी हुई है तथा सूर्य उसकी परिक्रमा करता है तो उसकी यह मान्यता आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रमाणित तथ्यों के विपरीत होने के कारण 'अंधविश्वास' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वस्तुतः हमारी तर्कबुद्धि ऐसे मिथ्या विश्वासों तथा विचारों का किसी भी रूप में समर्थन नहीं कर सकती। इसी कसौटी को ध्यान में रखते हुए ऐसे सभी अप्रमाणित विचारों एवं विश्वासों को पूर्णतः अबौद्धिक तथा अयुक्तिसंगत मानना अनिवार्य हो जाता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि केवल वही मान्यता, विश्वास, विचार अथवा सिद्धांत बौद्धिक एवं तर्कसंगत है जिसे ऊपर बताई गई तीनों कसौटियों द्वारा सत्य सिद्ध किया जा सके।

मुख्यतः उपर्युक्त तीनों कसौटियों के आधार पर किसी सिद्धांत, विचार अथवा विश्वास के बौद्धिक या अबौद्धिक होने की व्याख्या करते हुए एक समकालीन दार्शनिक, काई नीलसन कहते हैं—"विवेकशील मनुष्य के कर्म-विषयक सिद्धांत और विश्वास संभवतः बौद्धिक ही होंगे। इसके अतिरिक्त बौद्धिक अभिवृत्तियों को स्वीकार करने का अर्थ है कम से कम ऐसी अभिवृत्तियों को स्वीकार करना जो इन सिद्धांतों एवं विश्वासों के अनुरूप हैं, और अबौद्धिक होने का अर्थ है इन सिद्धांतों तथा विश्वासों के अनुरूप कर्म न करना, यद्यपि इसके लिए शायद इतना ही पर्याप्त नहीं है। बौद्धिक विश्वास सामान्यतः ऐसे विश्वास

भी हैं जिनके लिए विश्वसनीय प्रमाण या तर्क हैं अथवा, अन्य बातों के समान होने पर, वे कम से कम ऐसे विश्वास हैं जिनके लिए इस प्रकार के प्रमाण या तर्क कर्तव्यनिष्ठापूर्वक तथा विवेकपूर्ण ढंग से खोजे जाते हैं और जब ये प्रमाण अथवा तर्क उपलब्ध एवं उपयोग में लाने योग्य होते हैं तो इन विश्वासों को स्वीकार करने वाले लोग इनकी उपेक्षा नहीं करते। अंत में, अन्य बातों के समान रहने पर, बौद्धिक विश्वास वे विश्वास हैं जिनके संबंध में यह ज्ञात है अथवा निश्चित रूप से माना जाता है कि यह स्वीकार करने के विश्वसनीय कारण हैं कि इन विश्वासों में असंगतियां, स्वतोव्याघात या असंबद्धताएं नहीं हैं। ... विवेकशील व्यक्ति के कर्म संबंधी तर्कसंगत नियम भी होंगे और उसके लिए इन नियमों के अनुसार कर्म न करना अबौद्धिक होगा।...

"यदि किसी धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष विश्वास को स्वीकार करने वाला व्यक्ति यह जानता है अथवा उसके पास यह मानने के बहुत विश्वसनीय कारण हैं कि वह (1) असंगत, (2) अबोधगम्य (निरर्थक) (3) असंबद्ध या (4) मिथ्या अथवा लगभग मिथ्या है तो वह विश्वास अधिकतर परिस्थितियों में अबौद्धिक है। किसी व्यक्ति के लिए ऐसे विश्वास को स्वीकार कर लेना भी अबौद्धिक है जिसे (5) वह इसके लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपलब्ध प्रासंगिक प्रमाणों पर ध्यान दिए बिना मान लेता है, (6) यदि वह इसके प्रासंगिक प्रमाणों या तर्कों की जान-बूझ कर उपेक्षा करता है, अथवा (7) यदि वह इस विश्वास को ऐसे ढंग से स्वीकार करता है कि अन्य विश्वासों या कार्यों के लिए इसके निहितार्थों अथवा परिणामों की आलोचनात्मक परीक्षा का सामना नहीं करता।"[1] नीलसन के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि तर्कबद्धि की किन कसौटियों के आधार पर किसी व्यक्ति, विचार, विश्वास अथवा सिद्धांत को बौद्धिक या अबौद्धिक माना जा सकता है। वस्तुतः इन्हीं कसौटियों द्वारा मानवीय तर्कबुद्धि अपना प्रमुख कार्य संपन्न करती है और यह कार्य है– बौद्धिकता तथा अबौद्धिकता में विद्यमान आधारभूत अंतर को स्पष्ट करना।

तर्कबुद्धि की उपर्युक्त कसौटियों के अतिरिक्त व्यापक अर्थ में मानवीय अनुभव का भी उसके साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। अनुभव एवं तर्कबुद्धि के इस घनिष्ठ संबंध को विशेषतः हमारे धर्मनिरपेक्ष अथवा लौकिक विश्वासों तथा विचारों के संदर्भ में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जिन पर हमारे अनुभव का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने अनुभव के आधार पर अपनी मान्यताओं तथा अपने विचारों एवं विश्वासों में यथोचित संशोधन अथवा परिवर्तन करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनका परित्याग भी कर देता है। इसका कारण यह है कि यदि वह ऐसा नहीं करता अथवा नहीं कर पाता तो उसके लिए इस संसार में दूसरों के साथ सुखपूर्वक रहना और स्वयं आनंदमय तथा सफल जीवन व्यतीत करना संभव नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत अनुभव द्वारा आजीवन कुछ-न-कुछ सीखता ही रहता है और इस ज्ञान के फलस्वरूप ऐसे परिणामों पर पहुँचता है जो उसके सुखमय तथा सफल जीवन में सहायक सिद्ध होते हैं।

---

1. काई नीलसन, 'रीज़न', 'दि एन्साइक्लोपीडिया ऑफ अनबिलीफ़' संपादक गौर्डनस्टीन, 1985, पृ. 535, 541

इतना ही नहीं, वह अपने पूर्वजों के भूतकालीन अनुभवों तथा वर्तमा काल में अपने परिचित अन्य व्यक्तियों के अनुभवों से भी बहुत लाभ उठाता है या उठा क़ता है। इस दृष्टि से स्वयं उसके अपने और दूसरों के अनुभवों का उसके लिए विशेष महत्त्व है। अनुभव के आधार पर उससे उचित एवं उपयोगी निष्कर्ष निकालकर लाभ उठाने की यह क्षमता मनुष्य को उसकी तर्कबुद्धि ही प्रदान करती है। यदि उसमें यह तर्कबुद्धि न होती तो वह स्वयं अपने और दूसरों के अनुभव से कभी कोई लाभ प्राप्त न कर पाता। यह दुर्भाग्य की बात है कि धर्म संबंधी अलौकिक विश्वासों तथा मान्यताओं के संदर्भ में तर्कबुद्धि को अनावश्यक समझकर उसके आधार पर मानव के अनुभव को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, अतः इस दृष्टि से अनुभव उसके लिए अप्रासंगिक एवं निरर्थक ही सिद्ध होता है। परंतु लौकिक विश्वासों, मान्यताओं, विचारों तथा सिद्धांतों के संबंध में मानवीय अनुभव का मार्गदर्शन करके तर्कबुद्धि मनुष्य के जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है जिसके कारण उसे मानव-जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है।

2. धार्मिक जीवन में तर्कबुद्धि का स्थान

तर्कबुद्धि के स्वरूप की विवेचना के पश्चात् अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या मनुष्य के धार्मिक जीवन में वस्तुतः उसका कोई स्थान है अथवा हो सकता है। धर्म-दर्शन के अध्येयता के लिए इस प्रश्न का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसी के उत्तर के आधार पर वह समस्त धार्मिक सिद्धांतों, मान्यताओं और विश्वासों का दार्शनिक दृष्टि से समुचित मूल्यांकन कर सकता है। इस प्रश्न का युक्तिसंगत उत्तर देने के लिए हमें तर्कबुद्धि के उपर्युक्त स्वरूप तथा उसकी प्रमुख कसौटियों को ध्यान में रखते हुए धर्म के उद्गम, विकास और स्वरूप पर विचार करना होगा। यदि इस दृष्टि से धर्म तथा तर्कबुद्धि पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में वस्तुतः कोई संबंध नहीं है, अतः मानव के धार्मिक जीवन में तर्कबुद्धि का न तो कोई स्थान है और न हो सकता हैं।

जैसा कि हम इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में सविस्तार बता चुके हैं, धर्म की उत्पत्ति आदिकालीन मनुष्य की असहाय अवस्था, शारीरिक दुर्बलता एवं जीवन की असुरक्षा से उत्पन्न भय तथा प्रकृति और उसके नियमों के विषय में पूर्ण अनभिज्ञता के परिणामस्वरूप हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म के मूल स्रोत मानवीय संवेगों अथवा भावनाओं में ही निहित हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि धर्म के उद्गम में मनुष्य के विवेक या उसकी तर्कबुद्धि की कोई भूमिका नहीं थी। अपनी आदिम अवस्था में उसे न तो स्वयं अपने जीवन के संबंध में कोई विशेष ज्ञान था और न अपने चारों ओर विद्यमान प्राणियों तथा वस्तुओं के संबंध में। वस्तुतः तब मनुष्य में उस विचार-शक्ति का उदय नहीं हो पाया था जो तर्कबुद्धि की अनिवार्य शर्त और उसका मूल आधार है। यही कारण है कि उस समय वह अनेक अदृश्य देवी-देवताओं की कल्पना करके ही अपने जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति, अपने अस्तित्व की रक्षा तथा समस्त प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या का प्रयास करता था। हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि इन्हीं कल्पित देवी-देवताओं

की पूजा के कारण ही आदिकालीन मानव-समाज में धर्म का उद्‌गम और विकास हुआ था। इन देवी-देवताओं को आदिकालीन मनुष्य अदृश्य तथा अलौकिक मानकर इनकी उपासना या पूजा करता था जिसके फलस्वरूप उसे जीवन की सुरक्षा के साथ-साथ भावनात्मक संतुष्टि भी प्राप्त होती थी।

मानवीय सभ्यता के उस आदिम युग से लेकर आज तक धर्म का जो विकास हुआ है उसके मूल में मनुष्य की इस भावनात्मक संतुष्टि का बहुत महत्त्व रहा है। वस्तुतः धर्म के कारण मानव को प्राप्त होने वाली यह भावनात्मक संतुष्टि उसका आधारभूत तत्त्व है और यही तत्त्व उसे दर्शन तथा विज्ञान से पृथक करता है जो मुख्यतः तर्कबुद्धि पर आधारित हैं। इस दृष्टि से धर्म और साहित्य में पर्याप्त समानता है, क्योंकि इन दोनों में संवेगों अथवा भावनाओं का सर्वाधिक महत्त्व होता है जिनके बिना इनका अस्तित्त्व ही संभव नहीं है। धर्म तथा साहित्य में मूल अंतर यह है कि पूजा या उपासना से संबंधित धार्मिक भावनाओं का आधार कोई अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता होती है जबकि साहित्य प्रेम, करुणा, वात्सल्य, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध आदि इहलौकिक मानवीय भावनाओं पर ही आधारित रहता है। दूसरे शब्दों में, धर्म की अलौकिकता उसे साहित्य से पृथक करती है जिसका संबंध मनुष्य के इसी सांसारिक जीवन से है। परंतु इन दोनों में इस आधारभूत अंतर को स्वीकार करते हुए भी हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि साहित्य की भांति धर्म भी सदैव भावनाप्रधान होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव-सभ्यता के आदिकाल में अपने उद्‌गम से वर्तमान युग तक धर्म के विकास में कुछ विशेष संवेगों अथवा भावनाओं ने ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा निर्णायक भूमिका निभाई है, तर्कबुद्धि ने नहीं।

धर्म के उद्‌गम तथा विकास के अतिरिक्त उसके स्वरूप पर विचार करने से भी यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि उसके मूल-तत्व विवेक अथवा तर्कबुद्धि में निहित न होकर किसी अलौकिक सत्ता से संबंधित कुछ विशेष संवेगों, भावनाओं या अनुभूतियों में ही निहित हैं। जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक के अनेक अध्यायों में पहले ही कहा गया है, धर्म मनुष्य की एक विशेष जीवन-दृष्टि अथवा जीवन-पद्धति है जिसका मूल आधार किसी अलौकिक सत्ता में उसकी श्रद्धा या आस्था है जो अनिवार्यतः निर्बौद्धिक तथा भावनाप्रधान होती है। इस श्रद्धा अथवा आस्था के बिना न तो धर्म का अस्तित्त्व संभव है और न विकास। इसी कारण आस्था को धर्म का प्रथम अनिवार्य मूल तत्त्व कहा जा सकता है। परंतु यहां यह उल्लेखनीय है कि इस धार्मिक आस्था का तर्कबुद्धि से कोई संबंध नहीं है। जो विषय मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से संबंधित हैं या हो सकते हैं उनके लिए श्रद्धा अथवा आस्था की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु धर्म के क्षेत्र में ऐसे अनुभवाश्रित और तर्कसंगत विषयों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। जो विषय धर्म के लिए आवश्यक तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं उन सबको अनुभवातीत एवं तर्कबुद्धि से परे माना जाता है। ईश्वर, कोई देवी या देवता, आत्मा की सत्ता और अमरता, स्वर्ग, नरक, परलोक, श्रुति, तीर्थंकर, निर्वाण, मोक्ष, कोई भी आध्यात्मिक या अलौकिक आराध्य सत्ता आदि ऐसे ही विषय हैं जिनका धर्म के लिए विशेष महत्त्व है। यह सर्वविदित तथ्य है कि इन सभी धार्मिक विषयों

को केवल श्रद्धा अथवा आस्था के आधार पर स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इनकी सार्थकता एवं प्रामाणिकता के लिए मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि दोनों ही अप्रासंगिक हैं। कोई उपासक, भक्त या धर्मपरायण व्यक्ति इनके संबंध में न तो स्वयं कोई तर्क एवं प्रमाण देता है और न अन्य व्यक्तियों से तर्कों तथा प्रमाणों की मांग करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म तथा धार्मिक विषय के लिए अनुभव एवं तर्कबुद्धि का कोई महत्त्व नहीं है और न हो सकता है।

धर्म के संदर्भ में तर्कबुद्धि की उपर्युक्त अप्रासंगिकता को कुछ व्यावहारिक उदाहरणों द्वारा भली-भांति स्पष्ट किया जा सकता है। जब कोई भक्त ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक सत्ता की पूजा अथवा उपासना करता है तो वह अपनी आस्था के आधार पर ही उसके अस्तित्व को पूर्णतः स्वीकार कर लेता है; इसके लिए वह किसी तर्क या प्रमाण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। केवल दार्शनिक तथा धर्मशास्त्री इस संबंध में प्रमाणों की विवेचना करते हैं, किन्तु ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक सत्ता के समर्थन में उनके द्वारा दिए गए सभी प्रमाण दार्शनिक दृष्टि से दोषपूर्ण होने के कारण अंततः व्यर्थ और प्रभावहीन ही सिद्ध हुए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अलौकिक या अति-प्राकृतिक समझी जाने वाली कोई भी सत्ता वास्तव में तर्कबुद्धि का विषय नहीं है और इस तथ्य को अनेक दार्शनिकों ने भी किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है।

अलौकिक सत्ता में आस्था के अतिरिक्त उसकी पूजा, उपासना या आराधना भी धर्म का अनिवार्य तत्व है जिसके बिना उसके अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। धर्म चाहे प्राचीन हो अथवा नवीन, अविकसित हो या उन्नत, ईश्वरवादी हो अथवा निरीश्वरवादी, अलौकिक सत्ता की पूजा का यह तत्व उसमें अवश्य विद्यमान रहता है। यह समझना कठिन नहीं है कि इस पूजा या उपासना के लिए तर्कबुद्धि नितांत अप्रासंगिक तथा अनावश्यक है। कोई भी भक्त अथवा उपासक प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर अपनी उपासना की सार्थकता तथा प्रभावशीलता सिद्ध करने का प्रयास नहीं करता और न ही वह ऐसा करना आवश्यक समझता है। इसका कारण यह है कि पूजा केवल आस्था या श्रद्धा की वस्तु है जिसका तर्कों अथवा प्रमाणों से कोई संबंध नहीं है। भक्त के इस विशुद्ध आस्थापरक दृष्टिकोण से उपासना के संबंध में तर्क़बुद्धि की अप्रासंगिकता पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

उपासना विषयक धर्म के उपर्युक्त तत्व से अनिवार्यतः संवद्ध उसका तीसरा तत्व है किन्हीं विशेष स्थलों, वस्तुओं, पुस्तकों तथा व्यक्तियों को अत्यंत पवित्र मानने का विचार जिसे हम संक्षेप में 'पवित्रता का विचार' कह सकते हैं। धर्मपरायण व्यक्ति मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर आदि उपासना-स्थलों, उनमें विद्यमान पूजा संबंधी वस्तुओं, धार्मिक पुस्तकों या ग्रंथों तथा कुछ विशेष संतों अथवा पैग़म्बरों को अत्यंत पवित्र मानकर उनका अत्यधिक आदर करते हैं। इसी प्रकार समस्त धार्मिक अनुष्ठानों को भी बहुत पवित्र समझ कर उन्हें संपन्न किया जाता है। पवित्रता के विचार से संबंधित धर्म का यह संपूर्ण पक्ष वस्तुतः उसका बाह्य पक्ष है जिसकी व्यावहारिक रूप में अभिव्यक्ति होती है। संसार के

सभी धर्मों में यह बाह्य व्यावहारिक पक्ष किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। परंतु धर्म के पूर्वोल्लिखित अन्य दो तत्वों की भांति उसके इस बाह्य पक्ष का भी मानवीय तर्कबुद्धि से कोई संबंध नहीं है। जिन धार्मिक स्थलों, अनुष्ठानों, वस्तुओं, पुस्तकों तथा व्यक्तियों को अत्यंत पवित्र माना जाता हे उनकी इस पवित्रता के लिए कोई तर्क नहीं दिए जाते और न ही ऐसे तर्कों की कभी मांग की जाती है जिससे यही सिद्ध होता है कि ये सव वास्तव में तर्कबुद्धि के विषय नहीं हैं। इन सबके संबंध में भी धर्मपरायण व्यक्ति तर्कों या प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं समझते।

धर्म के उपर्युक्त तीन तत्वों की भांति उसके चौथे आवश्यक तत्व, श्रुति को भी तर्कबुद्धि के क्षेत्र से बाहर माना जाता है। जैसा कि हम आठवें अध्याय में वता चुके हैं, धर्मपरायण व्यक्ति अपने कुछ धर्म-ग्रंथों को ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति की वाणी के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः उनके मतानुसार, इन ग्रंथों में जगत् और जीवन से संवंधित जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह पूर्णतः निश्चित, सार्वभौम तथा असंदिग्ध रूप से सत्य है। इस ज्ञान को 'श्रुतिमूलक ज्ञान' कहा जाता है और यह दावा किया जाता है कि इसमें किसी प्रकार के संशोधन, परिवर्तन या सुधार की कोई संभावना तथा आवश्यकता नहीं है। श्रद्धालु धर्मपरायण व्यक्तियों का निश्चित मत है कि श्रुतिमूलक धार्मिक ज्ञान स्वतः प्रमाणित है, अतः इसकी प्रामाणिकता के लिए तर्कों अथवा प्रमाणों की मांग करना न तो उचित है और न आवश्यक। इसका तात्पर्य यही है कि श्रुतिमूलक ज्ञान पूर्णतः आस्था पर ही आधारित होता है और इसी कारण इस ज्ञान के लिए मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि का कोई महत्व नहीं है।

ऊपर वताए गए धर्म के चार तत्त्वों के अतिरिक्त उसका अंतिम तत्त्व है मोक्ष अथवा मुक्ति की अवधारणा और इस तत्त्व के लिए भी तर्कबुद्धि को अप्रासंगिक तथा अनावश्यक ही माना जाता है। आदिकाल से ही धर्म किसी-न-किसी रूप में मनुष्य को इस संसार तथा परलोक में समस्त दुःखों, विपत्तियों एवं कष्टों से पूर्ण मुक्ति दिलाने का दावा करता रहा है और उसने इस मुक्ति के संबंध में विभिन्न अवधारणाएं तथा इसे प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग भी प्रस्तुत किए हैं। इस संपूर्ण विषय की विस्तृत विवेचना हम इसी पुस्तक के तेरहवें अध्याय में पहले ही कर चुके हैं, अतः यहाँ इसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। इस संबंध में यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि अधिकतर धर्मों में मोक्ष या मुक्ति की यह अवधारणा केवल परलोकोन्मुखी है जिसका अर्थ यह है कि मृत्यु के पश्चात् परलोक में ही मनुष्य को समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त मुक्ति के जो मार्ग बताए गए हैं उनका उद्देश्य भी मानव को किसी अलौकिक सत्ता की ओर अग्रसर करना ही है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि मोक्ष के स्वरूप तथा उसे प्राप्त करने के मार्गों के संबंध में मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इस प्रकार मोक्ष और उसकी प्राप्ति के उपायों की दृष्टि से भी तर्कबुद्धि अप्रासंगिक ही हो जाती है।

धर्म के लिए तर्कबुद्धि की प्रासंगिकता के विषय में उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से यह

स्पष्ट है कि उसके उद्गम, विकास तथा स्वरूप अथवा उसके सभी आवश्यक तत्त्वों को निर्धारित करने में तर्कबुद्धि का कोई योगदान नहीं रहा। यही कारण है कि आदिकाल से अब तक मनुष्य के धार्मिक जीवन में भी तर्कबुद्धि की भूमिका नगण्य ही रही है। कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति अपने धर्म से संबंधित सिद्धांतों, विश्वासों तथा मान्यताओं को स्वीकार करने और समस्त धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करने के लिए तर्कबुद्धि की सहायता लेने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। धर्म के प्रचार में संलग्न सभी धर्म-गुरु प्रारंभ से ही अपने शिष्यों को बार-बार यही शिक्षा देते हैं कि धर्म के विषय में कोई संदेह करना और उससे संबंधित मान्यताओं, विश्वासों तथा सिद्धांतों की सत्यता के विषय में किसी प्रकार का प्रश्न करना नितांत अनुचित है। सभी धर्म परायण परिवारों में शैशव-काल से ही प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा दी जाती है कि धर्म का क्षेत्र तर्कबुद्धि से पूर्णतः अलग तथा उससे परे है, अतः उसके संबंध में कोई तर्क देना अथवा प्रमाण की मांग करना न तो आवश्यक है और न उचित। इसी कारण सभी धर्मनिरपेक्ष समस्याओं पर तार्किक दृष्टि से विचार करने वाले शिक्षित एवं विवेकशील व्यक्ति भी धार्मिक मामलों में अपनी तर्कबुद्धि के द्वार पूर्णतः बंद कर देते हैं और धर्म संबंधी अंधविश्वासों में फंस जाते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि धर्म एवं तर्कबुद्धि का वास्तव में परस्पर कोई संबंध नहीं. है और न हो सकता है।

परिशिष्ट 6

निरीश्वरवादी धर्म

1. निरीश्वरवाद और धर्म

प्रस्तुत पुस्तक के तीसरे और चौथे अध्याय में हम ईश्वर के अस्तित्व, स्वरूप तथा उसके समर्थन में दिए गए प्रमुख तर्कों अथवा प्रमाणों की प्रभावहीनता एवं व्यर्थता का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम अध्याय में धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए हम यह भी बता चुके हैं कि धर्म के लिए ईश्वर की अवधारणा या उसके प्रत्यय को स्वीकार करना अनिवार्य नहीं है। प्रस्तुत परिशिष्ट में हम इस समस्या पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे कि क्या निरीश्वरवाद तथा धर्म में कोई अपरिहार्य विरोध है। यह समस्या केवल दार्शनिक दृष्टि से ही गंभीर नहीं है, अपितु सामान्य व्यक्ति की भी इसमें पर्याप्त रुचि हो सकती है। इस समस्या पर विचार करते हुए हमें मुख्यतः निम्नलिखित प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर खोजने का प्रयास करना होगा : निरीश्वरवाद का ठीक-ठीक अर्थ क्या है? क्या यह सिद्धांत ईश्वरवाद को अस्वीकार करने के साथ-साथ वास्तव में धर्म का भी अनिवार्यतः निषेध करता है? क्या ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना धर्म अथवा धार्मिकता की अनिवार्य शर्त है? क्या वास्तविक अर्थ में निरीश्वरवादी धर्मों का अस्तित्व है? यदि संसार में कुछ निरीश्वरवादी धर्म हैं तो वे कौन-कौन से हैं और उन्हें 'धर्म' क्यों कहा जाता है?

जैसा कि 'निरीश्वरवाद' के शाब्दिक अर्थ से ही स्पष्ट है, यह मूलतः निषेधात्मक सिद्धांत है जिसमें अभौतिक या आध्यात्मिक सत्ता के रूप में उस ईश्वर का निषेध किया जाता है जिसे ईश्वरवादी दार्शनिक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, शाश्वत, असीम, अपरिवर्तनशील, अत्यंत दयालु, स्नेहमय एवं न्यायशील कहते हैं और जिसे वे व्यक्तित्वसंपन्न, विश्व का रचयिता, संरक्षक, प्रशासक तथा संहारक मानते हुए मनुष्य की पूजा अथवा आराधना के विषय के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसे ईश्वर के विचार या प्रत्यय को अस्वीकार करना अथवा तर्कतः उसका खंडन करना निरीश्वरवाद का प्रमुख उद्देश्य है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वरवाद के निषेध अथवा खंडन के रूप में ही निरीश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है, अतः इसका उदय और विकास ईश्वरवाद के पश्चात् ही हुआ है।

कुछ कठिन होने के कारण 'निरीश्वरवाद' शब्द जनसाधारण में बहुत प्रचलित नहीं है। सामान्य व्यक्ति ईश्वर में विश्वास न करने वाले मनुष्य को 'निरीश्वरवादी' न कहकर प्रायः 'नास्तिक' ही कहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'नास्तिक' शब्द केवल वर्णनात्मक ही नहीं है, अपितु संवेगात्मक भी है, क्योंकि इसके अर्थ में निंदा और तिरस्कार का भाव निहित रहता है। जब कोई ईश्वरवादी व्यक्ति ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने वाले मनुष्य को 'नास्तिक' कहता है तो इससे उसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं होता कि वह मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, अपितु इसके साथ ही वह इस शब्द के

प्रयोग द्वारा उस मनुष्य के प्रति अपनी निंदात्मक एवं तिरस्कारपूर्ण अभिवृत्ति या भावना को भी अभिव्यक्त करता है। इसी कारण 'नास्तिक' शब्द को ऐसा शब्द नहीं माना जा सकता जिसका केवल वर्णनात्मक अर्थ है। परंतु सामान्य भाषा में 'नास्तिक' शब्द के विपरीत 'निरीश्वरवादी' शब्द का प्रयोग प्रायः वर्णनात्मक अर्थ में ही किया जाता है, संवेगात्मक अर्थ में नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि 'निरीश्वरवाद' तथा 'निरीश्वरवादी' इन दोनों शब्दों में निंदा और तिरस्कार का वह भाव विद्यमान नहीं है जो 'नास्तिक' शब्द में निहित रहता है। किसी व्यक्ति को 'निरीश्वरवादी' कहने का अर्थ प्रायः यही समझा जाता है कि वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता अथवा ईश्वर की अवधारणा को अस्वीकार करता है। इस शब्द के प्रयोग द्वारा उस व्यक्ति के प्रति निरादर या घृणा की भावना अभिव्यक्त नहीं होती। इसी कारण दार्शनिक विवेचना की दृष्टि से तटस्थ एवं वर्णनात्मक शब्द 'निरीश्वरवाद' को अधिक उपयुक्त माना जा सकता है।

निरीश्वरवाद के स्वरूप को भली-भांति स्पष्ट करने के लिए यहां विशेष रूप से यह बता देना आवश्यक है कि वह ईश्वर के 'अनस्तित्व' की घोषणा नहीं करता; वह तो केवल ईश्वर की सत्ता में विश्वास के अभाव को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, निरीश्वरवादी विचारक सकारात्मक रूप से यह नहीं कहता कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का सकारात्मक दावा करने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह तो केवल इतना ही कहता है कि ईश्वर के अस्तिव में वह विश्वास नहीं करता। इसका कारण यह है कि धर्मपरायण ईश्वरवादी विचारक ईश्वर की जो अवधारणा प्रस्तुत करते हैं वह अबोधगम्य, असंगत, स्वतोव्याघातपूर्ण तथा अप्रामाणिक है, अतः विवेकशील मनुष्य के लिए ऐसी अवधारणा में विश्वास करना नितांत अयुक्तिसंगत और अबौद्धिक है। इस प्रकार निरीश्वरवाद वह सिद्धांत है जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास की अस्वीकृति या अनुपस्थिति को ही अभिव्यक्त करता है और ऐसा करना ईश्वर के अनस्तित्व की सकारात्मक घोषणा से बहुत भिन्न है।

अधिकतर निरीश्वरवादी विचारकों ने उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए निरीश्वरवाद की परिभाषा दी है। उदाहरणार्थ, इस संबंध में उन्नीसवीं शताब्दी के निरीश्वरवादी दार्शनिक, चार्ल्स ब्रैडलॉफ़ का मत उल्लेखनीय है। निरीश्वरवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है : "निरीश्वरवादी यह नहीं कहता कि ईश्वर नहीं है, किंतु वह यह कहता है कि 'मुझे मालूम नहीं' ईश्वर से आप का क्या तात्पर्य है। मेरे मन में ईश्वर का कोई प्रत्यय नहीं है। 'ईश्वर' शब्द मेरे लिए ऐसी ध्वनि है जिसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है। मैं ईश्वर का निषेध नहीं करता, क्योंकि मैं ऐसी वस्तु का निषेध नहीं कर सकता जिसका मेरे मन में विचार ही नहीं है'।"[1] अन्य बहुत-से निरीश्वरवादी विचारक भी निरीश्वरवाद की परिभाषा के संबंध में ब्रैडलॉफ़ से पूर्णतः सहमत हैं। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि निरीश्वरवाद ईश्वर के अनस्तित्व को घोषित करने वाला कोई सकारात्मक

---

1. चार्ल्स ब्रेडलॉफ़, 'ए प्ली फ़ॉर, ऐथिइज़्म', 'ऐन ऐन्थॉलॉजी ऑफ़ ऐथिइज़्म ऐन्ड रैशनलिज़्म', सम्पादक गॉर्डन स्टीन पृ. 10

सिद्धांत नहीं है, अपितु वह ऐसा नकारात्मक सिद्धांत है जो उसकी सत्ता में विश्वास के अभाव अथवा उसकी अस्वीकृति को ही अभिव्यक्त करता है।[2]

निरीश्वरवाद के स्वरूप के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि यह सिद्धांत केवल ईश्वर विषयक विश्वास का निषेध करता है, किंतु यह सभी प्रकार की अलौकिक, दैवी या अति-प्राकृतिक सत्ताओं का निषेध नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति निरीश्वरवादी होते हुए भी ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी भी अलौकिक अथवा दैवी सत्ता में विश्वास कर सकता है। भारतीय दर्शन में इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण विद्यमान हैं जो इसी तथ्य को स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं। अनेक भारतीय धर्म तथा दर्शन ईश्वरवाद का स्पष्ट रूप से निषेध करते हुए भी विभिन्न अलौकिक शक्तियों अथवा सत्ताओं में पूर्णतः विश्वास करते हैं। बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सांख्य दर्शन और मीमांसा दर्शन इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ये सभी धर्म एवं दर्शन ईश्वरवाद का निषेध करने के कारण पूर्णतः निरीश्वरवादी हैं, किंतु ये निर्वाण, कैवल्य, तीर्थंकरों, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, 'प्रकृति', 'पुरुष', अपूर्व, आत्मा आदि अनेक आध्यात्मिक या अलौकिक सत्ताओं में विश्वास करते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सभी सत्ताएं अति-प्राकृतिक या अलौकिक होते हुए भी उस ईश्वर से निश्चय ही भिन्न प्रकार की हैं जिसे ईश्वरवादी विचारक असीम गुणों से परिपूर्ण, व्यक्तित्वसंपन्न, विश्व का रचयिता और उपासना अथवा पूजा का विषय मानते हैं। इन अलौकिक सत्ताओं में से किसी को भी 'ईश्वर' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इनमें वे सब विशेषताएं विद्यमान नहीं हैं जो ईश्वर में बताई जाती हैं। वस्तुतः ईश्वर अनेक उपास्य अलौकिक सत्ताओं में से एक विशेष प्रकार की अलौकिक सत्ता है जिसका अपना स्वरूप है और जिसके कुछ विशिष्ट गुण तथा कार्य अधिकतर ईश्वरवादियों ने लगभग निश्चित कर दिए हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी अलौकिक या अति-प्राकृतिक सत्ता को केवल पूजा के विषय होने के कारण 'ईश्वर' कह देना निश्चय ही भ्रामक होगा। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी अलौकिक सत्ताएं भी मनुष्य की पूजा या उपासना का विषय हैं अथवा हो सकती हैं और इसी कारण ये धर्म का आधार भी बनती हैं या बन सकती हैं।

अब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धर्म तथा ईश्वर में क्या संबंध है। क्या यह संबंध अपरिहार्य है अथवा क्या इसे आपातिक या आकस्मिक माना जा सकता है? अनेक दार्शनिकों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुरूप इस प्रश्न का भिन्न-भिन्न उत्तर दिया है। कुछ ही समय पूर्व लगभग सभी पाश्चात्य दार्शनिक यह मानते थे कि किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार किए विना धर्म की व्याख्या अथवा परिभाषा करना संभव नहीं है। ये दार्शनिक केवल ईश्वर के प्रत्यय के आधार पर धर्म की परिभाषा करते हुए यह कहते थे कि धर्म का अर्थ है ईश्वर की सत्ता में विश्वास और उसकी पूजा करना। पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा लिखित धर्म-दर्शन विषयक बहुत-सी पुस्तकों में धर्म की अनेक ऐसी ही परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ, जेम्स मार्टिन्यू

2. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए, लेखक की एक अन्य पुस्तक 'भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद', अलाइड पब्लिशर्स, अध्याय 2

द्वारा दी गई धर्म की निम्नलिखित परिभाषा दृष्टव्य है: "धर्म ऐसे शाश्वत ईश्वर में विश्वास है जो ब्रह्मांड पर शासन करने वाली आध्यात्मिक शक्ति है और जिसका मानव-जाति के साथ नैतिक संबंध है।"[3] मार्टिन्यू की भांति अन्य अनेक विचारकों ने भी केवल ईश्वर को धर्म का आधार मानकर उसके अर्थ की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इन विचारकों के मतानुसार, ईश्वर धर्म का एकमात्र केंद्र-बिंदु है जिसके अभाव में हम न तो उसके अस्तित्व को समझ सकते हैं और न उसके स्वरूप को भली-भांति स्पष्ट कर सकते हैं। मुख्यतः इन विचारकों के इसी मत से प्रभावित होकर डॉ0 हरेंद्र प्रसाद सिन्हा ने अपनी पुस्तक, 'धर्मदर्शन की रूपरेखा' में ईश्वर के प्रत्यय अथवा विचार को धर्म के लिए अनिवार्य माना है और इसी आधार पर उसके अर्थ एवं महत्त्व की व्याख्या की है। वे निश्चित रूप से यह मानते हैं कि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किए बिना धर्म का अस्तित्व संभव नहीं है, अतः प्रत्येक धर्म में ईश्वर की अवधारणा किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है।

धर्म के विषय में अपनी उपर्युक्त मान्यता की सविस्तार व्याख्या करते हुए डॉ0 सिन्हा ने लिखा है : "धर्म में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईश्वर ही धर्म का आधार है। धर्म के स्वरूप का विश्लेषण करने से विदित होता है कि धर्म मूल रूप में मानव की ईश्वर के प्रति प्रतिक्रिया है।... धर्म में मनुष्य धर्माचरण के द्वारा ईश्वर के साथ संवंध स्थापित करता है। धर्म के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक पहलू किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की मांग करते हैं।... इस विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि धर्म का केंद्रबिंदु ईश्वर है।... ईश्वर के अभाव में 'धर्म' शब्द अर्थहीन प्रतीत होता है। इसीलिए प्रोफेसर फ्लिन्ट ने धर्म को ईश्वरवाद का पर्याय माना है, अतः ईश्वर के अभाव में धर्म नहीं हो सकता।... ऐसा मालूम पड़ता है कि धर्म ईश्वर के चारों ओर परिभ्रमण करता है। सच पूछा जाए तो ईश्वर की भावना का खंडन करना संभव नहीं है।... फिर जहां तक धर्म का संबंध है, वह ईश्वरवादी सिद्धांत है। इस दृष्टि से धर्म के लिए आवश्यक है कि उसका विश्वास किसी ईश्वर पर हो। ईश्वर के अभाव में धर्म की व्याख्या अमान्य है। ईश्वर ही धर्म का केंद्रबिंदु है। ईश्वर के बिना धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती।... ईश्वर को माने बिना धार्मिकता की रक्षा नहीं हो सकती।... हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ईश्वर के अभाव में धर्म संभव नहीं है। यही कारण है कि सभी धर्मों में ईश्वर का विचार किसी-न-किसी रूप में आता है। अतः अनीश्वरवादी धर्म विरोधाभास प्रतीत होता है।"[4] उपर्युक्त विस्तृत उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अधिकतर पाश्चात्य विचारकों के मत का अनुसरण करते हुए डॉ0 सिन्हा ईश्वर विषयक विश्वास को धर्म का एकमात्र मूल आधार तथा अनिवार्य शर्त मानते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने 'धर्म' तथा 'ईश्वरवाद' दोनों को समानार्थक शब्द मानकर धर्म को 'ईश्वरवादी सिद्धांत' ही मान लिया है।

---

3. जेम्स मार्टिन्यू, जेम्स एच. ल्यूबा की पुस्तक, "ए साइकॉलॉजिकल स्टडी ऑफ रिलिजन" से उद्धृत, पृ. 23
4. डॉ0 हरेंद्र प्रसाद सिन्हा, 'धर्मदर्शन की रूपरेखा' खंड 1, अध्याय 14, पृ. 219, 223-224

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धर्म के स्वरूप के विषय में उपर्युक्त मत उचित एवं युक्तिसंगत है अथवा नहीं। हम देख चुके हैं कि धर्म तथा निरीश्वरवाद में कोई विरोध नहीं है जिसका अर्थ यह है कि धर्म के लिए ईश्वरवाद को स्वीकार करना निश्चय ही अनिवार्य नहीं माना जा सकता। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम दो निरीश्वरवादी धर्मों—बौद्ध धर्म और जैन धर्म के उदाहरण पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं। परन्तु इस सर्वविदित ऐतिहासिक तथ्य से भली-भांति अवगत होते हुए भी डॉ0 सिन्हा ने इसकी उपेक्षा की है और इन दोनों निरीश्वरवादी धर्मों को भी ईश्वरवादी धर्म मान लिया है, क्योंकि उनके मतानुसार, इन धर्मों में भी ईश्वर का विचार किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान है। उन्होंने स्वयं स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म में अनेक तर्कों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का खंडन किया गया है, अतः इन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से निरीश्वरवादी धर्म ही माना जाता है। परंतु फिर भी वे इन धर्मों को वास्तव में निश्चित रूप से ईश्वरवादी धर्म मानते हैं। इन दोनों धर्मों के संबंध में अपनी इसी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए डॉ0 सिन्हा कहते हैं : "जब हम इन धर्मों का अध्ययन करते हैं तब पाते हैं कि इन धर्मों में भी ईश्वर का स्थान किसी न किसी रूप में है।... बौद्ध धर्म का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि बिना ईश्वर के धर्म नहीं हो सकता। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात लोगों ने बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया। महायान में बुद्ध को ईश्वर के रूप में माना गया है।... इस प्रकार बौद्ध धर्म में ईश्वर का विचार आया है जिसके फलस्वरूप यह बिना ईश्वर का धर्म नहीं कहा जा सकता।... जैन धर्म में प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर का निषेध किया गया है, फिर भी परोक्ष रूप में ईश्वर का विचार वहां विकसित हुआ है।... जैन धर्म में ईश्वर के स्थान पर तीर्थंकरों को माना गया है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप में जैन धर्म में ईश्वर का खंडन हुआ है, फिर भी व्यावहारिक रूप में जैन धर्म में ईश्वर का विचार किया गया है।[5]" इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि डॉ0 सिन्हा ईसाई धर्म तथा इस्लाम की भांति बौद्ध धर्म और जैन धर्म को भी वस्तुतः ईश्वरवादी धर्म ही मानते हैं।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि डॉ0 सिन्हा का उपर्युक्त मत तार्किक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से कहां तक उचित और प्रामाणिक माना जा सकता है। इस प्रश्न के संबंध में मेरा अपना विचार यह है कि बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म निश्चय ही निरीश्वरवादी धर्म हैं, क्योंकि इन धर्मों में वस्तुतः उस रूप में ईश्वर की अवधारणा को बिल्कुल स्वीकार नहीं किया गया जिस रूप में सभी ईश्वरवादी धर्म ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, यदि 'ईश्वर' शब्द को उस पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण किया जाए जिसमें ईश्वरवादी धर्मों के अनुयाई विश्वास करते है और जिसका उल्लेख हम इस पुस्तक में अनेक बार कर चुके हैं तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ऐसे ईश्वर का पूर्णतः निषेध करते हैं, अतः वास्तविक स्थिति यह है कि इन निरीश्वरवादी धर्मों में ईश्वर के लिए किसी भी रूप में कोई स्थान नहीं है। जहां तक मुझे ज्ञात है बुद्ध को महायान के समर्थकों तथा तीर्थंकरों को जैन धर्म के अनुयाइयों द्वारा उस रूप में 'ईश्वर'

---

5. वही, पृ. 223

नहीं माना जाता जिस रूप में सामान्यतः ईश्वरवादी व्यक्ति उसे 'ईश्वर' मानते हैं। ईश्वर के विपरित बुद्ध अथवा तीर्थंकरों को जगत के रचयिता, संरक्षक, प्रशासक, पालनकर्ता, संहारक तथा कर्म-फल-दाता नहीं माना जाता। महायान के अनुयाई तथा जैन धर्म के समर्थक उस रूप में निश्चय ही बुद्ध और तीर्थंकरों की उपासना नहीं करते जिस रूप में ईश्वरवादी धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर की पूजा करते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्ध और तीर्थंकरों को 'ईश्वर' कहना अनुचित तथा भ्रामक ही होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ0 सिन्हा और उनकी भांति कुछ अन्य विचारक ऐसी प्रत्येक अलौकिक सत्ता को 'ईश्वर' मान लेते हैं जो उपासना या पूजा का विषय है अथवा हो सकती है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, यह मत उचित और युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि 'ईश्वर' का एक विशिष्ट एवं निश्चित अर्थ है जो उसे अन्य सभी अलौकिक सत्ताओं से पृथक करता है। यदि केवल 'उपास्य' होने के कारण बुद्ध तथा तीर्थंकरों को 'ईश्वर' मान लिया जाए तो ईसाइयों, यहूदियों और मुसलमानों सहित सभी ईश्वरवादियों को उनकी पूजा करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किंतु यह सर्वविदित तथ्य है कि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। इसी प्रकार, जहां तक मुझे ज्ञात है अन्य ईश्वरवादी धर्मों के अनुयाई भी बुद्ध और तीर्थंकरों की पूजा या उपासना नहीं करते। वस्तुतः कोई भी अलौकिक, दैवी या अति-प्राकृतिक सत्ता 'उपास्य' हो सकती है, किंतु केवल इसी कारण उसे 'ईश्वर' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उपर्युक्त सभी तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि बौद्ध तथा जैन धर्म पूर्णतः निरीश्वरवादी धर्म हैं, अतः इन धर्मों में ईश्वर के लिए न तो कोई स्थान है और न ही हो सकता है। इन दोनों धर्मों को 'धर्म' की संज्ञा देने का कारण यह है कि इनमें वे सभी तत्व विधमान हैं जो 'धर्म' के लिए अनिवार्य माने जाते हैं और जिनका उल्लेख हम पिछले दो परिशिष्टों में कर चुके हैं। इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि संसार में अनेक निरीश्वरवादी धर्म विधमान हैं, क्योंकि धर्म तथा ईश्वरवाद में कोई अपरिहार्य संबंध नहीं है और किसी भी रूप में ईश्वर की अवधारणा धर्म के लिए आवश्यक नहीं है।

प्रस्तुत परिशिष्ट के अगले दो खंडों में हम क्रमशः बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के निरीश्वरवाद की संक्षिप्त विवेचना करेंगे। हमारी इस विवेचना का उदेश्य इन दोनों धर्मों के समस्त धार्मिक सिद्धांतों पर विचार करना नहीं, अपितु उन प्रमुख तर्कों पर विचार करना है जो इन धर्मों के समर्थकों ने ईश्वरवाद के विरुद्ध एवं निरीश्वरवाद के पक्ष में प्रस्तुत किए हैं और जिनके कारण इन्हें पूर्णतः निरीश्वरवादी धर्म मानना अनिवार्य हो जाता है। इन दोनों धर्मों के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांतों की संक्षिप्त चर्चा हम इस पुस्तक के ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें अध्यायों में कर चुके हैं जिनमें क्रमशः आत्मा की सत्ता और अमरता, कर्मवाद एवं पुर्नजन्म तथा मोक्ष के स्वरूप और साधनों का विवेचन किया गया है। परंतु इन अध्यायों में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के निरीश्वरवाद की विस्तृत विवेचना नहीं की जा सकी थी; इसी कारण प्रस्तुत परिशिष्ट के अगले दो खंडों में इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार करना आवश्यक है। इस विषय का विवेचन करते हुए हम यह भी स्पष्ट करने का

प्रयास करेंगे कि निरीश्वरवादी होते हुए भी इन्हें 'धर्म' की संज्ञा क्यों दी जाती है।

2. बौद्ध धर्म

जैसा कि इस धर्म के नाम से ही स्पष्ट है, इसके प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध थे जिनका जन्म ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व राज-परिवार में हुआ था और जिनका बाल्यकालीन नाम 'सिद्धार्थ' था। वे महान विचारक तथा अपने युग के क्रांतिकारी समाज-सुधारक थे जिन्होंने तत्कालीन हिंदू धर्म में प्रचलित बलि-प्रथा, पुरोहितवाद, हिंसा आदि सामाजिक बुराइयों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया था। वे वेदों की प्रामाणिकता में भी विश्वास नहीं करते थे जिसके कारण उन्हें तथा उनके धर्म और दर्शन को वैदिक विचारधारा के समर्थक 'नास्तिक' कहते थे। आज भी भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म को इसी कारण 'नास्तिक' की संज्ञा दी जाती है। अन्य बहुत-से महान विचारकों की भांति बुद्ध ने भी अपने धर्म तथा दर्शन पर स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी थी। वे अपने शिष्यों और जनसाधारण को अपनी धार्मिक शिक्षाओं के विषय में मौखिक उपदेश ही दिया करते थे। परंतु बुद्ध की मृत्यु के पश्चात कालांतर में उनके अनेक शिष्यों ने उनके धर्म तथा दर्शन से संबंधित प्रवचनों या उपदेशों को संग्रहीत करके लिपिबद्ध किया जो पाली भाषा में बौद्ध धर्म के मूल ग्रंथ, 'त्रिपिटक' में संकलित हैं।

'त्रिपिटक' का शाब्दिक अर्थ है 'तीन पिटारियां' जिनमें बौद्ध धर्म के आधारभूत दार्शनिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा धार्मिक विचारों को प्रस्तुत किया गया है। इस 'त्रिपिटक' में 'अभिधम्म पिटक', 'सुत्त पिटक' तथा 'विनय पिटक' ये तीन पिटक सम्मिलित हैं जिनमें बौद्ध धर्म के क्रमशः दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक विचार अथवा उपदेश समाविष्ट हैं। यही कारण है कि इस 'त्रिपिटक' को आज भी बौद्ध धर्म का अत्यंत पवित्र आधारभूत धार्मिक ग्रंथ माना जाता है जिसकी रचना ईसा से पूर्व तीसरी शतावदी में हुई थी। इस ग्रंथ के अतिरिक्त बौद्ध धर्म में एक अन्य ग्रंथ, 'मिलिन्द प्रश्न' का भी बहुत महत्व है जिसमें बौद्ध धर्म के महान आचार्य, नागसेन तथा यूनानी राजा, मिलिंद के परिसंवादों के रूप में बौद्ध धर्म के प्रमुख धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धांतों को प्रस्तुत किया गया है। इन दो ग्रंथों के साथ-साथ यहां 'धम्म पद' का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है जो 'सुत्त पिटक' का अंग है और जिसे बौद्ध धर्म की 'गीता' माना जाता है। बौद्ध धर्म के उपर्युक्त ग्रंथों तथा अन्य अनेक ग्रंथों में इस धर्म के सभी प्रमुख धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों को प्रतिपादित किया गया है। इन सिद्धांतों में 'चार आर्य सत्य', 'प्रतीत्यसमुत्पाद', 'अनित्यवाद' अथवा 'क्षणिकवाद', 'अनात्मवाद', 'निरीश्वरवाद' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा हम इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में पहले ही कर चुके हैं। यहां प्रसंगानुसार केवल निरीश्वरवाद के संदर्भ में इनमें से कुछ प्रासंगिक सिद्धांतों का यथास्थान उल्लेख किया जाएगा।

बौद्ध धर्म की उपर्युक्त संक्षिप्त पृष्ठभूमि के पश्चात, अब इस धर्म के निरीश्वरवाद पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। इस संबंध में यहां सर्वप्रथम यह तथ्य उल्लेखनीय

है कि यद्यपि हीनयान तथा महायान संप्रदायों के विचारकों में अन्य दार्शनिक विषयों और समस्याओं के विषय में पर्याप्त मतभेद है, फिर भी निरीश्वरवाद के संबंध में वे परस्पर पूर्णतः सहमत हैं। इन दोनों संप्रदायों के अनेक महान दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में नैयायिकों तथा अन्य भारतीय ईश्वरवादियों द्वारा दी गई युक्तियों का खंडन करके और ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध स्वयं अपने तर्क देकर निरीश्वरवाद का पूर्ण रूप से समर्थन किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्म तथा दर्शन में निरीश्वरवाद का वहुत महत्वपूर्ण स्थान है। ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध वौद्ध दार्शनिकों की सैद्धांतिक युक्तियां प्रस्तुत करने से पूर्व उसके अस्तित्व का खंडन करने के लिए यहां स्वयं गौतम बुद्ध के कुछ व्यावहारिक तर्कों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह सर्वविदित तथ्य है कि दुःख से मनुष्य की मुक्ति ही बुद्ध के धर्म और दर्शन का मूल उदेश्य था जिसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया था। इन आर्य सत्यों में दुःख की सर्वत्र उपस्थिति, उसके मूल कारणों तथा उसके निराकरण के मार्ग अथवा उपायों का विस्तृत विवेचन किया गया है। परंतु मनुष्य की दुःख-निवृति की इस संपूर्ण विवेचना में ईश्वर तथा उसकी उपासना के लिए कोई स्थान नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि दुःख से मनुष्य की मुक्ति के लिए गौतम बुद्ध ईवशर को अप्रासंगिक और अनावश्यक मानते थे। यदि ईश्वर की सत्ता में उनका विश्वास होता तो वे अपने धर्म तथा दर्शन के इस मूल उद्देश्य की प्राप्ति में उसकी उपेक्षा न करते। अपने समय में बहु-प्रचारित ईश्वरवाद तथा ईश्वरोपासना से वे अनभिज्ञ नहीं थे, किंतु फिर भी उन्होंने अपने धर्म एवं दर्शन में ईश्वर को कोई महत्व नहीं दिया जिससे यही प्रमाणित होता है कि वे वास्तव में उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने अपने शिष्यों को ईश्वर की चर्चा न करने और उसके विषय में कोई प्रश्न न पूछने का स्पष्ट रूप से आदेश दिया था, क्योंकि वे यह मानते थे कि मानव की दुःख-निवृत्ति के लिए ईश्वर-चर्चा अप्रासंगिक एवं अनावश्यक है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि गौतम बुद्ध ने दुःख से मनुष्य की मुक्ति के लिए ईश्वर को केवल अनावश्यक तथा अप्रासंगिक ही नहीं माना, अपितु उन्होंने उसके अस्तित्व के विरुद्ध अनेक व्यावहारिक तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। इन तर्कों द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर को जगत का रचयिता मानकर जिस रूप में सामान्यतः उसकी अवधारणा को स्वीकार किया जाता है उसमें अनेक गंभीर असंगतियां तथा स्वतोव्याघात विद्यमान हैं। एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक, अश्वघोष ने अपने ग्रंथ, 'बुद्धचरित' में ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध गौतम बुद्ध के इन व्यावहारिक तर्कों का सविस्तार वर्णन किया है। इस संबंध में उनका कथन है कि जगत के रचयिता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करने के लिए बुद्ध ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं : "यदि ईश्वर ने इस जगत की रचना की होती तो इसमें न तो कोई परिवर्तन होता और न विनाश; इसमें कोई दुःख या विपत्ति भी न होती और उचित अथवा अनुचित कुछ भी न होता, क्योंकि सभी अच्छी और बुरी वस्तुएं उसी से उत्पन्न हुई हैं। यदि सभी प्राणियों में उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख, प्रेम एवं घृणा ईश्वर के ही कार्य हैं तो स्वयं उसमें भी सुख तथा दुःख,-प्रेम तथा घृणा विद्यमान होंगे, और यदि उसमें ये सब हैं तो उसे पूर्ण कैसे माना जा सकता है? यदि ईश्वर ही रचयिता

है और सभी प्राणियों को उसी की शक्ति के अधीन रह कर मौन रूप से सब कुछ करना पड़ता है तो सद्गुण की प्रशंसा का क्या लाभ होगा? तव उचित और अनुचित कर्म करना एक समान ही होगा, क्योंकि सभी कर्म ईश्वर के ही कर्म होंगे और उस के लिए ये सब एक समान ही होंगे। परंतु यदि दुःख और पीड़ा का कोई अन्य कारण माना जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि कोई वस्तु ऐसी भी है जिसका कारण ईश्वर नहीं है। फिर सभी वस्तुओं को भी अकारण ही क्यों न मान लिया जाए? इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर रचयिता है तो उसका कार्य या तो सोद्देश्य होगा अथवा निरुद्देश्य। यदि वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है तो उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उद्देश्य में किसी आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्यतः निहित रहती है। यदि वह निरुद्देश्य कार्य करता है तो वह पागल अथवा अबोध शिशु के समान है। फिर यदि ईश्वर ही रचयिता है तो लोग सदा उसके प्रति सादर समर्पित क्यों नहीं होते? वे उसकी पूजा तभी क्यों करते हैं जब उन्हें इसकी आवश्यकता होती है? लोग एक ही ईश्वर के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की पूजा क्यों करते हैं? इस प्रकार इन बौद्धिक युक्तियों द्वारा ईश्वर का विचार मिथ्या प्रमाणित हो जाता है, और इसमें विद्यमान समस्त असंगतियों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए।"[6] ईश्वर के विरुद्ध गौतम बुद्ध के उपर्युक्त तर्कों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे वस्तुतः उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे, अतः यह कहना उचित नहीं होगा कि वे उसके संबंध में मौन रहते थे।

अश्वघोष के अतिरिक्त एक अन्य बौद्ध दार्शनिक, शांतिदेव ने भी अपनी पुस्तक, 'बोधिचर्यावतार' में ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध अनेक प्रबल तर्क प्रस्तुत किए हैं जिनका यहां संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। अपने इन तर्कों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर की अवधारणा में अनेक स्वतोव्याघात पाए जाते हैं जिनके कारण उसे स्वीकार करना अयुक्तिसगंत है। इस संवंध में सर्वप्रथम शांतिदेव ने यह प्रश्न उठाया है कि ईश्वर कौन है—अर्थात, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। अपने इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने ईश्वर के स्वरूप के संबंध में वहुत-से विकल्प प्रस्तुत किए हैं और उन सबका तर्कतः खंडन किया है। उदाहरणार्थ, उनका कथन है कि यदि ईश्वर को पृथ्वी, जल आदि की भांति एक तत्व माना जाए तो वह एकमात्र अंतिम सत्ता और पूर्णतः विशुद्ध नहीं रह जाता। यदि उसे दिक् के समान माना जाए तो वह निष्क्रिय हो जाता है। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर आत्मा है तो स्थाई द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व के विरुद्ध बौद्ध दार्शनिकों ने जो तर्क दिए हैं उनके द्वारा वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यदि वह अज्ञेय है तो जगत के रचयिता के रूप में भी हम उसे कभी नहीं जान सकते। फिर यहां यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि ईश्वर क्या उत्पन्न करता है। वह आत्मा का रचयिता नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा को शाश्वत नित्य माना जाता है। इसी प्रकार जगत और देवताओं की रचना भी उसने नहीं की है, क्योंकि ये स्वतः अस्तित्ववान हैं। सुख और दुःख कर्मों के कारण उत्पन्न होते हैं, अतः वह इनका भी रचयिता नहीं है। यदि ये सब ईश्वर की रचनाएं नहीं हैं तो फिर वह

---

6 'अश्वघोष, 'बुद्ध-चरित', भाग 3, सर्ग 18, श्लोक 18-29, पृ. 31-33.

किसका रचयिता है ? यदि ईश्वर को जगत का रचयिता मान भी लिया जाए तो प्रश्न यह है कि वह इसकी रचना क्यों करता है। यदि ईश्वर अनिच्छा से इसकी रचना करता है तो वह स्वतंत्र नहीं है। यदि वह किसी इच्छा से प्रेरित होकर जगत की रचना करता है तो भी उस इच्छा पर निर्भर होने के कारण उसे स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त जगत् की रचना के लिए ईश्वर कुछ शाश्वत अथवा नित्य द्रव्यों पर निर्भर है और यह तथ्य भी उसकी स्वतंत्रता को बहुत सीमित कर देता है। इस प्रकार जगत् के रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वतंत्र एवं सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता और ऐसे सीमित ईश्वर को संपूर्ण सृष्टि का स्वामी कहना उचित नहीं है।[7] संक्षेप में इन्हीं सब तर्कों के आधार पर शांतिदेव ने ईश्वर के अस्तित्व का खंडन किया है और उसे जगत् के रचयिता के रूप में अनावश्यक माना है।

गौतम बुद्ध तथा उनके अनुयाइयों ने जगत् के रचयिता के साथ-साथ कर्माध्यक्ष के रूप में भी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया है। उनका मत है कि यह संपूर्ण विश्व कर्म के नियम द्वारा शासित होता है, किंतु इस नियम का कोई मार्गदर्शक अथवा नियंता नहीं है। यह नियम किसी बाह्य शक्ति के हस्तक्षेप के बिना ही स्वतः कार्य करता है, अतः इसके मार्गदर्शन के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार के समस्त जीव कर्म के इसी नियम द्वारा नियंत्रित होते हैं और केवल अपने कर्मों के कारण ही सुख-दुःख भोगते हैं। यह एक ऐसा अनिवार्य नियम है जिसमें कोई भी हस्तक्षेप तथा परिवर्तन नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से कभी नहीं बच सकता, अतः इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करना व्यर्थ है। वस्तुतः मानव ईश्वर की कृपा और सहायता के बिना ही स्वयं अपने कर्मों द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकता है। अपनी इसी मान्यता के कारण बुद्ध ने अपने शिष्यों से यह कहा था कि 'आत्मदीपो भव'- अर्थात्, 'तुम अपने दीपक स्वयं बनो और अपना मार्ग स्वयं ही खोजो।' इस प्रकार बुद्ध तथा उनके अनुयाइयों ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में कुछ भारतीय ईश्वरवादी दार्शनिकों द्वारा दी गई नीतिपरक युक्ति को भी अस्वीकार किया है।

उपर्युक्त नीतिपरक युक्ति के विरुद्ध गौतम बुद्ध तथा अन्य बौद्ध-दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रमुख तर्कों का उल्लेख करते हुए डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं : "बुद्ध ने यह अनुभव किया था कि भयत्रस्त करने वाले देवताओं के डर, आगामी जीवन में अत्याचारों की आशंका तथा चाटुकारिता एवं प्रशंसा द्वारा देवताओं की सदिच्छा को खरीदने से संबंधित मानवीय आत्मा के भ्रष्टाचार के निराकरण का एकमात्र उपाय है इन देवताओं को सदा के लिए नष्ट कर देना। आदिकारण का विचार नैतिक प्रगति में हमारी कोई सहायता नहीं करता। यह हमें अकर्मण्य तथा अनुत्तरदाई बना देता है। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो अच्छा तथा बुरा जो कुछ भी होता है उस सबका कारण केवल वही है और मनुष्य को कोई स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि वह दुराचार से घृणा करता है और अशुभ की

---

7 'देखिए, शांतिदेव, ' बौधिचर्यावतार ', अध्याय 9 श्लोक 119-126

रचना से इन्कार करता है तो वह संपूर्ण विश्व का कर्ता नहीं है। हम यह आशा करते हैं कि ईश्वर हमें क्षमा कर देगा। यदि ईश्वर का अनुग्रह सर्वाधिक शक्तिशाली है, यदि इसके कारण अपराधी क्षणमात्र में संत हो जाता है तो हम सद्गुणयुक्त जीवन और चरित्र-निर्माण के प्रति उदासीन हो सकते हैं। चरित्र-निर्माण के लिए हमारा प्रयास व्यर्थ हो जाता है। केवल स्वर्ग और नरक ही हमारे सद्गुण तथा दुर्गुण के पुरस्कार हो जाते हैं।... इस प्रचलित विचार का विरोध करते हुए बुद्ध को यह घोषित करना पड़ा कि सद्गुण तथा सुख, दुर्गुण और दुःख में अनिवार्य संबंध है।... वस्तुओं की प्राकृतिक व्याख्या द्वारा धार्मिक भ्रम का उन्मूलन कर दिया गया। व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की प्राक्कल्पना इसके साथ असंगत प्रतीत होने लगी। कर्म का नियम हमारे लिए यह आवश्यक बना देता है कि हम पक्षपात, अकारण मत-परिवर्तन तथा मनमाने आचरण से संबधित सभी विचारों को अस्वीकार कर दें।... इसके अतिरिक्त जीवन के हृदयविदारक तथ्यों के साथ प्रेममय ईश्वर में विश्वास की संगति स्थापित करना सरल नहीं है। संसार के दुःख को केवल कर्म की प्राक्कल्पना के आधार पर ही समझा जा सकता है। यही संसार के समस्त प्राणियों की व्याख्या करता है।... कर्म की अपेक्षा कुछ भी उत्कृष्ट नहीं है।... ईश्वर हमारे जीवन का निर्माता नहीं है। मनुष्य का जन्म उसके अपने कर्मों के कारण ही होता है। यह भी उसके कर्मों पर ही निर्भर है कि उसके माता-पिता कौन होंगे। संसार की भिन्नता कर्मों के कारण ही उत्पन्न होती है।... बुद्ध ... इस सत्य को समझने में हमारी सहायता करते हैं।[8]" डॉ0 राधाकृष्णन के उपर्युक्त विस्तृत उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार बुद्ध और उनके अनुयाई ईश्वर की सत्ता के समर्थन में प्रस्तुत की गई नीतिपरक युक्ति को पूर्णतः अस्वीकार करते थे।

वस्तुतः गौतम बुद्ध के समस्त प्रमुख दार्शनिक सिद्धांतों में ईश्वर के अस्तित्व का निषेध किया गया है। यद्यपि उन्होंने ईश्वर, आत्मा, जगत आदि से संबंधित दार्शनिक प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहकर अपने शिष्यों को इनमें न उलझने का उपदेश दिया था, फिर भी कालांतर में स्वयं उन्हें इन शाश्वत प्रश्नों के विषय में अपने विचार व्यक्त करने पड़े। इन प्रश्नों के संबंध में बुद्ध द्वारा प्रकट किए गए विचारों की व्याख्या के परिणामस्वरूप बौद्ध दर्शन के अनेक महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांतों का विकास हुआ। इन सिद्धांतों का विश्लेषण करने से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन में ईश्वर की सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस दर्शन का प्रथम मुख्य सिद्धांत है विश्वव्यापी अनिवार्य कारणवाद जिसे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार, विश्व में कुछ भी अकस्मात या अकारण घटित नहीं होता और प्रत्येक वस्तु किसी अन्य वस्तु का परिणाम होने के कारण उस पर निर्भर रहती है। बौद्ध दर्शन में इस सिद्धांत का इतना अधिक महत्व है कि इसे 'धर्म' की संज्ञा दी गई है। इस प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए बुद्ध ने कहा था कि यह कारणकार्य का अनिवार्य विश्वव्यापी नियम है जो स्वतः क्रियाशील रहता है और जिसके मूल में कोई चेतन शक्ति निहित नहीं है। संसार में जिन वस्तुओं का अस्तित्व

---

8. डॉ0 राधाकृष्णन, 'इंडियन फ़िलासाफ़ी', खंड 1, पृ. 453 456.

है और जो घटनाएं घटित होती हैं उन सबकी व्याख्या इसी सर्वव्यापी कारण-कार्य के नियम द्वारा ही की जा सकती है, अतः इससे पृथक तथा परे कोई वस्तु नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म और दर्शन के इस सिद्धांत में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर को ऐसी स्वयंभू सत्ता माना जाता है जिसका कोई कारण नहीं है। परंतु हम देख चुके हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार किसी अकारण वस्तु का अस्तित्व असंभव है। ऐसी स्थिति में स्वयंभू या अकारण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना इस सिद्धांत के विरुद्ध है।

बौद्ध धर्म तथा दर्शन का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत है क्षणिकवाद अथवा अनित्यवाद जिसे परिणामवाद या संतानवाद भी कहा जाता है। गौतम बुद्ध ने अपने धर्मोपदेश में इस सिद्धांत को विशेष महत्व दिया था। इसके अनुसार, विश्व में कोई भी वस्तु नित्य, शाश्वत या स्थाई नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रति क्षण निरंतर परिवर्तन होता रहता है। यह विश्व एक सतत् गतिशील प्रवाह है जिसमें किसी प्रकार की नित्य अथवा शाश्वत सत्ता संभव नहीं हैं।

निरंतर परिवर्तन का यह विश्वयापी नियम समस्त वस्तुओं तथा प्राणियों पर समान रूप से लागू होता है। इसी सिद्धांत के आधार पर बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था कि इस संसार में सभी वस्तुएं अनित्य, परिवर्तनशील तथा क्षणिक हैं, किंतु अविद्या के कारण मनुष्य किसी वस्तु को नित्य अथवा स्थाई समझ लेता है। प्रत्येक वस्तु में प्रति क्षण एक अवस्था के पश्चात दूसरी अवस्था उत्पन्न होती रहती है। परंतु हम भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की इस अटूट परंपरा या शृंखला को नहीं जान पाते, अतः हमें वस्तुएं स्थाई प्रतीत होती हैं। इस तथ्य को नदी के प्रवाह तथा दीप शिखा के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। बौद्ध धर्म एवं दर्शन का क्षणिकवाद स्थाई द्रव्य के रूप में अजर-अमर आत्मा की सत्ता के साथ-साथ ईश्वर के अस्तित्व का भी खंडन करता है, क्योंकि ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को एक ऐसी नित्य अथवा शाश्वत सत्ता मानते हैं जिसमें कभी कोई परिर्वतन नहीं होता। परंतु क्षणिकवाद के अनुसार ऐसे शाश्वत या अपरिवर्तनशील ईश्वर का अस्तित्व असंभव है। इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रथम सिद्धांत की भांति उसका यह दूसरा सिद्धांत भी ईश्वर की सत्ता का पूर्णतः निषेध करता है।

उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धांतों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के निर्वाण संबंधी सिद्धांत में भी ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इस धर्म का मूल उद्देश्य है समस्त दुःखों से मनुष्य की पूर्ण मुक्ति जिसे 'निर्वाण' की संज्ञा दी गई है। इस निर्वाण के अर्थ और स्वरूप के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बहुत कठिन है, क्योंकि इस की व्याख्या के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। परंतु फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण के स्वरूप को समझने और उसकी प्राप्ति के लिए ईश्वर का कोई महत्व नहीं है। बुद्ध ने दुःख के स्वरूप, उसके मूल कारण तथा उससे मुक्ति प्राप्त करने के मार्ग या उपायों का जो विस्तृत विश्लेषण किया है उसमें ईश्वर तथा उसकी उपासना को कोई स्थान नहीं दिया गया। इस विश्लेषण में केवल यही

बताया गया है कि दुःख का स्वरूप क्या है, उसके कारण कौन-कौन-से हैं और किन उपायों द्वारा मनुष्य उससे मुक्त हो सकता है। हम देख चुके हैं कि बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार सत्यों का संबंध मूलतः इन्हीं प्रश्नों से है और इन आर्य सत्यों में उन्होंने कहीं भी ईश्वर की चर्चा नहीं की है। इससे यही सिद्ध होता है कि वे निर्वाण के लिए ईश्वर तथा उसकी उपासना को अप्रासंगिक और अनावश्यक समझते थे। वस्तुतः उनका दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य केवल अपने पवित्र नैतिक आचरण द्वारा ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है, ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति के अनुग्रह द्वारा नहीं। इसी कारण उन्होंने निर्वाण-प्राप्ति के लिए मानव को स्वावलंबी बनने का उपदेश दिया था। इस प्रकार गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अन्य दार्शनिक सिद्धांतों की भांति उनका निर्वाण-संबंधी सिद्धांत भी ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है, अतः उनके धर्म एवं संपूर्ण दर्शन को वास्तविक अर्थ में निरीश्वरवादी धर्म तथा दर्शन कहा जा सकता है।[9]

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि निरीश्वरवादी होते हुए भी बौद्ध धर्म को 'धर्म' की संज्ञा क्यों दी जाती है। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है, क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, धर्म के लिए ईश्वर की अवधारणा अनिवार्य नहीं है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में लगभग वे सभी तत्व विद्यमान हैं जो धर्म के लिए आवश्यक माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, इस धर्म में केवल आस्था के आधार पर बुद्ध को 'अलौकिक' सत्ता मानकर उनकी उपासना या पूजा की जाती है। इस पूजा के लिए बौद्ध धर्म के मंदिरों, उनमें विद्यमान सभी वस्तुओं तथा धर्म-ग्रंथों को अत्यंत पवित्र समझा जाता है। इस धर्म के अनुयाई अपने उपास्य देवता, बुद्ध के समान इन सब पवित्र वस्तुओं में भी अखंड श्रद्धा रखते हैं। अन्य सभी उन्नत धर्मों की भांति बौद्ध धर्म में भी मनुष्य की मुक्ति की अवधारणा विद्यमान है जिसे 'निर्वाण' कहा जाता है और जिस की प्राप्ति के लिए आष्टांगिक मार्ग का निष्ठापूर्वक अनुसरण करना आवश्यक माना जाता है। इन सब तत्वों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के समान बौद्ध धर्म का भी अपना एक बाह्य तथा व्यावहारिक पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के धार्मिक कर्मकांड अथवा अनुष्ठानों द्वारा होती है। इन बाह्य धार्मिक अनुष्ठानों को देखकर कोई भी व्यक्ति यह भली-भांति समझ सकता है कि इनका पालन करने वाला मनुष्य बौद्ध धर्म में विश्वास करता है। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में ईश्वर की अवधारणा का अभाव होते हुए भी उपर्युक्त सभी तत्वों के आधार पर इसे 'धर्म' की संज्ञा देना निश्चय ही उचित और युक्तिसंगत है।

3. जैन धर्म

बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म भी पूर्णतः निरीश्वरवादी धर्म है जिसमें ईश्वर की सत्ता

---

9. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए, लेखक की एक अन्य पूर्वोल्लिखित पुस्तक, 'भारतीय तथा पाश्चत्य दर्शन में निरीश्वरवाद', अलाईड पब्लिशर्स, अध्याय छः, खंड 2.

के लिए कोई स्थान नहीं है। जैन परंपरा के अनुसार, इस धर्म के संस्थापक चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं, किंतु इसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने तथा भारत में इसका प्रचार करने का प्रमुख श्रेय वर्धमान महावीर को दिया जाता है जो बुद्ध के समान महान विचारक थे। इस धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और चौबीसवें तथा अंतिम तीर्थंकर महावीर थे जिनके धर्मोपदेशों को जैन लोग विशेष महत्व देते हैं। गौतम बुद्ध की भांति महावीर का जन्म भी ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व राज-परिवार में हुआ था और उनका बाल्यकालीन नाम 'वर्धमान' था। इन दोनों महापुरुषों का जन्म लगभग एक ही समय में होने के कारण इन्हें समकालीन विचारक माना जाता है। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् तीस वर्ष की आयु में वर्धमान ने संन्यास ग्रहण किया और लगभग बारह वर्ष तक कठोर तपस्या करने के उपरांत उन्हें सत्य के ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस ज्ञान के परिणामस्वरूप राग-द्वेष, हर्ष-शोक, समस्त इंद्रियों तथा मन पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के कारण उन्हें 'महावीर' की संज्ञा से विभूषित किया गया। बुद्ध के समान उन्होंने भी केवल मौखिक रूप से जनसाधारण में अपने धर्म का प्रचार किया, अतः मुख्यतः उन्हीं के उपदेशों को जैन धर्म का मूल आधार माना जाता है।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकरों का विशेष महत्व है जिन्हें अत्यंत आदरणीय तथा 'मुक्त' पुरुष कहा जाता है। जैन लोग इन तीर्थंकरों को 'जिन' की संज्ञा देते हैं जिसका अर्थ है 'जेता' अथवा 'जितेंद्रिय' और जिससे 'जैन' शब्द की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से 'जैन' वह व्यक्ति है जिसने संयम, कठोर तपस्या तथा पंच महा व्रतों-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य-द्वारा अपनी इंद्रियों और अपने मन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। जैन लोग तीर्थंकरों को अलौकिक पुरुष मानकर उनकी पूजा करते हैं और उनके द्वारा दी गई शिक्षाओं में पूर्ण श्रद्धा रखना तथा इन शिक्षाओं के अनुरूप निष्ठापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना आवश्यक समझते हैं। उनका विश्वास है कि इन तीर्थंकरों द्वारा बताए गए मार्ग का श्रद्धापूर्वक अनुसरण करके ही मनुष्य मुक्ति या मोक्ष प्राप्त कर सकता है जिसे वे 'कैवल्य' की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में तीर्थंकरों का वही उपास्य स्थान है जो बौद्ध धर्म में बुद्ध को दिया जाता है।

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म में बहुत-सी समानताएं हैं जिनका यहां संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। सर्वप्रथम दोनों धर्मों का उदय और विकास भारत में ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व हुआ था। इन दोनों धर्मों के प्रवर्तकों—गौतम बुद्ध तथा वर्धमान महावीर का जन्म राजपरिवार में हुआ था और ये दोनों ही समकालीन क्रांतिकारी विचारक थे। इन दोनों विचारकों ने वैदिक काल में प्रचलित बलि-प्रथा, हिंसा, यज्ञों, धार्मिक कर्मकांड और उसे संपन्न कराने वाले पुरोहितों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया था। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म दोनों ही वेदों की प्रामणिकता में विश्वास नहीं करते। वे वेदों को न तो अपौरुषेय मानते हैं और न ईश्वर की वाणी, अतः वैदिक विचारधारा के समर्थकों ने उन्हें 'नास्तिक कहकर उनके प्रति अपना तिरस्कार अभिव्यक्त किया है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, ये दोनों धर्म ईश्वर के अस्तित्व को भी पूर्णतः अस्वीकार करते हैं जिसके कारण इन्हें

'निरीश्वरवादी धर्म' कहा जाता है। परंतु निरीश्वरवादी होते हुए भी ये दोनों वस्तुतः अध्यात्मवादी धर्म हैं, क्योंकि ये स्वर्ग, नरक, कर्मवाद, पुर्नजन्म, परलोक, मोक्ष आदि अनेक अलौकिक सत्ताओं, शक्तिओं या अवधारणाओं में विश्वास करते हैं। अंत में इन दोनों धर्मों ने भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के साथ-साथ विश्व के करोड़ों लोगों के जीवन को भी प्रभावित किया है और आज भी कर रहे हैं। इन धर्मों के इस विश्वव्यापी प्रभाव का प्रमुख कारण इनकी विशेष आचार-मीमांसा है जिसमें मनुष्य को आत्मनिर्भर बनने तथा अपने व्यावहारिक जीवन में मन, वचन और कर्म द्वारा सदैव पवित्र आचरण करने का सदुपदेश दिया गया है। इन दोनों धर्मों की यह समृद्ध आचार-मीमांसा केवल भारतीय संस्कृति के लिए ही नहीं, अपितु विश्व-संस्कृति के लिए भी इनका बहुत महत्वपूर्ण योगदान है।

जैन धर्म की इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि के पश्चात अब उन प्रमुख तर्कों पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है जो इस धर्म के आचार्यों ने ईश्वरवाद के विरुद्ध तथा निरीश्वरवाद के समर्थन में प्रस्तुत किए हैं। उनका मत है कि ईश्वर के प्रत्यय में अनेक गंभीर असंगतियों अथवा स्वतोव्याघात विद्यमान हैं, अतः तर्कों द्वारा उस के अस्तित्व को प्रमाणित करना संभव नहीं है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने ईश्वरवाद के समर्थन में नैयायिकों द्वारा दी गई सभी महत्वपूर्ण युक्तियों का तर्कतः खंडन करते हुए ईश्वर के प्रत्यय को तर्क-विरुद्ध प्रमाणित किया है। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए नैयायिकों ने जो तर्क दिए हैं वे मुख्यतः अनुमान पर ही आधारित हैं। उनका कथन है कि यह विश्व घट, वस्त्र, भवन आदि के समान एक 'कार्य' है, अतः जिस प्रकार इन वस्तुओं का निर्माता कोई बुद्धिमान मनुष्य होता है उसी प्रकार इस विश्व का भी कोई बुद्धिमान रचयिता अवश्य होना चाहिए और यह रचयिता सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है। इस प्रकार नैयायिकों ने विश्व को एक 'कार्य' और ईश्वर को उसका 'निमित कारण' मानकर अनुमान द्वारा उसकी सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है, अतः जैन दार्शनिकों ने उनके इस अनुमान को मिथ्या सिद्ध करने के लिए अनेक प्रबल तर्क प्रस्तुत किए हैं।

हरिभद्र सूरी, प्रभाचंद्र, गुणरत्न, हेमचंद्र, सिद्धसेन दिवाकर आदि जैन आचार्यों ने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया है कि विश्व को 'कार्य' कहने का क्या अर्थ है। सामान्यतः प्रत्येक रचित अथवा उत्पन्न की गई वस्तु को कार्य कहा जाता है और नैयायिकों ने मुख्यतः इसी आधार पर विश्व को 'कार्य' की संज्ञा दी है। उन्होंने घट, वस्त्र, भवन आदि रचित वस्तुओं के साथ विश्व की जो तुलना की है उससे इसी तथ्य की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त वे ऐसी प्रत्येक वस्तु को भी 'कार्य' कहते हैं जो निरंतर परिवर्तनशील है और इस अर्थ में भी उन्होंने विश्व को 'कार्य' माना है। परंतु उनके इस मत के विरुद्ध जैन दार्शनिकों का कथन है कि यह नैयायिकों के अपने मूल सिद्धांत के विरुद्ध है। इसका कारण यह है कि यदि विश्व की परिवर्तनशीलता के आधार पर उसे 'कार्य' मान लिया जाए तो ईश्वर को भी 'कार्य' मानना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि स्वयं नैयायिकों के अनुसार ईश्वर कभी विश्व की रचना करता है और कभी उसका संहार करता है। ईश्वर की इन विभिन्न क्रियाओं के कारण स्वयं उसके स्वरूप तथा गुणों में भी परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति में

ईश्वर को भी 'कार्य' की संज्ञा देना आवश्यक हो जाता है। परंतु नैयायिक ईश्वर को शाश्वत, नित्य तथा अपरिवर्तनशील मानकर उसके 'कार्यत्व' का निषेध करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने मूल सिद्धांत में संगति बनाए रखते हुए नैयायिक किसी वस्तु की परिवर्तनशीलता को उसके 'कार्य' होने की कसौटी नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा करने से ईश्वर के स्वरूप के संबंध में उनके अपने सिद्धांत का खंडन होता है।[10] जैन दार्शनिकों-विशेषतः गुणरत्न-के इस तर्क से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नैयायिक तर्कसंगत रूप से विश्व को 'कार्य' की संज्ञा नहीं दे सकते और यदि यह विश्व 'कार्य' नहीं है तो इसके कार्यत्व पर आधारित उनका वह अनुमान मिथ्या सिद्ध हो जाता है जिसके द्वारा उन्होंने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त जैन आचार्यों ने यह तर्क भी दिया है कि विश्व को 'कार्य' मान लेने पर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विश्व का कार्यत्व केवल इतना ही प्रमाणित करता है कि उसका कोई कारण है; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह कारण अशरीरी, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर है। यदि नैयायिकों के इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाए कि जिस प्रकार कुंभकार घट का निर्माण करता है उसी प्रकार ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है तो कुंभकार की भांति ईश्वर को भी शरीरवान, अल्पज्ञ तथां अपूर्ण या सीमित मानना अनिवार्य हो जाता है। हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि घट, वस्त्र, भवन आदि समस्त प्रयोजनशील वस्तुओं का निर्माण करने वाले मनुष्य शरीरवान, अल्पज्ञ और सीमित या अपूर्ण ही होते हैं। ऐसी स्थिति में नैयायिकों के अपने तर्क के आधार पर हम युक्तिसंगत रूप से यह कह सकते हैं कि ईश्वर भी शरीरवान, अल्पज्ञ तथा अपूर्ण या सीमित है। परंतु नैयायिक इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि वे ईश्वर को अशरीरी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सभी दृष्टियों से पूर्ण मानते हैं। इस प्रकार विश्व को 'कार्य' मान लेने पर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

नैयायिकों के ईश्वर विषयक अनुमान के संबंध में गुणरत्न तथा अन्य जैन दार्शनिकों ने यह मूल प्रश्न भी उठाया है कि क्या वास्तव में विश्व को 'कार्य' की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रश्न के उत्तर में इन दार्शनिकों का कथन है कि विश्व वस्तुतः 'कार्य' नहीं है। सामान्यतः उस वस्तु को 'कार्य' कहा जाता है जो अनित्य है — अर्थात्, जिसका कभी अस्तित्व होता है और कभी नहीं होता। यदि इस दृष्टि से विश्व के स्वरूप पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह 'कार्य' नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व सदैव बना रहता है। हम सब केवल यही जानते है कि विश्व का अस्तित्व है, किसी को भी उसके अनस्तित्व का अनुभव नहीं है और न हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि विश्व अनित्य न होकर शाश्वत है, अतः उसे तर्कसंगत रूप से 'कार्य' नहीं माना जा सकता। यदि यह विश्व 'कार्य' नहीं है तो इसके निमित कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने का कोई आधार ही नहीं रह जाता।

---

10. देखिए, गुणरत्न, 'तर्क-रहस्य-दीपिका', पृ.118.

ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने यह भी कहा है कि यदि विश्व को 'कार्य' मान लिया जाए तो भी उसके निमित कारण के रूप में ईश्वर के स्वरूप का नैयायिकों ने जो वर्णन किया है उसमें अनेक गंभीर दार्शनिक कठिनाइयां विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, नैयायिक ईश्वर को नित्य अथवा शाश्वत मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि उसके स्वरूप तथा गुणों में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। परंत इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि ईश्वर इस विश्व की रचना स्वयं अपने सकंल्प, ज्ञान और प्रयत्न द्वारा करता है। नैयायिकों की इस मान्यता में गंभीर स्वतोव्याघात या असंगति को स्पष्टतः देखा जा सकता है। यदि ईश्वर विश्व की रचना के लिए अपने संकल्प, ज्ञान, प्रयत्न आदि गुणों का प्रयोग करता है तो इसका अर्थ यह है कि उनके उन गुणों में अनिवार्यतः परिवर्तन होता है, क्योंकि वह कभी विश्व रचना करता है और कभी नहीं करता। ऐसी स्थिति में ईश्वर को नित्य या अपरिवर्तनशील नहीं माना जा सकता, अतः उसे भी 'कार्य' की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः नैयायिकों तथा अन्य ईश्वरवादियों की मूल समस्या यह है कि वे ईश्वर को नित्य एवं अपरिवर्तनशील भी मानते हैं और विश्व का रचयिता भी, जिसके परिणाम स्वरूप उनके इस मत में गंभीर असंगति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार नैयायिकों की उपर्युक्त दार्शनिक कठिनाई से यह स्पष्ट है कि वे तर्कसंगत रूप से नित्य तथा अपरिवर्तनशील ईश्वर को विश्व का रचयिता सिद्ध नहीं कर पाते।

ईश्वर के विरुद्ध गुणरत्न और अन्य जैन आचार्यों ने यह आपत्ति भी उठाई है कि शरीररहित होने के कारण वह विश्व की रचना नहीं कर सकता। इस संबंध में उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि अशरीरी ईश्वर विश्व-रचना की क्रिया किस प्रकार संपन्न कर सकता है। नैयायिकों ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि ईश्वर अपने संकल्प, ज्ञान तथा प्रयत्न द्वारा विश्व की रचना करता है। यहां स्वभावतः उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि अशरीरी ईश्वर में ये गुण किस प्रकार पाए जाते हैं? हम अपने अनुभव द्वारा यही जानते हैं कि ऐसे गुणों की उपस्थिति के लिए शरीर का होना अनिवार्य है, अतः हम किसी शरीररहित सत्ता में इन गुणों के होने की कल्पना भी नहीं कर सकते। ईश्वर को विश्व-रचयिता सिद्ध करने के लिए नैयायिकों ने कुंभकार, जुलाहा, शिल्पी आदि के जो उदाहरण दिए हैं वे सभी शरीरवान मनुष्य हैं। इन उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि रचना की क्रिया के लिए शरीर का होना अनिवार्य है, किंतु नैयायिक ईश्वर को अशरीरी सत्ता मानते हुए भी उसे विश्व का रचयिता मानते है जिसके फलस्वरूप उनके ईश्वर विषयक सिद्धांत में गंभीर तार्किक स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाता है।[11]

विश्व-रचयिता के रूप में ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने यह तर्क भी प्रस्तुत किया है कि यदि विश्व को 'कार्य' मान लिया जाए तो भी इस से यह सिद्ध नहीं होता कि इसकी रचना केवल एक ही ईश्वर ने की है। यह संभव है कि इसके रचयिता अनेक ईश्वर या देवता हों। हम अपने सामान्य अनुभव द्वारा

---

11. देखिए, वही पुस्तक, पृ. 120-121.

यह जानते हैं कि बहुत-से शिल्पी मिलकर एक भवन का निर्माण करते हैं। यही बात मानव निर्मित अन्य अधिकतर वस्तुओं के विषय में भी कही जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की रचना के लिए केवल एक ही मनुष्य का प्रयास अनिवार्य नहीं है। जैन दार्शनिकों का मत है कि इस अनुभव-सिद्ध तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि इस विश्व की रचना भी एक ही ईश्वर द्वारा नहीं, अपितु अनेक ईश्वरों अथवा देवताओं द्वारा की गई है। वस्तुतः यह मत नैयायिकों की इस मान्यता की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि इस विश्व का रचयिता केवल एक ही ईश्वर है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने अपने उक्त तर्क द्वारा यह सिद्ध किया है कि विश्व को 'कार्य' मान लेने पर भी उसके रचयिता के रूप में केवल एक ही ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता।

विश्व-रचयिता के रूप में ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध बौद्ध दार्शनिकों की भांति जैन आचार्यों ने भी यह आपत्ति उठाई है कि विश्व की रचना के लिए ईश्वर की किसी भी अभिप्रेरणा को तर्कसंगत रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस संबंध में मूल प्रश्न यह है कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना क्यों की है। इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न विकल्पों को प्रस्तुत करते हुए जैन दार्शनिकों ने उन सबका तर्कतः खंडन किया है। यदि इस प्रश्न के उत्तर में ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वर ने बिना किसी विशेष प्रयोजन के केवल मनमाने ढंग से विश्व का निर्माण किया है तो इस में विद्यमान व्यवस्था की तर्कसंगत व्याख्या करना असंभव हो जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में दूसरा विकल्प यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि अदृष्ट के अनुसार जीवों को उनके शुभ-अशुभ कर्मों का समुचित फल प्रदान करने के लिए ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। इस विकल्प के विरुद्ध जैन दार्शनिकों का कथन है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो विश्व-रचना के लिए ईश्वर को अदृष्ट पर निर्भर मानना अनिवार्य हो जाता है जिसके कारण वह असीम तथा सर्वशक्तिमान नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त उक्त विकल्प के विरुद्ध वे यह भी कह सकते हैं कि विश्व-रचना से पूर्व जीवों का अस्तित्व ही नहीं था, अतः उन्हें उनके कर्मानुसार फल प्रदान करने का प्रश्न नहीं उठता।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में कुछ ईश्वरवादियों ने यह कहा है कि जीवों के प्रति करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। परंतु जैन आचार्यों ने इस तीसरे विकल्प का भी अनेक तर्कों द्वारा खंडन किया है। सर्वप्रथम उन्होंने इसके विरुद्ध यह प्रश्न उठाया है कि यदि विश्व-रचना का प्रयोजन जीवों के प्रति ईश्वर की करुणा है तो इसमें इतना अधिक दुःख क्यों विद्यमान है। यहां यह उल्लेखनीय है कि ईश्वरवाद के विरुद्ध 'अशुभ की समस्या' मुख्यतः इसी प्रश्न पर आधारित है। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ ईश्वरवादियों ने यह कहा है कि जीवों को अपने अशुभ कर्मों के कारण ही दुःख भोगना पड़ता है, अतः दुःख का उत्तरदायित्व ईश्वर पर न होकर स्वयं जीवों पर ही है। इस तर्क के विरुद्ध जैन दार्शनिकों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि जीव अपने कर्मों के कारण दुःख भोगते हैं और ईश्वर उनके इस दुःख की निवृति के लिए कुछ नहीं करता या नहीं कर सकता तो उसे 'करुणामय' कैसे माना जा सकता है। यदि इस संसार में सर्वत्र कर्म के नियम का ही शासन

है तो फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता है ? इसके अतिरिक्त जैन दार्शनिकों ने ईश्वरवादियों से यह प्रश्न भी किया है कि यदि ईश्वर ने जीवों के प्रति करुणा से प्रेरित होकर इस विश्व की रचना की है तो वह इसका संहार क्यों करता है। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ ईश्वरवादियों का कथन है कि ईश्वर जीवों को उनके दुःख से मुक्ति देने के लिए विश्व का संहार करता है, अतः संहार की इस क्रिया के मूल में भी ईश्वर की करुणा ही है। परंतु इस तर्क का खंडन करते हुए जैन आचार्यों ने यह कहा है कि पहले जीवों के लिए दुःख उत्पन्न करना और फिर उन्हें इस दुःख से मुक्त करने के लिए विश्व का संहार करना कोई बुद्धिमता का कार्य नहीं है।[12] अंत में जैन दार्शनिकों ने ईश्वर की करुणा के विरुद्ध यह तर्क भी दिया है कि विश्व-रचना से पूर्व इस करुणा का कोई आधार ही नहीं था, क्योंकि उस समय तो दुखी जीव थे ही नहीं जिन पर ईश्वर दया कर सकता। इस प्रकार इन सभी प्रबल तर्कों द्वारा जैन दार्शनिकों ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर की करुणा विश्व-रचना की अभिप्रेणा नहीं हो सकती।

कुछ ईश्वरवादियों का मत है कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना किसी विशेष अभिप्रेरणा अथवा प्रयोजन से प्रेरित होकर नहीं, अपितु अपनी क्रीड़ा या लीला के लिए की है। इस मत के विरुद्ध जैन दार्शनिकों का कथन है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो ईश्वर को एक ऐसा अबोध शिशु मानना पड़ेगा जो बिना किसी प्रयोजन के खेलता रहता है और जिसके कर्मों का कोई उद्देश्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह संपूर्ण विश्व भी निष्प्रयोजन हो जाता है जिसे किसी बुद्धिमान प्राणी की रचना नहीं माना सकता। परंतु अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिक विश्व को ईश्वर की व्यवस्थित एवं प्रयोजनपूर्ण कृति मानते हैं। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लेने पर ईश्वर की पूर्णता का भी खंडन होता है, क्योंकि यदि उसे साधारण मनुष्य की भांति अपनी ऊब या थकान मिटाने के लिए क्रीड़ा की आवश्यकता होती है तो उसे भी अपूर्ण ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने इन तर्कों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर केवल अपनी क्रीड़ा अथवा लीला के लिए इस विश्व की रचना नहीं कर सकता।

विश्व-रचना के लिए किसी विशेष ईश्वरीय अभिप्रेरणा अथवा प्रयोजन की कोई तर्कसंगत व्याख्या न कर पाने के कारण कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक यह कहते हैं कि ईश्वर केवल अपने स्वभाव से प्रेरित होकर इस विश्व की रचना करता है। दूसरे शब्दों में, वह विश्व की रचना इसलिए करता है कि रचना करना उसका अनिवार्य स्वभाव है। ईश्वरवादियों के इस मत के विरुद्ध भी जैन आचार्यों ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। सर्वप्रथम उनका कथन है कि यदि यह मत सत्य है तो ईश्वर की रचना-क्रिया को यांत्रिक ही मानना पड़ेगा, सोच-समझकर की गई बौद्धिक क्रिया नहीं। फिर यदि यह विश्व ईश्वर की यांत्रिक रचना-क्रिया का अनिवार्य परिणाम है तो इसकी रचना के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, 'हम यह भी कह सकते हैं कि विश्व की सभी वस्तुएं अपने स्वभाव के कारण ही

12. देखिए, प्रभाचंद्र, 'प्रमेय-मार्तन्ड', पृ. 281.

उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। उपर्युक्त मत के विरुद्ध जैन दार्शनिकों की दूसरी आपत्ति यह है कि यदि रचना करना ही ईश्वर का स्वभाव है तो वह इस विश्व का संहार कैसे कर सकता है। ये दोनों परस्पर विरोधी क्रियाएं एक ही ईश्वर के स्वभाव का परिणाम कैसे हो सकती हैं ? परंतु इस गंभीर दार्शनिक कठिनाई की उपेक्षा करते हुए ईश्वरवादी विचारक ईश्वर को विश्व का रचयिता मानने के साथ-साथ उसका संहारक भी मानते हैं जिससे उनके विचारों में तार्किक असंगति उत्पन्न हो जाती है। अंत में ईश्वरवादियों के उपर्युक्त मत के विरुद्ध जैन दार्शनिकों ने यह आपत्ति भी की है कि पहले से विद्यमान जिन शाश्वत अथवा नित्य द्रव्यों द्वारा ईश्वर इस विश्व की रचना करता है वे उसके स्वाभाव का परिणाम नहीं हो सकते, क्योंकि वे ईश्वर द्वारा रचित और उस पर निर्भर नहीं हैं। ऐसी स्थिति में इन नित्य द्रव्यों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे ईश्वर के स्वभाव के अनुरूप ही कार्य करेंगे ? यह आपत्ति विशेषतः नैयायिकों के मत के विरुद्ध उठाई जा सकती है, क्योंकि वे परमाणु, दिक्, काल, आकाश, आत्मा आदि उन द्रव्यों को नित्य और ईश्वर से स्वतंत्र मानते हैं जिनके आधार पर उसने इस विश्व की रचना की है। इस प्रकार इन सभी तर्कों द्वारा जैन दार्शनिकों ने ईश्वरवादियों के इस मत का खंडन किया है कि ईश्वर अपने स्वभाव से प्रेरित होकर विश्व की रचना करता है।[13]

विश्व के रचयिता या उसके निमित कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध उपर्युक्त सभी तर्कों के अतिरिक्त जैन आचार्यों ने उस के स्वरूप अथवा उसमें आरोपित गुणों के विरुद्ध भी अनेक गंभीर दार्शनिक आपत्तियां उठाई हैं। सर्वप्रथम उनका कथन है कि जो ईश्वर विश्व की रचना और उसका संहार ये दोनों परस्पर विरोधी कार्य करता है उसके स्वरूप में परिवर्तन होना अनिवार्य है, अतः उसे शाश्वत अथवा नित्य नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त ईश्वर का ज्ञान भी नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि सभी प्रकार का ज्ञान अनिवार्यतः कुछ विशेप परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है जिसका अर्थ यह है कि वह अनादि नहीं है। वस्तुतः 'शाश्वत ज्ञान' की वात करना ही असंगत और स्वतोव्याघातपूर्ण होने के कारण निरर्थक है। ईश्वर की नित्यता के साथ-साथ जैन दार्शनिकों ने उसकी सर्वव्यापकता का भी खंडन किया है। ईश्वर को सर्वव्यापक मानने का अर्थ यह है कि वह संपूर्ण विश्व में सर्वत्र उपस्थित रहता है। परंतु अशरीरी होने के कारण ईश्वर इस अर्थ में सशरीर सर्वव्यापक नहीं हो सकता। उसे ज्ञान की दृष्टि से भी सर्वव्यापक नहीं माना जा सकता, क्योंकि शरीररहित ईश्वर के लिए किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। जैन दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर को पूर्णतः स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान भी नहीं कहा जा सकता। जो ईश्वर विश्व की रचना के लिए पहले से विद्यमान कुछ नित्य द्रव्यों तथा मनुष्यों को उनके कर्मों का फल प्रदान करने के लिए अदृष्ट पर निर्भर है और जो इन सवमें कभी कोई परिवर्तन नहीं कर सकता उसे पूर्णतः स्वतंत्र एवं सर्वशक्तिमान मानना अयुक्तिसंगत है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को करुणामय भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि वह करुणामय होता तो उसके द्वारा रचित इस विश्व में इतना अधिक दुःख

13. देखिए, गुणरत्न, 'तर्क-रहस्य-दीपिका', पृ. 122.

विद्यमान न रहता।

ईश्वर के उपर्युक्त गुणों की भांति उसकी सर्वज्ञता के विरुद्ध भी जैन आचार्यों ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। सर्वप्रथम उनका कथन है कि शरीररहित होने के कारण ईश्वर के लिए ज्ञान प्राप्त करना ही संभव नहीं है, अतः उसे 'सर्वज्ञ' कहना पूर्णतः तर्क-विरुद्ध है। वस्तुतः अभौतिक ईश्वर में समस्त ज्ञानेंद्रियों के अभाव के फलस्वरूप ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया असंभव है; ऐसी स्थिति में उसे 'सर्वज्ञ' मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त ईश्वर की सर्वज्ञता को प्रमाणित करना भी संभव नहीं है, क्योंकि इस के लिए कोई तर्कसंगत प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, ईश्वर की सर्वज्ञता को अतींद्रिय वस्तु माना जाता है, अतः उसे प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार हम अनुमान के आधार पर भी ईश्वर की सर्वज्ञता को सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि अतींद्रिय होने के कारण वह अनुमान का विषय नहीं हो सकती। अंत में शब्द-प्रमाण द्वारा भी ईश्वर को सर्वज्ञ प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि श्रुति अथवा धर्मग्रंथों का रचयिता कोई भी मनुष्य पूर्ण और सर्वज्ञ नहीं है, अतः ईश्वर की सर्वज्ञता के विषय में उसके कथन या आप्तवचन पूर्णतः विश्वसनीय नहीं हो सकते। इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों द्वारा जैन आचार्यों ने ईश्वर के स्वरूप से संबंधित उन सभी प्रमुख गुणों का तर्कतः खंडन किया है जो ईश्वरवादी दार्शनिक प्रायः उसमें आरोपित करते हैं।

ईश्वर की सत्ता के समर्थन में नैयायिकों की कारणपरक युक्ति के अतिरिक्त उनके द्वारा दी गई नीतिपरक युक्ति को भी बौद्ध दार्शनिकों के समान जैन आचार्यों ने भी तर्क-विरुद्ध प्रमाणित किया है। नैयायिकों के अनुसार, मनुष्य के शुभ-अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप उसकी आत्मा में जिस अदृष्ट का निर्माण होता है वह जड़ होने के कारण स्वयं मनुष्य को उसके कर्मों का समुचित फल प्रदान नहीं कर सकता, अतः इसके लिए किसी बुद्धिमान शक्ति के मार्गदर्शन की आवश्यकता है और यह शक्ति सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही है। इस प्रकार नैयायिकों ने ईश्वर को अदृष्ट का नियंता और मार्गदर्शक मानकर कर्माध्यक्ष के रूप में उसके अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसे 'नीतिपरक युक्ति' की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इसका संबंध मनुष्य के कर्मों और उनके फल से ही है। परंतु जैन दार्शनिक इस नीतिपरक युक्ति को भी ईवशर की सत्ता के लिए विश्वसनीय प्रमाण नहीं मानते। इसके विरुद्ध उनका कथन है कि अदृष्ट के परिणामस्वरूप मनुष्य को उचित समय पर उसके कर्मों का फल स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, अतः इसके लिए ईवशर की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्य अनेक नियमों की भांति कर्म के नियम की प्रक्रिया भी वस्तुतः यांत्रिक प्रक्रिया है जो किसी वाह्य शक्ति के मार्गदर्शन के विना ही स्वतः संपन्न होती है। ऐसी स्थिति में अदृष्ट के नियंत्रण एवं मार्गदर्शन के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनावश्यक और व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त यह नीतिपरक युक्ति ईश्वर की स्वतंत्रता और सर्वशक्तिमत्ता को भी समाप्त कर देती है, क्योंकि यदि ईश्वर मनुष्यों को उनके कर्मो का फल प्रदान करने के लिए अदृष्ट पर ही निर्भर है और वह उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता तो उसे स्वतंत्र तथा सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता। इस

प्रकार अपने इन तर्कों द्वारा जैन दार्शनिकों ने नैयायिकों की नीतिपरक युक्ति का खंडन किया है।

बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म में भी ईश्वर का स्थान न होने के कारण मनुष्य के कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसके अपने प्रयास को विशेष महत्व दिया गया है। जैन आचार्यों का मत है कि मनुष्य ईश्वर के अनग्रह द्वारा नहीं, अपितु स्वयं अपने पवित्र नैतिक आचारण द्वारा ही कैवल्य प्राप्त कर सकता है, अतः इसके लिए ईश्वर की उपासना करना व्यर्थ है। सांसारिक बंधन के मूल कारण-समस्त-कर्मों-को नैतिक उपायों द्वारा नष्ट करके मनुष्य स्वयं ही अपनी मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है। मनुष्य के चरित्र एवं आचरण की पवित्रता के लिए जैन आचार्यों ने अनेक नैतिक उपाय बताए हैं जिनमें त्रिरत्नों तथा पंचमहा व्रतों का विशेष महत्व है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' अथवा 'रत्नत्रय' की संज्ञा दी जाती है। तीर्थंकरों तथा उनके द्वारा बताए गए सिद्धांतों में पूर्ण श्रद्धा या आस्था रखना 'सम्यक् दर्शन', इन सिद्धांतों का अध्ययन-मनन करके इनका समुचित ज्ञान प्राप्त करना 'समयक् ज्ञान' और अपने व्यावहारिक जीवन में सदैव इन्हीं के अनुसार आचरण करना 'सम्यक् चरित्र' है। इन त्रिरत्नों के अतिरिक्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का पालन करना भी कैवल्य-प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य के लिए आवश्यक है। मन, वचन एवं कर्म से किसी प्राणी को कोई कष्ट न पहुंचाना तथा सभी प्राणियों की यथासंभव सहायता और सेवा करना अहिंसा; जान-बूझकर किसी तथ्य को न छिपाना अथवा किसी प्रकार का छल-कपट न करना सत्य; किसी प्रकार की चोरी तथा उसका विचार भी न करना अस्तेय; प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी प्रकार की वासना में लिप्त न होना ब्रह्मचर्य; सांसारिक भोगों में किसी प्रकार की आसक्ति न रखते हुए अपने लिए भौतिक वस्तुओं का संचय न करना अपरिग्रह है।

जैन आचार्यों का कथन है कि उपर्युक्त रत्नत्रय तथा पंच महाव्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करने के परिणामस्वरूप मनुष्य के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है और फलतः वह कैवल्य प्राप्त कर लेता है। इसके लिए उसे ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति की उपासना तथा उसके अनुग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को स्वयं ही अपने आचरण की पवित्रता द्वारा कैवल्य-प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्माचार्यों की भांति निरीश्वरवादी होने के कारण जैन धर्म के आचार्य भी ईश्वर के स्थान पर स्वयं मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता मानते हैं। वस्तुतः मानव-जीवन के संबंध में पूर्ण स्वावलंबन का यह दृष्टिकोण केवल बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की ही नहीं, अपितु प्रत्येक निरीश्वरवादी धर्म और दर्शन की मूल विशेषता है जो उन्हें ईश्वरवादी धर्मों एवं दर्शनों से पृथक करती है और नैतिक दृष्टि से उनकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट बनाती है।[14]

---

14. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए, लेखक की एक अन्य पूर्वोल्लिखित पुस्तक, 'भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद', प्रथम संस्करण-1999, अलाइड पब्लिशर्स, आसफ अली रोड, दिल्ली, अध्याय 6, खंड 1.

इस परिशिष्ट को समाप्त करने से पूर्व यहां संक्षेप में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निरीश्वरवादी होते हुए भी जैन धर्म को 'धर्म' की संज्ञा क्यों दी जाती है। इस प्रश्न के उत्तर में लगभग वैसे ही तथ्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं जैसे बौद्ध धर्म के संदर्भ में बताए गए हैं। हम देख चुके हैं कि ईश्वर तथा ईश्वरवाद को स्वीकार करना धर्म के लिए कोई अनिवार्य शर्त नहीं है, अतः जैन धर्म में ईश्वरवाद की और ईश्वर की अवधारणा का अभाव उसके 'धर्म' कहलाने में कोई बाधा नहीं डालता। इसके अतिरिक्त अन्य धर्मों की भांति जैन धर्म भी तीर्थंकरों, आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि अनेक अलौकिक सत्ताओं में विश्वास करता है जो धर्म के लिए एक अनिवार्य शर्त है। इन अलौकिक सत्ताओं में से तीर्थंकरों को अत्यंत आदरणीय तथा पूज्य मानकर जैन लोग उनकी उपासना करते हैं, अतः जैन धर्म को 'धर्म' के रूप में स्वीकार करना निश्चय ही उचित और युक्तिसंगत है। इन तीर्थंकरों की उपासना के लिए जैन लोगों के अपने विशिष्ट मंदिर और धर्म-ग्रंथ भी हैं जिन्हें वे अत्यंत पवित्र मानते हैं। उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त अन्य विकसित धर्मों की भांति जैन धर्म में भी मनुष्य के मोक्ष की अवधारणा विद्यमान है जिसे 'कैवल्य' कहा जाता है और जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य के पवित्र नैतिक आचरण को अनिवार्य माना जाता है। हम देख चुके हैं कि इस पवित्र नैतिक आचरण के लिए जैन आचार्यों ने अनेक उपाय बताए हैं। अंत में अन्य धर्मों के समान जैन धर्म का भी अपना एक बाह्य पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति विशेष प्रकार के कर्मकांड द्वारा होती है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म के लिए सभी आवश्यक तत्व जैन धर्म में विद्यमान हैं, अतः इसे 'धर्म' की संज्ञा देना पूर्णतः उचित और युक्तिसंगत है।

पारिभाषिक हिंदी शब्दों के अँग्रेज़ी पर्याय

'अ'

अंतः प्रज्ञा Intuition
अंतर्निहित Immanent
अंतर्मुखी Introvert
अंतवर्ती Immanent
अंतिम Ultimate
अचेतन Unconscious
अज्ञेयवाद Agnosticism
अज्ञेयवादी Agnostic
अति प्राकृतिक Super natural
अति मानवीय Super human
अतींद्रिय Extra Sensory, transcendent
अतींद्रिय दृष्टि Clairvoyance
अतींद्रिय श्रवण Clair-audience
अधि धर्मशास्त्र Meta-theology
अधि धर्मशास्त्रीय Meta-theological
अधि नीतिशास्त्र Meta- ethics
अध्यात्मवाद Spiritualism
अननुमोदन Disapproval
अनन्यता Identity
अनवस्था Regress
अनस्तित्व Non existence
अनियमितता Irregularity
अनिवार्य Necessary
अनिवार्यता Necessity
अनुभव Experience
अनुभवातीत Transcendent
अनुभवात्मक Empirical
अनुमोदन Approval
अनेकार्थकता का सिद्धांत Pluralist theory of meaning
अनेकेश्वरवाद Polytheism
अपराध बोध Guilt feeling
अपरिमित Infinite
अपरोक्ष Direct
अबोधगम्य Unintelligible
अभिवृत्ति Attitude
अमरता Immortality
अमानवत्वारोपी Non-anthropomorphic
अमिथ्यापनीय Unfalsifiable
अलगाव Alienation
अवधारणा Concept
अवर्णनीय Inexpressible
अशुभ Evil
असंगति Inconsistency
असंज्ञानात्मक Non-cognitive
असत्यापनीय Unverifiable
असममित Asymmetrical
अस्तित्व Existence
असीमित Infinite

'आ'

आकस्मिक Contingent
आकस्मिकता Contingency
आकारिक Formal
आख्यान Story
आगमनात्मक Inductive
आचरण नीति Policy of action
आत्मा Self, Soul
आत्मनिरीक्षण Introspection
आत्मनिष्ठ Subjective
आदिम जाति Tribe
आदेश Command

आधिकारिक Authoritative
आधिकारिकता Authoritativeness
आनुवंशिकता Heredity
आपातिक Contingent
आप्त वचन Authority
आप्त वाक्य Authority
आस्था Faith

'इ'

इंद्रियजन्य अनुभव Sense experience
इंद्रिय संवेदन Sensation
इच्छापूर्ति Wishfulfilment

'ई'

ईश्वरवाद Theism
ईश्वरवादी Theist

'उ'

उदात्तीकरण Sublimation
उद्देश्य Subject, Purpose
उपयोग Use
उपयोग सिद्धांत Use-theory
उपादान कारण Material Cause

'ए'

एकतत्त्ववाद Monism
एकता Unity
एकरूपता Uniformity
एकेश्वरवाद Monotheism

'ऐ'

ऐच्छिक Voluntary

'क'

कथन Statement
कसौटी Criterion
कल्याण Well-being
कारण-कार्य का सिद्धांत Law of Causation
कारणता Causality
कारणपरक Causal
कारणमूलक Causal
काल Time
क्षणिकता Transiency

'ग'

गति Motion
गुण Attribute, quality
गुरुत्वाकर्षण Gravitation

'च'

चिंता Concern
चमत्कार Miracle
चेतना Consciousness

'छ'

छद्म-कथन Psuedo-statement

'ज'

जनजाति Tribe
जनजातीय Tribal
जीवन पद्धति Way of life
जीवविज्ञान Biology
जीवशास्त्र Biology
जैविक Biological
ज्ञान मीमांसा Epistemology
ज्ञान मीमांसात्मक Epistemological
ज्ञानात्मकता Neotic quality

'ट'

टोटेमवाद Totemism

'त'

तटस्थेश्वरवाद Deism
तत्त्वमीमांसा Metaphysics
तत्त्वमीमांसीय Metaphysical
तथ्य Fact
तथ्यपरक Factual
तथ्यात्मक Factual
तर्कना Reasoning
तर्कबुद्धि Reason
तर्कशास्त्र Logic
तर्कसंगत Rational
तादात्म्य Identity

तार्किक Logical
तर्कीय Logical

'द'

दमन Repression
दिक Space
दिव्यतत्त्व Numinous
दिव्यानुभूति Numinous feeling
दृष्टांत कथा Parable
दैववाद Fatalism
दैवी प्रकाशना Revelation
दोष Fallacy
द्रव्य Substance
द्वन्द्वात्मक Dialectical

'ध'

धर्मदर्शन Philosophy of Religion
धर्मनिरपेक्ष Secular
धर्मनिरपेक्षवाद Secularism
धर्म-परिवर्तन Conversion
धर्मशास्त्रज्ञ Theologian
धर्मशास्त्र Theology
धर्मशास्त्री Theologian
धर्मशास्त्रीय Theological
धर्मांतरण Conversion
धार्मिक Religious
ध्यान Meditation

'न'

नकारात्मक Negative
नित्य Eternal
निमित्त कारण Efficient cause
नियतत्त्ववाद Determinism
नियतिवाद Fatalism
नियामक Normative
निरीश्वरवादी Non theist, Atheist
निरूपाधिक Unconditioned
निर्गमन Immanation
निर्बौद्धिक Non-rational
निर्व्यक्तिकरण Depersonalization
निश्चयात्मकता Certainity
निष्क्रियता Passivity
निष्ठा Allegiance
नीतिपरक Moral
नैतिक Moral
नृविज्ञानी Anthropologist
नृविज्ञान Anthropology

'प'

पर-चित्त ज्ञान Telepathy
परम Ultimate
परमतत्त्व Absolute
परा मनोविज्ञान Para psychology
परामर्श Advice
परामर्शात्मक Prescriptive
परिचयात्मक ज्ञान Knowledge by Acquaintance
परिभाषा Definition
पर्यावरण Environment, Inosphere
पलायनवाद Escapism
पलायनवादी Escapist
पवित्र Sacred, Holy
पाप Sin
पारलौकिक Eschatological
पितृमनोग्रंथि Oedipus Comlex
पुदगल Matter
पुनरुक्ति Tautology
पूजा Worship
पूर्णतः Conclusively
पूर्वज पूजा Ancestor-worship
प्रकटन Disclosure
प्रकृति-पूजा Nature-Worship
प्रक्रिया Process
प्रक्षेप, प्रक्षेपण Projection
प्रणाली Method

प्रतिकृति Replica
प्रतिगमन Regression
प्रतिज्ञप्ति Proposition
प्रतिनिधि Representative
प्रतिबद्धता Commitment
प्रतिमान Standard
प्रतिरूप Model
प्रतीक Symbol
प्रतीकात्मक Symbolic
प्रत्यक्ष Perception
प्रत्यक्षवाद Positivism
प्रत्यय Idea
प्रत्ययवाद Idealism
प्रत्ययसत्ता युक्ति Ontological Argument
प्रभावी Persuasive
प्रमाण Proof
प्रयोग Experiment
प्रयोजन Purpose
प्रयोजन कर्त्ता Designer
प्रयोजनमूलक Teleological
प्रयोजनवाद Teleology
प्रसंभाव्य Probable
प्राकृतिक Natural
प्राकृतिक चुनाव Natural Selection
प्राक्कल्पना Hypothesis
प्रागनुभविक A priori
प्रायिक Probable
प्रायिकता Probability
प्रार्थना Prayer
प्रौद्योगिकी Technology

'ब'

बहिर्मुखी Extrovert
बहुतत्त्ववाद Pluralism
बहुदेववाद Polytheism
बोधगम्य Intelligible
बोधगम्यता Intelligibility
बौद्धिक Rational
ब्रह्मांड Universe

'भ'

भाषा के खेल Language Games
भाषा विश्लेषण Linguistic Analysis
भूगर्भशास्त्र Geology
भौतिकवाद Materialism
भौतिकी Physics
भ्रम Illusion

'म'

मन Mind
मनस Mind
मनोविश्लेषणवाद Psycho-Analysis
मरणोत्तर सत्यापन Eschatological Verification
मातृमनोग्रंथि Electra Comlex
मानवतावाद Humanism
मानवतावादी Humanist
मानवत्वारोपी Anthropomorphic
मानवशास्त्र Anthropology
मानावाद Manaism
मिथ्याकरण Falsification
मिथ्यापनीय Falsifiable
मिथ्यापनीयता Falsifiability

'य'

युक्ति Argument
युक्तिसंगत Rational
योग्यतम की उत्तरजीविता Survival of the fittest

'र'

रचनावाद Creationism
रसायन विज्ञान Chemistry
रहस्य Mystery
रहस्यवाद Mysticism
रहस्यवादी Mystic

रहस्यात्मक Mystical

'व'

वर्जना Taboo
वर्णनात्मक ज्ञान Knowledge by description
वस्तुगत Objective
वस्तुनिष्ठ Objective
वस्तुपरक Objective
विकासवाद Evolutionism
विधि Method
विधेय Predicate
विरोधाभास Parodox
विश्लेपणात्मक Analytic
विश्वास Belief
विपय Subject
वैराग्य Detachment
व्यक्तिनिष्ठ Subjective
व्यवस्था Order
व्याघात Contradiction

'श'

शाश्वत Eternal
शुभत्व Goodness
श्रुति Revelation
श्रुतिमूलक Reveled

'स'

संकल्पना Conception
संकल्प-स्वातंत्र्य Freedom of will
संगति Consistency
संज्ञानात्मक Cognitive
संदर्भ Context
संदेहवाद Scepticism
संदेहवादी Sceptic
संवाद सिद्धांत Correspondance theory
संवेगवाद Emotivism
संवेगवादी Emotivist
संशयवाद Scepticism
संश्लेपणात्मक Synthetic
सकारात्मक Positive
सत्ता Existence, Reality
सत्यापन Verification
सत्यापनीयता Verifiability
सत्स्वरूप Being Itself
समन्वय Synthesis
सममित Symmetrical
समरूपता का नियम Law of Uniformity
समुदाय Group
सर्वज्ञ Omniscient
सर्वज्ञता Omniscience
सर्वव्यापक Omnipresent
सर्वव्यापकता Omnipresence
सर्वशक्तिमान Omnipotent
सर्वशक्तिमत्ता Omnipotence
सर्वात्मवाद Animism
सर्वेश्वरवाद Pantheism
साक्षात Direct
सादृश्य Analogy
सादृश्यमूलक Analogical
साम्यानुमान Analogy
सायुज्य Communion
सार्वजनीन Universalizable
सार्वजनीनता Universalizability
सार्वभौम Universal
सृष्टिमूलक Cosmological
सौंदर्यशास्त्र Aesthetic
सौंदर्यात्मक Aesthetics
स्तनपायी Mammal
स्वतो व्याघात Self Contradiction

'ह'

हित Interest

नामानुक्रमणिका

हिंदी भाषा में धर्मदर्शन को पढ़कर अंग्रेज़ी के माध्यम से इस विषय की परीक्षा देने के इच्छुक द्विभाषीय विद्यार्थियों के लिए निम्नलिखित नामानुक्रमणिका में प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिकों तथा विज्ञानियों के नामों के हिंदी सहित अंग्रेज़ी रूपांतर अध्यायों और परिशिष्टों के क्रमानुसार प्रस्तुत किए जा रहे हैं। आशा है इस नवीन नामानुक्रमणिका के फलस्वरूप इन विद्यार्थियों को विशेष रूप से सुविधा प्राप्त हो सकेगी।

अध्याय-1

जे0 एच0 ल्यूवा	J. H. Leubá
ई0 ए0 वर्ट	E. A. Burtt
कार्ल वार्थ	Karl Barth
ऐमील ब्रूनर	Emil Brunner
रीनोल्ड नीवुर	Reinhold Niebulr

अध्याय -2

कार्ल मार्क्स	Karl Mar
जार्ज गैलोवे	George Gallo-way
ई0 वी0 टाइलर	E. B. Tylor
ऐटकिन्सन ली	Atkinson Lee
इमाइल दुरखीम	Emile Durkheim
जे0 जी0 फ्रेजर	J. G. Frazer
प्रिंगल पैटिसन	Pringle Pattison

अध्याय -3

रुडोल्फ कार्नेप	Rudolf Carnap
ए0 जे0 एयर	A. J. Ayer
अरस्तू	Aristotle
टॉमस ऐक्वाइनस	Thomas Aqvinas
डेकार्ट	Descartes
लाइवनीज़	Leibnitz
प्लेटो	Plato
विलियम पेले	William Paley
हेनरी मोर	Henry More
जेम्स मार्टिन्यू	James Martineau
एफ0 आर0 टैनेन्ट	F. R. Tennant
डेविड ह्यूम	David Hume
कान्ट	Kant
ए0 आई0 व्राउन	A. I. Brown
चार्ल्स डार्विन	Charles Darwin
कार्डिनल न्यूमेन	Cardinal Newman
डेविड ऐल्टन ट्रब्लड	David Elton Trueblood
जे0 एच0 कार्डिनल	J. H. Cardinal
डी0 एम0 वेली	D. M. Baillie
हेस्टिंग्ज रैश्डल	Hastings Rashdall
एच0 डी0 लेविस	H. D. Lewis
एच0 एच0 फारमर	H. H. Farmer
कनफ्यूशियस	Confucius
एनसेल्म	Anselm
जी0डब्ल्यू0एफ0 हेगल	G. W. F. Hegel
गोनीलो	Gaunilon

अध्याय-4

पॉल तिलिक	Paul Tillich
आई0 एम0 क्रॉम्बी	I. M. Crombie
जॉन हिक	John Hick
संत आगस्टाइन	Saint Augustine
जे0 एस0 मिल	J. S. Mill

प्लोटिनस	Plotinus
स्पिनोज़ा	Spinoza
एफ0 एच0 ब्रैडले	F.H. Bradley
टॉमस ग्रीन	Thomas Green
शैलिंग	Shelling

अध्याय-6

ऐपिक्यूरस	Epicurus
नेल्सन पाइक	Nelson Pike
जे0 एल0 मैकी	J.L. Mackie
एच0 जे0 मैकलॉस्की	H. J. Mccloskey
जी0 एच0 जाएस	G.H. Joyce
विलियम टेम्पल	William Temple
जी0 ई0 मूर	G.E. Moore
विलियम जेम्स	William James
ई0 एच0 ब्राइटमैन	E.S. Brightman
पी0 ए0 बर्टोकी	P. A. Bertocci
एन0 एफ0 एस0 फरे	N. F. S. Ferre

अध्याय-7

रुडोल्फ ऑटो	Rudolf Otto
लुडविग विटगिनस्टाइन	Ludwig Wittgenstein
टॉमस मैकफरसन	Thomas Mc-Pherson
डब्ल्यू0 टी0 स्टेस	W. T. Stace
संत जान	Saint John

अध्याय-8

मैमोनाइड्स	Maimonides
बर्कले	Berkeley
ई0 एल0 मैस्कल	E.L. Mascall
कीर्केगार्ड	Kierke-Gaard
पास्कल	Pascal
टी0 एच0 हक्सले	T.H. Huxley
डब्ल्यू0 के0 क्लिफोर्ड	W.K. Clifford
जॉन लॉक	John Locke

अध्याय-9

मारिट्ज शिलक	Moritz Schlick
पी0 एच0 नावलस्मिथ	P.H. Nowell-Smith
नॉरमन मैलकाम	Norman Malcolm
डी0 जेड0 फिलिप्स	D.Z. Phillips
पीटर विंच	Peter Winch
जॉन विज्डम	John Wisdom
एन्टोनी फ्ल्यू	Antony Flew
ए. सी. मैकिन्टायर	A. C. Macintyre
बेसिल मिचल	Basil Mitchell
आर0 एस0 हीमवेक	R.S. Heimbeck

अध्याय-10

आर0 एम0 हेयर	R.M. Hare
जे0 ई0 स्मिथ	J.E. Smith
आर0 बी0 ब्रेथवेट	R.B. Braithwaite

अध्याय-11

शेक्सपियर	Shakespeare
पी0 टी0 गीच	P.T. Geach
ए0 ई0 टेलर	A.E. Taylor

अध्याय-12

जे0 सी0 जैनिंग्ज	J. C. Jennings

अध्याय-13

ओल्डन बर्ग	Olden Berg
पॉल दहलके	Paul Dahlke

मैक्समूलर	Maxmuller
चाइल्डर्स	Childers
पूसिन	Poussin

अध्याय-14

कॉपरनिकस	Copernicus
गैलिलियो	Galilio
न्यूटन	Newton
लाप्लास	Laplace
वॉल्टेयर	Voltaire
रूसो	Rousseau
फ्रैड्रिक ऐंगेल्स	Friedrick Engels
लुडविग फायरबाक	Ludwig Fewrbach
सिगमन्ड फ्रायड	Sigmund Freud
जे0 एच0 बाल्डविन	J.H. Baldwin
प्रोटेगोरस	Protagoras
सोफिस्ट्स	Sophists
थेल्स	Thales
अनैक्सीमैंडर	Anaximander
हिराक्लिटस	Heracleitus
डेमोक्रिटस	Democritus
एनेक्सागोरस	Anaxagoras
ऑगस्ट कूम्ट	Auguste Comte
विलबरफोर्स	Wilberforce
बैन्थम	Bentham
सिजविक	Sidgwick

वर्टेण्ड रसेल	Bertrand Russell
जॉन ड्यूई	John Dewey
जार्ज सैन्टायना	George Santayana

अध्याय-15

डब्ल्यू0 ई0 हॉकिंग	W.E. Hocking

परिशिष्ट-1

डी0 ई0 स्मिथ	D.E. Smith
जार्ज जैकब होलियोक	George Jacob Holyoake
चार्ल्स ब्रेडलॉफ	Charles Bradlaugh

परिशिष्ट-3

सुकरात	Socrates
पाइथागोरस	Pythagoras
मॉरिस क्रैंस्टन	Maurice Cranston

परिशिष्ट-5

गोर्डन स्टीन	Gordon Stein
काई नीलसन	Kai Nielsen

परिशिष्ट-6

रॉबर्ट फलिन्ट	Robert Flint

